

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला [संस्कृत ग्रन्थाङ्क १७]

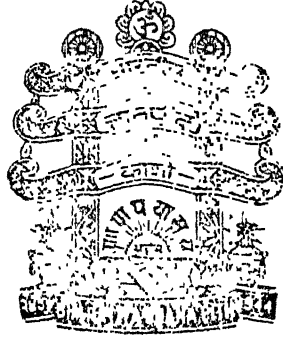
पूज्यपाददेवनन्दिविरचितं

जैनेन्द्रव्याकरणम्

तस्य टीका

आचार्य-अभयनन्दप्रणीता

जैनेन्द्रमहावृत्तिः



सम्पादक

पण्डित शम्भुनाथ त्रिपाठी, व्याकरणाचार्य, सप्ततीर्थ

सहायक

पण्डित महादेव चतुर्वेदी, व्याकरणशास्त्राचार्य

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

प्रथम आवृत्ति
६०० प्रति

मार्गशीर्ष वीर नि० सं० २४८३
वि० सं० २०१३
नवम्बर १९५६

मूल्य १५ रु०

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला

संस्कृत ग्रन्थाङ्क १७

इस ग्रन्थमालामें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तामिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन और उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन होगा। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित होंगे।

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ० हीरालाल जैन, एम० ए०, डी० लिट्०

डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय,

एम० ए०, डी० लिट्०

प्रकाशक

अयोध्याप्रसाद गोयलीय

मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ

दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

मुद्रकः—शारदामुद्रण तथा संसार प्रेस, बनारस।

स्थापनाब्द

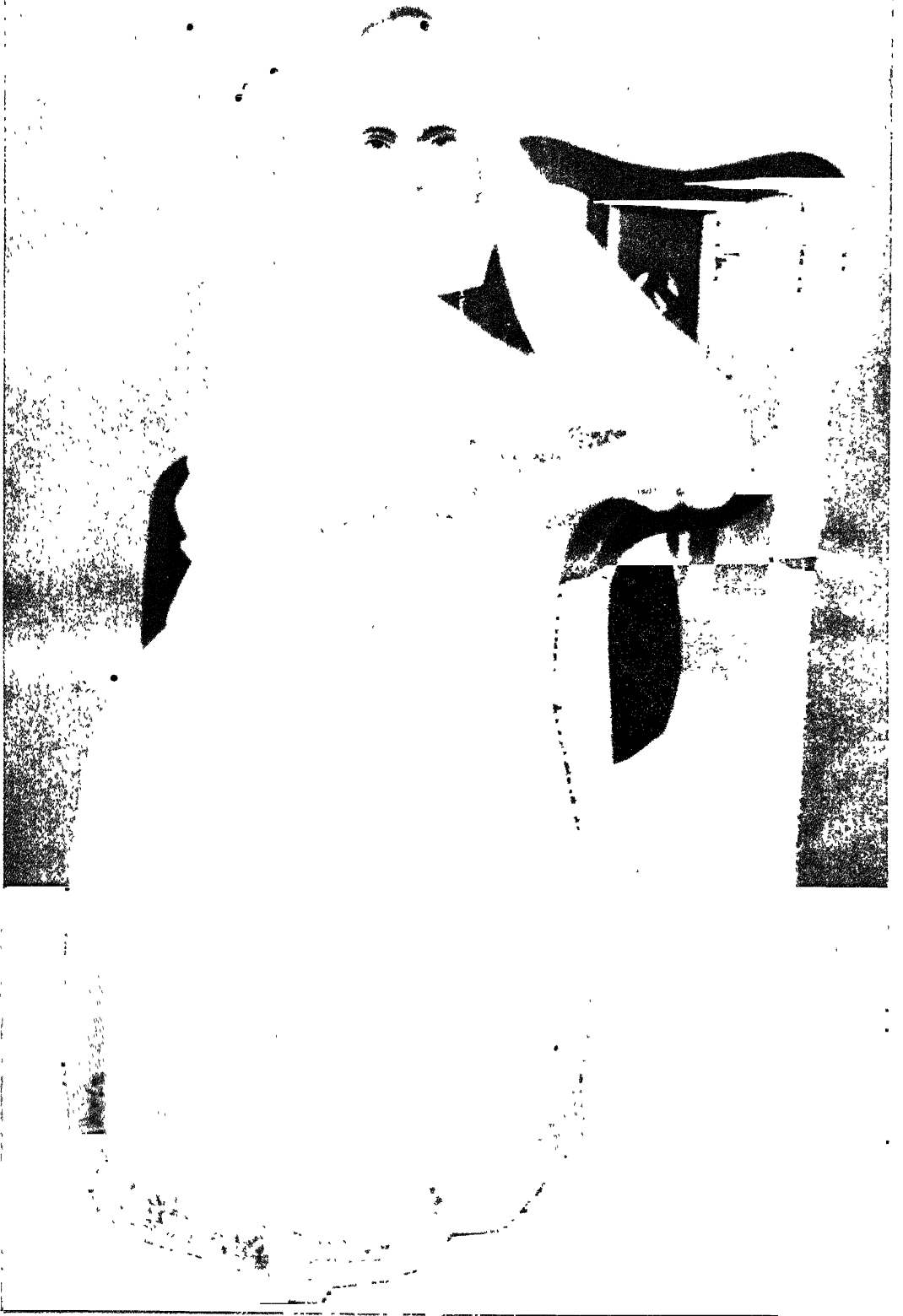
फाल्गुन कृष्ण ९

वीर नि० २४७०

सर्वाधिकार सुरक्षित

विक्रम सं० २०००

१८ फरवरी सन् १९४४



स्वर्गीय मूर्तिदेवी, मातेश्वरी साहू शान्तिप्रसाद जैन

JNANAPITHA MURTIDEVI JAINA GRANTHAMALA

SAMSKRIT GRANTHA NO. 17

JAINENDRA VYĀKARANAM

BY

PUJYAPĀDA DEVANANDI

WITH

JAINENDRA MAHĀVRITTI

OF

SHRI ABHAYANANDI



Editor

Pandit **SHAMBHU NATH TRIPATHI**, *Vyakaranacharya*

Assistant

Pandit, **MAHADEO CHATURVEDI**, *Vyakaranashastracharya*

Published By

BHĀRĀTIYĀ JĀNĀPĪTHĀ KĀSHĪ

First Edition }
600 Copies. }

MARGSHIRSHA, VIR SAMVAT 2483
VIKRAMA SAMVAT 2013
NOVEMBER 1956

{ *Price*
{ *Rs. 15/-*

BHĀRATĪYA JÑĀNA-PĪTHA KĀSHĪ

FOUNDED BY.

SETH SHĀNTI PRASĀD JAIN'

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTI DEVĪ

BHĀRATĪYA JÑĀNA-PĪTHA MŪRTI DEVĪ
JAIN GRANTHAMĀLĀ

SAMSKRIT GRANTHA NO. 17

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAIN ĀGAMIC PHILOSOPHICAL,
PAURĀNIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS
AVAILABLE IN PRĀKRIT, SANSKRIT, APABHRAMSHA, HINDI,
KANNADA AND TAMIL ETC., WILL BE PUBLISHED IN
THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR
TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT
SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE WILL ALSO BE PUBLISHED

General Editors

Dr. Hiralal Jain M. A., D. Litt.
Dr. A.N. Upadhye M.A., D. Litt

Publisher

AYODHYA PRASAD GOYALIYA
Secy., BHARATIYA JNANAPITHA
DURGAKUND ROAD, BANARAS

Founded on
Phalguna Krishna 9.
Virā Sam, 2470

All Rights Reserved.

Vikrama Samavat 2000
18 Febr, 1944

सम्पादकीय

जैन साहित्य जिस प्रकार साहित्यकी अन्य विविध धाराओंसे परिपुष्ट है, उसी प्रकार उसमें वैज्ञानिक व शास्त्रीय साहित्यकी भी कमी नहीं है। व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, गणित आदि विषयोंपर अनेक प्राचीन जैन ग्रन्थ पाये जाते हैं जो भारतीय साहित्यके अभिन्न अंग हैं और जिनका अध्ययन किये बिना किसी भी विषयका ज्ञान परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। किन्तु दुर्भाग्यतः वह सब साहित्य अभी तक भी सुप्रकाशित व सुलभ नहीं किया जा सका। इस दिशामें भारतीय ज्ञानपीठ जो प्रयत्न कर रहा है वह स्तुत्य है।

भारतीय व्याकरण शास्त्रमें जैनेन्द्र व्याकरणका एक प्रमुख स्थान है। जैन साहित्यमें तो इसकी ख्याति है ही, किन्तु अन्य मतावलम्बी शास्त्रकारोंने भी उसका उल्लेख, शाकटायन और पाणिनि जैसे अति-प्राचीन और सुविख्यात वैयाकरणोंके साथ-साथ किया है। इसकी दो सूत्र-परम्पराएँ पाई जाती हैं और उसपर बारह सहस्र श्लोक प्रमाण महावृत्ति भी उपलब्ध है। किन्तु यह इतिहास-प्रसिद्ध व्याकरण अभी तक पूरा प्रकाशित नहीं हो सका। लगभग चालीस वर्ष पूर्व काशीसे इसका एक संस्करण निकला था जिसमें इसके पाँच अध्यायोंमेंसे केवल तीन अध्याय ही प्रकाशित हुए थे। बहुत कालसे वह संस्करण भी अप्राप्य है। इस प्रकार जिज्ञासु संसार इस ग्रन्थकी परिपूर्ण आवृत्तिके लिए दीर्घकालसे तृषातुर हो रहा था। हर्षका विषय है कि इस महान् त्रुटिकी प्ररतुत संस्करण द्वारा भले प्रकार पूर्ति हो रही है। इसमें पाठ-संशोधनार्थ काशी और पूनासे प्राप्त अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंका उपयोग किया गया है और अभयनन्दि कृत पूरी महावृत्ति भी सम्मिलित है।

इस व्याकरणके सम्बन्धमें समस्त ज्ञातव्य विषयोंका परिचय इसके साथ प्रकाशित श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमीके लेख एवं विद्वद्गुरु डॉ० वासुदेवशरणजी अग्रवालकी भूमिकामें आ गया है। प्रेमीजीका लेख मूलतः बहुत पहले, जब वह काशीका प्रथम संस्करण निकला था तब ही (सन् १९२१ में) लिखा गया था। इसका संशोधित रूप सन् १९४२ में उनके 'जैन साहित्य और इतिहास' शीर्षक संकलनमें प्रकाशित हुआ था। जिसका द्वितीय संस्करण सन् १९५६ में प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत लेखमें इस समय तक इस ग्रन्थ व ग्रन्थकर्ताके विषयमें जो कुछ ऐतिहासिक बातें ज्ञात हो चुकी हैं उनका निर्देश आ गया है। डॉ० अग्रवाल जी व्याकरणशास्त्रके, विशेषतः उसके ऐतिहासिक पक्षके, प्रकाण्ड पण्डित हैं, जिसका प्रमाण उनका 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' ग्रन्थ विद्यमान है। उन्होंने जैनेन्द्रमहावृत्तिके सूत्रों और उनकी महावृत्तिका सूक्ष्म आलोचन करके जो अनेक ऐतिहासिक तथ्य-रत्नोंका आविष्कार किया है वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी ओर हम पाठकोंका ध्यान विशेष रूपसे आकर्षित करना चाहते हैं।

हीरालाल जैन
आ० ने० उपाध्ये



ग्रन्थ-लागत

८७५-॥ कागज़ २२ x २९ - २८ पौण्ड ४३ रीम १५ जिस्ता १० शीट	३६७१३॥ सम्पादन २००॥ कार्यालय-व्यवस्था ७५०॥ भेंट आलोचना ४००॥ प्रूफ-संशोधन ७५॥ पोस्टेज ग्रन्थ भेंट भेजनेका ३५५०॥ कमीशन, विज्ञापन, बिक्री-व्यय आदि
१८२६॥ छपाई ७०॥ फार्म ५४०॥ जिल्द बँधाई ३२३॥ कवर कागज़ २८॥ कवर छपाई	

कुल लागत ११९४७॥

६०० प्रति छपीं • लागत मूल्य १९॥३॥ • मूल्य १५)

प्रति-परिचय

‘सु०’ प्रति

यह प्रति सरस्वतीभवन, काशीसे प्रकाशित हुई है। इसमें अध्याय ३ पाद २ सूत्र ६० तक ही छपे हैं।

‘अ०’ प्रति

यह भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूनाकी प्रति है। इसमें पत्र संख्या ४०२, पङ्क्ति प्रति पृष्ठ १५ और अक्षर प्रति पङ्क्ति लगभग ४६ हैं। साहज साँची सुपर रांयल। पुस्तकके अन्तमें लेखनकाल तथा लेखक आदिका नाम निम्न प्रकार है—

“फागणमासे शुक्लपक्षे तिथौ ३ बुधवासरे संवत् १८८३ का। लीखकृतं माहतमा पनालाल वासी सवाई जयपुरका। लिखी आगरा मध्ये। लिषायतं चम्पारामजी पुस्तक मथुराको।”

‘ब०’ प्रति

यह श्रीस्याद्वाद दिगम्बर जैन महाविद्यालय काशीकी प्रति है। इसमें कुल पत्र ४०३ हैं, प्रत्येक पृष्ठमें १० पङ्क्तियाँ और प्रत्येक पङ्क्तिमें लगभग ३२ अक्षर हैं। प्रति पूर्ण है। पुस्तकके अन्तमें समय आदिका निर्देश निम्न प्रकार है—

“अथ संवत्सरस्मिन् विक्रमाकंसमयातीत् सं० १९२६ वर्षे श्री मच्छालिवाहन शाके १६९४ प्रवर्तमाने उत्तरायने वशांतर्तौ [?] आषाढमासे कृष्णपक्षे दशम्यां तिथौ शुक्रवासरे समासमिति।.....ऐन्द्रपुरी नगरमध्ये।”

‘स०’ प्रति

यह भी श्रीस्याद्वाद दिगम्बर जैन महाविद्यालय काशीकी ही प्रति है। इसमें पत्र संख्या ३९४ है। पत्र संख्या १ से २७० तक प्रतिपृष्ठ १३ या १४ पंक्तियाँ और प्रति पङ्क्ति लगभग २५ अक्षर है। उसके आगेके पत्र दूसरे लेखकके लिखे हुए प्रतीत होते हैं जिनमें प्रत्येक पृष्ठमें १६ पङ्क्तियाँ और प्रत्येक पङ्क्तिमें लगभग ३४ अक्षर हैं। प्रति सुवाच्य तथा प्रायः शुद्ध है किन्तु इसके ३५० से ३६२ तक पत्र नहीं हैं। यह प्रति अध्याय ५ पाद १ सूत्र ३४ में जाँकर समाप्त हो जाती है। इससे आगेके पत्र नष्ट प्रतीत होते हैं।

‘द०’ प्रति

यह प्रति भी श्रीस्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय काशीकी है। इसके २७५ पत्रोंमें अध्याय ४ पाद १ सूत्र १२५ तककी वृत्ति उपलब्ध है। इसके प्रारम्भके ४९ पत्रोंमें प्रतिपृष्ठ ११ पङ्क्तियाँ तथा प्रतिपङ्क्ति लगभग ३८ अक्षर हैं तथा उसके आगे पत्र संख्या ५० से २७५ तक प्रति पृष्ठ १२ पंक्तियाँ तथा प्रतिपङ्क्ति लगभग ४६ अक्षर हैं।

‘पू०’ प्रति

यह प्रति भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूनाकी है। यह दो भागोंमें विभक्त है। प्रथम भागमें पत्र संख्या १ से ३१४ तक तथा दूसरेमें १ से ७४ तक है। इसके प्रत्येक पृष्ठमें १४ पङ्क्तियाँ और प्रत्येक पङ्क्तिमें लगभग ४२ अक्षर हैं। दूसरे भागमें चतुर्थ अध्यायके चतुर्थ पादका कुछ अन्तिम भाग तथा पञ्चम अध्याय पूर्ण है। लेखन काल आदिका परिचय लेखकके शब्दोंमें निम्नप्रकार है—

“पंडित जन सू बीनती है परोक्ष मम एह।

हीनाधिक लखि सोधियो हँसियो मति धरि नेह ॥

मिति चैत्र-शुक्ल २ भौमवासरे शुभ सम्वत् १९३३ का।”

इन सभी प्रतियोंमें अध्याय ४ पाद ३ से पञ्चम अध्यायके अन्त तक बीच बीचमें कुछ सूत्रोंकी वृत्ति नहीं लिखी गई है जो यत्न करनेपर भी उपलब्ध न हो सकी और इसीलिए जैनेन्द्र पञ्चाध्यायीके आधारसे सूत्र-क्रममें केवल सूत्रमात्रका निर्देश कर दिया गया है।

भूमिका

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

भारतवर्षमें व्याकरणशास्त्रका अध्ययन लगभग तीन सहस्र वर्षसे चला आ रहा है। भाषाके शुद्ध ज्ञानके लिए व्याकरणका महत्त्व सर्व सम्मतिसे स्वीकृत हुआ, अतएव व्याकरणको 'उत्तरा विद्या' अर्थात् अन्य विद्याओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ कोटिमें माना गया। किसी भी भाषाके इतिहासमें धातु और प्रत्ययोंकी पहचान उस गौरवपूर्ण स्थितिकी सूचक है जिसमें सूक्ष्म दृष्टिसे भाषाके आन्तरिक संगठनका विवेक कर लिया जाता है, और शब्दोंकी उत्पत्ति और निर्माणकी जो प्राणवन्त प्रक्रिया है उसके रहस्यको आत्मसात् कर लिया जाता है। यों तो सभी मनुष्य अपनी अपनी मातृभाषामें बोलकर अपना अभिप्राय प्रकट कर लेते हैं; किन्तु व्याकरणकी प्रक्रियाका जन्म उस राजपथका निर्माण है जिसपर चलकर निर्भय भावसे हम भाषाके विस्तृत साम्राज्यमें जहाँ चाहें पहुँच सकते हैं और शब्दोंमें भावप्रकाशनकी जो अपरिमित क्षमता है उसको भी प्राप्त कर सकते हैं। संस्कृत व्याकरणोंने संसारमें सर्वप्रथम इस प्रकारका महनीय कार्य किया। शब्दोंके विभिन्न रूपोंके भीतर जो एक मूल संज्ञा या धातु निहित रहती है उसके स्वरूपका निश्चय और प्रत्यय जोड़कर उससे बनेवाले क्रिया और संज्ञा रूपी अनेक शब्दोंकी रचना एवं प्रत्ययोंके अर्थोंका निश्चय—इस प्रकारके विविध विचारकी पद्धतिका जिस शास्त्रमें आरम्भ और विकास हुआ उसे शब्दविद्या या व्याकरणशास्त्र कहा गया।

संस्कृत साहित्यमें पाणिनिकी अष्टाध्यायी व्याकरणशास्त्रका सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन है। उसके लगभग चार सहस्र सूत्रोंमें लौकिक और वैदिक संस्कृतका जैसा अद्भुत विचार किया गया है, वह विलक्षण है। पाणिनिने संस्कृत व्याकरणका जो स्वरूप स्थिर किया उसीका विकास अनेक वृत्ति, वार्तिक, भाष्य, न्यास, टीका, प्रक्रिया आदिके रूपमें लगभग इस शती तक होता आया है। किन्तु पाणिनिके अतिरिक्त, पर मुख्यतः उन्हींकी निर्धारित पद्धतिसे और भी व्याकरण-ग्रन्थोंका निर्माण हुआ। इस विषयमें एक प्राचीन श्लोक ध्यान देने योग्य है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥

यह श्लोक मुग्धबोधके कर्ता पं० बोपदेवका कहा जाता है। इस सूचीमें वैयाकरणोंकी दो कोटियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। पहली कोटिमें इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि, काशकृत्स्न और पाणिनि, ये पाँच प्राचीन वैयाकरण थे। दूसरी कोटिमें अमर, जैनेन्द्र और चन्द्र इन नवीन शाब्दिकोंकी गणना है। पाणिनीय सूत्र 'ऋतूथ्यादिसूत्रान्ताष्टक' [४।२।६०] के एक वार्तिकपर काशिकामें 'पञ्चव्याकरणः' यह उदाहरण पाया जाता है; इसका अर्थ था पाँच व्याकरणोंका अध्ययन करनेवाला या जाननेवाला विद्वान् [तदधीते तद्वेद]। इसमें जिन पाँच व्याकरणोंका एक साथ उल्लेख है, वे यही पाँच प्राचीन व्याकरण होने चाहिए जिनकी सूची मुग्धबोधके इस श्लोकमें है। इसपर सूक्ष्म विचार करनेसे यह तथ्य सामने आता है कि पाणिनिसे पूर्व-कालमें व्याकरणका अध्ययन-अध्यापन व्यापक रूपसे हो रहा था, जैसा कि पाणिनीय व्याकरणके इतिहाससे ज्ञात होता है। प्रातिशाख्य, निरुक्त और अष्टाध्यायीमें लगभग ६४ आचार्योंके नाम आये हैं जिन्होंने शब्द-शास्त्रके सम्बन्धमें उस प्राचीनकालमें ऊहापोह किया था। इनमेंसे इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि और काशकृत्स्नके व्याकरण इस समय उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु पाणिनिसे पहले वे अवश्य विद्यमान थे। ज्ञात

होता है कि उन प्राचीन व्याकरणोंकी अधिकांश सामग्रीके आधारपर एवं स्वतः अपनी सूक्ष्मेक्षिका द्वारा लोकोसे शब्द-सामग्रीका संग्रह करके पाणिनिने अपनी श्रद्धाध्यायीका निर्माण किया। वह शास्त्र लोकोमें इतना महान् और सुविहित समझा गया [पाणिनीयं महत् सुविहितम्, भाष्य ४।३।६६] कि पाणिनिके उत्तर कालमें नये व्याकरणोंकी रचनाका क्रम एक प्रकारसे बन्द सा हो गया। उसके बाद व्याकरणका परिष्कार केवल वार्तिक, भाष्य और वृत्तियों द्वारा चलता रहा। कात्यायन जैसे प्रखर बुद्धिशाली आचार्यने पाणिनि व्याकरणपर लगभग सवा चार सहस्र वार्तिकोंकी रचना करके उस महान् शास्त्रके प्रति अपनी निष्ठा अभिव्यक्त की, पर कोई स्वतन्त्र व्याकरण रचनेका उपक्रम नहीं किया। इसी प्रकार भगवान् पतञ्जलिका महाभाष्य भी पाणिनीय व्याकरणकी सीमाके भीतर एक अद्भुत प्रयत्न था। पाणिनि लगभग पाँचवीं शती विक्रम पूर्वमें नन्द राजाओंके समयमें हुए थे। यह अनुश्रुति ऐतिहासिक तथ्यपर आश्रित जान पड़ती है। जैसा कि हमने अपने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' नामक ग्रन्थमें प्रदर्शित किया है। अतएव यह स्पष्ट है कि पाणिनिके बाद लगभग एक सहस्र वर्षतक नूतन व्याकरणकी रचनाका प्रयत्न नहीं किया गया।

भारतीय साहित्यिक इतिहासका यह सुविदित तथ्य है कि कुषाण कालके लगभग संस्कृत भाषाको पुनः सार्वजनिक रूपमें साहित्यिक भाषा और राजभाषाका पद प्राप्त हुआ। कनिष्कके समयमें अश्वघोषके काव्योंकी रचना और रुद्रामाके ज्ञानागद लेखसे यह स्पष्ट विदित होता है। वस्तुतः इस समय भाषाके क्षेत्रमें जो क्रान्ति घटित हुई उसका ठीक स्वरूप कुछ इस प्रकार था—ब्राह्मण साहित्यमें तो संस्कृत भाषाकी परम्परा सदासे अद्भुत थी ही, पर उसके अतिरिक्त बौद्ध और जैन आचार्योंने भी संस्कृत भाषाको उन्मुक्त भावसे अपना लिया और उसके अध्ययनसे दोनोंने अपने अपने क्षेत्रमें विपुल साहित्यका निर्माण किया जिसमें किसी समय सहस्रों ग्रन्थ थे। कुषाण कालसे जो भाषा सम्बन्धी नया परिवर्तन आरम्भ हुआ था वह उत्तरोत्तर सबल होता गया, यहाँ तक कि लगभग चौथी-पाँचवीं शती ईस्वीमें संस्कृत भाषाको न केवल भारतवर्षमें अखण्ड राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, बरञ्च मध्य एशियासे लेकर हिन्द एशिया या द्वीपान्तर तकके देशोंमें पारस्परिक व्यवहारके लिए वह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी बन गई।

इस पृष्ठभूमिमें शब्दविद्याका पुनः वह छूटा हुआ सूत्र आरम्भ हुआ और नये व्याकरणशास्त्र लिखे जाने लगे। स्वयं पाणिनीय व्याकरणों पर वामन जयादित्य कृत काशिका वृत्ति और जिनेन्द्रबुद्धि कृत न्यासकी रचना हुई। यह टीकाके मार्गसे प्राचीन व्याकरणका ही विशदीकरण था; किन्तु बौद्ध और जैन जो दो बड़े समुदाय संस्कृत भाषाकी नई शक्तियुक्त परिचित हो रहे थे, उन्होंने अपने अपने क्षेत्रमें दो नये व्याकरणोंका निर्माण किया। बौद्धोंमें आचार्य चन्द्रगोमी कृत चान्द्र व्याकरण और जैनोंमें आचार्य देवन्दी पूज्यपाद कृत जैनेन्द्र व्याकरण गुप्त युगमें अस्तित्वमें आये। ज्ञात होता है कि दोनोंकी ही रचना लगभग ५ वीं शती ईस्वीके उत्तरार्धमें हुई। चान्द्र व्याकरणकी स्वोपज्ञ वृत्ति में 'अजयद् जर्तो हूणान्' [१।२।८१] उदाहरणसे सिद्ध है कि पाँचवीं शतीके मध्यमें स्कन्दगुप्तने हूणोंपर जो बड़ी विजय प्राप्त की थी उसकी समकालीन स्मृति इस उदाहरणमें अवशिष्ट है। इससे चान्द्रव्याकरणके रचनाकाल पर प्रकाश पड़ता है। पूज्यपाद देवन्दीने दो सूत्रोंमें प्रसिद्ध आचार्य, सिद्धसेन [वेत्तेः सिद्धसेनस्य, ५।१।७] और समन्तभद्र 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' [५।४।१४०] का उल्लेख किया है, ये दोनों देवन्दीसे कुछ समय पूर्व हो चुके थे। यद्यपि सिद्धसेन दिवाकरका समय भी सर्वथा निश्चित नहीं है; किन्तु अनुश्रुतिके अनुसार उन्हें विक्रमादित्यका समकालीन माना जाता है। विक्रमके नवतर्कोंकी सूचीमें जिस क्षपणकका उल्लेख है उन्हें विद्वान् सिद्धसेन दिवाकर ही मानते हैं। श्री राइसेने सिद्धसेनका समय पाँचवीं शतीके मध्यभागमें माना है; किन्तु चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य [३७५-४१३] और सिद्धसेनकी समसामयिकताका आधार यदि सत्य हो तो सिद्धसेनको चौथी शतीके अन्तमें मानना ठीक होगा। लगभग यही समय समन्तभद्रका होना चाहिए। श्री प्रेमीजीने अपने पाण्डित्यपूर्ण लेखमें देवन्दीके

समयके विषयमें जो प्रमाण संग्रहीत किये हैं उनकी सम्मिलित साक्षीसे भी यही सूचित होता है कि आचार्य देवनन्दी लगभग पाँचवीं शतीके अन्तमें हुए हैं। इस सम्बन्धमें एक विशेष प्रमाणकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इसके अनुसार संवत् ६६० में बने हुए दर्शनसार नामक प्राकृत ग्रन्थमें कहा है कि पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दीने दक्षिण मधुरामें ५२६ विक्रमीमें [४६६ ई०] द्राविड़ संघकी स्थापना की। इससे भी पूज्यपादका समय ५ वीं शतीके उत्तरार्धमें सिद्ध होता है। इसीका समर्थन करनेवाला एक अन्य प्रमाण है—कर्नाटक-कविचरित्र के अनुसार गंगवंशीय राजा अविनीत [वि० सं० ५२३] के पुत्र दुर्विनीत [वि० सं० ५३८, ई० ४८१] आचार्य पूज्यपादके शिष्य थे; अतएव पूज्यपाद ५ वीं शतीके उत्तरार्धके सिद्ध होते हैं। महाराज पृथिवीकोकणके दानपत्रमें लिखा है—श्रीमत्कौंकणमहाराजाधिराजस्याविनीतनामनः पुत्रेण शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धबृहत्कथेन किराताजुनीयपंचदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन...; अर्थात् अविनीतके पुत्र दुर्विनीतने शब्दावतारनामक ग्रन्थकी रचना की थी। जैसे प्रेमीजीने लिखा है शिमोगा जिलेकी नगर तहसीलके शिलालेखमें देवनन्दीको पाणिनीय व्याकरण पर शब्दावतार न्यासका कर्ता लिखा है। अनुमान होता है कि दुर्विनीतके गुरु पूज्यपादने वह ग्रन्थ रचकर अपने शिष्यके नामसे प्रचारित किया था।

जैनेन्द्र व्याकरण उस शृंखलाकी पहली कड़ी है जिसमें गुप्तकालसे लेकर मध्यकाल तक उत्तरोत्तर नये नये व्याकरणोंकी रचना होती चली गई। जैनेन्द्र [पाँचवीं शती], चन्द्र [पाँचवीं शती], शाकटायन [नवमी शती का पूर्वार्द्ध], सरस्वतीकण्ठाभरण [ग्यारहवीं शतीका पूर्वार्द्ध] और प्रसिद्ध हैमशब्दानुशासन [बारहवीं शतीका पूर्वार्द्ध] इन सबने उन्मुक्त मनसे और अत्यन्त सौहार्द भावसे पाणिनीय व्याकरणकी मूल सामग्रीका अवलम्बन लिया। इनमें भी जैनेन्द्र-व्याकरणने भोजके सरस्वतीकण्ठाभरणको छोड़ कर अपने आपको पाणिनीय सूत्रोंके सबसे निकट रखा है। किसी भी प्रकरणके अध्ययनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैनेन्द्रने पाणिनि सामग्रीकी प्रायः अविकल रक्षा की है। केवल स्वर और वैदिक प्रकरणोंको अपने युगके लिए आवश्यक न जानकर उन्होंने छोड़ दिया था। जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ताने पाणिनीय गणपाठकी बहुत सावधानीसे रक्षा की थी। मूल व्याकरणमें पाणिनिके गणसूत्रोंको प्रायः स्वीकार किया गया है। यद्यपि वैदिक शाखाओंवाले और गोत्र सम्बन्धी गणोंसे सिद्ध होनेवाले नामोंका जैन साहित्यके लिए उतना उपयोग न था, किन्तु जिस समय इस व्याकरणकी रचना हुई उस समय भाषाके विषयमें लोककी चेतना अत्यन्त स्वच्छ और उदार भावसे युक्त थी; अतएव जैनेन्द्र व्याकरणकी प्रवृत्ति पाणिनि सामग्रीके निराकरणमें नहीं, वरन् उसके अधिकसे अधिक संरक्षणमें देखी जाती है। जैनेन्द्र व्याकरणके साथ उसका अलग गणपाठ किसी समय अवश्य ही रहा होगा, यद्यपि अब वह पृथक् रूपसे उपलब्ध न होकर अभयनन्दी कृत महावृत्तिके अन्तर्गत ही सुरक्षित है। कात्यायनके वार्तिक और पतञ्जलिके भाष्यकी इष्टियोंमें जो नये नये रूप सिद्ध किये गये थे उन्हें देवनन्दीने सूत्रोंमें अपना लिया है; इस लिए भी यह व्याकरण अपने समयमें विशेष लोकप्रिय हुआ होगा। यह प्रवृत्ति काशिकामें भी किसी अंशमें आ गई थी और चन्द्र आदि व्याकरणोंमें भी बराबर पाई जाती है।

जैनेन्द्र व्याकरणके दो सूत्रपाठोंकी परम्परा इस समय पाई जाती है—एकमें तीन सहस्र सूत्र हैं; दूसरेमें लगभग ७०० सूत्र अधिक हैं। इस द्विन्द्वमें श्रीप्रेमजीका निष्कर्ष यथार्थ है कि मूल जैनेन्द्र सूत्रपाठकी संख्या ३ सहस्र ही थी जिसपर अभयनन्दीकी टीका पाई जाती है।

अभयनन्दी कृत महावृत्ति लगभग १२ सहस्र श्लोक परिमाणका बड़ा ग्रन्थ है। काशीसे १६१८ में इसके प्रथम ३ अध्यायोंका एक संस्करण प्रकाशित हुआ था। किन्तु वह केवल एक प्रतिके आधारपर तैयार किया गया था, अतएव इस बातकी बहुत आवश्यकता थी कि सम्पूर्ण जैनेन्द्र व्याकरण तथा उसकी महावृत्तिका एक संशोधित संस्करण प्रकाशित किया जाय। हर्षकी बात है कि भारतीय ज्ञानपीठके सत्ययन्त्रसे इस मूल्यवान् ग्रन्थका यह संशोधित संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है जिसके तैयार करनेमें पूनाके भण्डारकर ओरिएण्टल इंस्टीट्यूटमें सुरक्षित प्रतियोंका और काशीमें ही प्राप्त ३ प्रतियोंका उपयोग किया गया है। आशा है, व्याकरण-

शास्त्रके तुलनात्मक अध्ययनके लिए जैनेन्द्रका यह वतमान संस्करण अधिक उपयोगी सिद्ध होगा, विशेषतः गणपाठसे तुलनात्मक अध्ययनके लिए इस संस्करणका विशेष उपयोग हो सकेगा।

आचार्य अभयनन्दीकी महावृत्ति लगभग काशिकाके समान ही बृहत् ग्रन्थ है। इसके कर्ताने कात्यायनके वार्तिक और पतञ्जलिके भाष्यसे बहुत अधिक उपादेय सामग्रीका अपने ग्रन्थमें संकलन कर लिया है। महावृत्तिका काल आठवीं शताब्दीका प्रारम्भ माना जाता है और सम्भावना ऐसी है कि अभयनन्दीने काशिका वृत्तिका उपयोग किया था। वस्तुतः किसी भी पाठकसे यह तथ्य छिपा नहीं रह सकता कि अष्टाध्यायी और काशिकाका ही रूपान्तर जैनेन्द्र पञ्चाध्यायी और उसकी महावृत्तिमें प्राप्त होता है। फिर भी काशिका और महावृत्तिकी सूक्ष्म तुलना करनेपर यह प्रकट हो जाता है कि अभयनन्दीने कुछ ऐसे उदाहरण दिये हैं जो काशिकामें उपलब्ध नहीं होते और फलस्वरूप ऐसी सामग्रीकी रक्षा की है जो काशिकासे प्राप्त नहीं हो सकती। उन्होंने जहाँ सम्भव हो सका वहाँ जैन तीर्थङ्करोंके, महापुरुषोंके, या ग्रन्थोंके नाम उदाहरणोंमें डाल दिये हैं। जैसे, सूत्र १।४।१५ के उदाहरणमें 'अनु शालिभद्रम् आख्याः, अनुसमन्तभद्रं तार्किकाः; सूत्र १।४।१६ के उदाहरणमें 'उपसिंहनन्दिनं कवयः, उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः'; सूत्र १।४।२० की वृत्तिमें 'आकुमारंभ्यो यशः समन्तभद्रस्य'; सूत्र १।४।२२ की टीकामें 'अभयकुमारः श्रेणिकतः प्रति'; सूत्र २।१।६८ की टीकामें 'भरतगुह्यः, भुजबलिगुह्यः'; सूत्र १।३।१० की वृत्तिमें 'आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य' ऐसे उदाहरण हैं जो वृत्तिकारने मूलग्रन्थके अनुकूल जैन वातावरणका निर्माण करनेके लिए अपनी प्रतिभासे बनाये हैं। सूत्र १।३।५ की वृत्तिमें 'प्राभृतपर्यन्तमधीते' उदाहरण महत्त्वपूर्ण है, उसीके साथ 'सटीकम् अधीते' भी ध्यान देने योग्य हैं। यहाँ ऐसा विदित होता है कि प्राभृतसे तात्पर्य महाकर्मप्रकृति प्राभृतसे था जिसके रचयिता आ० पुष्पदन्त तथा भूतबलि माने जाते हैं [प्रथम-द्वितीय शती]। इसीका दूसरा नाम षट्खण्डागम प्रसिद्ध है। इसीका भागविशेष 'बन्ध' या महाबन्ध [महाधवल सिद्धान्तशास्त्र] था जिसके अध्ययनसे यहाँ अभयनन्दीका तात्पर्य ज्ञात होता है; अर्थात् उस समय भी विद्वानोंमें प्राभृत या षट्खण्डागमसे पृथक् महाबन्धका अस्तित्व था और दोनोंका अध्ययन जीवनका आदर्श माना जाता था। 'सटीकमधीते' में जिस टीकाका उल्लेख है वह धवला टीका नहीं हो सकती क्योंकि उसकी रचना वीरसेनने ८१६ ई० में की थी। श्रुतावतारके अनुसार महाकर्मप्राभृतपर आचार्य कुन्दकुन्दने भी एक बड़ी प्राकृत टीका लिखी थी जो इस समय अनुपलब्ध है। संभवतः वही टीका प्राभृत और बन्धके साथ पढ़ी जाती थी। इनके स्थान पर पाणिनि सूत्रके उदाहरणोंमें किसी समय इष्टि, पशुबन्ध, अग्नि, रहस्य नामक शतपथ ब्राह्मणके तत्तद् काण्डोंका अध्ययन विद्याका आदर्श माना जाता था। देवनन्दीने सूत्र १।४।३४ में जिन श्रीदत्त आचार्यका उल्लेख किया है उन्हें कुछ विद्वान् काल्पनिक समझते हैं, परन्तु अभयनन्दीकी महावृत्तिसे सूचित होता है कि श्रीदत्त कोई अत्यन्त प्रसिद्ध वैयाकरण थे जिनका लोकमें प्रमाण माना जाता है। 'इतिश्रीदत्तम्', यह प्रयोग 'इतिपाणिनि' के सदृश लोकप्रसिद्ध था। इसी प्रकार 'तच्छ्रीदत्तम्', 'अहोश्रीदत्तम्' प्रयोग भी श्रीदत्तकी लोकप्रियता और प्रामाणिकता अभिव्यक्त करते हैं [श्रीदत्तशब्दो लोके प्रकाशते; महावृत्ति १।३।५]। सूत्र ३।३।७६ पर 'तेन प्रोक्तम्' के उदाहरणमें अभयनन्दीने श्रीदत्तके विरचित ग्रन्थको श्रीदत्तीयम् कहा है। इससे ज्ञात होता है कि श्रीदत्तका बनाया कोई ग्रन्थ अवश्य था। सूत्र १।४।४ की वृत्तिमें 'शरदं मथुरा रमणीया, मासं कल्याणी काञ्ची' ये दोनों उदाहरण अभयनन्दीकी मौलिकता सूचित करते हैं। पाणिनि सूत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' [२।३।५] की काशिका वृत्तिमें 'मासं कल्याणी' उदाहरण तो है किन्तु 'मासं कल्याणी काञ्ची' यह ऐतिहासिक सूचना अभयनन्दीने किसी विशेष स्रोतसे प्राप्त की थी। जिस काञ्चीपुरीके मासव्यापी उत्सवोंकी विशेष शोभाकी ओर इस उदाहरणमें संकेत है वह महेन्द्रवर्मन्, नरसिंह वर्मन् आदि पल्लवनरेशोंकी राजधानीके सम्बन्धमें होना चाहिए। अतएव सप्तम शतीसे पूर्व यह उदाहरण भाषामें उत्पन्न न हुआ होगा। सूत्र ४।३।११४ की वृत्तिमें अभयनन्दीने माघके 'सटाछटाभिन्नघनेन विभ्रता...' श्लोकका उद्धरण दिया है। माघके दादा सुप्रभदेव वर्मणतके मंत्री

थे जिसका एक शिलालेख ६२५ ई० का पाया जाता है। अतएव माघका समय सप्तम शतीका उत्तरार्ध होना चाहिए। उसके बाद ही अभयनन्दीने महावृत्तिका निर्माण किया होगा। सूत्र १४।६९ पर 'चन्द्रगुप्त-सभा' उदाहरण तो पाणिनीय परम्परामें प्राप्त होता है किन्तु उसके साथ काशिकामें जो 'पुष्यमित्रसभा' दूसरा उदाहरण है उसकी जगह महावृत्तिकारने 'सातवाहनसभा' उदाहरण रक्खा है। उसी प्रकार काशिकामें [२।४।२३] में केवल 'काष्ठसभा' उदाहरण है, किन्तु अभयनन्दीने 'पाषाणसभा और पक्वेष्टकासभा' ये दो अतिरिक्त उदाहरण दिये हैं। कहीं-कहीं अभयनन्दीने काशिकाकी अपेक्षा भाष्यके उदाहरणोंको स्वीकार किया है। जैसे सूत्र १।४।३७ में 'औहालकः पिता, औहालकायनः पुत्रः' यह भाष्यका उदाहरण था जिसे बदलकर काशिकाने अपने समयके अनुकूल 'आर्जुनिः पिता, आर्जुनायनः पुत्रः' [काशिका २।४।६६] यह उदाहरण कर दिया था। 'आर्जुनायन' काशिकाकारके समयके अधिक सन्निकट था जैसा कि समुद्रगुप्तकी प्रयागस्तम्भ प्रशस्तिमें आर्जुनायनगणके उल्लेखसे ज्ञात होता है। कहीं-कहीं महावृत्तिमें काशिकाकी सामग्रीको स्वीकार करते हुए उससे अतिरिक्त भी उदाहरण दिये गये हैं जो सूचित करते हैं कि अभयनन्दीकी पहुँच अन्य प्राचीन वृत्तियों तक थी, जैसे सूत्र १।४।८३ की वृत्तिमें 'उद्धबोरावति' तो काशिकामें भी है किन्तु 'विपाट्-चक्रभिदम्' [विपाशा और चक्रभिद् नदीका संगम] उदाहरण नया है। ऐसे ही सूत्र २।४।२९ में मयूरिकाबन्ध, क्रीडबन्ध, चक्रबन्ध, कूटबन्ध उदाहरण महावृत्ति और काशिकामें समान हैं, पर चण्डालिकाबन्ध और महिषिकबन्ध उदाहरण महावृत्तिमें नये हैं। काशिकाका मुष्टिवन्ध महावृत्तिमें दृष्टिवन्ध और चोरकबन्ध चारकबन्ध हो गया है। सूत्र १।३।३६ में भी चारकबन्ध पाठ है। सूत्र ५।४।९६ 'पानं देशे' की वृत्तिमें काशिकाके 'क्षीरपाणाः उशीनराः' को 'क्षीरपाणाः आन्ध्राः' और 'सौवीरपाणा वाह्लिकाः' को 'सौवीरपाणाः द्रविणाः' कर दिया है। 'द्रविणाः' द्रमिल या द्रमिडका रूप है। ये परिवर्तन अभयनन्दीने किसी प्राचीन वृत्तिके आधार पर या स्वयं अपनी सूचनाके आधारपर किये होंगे। आन्ध्र देशमें दूध पीनेका और तामिल देशमें काँजी पीनेका व्यवहार लोकमें प्रसिद्ध रहा होगा। कहीं-कहीं महावृत्तिमें कठिन शब्दोंके नये अर्थ संग्रह करनेका प्रयास किया है इसका अच्छा उदाहरण सूत्र २।४।१६ का 'अषडक्षीण' शब्द है। पाणिनि सूत्र ५।४।७ की काशिका वृत्तिमें 'अषडक्षीणो मन्त्रः' उदाहरण है अर्थात् ऐसा मंत्र या परामर्श जो केवल राजा और मंत्रीके बीचमें हुआ हो [यो द्वाभ्यामेव क्रियते न बहुभिः]। 'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः' के अनुसार राजा और मुख्य मंत्रीकी 'चार आँखों' या 'चार कानों' से बाहर जो मन्त्र चला जाता था उसके फूट जानेकी आशंका रहती थी। अभयनन्दीने काशिकाके इस अर्थको स्वीकार तो किया है, किन्तु गौण रीतिसे। उन्होंने 'अषडक्षीणो देवदत्तः' उदाहरणको प्रधानता दी है। अर्थात् कोई देवदत्त नामका व्यक्ति जिसने अपने पिता, पितामह और पुत्रमेंसे किसीको न देखा हो। अर्थात् जो स्वयं अपने पिता पितामहकी मृत्युके बाद उत्पन्न हुआ हो और स्वयं अपने पुत्र जन्मके कुछ मास पहले गत हो गया हो। इसके अतिरिक्त गैदको भी अषडक्षीण कहा है [येन वा कन्दुकेन द्वौ क्रीडतः सोऽप्येवमुक्तः]। या तो ये अर्थ अभयनन्दीके समयमें लोकप्रचलित थे या उनकी कल्पना है। महावृत्तिमें 'अषडक्षीण'का एक अर्थ मछली भी किया है पर उसमें खींचतान ही जान पड़ती है। सूत्र ३।४।३४ में 'अयानयान' शब्दके अर्थका भी महावृत्तिमें विस्तार है।

महावृत्ति सूत्र २।२।६२ में इतिहासकी विशेष महत्त्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित रह गई है। उसमें ये दो उदाहरण आये हैं—

'अरुणमहेन्द्रो मथुराम् । अरुणद् यवनः साकेतम्'

व्याकरणकी दृष्टिसे यह आवश्यक था कि कोई ऐसा उदाहरण लिया जाता जो लोकप्रसिद्ध घटनाका सूचक हो, जो कहनेवालेके परोक्षमें घटित हुआ हो किन्तु जिसका देख सकना उसके लिए सम्भव हो अर्थात् उसके जीवन कालकी ही कोई प्रसिद्ध घटना हो, पर जिसे सम्भव होने पर भी उसने स्वयं देखा न हो। भाष्यकार पतञ्जलिने इसका उदाहरण देते हुए अपनी समसामयिक दो घटनाओंका उल्लेख किया था—'अरुणद्

यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम् ।' इनमें शाकलके यवन राजाओं द्वारा किये हुए उन दो हमलोंका उल्लेख है जिनमेंसे एक पूर्वकी ओर साकेत पर और दूसरा पच्छिममें मध्यमिका पर। मध्यमिका चित्तौड़के पासका वह स्थान था जिसे इस समय नगरी कहते हैं और जहाँ खुदाईमें प्राप्त पुराने सिक्कों पर मध्यमिका नाम लिखा हुआ मिला है। ये हमले किस राजाने किये थे उसका नाम पतञ्जलिने नहीं दिया, किन्तु यूनानी इतिहासलेखकोंके वर्णनसे ज्ञात होता है कि उस राजाका नाम मिनन्दर था जिसे पाली भाषामें मिलिन्द कहा गया है। उसके सिक्कों पर तत्कालीन बोलचालकी प्राकृत भाषामें उसका नाम मेनन्द्र मिलता है। महावृत्तिके 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' इस उदाहरणमें दो महत्वपूर्ण सूचनाएँ हैं। इसमें राजाका नाम महेन्द्र दिया हुआ है, पर हमारी सम्मतिमें इसका मूलपाठ 'मेनन्द्र' था। पीछेके लेखकोंने मेनन्द्र नामकी ठीक पहचान न समझ कर उसका संस्कृत रूप महेन्द्र कर डाला। इस उदाहरणसे संस्कृत साहित्यकी भारतीय साक्षी प्राप्त हो जाती है कि पूर्वकी ओर अभियान करनेवाले यवनराजका नाम मेनन्द्र या मिनन्द्र था। यवनराज मेनन्द्रने पाटलिपुत्र पर दाँत गड़ा कर पहले घक्केमें मथुरा पर अधिकार जमाया और फिर आगे बढ़कर साकेतको लूँक लिया। साकेत पहुँचनेके लिए मथुराका जीतना आवश्यक था। अब यह सूचना पक्के रूपमें अभयनन्दीके उदाहरणसे प्राप्त हो जाती है। इससे यह भी पता लगता है कि काशिकाके अतिरिक्त भी अभयनन्दीके सामने पाणिनि व्याकरणकी ऐसी सामग्री थी जिससे उसे यह नया ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त हुआ। सूत्र १।३।२६ की वृत्तिमें आरण्यक पर्व १२६।८-१० का यह श्लोक पठित है—

उल्लखलैराभरणैः पिशाची यदभाषत् । एतत्तु ते दिवा नृत्तं रात्रौ नृत्तं तु द्रच्यसि ॥

काशिका २।१।४५ में यह श्लोक किन्हीं प्रतियोंमें प्रक्षिप्त और किन्हींमें मूलके अन्तर्गत माना गया है, किन्तु महावृत्तिसे सिद्ध हो जाता है कि वह काशिकाके मूलपाठका भाग था। श्लोकके उत्तरार्धमें जो 'दिवा-नृत्तं रात्रौ नृत्तं' पाठ है उसका समर्थन महाभारतकी कुछ प्रतियोंसे होता है पर कुछ अन्य प्रतियोंमें 'वृत्तं' पाठ है जैसा कि काशिकामें और महाभारतके पूना संस्करणमें भी स्वीकार किया गया है। आचार्य अभयनन्दीने अपनी महावृत्तिको जिस प्रकार पाणिनीय व्याकरणकी पुष्कल सामग्रीसे भर दिया है वह सर्वथा अभिनन्दनके योग्य है। आशा है जिस समय काशिकावृत्ति, अभयनन्दीकृत महावृत्ति और शाकटायन व्याकरणकी अमोघवृत्ति इन तीनोंका तुलनात्मक अध्ययन करना सम्भव होगा तो यह बात और भी स्पष्ट रूपसे जानी जा सकेगी कि प्रत्येक वृत्तिकारने परम्परासे प्राप्त सामग्रीकी कितनी अधिक रक्षा अपने अपने ग्रन्थमें की थी। यह सन्तोषका विषय है कि इन कृतियोंने सावधानीके साथ प्राचीन सामग्रीको बचा लिया।

आचार्य देवनन्दीने पाणिनीय अष्टाध्यायीको आधार मानकर उसे पञ्चाध्यायीमें परिवर्तन करते समय दो बातोंकी ओर विशेष ध्यान रखा था—एक तो धातु, प्रत्यय, प्रातिपादिक, विभक्ति, समास आदि अन्वर्थ महासंज्ञाओंको भी जिनके कारण पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरणमें इतनी स्पष्टता और स्वारस्य आ सका था, इन्होंने बीजगणितके जैसे अतिसंक्षिप्त संकेतोंमें बदल दिया है जिनकी सूची परिशिष्टमें दे दी गयी है। दूसरे जितने स्वर सम्बन्धी और वैदिक प्रयोग सम्बन्धी सूत्र थे उनको आ० देवनन्दीने छोड़ दिया है। किन्तु ऐसा करते हुए इन्होंने उदारतासे काम लिया है, जैसे आनाय्य, धाय्या, सानाय्य, कुण्डपाय्य, परिचाय्य, उपचाय्य, [२।१।१०४-१०५]; प्रावस्तुत् [२।२।१५६] आदि वैदिक साहित्यमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंको रख लिया है। इसी प्रकार सास्य देवता प्रकरण [३।२।२१-२८] में शुक्र, अपोनन्द, महेन्द्र, सोम, द्यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत्, अग्नीषोम, वास्तोस्पति, गृहमेघ आदि गृह्यसूत्रकालीन देवताओंके नामोंको पाणिनीय प्रकरणके अनुसार ही रहने दिया है। प्रत्ययोंमें आनेवाले फ, ट, ख, छ, घ और यु, वु, एवं उनके स्थानमें होनेवाले आदेशोंको भी ज्योंका त्यों रहने दिया है। [५।१।१; ५।१।२]। 'तेन प्रोक्तम्' प्रकरण [३।३।७६-८०] में वैदिक शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थोंके नाम भी ज्योंके त्यों जैनेन्द्र व्याकरणमें स्वीकृत कर लिये गये हैं। कहीं कहीं जैनेन्द्रने उन परिभाषाओंको स्वीकार किया है जो प्राक् पाणिनीय व्याकरणोंमें मान्य थीं और जिनका

उल्लेख भाष्य या वार्तिकोंमें आया है। उदाहरणके लिए जैनेन्द्र सूत्र १।३।१०५ में उत्तरपदकी द्युसंज्ञा मानी गई है। पतञ्जलिके महाभाष्यमें सूत्र ७।३।३ पर श्लोकवार्तिकमें द्यु पाठ है और वहां 'किमिदं घोरिति उत्तर-पदस्येति' लिखा है। सूत्र ७।१।२१ के भाष्यमें अद्युको अनुत्तरपदका पर्याय माना है पर कीलहार्न का सुझाव था कि द्यु का शुद्ध पाठ द्यु होना चाहिए। वह बात जैनेन्द्रके सूत्र १।३।१०५ 'उत्तरपदं द्यु' से निश्चयेन प्रमाणित हो जाती है। और अब भाष्यमें भी द्यु ही शुद्ध पाठ मान लेना चाहिए।

सबसे आश्चर्यकी बात यह है कि पाणिनिके 'पूर्वत्रासिद्धम्' [८।२।११] सूत्र और उससे संबंधित असिद्ध प्रकरणको भी जो पाणिनिके शास्त्रनिर्माण कौशलका अद्भुत नमूना है, जैनेन्द्र व्याकरणमें 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र [५।३।२७] में स्वीकार किया है। तदनुसार जैनेन्द्रके साढ़े चार अध्यायोंके प्रति अन्तके लगभग दो पाद असिद्ध शास्त्रके अन्तर्गत आते हैं। देवन्दीने अपनी पञ्चाध्यायीमें पाणिनीय अष्टाध्यायीके सूत्रक्रममें कमसे कम फेरफार करके उसे जैसेका तैसा रहने दिया है। केवल सूत्रोंके शब्दोंमें जहाँ-तहाँ परिवर्तन करके सन्तोष कर लिया है। जैनेन्द्र और पाणिनीय व्याकरणोंकी तुलनात्मक पाद सारणीसे यह स्पष्ट हो जाता है। विशेष तुलनात्मक सूत्रसूची ग्रन्थके अन्तमें परिशिष्ट रूपमें दी गयी है।

जैनेन्द्र	पाणिनि	जैनेन्द्र	पाणिनि
१।१	१।१-२	३।३	४।३-४।४।१०६
१।२	१।३-४	३।४	५।१-५।२।४७
१।३	२।१-२	४।१	५।२।४८-५।३।११०
१।४	२।३-४	४।२	५।४
२।१	३।१	४।३	६।१-३
२।२	३।२	४।४	६।४
२।३	३।३	५।१	७।१-२।११३
२।४	३।४	५।२	७।२।११४-७।४
३।१	४।१	५।३	८।१-२
३।२	४।२	५।४	८।३-४

पूज्यपाद देवन्दीने आचार्य गृह्यपिच्छ उमास्वातिके तन्त्रार्थसूत्रपर सर्वार्थसिद्धि नामक टीकाका निर्माण किया था जो ज्ञानपीठसे प्रकाशित हो चुकी है। उस ग्रन्थमें उन्होंने कई स्थलोंपर व्याकरणके सूत्रोंका उद्धरण दिया है। उनमें बिना पन्नागतके जैनेन्द्र सूत्रोंको भी और पाणिनीय सूत्रोंको भी उद्धृत किया गया है। उदाहरणके लिए अध्याय ४ सूत्र १६ की सर्वार्थसिद्धि टीकामें दो सूत्रोंका उल्लेख है—'तदस्मिन्नस्तीति' और 'तस्य निवासः'। इनमें पहलेके विषयमें यह कहना कठिन है कि वह किस व्याकरणसे लिया गया है किन्तु दूसरा पाणिनीय व्याकरणका ही है [४।२।६९] क्योंकि उसका जैनेन्द्रगतपाठ 'तस्य निवासादूरभवौ' रूपमें मिलता है [सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृष्ठ ५०]। पूज्यपादने न केवल नवीन व्याकरण सूत्रोंकी रचना की, वरन् उनपर जैनेन्द्रन्यास भी बनाया था। उन्होंने पाणिनीय सूत्रों पर शब्दावतार न्यास भी लिखा था किन्तु अभी तक ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य पूज्यपाद पाणिनीय व्याकरण, कात्यायनके वार्तिक और पतञ्जलिके भाष्यके पूर्ण मर्मज्ञ थे, एवं जैनधर्म और दर्शनपर भी उनका असामान्य अधिकार था। वे गुप्तयुगके प्रतिभाशाली महान् साहित्यकार थे जिनक तत्कालीन प्रभाव कोंकणके नरेशोंपर था, किन्तु कालान्तरमें जो सारे देशकी विभूति बन गये।

काशी विश्वविद्यालय

५ जून १९५६

दो शब्द

मुग्धबोध व्याकरणके रचयिता नोपदेवके नामसे एक श्लोक प्रसिद्ध है; यथा—

“इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नीपिशली शाकटायनः ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥”

इसमें मुख्य आठ व्यकरणोंके साथ जैनेन्द्र व्याकरणका भी उल्लेख है। इस समय यद्यपि इस व्याकरणका पूर्ण रूपसे अध्ययनाध्यापन आदिमें उपयोग नहीं दिखाई देता तथापि ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिसे इसका अपना विशेष महत्त्व है। इतना होने पर भी जैनेन्द्रव्याकरणका कोई प्रामाणिक संस्करण अद्यावधि उपलब्ध न हो सका। लजरस कम्पनी बनारसकी ओरसे इसका प्रकाशन हुआ भी तो भी वह अध्याय ३ पाद २ सूत्र ६० तकका ही हो सका। और इसलिए इस ग्रन्थके सर्वाङ्गपूर्ण सुन्दर प्रकाशनकी आवश्यकता बनी रही।

लगभग ८-१० वर्ष भारतीय ज्ञानपीठके अधिकारियोंका ध्यान इस कमीकी ओर आकृष्ट हुआ। फलस्वरूप इसके सम्पादनका गुरुतर कार्य इसके अधिकारी विद्वान् श्री पं० शम्भुनाथ जी त्रिपाठी व्याकरणाचार्य सततीर्थको सौंपा गया। श्री त्रिपाठीजीने इसका पूरा प्रामाणिक सम्पादन करनेका प्रयत्न तो किया किन्तु प्रेसमें देनेके पूर्व ही वे यहाँसे चले गये और उन्होंने यहाँ आनेका विचार ही त्याग दिया। तब भी ज्ञानपीठके सुयोग्य मन्त्री श्री अयोध्याप्रसाद जी गोयलीयने अपने प्रयत्नमें कमी न आने दी। उन्होंने सूचित किया कि यदि त्रिपाठी जी यहाँ नहीं आ सकते हैं तो आप इसे उनके पास ले जाकर सम्पादन सम्बन्धी सारी बातें समझ लीजिए और इसे पूर्ण निर्दोष बनाकर प्रकाशनके लिए दे दीजिए। तदनुसार मैं त्रिपाठी जीके मूल निवास-स्थान दोस्तपुर [कैजाबाद] भी गया किन्तु उनसे साक्षात् भेंट न हो सकनेके कारण मन्त्री जीकी सम्मतिसे मुझे ही इस कार्यमें लग जाना पड़ा। अभी तक सम्पादित होकर मेरे नामसे कोई ग्रन्थ प्रकाशित तो नहीं हुआ है फिर भी ज्ञानपीठमें रहते हुए मैंने जो सम्पादन सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया है उसपर विश्वास करके मैंने माननीय मन्त्रीजी, श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री एवं डा० वासुदेवशरण अग्रवालके उत्साहपूर्ण आदेशसे यह कार्य अपने हाथमें ले लिया। ‘अनन्तपारं किञ्च शब्दशास्त्रम्’ इस वचनके अनुसार यह शब्दशास्त्र अनन्त और अगाध है—इसका पार पाना कठिन है; फिर भी त्रिपाठी जी द्वारा किये गये सम्पादनरूप सेतुके रहनेसे उसपरसे चलनेमें मुझे विशेष कठिनाईका अनुभव नहीं करना पड़ा। इन सब प्रयत्नोंके फलस्वरूप जो भी कार्य हुआ है वह सामने है।

सम्पादनकी विशेषताएँ

यह तो पहले ही निर्देश कर आये हैं कि इसका सर्वप्रथम सम्पादन श्रीमान् त्रिपाठी जीने किया था। उन्होंने भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट पूना और स्याद्वाद विद्यालय काशीकी हस्तलिखित प्रतियों तथा लजरस कम्पनी बनारसकी मुद्रित प्रतिके आधारसे प्रस्तुत संस्करणका सम्पादन किया है। प्रतियोंका परिचय ग्रन्थमें अन्यत्र दिया है। यद्यपि उपर्युक्त सभी प्रतियोंमें वृत्तिमें आये हुए सूत्रोंकी अध्याय व पादके अनुसार संख्याका उल्लेख नहीं किया है तथापि आवश्यक समझकर [] कोष्ठकमें उन्होंने उसका निर्देश कर दिया था जिसमें हमें बहुत कुछ संशोधन भी करना पड़ा है।

प्रायः सब प्रतियोंमें कुछ पाठ त्रुटित व अशुद्ध हो गये हैं। इस सम्बन्धमें वहाँ अशुद्ध पाठको वैसा ही रखकर उसके सामने अन्य ग्रन्थोंके आधारसे शुद्ध पाठ देनेका प्रयास किया गया है; यथा—‘अनियता [नियतवृत्तयः] उत्सेधजीविनः’, ‘दृशोर [दृश्यमानेन] सम्भाव्यमानेन’ [पृष्ठ १०३] आदि।

वृत्तिमें प्रायः वार्तिकों और परिभाषाओंका उल्लेख किया गया है। उनके परिज्ञानके लिए वार्तिकोंके अन्तमें [वा०] तथा परिभाषाओंके अन्तमें [प०] या [परि०] ऐसा संकेतात्मक निर्देश कर दिया है।

यह तो मानी हुई बात है कि श्रीमान् त्रिपाठीजीने इसके सम्पादनमें बहुत श्रम किया है तथापि हमें जो अन्य विशेषताएँ लानी पड़ी हैं उनका विवरण इस प्रकार है—

१. किसी भी उपलब्ध प्रतिमें अध्याय व पादके साथ सूत्रसंख्या नहीं दी गई थी, किन्तु आवश्यक समझकर हमने अध्याय तथा पादको संख्याका प्रत्येक सूत्रके साथ उल्लेख कर दिया है।

२. अध्याय ४ तथा ५ में अनेक स्थलों पर सूत्र तथा उनकी वृत्ति खण्डित है। हमने उन स्थलों पर मुद्रित जैनेन्द्र पञ्चाध्यायीके अनुसार सूत्रपाठ देकर उसे पूर्ण करने का प्रयत्न किया है।

३. श्री त्रिपाठीजीने परिशिष्ट तैयार नहीं किये थे जिनकी पूर्ति हमें करनी पड़ी है। जो परिशिष्ट दिये गये हैं वे ये हैं—[१] जैनेन्द्र सूत्रोंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [२] जैनेन्द्र वार्तिकोंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [३] जैनेन्द्र परिभाषाओंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [४] जैनेन्द्र गणपाठ सूची, [५] जैनेन्द्र संज्ञा सूची [इस सूचीमें विद्वानोंकी जानकारीके लिए जैनेन्द्र संज्ञाओंके साथ तत्समकृत पाणिनि संज्ञाओंका भी उल्लेख कर दिया है], [६] जैनेन्द्र तथा पाणिनिके सूत्रोंकी तुलनात्मक सूत्र-सूची और [७] जैनेन्द्रधुपाठ।

प्रत्याहार-विचार

उपलब्ध किसी भी प्रतिमें प्रत्याहार-सूत्रोंका उल्लेख नहीं मिलता। मालूम पड़ता है कि जैनेन्द्र व्याकरणमें लेखक-परम्पराकी भूलसे उनका उल्लेख होना छूट गया है, क्योंकि शब्दानुशासनके सूत्रोंमें प्रत्याहारोंका आश्रय लेकर शास्त्रोंकी प्रवृत्ति दिखलाई गई है। इस समय हमारे सामने दो प्रकारके प्रत्याहार-सूत्र उपस्थित हैं—प्रथम पञ्चाध्यायीके आरम्भमें आये हुए और दूसरे शब्दार्णवचन्द्रिकाके आरम्भमें आये हुए।

पञ्चाध्यायीके प्रारम्भमें आये हुए प्रत्याहार-सूत्र ये हैं—

“अइउण् १। ऋक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरट् ५। लण् ६। जमङणनम् ७। ऋभञ् ८। घढधष् ९। जवगडदश् १०। खफळ्ठथचटतव् ११। कपय् १२। शषसर् १३। हल् १४।”

किन्तु शब्दार्णवचन्द्रिकामें आये हुए प्रत्याहार-सूत्रोंमें पञ्चाध्यायीके प्रत्याहार-सूत्रोंसे कुछ अन्तर है। यहाँ पर द्वैविध्यका ठीक तरहसे ज्ञान करानेके लिए शब्दार्णवचन्द्रिकाके प्रत्याहार-सूत्र भी दिये जाते हैं—

“अइउण् १। ऋक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरलण् ५। जमङणनम् ६। ऋभञ् ७। घढधष् ८। जवगडदश् ९। खफळ्ठथचटतव् १०। कपय् ११। शषस अं अः ऋक् ऋपर् १२। हल् १३।”

शब्दार्णवके ये प्रत्याहार-सूत्र शाकटायनके प्रत्याहारसूत्रोंसे बहुत कुछ साम्य रखते हैं। जानकारीके लिए शाकटायनके प्रत्याहार-सूत्र भी यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

“अइउण् १। ऋक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरलण् ५। जमङणनम् ६। जवगडदश् ७। ऋभञ्घढधष् ८। खफळ्ठथट् ९। चटतव् १०। कपय् ११। शषस अं अः ऋक् ऋपर् १२। हल् १३।”

यह तो सुनिश्चित है कि महावृत्तिके आधारसे पञ्चाध्यायीमें जो सूत्रपाठ उपलब्ध होता है उससे शब्दार्णव चन्द्रिकाका सूत्रपाठ बहुत अंशमें भिन्न है और इसी सूत्रपाठके अनुसार प्रत्याहार-सूत्रोंमें अन्तर हुआ है; उदाहरणार्थ—सन्धिसूत्रोंमें पञ्चाध्यायीमें ‘शश्छोऽटि’ [५। ४। १७३] सूत्र आता है उसके अनुसार अट् प्रत्याहारके परे रहते ‘श’ के स्थानमें ‘छ’ आदेश होता है किन्तु शब्दार्णवकारने उसके स्थानमें ‘शश्छोऽमि’ [५। ४। १५६] सूत्रको रखकर अट् प्रत्याहारको नहीं माना है और इसलिए ‘हयवरट्, लण्’ इन दो सूत्रोंके स्थानमें शब्दार्णवकारने ‘हयवरलण्’ यह एक ही प्रत्याहार-सूत्र माना है। इसी प्रकार अन्यत्र भी अट् प्रत्याहारके निमित्तसे होनेवाले कार्योंमें शब्दार्णवकारने अन्य प्रकारसे निर्वाह करनेका प्रयास किया है।

ऋ और लृ में अभेद मानकर ‘ऋक्’ के स्थानमें शब्दार्णवकारने ‘ऋक्’ प्रत्याहार-सूत्र रखा है।

अनुस्वार, विसर्ग, जिह्मामूलीय, उपध्मानीय तथा यमकी व्याकरण शास्त्रमें अयोगवाह संज्ञा है। पाणिनिके प्रत्याहार-सूत्रोंमें तथा जैनेन्द्र-पञ्चाध्यायीगत प्रत्याहार-सूत्रोंमें इनका उल्लेख नहीं है किन्तु शब्दार्णववाले पाठमें अयोगवाहका भी शर् प्रत्याहारके अन्तर्गत समावेश किया है। शाकटायन व्याकरणके प्रत्याहार-सूत्रोंसे शब्दार्णवके प्रत्याहार-सूत्र बहुत कुछ साम्य रखते हैं। शत होता है कि शब्दार्णवकारने शाकटायन व्याकरणके सूत्रोंके आधारसे ही अपने प्रत्याहार-सूत्रोंकी रचना करके तदनुसार ही जैनेन्द्र शब्दानुशासनके सूत्रोंमें परिवर्तन या परिवर्धन किया हो। सिद्धान्तकौमुदीके हल्सन्धि प्रकरणमें एक वाक्य मिलता है—“अनुस्वार-विसर्गजिह्मामूलीयोपध्मानीययमानामकारोपरि शर्षु च पाठस्योपसंख्यानत्वेन...”। ज्ञात होता है कि शाकटायन तथा शब्दार्णवके प्रत्याहार-सूत्रोंको ध्यानमें रखकर ही भट्टोजिदीक्षितने उपर्युक्त वाक्य लिखा हो।

सात विभक्तियोंका विचार

साधारणतया पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रपाठमें ७ विभक्तियोंके लिए प्रथमा, द्वितीया, तृतीया आदि शब्दोंका ही निर्देश किया है। पृथक् किन्हीं संज्ञाओंका निर्देश नहीं किया है, किन्तु जैनेन्द्रकारने 'विभक्ती' शब्दके प्रत्येक अक्षरको अलग-अलग स्वरके आगे 'प्' और व्यञ्जनके आगे 'आ' जोड़कर सात विभक्तियोंकी संज्ञा निर्दिष्ट की है: यथा—'वा' [प्रथमा], इप् [द्वितीया], भा [तृतीया], अप् [चतुर्थी], का [पञ्चमी], ता [षष्ठी] और ईप् [सप्तमी]। इस प्रकार 'विभक्ती' शब्दके आधारसे ही इन संज्ञाओंका उल्लेख अन्यत्र कहीं देखनेमें नहीं आता।

जैनेन्द्र व्याकरण सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ

१. पाणिनीय अष्टाध्यायीमें वैदिक एवं स्वरप्रक्रिया इन दो प्रकरणोंके सूत्रोंका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख है किन्तु जैनेन्द्रकारने इन दोनों प्रकारणोंके सूत्रोंका उल्लेख नहीं किया है। क्योंकि वैदिक शब्दों व प्रयोगोंकी सिद्धि और स्वरविधानका प्रश्न जैनेन्द्रकारके समन्त उपस्थित नहीं था।

२. पाणिनीय व्याकरणमें एकशेष प्रकरणके सूत्रोंका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख है। किन्तु जैनेन्द्रकार इस प्रकरणके सूत्रोंकी आवश्यकताका अनुभव नहीं करते हुए मालूम देते हैं। उन्होंने इस प्रकरणको ध्यानमें रखकर 'स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः' इस सूत्रकी रचना की है। इससे विदित होता है कि उनका मत रहा है कि लोक-व्यवहारमें जो चीज आबाल वृद्ध प्रचलित है उसे सूत्रबद्ध निर्देश करके शास्त्रके कलेवरको बढ़ाना उचित नहीं है। और इसी लिए उन्होंने एकशेष प्रकरणको नहीं रखा है।

३. पाणिनीय व्याकरणसे सम्बद्ध स्वतन्त्र रूपसे चार प्रकरण मिलते हैं—लिङ्गानुशासन, पाणिनीय शिक्षा, धातुपाठ और गणपाठ। यह कह सकना तो कठिन है कि इन सबका निर्माण स्वयं पाणिनिने किया होगा। उदाहरणार्थ—पाणिनीय शिक्षाकी ही लीजिए। इसके प्रारम्भके प्रथम श्लोकमें कहा है—'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।' अर्थात् पाणिनिके मतानुसार शिक्षाका निरूपण करते हैं। तथा इसी प्रकरणके अन्तमें एकार्थिक बार पाणिनिके लिए नमस्कार भी किया गया है। इसलिए बहुत सम्भव है कि इस प्रकरणका संकलन पाणिनीय व्याकरणको आधार मानकर किसी अन्य समर्थ विद्वान्ने किया हो। स्वामी दयानन्द सरस्वतीने विक्रम संवत् १९३६ में 'वर्णोच्चारण शिक्षा' के नामसे भाषानुवाद सहित एक पुस्तिका प्रकाशित की थी, उसमें उन्होंने किसी प्राचीन प्रतिके आधारसे पाणिनीय शिक्षा सूत्रोंका संकलन किया था। बहुत सम्भव है कि ये शिक्षासूत्र ही वर्तमान श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षाके आधार रहे हों।

४. पाणिनीय लिङ्गानुशासनका समावेश अष्टाध्यायीमें नहीं किया गया है। उपलब्ध पाणिनीय लिङ्गानुशासनमें कुल १८१ सूत्र हैं। उनमें कुछ ऐसे भी सूत्र हैं जो अष्टाध्यायीमें भी उपलब्ध होते हैं; परन्तु अधिकतर सूत्र अष्टाध्यायीसे सम्बन्ध नहीं रखते। इन सूत्रोंका निर्माण किसने किया यह प्रश्न विचारणीय है। बहुत सम्भव है कि पाणिनि व्याकरणमें शब्दसिद्धिके आधार पर अन्य किसी विद्वान्ने लिङ्गानुशासनको सूत्रबद्ध कर दिया हो।

जैनेन्द्र व्याकरणमें लिङ्गानुशासन तथा जैनेन्द्र शिक्षा नामके तो प्रकरण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए।

५. 'भूवादयो धातवः' [१।३।१] 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' [२।४।७२] इत्यादि सूत्रों द्वारा गणशः प्रत्यय-विधान तथा 'इदितो नुम् धातोः' [७।१।५८], ह्यन्तक्षरणस्वसृजागृणिरव्येदिताम् [७।२।५], 'रुदश्च पञ्चभ्यः' [७।३।६८] आदि सूत्रों द्वारा अनुबन्ध तथा गणपाठका आश्रय लेकर धातुओंसे कार्य विधान किया गया है। इसी प्रकार गणपाठका आश्रय लेकर भी प्रकृति-प्रत्ययका विधान किया हुआ है,। इससे यह सुनिश्चित है कि पाणिनिके समक्ष उनके स्वनिर्मित गणपाठ और धातुपाठ अवश्य ही विद्यमान थे।

यही स्थिति जैनेन्द्र धातुपाठ तथा गणपाठके विषयमें भी है। वहाँ भी 'भूवादयो धुः' [१।२।१] 'उज्जुहोत्यादिभ्यः' [१।४।१४५] 'इदिदोनुम्' [५।१।३७] आदि सूत्रों-द्वारा धातुओंसे संज्ञा, प्रत्यय और आगम एवं आदेश आदिका विधान किया गया है। तथा गणपाठके निमित्तसे भी शास्त्र प्रवृत्ति देखी जाती है।

अतः सुनिश्चित है कि जैनेन्द्रके समन्त भी अपने स्वरचित धातुपाठ तथा गणपाठ अवश्य रहे होंगे किन्तु काल-क्रम वे आज अनुपलब्ध हो गये हैं।

६. पाणिनि व्याकरणमें उणादि-सिद्ध कार्योंके लिए “उणादयो बहुलम्” [३।३।१] सूत्र आता है। जैनेन्द्र व्याकरणमें भी इसी रूपमें इस सूत्रका उल्लेख है [२।२।१६]। इन दोनों मूल व्याकरणोंमें इस प्रकरणमें आये हुए प्रयोगोंकी सिद्धिके विषयमें इससे अधिक कुछ नहीं कहा गया है। मात्र जैनेन्द्र महावृत्तिमें इस सूत्रकी व्याख्या करते समय कुछ सूत्रोंके उल्लेखके साथ उनके द्वारा सिद्ध होनेवाले प्रयोगोंके कतिपय प्रकार दिखलाये गये हैं। यह निश्चित कहना कठिन है कि जैनेन्द्र महावृत्तिमें ये उणादि सूत्र कहाँ से आये। यदि इन्हें जैनेन्द्रकारका माना जाय तो शंका होती है कि पञ्चाध्यायीमें इनका संकलन क्यों नहीं हुआ? यद्यपि महावृत्तिमें उल्लिखित उणादि सूत्रोंमें कहीं-कहीं जैनेन्द्रव्याकरणकी संज्ञाओंका प्रयोग किया हुआ दिखाई देता है यथा ‘अस् सर्वभुभ्यः’ [पृष्ठ १७]; पर जबतक कोई निश्चित आधार नहीं मिलता तबतक इन सूत्रोंको स्वयं जैनेन्द्रकारका मान लेनेको मन नहीं होता। उणादि प्रकरणका संकलन करते हुए भट्टोजिदीक्षितने सिद्धान्तकौमुदीमें ७५५ सूत्र प्रमाण पञ्चपादी उणादि सूत्रोंकी सोदाहरण व्याख्या दी है। किन्तु पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें ये सूत्र उपलब्ध नहीं होते। उणादिका निर्देश करनेवाला ‘उणादयो बहुलम्’ [३।३।१] सूत्र अष्टाध्यायीमें उपलब्ध होता है किन्तु उसका संकलन भट्टोजिदीक्षितने उणादि प्रक्रियामें न करके उत्तर कृदन्तमें किया है। विद्वानोंका मत है कि ये उणादिसूत्र शाकटायन प्रणीत हैं जिनके समयका उल्लेख करते हुए श्रीयुधिष्ठिर मीमांसकने लिखा है कि ‘इस्का काल विक्रमसे लगभग ३१०० वर्ष पूर्व होगा’। [संस्कृत व्याकरणशास्त्रका इतिहास पृष्ठ १९६]

पातञ्जल महाभाष्यमें एक वाक्य मिलता है; यथा—‘नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकः।’

इसका आशय यह है कि ‘निरुक्तमें सभी संज्ञाशब्दोंको धातुज कहा है और व्याकरण शास्त्रमें शकटके पुत्र [शाकटायन] भी ऐसा ही कहते हैं।’ इससे मालूम पड़ता है कि शाकटायन विरचित कोई ऐसा प्रकरण अवश्य रहा होगा जिसमें धातुओंके निमित्तसे प्रत्यय विधान करके संज्ञाशब्दोंकी सिद्धि की गई हो। वह प्रकरण उणादिके सिवा और क्या हो सकता है? उणादिके दशपादी तथा त्रिपादी पाठ भी उपलब्ध होते हैं। [विशेष विवरणके लिए इसी ग्रन्थमें प्रकाशित श्री युधिष्ठिर मीमांसकका ‘जैनेन्द्र शब्दानुशासन और उसके खिलपाठ’ शीर्षक निबन्ध देखिए]।

श्री डा० वन्नुदेवशरणजी अग्रवालने ज्ञानपीठके अनुरोधसे इसकी अनुसन्धानपूर्ण भूमिका लिखकर इसके महत्त्वको बढ़ानेकी कृपा की तथा इनके ही अनुरोधसे ऐतिहासिक सामग्रीकी पूर्णताके लिए श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने ‘जैन साहित्य और इतिहास’ में मुद्रित ‘देवनन्दि तथा’ उनका जैनेन्द्र व्याकरण’ शीर्षक गवेषणापूर्ण निबन्ध छापनेकी अनुमति-पूर्वक उसके दूसरे संस्करणके फार्म भिजवानेकी कृपा की जिससे ग्रन्थकारके विषयमें ऐतिहासिक अन्वेषणके कठिन कार्यसे मुझे छुट्टी मिल गई। श्री युधिष्ठिर मीमांसकने भी ‘जैनेन्द्रशब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ’ शीर्षक अनुसन्धानपूर्ण निबन्ध लिखकर हमारी बहुत बड़ी सहायता की है। इतना ही नहीं, उन्होंने, प्रस्तुत संस्करणमें जो थोड़ी बहुत त्रुटियाँ रह गई हैं, उनका उल्लेख करके आत्मीयतापूर्वक सौहार्द भी प्रदर्शित किया है। अतः उक्त तीनों विद्वानोंका विशेष आभारी हूँ।

श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्रीने भी समय समय पर उपयोगी सुझाव देकर इस ग्रन्थको शुद्ध, सर्वाङ्गपूर्ण तथा सर्वोपयोगी बनानेमें सहायता दी तथा मेरे उत्साहको बढ़ाया इसलिए मैं उनका भी विशेष आभारी हूँ।

कार्य बहुत बड़ा था और सम्पादनका मेरा यह पहला अवसर है, इसलिए सम्भव है कि इसमें अभी भी कुछ दोष रह गये हों। मेरा विश्वास है कि विद्वान् पाठक इसके लिए क्षमा करेंगे।

वाराणसी
दीपावली
वि० सं० २०१३

—महादेव चतुर्वेदी

देवनन्दिका जैनेन्द्र व्याकरण

लेखक :- श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी

जैनेन्द्र और ऐन्द्र

मुग्धबोधकर्ता बोपदेवने जिन आठ वैयाकरणोंके नामोंका उल्लेख किया है, उनमें एक 'जैनेन्द्र' भी है। ये जैनेन्द्र अथवा जैनेन्द्र व्याकरणके कर्त्ता कौन थे इस विषयमें इतिहासज्ञोंमें कुछ समय तक बड़ा विवाद चला था। डॉ० कीलहार्नने इसे जिनदेव अथवा भगवान् महावीरद्वारा इन्द्रके लिए कहा गया बतलाया और इसके सुबूतमें उन्होंने कल्पसूत्रकी समयसुन्दरकृत टीका, और लक्ष्मीवल्लभकृत उपदेशमाला-कर्णिकाका यह उल्लेख पेश किया था कि जिनदेव महावीर जिस समय आठ वर्षके थे उस समय इन्द्रने शब्दलक्षणसंबंधी कुछ प्रश्न किये और उनके उत्तररूप यह व्याकरण बतलाया गया, इसलिए इसका नाम जैनेन्द्र पड़ा^१।

श्रेताम्बरसम्प्रदायके और भी कई ग्रन्थोंमें इस प्रकारके उल्लेख मिलते हैं। कल्पसूत्रकी विनयविजय-कृत सुबोधिका टीकामें लिखा है कि भगवान्को माता-पिताने पाठशालामें गुरुके पास पढ़नेके लिए भेजा है, यह जानकर इन्द्र स्वर्गसे आया और पण्डितके घर, जहाँ भगवान् थे वहाँ, गया। उसने भगवान्से पण्डितके मनमें जो जो सन्देह थे, उन सबको पूछा। जत्र सत्र लोग यह सुननेके लिए उत्कर्ण हो रहे थे कि देखें यह बालक क्या उत्तर देता है, तब भगवान् वीरने सब प्रश्नोंके उत्तर दिये, और तब 'जैनेन्द्र व्याकरण' बना।

परन्तु इस प्रसंगके वे सब उल्लेख अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही हैं जिनमें भगवान्के उत्तररूप इस व्याकरणका नाम 'जैनेन्द्र' बतलाया है। प्राचीन उल्लेखोंमें इसका नाम जैनेन्द्रकी जगह 'ऐन्द्र' प्रकट किया है; जैसा कि आवश्यकसूत्रकी द्वारि-नट्टी-दत्तिकाके पृष्ठ १८२ में लिखा है^२।

इसी प्रकार सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्रने अपने योगशास्त्रके प्रथम प्रकाशमें लिखा है कि भगवान्ने

१. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥—धातुपाठ

२. इंडियन एन्टिक्वेरी १०, पृ० २५१ ।

३. यद्दिन्द्राय जिनेन्द्रेण कौमारेऽपि निरूपितम् । ऐन्द्रं जैनेन्द्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनम् ॥

४. [शक्रः] यत्र भगवान् तिष्ठति तत्र पण्डितगेहे समाजगाम । आगत्य च पण्डितयोग्ये आसने भगवन्तमुपवेश्य पण्डितमनोगतान् सन्देहान् पप्रच्छ, श्रीवीरोऽपि बालोऽथं किं वक्ष्यतीत्युत्कर्णेषु सकललोकेषु सर्वाणि उत्तराणि ददौ, ततो 'जैनेन्द्रव्याकरणां' जज्ञे । यतः—

सक्यो य तस्समकलं भगवन्तं आसये निवेशित्ता । सहस्स लकखणं पुच्छे वागरयाभवयवा इदं ॥

५. शक्रः तस्समक्षं लेखाचार्यसमक्षं भगवन्तं तीर्थकरं आसने निवेश्य शब्दस्य लक्षणं पृच्छति । भगवता च व्याकरणां अभ्यधायि । व्याक्रियन्ते लौकिक-सामायिकाः शब्दाः अनेन इति व्याकरणां शब्दशास्त्रम् । तदवयवाः केचन उपाध्यायेन गृहीताः, तत्तश्च ऐन्द्रं व्याकरणां संजातम् ।

६. मातापितृभ्यामन्नेद्युः प्रारब्धेऽध्यापनोत्सवे । आः सर्वज्ञस्य शिष्यत्वमितीन्द्रस्तमुपास्थितः ॥ ५६ ॥

उपाध्यायासने तस्मिन्वासवेनोपवेशितः । प्रणम्य प्रार्थितः स्वामी शब्दपारायणां जगौ ॥ ५७ ॥

इदं भगवतेन्द्राय प्रोक्तं शब्दानुशासनम् । उपाध्यायेन तच्छ्रुत्वा लोकेष्वैन्द्रमितीरितम् ॥ ५८ ॥

इन्द्रके लिए जो शब्दानुशासन कहा, उपाध्यायने उसे हुनकर लोकमें 'ऐन्द्र' नामसे प्रकट किया। अर्थात् इन्द्रके लिए जो व्याकरण कहा गया, उसका नाम 'ऐन्द्र' हुआ^१।

प्राचीन कालमें इन्द्रनामक आचार्यका बनाया हुआ एक संस्कृत व्याकरण^२ था। उसका उल्लेख अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है। ऊपर दिये हुए बोपदेवके श्लोकमें भी उसका नाम है। हरिवंशपुराणके कर्त्ताने देवनन्दिको 'इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापिव्याकरणेक्षिणः' विशेषण दिया है। शब्दार्णवचन्द्रिकाकी ताड़पत्रवाली प्रतिमें, जो १३ वीं शताब्दीके लगभगकी लिखी हुई मालूम होती है, 'इन्द्रश्चन्द्रः शकटतनयः' आदि श्लोकमें इन्द्रके व्याकरणका उल्लेख किया है। बहुत अधिक समय हुआ यह नष्ट हो गया है^३। जब यह उपलब्ध ही नहीं है तब इसके विषयमें कुछ कहनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यद्यपि आजकलके समयमें इस बातपर कोई भी विद्वान् विश्वास नहीं कर सकता है कि भगवान् महावीरने भी कोई व्याकरण बनाया होगा और वह भी मागधी या प्राकृतका नहीं, किन्तु ब्राह्मणोंकी खास भाषा संस्कृतका। तो भी यह निस्सन्देह है कि वह व्याकरण 'जैनेन्द्र' नहीं था। यदि बनाया भी होगा तो वह 'ऐन्द्र' ही होगा। क्योंकि हरिभद्रसूरि और हेमचन्द्रसूरि उसीका उल्लेख करते हैं, जैनेन्द्रका नहीं। जान पड़ता है, विनयविजय और लक्ष्मीवल्लभने पीछेसे 'ऐन्द्र' को ही 'जैनेन्द्र' बना डाला है। उनके समयमें भी 'ऐन्द्र' अप्राप्य था, इसलिए उन्होंने प्राप्य 'जैनेन्द्र' को ही भगवान् महावीरकी कृति बतलाना विशेष सुकर और लाभप्रद सोचा।

हरिभद्रसूरि विक्रमकी आठवीं शताब्दिके और हेमचन्द्रसूरि तेरहवीं शताब्दिके विद्वान् हैं जिन्होंने 'ऐन्द्र' को भगवान्का व्याकरण बतलाया है; परंतु 'जैनेन्द्र' को भगवत्प्रणीत बतलानेवाले विनयविजय और लक्ष्मी-वल्लभ विक्रमकी अठारहवीं शताब्दिमें हुए हैं।

भगवद्वाग्वादिनी

विनयविजयजीके इस उल्लेखका अनुसरण करके उनके कुछ समय बाद वि० सं० १७६७ में किसी विद्वान्ने साक्षात् महावीर भगवान्का बनाया हुआ व्याकरण तैयार कर दिया और उसका दूसरा नाम 'भगवद्वाग्वादिनी' रक्खा।

इस भगवद्वाग्वादिनीकी एक प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें है, जो तक्षक नगरमें रत्नर्षि नामक लेखक द्वारा वि० सं० १७६७ में लिखी गई थी। इसकी पत्रसंख्या ३०, और श्लोकसंख्या ८०० है। प्रति बहुत शुद्ध है। जैनेन्द्रका सूत्रपाठ मात्र है और वह सूत्रपाठ है जिसपर शब्दार्णवचन्द्रिका टीका लिखी गई है। इस वाग्वादिनीके आविष्कारकने शक्ति भर इस बातको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि इसके कर्त्ता साक्षात् महावीर भगवान् हैं, दिगम्बरी देवनन्दि नहीं। उनको सब युक्तियाँ हमने इस ग्रन्थके अन्तमें उद्धृत कर दी हैं। उन सबपर विचार करनेकी यहाँ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

हमारा अनुमान है कि डॉ० कीलहार्नके हाथमें यह 'भगवद्वाग्वादिनी' की प्रति अवश्य पड़ी होगी और इसीकी कृपासे प्रेरित होकर उन्होंने अपना पूर्वोक्त लेख लिखा होगा। उनके लेखमें जो श्लोकादि प्रमाणस्वरूप दिये गये हैं वे भी सब इसी परसे लिये गये जान पड़ते हैं।

१. ऋकृतन्त्र (१-४) के अनुसार इन्द्रने प्रजापतिसे शब्दशास्त्रका अध्ययन किया था और यह उसीका अनुकरण मालूम होता है।

२. डॉ० ए० सी० बर्नेलने इन्द्रव्याकरणके विषयमें चीनी तिब्बतीय और भारतीय साहित्यमें जो उल्लेख मिलते हैं उनको संग्रह करके 'ओन दि ऐन्द्रस्कूल ऑफ संस्कृत ग्रामेरियन्स' नामकी एक बड़ी पुस्तक लिखी है।

३. "तेन प्रणष्टमैन्द्रं तदस्माद्ब्याकरणं भुवि"—कथासरित्सागर, तरंग-४

४. जयपुर राज्यके 'टोडा राष्त्रसिंह' का पुराना नाम तक्षक नगर है।

डॉ० कीलहार्नर्र्के इस भ्रमको सबसे पहले स्व० डॉ० के० बी० पाठकने दूर किया और अब तो जैनेन्द्र व्याकरण काफी प्रसिद्ध हो गया है।

देवनन्दि और पूज्यपाद

श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ४० (६४) में लिखा है कि उनका पहला नाम देवनन्दि था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वे जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवोंने उनके चरणोंकी पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ।

मंगराज कविके शकसंवत् १३६५ के शिलालेखसे भी यही दो नाम प्रकट होते हैं।

जिनेन्द्रबुद्धि नामके एक और वैयाकरण हो गये हैं जिनका बनाया हुआ पाणिनि व्याकरणकी काशिका-वृत्तिपर एक न्यास है। वे बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य या बौद्ध साधु थे।

देवनन्दिका संक्षिप्त नाम 'देव' भी था। जिनसेन^३ और वादिरार्जसूरिने इन्हें इसी संक्षिप्त नामसे स्मरण किया है।

अनेक लेखकोंने उन्हें केवल देवनन्दि नामसे और केवल पूज्यपाद नामसे स्मरण किया है और दोनों नामोंसे उन्हें वैयाकरण माना है।

महाकवि धनंजयकी नाममालामें एक श्लोक है जिसमें पूज्यपादको लक्षण-ग्रन्थ (व्याकरण) का कर्ता माना है^४।

जैनेन्द्रकी प्रत्येक हस्तलिखित प्रतिके प्रारंभमें जो श्लोक मिलता है, उसमें ग्रन्थकर्ताने 'देवनन्दितपूजेश' पदमें जो कि भगवान्का विशेषण है अपना नाम भी प्रकट कर दिया है^५। संस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंके मंगलाचरणोंमें

१. यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ॥२॥

श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥३॥

जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा

सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः ।

छन्दः सूक्तमधियं समाधिगतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा-

माख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥४॥

२. श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः ।

यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥ १५ ॥

धृतविरवबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमनुबिभ्रदुच्चकैः ।

जिनवद्बभूव यदनङ्गचापहस्त ज्जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः ॥ १६ ॥

श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमोषधर्द्धिर्जीयाद्धिदेहजिनदर्शनपूतगात्रः ।

यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥ १७ ॥

३. कवीनां तीर्थकृद्देवः किं तरां तत्र वर्ण्यते । त्रिदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥ ५२ ॥

—आदिपुराण प्र० पर्व

४. अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंधो हितैषिया । शब्दाश्च येन सिद्धयन्ति साधुत्वं प्रतिलंभिताः ॥१८॥

—पारश्वनाथचरित प्र० सर्ग

५. प्रमाणात्मकलंकृत्य पूज्यपादस्य लक्षणम् । धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥ २० ॥

६. लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य निरवद्याऽवभासते । देवनन्दितपूजेशं नमस्तस्मै स्वयं भुवे ॥

यह पद्धति अनेक विद्वानोंने स्वीकार की है। इससे स्वयं ग्रन्थकर्ताके वचनोंसे भी जैनेन्द्रके कर्ता 'देवनन्दि' ठहरते हैं।

गणारत्नमहोदयके कर्ता वर्धमान और हैम शब्दानुशासनके लघुन्यास बनानेवाले कनकप्रभ भी जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ताका नाम देवनन्दि ही बतलाते हैं। अतः अब इस विषयमें किसी प्रकारका कोई सन्देह बाकी नहीं रह गया कि यह व्याकरण देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ है।

दो तरहके सूत्र-पाठ

जैनेन्द्र व्याकरणके मूल सूत्र-पाठ दो प्रकारके उपलब्ध हैं—एक तो वह जिसपर आचार्य अभयनन्दिकी 'महावृत्ति' तथा श्रुतकीर्तिकृत 'पञ्चवस्तु' नामकी प्रक्रिया है; और दूसरा वह जिसपर सोमदेवसूरिकृत 'शब्दार्णव-चन्द्रिका' और गुणनन्दिकृत 'प्रक्रिया' है। पहले प्रकारके पाठमें लगभग ३००० और दूसरेमें लगभग ३८०० सूत्र हैं, अर्थात् एकसे दूसरेमें कोई ७०० सूत्र अधिक हैं, और जो ३००० सूत्र हैं वे भी दोनोंमें एकसे नहीं हैं। अर्थात् दूसरे सूत्रपाठमें पहले सूत्र-पाठके सैकड़ों सूत्र परिवर्तित और परिवर्धित भी किये गये हैं। पहले प्रकारका सूत्र-पाठ पाणिनीय सूत्र-पाठके ढंगका है, वर्तमान दृष्टिसे वह कुछ अपूर्ण-सा ज्ञान पड़ता है और इसी लिए महावृत्तिमें बहुतसे वार्तिक तथा उपसंख्यान आदि बनाकर उसकी पूर्णता की गई दिखलाई देती है, जब कि दूसरा पाठ प्रायः पूर्ण-सा ज्ञान पड़ता है और इसी कारण उसकी टीकाओंमें वार्तिक आदि नहीं दिखलाई देते। दोनों पाठोंमें बहुत-सी संज्ञाएँ भी भिन्न प्रकारकी हैं।

इन भिन्नताओंके होते हुए भी दोनों पाठोंमें समानताकी भी कमी नहीं है। दोनोंके अधिकांश सूत्र समान हैं, दोनोंके प्रारंभका मंगलाचरण बिलकुल एक है और दोनोंके कर्ताओंका नाम भी देवनन्दि या पूज्य-पाद लिखा हुआ मिलता है।

असली सूत्रपाठ

अब प्रश्न यह है कि इन दोनोंमेंसे स्वयं देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ असली सूत्र-पाठ कौन-सा है ?

हमारे खयालमें आचार्य देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ सूत्र-पाठ वही है जिसपर अभयनन्दिने अपनी महावृत्ति लिखी है। यह सूत्रपाठ उस समयतक तो ठीक समझा जाता रहा जब तक शाकटायन व्याकरण नहीं बना। शायद शाकटायनको भी जैनेन्द्रके होते हुए एक जुदा जैन व्याकरण बनानेकी आवश्यकता इसीलिए महसूस हुई कि जैनेन्द्र अपूर्ण है, और इसलिए बिना वार्तिकों और उपसंख्यानों आदिके उससे काम नहीं चल सकता, परन्तु जब शाकटायन जैसा सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण बन चुका, तब जैनेन्द्र व्याकरणके भक्तोंको उसकी त्रुटियाँ खटकने लगीं और उनमेंसे आचार्य गुणनन्दिने उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनानेका प्रयत्न किया। इस प्रयत्नका फल ही यह दूसरा सूत्र-पाठ है जिसपर सोमदेवकी शब्दार्णव-चन्द्रिका रची गई है। इस सूत्र पाठको बारीकीके साथ देखनेसे मालूम पड़ता है कि गुणनन्दिके समय तक व्याकरण-सिद्ध जितने प्रयोग होने लगे थे उन सबके सूत्र उसमें मौजूद हैं और इसलिए उसके टीकाकारोंको वार्तिक आदि बनानेके भ्रंशटोंमें नहीं पड़ना पड़ा है। अभयनन्दिकी महावृत्तिके ऐसे बीसों वार्तिक हैं जिनके इस दूसरे पाठमें सूत्र ही बना दिये गये हैं।

१. क-नीतिवाक्यामृतके मंगलाचरणमें सोमदेव कहते हैं—

सोमं सोमसमाकारं सोमाभं सोमसंभवम् । सोमदेवं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रुवे ॥

ख-आचार्य अनन्तवीर्य लवीयस्त्रयकी वृत्तिके प्रारंभमें कहते हैं—

जिनाधीशं मुनिं चन्द्रमकलंकं पुनः पुनः । अनन्तवीर्यमानौमि स्याद्धान्यायनायकम् ॥

२. शालालुरीय शकटाङ्गज-चन्द्रगोमि-दिग्बल-भर्तृहरि-वामन-भोजमुख्याः ।

१—शब्दार्णव-चन्द्रिकाके अन्तिम पद्यमें सुप्रसिद्ध गुणनन्दि आचार्यके शब्दार्णवमें प्रवेश करनेके लिए सोमदेवकृत वृत्तिको नौकाके समान बतलाया है।^१ इससे जान पड़ता है कि आचार्य गुणनन्दिके बनाये हुए व्याकरण ग्रन्थकी यह टीका है और उसका नाम शब्दार्णव है। इस टीकाका 'शब्दार्णव-चन्द्रिका' नाम भी तभी अन्वर्थक होता है, जब मूल सूत्र-ग्रन्थका नाम शब्दार्णव हो। हमारे इस अनुमानकी पुष्टि प्रक्रियाके अन्तिम श्लोकसे और भी अच्छी तरहसे हो जाती है^२ जिसका आशय यह है कि गुणनन्दिने जिसके शरीरको विस्तृत किया है, उस शब्दार्णवको जाननेकी इच्छा रखनेवालोंके लिए तथा आश्रय लेनेवालोंके लिए यह प्रक्रिया साक्षात् नावके समान काम देगी। इसमें 'शब्दार्णव' को जो 'गुणनन्दितानितवपुः' विशेषण दिया है, वह विशेष ध्यान देने योग्य है। उससे साफ समझमें आता है कि गुणनन्दिके जिस व्याकरणपर ये दोनों टीकाएँ—शब्दार्णव-चन्द्रिका और प्रक्रिया—लिखी गई हैं उसका नाम 'शब्दार्णव' है और वह मूल (असली) जैनेन्द्र व्याकरणके संक्षिप्त शरीरको तानित या विस्तृत करके बनाया गया है।

शब्दार्णवचन्द्रिकाके प्रारम्भका मंगलाचरण भी इस विषयमें ध्यान देने योग्य है^३ जिसमें ग्रन्थकर्ताने भगवान् महावीरके विशेषणरूपमें क्रमसे पूज्यपादका, गुणनन्दिका और अप्रना (सोमामर या सोमदेवका) उल्लेख किया है, और इससे वे निस्सन्देह यही ध्वनित करते हैं कि मुख्य व्याकरणके कर्ता पूज्यपाद हैं, उसको विस्तृत करनेवाले गुणनन्दि हैं और फिर उसकी टीका करनेवाले सोमदेव (स्वयं) हैं। यदि यह चन्द्रिका टीका पूज्यपादके व्याकरणकी ही होती, तो मंगलाचरणमें गुणनन्दिका नाम खानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। गुणनन्दि उनकी गुरु-परम्परामें भी नहीं हैं, जो उनका उल्लेख करना आवश्यक होता ! अतः यह सिद्ध है कि चन्द्रिका और प्रक्रिया दोनोंके ही कर्ता यह समझते थे कि हमारी टीकाएँ असली जैनेन्द्रपर नहीं किन्तु उसके 'गुणनन्दितानितवपुः' शब्दार्णवपर बनी हैं।

२—शब्दार्णव-चन्द्रिका और जैनेन्द्र-प्रक्रियाँ इन दोनों ही टीकाओंमें 'एकशेष' प्रकरण है; परन्तु अभयनन्दिकृत 'महावृत्ति' वाले सूत्रपाठमें एकशेषको अनावश्यक बतलाया है—“स्वाभाविकत्वाद्भिधानस्यैकशेषानारम्भः।” [१-१-६६] और इसीलिए देवनन्दि या पूज्यपादका व्याकरण 'अनेकशेष' कहलाता है। चन्द्रिका टीकाके कर्ता स्वयं ही “आदावुपज्ञोपक्रमम्” [१-४-११४] सूत्रकी टीकामें उदाहरण देते हैं “देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम्।” यह उदाहरण अभयनन्दिकृत महावृत्तिमें भी दिया गया है। इससे सिद्ध है कि शब्दार्णव-चन्द्रिकाके कर्ता भी उसी व्याकरणको देवोपज्ञ या देवनन्दिकृत मानते हैं, जो अनेकशेष है, अर्थात् जिसमें 'एकशेष' प्रकरण नहीं है और ऐसा व्याकरण वही है जिसकी टीका अभयनन्दिने की है।

३—आचार्य विद्यानन्दि अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ २६५ में 'नैगमसंग्रह-' आदि सूत्रकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं, “नयश्च नयौ च नयाश्च नया इत्येकशेषस्य स्वाभाविकस्याभिधाने दर्शनात् केषाञ्चित्तथा वचनोपलम्भाच्च न विरुद्ध्यते।” इसमें स्वाभाविकताके कारण, एकशेषकी अनावश्यकता प्रतिपादन की है और यह अनावश्यकता जैनेन्द्रके वास्तविक सूत्र-पाठमें ही उपलब्ध होती है। “स्वाभाविकत्वाद्भिधानस्यैकशेषानारम्भः” [१-१-६६] यह सूत्र शब्दार्णववाले पाठमें नहीं है, अतः विद्यानन्दि भी पूर्वोक्त सूत्रवाले

१. श्रीसोमदेवयतिनिर्मितिमाद्धाति या नौः प्रतीतगुणनन्दितशब्दवाधौ ।

सेयं सताममलचेतसि विस्फुरन्ती वृत्तिः सदा नुतपदा परिवर्तिषीष्ट ॥

२. सत्संधिं दधते समासमभितः ख्यातार्थनामोन्नतं, निर्जातं बहुतद्धितं कृतमिहाख्यातं यशःशालिनम् ।

सैषा श्रीगुणनन्दितानितवपुः शब्दार्णवं निर्णये, नावित्याश्रयतां विविक्षुमनसां साक्षात्स्वयं प्रक्रिया ॥

३. श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमामरव्रतिपूजितपादयुग्मम् ।

सिद्धं समुन्नतपदं वृषभं जिनेन्द्रं सच्छब्दलक्षणमहं विनमामि वीरम् ॥

४. इस प्रक्रियाका भी नाम 'शब्दार्णव-प्रक्रिया' होगा, जैनेन्द्र-प्रक्रिया नहीं।

जैनेन्द्र-पाठके माननेवाले थे। पाठकोंको यह स्मरण रखना चाहिए कि उपलब्ध व्याकरणोंमें 'अनेकशेष' व्याकरण केवल देवनन्दिकृत ही है, दूसरा नहीं^१।

४—तत्त्वार्थ-टीका 'सर्वार्थसिद्धि' के कर्ता स्वयं पूज्यपाद या देवनन्दि हैं। इस टीकामें अध्याय ५, सूत्र २४ की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं, "अन्यतोऽपि" इति तसि कृते सर्वतः।" और इसी सूत्रकी व्याख्या करते हुए राजवार्तिककार लिखते हैं, "दृश्यतेऽन्यतोऽपिति" तसि कृते सर्वेषु सर्वत इति भवति।" जान पड़ता है कि या तो सर्वार्थसिद्धिकारने इस सूत्रको संक्षेप करके लिखा होगा, या लेखकों तथा छुपानेवालोंने प्रारम्भका 'दृश्यते' शब्द छोड़ दिया होगा। वास्तवमें यह पूरा सूत्र 'दृश्यतेऽन्यतोऽपि' ही है और यह अभयनन्दिवाले सूत्र-पाठके अ० ४ पा० १ का ७९ वाँ सूत्र है। परन्तु शब्दार्णववाले पाठमें न तो यह सूत्र है और न इसके प्रतिपाद्यका विधानकर्ता कोई दूसरा सूत्र है। इससे सिद्ध है कि पूज्यपादका असली सूत्रपाठ वही है जिसमें उक्त सूत्र मौजूद है

५—भट्टकलंकदेवने तत्त्वार्थराजवार्तिकमें 'आद्ये परोक्षम्' [अ० १, सू० ११] की व्याख्यामें "सर्वादि सर्वनाम" [१-१-३५] सूत्रका उल्लेख किया है, इसी तरह परिडल आशाधरने अननगरधर्माभूतटीका [अ० ७ श्लो० २४] में "स्तोके प्रतिना" [१-३-३७] और "आर्थे [१-४-१४] इन दो सूत्रोंको उद्धृत किया है और ये तीनों ही सूत्र जैनेन्द्रके अभयनन्दिवृत्तिवाले सूत्रपाठमें ही हैं। शब्दार्णववाले पाठमें इनका अस्तित्व ही नहीं है। अतः अकलंकदेव और पं० आशाधर इसी अभयनन्दिवाले पाठको ही माननेवाले थे। अकलंकदेव वि० की आठवीं नौवीं शताब्दिके और आशाधर १३ वीं शताब्दिके विद्वान् हैं।

६—पं० श्रीलालजी शास्त्रीने शब्दार्णव-चन्द्रिकाकी भूमिकामें लिखा है कि "आचार्य पूज्यपादने स्वनिर्मित 'सर्वार्थसिद्धि' में 'प्रमाणनयैरधिगमः' [अ० १ सू० ६] की टीकामें यह वाक्य दिया है—“नयशब्द-स्थालपात्तरत्वात् पूर्वनिपातः प्राप्नोति ? नैष दोषः; अभ्यर्हितत्वात्प्रमाणस्य तत्पूर्वनिपातः।” और अभयनन्दिवाले पाठमें इस विषयका प्रतिपादन करनेवाला कोई सूत्र नहीं है। केवल अभयनन्दिका 'अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति' वार्तिक है। यदि अभयनन्दिवाला सूत्र-पाठ ठीक होता तो उसमें इस विषयका प्रतिपादक सूत्र अवश्य होता जो कि नहीं है। पर शब्दार्णववाले पाठमें 'अर्च्यम्' [१-३-११५] ऐसा सूत्र है जो इसी विषयको प्रतिपादित करता है। इसलिए यही सूत्र-पाठ देवनन्दिकृत है।" इसपर हमारा निवेदन यह है कि "अल्पात्तरम्" [२-२-३४] यह सूत्र पाणिनिका है और इसके ऊपर कात्यायनका "अभ्यर्हितं च" वार्तिक तथा पतंजलिका "अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति" भाष्य है। इससे मालूम होता है कि पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धि-टीकाके इस स्थलमें पाणिनि और पतंजलिके ही सूत्र तथा भाष्यको लक्ष्य करके उक्त विधान किया है। यह निश्चित है कि उन्होंने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें अन्य वैयाकरणोंके भी मत दिये हैं और अनेक बार पतंजलिके महाभाष्यके वाक्य^२।

सर्वार्थसिद्धि अ० ४ सूत्र २२ की व्याख्यामें लिखा है—“यथाहुः—दुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बित-योरुपसंख्यानमिति।” इसकी अन्य पुरुषकी 'आहुः' क्रिया ही कह रही है कि ग्रन्थकर्ता यहाँ किसी अन्य पुरुषका वचन दे रहे हैं। अब पतंजलिका महाभाष्य देखिए। उसमें १-२-१ के ५ वें वार्तिकके भाष्यमें बिलकुल यही वाक्य दिया हुआ है—एक अक्षरका भी हेरफेर नहीं है। इससे स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धिके कर्ताने अन्य व्याकरण-ग्रन्थोंके भी प्रमाण दिये हैं।

१. 'संस्कृत व्याकरणशास्त्रका इतिहास' में श्री युधिष्ठिर मीमांसकने लिखा है कि जैनेन्द्रसे कई शताब्दि पूर्वके चान्द्र व्याकरणमें भी एकशेष प्रकरण नहीं है।

२. तत्त्वार्थराजवार्तिकमें इसी 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्रकी व्याख्यामें पतंजलिका यह भाष्य ज्योंका त्यों अक्षरशः दिया है। अभयनन्दिका भी यही वार्तिक है। परन्तु तब तक अभयनन्दिका अस्तित्व ही न था।

३. राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें भी यह वाक्य उद्धृत किया गया है।

सर्वार्थसिद्धि अ० ७ सूत्र १६ की व्याख्या लिखा है, “शास्त्रेऽपि ‘अश्ववृषयोर्मेथुनेच्छायामित्येवमादिषु तदेव गृह्यते ।” यह पाणिनिके ७-१-५१ सूत्रपर कात्यायनका पहला वार्तिक है। वहाँ “अश्ववृषयोर्मेथुनेच्छायाम्” इतने शब्द हैं और इन्हींको सर्वार्थसिद्धिकारने लिया है। यहाँ कात्यायनके वार्तिकको उन्होंने ‘शास्त्र’ शब्दसे व्यक्त किया है।

सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सूत्र ४ की व्याख्यामें ‘नित्य’ शब्दको सिद्ध करनेके लिए पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं, “नेः ध्रुवे त्यः इति निष्पादितत्वात् ।” परन्तु जैनेन्द्रमें ‘नित्य’ शब्दको सिद्ध करनेवाला कोई सूत्र ही नहीं है, इसलिए अभयनन्दिने अपनी वृत्तिमें “ङ्येस्तुट्” [३-२-८५] सूत्रकी व्याख्यामें “नेध्रुवः इति वक्तव्यम्” यह वार्तिक बनाया है और ‘नियतं सर्वकालं भवं नित्यं’ इस तरह स्पष्ट किया है। जैनेन्द्रमें ‘त्य’ प्रत्यय ही नहीं है, इसके बदले ‘य’ प्रत्यय है। अतः सर्वार्थसिद्धिकारने पूर्वोक्त बात स्वनिर्मित व्याकरणको लक्ष्यमें रखकर नहीं कही है। अन्य व्याकरणोंके प्रमाण भी वे देते थे और यह प्रमाण भी उसी तरहका है।

कुछ स्थानोंमें उन्होंने अपने निजके सूत्र भी दिये हैं। जैसे पाँचवें अध्यायके व्याख्यानमें लिखा है ‘विशेषणं विशेष्येण’ इति वृत्तिः ।” यह जैनेन्द्रका १-३-५२ वाँ सूत्र है। यह सूत्र शब्दार्णव-चन्द्रिका [१-३-४८] वाले पाठमें भी है।

इन सब प्रमाणोंसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि जैनेन्द्रका असली सूत्र-पाठ वही है जिसपर अभयनन्दिकृत वृत्ति है। शब्दार्णव-चन्द्रिकावाला पाठ असली सूत्र-पाठको संशोधित और परिवर्धित करके बनाया गया है और उसका यह संस्करण संभवतः गुणनन्दि आचार्यकृत है।

अब प्रश्न यह है कि जब गुणनन्दिने मूल ग्रंथमें इतना परिवर्तन और संशोधन किया, तब उस परिवर्तित ग्रन्थका नाम जैनेन्द्र ही क्यों रक्खा ? इसके उत्तरमें निवेदन है कि एक तो शब्दार्णव-चन्द्रिका और जैनेन्द्र-प्रक्रियाके पूर्वोक्लिखित श्लोकोंसे गुणनन्दिके व्याकरणका नाम ‘जैनेन्द्र’ नहीं किन्तु ‘शब्दार्णव’ मालूम होता है। सम्भव है कि अर्ध-दग्ध लेखकोंकी कृपासे इन टीका-ग्रंथोंमें ‘जैनेन्द्र’ नाम शामिल हो गया हो। दूसरे यदि ‘जैनेन्द्र’ नाम हो भी, तो ऐसा कुछ अनुचित नहीं है। क्योंकि गुणनन्दिका प्रयत्न कोई स्वतंत्र ग्रंथ बनानेकी इच्छासे नहीं किन्तु ‘जैनेन्द्र’ को सर्वांगपूर्ण बनानेकी सदिच्छासे है और इसीलिए उन्होंने जैनेन्द्रके आधेसे अधिक सूत्र ज्योंके त्यों रहने दिये हैं, तथा मंगलाचरण आदि भी उसका ज्योंका त्यों रक्खा है।

जैनेन्द्रकी टीकाएँ

पूज्यपादस्वामीकृत असली जैनेन्द्रकी इस समय तक केवल चार ही टीकाएँ उपलब्ध हैं—१ अभयनन्दिनिकृत ‘महावृत्ति’, २ प्रभाचन्द्रकृत ‘शब्दाम्भोजभास्करन्यास’, ३ श्रुतकीर्तिकृत ‘पंचवस्तुप्रक्रिया’ और ४ पं० महाचन्द्रकृत ‘लघुजैनेन्द्र’। परन्तु इसके सिवाय इसकी और भी कई टीकाएँ होनी चाहिए। पंचवस्तुके अन्तके श्लोकमें जैनेन्द्रशब्दागम या जैनेन्द्र व्याकरणको महलकी उपमा दी है। वह मूलसूत्र रूप स्तम्भोंपर खड़ा किया गया है, न्यासरूप उसकी भारी रत्नमय भूमि है, वृत्तिरूप उसके किवाड़ हैं, भाष्यरूप शय्यातल है, टीकारूप उसके माल या मंजिल हैं और यह पंचवस्तु टीका उसकी सोपानश्रेणी है। इसके द्वारा उक्त महलपर आरोहण किया जा सकता है। इससे मालूम होता है कि पंचवस्तुके कर्ताके समयमें इस व्याकरणपर १ न्यास, २ वृत्ति, ३ भाष्य और ४ कई टीकाएँ, इतने टीका-ग्रन्थ मौजूद थे।

१. तत्त्वार्थराजवार्तिकमें भी है “शास्त्रेऽपि अश्ववृषयोर्मेथुनेच्छायामित्येवमादौ तदेव कर्माख्यायते ।”

२. सूत्रस्तम्भसमुद्भूतं प्रविलसन्त्यासोरत्नचित्तिश्रीमद्बृत्तिकपाटसंपुटयुतं भाष्योऽथ शय्यातलम् ।
टीकामालमिहारुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमं प्रासादं पृथु पंचवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात् ॥

न्यास—उक्त टीकाओंमेंसे 'न्यास' तो शाब्द-व्ययं पूज्यपादका ही होगा जो अभी तक अनुपलब्ध है। शिमोगा जिलेकी नगर तहसील के ४६वें शिलालेखमें लिखा है कि पूज्यपादने एक तो (अपने व्याकरणपर) जैनेन्द्र-संज्ञक न्यास और दूसरा पाणिनि व्याकरण पर शब्दावतार नामक न्यास बनाया। इसके सिवाय वैद्यक-शास्त्र और तत्त्वार्थ-टीका भी लिखी।

यह निश्चय है कि पूज्यपाद केवल सूत्र-ग्रन्थ बनाकर ही न रह गये होंगे। अपनी मानी हुई अतिशय सूक्ष्म संज्ञाओं और परिभाषाओंका स्पष्टीकरण करनेके लिए उन्हें कोई टीका या वृत्ति अवश्य बनानी पड़ी होगी जिस तरह शाकटायनने अपने व्याकरणपर अमोघवृत्ति नामकी स्वोपज्ञटीका बनाई।

विद्यानन्दने अष्टसहस्री (पृष्ठ १३२) में 'प्यखे कर्मण्युपसंख्यानत्' यह वचन उद्धृत किया है। यह किसी व्याकरण ग्रन्थका वार्तिक है; परन्तु पाणिनिके किसी भी वार्तिकमें यह नहीं मिलता। अभय-नन्दिकी महावृत्तिमें अवश्य ही "प्यखे कर्मणि का वक्तव्या" [४-१-३८] इस प्रकारका वार्तिक है; परन्तु अभयनन्दिकी वृत्ति विद्यानन्दसे पीछे की बनी हुई है, इसलिए विद्यानन्दने यह वार्तिक अभयनन्दिकी वृत्तिसे नहीं किन्तु अन्य ही किसी ग्रन्थसे लिया होगा।

भाष्य—जैनेन्द्रके भाष्यका अभी तक पता नहीं लगा।

आगे हम उपलब्ध टीकाग्रन्थोंका परिचय देते हैं—

१-महावृत्ति—इसकी एक प्रति पूनेके भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूटमें मौजूद है और एक प्रति बम्बईके सरस्वती-भवनमें भी है। पूनेकी प्रतिमें इसकी श्लोकसंख्या १२००० के लगभग है। प्रारंभके ३१४ पत्र एक लेखकके लिखे हुए और शेष ७४ पत्र, चैत्र सुदी २ सं० १६३३ को किसी दूसरे लेखकके लिखे हुए हैं। प्रतिके दोनों ही भाग जयपुरके लिखे हुए माद्धम होते हैं। कई स्थानोंमें कुछ पंक्तियाँ छूटी हुई हैं^३ और अन्तमें कोई प्रशस्ति आदि नहीं है^३।

इस महावृत्तिके कर्ता अभयनन्दि मुनि हैं। उन्होंने न तो अपनी गुरुपरम्पराका ही परिचय दिया है और न ग्रन्थ-रचनाका समय ही। परन्तु सूत्र ३-२-५५ की टीकामें एक जगह उदाहरण दिया है— "तत्त्वार्थवार्तिकमधीयते।" इससे मालूम होता है कि भट्टकलंकदेवके बाद अर्थात् वि० की आठवीं नवीं शताब्दिके बादकी यह वृत्ति है—और पंचवस्तुके पूर्वोद्धृत श्लोकमें इसी वृत्तिका उल्लेख जान पड़ता है, इसलिए श्रुतकीर्तिके अर्थात् विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके पहले किसी समयमें वे हुए हैं। जैनेन्द्रकी उपलब्ध टीकाओंमें यही टीका सबसे प्राचीन माद्धम होती है।

२-शब्दाभोजभास्करन्यास—बम्बईके सरस्वती-भवनमें इसकी दो अपूर्ण प्रतियाँ मौजूद हैं। एक प्रतिमें १४ वें पत्रसे २६६ तक और फिर ६२० वें पत्रसे ७०३ तकके ही पत्र हैं। १४ वें पत्रपर पहले

१. न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा ।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपादस्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णदग्धवृत्तः ॥

२. नं ५६० A और B सन् १८७५-७६ की रिपोर्ट।

३. ओं नमः । श्रीमत्सर्वज्ञवीतरागतद्वचनतदनुसारिगुरुभ्यो नमः ।

देवदेवं जिनं नत्वा सर्वसत्त्वाभयप्रदम् । शब्दशास्त्रस्य सूत्राणां महावृत्तिर्विरच्यते ॥ १ ॥

यच्छब्दलक्षणमसुब्रजपारमन्यैरव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः ।

तत्सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यैर्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम् ॥ २ ॥

शिष्टाचारपरिपालनार्थमादाविष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मंगलमिदमाहाचार्यः ।

इत्यभयनन्दिर्विरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।

समाप्तश्चायं पञ्चमोऽध्यायः ।

अध्यायके पहले पादका १९ वाँ सूत्र है। यह प्रति बहुत प्राचीन और शुद्ध है परन्तु आगसे भुलसी हुई है। दूसरी प्रतिमें केवल तीन अध्याय हैं। इसकी श्लोक संख्या १२००० है। इससे जान पड़ता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ १६००० के लगभग होगा।

अभयनन्दिकी वृत्तिसे यह बड़ा है और उससे पीछे बना है। इसमें महावृत्तिके शब्द ज्योंके त्यों ले लिये गये हैं और तीसरे अध्यायके अन्तके एक श्लोकमें अभयनन्दिको नमस्कार भी किया है।

इसके कर्ता प्रभाचन्द्र हैं और वे प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके ही कर्ता मालूम होते हैं। क्योंकि इसके प्रारंभमें ही यह कहा गया है कि अनेकान्तकी चर्चा उक्त दोनों ग्रन्थोंमें की गई है, इसलिए यहाँ नहीं करते। अवश्य ही इसमें उन्होंने अपने ही ग्रन्थोंको देखनेके लिए कहा है, “अथ कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह—अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्यासामान्याधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्तः स्वभावो यस्यार्थस्यासावनेकान्तः, अनेकान्तात्मक इत्यर्थः। तत्र च प्रतिष्ठितमिध्याविकल्पकल्पिताशेषविप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षादिप्रमाणमेव प्रत्यस्तमयतीति (?) तद्धिततया तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्वक्षतोऽनुमानदिश्च यथा सिद्धयति तथा प्रपञ्चतः प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्रतिरूपितमिह द्रष्टव्यम्।”

इसके मंगलाचरणमें पूज्यपाद और अकलंकको नमस्कार किया गया है।

३—पंचवस्तु—भांडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें इसकी दो प्रतियाँ मौजूद हैं, जिनमें एक ३००—४०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई है और बहुत शुद्ध है और दूसरी^३ संवत् १६२० की। पहलीपर लेखकका नाम और प्रति लिखनेका समय आदि नहीं है। इसके अन्तमें केवल इतना लिखा हुआ है—“कृतिरियं देवनद्याचार्यस्य परवादिमथनस्य ॥३॥ शुभं भवतु लेखकपाठकयोः ॥ श्रीसंघस्य ॥”

दूसरी प्रति रत्नकरणश्रावकाचारवचनिका आदि अनेक भाषाग्रन्थोंके रचयिता सुप्रसिद्ध पण्डित सदासुखजीके हाथकी संवत् १९१० की लिखी हुई है।

यह टीका प्रक्रिया-बद्ध है और बड़े अच्छे ढंगसे लिखी गयी है। इसकी श्लोकसंख्या ३३०० के लगभग है। प्रारंभके विद्यार्थियोंके लिए बड़ी उपयोगी है।

इस ग्रन्थके आदि-अन्तमें कहीं भी कर्त्ताका नाम नहीं है। केवल एक जगह पाँचवें पत्रमें नाम आया है, जिससे मालूम होता है कि इसके रचयिता श्रुतकीर्ति हैं।

१. नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने । प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥

२. नं० १०५६ सन् १८८७-६१ की रिपोर्ट ।

३. नं० ५६० सन् १८७५-७६ की रिपोर्ट । इस ग्रन्थकी एक प्रति परतापगढ़ (मालवा) के पुराने दि० जैनमन्दिरके भंडारमें भी है। देखो जैनमित्र ता० २६ अगस्त १६१५ ।

४. अब्दे नभश्चन्द्रविधिस्थिरांके शुद्धे सहस्र्यम् (?) युक् चतुर्थ्याम् ।

सत्प्रक्रियाबन्धनिबन्धनेयं सद्बस्तुवृत्तीरदनात्समाप्ता (?) ॥

श्रीमन्नराणामधिपेशराज्ञि श्रीरामसिंहे विलसत्यलेखि ।

श्रीमद्बुधेनेह सदासुखेन श्रियुक्फतेलाखनिजात्मबुद्धयै ॥

शब्दीयशास्त्रं पठितं न यैस्तेः स्वदेहसंपालनभारवद्भिः ।

किं दर्शनीयं कथनीयमेतद् वृथांगसंधावपलापवद्भिः ॥

यह प्रति भी प्रायः शुद्ध है।

५. याम-वैर-वर्ण-कर-चरणादीनां संधीना बहूनां संभवत्वात् संशयानः शिष्यः संपृच्छति स्म । कस्सन्धिरिति ।

संज्ञास्वरप्रकृतिहल्जविसर्गजन्मा संधिस्तु पंचक इतीत्यमिहाहुरन्ये ।

तत्र स्वरप्रकृतिहल्जविकल्पतोऽस्मिन्संधि त्रिधा कथयति श्रुतकीर्तिरार्यः ॥ .

कनड़ी भाषाके चन्द्रप्रभचरित नामक ग्रन्थके कर्ता अगल कविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बतलाया है—“इदु परमपुरुनाथकुलभृत्समुद्भूतप्रवचनसरित्सरिआथ—श्रुतकीर्तित्रैविद्यचक्रवर्तिपदपद्मनिधानदीपवर्तिश्री मद्गगलदेवविरचिते चन्द्रप्रभचरिते—” इत्यादि । और यह चरित शक संवत् १०११ (वि० सं० ११४६) में बनकर समाप्त हुआ है । अतएव यदि श्रुतकीर्ति और श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्ती एक ही हों तो पंचवस्तुको भी अभयनन्दि महावृत्तिके पीछेकी—विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके प्रारंभकी—रचना समझना चाहिए । नदिसंघकी गुर्वावलीमें श्रुतकीर्तिको वैयाकरण-भास्कर लिखा है ।

४—लघुजैनेन्द्र—इसकी एक प्रति अंकलेश्वर (भरोच) के दिगम्बर जैनमन्दिरमें है और दूसरी अधूरी प्रति परतापगढ़ (मालवा) के पुराने दि० जैनमन्दिरमें । यह अभयनन्दिकी वृत्तिके आधारसे लिखी गई है । परिणत महाचन्द्रजी विक्रमकी इसी बीसवीं शताब्दिमें हुए हैं ।^२ इन्होंने संस्कृत, प्राकृत और भाषामें कई ग्रंथ लिखे हैं ।

५—जैनेन्द्र-प्रक्रिया—यह पं० वंशीधरजी न्यायतीर्थ न्यायशास्त्रीने हाल ही लिखी है । इसका केवल पूर्वार्ध ही छपकर प्रकाशित हुआ है ।^३

शब्दार्णवकी टीकाएँ

जैनेन्द्र-सूत्र-पाठके संशोधित परिवर्धित संस्करणका नाम—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है—शब्दार्णव है । इसके कर्ता गुणनन्दि हैं । यह बहुत संभव है कि सूत्र-पाठके सिवाय उन्होंने इसकी कोई टीका या वृत्ति भी बनाई हो जो कि उपलब्ध नहीं है ।

गुणनन्दि नामके कई विद्वान् हो गये हैं । एक गुणनन्दिका उल्लेख श्रवणवेल्लगोलके ४२, ४३ और ४७ वें नम्बरके लिखालेखोंमें मिलता है । ये बलाकपिच्छके शिष्य और गृध्रपिच्छके प्रशिष्य थे । तर्क, व्याकरण और साहित्य शास्त्रोंके बहुत बड़े विद्वान् थे । इनके ३०० शास्त्रपारंगत शिष्य थे और उनमें ७२ शिष्य सिद्धान्तशास्त्री थे । आदि पंपके गुरु देवेन्द्र भी इन्हींके शिष्य थे । कर्नाटक-कविचरितके कर्ताने इनका समय वि० संवत् ६५७ निश्चय किया है । क्योंकि इनके प्रशिष्य देवेन्द्रके शिष्य आदि पंपका जन्म वि० सं० ६५६ में हुआ था और उसने ३६ वर्षकी अवस्थामें अपने सुप्रसिद्ध कनड़ी काव्य भारतचम्पू और आदिपुराण निर्माण किये हैं । हमारा अनुमान है कि ये ही गुणनन्दि शब्दार्णवके कर्ता हैं ।

चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यके कर्ता वीरनन्दिका समय शक संवत् ९०० के लगभग निश्चित होता है । क्योंकि वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें उनका स्मरण किया है और वीरनन्दिकी गुरुपरम्परा इस प्रकार

१. त्रैविद्यः श्रुतकीर्त्याख्यो वैयाकरणभास्करः ।

२. देखो जैनमित्र ता० २६ अगस्त १६१५ ।

३. महावृत्ति शुभत्सकलबुधपूज्यां सुखकरिं, विलोक्योद्यद्ज्ञानप्रभुविभयनन्दिप्रवहिताम् ।

अनेकैः सच्छब्दैर्भ्रमविगतकैः संदृढभूतां (?) प्रकुर्वेऽहं (टीकां) तनुमतिमहाचन्द्रविबुधः (?) ॥

४. जैनेन्द्रकी एक टीका प्रक्रियावतार नामकी और है जिसके कर्ता नेमिचन्द्र हैं । डिस्क्रिप्टिव कैटलाक आफ दि सं० मे० गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मेनु० लायब्रेरी मद्रास, बोल्थूम III में उसका परिचय दिया है—
सर्वज्ञाय नमस्तस्मै वीतक्लेशाय शान्तये । येन भव्यात्मनश्चेतस्तमस्तोमश्चिकित्सितः ॥

किं वाणीचतुरानः किमथवा वाचस्पतिः किं न्वसौ, विद्यानां विभवात्सहस्रवदनस्साक्षाद्वनन्तः किमु ।

इत्थं संसदि साधवः समुदितास्संशेरते सादरं, विद्वत्पुङ्गवनेमिचन्द्रभवति व्याख्यानमातन्वति ॥

५. तच्छिष्यो गुणनन्दिपण्डितयतिश्चारित्रचक्रेश्वरः, तर्कव्याकरणादिशास्त्रनिपुणः साहित्यविद्यापतिः ।

मिथ्यात्वादिमदान्धसिन्धुरघटासंघातकण्ठीरवो, भव्याम्भोजदिवाकरो विजयतां कन्दर्पदर्पापहः ॥

है—१ श्री गुणनन्दि, २ विबुध गुणनन्दि, ३ अभयान्दि और ४ वीरनन्दि । यदि पहले गुणनन्दि और वीरनन्दिके बीचमें हम ७८ वर्षका अन्तर मान लें, तो पहले गुणनन्दिका समय वही शक संवत् ८२२ या वि० सं० ९५७ के लगभग आ जायेगा । इससे यह निश्चय होता है कि वीरनन्दिकी गुरुपरम्पराके प्रथम गुणनन्दि और आदि पम्पके गुरु देवेन्द्रके गुरु गुणनन्दि एक ही होंगे ।

गुणनन्दि नामके एक और आचार्य शक संवत् १०३७ [वि० सं० ११७२] में हुए हैं जो मेघचन्द्र त्रैविद्यके गुरु थे ।

शब्दार्णवकी इस समय दो टीकाएँ उपलब्ध हैं और दोनों ही सनातनजैनग्रन्थमालामें छप चुकी हैं—
१-शब्दार्णवचन्द्रिका, और २-शब्दार्णव प्रक्रिया ।

१-शब्दार्णवचन्द्रिका—इसकी एक बहुत ही प्राचीन और अतिशय जीर्ण प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें है । यह ताड़पत्रपर नागरी लिपिमें है । इसके आदि-अन्तके पत्र प्रायः नष्ट हो गये हैं । छपी हुई प्रतिमें जो गद्य-प्रशस्ति है, वह इसमें नहीं है और अन्तमें एक श्लोक है जो पूरा नहीं पढ़ा जाता—

इन्द्रश्चन्द्रः शकटतनयः पाणिनिः पूज्यपादो

यत्प्रोवाचापिशखिरमरः काशकृत्स्न*...शब्दपारायणस्येति ।

इसके कर्ता श्रीसोमदेव मुनि हैं । ये शिलाहार वंशके राजा भोजदेव [द्वितीय] के समयमें हुए हैं और अर्जुनिका नामक ग्रामके त्रिभुवनतिलक नामक जैनमन्दिरमें—जो कि महामण्डलेश्वर गंडरादित्यदेवका बनवाया हुआ था । इसे शक संवत् ११२७ [वि० सं० १२७२] में बनाया है । यह ग्राम इस समय आजरें नामसे प्रसिद्ध है और कोल्हापुर राज्यमें है । वादीभवभ्रांकुश श्रीविशालकीर्ति पण्डितदेवके वैयाचृत्यसे इस ग्रन्थकी रचना हुई है ।

इस ग्रन्थके मंगलाचरणके पहले श्लोकमें पूज्यपाद, गुणनन्दि और सोमदेव ये विशेषण वीर भगवान्को दिये हैं और दूसरे श्लोकमें कहा है कि यह टीका मूलसंघीय मेघचन्द्रके शिष्य नागचन्द्र (भुजंगनुधाकर) और उनके शिष्य हरिचन्द्र यतिके लिए बनाई गई^३ ।

गुणनन्दिकी प्रशंसा चुरादि धातुपाठके अन्तमें भी एक पद्यमें की गई है, जिसका अन्तिम चरण यह है—
“शब्दब्रह्मा स जीयाद्गुणनिधिगुणनन्दिब्रतीशस्सुसौख्यः ।” इसमें शब्दब्रह्मा विशेषण देकर गुणनन्दिको शब्दार्णव व्याकरणका कर्ता ही प्रकट किया गया है ।

ये मेघचन्द्र आचारसारके कर्ता वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु ही मालूम होते हैं । इन्हें श्रवणबेलगोलके नं० ४७ के शिलालेखमें सिद्धान्तज्ञतामें जिनसेन और वीरसेनके सदृश, न्यायमें अकलंकके समान और व्याकरणमें साक्षात् पूज्यपादसदृश बतलाया है । श्रवणबेलगोलके नं० ५० और ५२ नम्बरके शिलालेखोंसे मालूम होता है कि इनका स्वर्गवास शक संवत् १०३७ [वि० सं० ११७२] में और उनके शुभचन्द्रदेव नामक शिष्यका स्वर्गवास शक संवत् १०६८ [वि० सं० १२०३] में हुआ था । इसके सिवाय उनके दूसरे शिष्य प्रभाचंद्रदेवने शक सं० १०४१ [वि० सं० ११७६] में एक महापूजाप्रतिष्ठा कराई थी । जब सोमदेवने शब्दार्णवचन्द्रिका मेघचन्द्रके प्रशिष्य हरिचन्द्रके लिए शक सं० ११२७ [वि० सं० १२६२] में बनाई थी, तब मेघचन्द्रका समय वि० सं० ११७२ के लगभग माना जा सकता है ।

१. नं० २५ सन् १८८०-८८ की रिपोर्ट ।

२. श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमामरव्रतिपूजितपादयुग्मम् ।

सिद्धं समुन्नतपदं वृषभं जिनेन्द्रं सच्छब्दलक्षणमहं विनमामि वीरम् ॥ १ ॥

३. श्रीमूलसंघजलजप्रतिबोधभानोर्मेघेन्दुदीक्षितशुजङ्गसुधाकरस्य ।

राद्धान्ततोयनिधिवृद्धिकरस्य वृत्तिं रेभे हरीन्दुयतये वरदीक्षिताय ॥ २ ॥

नागचन्द्र नामके दो विद्वान् हो गये हैं, एक पद्म रामायणके कर्ता नागचन्द्र जिह्वाका दूसरा नाम अभिनव पम्प था, और दूसरे लब्धिसारटीकाके कर्ता नागचन्द्र । पहले गृहस्थ थे और दूसरे मुनि । अभिनव पम्पके गुरुका नाम बालचन्द्र था जो मेघचन्द्रके सहाध्यायी थे और दूसरे स्वयं बालचन्द्रके शिष्य थे । इन दूसरे नागचन्द्रके शिष्य हरिचन्द्रके लिए यह वृत्ति बनाई गई है । इन्हें जो 'शब्दान्तर्तोयनिधिवृद्धिकर' विशेषण दिया है उससे माह्यम होता है, कि ये सिद्धान्तचक्रवर्ती या टीकाकार होंगे ।

२—शब्दार्णव-प्रक्रिया—यह जैनेन्द्र-प्रक्रियाके नामसे छपी है, परन्तु वास्तवमें इसका नाम शब्दार्णव-प्रक्रिया ही है । हमें इसकी कोई हस्तलिखित प्रति नहीं मिल सकी । जिस तरह अभयनन्दिकी वृत्तिके बाद उसीके आधारसे प्रक्रियारूप पंचवस्तु टीका बनी है, उसी प्रकार सोमदेवकी शब्दार्णव-चन्द्रिकाके बाद उसीके आधारसे यह प्रक्रिया बनी है । प्रकाशकोंने इसके कर्ताका नाम गुणनन्दि प्रकट किया है; परन्तु जान पड़ता है कि इसके अन्तिम श्लोकमें गुणनन्दिका नाम देखकर ही भ्रमवश इसके कर्ताका नाम गुणनन्दि समझ लिया है ।

इनमेंसे पहले पद्यसे यह स्पष्ट है कि गुणनन्दिके शब्दार्णवके लिए यह प्रक्रिया नावके समान है और दूसरे पद्यमें कहा है कि सिंहके समान गुणनन्दि पृथ्वीपर सदा जयवन्त रहें । यदि इसके कर्ता स्वयं गुणनन्दि होते तो स्वयं ही अपने लिए यह कैसे कहते कि वे गुणनन्दि सदा जयवन्त रहें ? अतः गुणनन्दि ग्रन्थकर्तासे कोई पृथक् ही व्यक्ति है जिसे वे श्रद्धास्पद समझते हैं ।

तीसरे पद्यमें भट्टारकशिरोमणि श्रुतकीर्ति देवकी प्रशंसा करता हुआ कवि कहता है कि वे मेरे मनरूप मानसरोवरमें राजहंसके समान चिरकालतक विराजमान रहें । इसमें भी ग्रन्थकर्ता अपना नाम प्रकट नहीं करते हैं; परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वे श्रुतकीर्तिदेवके कोई शिष्य होंगे और संभवतः उन श्रुतकीर्तिके नहीं जो पंचवस्तुके कर्ता हैं । ये श्रुतकीर्ति पंचवस्तुके कर्तासे पृथक् जान पड़ते हैं । क्योंकि इन्हें प्रक्रियाके कर्ताने 'कविपति' बतलाया है, व्याकरणज्ञ नहीं । ये वे ही श्रुतकीर्ति मालूम होते हैं जिनका समय प्रो० पाठकने शक संवत् १०४५ या वि० सं० ११८० बतलाया है^३ । श्रद्दगद्गेलगोलके जैन गुरुओंने 'चारुकीर्ति पंडिताचार्य' का पद शक संवत् १०३२ के बाद धारण किया है और पहले चारुकीर्ति इन्हीं श्रुतकीर्तिके पुत्र थे^४ । श्रवणबेलगोलके १०८ वें शिलालेखमें^५ इनका जिक्र है और इनकी बहुत ही प्रशंसा की गई है ।

प्रक्रियाके कर्ताने इन्हें भट्टारकोत्तंस और श्रुतकीर्तिदेवयतिप लिखा है और इस लेखमें भी भट्टारकयति लिखा है । अतः ये दोनों एक मालूम होते हैं । आश्चर्य नहीं जो इनके पुत्र और शिष्य चारुकीर्ति पण्डिताचार्य ही इस प्रक्रियाके कर्ता हों ।

१. छपी हुई प्रति के अन्तमें "इति प्रक्रियावतारे कृद्विधिः समाप्तः । समाप्त्यं प्रक्रिया ।" इस तरह छपा है । इससे भी इसका नाम जैनेन्द्र-प्रक्रिया नहीं जान पड़ता ।

२. सत्संधिं दधते समासमभितः ख्यातार्थनामोन्नतं निज्ञातं बहुतद्धितं कृतमिहाख्यातं यशःशालिनम् ।
सैषा श्रीगुणनन्दिदानितवसुः शब्दार्णवं निर्णयं नावित्याश्रयतां विविक्षुमनसां साक्षात्स्वयं प्रक्रिया ॥१॥
दुरितमदेभनिशुम्भकुम्भस्थलभेदनक्षमोन्नतः । राजन्मृगाधिराजो गुणनन्दी भुवि चिरं जीयात् ॥२॥
सन्मार्गो सकलसुखप्रियकरे संज्ञापिते सद्दने दिग्वासस्तु चरित्रवानमलकः कान्तो विवेकी प्रियः ।
सोऽयं यः श्रुतकीर्तिदेवयतिपो भट्टारकोत्तंसको रंरम्यान्मम मानसे कविपतिः सद्वाजहंसश्चिरम् ॥३॥

३. देखो 'सिस्टिम्स आफ संस्कृत ग्रामर', पृष्ठ ६७ ।

४. देखो 'कर्नाटक जैन कवि' पृष्ठ २० ।

५. तत्र सर्वशरीरिरक्षाकृतमतिर्विजितेन्द्रियः । सिद्धशासनवर्द्धनप्रतिबन्धकीर्तिकालापकः ॥२२॥

विश्रुतश्रुतकीर्तिभट्टारकयतिस्समजायत । प्रस्फुरद्वचनामृतांशुविनाशिताखिलद्वत्तमाः ॥२३॥

देवनन्दिका समय

देवनन्दिने अपने किसी ग्रन्थमें न तो कोई रचना-तिथि दी है और न अपनी गुरुपरम्परा। इसलिए उनके समयका निर्णय उनके ग्रन्थोंके उल्लेखों तथा दूसरे साधनोंसे ही करना पड़ेगा।

जैनेन्द्र व्याकरणके 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' [५-१-७] सूत्रमें सिद्धसेनका मत दिया है और प्रज्ञाचन्द्र पं० सुखलालजीने सिद्धसेनका समय विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि निश्चित किया है^१। उनके लेखका सारांश आगे दिया जाता है—

“जैसलमेरके जैन भण्डारमें विशेषावश्यक भाष्यकी जो अतिशय प्राचीन प्रति मिली है उसके अंतमें ग्रन्थकार जिनभद्र गणिने स्वयं ही ग्रन्थ-रचना-काल दिया है। और उसके अनुसार उक्त ग्रन्थ वि० सं० ६६६ में बल्लभीमें समाप्त हुआ है। उन्होंने अपने इस विशेषावश्यक भाष्यमें और द्वितीय लघुग्रन्थ विशेषणवतीमें सिद्धसेन और मल्लवादिके उपयोगभेद-वादकी विस्तृत समालोचना की है। मल्लवादि सिद्धसेनके सन्मतितर्कके टीकाकार हैं। इससे सिद्ध होता है कि मल्लवादि और सिद्धसेन जिनभद्रगणिते क्रमशः पूर्व और पूर्वतर हैं। मल्लवादिके विनष्टमूल द्वादशार नयचक्रके जो प्रतीक उसके विस्तृत टीकाग्रन्थमें मिलते हैं उनमें सिद्धसेन दिवाकरके उल्लेख तो हैं, परन्तु जिनभद्रगणिके नहीं है। इससे फलित होता है कि मल्लवादि जिनभद्रसे पहले हुए हैं और मल्लवादिने सिद्धसेनके सन्मतितर्कपर टीका लिखी थी, इसका निर्देश आचार्य हरिभद्रने किया है। अतः यह सिद्ध है कि सिद्धसेन मल्लवादिसे पहले हुए हैं। इसलिए मल्लवादिको विक्रमकी छठी शताब्दिके पूर्वार्धमें माना जाय, तो सिद्धसेनका समय पाँचवीं शताब्दि ठीक लगता है।

“सिद्धसेनके मतके अनुसार 'विद्' धातुमें 'र' का आगम होता है, भले ही वह सकर्मक हो। उनकी नवीं द्वात्रिंशतिकाके २२वें पद्यमें 'र' आगमवाला 'विद्रते' प्रयोग मिलता है। अन्य वैयाकरण 'सम्' उपसर्ग-पूर्वक अकर्मक विद् धातुमें 'र' आगम मानते हैं जब कि सिद्धसेनने अनुपसर्ग और सकर्मक विद् धातुमें 'र' आगमवाला प्रयोग किया है। इसके सिवाय पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि टीकाके [अ० ७ सूत्र १३] में सिद्धसेनकी तीसरी द्वात्रिंशिकाके १६ वें पद्यकी 'उक्तं च' शब्दके साथ “वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते” पंक्ति उद्धृत की है। द्वात्रिंशिकामें यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते
शिवं च न परोपमर्दपु [प] रुषस्तृतेविद्यते ।
वधायतनमभ्युपैति च पराननिज्जमपि
त्वयाऽयमतिदुर्गमः प्रथ[श]महेतुरुद्योतितः ॥१६॥

“पूज्यपाद देवनन्दिका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्ध माना जाता है। परन्तु मेरी समझमें अभी इसपर और भी गहराईसे विचार होनेकी जरूरत है। यदि सिद्धसेनको देवनन्दिसे पूर्ववर्ती अथवा उनका वृद्धसमकालीन माना जाय, तो भी उनका समय पाँचवीं शताब्दिसे अर्वाचीन नहीं जान पड़ता।”

सिद्धसेनसे देवनन्दि कितने बादके हैं, इसका निर्णय करनेके लिए देवसेनके दर्शनसारसे भी कुछ सहायता मिल सकती है। यह ग्रन्थ उन्होंने वि० सं० ६६० में धारानगरीमें निवास करते हुए पूर्वाचार्योंकी बनाई हुई गाथाओंका एकत्र संचय करके—‘पुष्पाइरियक्याइं गाहाइं संचिउण एयत्थ’ लिखा गया है। अर्थात् इस ग्रन्थकी गाथाएँ देवसेनसे भी पहलेकी हैं और इस दृष्टिसे उनकी प्रामाणिकता अधिक है। उसके अनुसार श्री पूज्यपादका शिष्य पाहुडवेदि वज्रनन्दि द्राविड संचका कर्ता हुआ और तब दक्षिण मथुरा [मदुरा] में

१ देखो भारतीय विद्या, भाग ३, अंक ५ में 'श्री सिद्धसेन दिवाकरनां समयनी प्रश्न' शीर्षक लेख।

वि० सं० ५२६ में यह महामिथ्याती संघ उत्पन्न हुआ ॥ वज्रनन्दि चूँकि देवनन्दिके शिष्य थे, इसलिए इस संघ-स्थापना-कालके लगभग या दस त्रिस वर्ष पहले देवनन्दिका समय माना जा सकता है। सिद्धसेनके पूर्वोक्त निश्चित किये हुए समयसे भी यह असंगत नहीं जान पड़ता।

पं० युधिष्ठिर मीमांसकने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास' लिखा है। उन्होंने जैनेन्द्रके 'वैतेः सिद्धसेनस्य' सूत्रपरसे अनुमान किया है कि सिद्धसेनका कोई व्याकरण ग्रन्थ अवश्य होगा। उज्ज्वलदत्तकी उणादि सूत्र वृत्तिमें 'क्षपणक' के नामसे एक ऐसा सूत्र उद्धृत है जिससे प्रतीत होता है कि क्षपणकने भी उणादि सूत्रोंपर कोई व्याख्या लिखी थीं और उससे यह भी संभावना होती है कि क्षपणकने अपने शब्दानुशासनपर भी कोई वृत्ति रची होगी। मैत्रेयरक्षितने तंत्रप्रदीपमें भी क्षपणकके व्याकरणका उल्लेख किया है।

बहुतसे विद्वानोंकी राय है कि ज्योतिर्विदाभरणमें^३ बतलाये हुए विक्रमके नौ रत्नोंमें जो क्षपणक है, वही सिद्धसेन है और गुप्तवंशके चंद्रगुप्त (द्वितीय) ही विक्रमादित्य हैं। इतिहासज्ञ विन्सेंट स्मिथके अनुसार चन्द्रगुप्तका समय वि० सं० ४३२ से ४७० तक है और इस तरह सिद्धसेनका समय जो पं० सुखलालजीने विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि निश्चित किया है, और भी पुष्ट हो जाता है।

हेब्बुक्के दानपत्रमें गंगवंशी महाराजा अविनीतके पुत्र दुर्विनीतको "शब्दावतारकारः देवभारतीनिबद्ध-बृहत्कथः किराताजुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारः"^४ ये तीन विशेषण दिये हैं जिनका अर्थ होता है—शब्दावतारके कर्ता, पैशाचीसे संस्कृतमें गुणाढ्यकी बृहत्कथाको रचनेवाले और किराताजुनीय काव्यके पन्द्रह सर्गोंके टीकाकार। इन विशेषणोंमें कोई ऐसी बात नहीं जिससे यह प्रकट हो कि देवनन्दि दुर्विनीतके शिष्यागुरु थे या उनके समकालीन थे। परन्तु चूँकि शिमोगा जिलेके नगर ताल्लुकेके ४६ वें शिलालेखमें^५ पूज्यपादको पाणिनीयके शब्दावतारका कर्ता बतलाया है, इसलिए दुर्विनीतके साथ लगे हुए "शब्दावतारकार" विशेषणसे कुछ विद्वानोंको भ्रम हो गया और दोनोंको समकालीन समझकर गुरु-शिष्यका सम्बन्ध खड़ा कर दिया है। दुर्विनीतका राज्यकाल वि० सं० ५३९ से शुरू होता है, इसलिए इसीके लगभग पूज्यपादका समय मान लिया गया, परन्तु मैसूरके आस्थान विद्वान् पं० शान्तिराज शास्त्रीने भास्करनन्दिकृत तत्त्वार्थटीकाकी प्रस्तावनामें इस भ्रमको स्पष्ट कर दिया है। इसलिए भले ही पूज्यपाद देवनन्दि दुर्विनीतके राज्यकालमें रहे हों, परन्तु केवल इस दानपत्रसे वह सिद्ध नहीं किया जा सकता।

जैनेन्द्र व्याकरणके एक और सूत्र "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" [४-४-१४०] में सिद्धसेनके ही समान आचार्य समन्तभद्रका उल्लेख है, जिससे समन्तभद्रका देवनन्दिसे पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है, परन्तु साथ ही

१. सिरिपुञ्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारणो दुट्ठो । णामेण वज्जगंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥
पंचसए छुब्बीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स । दक्खिणमहुरा-जादो दाविडसंघे महामोहो ॥
२. प्रकाशक—भारतीय साहित्यभवन, नवाबगंज, दिल्ली।
३. धन्वन्तरिक्षपणाकामरसिंहशंकुवेतालभट्टचटखर्परकालिदासाः । ख्यातो वराहमिहरो नृपतेः समायाः रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥
४. मैसूर एण्ड कुर्ग गैजेटियर, प्रथम भाग पृ० ३७३.
५. इस शिलालेखका वह 'न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं' आदि पद्य इसके पहले पृष्ठ ३३ पर उद्धृत किया है।
६. बौद्धाचार्य चन्द्रकीर्तिने "समन्तभद्र" नामका एक व्याकरण लिखा था और चन्द्रकीर्ति धर्मकीर्तिसे भी पूर्ववर्ती है। १४ वीं शताब्दिमें लिखे हुए बौद्ध धर्मके इतिहाससे जो तिब्बती भाषामें है, और जिसका अंग्रेजी अनुवाद हो गया है इस बातकी सूचना मिलती है। पं० श्री दलसुख मालवणियाने अपने एक पत्रमें मुझे यह लिखा है।

सर्वार्थसिद्धि टीकाके 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' आदि मंगलाचरण पर समन्तभद्रने 'आत्ममीमांसा' नामक ग्रन्थ लिखा है। इससे जान पड़ता है कि दोनों समकालीन एक दूसरेका आदर करनेवाले हैं और एक दूसरेके ग्रन्थोंसे सुपरिचित होनेके कारण ही यह संभव हुआ है कि देवनन्दि अपने जैनेन्द्र व्याकरणमें समन्तभद्रका व्याकरणविषयक मत देते हैं और समन्तभद्र देवनन्दिकी सर्वार्थसिद्धिके मंगलाचरणपर अपनी आत्ममीमांसा निर्माण करते हैं।

आचार्य विद्यानन्दने अपनी आत्मपरीक्षाके अन्तमें लिखा है—

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुयशं स्वामिमीमांसितं तत् ,
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धयै ॥ १२३ ॥

अर्थात् प्रकाशमान रत्नोंके उद्भवस्थान तत्त्वार्थशास्त्र रूप अद्भुत समुद्रके उत्थान या बढ़ावके आरम्भकालमें शास्त्रकार (देवनन्दि) ने तीर्थके तुल्य जो प्रसिद्ध और अति यशस्वी स्तोत्र (मोक्षमार्गस्य नेतारं आदि) बनाया और जिसकी स्वामि (समन्तभद्र) ने मीमांसा की, उसीका अपनी शक्तिके अनुसार सत्यवाक्यार्थसिद्धिके लिए विद्यानन्दने बड़े आदरके साथ कथन किया।

इसमें यह बिलकुल स्पष्ट रूपसे कह दिया गया है कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इस मंगलाचरण पर ही आत्ममीमांसा रची गई है और उसीपर विद्यानन्द परीक्षा (आत्मपरीक्षा) लिखते हैं।

परन्तु उक्त पद्यमें जो 'शास्त्रकारैः' पद पड़ा हुआ है, उसपर एक बड़ा भारी विवाद खड़ा कर दिया गया है और उसका अर्थ किया जाता है—तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति; जब कि वास्तवमें मोक्षमार्गस्य नेतारं आदि मंगलाचरण सर्वार्थसिद्धिका है। मूल तत्त्वार्थसूत्रका नहीं। क्योंकि यदि यह मंगलाचरण तत्त्वार्थसूत्रका होता तो उसकी टीका सभी दिगम्बर श्वेताम्बर टीकाकार जो प्राचीन हैं—अवश्य करते। और कोई न करता तो देवनन्दि पूज्यपाद तो [सर्वार्थसिद्धिमें] अवश्य करते। सर्वार्थसिद्धि टीकाका पहला संस्करण स्व० पं० कल्याणभरमाप्पा नित्येने प्रकाशित किया था। उसमें इसे टीकाके मंगलाचरणके रूपमें ही दिया है और भूमिकामें भी उन्होंने इसे टीकाका ही बतलाया है। शोलापुरके पं० वंशीधरजी शास्त्रीके संस्करणमें भी यह टीकाका है और यह संस्करण उन्होंने आगरेकी तीन प्राचीन प्रतियोंके आधारसे सम्पादित किया है। उसमेंकी एक प्रतिको तो वे ५०० वर्ष पुरानी बतलाते हैं। अकलंकदेव और विद्यानन्दने भी राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें इसकी टीका नहीं की है, श्वेताम्बर टीकाकार सिद्धसेन और हरिभद्र आदिने भी नहीं की। तत्त्वार्थसूत्रपाठ [मूल] की भी अधिकांश लिखित प्रतियाँ इस मंगलाचरणसे रहित हैं। सनातनग्रन्थमाला प्रथम गुच्छक, जैननित्यपाठसंग्रह आदि मुद्रित प्रतियोंमें भी यह नहीं है। तत्त्वार्थसारमें भी, जो तत्त्वार्थका एक तरहसे पल्लवित पद्यानुवाद है, अमृतचन्द्रने इस मंगल पद्यका अनुवाद नहीं किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह मंगलाचरण सर्वार्थसिद्धि टीकाके कर्ता पूज्यपाद देवनन्दिका है, इसीपर समन्तभद्रने आत्ममीमांसा और विद्यानन्दने आत्मपरीक्षाकी रचना की।

१. दिगम्बर टीकाकारोंमें श्रुतसागर और भास्करनन्दिने 'मोक्षमार्गस्य' आदिकी टीका की है। इनमें श्रुतसागर विक्रमकी सोलहवीं शताब्दिके अन्तमें हुए हैं और भास्करनन्दि १३-१४ वीं शताब्दिके हैं।

२. जिन पोथियों या गुटकोंमें मूल तत्त्वार्थसूत्र लिखा मिलता है, उसमें इस मंगलाचरणके साथ ही प्रायः "त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं" आदि संस्कृत पद्य और भगवती आराधनाके प्रारम्भकी 'सिद्धे जयप्पसिद्धे' आदि दो गाथाएँ भी लिखी रहती हैं और उनके बाद 'सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः शुरु होता है। वास्तवमें जो लोग नित्यपाठ करते हैं, उन्होंने यह परंपरा चला दी है।

अतएव समन्तभद्र और देवनन्दि छठी शताब्दिके हैं और समकालीन हैं। सिद्धसेन उनके पूर्व-वर्ती हैं ।

जैनेन्द्रोक्त अन्य आचार्य

पाणिनि आदि वैयाकरणोंने जिस तरह अपनेसे पहलेके वैयाकरणोंके नामोंका उल्लेख किया है, उसी तरह जैनेन्द्रसूत्रोंमें भी नीचे लिखे पूर्वाचार्योंका उल्लेख मिलता है—

१ राट् भूतबले: [३-४-८३], २ गुणो श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् [१-४-३४], ३ कृत्पिमृजां यशोभद्रस्य [२-१-६६], ४ रात्रे: कृति प्रभाचन्द्रस्य [४-३-१८०], ५ वेत्ते: सिद्धसेनस्य [५-१-७], ६ चतुष्टयं समन्त-भद्रस्य [५-४-१४०] ।

जहाँतक हम जानते हैं इन छहों आचार्योंमेंसे शायद किसीने भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं लिखा है । इनके ग्रन्थोंमें कुछ भिन्न तरहके शब्द प्रयोग किये गये होंगे और उन्हींको लक्ष्य करके उक्त सब सूत्र रचे गये हैं । शाकटायनने भी इसीका अनुकरण करके तीन आचार्योंके मत दिये हैं ।

१—भूतबलि—भूतबलिका ठीक-ठीक समय निश्चित करना कठिन है । इतना ही कहा जा सकता है कि वे वीर नि० सं० ६८३ के बाद हुए हैं ।^१

२—स्वामी समन्तभद्र^२ और ३—सिद्धसेन प्रसिद्ध हैं ।

४—श्रीदत्त—विद्यानन्दने अपने ग्रन्थमें श्रीदत्तके 'जल्पनिर्णय' नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है । मालूम होता है कि ये बड़े भारी वादि-विजेता थे^३ । आदिपुराणके कर्ता जिनसेनसूरिने भी इनका स्मरण किया है । संभव है^४ ये श्रीदत्त दूसरे हों और जल्प-निर्णयके कर्ता दूसरे, तथा इन्हीं दूसरेका उल्लेख जैनेन्द्रमें किया गया हो ।

५—यशोभद्र—आदिपुराणमें यशोभद्रका स्मरण करते हुए कहा है कि विद्वानोंकी सभामें जिनका नाम कीर्तन सुननेसे ही वादियोंका गर्व खर्व हो जाता है ।^५

६—प्रभाचन्द्र—आदिपुराणमें जिनसेन स्वामीने प्रभाचन्द्र कविकी स्तुति की है, जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना की थी । हरिवंशपुराणमें भी इनका स्मरण किया गया है । ये कुमारसेनके शिष्य थे ।

उपलब्ध ग्रन्थ

जैनेन्द्रके सिवाय पूज्यपादके केवल पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं ।

१—सर्वार्थसिद्धि—आचार्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्रपर दिगम्बर सम्प्रदायकी उपलब्ध टीकाओंमें सबसे पहली टीका ।

२—समाधितंत्र । इसमें लगभग १०० श्लोक हैं, इसलिए इसे समाधिशतक भी कहते हैं ।

३—इष्टोपदेश—यह केवल ५१ श्लोकोंका छोटा-सा ग्रन्थ है । पं० आशाधरने इसपर एक संस्कृत टीका लिखी है ।

४—दशभक्ति [संस्कृत]—प्रभाचन्द्राचार्यने अपने क्रियाकलापमें इसका कर्ता पूज्यपाद या पाद-पूज्यको बतलाया है । परन्तु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता ।

१-२. इसके लिए प्रो० हीरालालजीकी धवलाकी 'भूमिका' और पं० जुगलकिशोरजी सुख्तारका 'स्वामी समन्तभद्र' देखिए ।

३. द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्व-प्रातिभगोचरम् । त्रिषष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥

४. श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपःश्रीदीप्तमूर्तये । कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभप्रभेदने ॥४५॥

५. विदुष्विणीषु संसत्सु यस्य नामापि कीर्तितम् । निखर्वयति तद्गर्वं यशोभद्रः स पातु नः ॥४६॥

५—सिद्धप्रियस्तोत्र—निर्णयसागरकी काव्यमाला [सतमगुच्छ] में छप चुका है। २६ पद्योंमें चौबीस तीर्थङ्करोंकी स्तुति है।

अनुपलब्ध ग्रन्थ

शब्दावतार न्यास और जैनेन्द्र न्यास—पूज्यपादका पाणिनि व्याकरणपर 'शब्दावतार' नामका न्यास है और जैनेन्द्रपर स्वोपज्ञ न्यास भी है।

वैद्यक ग्रन्थ—शुभचन्द्रकृत शानार्णवके 'अपाकुर्वन्ति' आदि श्लोकके 'काय' शब्दसे ध्वनित होता है कि पूज्यपादका कोई वैद्यक ग्रन्थ होगा।

सार-संग्रह—धवला [वेदनाखंड पु० १ पृ० १६७] के एक उद्धरणके आधारसे 'सारसंग्रह' नामक एक और ग्रन्थके होनेका अनुमान है—“तथा सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तु-नोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जाल्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय इति।” यह कोई न्याय या सिद्धान्तका ग्रन्थ जान पड़ता है। उक्त वाक्यका 'पूज्यपाद' किसी अन्य पूज्य आचार्यका विशेषण भी हो सकता है।

'जैनाभिषेक' नामके एक और ग्रन्थका जिकर श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ४० के 'जैनेन्द्रं निज-शब्द भागमतुलं' आदि श्लोकमें किया गया है।

इस लेखके लिखनेमें हमें श्रद्धेय मुनि जिनविजय और पं० बेचरदास जीवराजकी न्याय-व्याकरण-तीर्थसे बहुत अधिक सहायता मिली है। इसलिए हम उक्त दोनों सज्जनोंके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। मुनि महोदयकी कृपासे हमको जो साधन सामग्री प्राप्त हुई है यदि न मिलती तो यह लेख शायद ही इस रूपमें पाठकोंके सम्मुख उपस्थित हो सकता।

परिशिष्ट १

पूज्यपाद-चरित

कनड़ी भाषाके इस चरितको चन्द्रय्य नामक कविने जो कर्नाटक देशके मलयनगरकी 'ब्राह्मणगली' के रहनेवाले थे। दुःषम कालके परिधावी संवत्सरकी आश्विन शुक्ल ५, शुक्रवार, तुलालाग्नमें समाप्त किया है। चरितका सारांश यह है—

१. अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवः। कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥

पूनेके भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूटमें 'पूज्यपादकृत वैद्यक' नामका एक ग्रन्थ है, परन्तु वह आधुनिक कनड़ीमें लिखा हुआ कनड़ी भाषाका ग्रन्थ है। उसमें न कहीं पूज्यपादका उल्लेख है और न वह उनका बनाया हुआ है। "वैद्यसार" नामका एक और ग्रन्थ अभी जैन-सिद्धान्त-भास्करमें प्रकाशित हुआ है, पर वह भी उनका नहीं है।

विजयनगरके राजा हरिहरके समयमें एक मंगराज नामके कनड़ी कवि हुए हैं। वि० सं० १४१६ के लगभग उनका अस्तित्व-काल है। स्थावर विपोंकी प्रक्रिया और चिकित्सापर उनका खगेन्द्रमणिदर्पण नामका ग्रन्थ है। वे उसमें अपनेको पूज्यपादका शिष्य बतलाते हैं और यह भी कि यह ग्रन्थ पूज्यपाद वैद्यक ग्रन्थसे संगृहीत है। अभी हाल ही शोलापुरसे उग्रादित्याचार्यका 'कल्याणकारक' नामका ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसमें भी अनेक जगह 'पूज्यपादेन भाषितः' कहकर पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थका उल्लेख किया गया है। उग्रादित्य राष्ट्रकूट अमोघवर्षके समयके बतलाये गये हैं, परन्तु हमें इसमें सन्देह है। उसकी प्रशस्तिकी भी बहुत-सी बातें सन्देहास्पद हैं जिनपर विचार होनेकी आवश्यकता है।

२. इसके लिए प्रो० हीरालालजी जैन लिखित धवला (पुस्तक १) की भूमिकाके पृष्ठ ६०-६१ देखिए।

कर्नाटक देशके 'कोले' नामक ग्रामके माधवभट्ट नामक ब्राह्मण और श्रीदेवी ब्राह्मणीसे पूज्यपादका जन्म हुआ। ज्योतिषियोंने बालकको त्रिलोकपूज्य बतलाया, इस कारण उसका नाम पूज्यपाद रक्ता गया। माधवभट्टने अपनी स्त्रीके कहनेसे जैनधर्म स्वीकार कर लिया। भट्टजीके सालेका नाम पाणिनि था उसे भी उन्होंने जैनी बननेको कहा, परन्तु प्रतिष्ठाके खयालसे वह जैनी न होकर मुडीगुंड ग्राममें वैष्णव संन्यासी हो गया। पूज्यपादकी कमलिनी नामक छोटी बहिन हुई, वह गुणभट्टको व्याही गई, और गुणभट्टको उससे नागार्जुन नामक पुत्र हुआ।

पूज्यपादने एक बगीचेमें एक साँपके मुँहमें फँसे हुए मेंडकको देखा। इससे उन्हें वैराग्य हो गया और वे जैन साधु बन गये।

पाणिनि अपना व्याकरण रच रहे थे। वह पूरा न हो पाया था कि उन्होंने अपना मरण-काल निकट आया जान कर पूज्यपादसे कहा कि इसे तुम पूरा कर दो। उन्होंने पूरा करना स्वीकार कर लिया।

पाणिनि दुर्धानवश मरकर सर्प हुए। एक बार उसने पूज्यपादको देखकर फूटकार किया, इसपर पूज्यपादने कहा, विश्वास रखो, मैं तुम्हारे व्याकरणको पूरा कर दूँगा। इसके बाद उन्होंने पाणिनि व्याकरणको पूरा कर दिया।

इसके पहले वे जैनेन्द्र व्याकरण, अर्हत्प्रतिष्ठालक्षण और वैद्यक ज्योतिष आदिके कई ग्रन्थ रच चुके थे। गुणभट्टके मर जानेसे नागार्जुन अतिशय दरिद्री हो गया। पूज्यपादने उसे पद्मावतीका एक मन्त्र दिया और सिद्ध करनेकी विधि भी बतला दी। उसके प्रभावसे पद्मावतीने नागार्जुनके निकट प्रकट होकर उसे सिद्ध-रसकी वनस्पति बतला दी।

इस सिद्ध-रससे नागार्जुन सोना बनाने लगा। उसके गर्वका परिहार करनेके लिए पूज्यपादने एक मामूली वनस्पतिसे कई घड़े सिद्ध-रस बना दिया। नागार्जुन जब पर्वतोंको सुवर्णमय बनाने लगा, तब धरणेन्द्र-पद्मावतीने उसे रोका और जिनालय बनानेको कहा। तदनुसार उसने एक जिनालय बनवाया और पार्श्वनाथकी प्रतिमा स्थापित की।

पूज्यपाद पैरोंमें गगनगामी लेप लगाकर विदेहक्षेत्रको जाया करते थे। उस समय उनके शिष्य वज्रनन्दिने अपने साथियोंसे भगड़ा करके द्राविड़ संघकी स्थापना की।

नागार्जुन अनेक मन्त्र तन्त्र तथा रसादि सिद्ध करके बहुत ही प्रसिद्ध हो गया। एक बार दो सुन्दरी स्त्रियाँ आई जो गाने नाचनेमें कुशल थीं। नागार्जुन उनपर मोहित हो गया। वे वहीं रहने लगीं और कुछ समय बाद ही उसकी रसगुटिका लेकर चलती बनीं।

पूज्यपाद मुनि बहुत समयतक योगाभ्यास करते रहे। फिर एक देव-विमानमें बैठकर उन्होंने अनेक तीर्थोंकी यात्रा की। मार्गमें एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गई थी, सो उन्होंने एक शान्त्यष्टक बनाकर ज्योंकी त्यों कर ली। इसके बाद उन्होंने अपने ग्राममें आकर समाधिपूर्वक मरण किया।

इस चरितपर कोई टीका-टिप्पणी करना व्यर्थ है। इस तरहके न जाने कितने मनगढ़न्त और ऊलजलूल किस्से हमारे यहाँ इतिहासके नामसे चल रहे हैं।

परिशिष्ट २

हेब्बूरुका दानपत्र

श्रीमन्माधवमहाधिराजः, तस्य पुत्रः अविच्छिन्नाश्वमेधावभृथाभिषिक्तः श्रीमत्कदम्बकुलगगनगभस्ति-
मालिनः श्रीमत्कृष्णवर्ममहाराजस्य प्रियभागिनेयः जननीदेवताङ्कपर्यङ्क एवाधिगतराज्यः विद्वत्कविकाञ्चननिक-
शोपलभूतः अस्मिन्भावनामितस्रमस्तसामन्तमण्डलः अधिनीतनामा श्रीमत्कोङ्कणिमहाराजः तस्य पुत्रः पुष्पाडराज-
प्रियपुत्रिकापुत्रः विजृभमाणशक्तित्रयोपनमितसमस्तसामन्तमण्डलः अन्दर्यालत्त रूपौरुलरपेर्नमहामनेकस्रम-

मुख्यमखदुत्तप्रधानपुरुषपञ्चपहारः विभ्रसविहस्तीकृतकृताभिमुखः शब्दावतारकारः देवभारतीनिबद्धवृहत्कथः
किराताञ्जनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारः दुर्निनीतनामा..... —४सूर एण्ड कुर्ग गैजेटियर, प्रथम पृ० ३७३

परिशिष्ट ३

[भगवद्भागवतान्तिका विशेष परिचय]

इसके प्रारंभमें पहले 'लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य' आदि प्रसिद्ध मंगलाचरणका श्लोक लिखा गया था। परन्तु पीछेसे उसपर हरताल फेर दी गई है और उसकी जगह यह श्लोक और उत्थानिका लिख दी गई है—

ओं नमः पार्श्वाय

त्वरितमहिमदूतामंत्रितेनाद्भुतात्मा, विषमसपि मघोना पृच्छता शब्दशास्त्रम् ।

श्रुतमदरिपुरासीद् वादिवृन्दाग्रणीनां परमपदपदुर्ध्वः स श्रिये वीरदेवः ॥

अष्टवार्षिकोऽपि तथाविधभक्ताभ्यर्थनाप्रणुन्नः स भगवानिदं प्राह—सिद्धिरनेकान्तात् । १-१-१ ।

इसके बाद सूत्रपाठ शुरू हो गया है। पहले पत्रके ऊपर मार्जिनमें एक टिप्पणी इस प्रकार दी है जिसमें पाणिनि आदि व्याकरणोंको अप्रामाणिक ठहराया है—

“प्रमाणवद्व्यामुपेक्षणीयानि पाणिन्यादिप्रणीतसूत्राणि स्यात्कारवादित्रदूरत्वात्परिवाजकादिभाषितवत्
अप्रमाणानि च कपोलकल्पनामलिनानि हीनमातृकत्वात्तद्देव ।”

इसके बाद प्रत्येक पादके अन्तमें और आदिमें इस प्रकार लिखा है जिससे इस सूत्र-पाठके भगवत्प्रणीत होनेमें कोई सन्देह बाकी न रह जाय—

“इति भगवद्भागवतान्तिकां प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः । ओंनमः पार्श्वाय । स भगवानिदं प्राह ।”

सर्वत्र 'नमः पार्श्वाय' लिखना भी हेतुपूर्वक है। जब ग्रन्थकर्ता स्वयं महावीर भगवान् हैं तब उनके ग्रन्थमें उनसे पहलेके तीर्थंकर पार्श्वनाथको ही नमस्कार किया जा सकता है। देखिए, कितनी दूरतक विचार किया गया है !

आगे अध्याय २ पाद २ के 'सह्वह्वचल्यपतेरिः' [६४] सूत्रपर निम्न प्रकार टिप्पणी दी है और सिद्ध किया है कि यदि यह व्याकरण भगवत्कृत न हो तो फिर सिद्धहैमके अमुक सूत्रकी उपपत्ति नहीं बैठ सकती—

“इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति । 'सह्वह्वचल्यपतेरिर्धाजकसूत्रजन्मः क्रीलिट् चवत्-डौ सासहिवावाहचाचलिपापति, सखिचाक्रिदधिधञ्जिनेमीति सिद्धहैमसूत्रस्थाऽन्यथानुपपत्तेः । शर्ववर्मपाणिन्योस्तु आद्यवर्णोपधात्तोपिन किद्वैच १, आपृगमहनजनः किकिनौ लिट् चेति २ ।”

इसके बाद ३-२-२२ सूत्रपर इस प्रकार टिप्पणी दी है—

“कथं न ह्यचः प्राग्भरतेष्वदि च्चेनादिनियामि शिक्षानिशेषाः ।

कुमारशब्दः प्राच्यानामाशिवनं मासमूचिवान् ।

मैथुनं तु भिषक्तत्रे वाचकं मधुसर्पिषः ॥

इत्याद्यन्यथानुपपत्तेरिति बौटिकतिमिरोपलक्ष्यम् ।”

इसके बाद ३-४-४२ सूत्र [स्तेयाहृत्यम्] पर फिर एक टिप्पणी दी है—

“इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति । अहृतस्तोन्त च १, सहाद्वा २, सखिवशिगदूताद्यः ३, स्तेनाञ्जलुक् च ४, ति सिद्धहैमसूत्रान्यथानुपपत्तेः । पाणिन्यादौ त्वाहृत्यशब्दं प्रति सूत्राभावात् । कथं सरस्वतीकंठाभरणे तदासिः । ऐन्द्रानुसारादहृतशब्दश्चेति पश्य ।

फिर ३-४-४० सूत्र [रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य] पर एक टिप्पणी है। इसमें बौटिकों या दिग्भ्ररियोंका सत्कार किया गया है—

“इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति । रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य सूत्रस्य प्रचेप्रता स्फुटत्वात् । अतो बौटिकैतिमिरोपलक्षणे—

देवनन्दिमतां मोहः प्रचेपरजसोऽपि चेत् ।

चिराय भवता रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य जीव्यताम् ॥

पञ्चोत्तरः कः स्वचानासीः प्रभेन्दोः नग्न यस्य यः [१] ।

विस्मयो रमयेः शिष्ट्या स तं चेद्देवनन्दिनम् ॥ इति ।

विक्रमाहतुखयुगाब्दे ४०६ देवनन्दी, ततो गुणनन्दि-बुमारनंदि-लोकचंद्रानंतरं मुनिरैयुगाब्दे प्रथम-प्रभाचन्द्र इति बौटिके ।”

इसी तरह ४-३-७ [वित्तेः सिद्धसेनस्य] सूत्रपर लिखा है—

“वित्तेः सिद्धसेनस्य, चतुष्टयं समंतभद्रस्य प्रचेपेऽर्वाच्यता स्फुटत्वात्, रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य वदिति बौटिकैतिमिरोपलक्षणे ।”

अन्तमें ५-४-६५ [शशङ्कोमि] सूत्रपर एक टिप्पणी दी है जिसमें पाणिनि आदि वैयाकरणोंकी अस्व-शता सिद्ध की गई है—

“प्रयोगशासनात् माभूदनादिसिद्धा हि प्रयोगाः । ज्ञानिना तु केवलं ते प्रकाशयन्ते न तु क्रियन्ते इति । अतएव शशङ्कोटीति पाणिनीयसूत्रं वर्गप्रथमेभ्यः शकारः स्वरयवरपरः शकारश्चकारं नवेति शर्ववर्मकर्तृ-ककालापकसूत्रानुसारि । अत एव पाणिन्यादयोऽसर्वज्ञा इति सिद्धम् । अतएव तेषां तत्त्वत आप्तत्वाभाव इति सिद्धिः । नन्वभ्यः प्रभूर्तानिसूत्रे निर्जरसैर्युख्या यदि युक्तिस्ते मस्करिणैव भवत्कृतमास्ते न तु सारस्वत-वाग्देव्या । शशङ्कोटिप्रमुखैः सूत्रैस्तच्छ्रुप्रभृतिपदादर्शी कालापकाद्युपजीवी पाणिनिरजिनत्वं प्रति नाव्यक्तः ।”

जहाँ सूत्रपाठ समाप्त होता है, वहाँ लिखा हैः—

इत्याख्यद्गयानहन्श्रुत्वेन्द्रस्तु मुदं वहन् ।

वादिक्त्राब्जचन्द्रः स्वमदिराभिसुखोऽभवत् ॥

आगे ग्रन्थ-प्रशस्ति देखिए—

“ओं नमः सकलकलाकौशलपेशलशीलशालिने पार्श्वार्थ पार्श्वपाश्वार्थ । स्वस्ति तत्प्रवचनसुधास-मुद्रलहरीस्नायिभ्यो महामुनिभ्यः । परिसमाप्तं च जैनेद्रं नाम महाव्याकरणम् । तदिदं श्रीवीरप्रभुर्मर्षोने पृच्छते प्रकाशयांचकार । सपादलक्षव्याख्यानकपरमतमदांधकारापहारपरममिति । नमः श्रीमच्चरमपरमेश्वर-पादप्रसादविशदस्याद्वादनयसमुपासनगुणकोटिमत्कौटिकगणाविभूतचिद्विभूतिविमलचंद्रचान्द्रकुलविपुलबृहत् -पोनिगमनिर्गतनागपुरीयस्वच्छगच्छसमुत्थसुत्पविपाश्वर्चन्द्रशाखासुखाकृतसुकृतसुकृतिवररामेन्द्रपाध्यायचारुचर-णारविन्दरजोराजीमधुकरानुकरवाचकपदवीपवित्रिताक्षयचंद्रचरणेभ्यः ससुधी रत्नचंद्रम् । श्रीवीरात् २२६७ विक्रमनृपात्तु सं० १७६७ फाल्गुनसितत्रयोदशी भौमे तक्षकाख्यपुरस्थेन रत्नर्षिणा दर्शनपावित्र्याय लिखितं चिरं नंदात् ।”

ग्रन्थके पहले पत्रकी खाली पीठपर भी कुछ टिप्पणियाँ हैं और उनमें अधिकांश वे ही हैं जो ऊपर दी जा चुकी हैं । शेष इस प्रकार हैं—

ओं नमः पार्श्वार्थ

जैनेन्द्रमैन्द्रतः सिद्धहैमतो जयहेमवत् । प्रकृतत्यंतरदूरत्वान्नान्यतामेतुमर्हति ॥ कथं ।

इंद्रशंभुः काशकृत्स्नापिशलीशाकटायनाः । पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयंत्यष्टौ हि शाब्दिकाः ॥

इति (?) चतुर्थी तद्धितानुपलक्षणात् ।

१ यह ‘बौटिकमततिमिरोपलक्षण’ नामका कोई ग्रंथ है और संभवतः वाग्वादिनीके कर्ताका ही बनाया हुआ है ।

यदिद्रायं जिनेन्द्रेण कौमारेऽपि निरूपितं । ऐन्द्रं जैनेन्द्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनं ॥
यदावश्यकनिर्युक्तिः—

अहं तं अस्मापिअरो जाणित्ता अहियअट्टवासं तु ।

कयकोउअलंकारं लेहायरिअस्स उवणिति ॥

सक्को अ तस्समक्कं भयवंतं आसये निवेसित्ता ।

सहस्य लक्खणं पुच्छे वागरणं अवयवा इदं ॥ इति ॥

तदवयवाः केचन उपाध्यायेन गृहीताः । ततश्चैन्द्रं व्याकरणं संजातमिति हरिभद्रः ॥

यत्तु देवनंदिबौटिकं पूज्यपाद

इतीच्छंतस्तद्गुरुकाः पूज्यपादस्य लक्षणं ।

द्विसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ।

इति धनंजयकोषात्तद्युक्तं । नेति चेत्कथं जैनेन्द्रमिति । द्वादशस्वरमध्यमिति चेन्न इतरोपपदस्याभावात् । जैनकुमारसम्भववद्गतिरिति चेन्न । कुमारवदिन्द्रं प्रति श्लेषाभावात् थारीतिकततद्धितभावाच्च तर्हि

लक्ष्मीरात्यंतिकी यस्य निरवद्यावभासते । देवनंदितपूजेशे नमस्तस्मै स्वयंभुवे ॥

का गतिरिति चेत् ।

लक्ष्मीरात्यंतिकीपद्यनुपज्ञेशस्य किंतरां । ऐन्द्रत्वयजि तत्त्वार्थे मोक्षमार्गस्य पद्यवत् ॥

मिबादयश्चेत्प्रथमं यदि हैमत्वपेक्ष्यते ।

कालापकादि न तथा षट्चैन्द्रं महते कृतिः ॥

पूर्वत्र । मिप् वस् मस् १ सिप् थस् थ २ तिप् तस् भि ३ इड् वहि महि १ थस् आथां ध्वं २ त आताम् ऋङ् ३ इति ।

आख्यातरीतिं प्रति देवराजे भिब्वस्मसो यः पितः रादितोदाः ।

जीवं प्रपन्नाहममात्थ विश्वे तत्त्वादिमं स्वां कतिमात्मनौथं ॥

तर्हि सिद्धसेनादिविशेषोऽपि दुर्निवार इति चेन्न

जातामात्रोपि चिद्वीर्यं प्रत्यात्मशरणोऽसि यः †

जनताका वराकीर्यं परात्मन् वीर तत्पुर ॥

इति बौटिकमततिमिरोपलक्षणस्य तुर्येऽवकाशे इन्द्रजिनेन्द्रौ प्रत्युत्तरिणौ यदतोऽटोतद्धिततस्त्वमसि-मिबिड् डौरेयमद्रैन्द्रं जैनेन्द्रं व्याकरणानां । सिद्धिमनेकांतादिच्छों अः × क × पाहं त्यतथारीते हैमागीकृत-वर्त्मन्प्रक्षेपार्यविजेयचिरंजीया इति प्रसन्नचन्द्रोत्पले [?]

१ इसके आगे ४-३-७ सूत्रकी टिप्पणी जैसा ही लिखा है और फिर ३-४-४० सूत्रकी टिप्पणीके 'देवनन्दिमतां' आदि ही श्लोक दिये हैं ।

२ इसके आगे ५-४-६५ सूत्रकी टिप्पणी दी है ।

जैनेन्द्र शब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ

[श्री युधिष्ठिर मीमांसक, प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, दिल्ली]

संसारमें वाङ्मयके प्रादुर्भावका आदिस्थान पुण्यभूमि भारत है। उसका विशाल संस्कृत वाङ्मय मुख्यतः तीन धाराओंमें विभक्त है। इस वाङ्मयकी समृद्धिमें वैदिक, जैन और बौद्ध विद्वानों तथा आचार्योंने मुक्तहस्तसे सहयोग प्रदान किया है। भगवान् महावीरसे पूर्वके जैन तीर्थङ्करोंने उपदेश और ग्रन्थ-रचनामें किस भाषाका आश्रय लिया था, इसके प्रमाण अभी नहीं मिले। उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध अथवा ज्ञात नहीं। इसलिए उपलब्ध संस्कृत वाङ्मयमें वैदिक वाङ्मय ही प्राचीनतम कहा जा सकता है। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध तथा उनके अनुयायी मनीषियोंने अपने विचारोंको सर्वसाधारण तक पहुँचानेके लिए उपदेश और ग्रन्थ-रचनामें तात्कालिक जनभाषा प्राकृत तथा पालीका आश्रय लिया। कालान्तरमें, सम्भवतः विक्रमकी प्रथम शतीके लगभग जैन तथा बौद्ध आचार्योंने भारतीय जनताके हृदयमें संस्कृतके प्रति युग-युगसे वर्तमान विशिष्ट अनुराग और आदरकी भावनाको अनुभव किया और उदारचेता होकर उन्होंने भी विद्वज्जनोपयोगी विशिष्ट ग्रन्थोंकी रचनाके लिए संस्कृत भाषाको अपनाया और आरम्भ किया।

नये युगके प्रवर्तक

इस नये युगके प्रवर्तक जैन सम्प्रदायमें आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर तथा बौद्ध सम्प्रदायमें भद्रन्त अश्वघोष थे। ये सब वैदिक सम्प्रदायके विशिष्ट ज्ञाता थे। इसलिए उभय सम्प्रदायके शास्त्रज्ञानकी जो प्रौढ़ता इनके ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन आचार्योंने अपनी अगाध-विद्वत्ताके कारण अपने-अपने सम्प्रदायोंमें नये युगका सूत्रपात किया। इनका अनुकरण करके उत्तरवर्ती अनेक सुहृद् आचार्योंने अपने-अपने उत्तमोत्तम ग्रन्थों-द्वारा संस्कृत वाङ्मयको आगे बढ़ाया।

संघर्ष युग—दोनों सम्प्रदायोंमें संस्कृत भाषाके प्रति अनुराग उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। प्रत्येक विषय पर संस्कृतमें ग्रन्थ-रचनाएँ होने लगीं। विक्रमकी प्रथम शतीसे १२ वीं शती तकका युग संस्कृत वाङ्मयके इतिहासमें अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है। इस कालमें वैदिक, जैन और बौद्ध विद्वानोंके पारस्परिक तार्किक वाद-प्रतिवादाने वाङ्मयके प्रत्येक क्षेत्रको, विशेषकर न्यायशास्त्रको परिबृंहित करनेमें विशेष योग प्रदान किया। इस कालमें वैदिक न्यायशास्त्रकी तो प्रवृत्ति ही बदल गई। वह अपने मूल प्रयोजनसे हटकर अर्थात् प्रमेय-निर्णायक न रहकर केवल प्रमाण-लक्षण-निर्णय तक ही सीमित हो गया और अन्तमें उसने नव्य न्यायके रूपमें केवल बौद्धिक श्रमका रूप धारण कर लिया।

जैन व्याकरण-वाङ्मय

संस्कृत वाङ्मयमें व्याकरणशास्त्र अपना प्रमुख स्थान रखता है। प्राचीन शास्त्रोंमें इसे स्वतन्त्र विद्या-स्थान माना है। इसलिए जब जैन विद्वानोंने संस्कृत भाषाको अपनाया, तब जैन सम्प्रदायमें भी इस शास्त्रका महत्त्व बढ़ा। अनेक जैन आचार्योंने व्याकरणके क्षेत्रमें भी अनेक उत्तम कृतियाँ प्रदान कीं। उनमेंसे अधिकांश विकराल काल द्वारा कवचित्त हो गईं, अनेक ग्रन्थोंका नाम भी स्मृति-पटलसे नष्ट हो गया। कइयोंका नाम-मात्र शेष रहा। बहुत स्वल्प कृतियाँ शेष बचीं। जो कृतियाँ कथञ्चित् कालकवलित होनेसे इस समय तक बच भी गईं वे ग्रन्थागारोंमें वेष्टनोंमें बँधी, प्रकाशमें आनेकी तिथिकी प्रतीक्षा कर रही हैं। सम्भव है उनमेंसे अधिकांश कृतियाँ 'शीघ्रते वन एव वा' नियमके अनुसार विद्वज्जगत्को सुरभित न करके वनोपम ग्रन्थागारोंमें ही

शीर्ष हो जायँ। ईंट पत्थरोंसे बने भौतिक कृतियोंको बचाने अथवा उनके उद्धारकी चिन्ताकी अपेक्षा इन सांस्कृतिक और बौद्धिक कृतियोंका बचाना, उनका उद्धार करना परम आवश्यक है। जो विद्वान् महानुभाव, धनी मानी श्रेष्ठीवर्ग तथा संस्थाएँ इस कार्यमें लगी हुई हैं वे देश, जाति तथा धर्मकी वास्तविक सेवा कर रही हैं। देशके स्वतन्त्र हो जाने पर युगयुग उपाजित प्राचीन वाङ्मयकी रक्षाका भार मुख्यतया राज्यको ही वहन करना चाहिए, परन्तु सम्प्रति हमारे नेता इस ओर उदासीन हैं।

उपलब्ध जैन व्याकरण

जैन आचार्यों-द्वारा लिखे गये ६, ७ व्याकरण इस समय उपलब्ध हैं। उनमेंसे केवल तीन व्याकरण प्रमुख हैं—जैनेन्द्र, शाकटायन और सिद्ध हैम। इनमें आचार्य देवनन्दी, अपर नाम पूज्यपाद, इतर नाम जिनेन्द्रबुद्धि द्वारा प्रोक्त जैनेन्द्र व्याकरण सबसे प्राचीन है।

इन प्रमुख तीन व्याकरणोंके ग्रन्थ भी अभी तक पूरे प्रकाशित नहीं हुए। सबसे अधिक हैम व्याकरणके ग्रन्थ प्रकाशमें आये हैं^१। शाकटायन व्याकरण केवल चिन्तामणि नामक लघुवृत्ति सहित प्रकाशित हुआ है [परिशिष्टमें मूल गणपाठ, लिङ्गानुशासन तथा धातुपाठ भी लुपे हैं]। सूत्रकारकी स्वोपज्ञ अमोघ महावृत्ति अभी तक लिखित रूपमें ही क्वचित् उपलब्ध होती है^२। जैनेन्द्र व्याकरण भी तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके ६० वें सूत्र तक अभयनन्दी विरचित महावृत्ति सहित कुछ वर्ष पूर्व लाजरस कम्पनी काशीसे प्रकाशित हुआ था [अब वह भी दुर्लभ है]। यह प्रथम अवसर है कि भारतीय ज्ञानपीठ काशीने इस भारी कमीको पूर्ण करनेका बीड़ा उठाया और वह उसे अभयनन्दीकी महावृत्ति सहित प्रकाशित कर रहा है।

जैनेन्द्रसे प्राचीन व्याकरण

आचार्य पूज्यपादने अपने शब्दानुशासनमें निम्न ६ पूर्ववर्ती आचार्योंका उल्लेख किया है—

१—गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् [१।४।३४]

२—कृष्टिषिष्टजां यशोभद्रस्य [२।१।१६]

३—राद् भूतबलेः [३।४।८३]

४—रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य [४।३।१८०]

५—वेत्तेः सिद्धसेनस्य [५।१।७]

६—चतुष्टयं समन्तभद्रस्य [५।४।१४०]

इन छ आचार्योंमेंसे किसीका भी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। अनेक विद्वानोंको इन आचार्योंके व्याकरण-शास्त्र-प्रवक्तृत्वमें भी सन्देह है। जैसा कि जैन इतिहास-विशेषज्ञ श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' [पृष्ठ १२०] में लिखा था—

“इन छ आचार्योंमेंसे किसीका भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं है। परन्तु जान पड़ता है इनके अन्य ग्रन्थोंमें कुछ भिन्न तरहके शब्द प्रयोग किये गये होंगे और उन्हींको व्याकरण-सिद्ध करनेके लिए ये सब सूत्र रचे गये हैं^३।”

१ सम्प्रति हैम व्याकरणकी केवल लघुवृत्ति सुप्राप्य है, अन्य सभी मुद्रित ग्रन्थ दुष्प्राप्य हो गये। इनका पुनर्मुद्रण अत्यन्त आवश्यक है।

२ यह महावृत्ति भी शीघ्र ही भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे ही प्रकाशित होगी।

३ यद्यपि माननीय प्रेमीजीने इस विचारकी निस्सारताको समझकर अपने ग्रन्थके द्वितीय संस्करणमें उक्त अंश निकाल दिया, पुनरपि जिनकी ऐसी धारणा अभी भी है उनके विचारोंके प्रतिनिधित्व रूपमें उक्त-पङ्क्तियाँ उद्धृत की हैं।

पं० फूलचन्द्र सि० शा० ने भी सर्वार्थसिद्धि की भूमिकामें लगभग इसी मतका प्रतिपादन किया है ।^१

पाणिनीय व्याकरणमें स्मृत शाकल्य आपिशलि शाकटायन आदि १० प्राचीन शाब्दिकोंके विषयमें भी अनेक विद्वानोंकी ऐसी ही धारणा है ।

हमारे विचारमें इस प्रकारकी धारणाओंका मूलकारण भारतीय प्राचीन ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंके विषयमें प्राश्चात्य विद्वानोंद्वारा समुत्पादित अविश्वासकी भावना और अनर्गल कल्पनाएँ ही हैं ।

हम अपने 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्रका इतिहास' ग्रन्थमें पाणिनिसे पूर्ववर्ती आपिशलि काशकृत्स्न और भागुरि आदि अनेक शाब्दिक आचार्योंके सूत्र, धातु और गणके वचन उद्धृत करके सिद्ध कर चुके हैं कि पाणिनिसे प्राचीन आचार्योंके भी पाणिनिके समान ही सर्वांगपूर्ण व्याकरण थे । अब तो काशकृत्स्न व्याकरणका समग्र धातुपाठ चन्नवीर कवि कृत कन्नड टीकासहित प्रकाशमें आ गया है । उसमें काशकृत्स्न शब्दानुशासनके लगभग १४० सूत्र भी उपलब्ध हो गये हैं ।^२ ये [धातुपाठ तथा सूत्र] न केवल उनके सर्वाङ्गपूर्ण होनेके, अपितु पाणिनीय व्याकरणसे अधिक विस्तृत होनेके भी प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।

इसी प्रकार आचार्य पूज्यपादके शब्दानुशासनमें उद्धृत प्राचीन वैयाकरणोंके विषयमें भी हमारी यही धारणा है कि उन आचार्योंने भी अपने-अपने शब्दानुशासन रचे थे । उन्हींके शब्दानुशासनसे आचार्य पूज्यपादने उनके मतोंका संग्रह किया । इसके विपरीत कल्पना करना पूज्यपाद जैसे प्रामाणिक आचार्यको मिथ्यावादी कहना है [आः शान्तं पापम्] । जब हमने पाणिनिसे पूर्ववर्ती अनेक शाब्दिक आचार्योंके बहुतसे वचन प्राचीन ग्रन्थोंमें ढूँढ लिये, यहाँ तक कि आद्य शब्दतन्त्र-प्रणेता इन्द्रके भी 'अथ वर्णसमूहः', 'अर्थः पदम्' दो सूत्र उपलब्ध कर लिये,^३ ऐसी अवस्थामें हमें पूर्ण निश्चय है कि यदि जैन वाङ्मयका सावधानता पूर्वक अवगाहन किया जाय तो इन आचार्योंके शब्दानुशासनोंके सूत्र भी अवश्य उपलब्ध हो जायँगे ।

आचार्य सिद्धसेनका व्याकरण-प्रवक्तृत्व—आचार्य सिद्धसेनके व्याकरणविषयक मतका उल्लेख आचार्य पूज्यपादने तो किया ही है; उसके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनसे उनके व्याकरण प्रवक्ता होने की पुष्टि होती है । यथा—

१. सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ० ५१ ।

२. देखो 'संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास' के तत्तत् प्रकरण ।

३. श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवालने "पाणिनि कालीन भारतवर्ष [हिन्दी संस्करण] पृष्ठ ५ पं० २२, २३ पर पाणिनिपूर्ववर्ती व्याकरणोंको बिना किसी प्रमाणके एकाङ्गी लिखा है । पृष्ठ २६ पं० ६ पर गणपाठकी सामग्रीको पाणिनिकी मौलिक देन बताया है । परन्तु पृष्ठ ३१ पं० १६, १६ में भर्तृहरिके प्रमाणसे पाणिनि-पूर्ववर्ती आपिशलिके गणपाठकी सत्ता भी स्वीकार की है । डा० कीलहार्नका भर्तृहरिकृत महाभाष्य टीका संबंधी लेख हमें सुखभ नहीं हुआ । अतः नहीं कह सकते कि उसमें आपिशल गणपाठका उल्लेख था वा नहीं । परन्तु हमने अपनी भर्तृहरिकृत महाभाष्य टीकाकी प्रतिलिपिके आधारसे 'सं० व्या० शास्त्रका इतिहास' पृष्ठ १०२ पर आपिशल गणपाठका उल्लेख किया है । तथा इसी ग्रन्थके पृष्ठ २७४-२७५ पर महाभाष्यटीकाके इतिहासोपयोगी सभी वचन एकत्रित कर दिये हैं ।

४. इन सूत्रोंका प्रकाशन हम शीघ्र ही कर रहे हैं ।

५. सं० व्या० शा० का इतिहास पृष्ठ ६२ । महाभाष्य मराठी अनुवाद प्रस्तावना खण्ड [भाग ७, सन् १९५४] पृष्ठ १२५, १२६ पर श्री पं० काशीनाथ अभ्यङ्करजीने हमारे द्वारा प्रथमतः [सन् १९५१] प्रकटीकृत दोनों सूत्रोंका उल्लेख किया है । दूसरे सूत्रका पाठ भी हमारे द्वारा परिष्कृत ही स्वीकार किया है । लेखकने अन्यत्र भी हमारे ग्रन्थके पर्याप्त दुर्लभ सामग्री स्वीकार की है, परन्तु हमारे ग्रन्थका कहीं निर्देश नहीं किया ।

१. अभयनन्दी जैनेन्द्र १।४।१६ की वृत्तिमें एक उदाहरण देता है—‘उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः’ अर्थात् सब वैयाकरण सिद्धसेनसे हीन हैं ।

इस उदाहरणसे स्पष्ट है कि अभयनन्दी आचार्य सिद्धसेनको न केवल वैयाकरण ही मानता है, अपितु उस कालतक प्रसिद्ध वैयाकरणोंमें उसे सर्वश्रेष्ठ कहता है ।

जैनेन्द्र व्याकरण

आचार्य पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दीने जिस शब्दानुशासनका प्रवचन किया वह लोकमें जैनेन्द्र-नामसे विख्यात है ।

इस शब्दानुशासनका जैनेन्द्र नाम क्यों पड़ा, आचार्य पूज्यपादका काल कौन सा है, जैनेन्द्र व्याकरण का मूल सूत्रपाठ कौन सा है, इसपर कितने व्याख्या ग्रन्थ लिखे गये और आचार्य पूज्यपादने जैनेन्द्र व्याकरणके अतिरिक्त और कितने ग्रन्थ लिखे इत्यादि विषयोंपर हम यहाँ विशेष चर्चा नहीं करेंगे, क्योंकि इन विषयोंपर माननीय श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने ‘जैन साहित्य और इतिहास’ ग्रन्थमें विस्तारसे लिखा है [यही अंश पुनः परिष्कृत करके इस ग्रन्थके आदिमें पृष्ठ १७-३७ तक छपा है] । पश्चात् हमने भी अपने ‘संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास’ ग्रन्थमें विस्तारसे विवेचना की है^१ [हमने श्री प्रेमीजीके ग्रन्थसे पर्याप्त सामग्री ली है] । इसलिए हम यहाँ केवल उतना ही अंश लिखेंगे, जो उक्त दोनों लेखोंके पश्चात् परिज्ञात हुआ है ।

जैनेन्द्र नामका कारण—इस शब्दानुशासनको सर्वत्र जैनेन्द्र नामसे स्मरण किया है । इसके नामकरणके सम्बन्धमें श्री प्रेमीजीने जैनग्रन्थोंसे जो कथाएँ उद्धृत की हैं, वे प्रायः ऐतिहासिक तत्त्वरहित हैं । श्री प्रेमीजी भी उक्त कथाओंसे सन्तुष्ट नहीं हैं । हमारे विचारमें इस नामकरणका निम्न कारण है—

आचार्य देवनन्दीका एक नाम जिनेन्द्रबुद्धि भी था जैसा कि श्रवणबेलगोलके ४० वें शिलालेखमें लिखा है—

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ॥२॥

श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥३॥

अर्थात्—आचार्यका प्रथम नाम देवनन्दी था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वह जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवोंने उनके चरणोंकी पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ ।

जिस प्रकार ‘पद्देशु पदैकदेशान्’ नियम अथवा ‘विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्’ [४।१।१३६] वार्तिकके अनुसार प्राचीन ग्रन्थकार देवं अथवा नन्दी^३ नामसे देवनन्दीको स्मरण करते हैं, उसी प्रकार जिनेन्द्र एक देश भी जिनेन्द्रबुद्धि अपरनाम देवनन्दीका वाचक है । अतः ‘जैनेन्द्र’ की व्युत्पत्ति होगी—जिनेन्द्रेण प्रोक्तं जैनेन्द्रम् । अर्थात् जिनेन्द्र = जिनेन्द्रबुद्धि = देवनन्दी द्वारा प्रोक्त व्याकरण ।

आचार्य देवनन्दीका काल और उसका निश्चायक नूतन प्रमाण—आचार्य देवनन्दीके कालके विषयमें ऐतिहासिकोंका परस्पर वैमत्य है । यथा—

१—कीथ अपने ‘हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर’ में लिखता है—

The जैनेन्द्र व्याकरण ascribed to the Jinendra really written by पूज्यपाद देवनन्दी perhaps was Composed C. 678. P. 43.

१. देखो पृष्ठ ३२३-३२८ तथा ४२१-४३१ ।

२. जिनसेन तथा वादिराज सूरि ‘देव’ नामसे स्मरण करते हैं । देखो श्री प्रेमीजीका लेख, यही ग्रन्थ, पृष्ठ १६, टि० ३, ४ ।

३. इसके उद्धरण आगे लिङ्गानुशासनके प्रकरणमें देंगे ।

अर्थात्—जैनेन्द्र व्याकरण सन् ६७८ [=७३१ वि०] के समीप लिखा गया।

२—श्री प्रेमीजीने अनेक प्रमाण उपस्थित करके देवनन्दीका काल सामान्यतया विक्रमकी षष्ठ शताब्दी निश्चित किया है। [देखो इसी ग्रन्थके साथ मुद्रित उनका लेख]।

३—श्री आई० एस० पवतेने अपने 'स्ट्रुक्चर आफ् दी अष्टाध्यायी' में लिखा है—

'नहानहोपाध्याय नरसिंहाचार्यने कर्णाटक कवि चरितके प्रथम भागके प्रथम संस्करणमें पूज्यपादको ईस्वी सन् ४७० [=५२७ वि०] में बताया है और दूसरे संस्करणमें सन् ६०० [=६५७ वि०] का। परन्तु मुझे २१।१२।१९३३ को लिखे एक पत्रमें लिखा है कि पूज्यपाद ४५० ई० [=५०७ वि०] के आसपास है'।

४—हमने अपने व्याकरण शास्त्रके इतिहासमें श्री प्रेमीजी द्वारा उद्धृत प्रमाणोंके आधारपर आचार्य पूज्यपादका काल विक्रमकी षष्ठ शताब्दीका पूर्वार्द्ध माना था। अब हम उसे ठीक नहीं समझते।

विक्रमकी षष्ठ शताब्दीसे पूर्व—अब हमें जो नूतन प्रमाण उपलब्ध हुआ है, उसके अनुसार आचार्य पूज्यपाद विक्रमकी षष्ठ शताब्दीसे पूर्ववर्ती हैं, यह निश्चित होता है।

कात्यायनने एक विशिष्ट प्रकारके प्रयोगके लिए नियम बनाया है—परोचे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शन-विषये [महा० ३।२।११]। अर्थात्—ऐसी घटना जो लोकविज्ञात हो, प्रयोक्ताने उसे न देखा हो, परन्तु प्रयोक्ताके दर्शनका विषय सम्भव हो [अर्थात् वह घटना प्रयोक्ताके जीवन-कालमें घटी हो] उस घटनाको कहनेके लिए भूतकालमें लङ् प्रत्यय होता है।

पतञ्जलिने महाभाष्यमें इस वार्तिकपर उदाहरण दिये हैं—अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्। वार्तिकके नियमानुसार साकेत [=अयोध्या] और माध्यमिका [=चित्तौड़ समीपवर्ती नगरी ग्राम] पर यह लोकप्रसिद्ध आक्रमण पतञ्जलिके जीवनकालमें हुआ था। प्रायः सभी ऐतिहासिक इस विषयमें सहमत हैं।

इसी प्रकारका नियम पाणिनिसे उत्तरवर्ती प्रायः सभी व्याकरण-ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है और उसका उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार प्राचीन उदाहरणोंके साथ साथ स्वसमकालिक किन्हीं महती घटनाओंका भी प्रायः निर्देश करते हैं। यथा—

अजयद् जर्तो हूणान्। चान्द्रै

अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्। जैनेन्द्र० [२।२।६२]

अदहदमोघवर्षोऽरातीन्। शाकटायन [३।३।२०८]

अरुणत् सिद्धराजोऽवन्तिम्। हैम० [५।२।८]

इनमें अन्तिम दो उदाहरण सर्वथा स्पष्ट हैं। आचार्य पाल्यकीर्ति [शाकटायन] महाराज अमोघवर्ष और आचार्य हेमचन्द्र महाराज सिद्धराजके कालमें विद्यमान थे। इसमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं। परन्तु चान्द्रके जर्त और जैनेन्द्रके महेन्द्र नामक व्यक्तिको इतिहासमें प्रत्यक्ष न पाकर पाश्चात्य मतानुयायी विद्वानोंने जर्तको गुप्त और महेन्द्रको मेनेन्द्र—मिनण्डर बनाकर अनर्गल कल्पनाएँ की हैं। इस प्रकारकी कल्पनाओंसे इतिहास नष्ट हो जाता है। हमारे विचारमें जैनेन्द्रका 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' पाठ सर्वथा ठीक है, उसमें किञ्चिन्मात्र भ्रान्तिकी सम्भावना नहीं है। आचार्य पूज्यपादके कालकी यह ऐतिहासिक घटना इतिहासमें सुरक्षित है।

१. देखो, स्ट्रुक्चर आफ् दी अष्टाध्यायी, भूमिका, पृष्ठ १३।

२. यद्यपि ये उदाहरण क्रमशः धर्मदास तथा अभयनन्दीकी वृत्तिसे दिये हैं, परन्तु इन वृत्तिकारोंने ये उदाहरण चन्द्र और पूज्यपादकी स्वोपज्ञ वृत्तिसे लिखे हैं।

महेन्द्र और उसका मथुरा-विजय—जैनेन्द्रमें स्मृत महेन्द्र गुप्तवंशीय कुमारगुप्त है। इसका पूरा नाम महेन्द्रकुमार है। जैनेन्द्रके 'विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्' [४।१।१३६] वार्तिक, अथवा 'पदेषु पदैकदेशान्' नियमके अनुसार उलीको महेन्द्र अथवा कुमार कहते थे। उसके सिक्कोंपर श्री महेन्द्र, महेन्द्रसिंह, महेन्द्रवर्मा, महेन्द्रकुमार आदि कई नाम उपलब्ध होते हैं।^१

तिब्बतीय ग्रन्थ चन्द्रगर्भ सूत्रमें लिखा है—“यवनों पहिलकों शकुनों [कुशनों] ने मिलकर तीन लाख सेनासे महेन्द्रके राज्यपर आक्रमण किया। गङ्गाके उत्तरप्रदेश जीत लिये। महेन्द्रसेनके युवा कुमारने दो लाख सेना लेकर उनपर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। लौटनेपर पिताने उसका अभिषेक कर दिया।”^२

चन्द्रगर्भ सूत्रका महेन्द्र निश्चय ही महाराज कुमारगुप्त है और उसका युवराज स्कन्दगुप्त। मञ्जु श्री मूलकल्प श्लोक ६४६ में श्री महेन्द्र और उसके सकारादि पुत्र [स्कन्दगुप्त] को स्मरण किया है।^३

चन्द्रगर्भ-सूत्रमें लिखित घटनाकी जैनेन्द्रके उदाहरणमें उल्लिखित घटनाके साथ तुलना करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रके उदाहरणमें इसी महत्त्वपूर्ण घटनाका संकेत है। उक्त उदाहरणसे यह भी विदित होता है कि विदेशी आक्रान्ताओंने गङ्गाके आस-पासका प्रदेश जीतकर मथुराको अपना केन्द्र बनाया था। इस कारण महेन्द्रकी सेनाने मथुराका ही घेरा डाला था।

महाभाष्य, शाकटायन तथा सिद्ध हैम व्याकरणोंमें निर्दिष्ट उदाहरणोंके प्रकाशमें यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पूज्यपाद गुप्तवंशीय महाराजाधिराज कुमारगुप्त अपर नाम महेन्द्र कुमारके समकालिक हैं। पाश्चात्यमतानुसार कुमारगुप्तका काल वि० सं० ४७०-५१२ [=४१३-४५५ ई०] तक था। अतः पूज्य-पादका काल अधिकसे अधिक विक्रमकी ५ वीं शतीके चतुर्थ चरणसे षष्ठ शताब्दीके प्रथम चरण तक माना जा सकता है, इसके पश्चात् नहीं। भारतीय ऐतिहासिक काल-गणनानुसार गुप्तकाल इससे कुछ शताब्दी पूर्व ठहरता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रके 'अरुणमहेन्द्रो मथुराम्' उदाहरणमें महेन्द्रको मेनेन्द्र = मिनण्डर समझना भारी भ्रम है।

जैनेन्द्र शब्दानुशासन

अब हम जैनेन्द्र व्याकरणके सम्बन्धमें संक्षेपसे लिखते हैं—

जैनेन्द्र शब्दानुशासनका परिमाण—जैनेन्द्र शब्दानुशासनमें ५ अध्याय, २० पाद और ३०६७ सूत्र [प्रत्याहार सूत्रोंके विना] हैं।

जैनेन्द्रका प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ—आचार्य पूज्यपादके समय निश्चय ही पाणिनीय और चान्द्र शब्दानुशासन विद्यमान थे। पूज्यपादने अपने शब्दानुशासन की रचना पाणिनीय शब्दानुशासनके आधार पर की है, यह पाणिनीय चान्द्र तथा जैनेन्द्र शब्दानुशासनोंकी सूत्र-रचना और प्रकरण-विन्यासकी तुलनासे स्पष्ट है। कहीं-कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि पूज्यपादने चान्द्र शब्दानुशासनसे भी कुछ सहायता ली है।

जैनेन्द्रमें प्रत्याहार सूत्रोंका सद्भाव—अभयनन्दीकी महावृत्तिके साथ 'अ इ उ ण्' आदि प्रत्याहार सूत्र उपलब्ध नहीं होते, परन्तु जैनेन्द्र शब्दानुशासनके मूल पाठमें ये अवश्य विद्यमान थे। इसमें निम्न हेतु हैं।

क—जैनेन्द्र सूत्रपाठमें जहाँ अनेक वर्णोंका निर्देश करना होता है, वहाँ संक्षेपार्थ पाणिनीय अनुशासन के समान प्रत्याहारोंका प्रयोग किया है। यथा—अच् [१।१।५६], इक् [१।१।१७], यण् [१।१।४५],

१. श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का इतिहास [सं० २००३], पृष्ठ ३५४।

२. वही, पृष्ठ ३५४।

३. महेन्द्रनृपवरो मुख्यः सकाराद्यो मतः परम्।

४. जैनेन्द्र और पाणिनीय सूत्रोंकी तुलनात्मक सूची इस ग्रन्थके अन्तमें छपी है।

ऐच् [१।१।१५], एङ् [१।१।७०]। ये प्रत्याहार पाणिनीय प्रत्याहारोंके समान हैं। किस प्रत्याहारमें कितने वर्णोंका निर्देश सम्भूना चाहिए अथवा प्रत्याहार कैसे बनाया जाता है, इसका नियम-प्रदर्शक “अन्त्ये नेतादिः” सूत्र जैनेन्द्र शब्दानुशासन [१।१।७३] में विद्यमान है। इस सूत्र द्वारा अच् प्रत्याहारोंका परिज्ञान तभी सम्भव है, जब ग्रन्थके आरम्भमें पाणिनीय ग्रन्थवत् प्रत्याहार सूत्र पठित हों। अन्यथा ‘अन्त्येनेतादिः’ सूत्र तथा इसकी वृत्ति कभी सम्भूमें नहीं आ सकती।

ख—जैनेन्द्र १।१।४८ पर अभयनन्दी लिखता है—‘रन्त इति लणो लकारेण प्रश्लेषनिर्देशात् प्रत्याहारग्रहणम् ।’ अर्थात् ‘रन्त’ इस निर्देशमें लण् सूत्रके लकारमें पठित अकारसे र प्रत्याहार लिया गया है। “लण्” यह पाणिनिके समान प्रत्याहार सूत्र ही है।

ग—अभयनन्दी १।१।३ सूत्रकी वृत्तिके अनन्तर उदाहरण देता है—‘अ इ उ ण्—णकारः । अर्थात् ‘अ इ उ ण्’ सूत्रमें ‘ण्’ इत् संज्ञक है। यहाँ भी पाणिनिके समान ‘अ इ उ ण्’ सूत्रको उद्धृत किया है।

इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि जैनेन्द्र व्याकरणके आरम्भमें भी प्रत्याहार सूत्र थे। हमने प्रत्याहार-सूत्रोंके विषयमें इस महावृत्तिके सम्पादक महोदयसे पूछा था कि किसी हस्तलेखमें ये सूत्र मिलते हैं, अथवा नहीं। श्री सम्पादकजीने २६।६।५६ के उत्तरमें लिखा—“प्रत्याहार सूत्रोंका पाठ किसी भी हस्तलिखित प्रतिमें उपलब्ध नहीं है। मुद्रित जैनेन्द्र पञ्चाध्यायी तथा शब्दार्णव-चन्द्रिकामें कुछ हेर फेरके साथ पाणिनीय व्याकरण सटश [अ इ उ ण् आदि] दो प्रकारके सूत्रपाठ मिलते हैं।”

हमारा विचार है कि प्रत्याहार सूत्रोंकी व्याख्याकी आवश्यकता न समझकर अभयनन्दीने इनकी व्याख्या नहीं की। अव्याख्यात होनेके कारण महावृत्तिके हस्तलेखोंमें इनका अभाव हो गया। अथवा यह भी सम्भव है—जैसे अन्यत्र कई स्थानों पर सूत्रोंकी वृत्ति उपलब्ध नहीं होती, उसी प्रकार इन प्रत्याहार-सूत्रोंकी भी व्याख्या नष्ट हो गई और व्याख्याके न रहने पर महावृत्तिके हस्तलेखोंमें सूत्र पाठका भी अभाव हो गया। जो कुछ भी कारण उनके अभावका हो, परन्तु इतना निस्सन्दिग्ध है कि अभयनन्दी जैनेन्द्र प्रत्याहार-सूत्रोंसे परिचित था।

सूत्रपाठके पाठान्तर—महावृत्तिके साथ जो जैनेन्द्रसूत्र पाठ छपा है उसमें तथा अभयनन्दीकी व्याख्यामें उद्धृत सूत्र पाठमें कतिपय पाठान्तर उपलब्ध होते हैं। कई पाठान्तर अभयनन्दीकी वृत्तिके गम्भीर अनुशीलनसे विदित होते हैं; यथा—

क—अभयनन्दी ने १।१।८५ की व्याख्यामें ५।१।७९ का पाठ उद्धृत किया है—‘वदन्नज्’ इत्यादि-नैप् । परन्तु ५।१।७६ पर सूत्रपाठ छपा है—‘ब्रजवदन्नोऽतः’ [इस पर वृत्ति अप्राप्त है]।

ख—जैनेन्द्र १।२।१४ सूत्रका मुद्रित पाठ है—साधकतमं करणम् । इसकी व्याख्यामें अभयनन्दी लिखता है—‘पुंल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः ? परिक्रमणम् [१।२।११२] इत्यनवकाशया संप्रदानसंज्ञया बाधा मा भूत् ।’ अर्थात्—पुल्लिङ्ग निर्देश क्यों किया..... ।

इस सूत्र में दो पद हैं। दोनों ही नपुंसक लिङ्ग पद हैं। ऐसी अवस्थामें न तो शंका ही उपपन्न होती है और न उनका समाधान ही। क्योंकि ‘नब्बाध्य आसम्’ [१।२।६१] सूत्रानुसार नपुंसक लिंगसे निर्दिष्ट संज्ञाका अनवकाश संज्ञासे बाध होता है। अतः ‘करण’ संज्ञाका नपुंसकसे निर्देश होनेके कारण अनवकाश सम्प्रदान संज्ञा [१।२।११२] से निश्चय ही बाध होगा। इस कारण प्रतीत होता है अभयनन्दीका सूत्रपाठ “साधकतमः करणः” था, जो पीछेसे विकृत हो गया। ‘करणः’ पुल्लिङ्ग निर्देश होनेपर ही

१. शाकटायनकी चिन्तामणि वृत्तिमें भी प्रत्याहार सूत्र व्याख्यात नहीं हैं।

२. पृष्ठ २८८, ३१७, ३२८।

‘दुल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः’ यह शंका तथा उसका समाधान उत्पन्न हो सकता है। पुंलिङ्ग निर्देश [करणः] होनेपर अनवकाश संप्रदान संज्ञासे भी करण संज्ञाकी बाधा नहीं होगी और ‘शतेन परिकीतः’ प्रयोग भी उपपन्न हो जायगा।

जैनेन्द्रमें एक विवेचनीय स्थल—जैनेन्द्र व्याकरण लौकिक भाषाका व्याकरण है। इसलिए उसमें स्वर और वैदिक प्रक्रियाका अंश छोड़ दिया है। प्रथमाध्यायके प्रथम पादमें आचार्यने तीन सूत्र पढ़े हैं—कौवैतौ, उजः, ऊम [२४-२६] [यहाँ शुद्ध पाठ ‘ऊँ’ चाहिए] इन सूत्रोंके पाठ तथा इनकी वृत्तिसे प्रतीत होता है कि इनका प्रयोग विषय लोकभाषा है। परन्तु इनका वास्तविक प्रतिपाद्य विषय वैदिक [पदपाठ] है। यह बात पाणिनिके ‘संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्पे, उजः ऊँ’ [११११६-१७] सूत्रोंसे स्पष्ट है। पाणिनिने प्रथम सूत्रमें वैदिक सम्प्रदायके पारिभाषिक ‘अनार्प इति’ का निर्देश किया है [इसकी अनुवृत्ति अगले सूत्रमें भी जाती है]। पदकारों द्वारा पदपाठमें प्रगृह्य आदि संज्ञाका निदर्शन करानेके लिए मन्त्रसे बहिर्भूत जिस ‘इति’ शब्दका प्रयोग किया जाता है वह अनार्प इतिकरण कहाता है। इसीको उपस्थित भी कहते हैं। इस शब्दका व्यवहार भी पाणिनिने ६।१।२२६ में किया है। ये संज्ञाएँ प्रातिशाख्यग्रन्थोंमें प्रसिद्ध हैं। पदपाठमें अनार्प इतिकरणका प्रयोग कहाँ करना चाहिए इसका प्रतिपादन प्रातिशाख्योंमें विस्तारसे किया है। ऋग्वेदके पदपाठमें शाकल्यने प्रगृह्य संज्ञक [जैनेन्द्रके अनुसार ‘दि’ संज्ञक] पदसे परे सर्वत्र इति शब्दका प्रयोग किया है। यथा—अग्नि इति [ऋ० ५।४५।४], मेधेते इति [ऋ० १।११३।३] युष्मे इति [ऋ० ४।१०।८], वायो इति [ऋ० १।२।१], ऊँ इति [ऋ० १।२४।८], गौरी इति [ऋ० ६।१२।३]। पाणिनिने शाकल्यके मतका अनुवाद अपने शास्त्रमें किया है। इससे स्पष्ट है कि जैनेन्द्रके उक्त सूत्रों-द्वारा प्रतिपाद्य विषय भी वैदिक नियमोंके अन्तर्गत आता है। इसलिए आचार्यको चाहिए था कि उसने जैसे पाणिनिके “शे” [१।१।१३] और “इदृतौ च सप्तमी” [१।१।१८] सूत्रोंके प्रतिपाद्य विषयके लिए सूत्र रचना नहीं की, वैसे ही इनका भी समावेश न करता। समावेश करनेसे विदित होता है कि आचार्यने इन सूत्रोंके प्रतिपाद्य विषयको लौकिक समझा है। परन्तु लोकमें वाया इति ऊँ इति ऐसे प्रयोग उपलब्ध नहीं हैं।

भूलका कारण—इस भूलका कारण भगवान् पतञ्जलिकी पाणिनीय उजः ऊँ [१।१।१७] सूत्रकी व्याख्या है। पतञ्जलिने शाकल्य ग्रहणको विकल्पार्थ मानकर और उजः ऊँ का योग-विभाग करके ‘वायो इति वायविति, वाय इति, ऊँ इति उ इति विति’ इतने काल्पनिक रूप बनाये हैं। पतञ्जलिने भी पारिभाषिक ‘अनार्प इति’ को ‘लौकिक इति’ मान लिया, ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु यह समस्त प्राचीन वैदिक साम्प्रदायके विपरीत। इस विषयमें भाष्यकार पतञ्जलिका अनुकरण करनेसे ही जैनेन्द्रमें यह भूल हुई प्रतीत होती है।

जैनेन्द्रके सम्बन्धमें एक भ्रम—जैनेन्द्र शब्दानुशासनके सम्बन्धमें भ्रम है कि जैनेन्द्र ही प्रथम व्याकरण है जिसमें एकशेष प्रकरण नहीं है। इसका कारण महावृत्तिमें निर्दिष्टि ‘देवोपज्ञमनेकशेष व्याकरणम्’ [१।४।६७] उदाहरण है। हमने सं० व्या० शास्त्रका इतिहासमें [पृष्ठ ४२४] इस भ्रमका निराकरण किया है। जैनेन्द्रसे प्राचीन चान्द्रमें भी एकशेष प्रकरण नहीं है।

सर्वार्थसिद्धि और जैनेन्द्र शब्दानुशासनका पौर्वापर्य—आचार्य पूज्यपादने तत्त्वार्थ सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि नामक व्याख्यामें कहीं पाणिनीय शब्दानुशासनके और कहीं स्वरचित शब्दानुशासनके सूत्र यत्र तत्र उद्धृत किये हैं। इससे विदित होता है कि जैनेन्द्र शब्दानुशासनकी रचना आचार्यने सर्वार्थ सिद्धिके पूर्व ही कर

१. इसकी विशद विवेचनाके लिए देखो हमारे द्वारा सम्पादित ‘अष्टाध्यायीप्रकाशिका’ का ‘उजः ऊँ’ [१।१।१७] सूत्र।

ली थी। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १० सूत्र ४ की सर्वार्थसिद्धि टीका में आचार्य पूज्यपादने पञ्चमी विभक्तिके लिए स्वनिर्मित 'का' संज्ञाका निर्देश किया है। इससे भी उक्त तथ्यकी पुष्टि होती है [सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ० ५१]

जैनेन्द्र शब्दानुशासनके खिलपाठ

वैयाकरण वाङ्मयमें शब्दानुशासन पद केवल सूत्रपाठके लिए प्रयुक्त होता है। सूत्रपाठको लघु बनानेके लिए उससे सम्बद्ध विस्तृत विषयोंको सूत्रकार जिन ग्रन्थोंमें संगृहीत करते हैं वे शब्दानुशासनके खिल अथवा परिशिष्ट कहाते हैं। प्रायः प्रत्येक शब्दानुशासनके धातुपाठ, गणपाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन ये चार खिल होते हैं। इन्हें मिलाकर व्याकरणकी पञ्चपाठी बनती है। जैनेन्द्र व्याकरण के भी ये चार खिल थे [उणादि और लिङ्गानुशासन उपलब्ध नहीं हैं]।

धातुपाठ—आचार्य देवचन्द्री प्रोक्त धातुपाठका मूल ग्रन्थ हमारे देखनेमें नहीं आया। गुणनन्दी प्रोक्त शब्दार्णव व्याकरण [जैनेन्द्रका परिवर्धित संस्करण] का चन्द्रिका टीकासहित जो संस्करण काशीसे छपा है, उसके अन्तमें जैनेन्द्र धातुपाठ भी मुद्रित है। वह धातुपाठ जिनेन्द्र [पूज्यपाद] प्रोक्त मूल रूपमें है अथवा शब्दार्णवके समान परिवर्धित है, यह हम नहीं कह सकते। अभयनन्दीकी महावृत्तिमें जैनेन्द्र धातुपाठके अनेक सूत्र उद्धृत हैं उनकी मुद्रित जैनेन्द्र धातुपाठकी तुलनासे कुछ परिणाम निकाला जा सकता है। परन्तु सम्प्रति मेरे पास मुद्रित जैनेन्द्र धातुपाठ नहीं है। अतः मैं इसके निर्णयमें इस समय असमर्थ हूँ।

मैं इसी वर्ष ६ अगस्तको काशीमें भारतीय ज्ञानपीठके व्यवस्थापक तथा महवृत्तिके सम्पादक महोदयोंसे मिला था [यह मेरा प्रथम मिलन था] और उन्हें ग्रन्थके अन्तमें जैनेन्द्र धातुपाठ छापनेका सुझाव दिया था। दोनों महानुभावोंने बड़ी सहृदयतासे मेरे सुभावको स्वीकार किया और वह इस ग्रन्थके अन्तमें दिया जा रहा है [अभी छपा मेरे पास नहीं पहुँचा]।

धातुपारायण—आचार्य हेमचन्द्रने स्वयं लिङ्गानुशासनके स्वोपज्ञ विवरणमें पृष्ठ १३२ पं० २० पर नन्दिधातुपारायण तथा पृष्ठ १३३ पं० २३ पर नन्दिपारायण उद्धृत किया है। इस नामके साथ हैम-धातुपारायण नामकी तुलनासे प्रतीत होता है कि यह आचार्य देवचन्द्रीका अपने धातुपाठ पर स्वोपज्ञ विवरण रहा होगा।

गणपाठ—जैनेन्द्र गणपाठ अभयनन्दीकी महावृत्तिमें यथास्थान सन्निविष्ट है, पृथक् छपा नहीं मिलता।

उणादिसूत्र—जैनेन्द्र उणादिसूत्रका कोई हस्तलेख अभी तक हमारी दृष्टिमें नहीं आया। महावृत्तिके सम्पादकजीसे भी इसके विषयमें पूछा था। उन्होंने २६।६।५६ के पत्रमें लिखा—“उणादि सूत्र तथा परिभाषाओंका भी संकलन कहीं नहीं उपलब्ध हो सका। लिङ्गानुशासन भी जैनेन्द्रका अनुपलब्ध ही है।”

अभयनन्दीकी महावृत्तिमें अनेक उणादि सूत्र उद्धृत हैं। कुछ प्राचीन पञ्चपादीसे पूर्णतया मिलते हैं, कुछमें पाठान्तर है। अनेक सूत्र ऐसे भी हैं जिनमें प्रत्यक्ष जैनेन्द्र संज्ञाओंका प्रयोग हुआ है। इसलिए यह निश्चित है कि जैनेन्द्र प्रोक्त उणादि सूत्र भी थे। उदाहरणके लिए हम कुछ सूत्र उद्धृत करते हैं। यथा—

१. काशिका १।३।२ में खिल शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त है।

२. प्राचीन परम्परानुसार 'भू सत्तायाम्' एव वृद्धौ आदि वाक्य सूत्र माने जाते हैं। द्रष्टव्य-अस्मत्-संपादित क्षीरतरङ्गिणी, पृष्ठ १, टि० २।

जैनेन्द्र-व्याकरणम्

- १—तनोतेर्दुः सन्वच्च । पृष्ठ ३ ।
 २—अस् सर्वधुभ्यः । पृष्ठ १७ ।
 ३—कृत्रापाजिभिस्वदिसाध्यशुभ्य उण् । पृष्ठ ११८ । ७—आङि णित् । पृष्ठ ११६ ।
 ४—वृत्तवदिहनिकमिकषिभ्यः सः । पृष्ठ ११८ । ८—भुवश्च । पृष्ठ ११६ ।

जैनेन्द्र उणादि सूत्रोंका आधार—जिस प्रकार आचार्य पूज्यपादने अपने शब्दानुशासनके प्रवचनमें प्राणिनीय शब्दानुशासनका प्रधान आश्रय लिया, उसी प्रकार उणादि सूत्रोंके प्रवचनमें भी निश्चय ही किसी प्राचीन उणादिको मुख्य आधार बनाया होगा। जैनेन्द्र उणादि पाठके उपलब्ध न होनेसे यद्यपि हम निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि आचार्यने किस प्राचीन उणादि पाठको मुख्यता दी, पुनरपि हमारा अनुमान इस प्रकार है—

प्राणिनीय सम्प्रदायसे संबद्ध मुख्यतया दो प्रकारके उणादि पाठ उपलब्ध होते हैं। एक है पञ्चपादी और दूसरा दशपादी। पञ्चपादी-पाठ भी रामायण महाभारत आदि ग्रन्थोंके समान अनेक शाखाओंमें विभक्त है। एक है औत्तर पाठ, दूसरा पश्चिमोत्तर, तीसरा दाक्षिणात्य। उज्ज्वलदत्त तथा तदाश्रित भट्टोजिदीक्षित आदिकी वृत्तियाँ औत्तरपाठ पर हैं [उज्ज्वलदत्त वंगीय था, अतः इसे वाङ्ग पाठ भी कह सकते हैं]। श्वेतवनवासी तथा नारायणक्री वृत्ति दाक्षिणात्य पाठ पर हैं। क्षीरस्वामी अपनी क्षीरतरङ्गिणीमें पश्चिमोत्तर पाठको उद्धृत करता है [इसे काश्मीर पाठ कह सकते हैं]। दशपादी पाठ पञ्चपादीके सम्भवतः पश्चिमोत्तर पाठके आधार पर रचा गया है। पञ्चपादी पाठका भी मूल कोई त्रिपादी पाठ प्रतीत होता है। उणादिके ये सभी पाठ आचार्य पूज्यपादसे प्राचीन हैं। अभयनन्दीने १।१।७५ सूत्रकी वृत्तिमें एक जैनेन्द्र उणादि सूत्र उद्धृत किया है—“अस् सर्वधुभ्यः”।

पञ्चपादीका औत्तरपाठ—सर्वधातुभ्योऽसुन् । [उज्ज्वल० ४।१८८]

“ “ दाक्षिणात्य पाठ—असुन् [श्वेत० ४।१६४]

“ “ पश्चिमोत्तर पाठ—असुन् [क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ ९३ पं० १६४]

दशपादीका पाठ असुन् [९।४९]

इन सब सूत्रोंकी तुलनासे स्पष्ट है कि जैनेन्द्र उणादि पाठका मुख्य उपजीव्य औत्तर पाठ है जिसमें जैनेन्द्रके ‘सर्वधुभ्यः’ समान ‘सर्वधातुभ्यः’ पद विद्यमान है। अन्यपाठों में ‘सर्वधातुभ्यः’ पद ही नहीं—

उणादि सूत्र व्याख्या—आचार्य देवनन्दी कृत उणादि सूत्र व्याख्याका हमें कोई साक्षात् प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ, परन्तु जिन प्रकार आचार्यने अपने धातुपाठकी तथा लिङ्गानुशासनकी व्याख्या की उसी प्रकार उणादिकी व्याख्या भी अवश्य रची होगी।

१. महावृत्तिका मुद्रित पाठ है—‘अण्डः । जृकृस्वृङ्ः’। यह अशुद्ध है। तुलना करो—‘अण्डन् कृस्मृवृजः’ [पञ्चपादी उ० १।११८ ॥ ६० उ० ५।६ ॥] सूत्र से।

२. हमने इसका अनेक हस्तलेखोंके आधारपर सम्पादन किया है। सरस्वती भवन ग्रन्थमाला काशीसे [१६४२ में] यह प्रकाशित हुआ है।

३. हमने दशपादी-उणादिके उपोद्धातमें दोनों पाठों तथा इनकी वृत्तियोंका संक्षिप्त इतिहास १६४२ में लिखा था। उस समय पञ्चपादीके इतने विभिन्न पाठका बोध हमें नहीं था। उणादि सूत्र और उनकी व्याख्याओंका विस्तृत इतिहास हम अपने सं० व्या० शास्त्रका इतिहासके दूसरे भागमें लिखेंगे।

४. क्षीरतरङ्गिणीके सम्पादनके प्रारम्भमें हमें इसका ज्ञान नहीं था, अतः हमने वहाँ दशपादीके पते दिये हैं।

५. लिङ्गानुशासनकी व्याख्याका वर्णन आगे करेंगे।

लिङ्गानुशासन—आचार्य देवनन्दी प्रोक्त लिङ्गानुशासनका कोई ग्रन्थ हमारी दृष्टिमें नहीं आया, परन्तु जैनेन्द्र लिङ्गानुशासन था अवश्य। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—वामन अपने लिङ्गानुशासनके अन्तमें प्राचीन आचार्य प्रोक्त लिङ्गानुशासनोका निर्देश करता हुआ लिखता है—**व्याडिप्रणीतमथ वाररुचं सचान्द्रं जैनेन्द्र लक्षणगतं विविधं तथाऽन्यत् । लिङ्गस्य लक्ष्मं.....**
॥ ३० ॥ इसमें जैनेन्द्र लिङ्गानुशासनका उल्लेख स्पष्ट है।

२—अभयनन्दी अपनी महावृत्ति १।४।१०८ में लिखता है—**गोमयकषायकर्षापणकुतपकवाटशंखादि-पाठादवगमः कर्तव्यः ।** अर्थात् गोमय आदि शब्द जिनमें उभयलिङ्गता देखी जाती है, उनका ज्ञान पाठसे कर लेना चाहिए।

यहाँ पाठसे अभिप्राय लिङ्गानुशासन ही है, क्योंकि 'पुंसि चार्धर्चाः' [१।४।१०८] सूत्र पर पाणिनिके समान जैनेन्द्रमें कोई गण नहीं है। अतः इनका पाठ लिङ्गानुशासनमें ही सम्भव हो सकता है।

३. आचार्य हेमचन्द्रने अपने लिङ्गानुशासनके स्वोपज्ञ विवरणमें नन्दीके नामसे एक पाठ उद्धृत किया है—**“आमरं तु भवेच्छुक्लं चौद्रं तु कपिलं भवेत्”**—इति नन्दी । पृष्ठ० ८५ पंक्ति २५ ।

हमारे विचारमें यह पाठ देवनन्दीके लिङ्गानुशासनका है और पूर्वोक्तिनियमके अनुसार यहाँ नन्दी शब्दसे देवनन्दीका ग्रहण है। हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासनके सम्पादक पं० वेङ्कट राम शर्माने अपनी निवेदनामें २३ प्राचीन लिङ्गानुशासनोका उल्लेख किया है।^१ उसमें संख्या १८ पर 'नन्दिकृत लिङ्गानुशासन' का निर्देश है। इससे भी हमारे विचारकी पुष्टि होती है कि आचार्य हेमचन्द्र द्वारा नन्दी-नामसे स्मृत आचार्य देवनन्दी ही है।

लिङ्गानुशासन छन्दोबद्ध था—हेमलिङ्गानुशासन विवरणमें उद्धृत पूर्व वचनसे प्रतीत होता है कि देवनन्दी प्रोक्त लिङ्गानुशासन छन्दोबद्ध था।

लिङ्गानुशासन-व्याख्या—आचार्य देवनन्दीने अपने लिङ्गानुशासनपर कोई व्याख्या भी लिखी थी। हेमचन्द्र अपने लिङ्ग विवरणमें लिखता है—**“नन्दिनः गुणवृत्तेस्त्वाश्रयलिङ्गता स्वादुरोदनः, स्वाद्वी पेया, स्वादु पयः ।”** आचार्य हेमचन्द्रने यह पङ्क्ति अथवा अभिप्राय निश्चय ही जैनेन्द्रलिङ्गानुशासनकी व्याख्यासे लिया होगा।

व्याकरणके अन्य ग्रन्थ

पूर्वलिखित धातुपाठ, गणापाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन इन ४ खिलोंके अतिरिक्त जैनेन्द्र शब्दानुशासनसे संबन्ध रखनेवाले न्यूनातिन्यून तीन ग्रन्थ और थे। उनके नाम हैं—वार्तिकपाठ, परिभाषा पाठ, शिक्षा।

वार्तिक-पाठ—अभयनन्दीकी महावृत्तिमें जैनेन्द्र शब्दानुशासनसे संबन्ध रखनेवाले बहुतसे वार्तिक व्याख्यात हैं। ये वार्तिक किसके हैं, यह अज्ञात है। इसी प्रकार महावृत्तिमें समस्त वार्तिक व्याख्यात हैं अथवा उसमें काशिकाके समान अधिक उपयोगी वार्तिकोंका ही सन्निवेश है, यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जैनेन्द्र वार्तिक पाठका स्वतन्त्र ग्रन्थ अभी तक प्रकाशमें नहीं आया।

आर्य श्रुतकीर्तिने अपनी पञ्चवस्तुप्रक्रियाके अन्तमें जैनेन्द्रशब्दानुशासनपर रचे गये किसी भाष्य ग्रन्थकी सूचना दी है। यह भाष्य इस समय अनूपलब्ध है। स्वयं आचार्य पूज्यपादने भी अपने शब्दानुशासनपर एक न्यास लिखा था, वह भी अप्राप्य है। अतः जैनेन्द्रसे संबद्ध वार्तिक पाठकी रचना किसने की यह अज्ञात है।

वार्तिक अभयनन्दी विरचित नहीं हैं—महावृत्तिमें व्याख्यात वार्तिक अभयनन्दी विरचित नहीं हैं, क्योंकि उसमें स्थान-स्थानपर पातञ्जल महाभाष्यके समान वार्तिकोंका निराकरण करके सूत्र-द्वारा कार्यका

१. अग्नेयीमें पृष्ठ ११ पर, संस्कृतमें पृष्ठ ३४ पर।

जैनेन्द्र-व्याकरणम्

नेर्वाह दर्शाया है। यथा—उदित्कार्यं वर्णकार्यं च तदन्तादपि भवतीति वक्तव्यं भवती, अतिभवती, दाक्षिः । नैतद् वक्तव्यम् । पृष्ठ १५ । यदि वार्तिक अभयनन्दी विरचित होते तो वह स्वयं अनर्थक वार्तिक रचकर उनका खण्डन न करता । इतना ही नहीं, अभयनन्दीसे पूर्ववर्ती विद्यानन्द^१ जैनेन्द्र महावृत्ति १।४।३७ में पठित 'प्यखे का वक्तव्या' वार्तिकका अष्टसहस्री [पृष्ठ १३२] में 'प्यखे कर्मण्युपसंख्यानात्' इस रूपमें अर्थतः अनुवाद करता है। 'प्य, ख' ये जैनेन्द्रके पारिभाषिक प्रयोग हैं।

अभयनन्दीकी वृत्तिमें वार्तिकोंके व्याख्यात होने तथा अष्टसहस्रीमें उद्धृत होनेसे इतना तो निश्चय है कि ये अभयनन्दीसे प्राचीन हैं। हमारा विचार है कि व्याकरण संबंधी अन्य ग्रन्थोंके समान वार्तिकपाठ भी आचार्यने स्वयं रचा होगा।

परिभाषा-पाठ—परिभाषाएँ व्याकरण शास्त्रका महत्वपूर्ण भाग हैं। परिभाषाएँ दो प्रकार की हैं। कुछ सूत्रकार द्वारा स्वयं सूत्रोंमें पठित होती हैं। यथा—इको गुणवृद्धी [अष्टा० १।१।३] इकस्तौ [जैनेन्द्र० १।१।१७]। कुछ सूत्रसे बहिर्भूत होती हुई भी सूत्रकार-द्वारा स्वीकृत होती हैं। पाणिनीय व्याकरणसे संबद्ध परिभाषाएँ व्याडिकृत मानी जाती हैं।^२ भाष्यकार पतञ्जलिने अनेक परिभाषाओंको सूत्रोंसे ज्ञापित किया है, अनेकको वे बिना ज्ञापकके प्रमाण मान लेते हैं। अभयनन्दीकी महावृत्तिमें अनेक परिभाषाएँ उद्धृत हैं। कतिपय परिभाषाओंके ज्ञापक भी लिखे हैं। इन परिभाषाओंका पाठ पाणिनीय परिभाषाओंके समान होते हुए भी स्वतन्त्रानुसार परिवर्तित है। जैनेन्द्र संबद्ध परिभाषाओंका प्रवक्ता कौन है, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। परिभाषा पाठका स्वतन्त्र ग्रन्थ हमारे देखनेमें नहीं आया।

परिभाषाओंकी व्याख्या—इन जैनेन्द्र, परिभाषाओंकी व्याख्या भी किसी प्राचीन ग्रन्थकारने की थी। अभयनन्दी १।१।१७ पर लिखता है—सशिपातपरिभाषाया अनित्यतां वच्यति। यहाँ 'वच्यति' क्रियाका कर्ता कौन है, यह अज्ञात है। परन्तु इससे इतना स्पष्ट है कि अभयनन्दीसे पूर्व किसीने परिभाषाओंकी व्याख्या रची थी। इस प्रकारका विचार परिभाषा वृत्तिमें ही सम्भव हो सकता है।

आचार्य हेमचन्द्रने अपने व्याकरणसे संबद्ध परिभाषाओंके स्वयं ही रचना की और स्वयं ही उनको व्याख्या की। इसी प्रकार आचार्य पूज्यपादने भी स्वयं परिभाषा पाठ और उसकी व्याख्या लिखी हो यह सम्भव हो सकता है।

शिक्षा—अभयनन्दीने १।१।२ की वृत्तिमें लगभग ४० शिक्षासूत्र उद्धृत किये हैं। ये अधिकांशमें आपिशलि शिक्षासूत्रोंसे मिलते हैं^३। पुनरपि इनका प्रवचन जैनेन्द्र व्याकरणकी प्रक्रियानुसार किया हुआ है, यह दोनोंकी तुलनासे स्पष्ट है। यद्यपि ये जैनेन्द्र सम्बन्धी शिक्षासूत्र किसके द्वारा प्रोक्त हैं, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता, तथापि जैसे आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोमीने अपने-अपने शब्दानुशासनोंसे सम्बद्ध शिक्षासूत्रोंका प्रवचन किया। इसी प्रकार सम्भव है आचार्य देवनन्दीने इन शिक्षासूत्रोंका भी प्रवचन किया हो। इसका विशेष वर्णन हम 'शिक्षाका इतिहास' नामक ग्रन्थमें करेंगे [पाण्डुलिपि प्रायः तैयार हो चुकी है।

१. देखो, श्री प्रेमीजीका 'देवनन्दीका जैनेन्द्र व्याकरण' लेख, यही ग्रन्थ पृष्ठ २४।

२. सं० व्या० शा० का इतिहास पृष्ठ २०७।

३. देखो महावृत्ति पृष्ठ ४५५, ४५६। इस सूचीमें कुछ परिभाषाएँ रह गई हैं। यथा—पृष्ठ १२ पर उद्धृत—“अनुबन्धकृतमनेकालत्वं न” परिभाषा।

४. देखो हमारे द्वारा सम्पादित तथा प्रकाशित 'शिक्षा-सूत्राणि' [आपिशलि, पाणिनीय तथा चान्द्र]।

आचार्य पूज्यपादके अन्य ग्रन्थ

श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने लेखमें आचार्य पूज्यपादके निम्न ग्रन्थोंका उल्लेख किया है—

उपलब्ध ग्रन्थ—१. सर्वार्थसिद्धि, २. समाधितन्त्र ३. इष्टोपदेश, ४. दशभक्ति ।

अनुपलब्ध, परन्तु ज्ञात ग्रन्थ—१. शब्दावतार न्यास, २. जैनेन्द्र न्यास, ३. वैद्यक ग्रन्थ [नाम अज्ञात], ४. सार-संग्रह, ५. जैनाभिषेक ।

वैद्यक ग्रन्थके सम्बन्धमें नये प्रमाण—१. आचार्य पूज्यपाद रचित वैद्यक ग्रन्थका उल्लेख श्री प्रेमीजीके लेखके पृष्ठ १९, टि० १ पर उद्धृत श्रवणत्रेल्गोलके ४० वें शिलालेखके चतुर्थ श्लोकके तृतीय चरणके 'स्वास्थ्यं यदीयम्' पदोंमें भी मिलता है ।

२. जैन आचार्य उग्रादित्य-विरचित कल्याणकारक नामक ग्रन्थमें भी पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थका निर्देश है ऐसा ज्ञात हुआ है [स्वयं नहीं देखा] ।

आचार्य पूज्यपादका नूतन परिज्ञात ग्रन्थ-छन्दःशास्त्र—आचार्यने छन्दःशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ लिखा था, इसकी सूचना श्रवणत्रेल्गोलके ४० वें शिलालेखके चौथे श्लोकके तृतीय चरणके 'छन्दः' पदसे मिलती है । श्री प्रेमीजीसे इसका संकेत रह गया प्रतीत होता है । जैनेन्द्र छन्दःशास्त्रका विस्तृत वर्णन हम अपने 'छन्दःशास्त्रका इतिहास' में करेंगे । यह लिखा जा रहा है ।

इस प्रकार आचार्य पूज्यपादके व्याकरणातिरिक्त उपलब्ध और अनुपलब्ध ग्रन्थोंकी संख्या १० हो जाती है ।

हमारे विचारानुसार आचार्य विरचित जैनेन्द्र व्याकरण सम्बन्धी निम्न ग्रन्थ थे—

जैनेन्द्र सूत्रपाठ, जैनेन्द्रन्यास, धातुपाठमूल, धातुपारायण, गणपाठ, उग्रादिसूत्र, लिङ्गानुशासन, लिङ्गानुशासन व्याख्या, वार्तिकपाठ, परिभाषापाठ और शिक्षासूत्र ।

सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठके अतिरिक्त अन्य सभी ग्रन्थोंको ढूँढनेका प्रबल प्रयत्न होना चाहिए । ये ग्रन्थ निश्चय ही किन्हीं जैन ग्रन्थगारोंमें छिपे पड़े होंगे । उनका उद्धार परम आवश्यक है । धातुपाठ और गणपाठके हस्तलेखोंको भी उपलब्ध करनेका प्रयत्न करना चाहिए । जिससे इनकी पाठशुद्धिमें सहायता मिले ।

जैनेन्द्रके व्याख्याग्रन्थ

जैनेन्द्र शब्दानुशासनपर अनेक ग्रन्थ लिखे गये । उनमेंसे जैनेन्द्रन्यास, भाष्य, अभयनन्दीकी महावृत्ति, प्रभाचन्द्रका शब्दाभोजभास्कर न्यास, पञ्चवस्तु, लघुजैनेन्द्र और जैनेन्द्र प्रक्रिया नामक ग्रन्थोंका उल्लेख श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'देवनन्दीका जैनेन्द्र व्याकरण' नामक लेखमें किया है । इनमेंसे न्यास और भाष्य ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध हैं । उपलब्ध ग्रन्थोंमें अभयनन्दीकी वृत्ति ही सबसे प्राचीन है ।

अभयनन्दीसे प्राचीन अनेक वृत्तियाँ—अभयनन्दीने महावृत्तिके आरम्भमें एक श्लोक लिखा है—

यच्छब्दलक्षणमसुत्रजपारमन्यैरव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः ।

तत्सर्वलोकहृदयप्रियचास्वाक्यैर्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम् ॥

अर्थात्—कठिनतासे पार पाने योग्य जिस शब्दलक्षणको दरिद्रोंने व्याख्या करनेमें स्पष्ट नहीं किया, उस सम्पूर्ण शब्दलक्षणको अभयनन्दी मुनि सबके हृदयोंको प्रिय लगनेवाले सुन्दर वाक्योंसे स्पष्ट करता है ।

उक्त श्लोकके पूर्वार्धसे स्पष्ट है कि अभयनन्दीसे पूर्व इस जैनेन्द्र शब्दानुशासनपर ऐसी अनेक वृत्तियाँ बन चुकी थीं, जिनमें सूत्रोंकी पूर्ण स्पष्ट व्याख्या नहीं थी । ये व्याख्याएँ लघुवृत्तिके रूपमें थीं, यह 'दरिद्रैः' पदसे व्यक्त होता है ।

अभयनन्दीका काल—अभयनन्दीका काल विवादास्पद है । डाक्टर वेल्बेल्करने अपने 'सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर' में अभयनन्दीका काल सन् ७५० [वि० ८०७] माना है [पैराग्राफ ३०] । अभयनन्दीकी

महावृत्ति ३।२।५५ में मद् अकलंक [जिनका काल ८०० विक्रम माना जाता है] के तत्त्वार्थवार्तिक का उल्लेख है। इससे यह वृत्ति उसके बाद की है, यह निश्चित है। हमने अपने सं० व्या० शास्त्रका इतिहास ग्रन्थमें अभयनन्दीका काल विक्रम संवत् १०००-१०५० के मध्यमें लिखा है [पृष्ठ ४२६]। अभी इस विषयमें अनुसंधानकी आवश्यकता है।

अभयनन्दीकी महावृत्ति—जैनेन्द्र व्याकरणके वाङ्मयमें महावृत्तिका वही गौरवपूर्ण स्थान है जो पाणिनीय व्याकरणमें काशिका का है। यह महावृत्ति काशिकासे भी अधिक विस्तृत है। इसका ग्रन्थ परिमाण १२ सहस्र श्लोक है। ग्रन्थकारने अपनी वृत्तिके सम्बन्धमें पूर्वनिर्दिष्ट श्लोकमें जो लिखा है वह पूर्णतया सत्य है, उसमें यत्किञ्चित् अतिशयोक्ति नहीं है।

अभयनन्दीका पाण्डित्य—निश्चय ही अभयनन्दी व्याकरण शास्त्रमें परम निपुण थे। उनका व्याकरण विषयक-ज्ञान केवल जैनेन्द्र तक सीमित नहीं था, अपितु पाणिनीय व्याकरणमें भी उनकी अप्रत्याहत गति थी। यह इस वृत्तिके सूक्ष्म अध्ययनसे पदे-पदे स्पष्ट होता है। महावृत्तिमें कई स्थल उनके व्याकरण विषयक अभूतपूर्व पाण्डित्यका निदर्शन कराते हैं। यथा १।२।१६ सूत्रकी व्याख्यामें “प्रविनय्य” प्रयोगकी सिद्धिके सम्बन्धमें जो विचार किया है, वह हमें अन्यत्र उपलब्ध नहीं हुआ।

महावृत्तिके उपजीव्य ग्रन्थ—यद्यपि अभयनन्दीने अपनी महावृत्तिकी रचनामें निस्सन्देह जैनेन्द्र न्यास, प्राचीन लघु वृत्तियाँ, पातञ्जल महाभाष्य आदि सभी ग्रन्थोंसे सहायता ली है, तथापि सूत्र व्याख्या शैली और वाक्य विन्यासमें काशिकावृत्तिका प्रभाव अधिक प्रतीत होता है।

पातञ्जलिके पदचिह्नोपर—[क] पातञ्जलिने जिस प्रकार पाणिनि और कात्यायनके प्रति सम्मानकी भावना रखते हुए उनके सूत्र तथा वार्तिककी सूक्ष्म विवेचना करते समय पाणिनि और कात्यायनके गौरवसे प्रभावित हुए त्रिना अपना निर्णय प्रकट किया है, उसी प्रकार अभयनन्दी मुनिने भी अनेक स्थलों पर जैनेन्द्र वार्तिकोंका निष्प्रयोजनत्व दर्शाया है। यथा—पृष्ठ १५ पर “उगित् कार्यम्” तथा पृष्ठ २६ पर ‘दाणश्च सा’ वार्तिक का।

[ख] जैसे पातञ्जलिने पाणिनीय सूत्रोंसे साक्षात् असिद्ध प्रयोगोंका साधुत्व दर्शानेके लिए योगविभाग रूपी कौशल दिखाया है। उसी प्रकार अभयनन्दीने भी योगविभाग-द्वारा अनेक पदोंका साधुत्व दर्शानेका प्रयत्न बहुत स्थानोंपर किया है।

महावृत्तिकी एक महती विशेषता—महावृत्तिकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें पाणिनि पातञ्जलि चन्द्र तथा पूज्यपाद द्वारा असंगृहीत प्राचीन व्याकरण-नियमोंका यत्र तत्र संग्रह उपलब्ध होता है। यथा [१।२।१]—

‘भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते । इको यणिभर्वावधानमनेकेषामिति संग्रहः ।’

अर्थात्—‘भूवादयो धुः’ [१।२।१] सूत्रमें ‘भू+आदयो’ के मध्यमें वकारका निर्देश व्याकरणका लक्षण बतलानेके लिए रखा गया है। अनेक आचार्योंके मतमें ‘इक् से परे यण्का व्यवधानं होता है’, इस लक्षणका संग्रह वकारसे दर्शाया है।

१. कलकत्ताके श्री पं० क्षितीशचन्द्र जी चट्टोपाध्यायने ‘टेक्निकल टर्म्स आफ संस्कृत ग्रामर’ [पृष्ठ ७१] में इस कारिका तथा महावृत्तिमें आगे व्याख्यात दो चरणोंका पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—“भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते । व्यवधानमिको यणिभर्वावधानमनेकेषामिति वदेरौणादिके इति । भूवादय इति ज्ञेया भूवोऽर्था वादयोऽथवा ।”

२. इस सन्धि तथा इससे पदसिद्धि-प्रक्रियापर पड़नेवाले प्रभावके लिए हमारा सं० व्या० शा० का इतिहास, पृष्ठ २१-२४ विशेष रूपसे देखना चाहिए।

हमारी दृष्टिमें अभीतक सबसे प्राचीन यही ग्रन्थ है, जिसमें यणव्यवधान-सन्धि का साक्षात् उल्लेख किया है।^१ आगे वृत्तिकारने महाभाष्योक्त वकारके मंगलार्थत्वका खण्डन किया है। हमारे विचारमें 'मङ्गलार्थः प्रयुज्यते' लेखमें पतञ्जलिका 'मंगल' का वह भाव नहीं है जो जनसाधारणमें प्रसिद्ध है। अपितु यहाँपर अध्येता छात्रोंका मंगल अभिप्रेत है। इसकी व्याख्यामें स्पष्ट कहा है—अध्येतारश्च मंगलार्था यथा स्युः। अध्येताओंका मंगल लक्षण ज्ञानसे ही सम्भव है।^२

महावृत्ति मध्यमध्यमें त्रुटित—यद्यपि महावृत्तिका यह संस्करण पाँच हस्तलेखोंके आधार लुपा है, परन्तु इसमें अनेक स्थलोंपर कई-कई सूत्रोंकी व्याख्या खरिडत है। देखो पृष्ठ २८८, ३१७, ३५८। इससे स्पष्ट है कि ये पाँचों हस्तलेख किसी एक ही मूल प्रतिकी प्रतिलिपियाँ हैं। अतः इसकी पूर्तिके लिए अन्य हस्तलेख प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

जैनेन्द्र व्याकरण तथा महावृत्तिका मुद्रण

आजसे ४६ वर्ष पूर्व काशीकी लाजरस कम्पनीकी ओरसे सन् १९१० में महावृत्ति सहित जैनेन्द्र व्याकरणका मुद्रण आरम्भ हुआ था। इसके सम्पादक थे, विन्धेश्वरीप्रसाद द्विवेदी। इसका मुद्रण तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके ६०वें सूत्र तक ही होकर रह गया। तब से यह परमोपयोगी ग्रन्थ अधूरा ही रहा। यह परम सौभाग्यका विषय है कि भारतीय ज्ञानपीठ काशीने इस ग्रन्थरत्नको प्रकाशमें लानेका महान् प्रयत्न किया। उसीका यह फल है कि ४६ वर्षके अनन्तर यह ग्रन्थ पूरा छपकर प्रकाशमें आया है। इसके लिए उक्त संस्था अत्यन्त धन्यवादकी पात्र है। इस संस्थाने इसी प्रकारके अनेक दुर्लभ ग्रन्थोंका प्रकाशन करके समस्त भारतीयों, विशेषकर जैनमतानुयायियोंका महान् उपकार किया है। हमारी यही कामना है कि यह संस्था भविष्यमें भी इसी प्रकार अपना कार्य करनेमें समर्थ हो, दिन दूनी रात चौगुनी फले फूले।

महावृत्तिका नूतन संस्करण—भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित महावृत्तिका यह संस्करण निस्सन्देह महान् परिश्रमका फल है। इसके सम्पादनमें ५ हस्तलेखोंसे सहायता ली गई है। इतना प्रयत्न करनेपर भी इसके सम्पादनमें कुछ कमियाँ रह गई हैं। उनकी ओर भी संकेत कर देना हम उचित समझते हैं, जिसे आगामी संस्करणमें उसका परिमार्जन हो सके।

क—अनेक स्थानोंपर उद्धृत जैनेन्द्र सूत्रोंके पते देने रह गये हैं। यथा—पृष्ठ ११ पं० २—जेरिति दीत्वम्—'जेः' ४।३।२३४ का सूत्र है, यहीं पृष्ठ पं० १३—शास इत्येवमादिषु—'शास' यह ४।४।३३ का प्रतीक है।

ख—वृत्तिमें उद्धृत उद्धरणोंके पते देने रह गये। यथा—पृष्ठ २४ पङ्क्ति २६—'एति जीवन्तमानन्दः'। यह रामायण सुन्दरकाण्ड सर्ग ३४ श्लोक ६ का तृतीय चरण है। पृष्ठ ११९ पं० ६ पर निर्दिष्ट 'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः' कारिका महाभाष्य ३।३।१ की है। इसी प्रकार १।२।१२१ सूत्रपर उद्धृत कारिकाएँ भी महाभाष्य की हैं।

ग—कई स्थानोंपर कुछ अधिक सावधानता वर्ती जाती तो अनेक पाठ ठीक हो सकते थे। यथा—पृष्ठ ११९ पं० ३ पर मुद्रित 'अण्डः। जृकृसृवृडः' पाठ 'अण्डो जृकृसृवृडः' चाहिए। पृष्ठ ८ पं० ५—'कृतः। कृतवान्। भूतवर्तमाने.....'। यहाँ 'कृतः। कृतवान्। "तः" [२।२।८५] भूत इति वर्तमाने.....'

१. यद्यपि शाकटायन लघुवृत्ति [पृष्ठ २३] में यह नियम उल्लिखित है। उसका काल अनिश्चित है। अमोघवृत्तिमें इसका उल्लेख है या नहीं यह हमें ज्ञात नहीं।

२. महाभाष्यकी पंक्तिका यह अभिप्राय हमें महावृत्तिके प्रकाशमें ही समझमें आया।

पाठ चाहिए। 'भूत इति वर्तमाने' आदि पदों द्वारा जिस सूत्रकी वृत्ति लिखी है वह, 'तः' [२।२।८५] सूत्र यहाँ वृत्तित है।

ब - अनेक स्थानोंपर वृत्तिमें उद्धृत जैनेन्द्र सूत्र तथा परिभाषा आदिको भिन्न टाइपमें करना रह गया है।

ड—कहीं-कहीं सम्पादकीय टिप्पणियोंमें भी भूल प्रतीत होती है। यथा—पृष्ठ १६ पं० १६ पर [४ अन्यथा अनिदित इति उडः खस्य प्रतिषेधः स्यात् ।] पर टिप्पणी है—४. कोष्ठ स्थितः पाठोऽप्रासंगिक इव भाति। "अलुडः—क्लित्यनिदितः" इत्यस्यात्राप्रवृत्तेः। प्रतीत होता है यह पङ्क्ति पाणिनीय व्याकरणकी प्रक्रियाकी भ्रान्तिसे लिखी गई है। 'हन्स्त्' इस अवस्थामें 'त' के परे रहने पर 'यस्ये तदादि गुः' [जै० १।२।१०२] सूत्रसे 'हन् स्' की 'गु' [पाणिनीय अंग] संज्ञा है। जैनेन्द्र प्रक्रियानुसार २।१।३८ सूत्रसे 'सि' प्रत्यय होता है, उसका इकार इत् है। गुके इदित होनेसे 'हलुडः क्लित्यनिदितः' [४।४।२३] सूत्रकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उसकी प्रवृत्ति न होनेसे उड् [= उपधा] के 'न्' का लोप नहीं हो सकता। अतः कोष्ठान्तर्गत पङ्क्ति सर्वथा शुद्ध है।

इन सब कमियोंने रहने पर भी जो संस्करण प्रकाशित हुआ है, वह निस्सन्देह महान् प्रयत्नका फल है। प्रथमवार इतना सुन्दर संस्करण प्रकाशित हो गया, यह महान् संतोषकी बात है।

ग्रन्थके सम्पादनमें कितना परिश्रम पड़ता है, यह भी भुक्तभोगी ही जान सकता है। हाँ, ग्रन्थको सर्वाङ्गसुन्दर बनानेका लक्ष्य तथा उसके लिए सर्वविध प्रयत्न सम्पादकका अवश्य होना चाहिए। तत्पश्चात् जो कार्य हो जाय उससे सन्तुष्ट रहते हुए अगले संस्करणको सर्वात्मना श्रेष्ठ बनानेका प्रयत्न होना चाहिए।

जेनेन्द्रमहावृत्तिः

आचार्यदेवनन्दिप्रणीतम्
जैनेन्द्र-व्याकरणम्

अभयनन्दाचार्यकृतमहावृत्तिसहितम्

देवदेवं जिनं नत्वा सर्वसत्त्वाभयप्रदम् ।

शब्दशास्त्रस्य सूत्राणां महावृत्तिर्विच्यते ॥ १ ॥

यच्छब्दलक्षणम् सुव्रजपारमन्यैरव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः ।

तत् सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यैर्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम् ॥ २ ॥

शिष्टाचारपरिपालनार्थमादाविष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मङ्गलमिदमाहाचार्यः—

लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य निरवद्याऽवभासते ।

देवनन्दितपूजेशे नमस्तस्मै स्वयम्भुवे ॥

लक्ष्मीः श्रीः । सैव विशिष्यते—अन्तमतिक्रान्तः कालोऽत्यन्तः तत्र भवा आत्यन्तिकी अविनश्वरी आत्मस्वभावाधीना केवलज्ञानदिशिः परिच्यते । अवद्याद् गह्वान्निष्क्रान्ता निरवद्या निर्दोषा, अवभासते शोभते, यस्य भगवतः, यस्येति सर्वनामपदस्य सामान्यवाचित्वेऽपि अन्यस्यैवविधा श्रीर्न सम्भवतीति पारिशेष्यादर्हद्वारकस्य ग्रहणम् । यच्छब्दाभिहितोऽर्थस्तच्छब्देन परामृश्यत इति तस्मै देवनन्दितपूजेशे स्वयम्भुवे नमः । 'अस्तु' इत्यध्याहारः, देवाः सुराः तैर्नन्दिता अभिवर्द्धिता सा चासौ पूजा च तस्याः, 'ईष्ट' इति क्विपि कृते देवनन्दितपूजे, तथा स्वयमात्मना भवतीति स्वयम्भूः । नमःशब्दयोगे सर्वत्र ङेर्भवति ।

लोके प्रसिद्धसाधुत्वानां शब्दानामन्वाख्यानार्थमिदमारभ्यते । अन्वाख्यानञ्च प्रकृत्यादिविभागेन सामान्यविशेषवता लक्षणेन शब्दानां व्युत्पादनम् । तच्च शब्दार्थसम्बन्धमन्तरेण न सम्भवति । शब्दार्थसम्बन्धसिद्धि-श्वानेकान्ताधीनेत्यत आह—

सिद्धिरनेकान्तात् ॥१॥१॥ प्रकृत्यादिविभागेन व्यवहाररूपा श्रोत्रग्राह्यतया परमार्थतोपेता प्रकृत्यादिविभागेन च शब्दानां सिद्धिः अनेकान्ताद्भवतीत्यर्थाधिकार आ शास्त्रपरिसमाप्तेर्वैदितव्यः । अस्तित्वनास्तित्वनित्यनानित्यत्रसानान्यसामानाधिकरण्यादिशेषेभ्यो विशेषेभ्योऽनेकः अन्तः स्वभावो यस्मिन् भावे सोऽयमनेकान्तः अनेकात्मा इत्यर्थः । तस्यावग्रहेहावायधारणात्मकं प्रत्यक्षं तद्व्यवहारान्यथानुपपत्तेरितीदमनुमानञ्च साधकम् । अथास्तित्वनास्तित्वनादीनां परस्परविरुद्धानां कथमैकाधिकरण्यमसङ्कीर्णरूपता च ? यथा भवतामेकत्र हेतौ अन्वयव्यतिरेकयोः जनके रसे वा जन्यमानरूपरसापेक्षयोः सहकारित्वासहकारित्वयोः । अथ हेतौ सपक्षविपक्षपेक्षया रूपद्वयं रसे च सभागासभागक्रायापेक्षया; अत्रापि तर्हि स्वरूपपररूपापेक्षयाऽस्तित्वनास्तित्वे द्रव्यपर्यायपेक्षया च नित्यत्वानित्यत्वे, द्रव्यपर्याययोश्चान्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धिरित्यास्तां तावदेतत् । अनेकान्तादितीदमेव ज्ञापकम्, हेतौ कापि भवति । तेनानित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यादि सिद्धम् ।

१. दुस्तरम् । २. तस्मै नमः इति शेषः । ३. सम्बन्धान्तरेण अ०, सु० । ४. 'प्रकृत्यादिविभागेन' इति पुनरुक्तः । ५. —मैक्याधि—मु० । ६. जनकयोरपि मु० । ७. च भागा—अ० । ८. पञ्चम्यपि ।

उत्तरत्र त्वेकदेशान्त्रयोऽधिकार इति । वक्ष्यति—“सस्थानक्रियं स्वम् [११२] इति । एतच्च वस्तुना साधर्म्य-
वैधर्म्यात्मकेऽनेकान्ते सत्युपपद्यते । तथा हि अकाराकारयोः ह्रस्वदीर्घकालभेदेन वैधर्म्येऽपि तुल्यस्थानकरणत्वेन
साधर्म्यमस्तीति स्वसञ्ज्ञाव्यवहारः सिध्यति । यदि हि साधर्म्यमेव स्यात्; तदाश्लित्वेनैवान्यैरपि धर्मैः
साधर्म्ये सर्वमेकं प्रसज्येत । यदि च वैधर्म्यमेव; तदा कस्यचिदस्तित्वमपरस्य नास्तित्वमन्यस्य चान्यत् स्यात् ।
“अधु मृत्” [११५] इति अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थवच्छब्दरूपं मृत्सञ्ज्ञकमनेकान्तात् सिध्यति । तथा हि—
विभक्त्यन्तस्य च शब्दस्य प्रयोगादर्थे ज्ञानमुत्पद्यत इति सङ्घाता अर्थवन्तो दृष्टाः; तदवयवानामप्यन्वयव्यतिरेका-
भ्यामर्थवत्ता जायते । वृत्तावित्यत्र, विसर्जनीयाभावादेकत्वार्थो निवृत्तः, औकारभावाद् द्वित्वं जातम् । अका-
रान्तवृत्तशब्दान्वयाजातिरन्वयिनी प्रतीयते । अन्वयव्यतिरेकौ च भावाद्येकान्तवादे न स्तः । तथा “ध्यपाये
ध्रुवमपादानम्” [१२११०] इत्यादिषट्कारकौ नित्यक्षणिकपन्नयोर्नोपपद्यते व्यपायध्रौव्याद्यभावात् । उक्तं च—

“इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो

व्ययोर्यमनुषङ्गजं फलमिदं दर्शयं मम ।

अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतदेशकालाविमा-

विति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः ॥”

सस्थानक्रियं स्वम् ॥ ११२ ॥ स्थानं तात्वादि, क्रिया स्पृष्टतादिका । समाना स्थाने क्रिया यस्य,
सामर्थ्यात् स्थानमपि समानं लभ्यते । अथवा समानं स्थानक्रियं यस्य, समानस्येति योगविभागात् सादेशः,
तत् सस्थानक्रियं स्वसंज्ञं भवति । आत्मलाभमापद्यमाना वर्णास्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानं वर्णोत्पत्तिस्थानमित्यर्थः ।
तदष्टविधम्—

“अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः करठः शिरस्तथा ।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥” इति ।

द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुरान्तरः परिस्पन्दः क्रिया । सा चतुर्विधा—स्पृष्टता ईषत्स्पृष्टता विवृतता
ईषद्विवृतता चेति । ध्वनानुत्पद्यमाने यथा स्थानानि स्पृशति सा स्पृष्टता । मनाक् स्पर्श ईषत्स्पृष्टता । दूरेण स्पर्शो
विवृतता । समीपेन स्पर्शो ईषद्विवृतता । कस्य पुनः किं स्थानम् ? अकुहविसर्जनीयाः करठ्याः । हविसर्जनीया-
बुरस्यवेकेषाम् । जिह्वान्मूलीयो जिह्वघः । सर्वमुखस्थाननवेषामेके मन्यन्ते । इशयन्त्रैतस्मालच्याः । एदैतौ
करठतालव्यावेकेषाम् । उप्वोदौदुपध्मानीया ओष्ठ्याः । ओदौतौ करठोष्ठ्यावेकेषाम् । वकारो
दन्तोष्ठ्यः । सूक्तं स्थानमेके वाञ्छन्ति । ऋदुरपा मूर्धन्याः । रेफो दन्तमूल्य एकेषाम् । लृत्तुलसा दन्त्याः ।
नासिकयोऽनुस्वारः । जमङ्गानाः स्वस्थानाः । नासिकास्थाना एकेषाम् । तेषां स्वसञ्ज्ञाप्रातिर्दोषः । स्पृष्टिः
स्पृष्टं स्पृष्टानुगतं करणं कृतिरुच्चारणमेषामिति स्पृष्टकरणा वर्ग्याः । ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तःस्थाः । ईषद्विवृतकरणा
ऊष्माणः । अद्भुतकरणाः स्वराः । तेभ्य एदौतौ विवृततरौ । तेन दध्येतत् मध्वोदनमिति स्वेऽको दीत्वाभावः ।
ताभ्यामैदौतौ विवृततरौ । तेन दिश्यैन्द्रयां मध्वौषधम् । ताभ्यामवर्णा इति । तेन पित्रर्थः, दध्यत्र, मध्वत्र । अन्ये
संबृतमकारमिच्छन्ति लोके । शास्त्रव्यवहारे तु विवृतम् । एतच्चायुक्तम्, लोकशास्त्रयोश्चरणं प्रन्विशेतात् ।
अयं च प्रपञ्चश्चिन्तनीयः । स्वरेभ्यो विवृततराः “आवर्णैच इति । इत्यपि निर्देशे न दोषं पर्यायः । अ अ इत्य-
कार उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितः । स प्रत्येकं ङसञ्ज्ञकोऽङसंज्ञकः” । एवं दीः, एवं पः । एवमष्टादशप्रभेदोऽवर्णाः
तथा इवर्णाः, तथा उवर्णाः, तथा ऋवर्णाः, तथा लृवर्णाः । कथं लृकारो द्विमात्रः ? अरुः क्रिजान्करणेभ्या ।
सन्ध्याकाराणां प्रा न सन्ति, तान्यतो द्वादशप्रभेदानि । अन्तःस्था यवला द्विप्रभेदाः नासिक्येतरभेदात् । एवमर्थं १३

१. उत्तरसूत्रैक-ब० । उत्तरसूत्रैकदेशाध्याचायो-मु० । २. अनुवृत्तिरित्यर्थः । ३. -नकारण-अ०, स०,

४. -न्यत् । अधु ब०, मु० । ५. च भावावेकान्त-मु० । ६. प्रतिषु ‘द्विषन्’ इति पाठः । ७. पा० शि० १३।

८. पाणिनीयानाम् । ९. ओष्ठप्रान्तयोः सूक्तम् । १०. अवर्णैच ब०, स०, मु० । ११. -कः, एवं प्रः, एवं दीः,

अ०, ब०, स० । १२. -मत्र. चै-अ० ।

चैतैः ण्सु पठ्यन्ते । अणुस्त्वं गृह्णातीति यथा स्यात् । रेफोष्मणां स्वा न सन्ति । वर्ग्यः स्ववर्ग्येण स्वसञ्ज्ञो भवति । मुनीशः । स्थानग्रहणं किम् ? कचटतपानां समानक्रियाणां भिन्नस्थानानां मा भूत् । तर्ता तर्तुमिति । अत्र “भरो भरि स्वे” [५।४।१३६] इति पकारस्य तकारे खं प्रसज्येत । क्रियाग्रहणं किम् ? इचुयशानां समानस्थानानां भिन्नक्रियाणां मा भूत् । तत्र को दोषः ? अरुश्च्योततीत्यत्र “भरो भरि स्वे” [५।४।१३६] इति शकारस्य चकारे खं प्रसज्येत । “ऋकारलृकारयोः स्वसञ्ज्ञा वक्तव्या” [वा०] । पितृ लृकारः पितृकारः । स्वप्रदेशाः “स्वेऽको दीः” [४।३।८८] इत्येवमादयः । शास्त्रलाघवार्थं संज्ञाकरणम् ।

हलोऽनन्तराः स्फः ॥ १।१।३ ॥ हलोऽनन्तराः विजातीयैरङ्गिभरव्यवहिताः सम्बद्धोच्चारणाः स्फसंज्ञा भवन्ति । समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिराश्रीयते । तेन प्रत्येकं स्फसञ्ज्ञा न भवति । हल इति जात्यपेक्षो बहुवचनदेशः । तेन द्वयोर्विहूनां च स्फसञ्ज्ञा । शर्म-कर्मोति रमौ । इन्द्रश्चन्द्र इति नदराः । हल इति किम् ? तितउः । “तनेड उः सन्वच्च” इति डउः । अत्राकारोकारावनन्तरौ स्फान्तखं प्रसज्येत । अनन्तरा इति किम् ? पचति पनसम् । अद्य रूपं प्रत्युदाहरणं पनसमित्यत्र “स्फादेः स्कोऽन्ते च” [४।३।४६] इति सखं स्यात् । स्फ इति वर्णपिण्डेन सञ्ज्ञाकरणं किम् ? एवंरूपः समुदायः स्फसञ्ज्ञो यथा स्यादित्येवमर्थम् । स्फप्रदेशाः “स्फेहः” [१।२।१००] “लिडस्फात् किन्” [१।१।७६] इत्येवमादयः ।

नासिकयो डः ॥ १।१।४ ॥ नासिकायां भवो वर्णो डसञ्ज्ञो भवति । नासिकायाश्चावर्णनगरयोर्नसादेशो ये विहितः । अमङ्गणना उदाहरणम् । परस्परं स्वसञ्ज्ञा स्यात् इति चेत् ; नैवम् ; स्वस्थानप्रभवा एवामी । उपचारात्नासिकयत्वम् । यथा मुखप्रभवोऽपि स्वर उपचारादंशो भवो वंश्य इत्युच्यते । तथापि सति मुख्येऽनुस्वारे नासिक्ये कथमुपचरितग्रहणम् । तस्य डसंज्ञायां प्रयोजनं नास्तीत्यग्रहणम् । डसञ्ज्ञाकार्यं शान्तो दान्त इति “डस्य क्विभ्रलोः ङ्ङिति” [४।४।१३] इति दीत्वम् । नासिक्य इति किम् ? तप्तम् । “अनुदात्तोपदेश” [४।४।३७] इत्यादिना डखञ् प्रसज्येत । पङ्कः पङ्कवान् इत्यत्र “डस्य क्विभ्रलोः” [४।४।१३] इति दीत्वं स्यात् । क्वस्य चासिद्धत्वात् “अनुदात्तोपदेश” [४।४।३७] इत्यादिना डखं च प्रसज्येत ।

अधु मृत् ॥ १।१।५ ॥ धुवर्जितमर्थवच्छब्दरूपं मृत्सञ्ज्ञं भवति । धोरर्थवतः पर्युदासाच्चा [द] र्थवत्त्वं लभ्यते । अर्थश्चाभिधेयो भावाभावरूपः । तत्र भावरूपो जातिगुणक्रियाद्रव्यभेदेन चतुर्विधः । गौः । शुक्लः । पाचकः । इति । अद्रव्यविवक्षायां जात्यादिनार्थवत्त्वम् । द्रव्याभिधाने तु व्यतिरिक्तं व्यपदिश्यते । तेषां द्योतनार्थं टाबादयः स्वादयश्चोत्पद्यन्ते । एवं डित्थो डवित्थः । कुण्डं पीठम् । अभावरूपाभिधाने अभावो विनाशः । शाशविषाणम् । अध्विति किम् ? अहन् । मृत्वे नखं स्यात् । पर्युदासादर्थवदिति किम् ? धनं वनम् । नकारावधेर्मृत्सञ्ज्ञायां नखं प्रसज्येत । लृः पूरिति क्व्यन्तस्य धृत्येऽपि कृदन्तत्वान् मृत्सञ्ज्ञा । मृत्प्रदेशाः “ड्यामृदः” [३।१।१] इत्येवमादयः ।

कृद् धृत्साः ॥ १।१।६ ॥ कृदन्तं हृदन्तं ससञ्ज्ञकञ्च मृत्सञ्ज्ञं भवति । कृत्-ज्ञाता । ज्ञातव्यम् । हृत्-प्राजापत्यः । आकम्पनिः । सः-जिनधर्मः । साधुवृत्तम् । “सिद्धे सत्याग्मो नियमार्थः” [परि०] ‘नियमश्च विधिमुखः प्रतिषेधफलः’ इति त्यान्तेषु कृद्-हृदन्तस्यैव मृत्संज्ञा । इह मा भूत् । असिचन् । अभवन् । उत्पन्नानां स्वादीनः-भेद-निदिन-द-दि-दर्शने स्वाद्युत्पत्तिः स्यात् । इह च काण्डे कुड्ये रमते राजकुलमिति “प्रो नपि” [१।१।७] इति मृत्वात्प्रादेशः स्यात् । सग्रहणमपि नियमार्थम् । अर्थवत्संघातानां ससंज्ञकस्यैव मृत्संज्ञा, वाक्यस्य मा भूत् । साधुधर्मं ब्रूते इति, “सुपो धुमृदोः” [१।४।१४२] इति सुप उप् प्रसज्येत । सग्रहणात् तुन्यजातीयस्यैव सुवन्तसमुदायस्य वाक्यस्य निवृत्तिः, न प्रवृत्तित्यसमुदायस्य । तेन “वा सुपो बहुः प्राक्त्” [४।१।२७] इति वहौ केऽकचि च कृते बहुतृणं कुमारिका उच्चकैः पठतीति मृत्त्वं न निवर्तते । ननु च “सुम्मिडन्तं पदम्” [१।२।१०३]

१.-सम्बन्धो-इति पाठः । २.-ति नै-अ० । ३. खग्रस-इति सुवचम् । ४.-ना तु खं च मु० । ५. स्यात् । अर्थवत्पर्यु-अ०, स० ।—त् । अर्थवतः पर्यु-ब० । ६. न्यायर्त्त० । ७. मुखप्रतिषेधफलमि-मु०, स० । ८. मते । ९. -कचि कृ-मु० ।

इत्यत्रान्तग्रहणादन्यत्र “संज्ञाविधौ त्र्यग्रहणात्तदन्तविधिर्नास्ति” [परि०] इत्युक्तं तत्कथं कृदन्तहृदन्तग्रहणम् ? नायं संज्ञाविधिः । पूर्वेण विहिताया मृतमंज्ञाया नियमोऽयम् । अथवा “सात्” [५।४।७७] इति षत्वप्रतिषेधादिह तदन्त-विधिर्जायते । अन्यथा सादित्येतस्य केवलस्य मृत्वे “नाद्यन्ते” [५।४।७६] इत्यनेनैव प्रतिषेधः सिद्धः स्यात् । अथ “कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्” [परि०] इति कृद्ग्रहणं समुदायविध्यर्थं न नियमार्थम् । तेन देवदत्तेन कृतमित्यादेः समुदायस्य मृत्वात् “सुपो धुष्टदोः” [१।४।१४२] इति सुपः उप् प्रसज्येत । नैष दोषः, “साधनं कृता बहुलम्” [१।३।२६] इति सर्वशब्दानां व्युत्पत्तिरस्तीत्यस्मिन् पक्षे, पूर्वसूत्रे नास्त्युदाहरणं, संज्ञार्थमेव तत् ।

प्रो नपि ॥१।१।७॥ मृदिति वर्तमानमर्थात्तान्तं सम्पद्यते । प्रादेशो भवति नपि वर्तमानस्य मृदः । नविति नपुंसकलिङ्गस्य संज्ञा पूर्वेषाम् । श्रियमतिक्रान्तमतिश्रि । अतिरि । अतिवधु कुलम् । अतिनु जलम् । ईकारैकारौ तालव्यौ । ऊकारौकारौ च ओष्ठयावस्माकम्, ततः “स्थानेऽन्तरतमः” [१।१।४७] इति परिभाषया अन्यस्याचः प्रादेशः । नपीति किम् ? राजकुमारी । अग्रणीः । मृद इति किम् ? रमते कुलम् । नन्वलिङ्गत्वान्तरात् प्रादेशाप्राप्तिर एवात्रापि न प्रादेशः कण्ठीभूतमिति । इह तर्हि मा भूत् । काण्डे तिष्ठतः, कुब्धे तिष्ठत इति । अत्र मृदधिकाराद् मृदमृदोरेकादेशो मृदन्न भवति ।

स्त्रीगोर्नीचः ॥ १।१।८ ॥ न्यभूतो यः स्त्रीत्यः गोशब्दश्च तदन्तस्य मृदः प्रादेशो भवति । स्त्री इति स्वरितचिह्नितनिर्देशात् स्त्रियामित्येवंविहितस्य त्यस्य ग्रहणम् । निष्कौशाग्निः । निर्मथुरः । उभयगतिरिह शास्त्रे । तेन एकविभक्तित्वादप्रधानत्वाच्च शास्त्रीयं लौकिकं च न्यक्त्वं गृह्यते । “त्र्यग्रहणे यस्मात्स तदादेः” इतीयं परिभाषा स्त्रीत्र्यग्रहणान्नेष्यते । तेन—अतितिलपीडनिः । अतिराजकुमारिः । चित्रगुः । श्वेतगुः । वोक्तत्वादप्रधानत्वाच्च न्यक्त्वम् । स्त्री इति स्वरितचिह्नितग्रहणं किम् ? अतिलक्ष्मीः । अतिश्रीः । नीच इति किम् ? साधुविद्या । सुगौः । इह राजकुमारीपुत्रः सुगोकुलमिति यदपेक्षं न्यक्त्वं तत्प्रति तदन्तत्वं नास्तीति न प्रादेशः । मृद इत्यधिकारः किमर्थः ? कुमारीपुत्रः गोकुलम् “वोक्तं न्यक्” [१।३।६३] इति प्रादेशः प्रसज्येत । “ईयसो बसे प्रतिषेधो वक्तव्यः” (वा०) बह्वयः श्रेयस्यो यस्य बहुश्रेयसी पुरुषः । विद्यमानश्रेयसी । सान्तो विधिरनित्य इति “ऋन्मोः” [४।२।१५३] इति कत्रपि न भवति ।

हृदुप्युप् ॥ १।१।९ ॥ स्त्रीग्रहणं नीच इति चानुवर्तते । हृदुपि सति स्त्रीत्यस्य नीच उन्भवति । आमलकम् । कुवलम् । बदरम् । आमलकया अवयवः फलम् । “नित्यं दुश्चारादेः” [३।३।१०६] इति मयट् । इतराम्यां “प्राग् द्रोणम्” [३।१।६८] तयोः “उप् फले” [३।३।१२१] इत्युप् । स्त्रीत्यस्य पूर्वेण प्रादेशो प्राप्ते उबनेन क्रियते । तस्य “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावाद् “यस्य ड्यां च” [४।४।१३६] इत्यकारस्य खं प्रातमीविधिं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधान्न भवति । एवं पञ्चन्द्रः । पञ्चशङ्कुलः । पञ्चेन्द्रायो देवता अस्य “हृदर्थ-” [१।३।४६] इति षतः “संख्यादी रश्च” [१।३।४७] इति रसंज्ञः, “प्राग्द्रोणम्” [३।१।६८] इति, तस्य “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् । स्त्रीत्यस्योपि “सन्नियोगश्चिदानामन्यतरापाये उभयोरप्यभावः” [परि०] इत्यनुको निवृत्तिः । पञ्चभिः शङ्कुलीभिः क्रीतः आर्हाङ्गः “रादुबखौ” [३।४।२६] इत्युप् । हृदिति किम् ? गार्गीपुत्रः । सुप उवत्र । उपीति किम् । गार्गी त्वम् । नीच इत्येव—अवन्ती । कुन्ती । कुरुः । अन्तेरपत्यं स्त्री “द्विकुरुनाद्यजादकोशलाञ्ज्यः” [३।१।१५३] इति व्यः । तस्य “कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम्” [३।१।१५७] इत्युप् । “हृतो मनुष्यजातेः” [३।१।५५] इति डी । “ऊरुतः” [३।१।५६] इति ऊः । अत्र उपि सतीत्युच्यमाने प्रसज्येत ।

इद् गोण्याः ॥१।१।१०॥ इकारादेशो भवति गोण्या हृदुपि सति । पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीतः पञ्चगोणिः । दशगोणिः । आर्हाङ्गो “रादुबखौ” [३।४।२६] इत्युपि कृते स्त्रीत्यस्य पूर्वेणोपि प्राप्तेऽनेन इकारः । गोण्या इति सूत्रे प्रकृतप्रादेशेन सिद्धे इद्वचनं किम् ? क्वचिदन्यत्रापि यथा स्यात् । पञ्चभिः सूचिभिः क्रीतः पञ्चसूचिः । सप्तसूचिः ।

आकालोऽच् प्र-दी-पः ॥१११११॥ आ इति मात्रिकद्विमात्रिकत्रिमात्राणां संहितया निर्देशः । प्र-दी-प इति “सूत्रेऽस्मिन् सुबिधिरिष्टः” [५१२१११४] इति जसः स्थाने सुः । अ आ आइत्येवं काल इव कालो यस्य सोऽच् यथासंख्यं प्र दी प इत्येवंसंज्ञो भवति । अकालः—दधि । मधु । पितृ । आकालः—खट्वा । गौरी । वामोरुः । आ ३ कालः—आगच्छ भो माणव जिनदत्ता ३ इत्यादयः । कालग्रहणं प्रत्येकं परिमाणार्थम् । ततः अकाल इति विशेषणाद् भिन्नकालयोर्दीपयोर्ग्रहणं न भवति । अजग्रहणं किमर्थम् ? हलचां संघातनिवृत्त्यर्थम् । प्रतक्ष्यं । तितउच्छ्रमिति । प्र-दी-पप्रदेशाः “प्रो नपि [११११७] इत्येवमादयः ।

अचश्च ॥११११२॥ परिभाषेयम् । अचः स्थाने ते प्र-दी पसंज्ञका भवन्ति । “प्रो नपि” [११११७] इति । अतिनु । अतिशि । इच्छातो विशेषणविशेष्यभाव इति अजन्तस्य प्रादेशः । अच इति किम् ? सुवाक् पूत-कुलम् । हलः प्रो न भवति । “दीरकृद्गो” [५१२११३४] इति । चीयते । स्तूयते । अच इति किम् ? भिद्यते । “शमित्यामदोदीः” [५१२१०२] इत्यत्र गृह्यमाणेन शमादिनाञ् विशिष्यते इत्यनजन्तस्यापि दीत्वम् । शाम्यति । वाक्यतेः प इत्यत्रापि गृह्यमाणेन टिना अज्जिशिष्यते । आगच्छ भो माणव जिनदत्ता ३ । अच इति किम् ? धर्मवीर्येत् । तकारस्य मा भूत् । चकारः किमर्थः ? संज्ञाविधौ नियमार्थः । इह मा भूत् । द्यौः । पन्थाः । सः । द्युभ्याम् । द्युभिः ।

उच्चनीचावुदात्तानुदात्तौ ॥११११३॥ अजिति वर्तते । उच्चैरुपलभ्यमानोऽच् उदात्तसंज्ञो भवति । नीचैरुपलभ्यमानोऽनुदात्तसंज्ञो भवति । स्थानकृतमुच्चत्वं नीचत्वं च गुणः संज्ञिनो विशेषणम् । समान एव स्थाने ऊर्ध्व-भागनिष्पन्नोऽच् उदात्तसंज्ञो भवति, नीचभागनिष्पन्नोऽनुदात्त इति । “नित्याः शब्दार्थसंबन्धाः” इति वैरिष्यते तेषां निरवयवस्य नित्यस्य शब्दस्य अवयवोपचयापचयाभावात् उदात्तादिव्यपदेशो न घटते, सावयवत्वे च तेषामनित्यत्वं प्राप्नोति । न च नित्यस्य स्थानकरणव्यापारविशेषाद्विशेषः प्रसज्यते । क्षणिकपक्षेऽपि नैका नित्या स्वरजातिरस्ति यामपेक्षायामत्रोच्चैर्यं नीचैरिति परस्परपेक्षो व्यवहारो भवेत् । तस्मादुक्तमनेकान्तमाश्रित्योदात्तादयः समर्थनीयाः । न च लोकप्रतीतेषु शब्देषु विभागोऽनुदात्तादयः प्रतीयन्ते केवलं शास्त्रे व्यवहारार्थं प्रति संज्ञायन्ते । भू इति उदात्तत्वादिट् । भविता । एध स्पर्ध इत्येतयोरन्तोऽनुदात्त इति “हनुदात्ते दोः” [११२१६] इति दो भवति । एधते । स्पर्धते । उच्चनीचगुणविशिष्टस्य ग्रहणं प्रत्येतव्यम् ।

व्यामिश्रः स्वरितः ॥११११४॥ उच्चनीचगुणव्यामिश्रोऽच् स्वरितसंज्ञो भवति । पच यज इत्यन्तस्य स्वरितत्वात् “जस्वरितेतः कर्त्राप्ये फले” [११२१६८] इति दो भवति । पचे । यजे । स्वरितप्रदेशाः “स्वरितेनाधिकारः” [११२१५] इत्येवमादयः ।

आदैर्गैप् ॥११११५॥ प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिराश्रीयते । प्रत्येकमादैचां वर्णानामैक्येषा संज्ञा भवति । पारिशेष्यात्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धो ज्ञायते । तथा हि नानर्थकमिदमाचार्यप्रामाण्यात् । “संघान्ताशासननि न भवति, आदैचां प्रत्याहारे उपदेशात् । ऐप्शब्दस्यापि मृत्संज्ञा सिद्धा । नापि पूर्वापरप्रयोगनियमार्थम् । “सावैम्मे” [५११७७] इत्यन्यथापि प्रयोगदर्शनात् । स्थान्यादेशार्थमपि न संभवति । “अवथात् [अवयवाहतेः]” [५१२१६] “शयो हलि” [५१११४४] “नावो रत्” [४१२१०२] “मृजेरप्” [५१२११] इति च उभयदर्शनात् । लिङ्गाभावात्सामान्यभावः । विशेषणविशेष्यभावोऽपि प्रतीतपदार्थयोर्भवति नीलोत्पलवत् । एवमन्यस्यार्थस्यासम्भवात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः । लघ्वन्तस्य संज्ञा । आदैचामैपा तद्भावात्तानन्दभाद्रितानं च सामान्येनैसंज्ञा । तद्भावितानामु-

१. हलामर्चा च संघातस्य प्र-दी-पसंज्ञानिवृत्त्यर्थः । २. ‘क्ष’ इत्यस्य हलसमुदायस्य ‘प्र’ संज्ञायार्थस्य परतस्तुक् प्रसज्येत । ३. तितउच्छ्रमित्यत्र ‘अउ’ इति अ-उसंघातस्य दीर्घसंज्ञार्था ‘वा पदस्य’ [४१३१६४] इति विभाषया तुक् प्रसज्येत । ४. विशेष्यते अ०, ब०, स० । ५. परिशेषा-ब० । ६. साध्वनुशास-स० । ७. ‘नावो रत्’ अ०, ब०, स० । एतच्च नोपलभ्यते । ‘नावो रत्’ इत्युपलभ्यते परन्तु नोचितमिदमत्र । ग्रन्थस्वारस्यात् ‘अतो नादैर्गैः’ [५११८३] इति प्रतिभाति ।

दाहरणम्—नाडायनः । दैवदत्तिः । औपगवः । अत्रादिभिरन्यत्र—अत्रादिभिरन्यत्र । रैम्यम् । नौम्यम् । विकाराऽर्थे “नित्यं दुःशरादेः” [३।३।१०६] इति मयट् । आदिति तपरकरणमैजर्थम् । तादपि परस्तपर इति । तेन तवैषा महौषधिरित्यादिषु त्रिमात्रचतुर्मात्राणां निवृत्तिः । “आदैगैप्” [१।१।१५] इत्यत्र “सूत्रेऽस्मिन् सुध्विधिरिष्टः” इति जसः स्थाने सुः । एप्रदेशाः “मृजेरैप्” [५।२।१] इत्येवमादयः ।

अद्रेडेप् ॥ १।१।१६ ॥ अद्रेडां वर्णानां प्रत्येकमेवित्येषा संज्ञा भवति । अत्राप्यतद्भावितानां तद्भावितानामदेडामेपसंज्ञा । अतद्भावितानाम्—पचन्ति । पचे । एघन्ते । “एष्यतोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपम् । तद्भावितानाम्—कर्ता । तरति । चेता । स्तोता । ऋकाररथैवैप्रसङ्गे स्थानतोऽन्तरतमौ अकाराकारौ भवतः । तौ च प्रसज्यमानावेव रन्तौ । अदिति तपरकरणं दी-पनिवृत्त्यर्थमेडर्थं च । तेन मालेयं खट्बोढा इत्यत्र त्रिमात्रचतुर्मात्राणां निवृत्तिः । एप्रदेशाः “मिदेरेप्” [५।२।७६] इत्येवमादयः ।

इकस्तौ ॥ १।१।१७ ॥ परिभाषेयम् । ऐवैपौ संज्ञया विधीयमानौ इक एव स्थाने भवतः । स्थानिनियमोऽयं न विधिनियम इति । कुत एतत् ? “सक्थ्यस्थिदध्यक्षणात्” [५।१।५४] इतीको निर्देशात्, एवैपोर्लक्षणान्तरेण विधानाच्च । प्रत्यासत्तेः पूर्वमेबुदाहरणं वक्ष्यति । “गाऽगयोः” [५।२।८१] । करोति । नयति । भविता । “सावैम्मे” [५।१।७७] । अकार्षात् । अनैषीत् । अहौषीत् । इच्छातो विशेषणविशेष्यभावः । “मिदेरेप्” इत्यत्र गृह्यमाणेन मिदादिना इग्विशेष्यते । तेनानन्त्यस्य भवति । “जुसि” [५।२।८०] । “गाऽगयोः” [५।२।८१] इति च गृह्यमाणिका विशेष्यते इतीगन्तस्य भवति । इक इति किम् ? आत्संख्यन्तरव्यञ्जनानां मा भूत् । यानम् । ग्लायति । उभिभता । अत्रान्यत्रान्यत्रान्यत्रैः सम्बन्धे सिद्धे ‘तौ’ग्रहणं संज्ञाविधाने नियमार्थम् । द्यौः । पन्थाः । सः । यत्र स्थानी निर्दिश्यते तत्र नेदं व्याप्रियते । यथा “ग्नित्यचः” [५।२।१३] इति ।

नद्युलेऽगे ॥ १।१।१८ ॥ प्रतिषेधसामर्थ्यादेकदेशे धुर्वर्तते । धोः खं यस्मिन्नगे स धुखः । तन्निमित्तावैवैपौ न भवतः । लोलुवः । पोपुवः । मरीमृजः । यङन्तेभ्यः पचाद्यच् । “यङोऽचि” [१।४।१४४] इति यङ उप । अतः खात् प्रागेव च यङ उबेधितव्यः । अन्यथा देर्ध इत्यत्र अखमजा देश इति कृत्वा तस्य स्थानिवद्भावात् “दीङोऽचि कृडिति युट्” [४।४।६२] इति युट् प्रसज्येत । धुग्रहणं किम् ? लूञ्—लविता । खविधिवर्बलवानिति प्रागेव धुसंज्ञया अनुबन्धनाशः । अत्रागनिमित्तं खं नास्तीति द्यव्यङ्गवैकल्यं नाशङ्कनीयम् । यतो धुग्रहणे सति बसे लभ्यते धोः खं यस्मिन्निति । बसेन अग इत्यस्य विशेषणं किम् ? कनूयी, क्रोपयति । अत्र पुकमाश्रित्य यखं नागनिमित्तमिति न प्रतिषेधः । बसे तु प्रसज्येत । अग इति किम् ? रोस्वीति । गनिमित्त एवभवत्येव । अत्रापि यङ्खमगनिमित्तं न भवतीति द्यव्यङ्गवैकल्यं न मन्तव्यम् ; यतोऽगग्रहणे सति धुखनिमित्तत्वं लभ्यते । इक इत्येव । अभाजि । रागः ।

कृडिति ॥ १।१।१९ ॥ गिति किति डिति च निमित्तभूते यावैवैपौ प्राणुतस्तौ न भवतः । गिति—“ग्लाभूजिस्थः क्स्तुः” [२।२।११५] इति, भूष्णुः । जिष्णुः । किति—चितम् । स्तुतम् । भिन्नम् । मृष्टम् । डिति—चिनुतः । चिन्वन्ति । मृष्टः । मृजन्ति । इक इत्येव । कामयते । अचिनवमित्यत्र लङो डित्वात्कस्माच्च प्रतिषेधः, “सूभवत्योर्मिडि” [५।२।८६] इति । अभूत्^१ । भवतेर्हलादौ मिड्येप्रतिषेधवचनं ज्ञापकं डित्तो लकारस्यादेशो डिन्न भवतीति । यासुटो डित्करणं च ज्ञापकम् ।

ईदूदेद्विदिः ॥ १।१।२० ॥ ईत् ऊत् एत् इत्येवमन्तो यो द्विः स दिसंज्ञो भवति । अग्नी इति । वायू इति । खट्से इति । तद्वदित्यनेन द्वे रद्वे श्चैकादेशो द्विग्रहणेन गृह्यत इतीदाद्यन्तश्च भवति व्यपदेशिवद्भावेन । मुख्यरूपेणार्थं द्विरेकारान्तः । पचेते इति । पचेथे इति । सत्यां दिसंज्ञायाम् “प्रकृत्याऽचि दिपाः” [४।३।१०३]

१. अनिवृ-अ०, ब०, स० । २. अकारस्प्रत्यर्थः । ३. अकारनाश इत्यर्थः । ४. अचस्थानिकादेश इत्यर्थः । ५. विध्वंगवै-ब० । ६. बसे तु अ०, ब०, मु० । ७. यङः स-अ०, ब०, स० । ८. ‘अगनिमित्तं न’ इत्यत्र ‘अनिमित्तं न’ इति पाठः स्वरसः । ९. ‘क्स्तुः’ मु० । १०. अभूत् इत्यस्य ‘सूभवत्योर्मिडि’ इत्यतः पूर्वमेव पाठो युक्तः । ‘अभूत्’ इत्यस्याग्रे ‘इत्यत्र’ इत्यपि योज्यम् ।

इति प्रकृतिभावः । ईदूदेदिति किम् ? वृत्तावत्र । तपकरणमसन्देहार्थम् “मयीवादिषु नेष्यते” मणीव । दम्प-
तीव । रोदसीव शोभेते । “संज्ञाविधौ त्यग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति” इति अशुक्ले शुक्ले सम्पन्ने शुक्लथास्तां
वज्रे इति त्यखे त्याश्रयन्यायेन दिसंज्ञा न भवति ।

झः ॥१११२१॥ एदिति निवृत्तम् । दकारस्य स्थाने यो मकारस्तस्मात्परावीदूतौ दिसंज्ञौ भवतः । अमी
आसते । अमी अत्र । अमू आसते । अमू अत्र । “बहावीरेतः” [५।२।८६] इति मत्वमीत्वं च । “दाहुदो
मोऽदसोऽसेः” [५।३।८८] इति मत्वम् । द्विमात्रस्य औकारस्य द्विमात्र ऊकारः । आश्रयान्मकारादीनां
सिद्धिः । द इति किम् ? शम्यत्र । दाडिभ्यत्र । म इति किम् ? द इति तानिर्देशपक्षे तेऽत्रेत्यत्र दकारादेशस्य
परेणादेपि कृते स्थानिचद्भावात्तद्भावाच्च दिसंज्ञा प्रसज्येत । कानिर्देशपक्षे चतुष्पद्यर्थ इत्यत्र स्यात् । ईदूदित्येव ।
इमेऽत्र । एकयोगनिर्दिष्टानामेकदेशोऽनुवर्तते निवर्तते चैकदेश इति एद्ग्रहणं निवृत्तमिति । अन्यथा अमुकेऽत्रे-
त्यत्रानुवर्तनसामर्थ्यादुकारककाराभ्यां व्यवधानेऽपि वचनप्रामाण्यादिसंज्ञा प्रसज्येत ।

निरेकाजनाड् ॥१११२२॥ निसंज्ञ एकाच् अनाड् दिसंज्ञो भवति । अ अपेहि । इ इन्द्रं पश्य । उ
अपसर । निरिति किम् ? चकारात्र । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतेस्त्यस्य च विभागः । अपायिना ह्यनुबन्धलिङ्गेन
निरनुबन्धादकाराद् भिद्यते णल् । एकश्चासावच्च एकाजिति किम् ? प्रश्नाति । अनाडिति किम् ? आ उद-
कान्तात् । ओदकान्तात् । डित्करणं येष्वर्थेषु डिदयं वर्तते तत्र प्रतिषेधो यथा स्यादन्यत्र दिसंज्ञैव भवति ।

“ईषदथे क्रियायोगे मर्यादाऽभिर्विधौ च यः ।
एतमातं डितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरडित् ॥”

यथाक्रमम् । आ उष्णम् ओष्णम् । आ इहि एहि । आ उदकान्तात् ओदकान्तात् । आ अर्मकेभ्यः
आर्मकेभ्यः । आर्मकेभ्यो यशः प्रतीतम् । वाक्यपूरणे स्मरणे चार्थे डित्त्वाभावादिसंज्ञा । आ एवं नु मन्यसे ।
आ एवं किल तत् ।

ओत् ॥१११२३॥ अनेकाजर्थ आरम्भः । ओदन्तो निर्दिंसंज्ञो भवति । अहो इति । उताहो इति ।
अत्र ओदिति प्रधानम् । वचनात्तु प्रधानेनापि तदन्तविधिः । तेनेह लाक्षणिकत्वान्न भवति । अदोऽभवत् । तिरो-
ऽभवत् । अनुपदेशोऽदः [१।२।१३६] “तिरोऽन्तधौ” [१।२।१४०] इति निसंज्ञा । इह तु गौणत्वान्न भवति ।
अगौर्गौः सम्पन्नो गोभवत् । “चिबडाजूरादिः” [१।२।१३२] इति निसंज्ञा । गौणत्वाद्वाहीके गोशब्दस्य
कथमैवादिकार्यमिति चेत् ? सामान्येन संस्तु तस्य पदस्य प्रयोगाददोषः ।

कौ वेतौ ॥१११२४॥ किनिमित्तो य ओकारस्तदन्त इतौ परतो वा दिसंज्ञो भवति । पटो इति । पट-
विति । साधो इती । साधविति । काविति किम् ? गवित्ययमाह । गौरिति वक्रव्यमशक्त्या गो इत्युक्तमनुक्रियतेऽ-
नेकान्ताश्रयणात् । अनुकार्यानुकरणयोरभेदविवक्षायासत्यर्थवत्त्वे विभक्त्यनुत्पादः । इताविति किम् ? पटोऽत्र ।

उजः ॥१११२५॥ उजित्येतस्य वा दिसंज्ञा भवतीतौ परतः । उ इति, विति । “निरेकाजनाड्”
[१।१।२२] इति नित्यं दिसंज्ञा प्राप्ता । सानुबन्धकनिर्देशः किमर्थः ? अहो इति । उताहो इति । निसंज्ञातपक्षे
निरनुबन्धस्य मा भूत् ।

ऊम् ॥१११२६॥ उजः ऊमित्ययमादेशो भवतीतौ परतः । इति द्विमात्रो नासिक्यो दिसंज्ञकश्च ऊ
इति यद्यपिऽपि निसंज्ञकोऽस्ति तस्येतावेव प्रयोगो यथा स्यादित्यारम्भः ।

दाधा भवपित् ॥१११२७॥ दा धा इत्येवंरूपा धवो भुसंज्ञका भवन्ति पितौ वर्जयित्वा । दारूपाश्च-

१.-यात्मका—अ०, स०, मु० । २.-अकारेण इत्यर्थः । ३. योगे निर्दि—अ० । ४.-को दे-स० ।
५. निरिति ग्रहणे कस्मान्न भवतीत्यत आह—अपायिनेत्यादि । ६. लिङ्गेन निरनुबन्धलिङ्गेन निर—अ०, मु० ।
परमसमीचीन एष पाठः । ७. एष्व-मु० । ८. तेन विना मर्यादा । ९. तेन सहाभिविधिः । १०. माड्
डि—अ०, ब०, स० । ११. संस्कृतस्य ब० ।

त्वारः । प्रणिददाति । दाण् । प्रणिदाता । प्रणिदयते । प्रणिद्यति । धारूपौ द्वौ । प्रणिदधाति । प्रणिधयति ।
द्वैपः पित्करणं ज्ञापकम् । अत्र प्रतिपदोक्तपरिभाषा नाश्रीयते । भुसंज्ञाकार्यं “नेर्गदनद” [५।४।१००]
इत्यादिना णत्वं “भुमा” [४।४।६२] इत्यादिना हलीत्वं च । दीयते । धीयते । धीतं वक्त्रेण । अपिदिति
किम् ? दायते बर्हिः । अवदायते भाजनम् । भुप्रदेशाः “भुस्थोः” [१।१।६१] इत्येवमादयः ।

क्लक्वत् तः ॥ १।१।२८ ॥ क्लश्च क्लवतुश्च तसंज्ञौ भवतः । रूपसंज्ञेयम् । कृतः । कृतवान् । भूत इति
वर्तमाने इति क्लक्वत्तुरूपौ त्वौ भवतः । कारितः । कारितवान् । “ते सेटि” [४।४।५४] इति णोः खम् ।
भिन्ः । भिन्वान् । “द्रान्तस्य तो नः” [५।३।५६] इति नत्वम् । ककारः कित्कार्यार्थः । उकार उगित्कार्यार्थः ।
तप्रदेशाः “ते सेटि” [४।४।५४] इत्येवमादयः ।

संज्ञाः खुः ॥ १।१।२९ ॥ संज्ञाशब्दाच्च्योऽर्थः खुसंज्ञो भवति । खुप्रदेशाः “खावन्यपदार्थे”
[१।३।१८] इत्येवमादयः ।

भावकर्म डिः ॥ १।१।३० ॥ भावकर्मशब्दाच्च्योऽर्थो डिंसंज्ञो भवति । डिप्रदेशाः “जिडौ”
[२।१।६२] इत्येवमादयः । तत्र भावकर्मणोर्ग्रहणं प्रत्येतव्यम् ।

शि धम् ॥ १।१।३१ ॥ शि इत्येतद्वसंज्ञं भवति । शि इति नपुंसके जशशसोरादेशस्यार्थवतो ग्रहणम् ।
कुण्डानि तिष्ठन्ति । कुण्डानि पश्य । धप्रदेशाः “धेऽकौ” [४।४।६] इत्येवमादयः ।

सुडनपः ॥ १।१।३२ ॥ सुडिति प्रत्याहारेण स्वौजसमौटां ग्रहणम् । सुट् धसंज्ञो भवति नपुंसकलिङ्गा-
दन्यस्य । राजा । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ । “धेऽकौ” [४।४।६] इति दीत्वम् । सुडिति
किम् ? राज्ञः पश्य । अनप इति किम् ? सामनी । वेमनी । अनप इति पर्युदासात् स्त्रीपुंसम्बन्धिनः सुदो धसंज्ञा
नपुंसके न विधिर्न प्रतिषेधः । तत्र पूर्वेण उरु-सो-रा-व शोधसंज्ञा भवत्येव । ननु व्यक्तं स्त्रीपुंसग्रहणमेव
कर्तव्यम् ? एवं तर्ह्यनप इति निर्देशात् सापेक्षस्यापि नञः सविधिर्भवतीति ज्ञाप्यते । तेन अश्राद्धभोजी अलवण-
भोजीत्येवमादयः सिद्धाः ।

कतिः संख्या ॥ १।१।३३ ॥ कतिशब्दः संख्यासंज्ञो भवति । कतिकृत्वः । कतिधा । कतिकः । किं
परिमाणमेषां “किम्” [३।४।१६२] “संख्यापरिमाणे ङित्तिश्च” [३।४।१६३] इति ङितिः । कति वारान्
भुङ्क्ते । कतिभिः प्रकारैः । कतिभिः क्रीत इति । यथाक्रमं “संख्याया ध्वंभ्यावृत्तौ कृत्वस्” [४।२।२४]
“संख्याया विधार्थे धा” [४।१।१०६] “संख्यायाः कौऽतिशतः” [३।४।१६] इति क इत्येते भवन्ति ।
ननु प्रदेशेषु संख्याग्रहणेनान्वर्थविज्ञानात् संख्यायतेऽन्येति कृत्वा कतिशब्दस्यापि ग्रहणे सिद्धे किमर्थमिदम् ?
निवमार्थम् । अनियमितेषु कतिशब्दस्यैव संख्याग्रहणम् । तेन भूरिप्रभृतादीनां निवृत्तिः “संख्याबाहुोऽबहुगणात्”
[४।२।६६] इत्यत्र बहुगणयोः प्रतिषेधाद्भवति संख्याग्रहणम् । बहुकृत्वः । गणकृत्वः । वैपुल्यसङ्घयोर्न
संख्यात्वम् । “वतोर्वट्” [३।४।२०] इति वचनं ज्ञापकं भवति वत्वन्तस्य संख्याग्रहणेन ग्रहणम् । तावतिकः ।
तावत्कः । संख्याप्रदेशाः “संख्यायाः कौऽतिशतः” [३।४।१६] इत्येवमादयः ।

ष्णान्तेल् ॥ १।१।३४ ॥ कतिः संख्येति वर्तते । प्रकारनकारान्ता संख्या कतिशब्दश्च इत्संज्ञौ भवतः ।
ष्णान्तेति पदस्य संख्यापेक्षः स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । कनेरुन्तानसान्ध्यादिलसंज्ञा । षट् । पञ्च । सप्त । कति
तिष्ठन्ति । “उबिलः” [५।१।१६] इति जस उप् । ष्णान्तेति संख्याविशेषणं किम् ? विप्रुष । पामान इति अन्त-
ग्रहणं बसनिर्देशेन संख्याग्रहणार्थं च । तेन शतानीत्यादौ न भवति । इल्प्रदेशाः “उबिलः”
[५।१।१६] इत्येवमादयः ।

सर्वादिः सर्वनाम ॥ १।१।३५ ॥ सर्वादयः शब्दाः प्रत्येकं सर्वनामसंज्ञा भवन्ति । सर्वे । सर्वस्मै ।
सर्वेषाम् । त्रियाम्-सर्वस्यै । विश्वे । विश्वस्मै । उभशब्दस्य “सर्वनाम्नो भा” [१।४।३६] इत्येवमर्थः पाठः ।

१. जिडा-अ०, स० । २. स्त्रीपुंससम्ब-अ०, स० । ३. नपः ब० । ४.-या अभ्या-मु० ।
५.-दि स-मु० । ६.-मो भावत्ये-ब० । -म्नो भावत्ये-स० ।

उभयान् हेतुभ्याम् । उभयोर्हेतोरवसति । द्विवचनयापरश्चायम् । उभौ पत्नौ । उभे कुले । उभे विद्ये । उभे । उभयस्मिन् । उभयेषाम् । जसि “प्रथमचरम्” [१।१।४१] आदिविकल्पात् पूर्वनिर्णयेनायमेव विधिः । उभये इति । डतरडतम इति ल्यौ । कतरस्मै । इतर अन्य अन्यतर । इतरस्मै । अन्यस्मिन् । अन्यतरस्मै । ल इत्ययं शब्दोऽन्यवाची । ल्वे । ल्वेषाम् । नेम । नेमस्मिन् । जसि वक्ष्यमाणो विकल्पः । नेमे । नेमाः । समशब्दः सर्वशब्दस्यार्थे । समे । समस्मिन् । अन्यत्र यथासंख्यं समाः । समे देशे तिष्ठतीति भवति । सिमः । सिमस्मै । पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्” “स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्”^१ “अन्तरं बहिर्योगोप-संन्याययोः” त्यद् तद् यद् एतद् अदम् इदम् एक द्वि । अलविधिं प्रति द्विपर्यन्तास्त्यदादयः । युष्मद् अस्मद् भवत् किम् ।^२ त्यदादीनां यद्यत्परं तत्तदुभयवाचि । सर्वनामेत्यन्वर्थसंज्ञाविज्ञानात् संज्ञोपसर्जनानां न भवति । सर्वो नाम कश्चित्स्मै सर्वाय देहि । अतिक्रान्तः सर्वमतिस्वस्तस्मै अतिसर्वाय । “पूर्वपदात् खावगः” [१।१।८७] इति णत्वं न भवति ।^३ सर्वनामप्रदेशाः “आम्यात्सर्वनाम्नः” [१।१।३४] इत्येवमादयः ।

वा दिक्स्वये ॥१।१।३६॥ दिगुपदिष्टे से बसंज्ञके सर्वादीनि वा सर्वनामसंज्ञकानि भवन्ति । “न बे” [१।१।३७] इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । दक्षिणपूर्वस्यै । दक्षिणपूर्वायै । उत्तरपूर्वस्यै । उत्तरपूर्वायै । दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालमिति विगृह्य “दिशोऽन्तराले” [१।३।८८] इति बसः । “सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः” [वा०] इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावः । उत्तरपदस्य “स्त्रीगोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रः । पुनष्टाप् । प्रतिपदोक्तस्य दिक्स्वस्य ग्रहणादिह नास्ति विकल्पः । दक्षिणैव पूर्वा अस्य मुग्धस्य दक्षिणपूर्वाय देहि । दक्षिणा च सा पूर्वा च सा अस्मिन्नपि विग्रहे परत्वात् “दिशोऽन्तराले” [१।३।८८] इतीयं प्राप्तिर्न राज्ञ दण्डवारितेति कर्तव्यमेवेदं सूत्रम् । दिग्ग्रहणं किम् ? “न बे” इति प्रतिषेधं वक्ष्यति तस्य प्रतिषेधस्यास्य च विकल्पस्य विषयज्ञापनार्थम् । सग्रहणं किम् ? साधिकारविहिते बसे विकल्पो यथा स्यादातिदेशिके मा भूत् । दक्षिणादक्षिणान्तरै देहि । “आबाधे” [१।३।८] इति द्वित्वम् । बवदतिदेशश्च “न बे” इत्यत्रापीदं सग्रहणमनुवर्तते तेनापि न प्रतिषेधः । बग्रहणं किम् ? दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् । द्वन्द्वे विकल्पो मा भूत् । ननु प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणमत्रोक्तं ततो “द्वन्द्वे” [१।१।३६] इत्येव प्रतिषेधः सिद्धः । उत्तरार्थं^४ तद्दिग्ग्रहणम् ।

न बे ॥१।१।३७॥ बसे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति । द्वयन्याय । त्रयन्याय । “सर्वनामसंख्ययोः” इति वक्तव्येन पूर्वनिपातः संख्याया एव । प्रियविश्वाय । प्रियोभयाय । इदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकमत्र तदन्तविधिरस्तीति । तेन परमसर्वस्मै इत्यत्रापि सर्वनामसंज्ञा । ननु सर्वनामसंज्ञान्तरं संज्ञानामसंज्ञोपसर्जनानुत्तरात् सर्वोपसर्जनश्च बस इति सर्वनामसंज्ञायाः प्राप्त्यभावात्सूत्रमिदमनर्थकम् । नानर्थकमेतत्, प्रयोजनसद्भावात् । त्वकं पिताऽस्य अहकं पिताऽस्य लक्कपितृकः । मत्कपितृकः । बसावयवस्य सर्वनामसंज्ञाविरहादग्मा भूत् । कुस्ताद्यर्थे के परतः “त्यद्योश्च” [१।१।२७] इति लमादेशौ । स इत्येव । एकैकस्मिन् । “एको बवत्” [१।३।७] इत्यातिदेशिके बसे प्रतिषेधो मा भूत् । बाऽधिकारे पुनर्बग्रहणं बसगर्भे द्वन्द्वेऽपि नित्यप्रतिषेधार्थम् । वक्षान्तरग्रहान्तरा इति ।

भासे ॥१।१।३८॥ भासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति । मासपूर्वाय । संवत्सरपूर्वाय । मासेन पूर्वः । “पूर्वावरसदृश” [१।३।२८] आदिसूत्रेण भासः । सः इति वर्तमाने पुनः सग्रहणं भासार्थं वाक्येऽपि तत्संज्ञा-प्रतिषेधार्थम् । मासेन पूर्वाय । मुख्ये च “पूर्वावर” [१।३।२८] इत्यादि भासे यद् वाक्यं तत्र प्रतिषेधो न । “साधनं कृता बहुलम्” [१।३।२६] इति भासे । लयका कृतम् । मयका कृतम् । अन्यथा लक्केन कृतं मक्केन कृतमित्यनिष्टं स्यात् । लयका मयकेति पूर्व लमादेशौ । ततः सुबन्तादक् । तथा ह्यग्विधौ वक्ष्यति । मृदः सुपः इति च द्वयमपीहानुवर्तते । अभिधानतश्च व्यवस्था । तत्र मृदः प्राक् सुपोऽग्नवति । युष्मकाभिः । अस्सकाभिः ।

१. एकशेषवादिनो हि “त्यदादीनामिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते” इति वचनेन परस्य पूर्वार्थ-वाचितामभ्युपगच्छन्ति । परं “त्यदादीनां यद्यत्परं तत्तदुभयवाचि” इत्येकशेषमकृतवैवायमाचार्य एक-शेषप्रयोजनं निर्वाहयति । २. ‘सर्वनाम इत्यत्र’ इति शेषः । ३. सौत्रत्वात् इति शेषः । ४. ‘प्रदाय’ मु० । ५. ‘न बे’ सूत्रार्थमित्यर्थः । ६. ‘पूर्व’ मु० ।

युष्मकासु । श्मकासु । युष्मकयोरावकयोरिति । क्वचित्तु सुवन्तस्याक् । त्वयक् । मयका । त्वयकि । मयकि ।

द्वन्द्वे ॥१११३९॥ द्वन्द्वे से सर्वादिनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति । कतरकतमाय । कतरकतमात् । कतरकतमानाम् ।

वा जसि ॥१११४०॥ द्वन्द्वे से सर्वादयः सर्वनामसंज्ञा वा भवन्ति । कतरकतमे । कतरकतमाः । पूर्वेण नित्यप्रतिषेधः प्राप्तः । तस्मात् सर्वनामसंज्ञा कार्यं शीभावो विभाष्यते । अक् तु पूर्वेणैव प्रतिषिद्धः । यदि जसि परतस्तत्संज्ञा विकल्प्येत तदा संज्ञापक्षेऽग्भवेत् । कतरकतमके इत्यनिष्टं प्रसज्येत । कुत्साद्यर्थविवक्षायां तु के सति तद्व्यवधानान्न शीभावः । अतः कतरकतमका इति सिध्यति । न च केऽपि सति स्वार्थिकस्य प्रकृतिग्रहणेन ग्रहणम् । अन्यथा सर्वादौ डतरडतमग्रहणमनर्थकं स्यात्, सर्वनाम्न एव तयोर्विधानात् ।

प्रथमचरमतयाल्पार्थकतिपयनेमाः ॥१११४१॥ प्रथमादयः शब्दा जसि वा सर्वनामसंज्ञा भवन्ति । प्रथमे, प्रथमाः । चरमे, चरमाः । तय इति त्यग्रहणं तेन वचनात्संज्ञाविधावपि तदन्तविधिः । द्वाववयवावेधा-मिति द्वितये, द्वितयाः । “संख्याया अवयवे तयट्” [३।४।१६४] इति तयट् । एकदेशविकृतस्यानन्य-त्वाद्विकल्पः द्वये, द्वयाः । उभये । अयमुभयराजः सर्वादित्वाच्चित्यं सर्वनामसंज्ञाः । अल्पे, अल्पाः । अर्थे, अर्थाः । कतिपये, कतिपयाः । नेमे, नेमाः । नेमशब्दस्य प्राप्तेऽन्येषामप्राप्ते विभाषा । अत्रापि जसः कार्यं प्रति विकल्पः । कुत्साद्यर्थे के कृते तेन व्यवधानात्पक्षेऽपि सर्वनामसंज्ञा न भवति । तेन प्रथमका इत्यादि सिद्धम् ।

पूर्वादयो नव ॥१११४२॥ पूर्वादयो नव सर्वादौ व्यवस्थिता जसि वा सर्वनामसंज्ञा भवन्ति । तथा हि— “पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापरधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्” “स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्” “अन्तरं बहिर्योगोप-संव्यानयोः” इति । पूर्वे, पूर्वाः । परे, पराः । अवरे, अवराः । दक्षिणे, दक्षिणाः । उत्तरे, उत्तराः । अपरे, अपराः । अधरे, अधराः । व्यवस्थायामिति किम् ? दक्षिणा इमे गाथकाः । अपरा वादिनः । नात्र दिग्देशकाल-ज्ञानेऽङ्घ्रिनिधने व्यवस्था प्रतीयते; किं तर्हि ? प्रावीण्यमन्यार्थता च । असंज्ञायामिति किम् । उत्तरा कुरवः । व्यवस्थायामपीयं संज्ञा । तेषां स्वे शिष्याः स्वाः । यदा ज्ञातिधनयोः संज्ञारूपेण वर्तते स्वशब्दस्तदा नास्ति सर्व-नामसंज्ञा । उल्मुकानीव स्वा दहन्ति । विद्यमाना अपि स्वा न दीयन्ते । अन्तरे गृहाः । अन्तरा गृहाः । नगरबाह्या इत्यर्थः ।

अपुरीति वङ्गव्यम् [वा०] । अन्तरायाः पुर आगताः । बाह्याया इत्यर्थः । अन्तरे शाटकाः । अन्तराः शाटकाः । उपसंव्यानमित्युत्तरीयवस्त्रस्य संज्ञा । बहिर्योगोपसंव्यानयोरिति किम् ? इमे ग्रामाणामन्तराः । अयमन-योरन्तरे स्थितः । जसि कार्यं विभाष्यते; अक्तु भवत्येव प्रतिषेधाभावात् । पूर्वके, पूर्वकाः । इत्येवमादि ज्ञेयम् ।

डिडस्योरतः ॥१११४३॥ पूर्वादयो नव वेति चानुवर्तते । अकारान्तानि नव पूर्वादीनि डिडस्योर्वा सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति । पूर्वस्मिन्, पूर्वे । पूर्वस्मात्, पूर्वात् । परस्मिन्, परे । परस्मात्, परात् । इत्यादि योज्यम् । डिडस्याश्रयं कार्यं विभाष्यते; अक्तु भवत्येव । अत इति किम् ? पूर्वस्याम् । पूर्वस्याः ।

तीयस्य डिति ॥१११४४॥ तीयत्यान्तस्य डिति वा सर्वनामसंज्ञा भवति । द्वितीयस्मै, द्वितीयाय । तृतीयस्याः, तृतीयाया । इह मुखादागतः पार्शवादागतः “मुखपार्वतसोरीयः” [३।२।११२ ग०] इतीयः । मुखतीयः । पार्श्वतीयः । पर्वते जातः पर्वतीय इति । अमीषां लान्गिकत्वादग्रहणम् । डिति किम् ? द्वितीयायाम् । डिति कार्यं विकल्प्यते; अक्तु न भवत्येव । कुत्साद्यर्थे के कृते द्वितीयकाय ।

इग् यणो जिः ॥१११४५॥ इक् यो यणः स्थाने भूतो भावी वा स जिमंशो भवति । इक् यणः स्थाने भावित्वेनासत्वात् कथं जिमंश इति चेत् ; संज्ञिनो भावित्वात्संज्ञापि भाविनी । यथाऽस्य सूत्रस्य शाटकं वयेति भावी । यथा “षे व्यस्य पुत्रपत्योर्जिः” [४।३।६] “वसोर्जिः” [४।४।११८] इति । कारीषगन्धीपुत्रः ।

विदुषः पश्य । शान्त्रान्तरेण भूतो यणः स्थाने^१ इक् स जिपञ्जो यथा “जेः” [४३।६५] इति परपूर्वत्वम् , जेरिति दीत्वम् । हूतः । गृहीतः । यदि यणः स्थाने इक् भाव्यमानो जितञ्ज इहापि स्यात् , अदुहिताराम् । अन्धु-भ्याम् । अन्धुवा । दुह आत्मकर्मणि लङ् । “स्नोश्च जिश्च” [२।१।६६] इति जियकोः प्रतिषेधः । शप् तस्योप् । अत्र लस्य स्थाने इट् वकारस्य स्थाने उदूठो ? ततश्च “जः” [४३।६५] इति परपूर्वत्वं “हळः” [४।४।२] इति दीत्वं च प्रसज्येत । नायं दोषः, भाविन्या संज्ञया विधीयमानस्येको जित्वात् । “कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्” इति । जिप्रदेशाह “षे व्यस्य पुत्रपत्योर्जिः” [४।३।६] इत्येवमादयः

ता स्थाने ॥१।१।४६॥ येयमनुसूत्रमुच्चारिता ता सा स्थान एव ज्ञातव्या । बहवो हि तार्थाः । स्वस्वामि-संबन्धसमीपसमूहविकारावयवस्थानादयः । तेषु प्रातेषु नियमः क्रियते-अन्यार्थसंप्रत्ययो मा भूदिति । नित्य-शब्दार्थसंबन्धविवक्षायां स्थानशब्दः प्रसङ्गवाची । प्रसङ्गश्च प्रातार्हत्वं स्वार्थप्रत्ययैकावसरो वा । यथा गुरोः स्थाने शिष्य उपचर्यते इति गुरोः प्रसङ्ग इति गम्यते । एवमस्तेः स्थाने प्रसङ्गे भूः । भविता । भवितुम् । भवितव्यम् । ब्रूजः प्रसङ्गे वचिर्भवति । वक्ता । वक्तुम् । वक्तव्यम् । अनित्यशब्दार्थसंबन्धविवक्षायामपकर्ष-वाची स्थानशब्दः । यथा गोः स्थाने अश्वं बध्नाति । एवमस्तेः स्थानेऽपकर्षे भूर्भवति । अस्तेरन्तरमस्तेः समीप इत्येवमादयो निवर्तिता भवन्ति । यत्र तानिदेशे सम्बन्धविशेषो न निर्ज्ञातस्तत्रेयं परिभाषोपतिष्ठते । शास् इत्येवमादि तु शासो य उङ् तस्येत्यवयवयोगो निज्ञात इति नेयं व्याप्रियते ।

स्थानेऽन्तरतमः ॥१।१।४७॥ अन्तरः प्रत्यासन्नः । स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम एवादेशो भवति । आन्तर्यं च शब्दस्य स्थानार्थगुणप्रमाणतः । स्थानतः—लोकाग्रम् । “स्वेऽको दीः” [४।३।६८] इति कण्ठ्य एवाकारो दीर्भवति । अर्थतः—वतण्डस्यापत्यं स्त्री “वतण्डात्” [३।१।६७] इति यञ् । तस्य “स्त्रिया-सुप्” [३।१।६८] इत्युप् । वतण्डौ चासौ युवतिश्च वातण्ड्ययुवतिः । “पोटायुवतिस्तोक” [१।३।६०] आदि सूत्रेण यञ्ज्ञः पसः, “स्व्युक्तपुंसक” [४।३।१४६] आदिना पुंवद्भावः प्रातो “जातिश्च” [४।३।१५३] इति प्रतिषिद्धः “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१५४] इति । अर्थतो वातण्ड्यशब्दो भवति । गुणतः—पाकः । त्यागः । अल्पप्राणस्य घोषवतस्तादृश एव । प्रमाणतः—असुष्मै । अपूभ्याम् । प्रस्य प्रः । दीसञ्कस्य दीः । स्थान इति वर्तमाने पुनः स्थानग्रहणं यत्रानेकमान्तर्यं सम्भवति तत्र स्थानत एव भवतीति । चेता । स्तोता । प्रमाणतोऽकारः प्राप्तः । स्थानतोऽन्तरतमावेकारौकारौ च । तत्र पुनः स्थानग्रहणात्स्थानकृतमेवान्तर्यं बलीय इत्येकारौकारौ भवतः । तमग्रहणं किम् ? वाग्धसति । हकारस्य पूर्वस्वत्वे सोष्मणस्सोष्मा द्वितीयः, प्रातो नादवतो नादवास्तृतीयः । तमग्रहणाद्यः सोष्मा नादवांश्च स चतुर्थो भवति ।

रन्तोऽणुः ॥१।१।४८॥ उः स्थानेऽणु प्रसज्यमान एव रन्तो भवति । लक्षणान्तरेण विधीयमान एवाणु विधानबलेन तत्सहायकं प्रतिपद्यमानेन रन्तो भाव्यत इत्यर्थः । अकर्तरीति निर्देशात्सर्वादेशो न भवति । कर्ता । किरति । गिरति । द्वैमातुरः । भरतः । शातमातुरः । द्वयोर्मात्रोरपत्यं [शतमातुरपत्यम्] ‘तस्यापत्यम्’ [३।१।७७] इत्यणि परतो “भातुरुसंख्याऽसम्भद्रादेः” [३।१।१०४] इत्युकारादेशः । उरिति किम् ? गेयम् । पन्थाः । अणिति किम् ? मातापितरौ । सौधातकिः । आनङ्अकङ्घौ संघातावेतौ । नाणौ । महर्षिरित्यत्र द्वयोः स्थाने एप् कथं रन्तः ? यो हि द्वयोस्तानिर्दिष्टयोः स्थाने भवति सोऽन्यतरेणापि व्यपदिश्यते । नरस्य पुत्रः । नार्याः पुत्रः । ऋकारलृकारयोः स्वसंशोक्ता । तैन तवल्कारः । कथं लन्तत्वम् ? रन्त इति लणो लकाराकारेण प्रश्लेषनिर्देशात् प्रत्याहारग्रहणम् । तेनादोषः ।

१. स्थाने इग्भूतो जि-मु० । २. प्रत्यायनावसरो वा अ०, स० । ३. उस्तस्य मु० । ४. “रन्तोऽणुः” सूत्रारम्भसामर्थ्येनेत्यर्थः । ५. अनेनेति शेषः । ६. -पत्यं शतमातृणामपत्यं तस्या, अ०, ब०, स० ।

शालाकिः “प्रणयाट्ठञ्” [३।३।१२६] इकादेशे कृते “कृद्धत्साः” [१।१।६] इति मृतसंज्ञा सिद्धा । सुबादेशः सुबिव । वृत्ताय । ङेर्यादेशेऽपि “सुपि” [१।२।१७] इति दीर्घं सिद्धम् । मिडादेशो मिडिव । बभूवतुः । बभूवुः । अतस्युसि च कृते “सुम्मिडन्तं पदम्” [१।२।१०३] इति पदसंज्ञायां पदस्येति रित्वं सिद्धम् । पदादेशः पदमिव भवति । ग्रामो वः खम् । ग्रामो नः खम् । वस्नसोः कृतयोः पदस्येति रित्वं सिद्धम् । गादेशो ग इव । अर्धनुतम् । डिक्वादेप्रतिषेधः । इवेति किम् ? स्थानी आदेशस्य संज्ञेति मा विज्ञायि । अत्र को दोषः ? “आडो यमहनः” [१।२।२३] इति वधेरेव द्विविधः स्यादन्तेस्त्वाश्रयस्य न स्यात् । इवग्रहणादुभयत्र भवति । आहत । आवधिष्ट । आदेशग्रहणं किम् ? विकारमात्रेऽपि यथा स्यात् । पचतु । पचन्तु । मिडन्तं पदं सिद्धम् । अनल्विधाविति किम् ? द्यौः । पन्थाः । स्यः । द्युपथित्यदादेशा न स्थानिवद् भवन्ति । स्थानिवद्भावे “ह्रस्वधापः” [४।३।१६] इति सोः खं प्रसज्येत । अलः परो विधिरयं प्राप्तः । क इष्ट इत्यत्रेकारस्य स्थानिवद्भावे हशि रेख्वं प्रसज्येत । अलि विधिरयम् । प्रदीव्येति क्वात्यस्य स्थानिवद्भावे “वलाद्यगस्येत्” [१।१।८४] प्रसज्येत । अलः स्थाने विधिरयम् । अलाश्रयो विधिः अल्विधिः । शाक-पार्थिव्यादिचन्दनयूरः इति नः स्यः ।

परेऽचः पूर्वविधौ ॥१।१।१७॥ आदेशः स्थानीवेति वर्तते । अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वविधौ कर्तव्ये स्थानीव भवति । पटुमाचष्टे पटयति । णिनिमित्तस्य स्थानिवद्भावात् “उडोऽतः” [१।२।४] इत्यैम्न भवति । अवधीत् । अगनिमित्तस्यातः खस्य स्थानिवद्भावात् “अतोऽनादेर्वैः” [१।१।८३] इति हलन्त-लक्षण ऐबिकल्पो न भवति । पूर्वेण “अनल्विधौ” [१।१।१६] इति प्रतिषेध उक्तेऽल्विध्यर्थमिदम् । परे इति किम् ? वैर्याग्रपद्यः । पादस्य खमजादेशः परनिमित्तो न भवतीति पद्भावे स्थानीव न भवति । युवतिर्जायाऽ-स्य युवजानिः । जायाया निङ् न परनिमित्तक इति “वलि व्योः खम्” [४।३।१५] न प्रतिबन्धाति । अच इति किम् ? प्रगत्य । प्ये परतो ङस्य खं परनिमित्तं प्रस्य तुकि कर्तव्ये स्थानीव न भवति । पूर्वविधाविति किम् ? नैधेयः । निधेयत्वं “द्वयचः” [३।१।११०] “इतोऽनिजः” [३।१।१११] इति ढरिण परविधौ कर्तव्ये आत्वस्य न स्थानिवद्भावः । अन्यथा व्यचो ढण् न स्यात् । हे गौः । परविधौ सुखे कर्तव्ये ऐपो न स्थानिव-द्भावः । अचोऽनादिष्टात् पूर्वविधौ स्थानिवद्भावः । इह मा भूत् । अचीकरत् । अजीहरत् । अत्र हि “णौ कच्युडः” [१।२।११५] इति प्रादेशे कृते द्विल्वे च प्रादेशस्य स्थानिवद्भावात् “धौ कच्यनक्खे सन्वत्” [१।२।१६०] इति सन्वद्भावो न प्राप्नोति । आदिष्टादेशोऽचः पूर्व इति स्थानिवद्भावाद्भवति । वाय्वोरध्व-य्योरित्यत्र यखविधिं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “वलि व्योः खम्” [४।३।१५] इति यखं प्राप्नोति । कर्तव्योऽत्र यत्नः ।

न पदान्तद्वित्ववरेयखस्वानुस्वारदीचर्विधौ ॥१।१।१८॥ पदान्तादिविधिष्वजादेशः स्थानीव न भवति । पूर्वेण प्राप्तस्य स्थानिवद्भावस्य प्रतिषेधोऽयम् । पदान्तविधौ—कौ स्तः । कानि सन्ति । अतः खं किङ्निमित्तमावादेशे यणादेशे च कर्तव्ये स्थानीव न भवति । अथ नात्र नियमः पूर्वविधेः । स्तः कौ, सन्ति कानि इत्यपि प्रयोगात् । आदिष्टाच्चाचः पूर्वमौकारादि । इदं तर्ह्युदाहरणम्—अभिषन्ति । निषन्ति । द्वित्व-विधौ—दध्वत्र । मध्वत्र । यणादेशस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “अनचि” [१।४।१२७] इति धकारस्य दिव्यं सिद्धम् । “असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे” इति स्फान्तस्य खं न भवति । वरविधौ—यायावरः । यातेर्यङन्तात् “यो यङः” [२।२।१५५] इति वरे कृतैऽतः खस्यागनिमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधाद्यखे च कृते अका-स्य स्थानिवद्भावात् “इटि चात्वम्” [४।४।६३] इत्यात्वं न भवति । ईविधौ—आमलकम् । पञ्चदाक्षिः ।

१. पदत्वात् “ससजुषो रिः” इति रित्वं सिद्धमित्यर्थः । २. व्याघ्रस्येव पदावस्येति वसे “खम्पा-दस्याहस्यादेः” इत्यतः खे ततोऽपत्यार्थे “गगांदिर्धञ्” इति यञि “पादः पत्” इति पदादेशे ऐचि रैयाग्रपद्य इति । ३. “दीर्घे यलोपे च लोपाजादेश एव न स्थानिवत्” इत्येवंरूपो यत्नः ।

आमलक्या अवयवः फलं “नित्यं दुशरादेः” [३।३।१०६] इति मयट् । तस्य “उष्फले” [३।३।१२१] इत्युप् । “हृदुप्युप्” [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्योप् परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “यस्य ड र्या च” [४।४।१३६] इत्यखं न भवति । पञ्चभिर्दान्नीभिः क्रीतः “शतुबखौ” [३।४।२६] इति ठण उपि स्त्रीत्यस्योप् । तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधादिकारस्य खं न भवति । यखविधौ—कण्डूतिः । कण्डूयते: “क्तिञ्चौ खौ” [२।३।१५०] इति क्तिञ्चि कृतेऽतः खस्यागनिमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “वलि व्योः खम्” [४।३।२५] इति यखं भवति । उवादेशं प्रति स्थानिवद्भावः स्यादिति चेद् भवतु । च्छ्वोः शूङ् भविष्यति । ततः स्त्रेऽको दीत्वम् । योऽनादिष्ठात्पूर्वं इति न्यायान्मुनस्त्रादेशो न भवति । स्वविधौ—शिण्डि । पिण्डि । शनस खस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधादत्रानुस्वारस्य परस्वत्वं भवति । अनदिष्ठादचः पूर्वस्थानीं नकारस्तस्यैवायं विधिः । अनुस्वारविधौ—शिषन्ति । पिषन्ति । “नश्चापदान्तस्य ऋलि” [५।४।८] इत्यनुस्वारे कर्तव्ये नकारः “शनसः खम्” [४।४।१०१] इत्यनादिष्ठादचः पूर्वं इत्यखं न स्थानिवद्भवति । दीविधौ—प्रतिदीत्रः । प्रतिदीत्रा । अनः खस्य परनिमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “हस्यभकुर्ः” [५।३।८६] इत्यनुवृत्तौ “उडि” [५।३।८७] इति दीवं सिद्धम् । वकारो हल्परोऽस्मादेव वचनात् । चर्विधौ—जन्तुः । जन्तुः । “गमहनजनखनवसोऽजडि किडति” [४।४।६३] इत्युङः खं वकारस्य चले कर्तव्ये स्थानीव न भवति । गिर्योरिति दीवं कर्तव्ये यणादेशोऽसिद्धः ।

द्वित्वेऽचि ॥१।१।४६॥ नपदान्तद्वित्वेत्यतो द्वित्वग्रहणमनुवर्तते । द्वित्वनिमित्तेऽच्यजादेशो द्वित्वे कर्तव्ये स्थानीव भवति । रूपतिदेशोऽगम् । आदुङ्गिखान्तःस्थायाद्यादेशाः प्रयोजनम् । आत्खम्—पपुः । पपुः । “इटि चात्खम्” [४।४।६३] इत्यात्खस्य स्थानिवद्भाववादेकाचो लिटि द्वित्वं सिद्धम् । उङः खम्—जग्मुः । जग्मुः । “गमहनजनखनवसोऽजडि” [४।४।६३] इत्युङः खस्य स्थानिवद्भावाद् द्वित्वं भवति । णिखम्—आटिट् । लुडि कचि णिखे च कृते णिखस्य स्थानिवद्भावादच इति द्वितीय-स्यैकाचो द्वित्वं भवति । अन्तःस्थादेशः—चक्रुः । चक्रुः । यणादेशस्य स्थानिवद्भाववादेकाचो द्वित्वं भवति । अयाद्यादेशाः—अहं निनय निनाय । अहं लुलव लुलाव । अयाद्यादेशानां स्थानिवद्भाववास्य णलि नेनै, लोलौ इति द्वित्वं भवति । द्वित्वनिमित्त इति किम् ? दुद्युषति । ऊठि यणादेशो धोर्न तूट् द्वित्वनिमित्तमिति स्थानिवद्भावो न भवति । अचीति किम् ? जेघ्रीयते । देघ्नीयते । यडि द्वित्वनिमित्तं घ्राध्मोरीकारादेशः स्थानीव न भवति । द्वित्वे कर्तव्य इति किम् ? जग्ले । मग्ले । धोराकारस्यावस्थानं न भवति ।

ईक्येत्यव्यवाये पूर्वपरयोः ॥१।१।६०॥ ईबिति यत्र निर्दिश्यते तत्र पूर्वस्याव्यवहितस्य कार्यं भवति । केति यत्र निर्दिश्यते तत्र परस्याव्यवहितस्य कार्यं भवति । ताप्रकृतिर्भवतीत्यर्थः । इतिकरणोऽर्थ-निर्देशार्थः । ईक्येति इमे संज्ञे द्वयोर्विभक्तयोः प्रत्यायिके प्रसिद्धे । ताभ्यामितिशब्दः परः प्रयुज्यमानो विभक्ति-प्रतिपाद्यो योऽर्थस्तं प्रत्याययति । ईवर्थो यत्र निर्दिश्यते, कार्यो यत्र निर्दिश्यते इत्यर्थः । ईवर्थनिर्देशः—“अचीको यण्” [४।३।६५] दध्युदकम् । मध्वयत् । अव्यवाय इति किम् ? धर्मविदत्र । कार्यनिर्देशः—अत्यात् । ददति । दधति । अव्यवाय इति किम् ? चिकीर्षन्ति । शपा व्यवयाजभेरदादेशो न भवति ।

नाशः खम् ॥१।१।६१॥ नाशोऽनुपलब्धिरभावोऽप्रयोग इत्यनर्थान्तरम् । एतैः शब्दैः प्रति-पाद्यमानस्यार्थस्य खमित्येषा संज्ञा भवति । इतिकरणोऽनुवर्तते । तेन नाशार्थस्य संज्ञेयं लभ्यते । स्थानिग्रहणं चानुवर्तते । प्रसङ्गवांश्च स्थानी । तेन प्रसङ्गस्य नाशः खसंज्ञो भवति । भाविनो नाशस्य संज्ञित्वं संज्ञापि भाविनीति नेतरेतराश्रयदोषः । वक्ष्यति “वलि व्योः खम्” [४।३।५५] दासेरः । काणेरः । “क्षुद्राभ्यो वा” [३।१।१२०] इति द्रण् । “इटि चात्खम्” [४।४।६३] यिखम् । जह्यात् । खपदेऽः “वलि व्योः खम्” [४।३।५५] इत्येवमादयः ।

१. खमित्यखं न अ०, स० । २. प्रतिदीन्ना अ०, स० । ३. प्रतिदान्ने अ०, स० । ४. प्रकृतेः “गिरि” इत्यस्य पूर्वभास्य “गिर्” इत्यस्यापेक्षस्वेनेत्यर्थः । ५. -वादेकाचो द्वि-प० । ६. आयाद्यादे-स० ।

उबुजुस् ॥११६२॥ तस्यैव नाशस्य उप् उच् उस् इत्येताः संज्ञा भवन्ति । संज्ञासंकरप्रसङ्ग इति चेत् उप् उच् उस् संज्ञाभिर्भावितस्य नाशस्य एताः पृथक् संज्ञास्तेनादोषः । “नोमता गोः” [१११६४] इति प्रतिषेधो ज्ञापकः खसंज्ञाया अत्र समावेशो भवति । ततः पञ्च सन्तेति त्याश्रयं पदत्वं सिद्धम् । “क्सस्याचि खम्” [५२।६६] इति वर्तमाने “बोब् दुहदिह” [५२।७०] आदिसूत्र उव्वचनं ज्ञापकमुबुजुसः सर्वस्य स्थाने भवन्ति नान्तस्य । एता अपि भाविन्यः संज्ञाः । “पञ्चमिः शक्कुलीभिः क्रीतम् । “राहुबखौ” [३।२६] इत्याहोस्य ठण उप् । ततो “हृदुप्युप्” [१११६] इति स्त्रीस्यस्योप् । जुहोति । विभेति । “उज् जुहोत्यादिभ्यः” [१।४।१४५] इति शप उच् । तत उच्च द्वित्वम् । पञ्चालानां निवासो जनपद इत्यागतस्याणः “जनपदे उस्” [३।२।६१] इत्युस् । ततो “युक्तबुसि लिङ्गसंख्ये” [१।१।६८] इति लिङ्गसंख्यातिदेशः । उबुजुसप्रदेशाः “हृदुप्युप्” [१।१।६] इत्येवमादयः ।

त्यखे त्याश्रयम् ॥११६३॥ त्यस्य खे कृतेऽपि त्याश्रयं कार्यं भवति । सुम्मिङ् क्पिप्यङ् शिखानि प्राथः प्रयोजयन्ति । सुपः खम्—धर्मवित् । सोः खेऽपि पदसंज्ञा भवति । मिङः खम्—अधोक् । “हृत्ख्यपः” [४।३।५६] इति तिपः खेऽपि पदसंज्ञायामेवत्वमभृज्जखचत्वानि भवन्ति । क्पिपः खम्—अग्निचित् । क्पिपो नाशेऽपि तुक् । यङः खम्—पापचीति । यङो नाशेऽपि द्वित्वादिकार्यं भवति । शिखम्—कार्यते । हार्यते । शोरभावेऽप्यैव भवति । प्रथमं त्यग्रहणं किम् ? आघ्नीत । आङ्—तीक्ष्णोर्ध्वित्वादिभिः । “आङो यमहनः” [१।२।२३] इति दः । “लिङ्गोऽनन्त्यसखम्” [५।१।१३८] इति सीयुङ्केकदशस्य सकारस्य खेऽपि त्याश्रयं कार्यं भलि क्किति डस्य खं न भवति । द्वितीयं त्यग्रहणं किम् ? वर्णाश्रयं मा भूत् । गवे हितम् गोहितम् । त्यखे सत्यपि अचीति वर्णाश्रया अवाद्यो न भवन्ति ।

नोमता गोः ॥११६४॥ उमता वचनेन नाशिते ल्ये यो गुस्तस्य त्याश्रयं न भवति । मृष्टः । जुहुवः । शत्राश्रयावैत्रेणौ न भवतः । गर्गा इति बहुत्वविवक्षायां यजिजोरुपि कृते तदाश्रय आदरैव भवति । गोरिति किम् ? पापङ्कि । जरीगृहीति । द्वित्वं जिश्च भवतः । नोमतेति योगविभागः । तेन गोरन्यत्रापि क्वचित् त्याश्रयं न भवति । परमवाचः । परमवाचा । अन्तर्वर्तिनी विभक्तिमाश्रित्य पदत्वात्कुत्वं प्राप्तं नोमतेति प्रतिषिध्यते ।

अन्त्याद्यचष्टिः ॥११६५॥ अच इति षातिनिर्देशः । निर्धारणे च ता । समानजातीयस्यैवं लोके निर्धारणं प्रसिद्धमिति द्वितीयमज्ग्रहणं लभ्यते । अचां योऽन्योऽच् तदादि शब्दरूपं टिसंज्ञं भवति । धर्मवित् इच्छब्दः । ज्ञानमुदत्र उच्छब्दः । आताम्, आथामित्यत्र उच्छब्दः । पचेते । पचेथे “टिदूदरे” [२।४।६५] इति टरेत्वम् । अहं पचे इति व्यपदेशिवद्भावात्तदादित्वम् । टिप्रदेशाः “टिदूदरे” [२।४।६५] इत्येवमादयः ।

उपान्त्यालुङ् ॥११६६॥ अलामन्त्यस्य समीपोऽल् उङ्संज्ञो भवति । अन्त्यग्रहणादलां समुदायो लभ्यते । अल्समुदायापेक्षया ह्यन्त्योऽल् भवति न केवलः । पच् इत्यकारः । भिद् इतीकारः । पाचकः । भेदकः । उपान्त्य इति किम् ? व्यवहितस्यान्त्यस्य च मा भूत् । अलिति किम् ? समुदायस्य मा भूत् । उङ्प्रदेशाः “उङोऽतः” [५।२।४] “च्युङः” [५।२।८३] इत्येवमादयः ।

येनालि विधिस्तदन्ताद्योः ॥११६७॥ येन शब्देन यो विधिर्विधीयते स तदन्तस्य भवति । अलि यो विधिः स तदादौ भवति । “योऽचोऽरासुयुवः” [२।१।८४] इत्यचो यविधिर्विधीयत इत्यजन्ताद्भवति । चेषम् । जेषम् । केवलाद्व्यपदेशिवद्भावेन । एषम् । अध्येयम् । “आतः कः” [२।२।३] इत्याकारान्तात्कः । गोदः । कम्बलदः । “स-त्य-विधौ न तदन्तविधिः” [वा०] । सविधौ—कष्टं परमश्रित इति ईप्सो न भवति । त्यविधौ—सूत्रनडस्यापत्यं सौत्रनाडिः । “नडादेः फण्” [३।१।८८] इति फण् न भवति । “उगित्कार्ये वर्णकार्ये च तदन्तादपि भवतीति वक्तव्यम्” [वा०] भवती । अतिभवती । दाक्षिः । नैतद्वक्तव्यम् ।

सुपा श्रितादयो विशेष्यन्ते न तु श्रितादिभिः किञ्चिद्विशेषणेन च तदन्ताविधिः । मृदा नडादयो विशेष्यन्ते न नडादिभिर्मृदः । उगिता च वर्णैर्न मृद् विशेष्यते । अलीति वर्णनिर्देशः । अलि यो विधिः स तदादौ भवति । “शुभ्रुवां खोरचीयुवौ” [४।४।७२] चिद्वियुः । चिद्वियुः । व्यपदेशिवद्भावेन केवलेऽपि तदादित्वम् । चिद्विये । येनेति करणे भा । विधिशब्दः कर्मसाधनः ।

अद्वाद्यौन्दुः ॥ १।१।६८ ॥ अद्विवति जातिनिर्देशो निर्धारणे चेप् । अन्तु आदिभूतोऽच् ऐप् यस्य समुदायस्य स दुसंज्ञो भवति । ऐतिकायनस्य शिष्य ऐतिकायनीयः “दोश्छः” [३।२।६०] इति छः । आम्ब्रस्यापत्यमाम्ब्रष्यः “द्वित्कुरुनाद्यजादकोशलाभ्यः” [३।१।१५३] इति व्यः । डुघणा अस्मिन्देशे सन्ति “बुञ्छणकठेल” [३।२।६०] आदिसूत्रे अरीहणादित्वाद् बुञ् । द्रौघणके जातो द्रौघणकीयः “दोः कळोळः” [३।२।११७] इति छः । अद्विवति किम् ? हलामाविवक्षार्थम् । औपगवीयः । कापटवीयः । जात्यपेक्षया बहुत्वं किम् ? द्वयच एकाचश्च दुसंज्ञा यथा स्यात् । मालामयम् । वाङ्मयम् । आदिरिति किम् ? सभासन्नयने अतः सभासन्नयनः । छः प्रसज्येत । ऐविति किम् ? दत्तस्यायं दात्तः । दुप्रदेशाः “दोश्छः” [३।२।६०] इत्येवमादयः ।

त्यदादि ॥ १।१।६९ ॥ त्यदादीनि शब्दरूपाणि दुसंज्ञानि भवन्ति । अद्वादिरिति नेहाभिसंबध्यते । यद्यभिसंबध्येत तदोपसर्जनत्वे सत्यपि वचनात्तदादेरेव दुसंज्ञा स्यात् केवलानामिति । त्यदीयः । तदीयः । तवापत्यं लादायनिः । मादायनिः । “वा वृद्धाद् दोः” [३।१।१४४] इति फिञ् । त्यदादिः सर्वादेरन्तर्गण आ परिसमाप्तेः ।

एङ् प्राग्देशे ॥ १।१।७० ॥ अद्वादेरिति वर्तते । एङ् यस्याचामादिस्तद् दुसंज्ञं भवति प्राचो देशाऽभिधाने । एणीपचने जात एणीपचनीयः । एवं गोनर्दीयः । भोजकदीयः । एङिति किम् ? आहिच्छत्रः । कान्यकुब्जः । प्राग्ग्रहणं किम् ? देवदत्तो नाम वाहीकेषु ग्रामस्तत्र भवो दैवदत्तः । देश इति किम् ? गोमती नाम नदी तस्यां भवो गौमतः । “वा नाम्नः” [१।१।७१] इति यदा दुसंज्ञा नास्ति तदेदमुक्तम् । “भिन्नलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामोऽपुरम्” [१।४।८३] इति ज्ञापकान् नदी देशग्रहणेन न गृह्यते । शरावती नाम नदी तस्याः पूर्वो देशः प्राग्देशः । उत्तरस्तूदीचां देशः ।

वा नाम्नः ॥ १।१।७१ ॥ पुरुषैर्व्यवहाराय सङ्केतितः शब्दः संज्ञा नाम । नामधेयस्य वा दुसंज्ञा भवति । पद्मनन्दीयम् । पाद्मनन्दिनम् । देवदत्तीयम् । दैवदत्तम् । नाम्न इति किम् ? देवैर्दत्त इति यः क्रियानिमित्तको देवदत्तशब्दस्तस्य काश्यादिषु गटादृक्त्वात्त्वेन भवतः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेन घृतप्रधानो रौढिः घृतरौढिः । संज्ञेयम् । तस्य शिष्या घृतरौढीयाः । एवमोदनपाणीयः । वृद्धाम्भीयाः । वृद्धकाश्यपीयाः । नित्यं दुसंज्ञा । “जिह्वाकात्यहरितकात्ययोर्न भवत्येव” [वा०] जैह्वाकाताः । हारितकाताः ।

अणुदित् स्वस्यात्मनाऽभाव्योऽतपरः ॥ १।१।७२ ॥ अण् उदिच्च गृह्यमाणः स्वस्य ग्राहको भवति आत्मना सह भाव्यमानं तपरं च वर्जयित्वा । इदमण्ग्रहणं परेण शकारेण । “अतः षफादेरेप्” [३।२।१२२] इति तपरनिर्देशाज्जायते । “यस्य ङर्या च” [४।४।१३६] दाक्षिः । चौलिः । दैत्यः । कौमारः । “अस्य च्वौ” [३।२।१४१] शुक्लीभवति । मालीभवति । उदित्—“स्तोः श्रुना श्रुः” [३।४।११६] “हुना हुः” [३।४।१२०] । अभाव्य इति किम् ? भाव्यन्ते उत्पाद्यन्ते त्यादेशादित्किन्मितस्ते स्वस्य ग्राहका न भवन्ति । “अस्यात्” [२।३।८४] “त्यदादेरः” [३।१।१६१] टित्-लविता । कित्-बभूव । मित् । “सृजिहशोरम्” [४।३।६१] । अतपर इति किम् ? भिसोऽत ऐस्” [३।१।८] । वृद्धैः । खट्वा-भिरित्यत्र न भवति । तकार इद्यस्य सोऽयं तित्तिदि सिद्धे परग्रहणान्भयार्थम् । तः परोऽस्मात्तपरस्तादपि परस्त-

१. इतिकस्यापत्यं पुमान् ऐतिकायनः । नडादेः फणिति फण् । ३. अशनादेरित्यर्थः । ४. वृद्धान्तीयाः व०, ल० ।

परः । इदमेव ज्ञापकं सविधौ केति योगविभागोऽस्ति । “आदैगैप्” । [११११५] “अदेडेप्” [११११६] तपरत्वादेजेडादिषु त्रिमात्रचतुर्मात्राणां निवृत्तिः । “अभाव्योऽतपरः” इति पृथग्भावानुच्चारणं किम् ? क्वचिद्भाव्योऽपि स्वं गृह्णातीति ज्ञापनार्थम् । अमूम्याम् । संज्ञासूत्रमिदं न परिभाषा । सा हि नियमार्था भवति । न चाणुदितां स्वस्यास्वस्य च ग्रहणं प्राप्तं येन स्वस्यैवेति नियमः स्यात् ।

अन्त्येनेतादिः ॥१११७३॥ अन्त्येनेत्संज्ञकेन गृह्यमाण आदिस्तन्मध्यपतितानां ग्राहको भवत्यात्मना सह । आद्यन्तौ सम्बन्धिशाब्दौ । अतः सामर्थ्यादाद्यन्तव्यतिरेकेण तन्मध्यपाति वस्तु प्रत्येकं मञ्जिन्नेनाद्भिन्नम् । अ इ उ इत्येतेषां प्रत्येकमणिति संज्ञा । एवमक् अच् अट् इत्येवमादयः । अन्त्येनेति किम् ? सुडित्यत्र आदिना टा इत्येतस्य टकारेण ग्रहणं मा भूत् । अन्त्येनेतीदमेव ज्ञापकं सहार्थे गम्यमानेऽपि भा भवति ।

असंख्यं भिः ॥१११७४॥ संख्या एकत्वादि का सा यस्य न विद्यते तदसंख्यं भिसंज्ञं भवति । एकत्वादिनिबन्धना विभक्त्युत्तरसंख्यादप्राप्ता “सुपो केः” [११११५०] इति वचनाद्भवति । के पुनरसंख्याः ? स्वर । अन्तर । प्रातर । अनुतर । पुनर । सायम् । नक्तम् । अस्तम् । वस्तोः । दिवा । दोषा । ह्यः । श्वः । कम् । शम् । योर्मयः (?) च^२ । न । अन्नम् । विहायसा । रोदसी । ओम् । भूः । भुवः । स्वस्ति । समया । निकषा । अन्तरा । बहिस्^३ । साम्प्रतम् । अद्वा । सत्यम् । इद्वा । मुधा । मृषा । वृथा । मिथ्या । मिथो । मिथु । मिथुनम् । मिथस् । अनिशम् । मुहुः । अभीक्ष्णम् । मङ्क्षु । भटिति । उच्चैस् । अवश्यम् । सामि । साचि । विष्वक् । अन्वक् । आनुषक् । साजक् । द्राक् । प्राक् । ऋधक् । पृथक् । धिक् । हिक् । ज्योक् । मनाक् । शनैः । ईषत् । जोषम् । तूष्णीम् । कामम् । निकामम् । प्रकामम् । आरात् । अरम् । वरम् । परम् । चिरम् । तिरः । नमः । स्वयम् । भूयः । प्रायः । प्रवाहुकम् । आर्यहलम् । कुः । अलम् । बलवत् । अतीव । सुष्टु । दुष्टु । ऋते । सपदि । सान्नात् । सनात् । सना । आशु । सहसा । युगपत् । उपांशु । पुरा । पुरतः । पुरस्तात् । पुरः । इत्येवंप्रकाराः, निसंज्ञकाश्च सर्वे “च, वा, ह, अह” एवम्प्रभृतयो हृतश्च तसादयस्तत इत्यादयश्चर्यार्थाः, कृतः मुमात्मुमादयः क्त्रात्यादेशश्चेति । हसश्चेति केचित्पठन्ति, तत्तु चिन्त्यम् । उपाग्निकमित्यकोऽसम्भवात् । उपकुम्भम्भन्यम् इति मुमो दर्शनात् । उपकुम्भीकृत्येति ईत्वविधानाच्च । सामान्यविषया भिसंज्ञा । विशेषविषया निसंज्ञा । असंख्यग्रहणं किम् ? यत्रासंख्यत्वं प्रतीयते तत्र भिसंज्ञा । उच्चैः । परमोच्चैः । अस्ति । स्वस्ति । उपसर्जनं मा भूत् । अत्युच्चैः । अच्युच्चैसौ । अत्युच्चैसः । अत्यस्तिः । भिप्रदेशाः “सुपो केः” [११११५०] इत्येवमादयः ।

गाङ्गादेरञ्जिण्डित् ॥१११७५॥ गाङ्गित्येतस्मात् कुटादिभ्यश्च धुभ्यः परेऽञ्जितस्त्या ङितो भवन्ति । विनापि वतमतिदेशो गम्यते । गाङ्गिति व्याख्यानादिङादेशो गृह्यते । कुटादिस्तुदादेरन्तगोपो यावत् वृत्शब्द इति । गाङ्—अध्यगीष्ट । अध्यगीषताम् । अध्यगीषत् । लुङ्लुङोर्वेति इङो गाङ्देशः । “मुमा” [११११६५] आदिसूत्रेणैवम् । कुटादि—कुटिता । कुटितुम् । कुटितव्यम् । पुटिता । पुटितुम् । पुटितव्यम् । व्यचरनसि कुटादित्वम्—विचिता । विचितुम् । विचितव्यम् । अनसीति किम् ? उद्वयचाः । “अस् सर्वधुभ्यः” इत्यस् । अञ्जिदिति किम् ? उक्तोऽयति । उक्तोऽयति वर्तते । ङितीव ङिद्वत् । ईवन्ताद्वदर्थो गम्यते । तैन उच्चुकुटिपति इत्यत्र “ङनुदात्तेतो दः” [११११६] इति दो न भवति ।

इङ्विजः ॥१११७६॥ अन्त्येनेतादिरित्यत्र आदिरिति वर्तते । विजेर्धोरुत्तर इडादिस्त्यो ङिङ्भवति । उद्विजित्वा । उद्विजितुम् । उद्विजितव्यम् । इङिति किम् ? उद्वेजनम् । उद्वेजनीयम् । विज इति किम् ? लविता ।

१. “भिः” सु० । २. “च नासो” इति अ०, ब०, स०, पुस्तकेषु, तत्र “च” “न” “आम्” “नो” इति पदच्छेदो युक्तः । ३. “बहिर्” अ०, ब०, स० । ४. “भाजक्” इति अ० । “ताजक्” इति स० । “साजक्” इति ब० मुद्रितयोः । परमयं शब्दभेदोऽन्वेष्ट्यमाणोऽन्यव्याकरणकोशेषु च नोपलब्धः । ५. अदर्शनादिति युक्तम् । ६. “ङिङ्विज—अ०, ब०, स० ।

वोरणोः ॥१११७७॥ ऊरणोः पर इडादित्यो^१ वा ङिङ्भवति । प्रोरुंविता । प्रोरुंविता । अप्राप्ते^२ विकल्पोऽयम् । दसंज्ञके तु लङ् इटि परत्वान्नित्यो विधिः । प्रोरुंवि । अत्रिणदित्येव । जिवदिटि-प्रोरुंविष्यते । इडादिरित्येव । प्रोरुंवनम् । प्रोरुंवनीयम् ।

गोऽपित् ॥ १११७८ ॥ अपिद् गसंज्ञको ङिङ्भवति । कुरुतः । कुरुन्ति । चिनुतः । चिन्वन्ति । मृष्टः । मृजन्ति । ग इति किम् ? कर्ता । मार्था । अपिदिति किम् ? करोति । मार्थि । अपिदिति प्रसज्यप्रतिषेधः । यद्येवं तुदानि लिखानीत्यत्र पिदपितोरेकादेशः^३ 'पिङ्गवतीति' "बुङ्" [१११८३] एत्प्रसज्येत । नायं दोषः । लोडादेशस्य पित्वं न चाटः । अथवायं पर्युदासः । इह तर्हि न्यवन्तै प्लवन्त इति परापेक्षापिदपितोरेकादेशस्य पितोऽन्यत्वमस्तीत्येप्रतिषेधः प्रसज्येत । नैष दोषः—“वाणार्द् गावं बलीयः” इति, प्रागेवैकादेशादेप् ।

लिङ्स्फात्कित् ॥ १११७९ ॥ अपिदित्येव । अस्फान्तात्परोऽपिङ्गिट् किङ्गवति । विभिदतुः । विभिदुः । ममृजतुः । ममृजुः । लिङिति किम् ? यथा । अस्फादिति किम् ? ममन्थतुः । ममन्थुः । ननु ररन्धिव ररन्धिम इत्यत्रास्फाद्विहितो लिट् । नैवम् । नः नः नः नः नः नः । एवञ्च कुरडा हुण्डेत्यत्र “सरोहलः” [१११८५] इति अस्यो भवति । अपिदित्येव । विभेदित् । ङिङिति वत् माने किद्ग्रहणं किम् ? ईजतुः । ईजुः । ङिति जिर्नं स्यात् । अथमेव किद्विषयः । वृत्ते, वृत्तये इत्यत्र परत्वादेपि कृते स्फान्तत्वमिति चेत्, इष्टवाचित्वात्परशब्दस्येत्येदोषः । अस्फादिति प्रसज्यप्रतिषेधः । न चेत् स्फान्ताद्विहित इति पर्युदासे हि हलन्तादेव लिट् कित् स्यात् । “वोरणोः” [१११८८] इत्यतो वेति व्यवस्थितविभाषाऽनुवर्तते । ततः अन्थिग्रन्थिदम्भिभवञ्जीन्धिभ्योऽपि किङ्गवतीत्येके । श्रेथुः । श्रेथुः । ग्रेथुः । देभतुः । देभुः । परिषस्वजे । परिषस्वजाते । समीधे । समीधाते । समीधिरे ।

मृडमृदगुधकुषवदवसः क्त्वा ॥१११८०॥ मृड मृद गुध कुष वद वस इत्येतेभ्यः परः क्त्वा ल्यः किङ्गवति । मृडित्वा । मृदित्वा । गुधित्वा । कुषित्वा । उदित्वा । उषित्वा । सिद्धे विधिरारभ्यमाणो नियमार्थः । तुल्यजातीयस्य च नियमः । सेट् क्त्वा तुल्यजातीयः, तेन मृडादिभ्य एव क्त्वा सेट् किङ्गवति नान्येभ्यः । देवित्वा । सेवित्वा । वर्तित्वा । सेडिति विशेषणं किम् ? भुक्त्वा । मुक्त्वा । मृडादिभ्यः क्तवैव किङ्गवतीति^४ विपरीतो नियमो नाशङ्कनीयः । एवं हि “क्लिङ्गः” [१११८१] इति कित्त्ववचनमनर्थकं स्यात्, प्रतिषेधाभावात् । गुधिकुष्योस्तु “व्युङ्गोऽवो हलः संश्च” [१११८७] इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थः पाठः ।

क्लिङ्गः ॥ १११८१ ॥ क्लिङ्गः परः क्त्वा सेट् किङ्गवति । क्लिशित्वा । पूर्वेण नियमेन कित्त्वे निवर्तिते “व्युङ्गोऽवो हलः संश्च” [१११८७] इति विकल्पः प्राप्तः । पूर्वं सूत्रे इष्टतोऽवधारणार्थं योगान्तरम् ।

मुषग्रहिरुर्दविदः संश्च ॥१११८२॥ मुष ग्रहि रुर्द विद इत्येतेभ्यः परः संश्च (सन्)क्त्वा च सेट् किङ्गवति । मुषिषति । जिष्टति । रुदिषति । विविदिषति । मुषित्वा । गृहीत्वा । रुदित्वा । विदित्वा । ग्रहेर्मुडादिनियमान्निवृत्तौ विध्यर्थमितरेषां “व्युङ्गोऽवो हलः संश्च” [१११८७] इति विकल्पे प्राप्ते वचनम् ।

भल्लिकः ॥१११८३॥ क्त्वेति निवृत्तम् । अन्येनेतादिरित्यत आदिरिति वर्तते । इगन्ताद्धोः परो भल्लादिः सन्किङ्गवति । सामर्थ्यात्सन्निहितस्य धोरिका तदन्तविधिः । चिचीषति । निनीषति । ररुषति । चिकीर्षति । लुलूषति । यदि सनि दीत्ववचनसामर्थ्यान्मात्रिकद्विमात्रिकयोरेवभावः सिद्ध इत्यस्यानर्थक्यम् । शिखमपि तर्हि न स्यात् । शीप्सति । एतस्मिन्स्तु सनि चिचीषत्यादिषु सावकाशं दीत्वं परत्वादिगणखेन बाध्यते । भल्लादिरिति किम् ? शिष्यिषते । इक इति किम् ? पिपासति । सनीत्येव । कर्ता ।

१.-दिः ल्यो” ब०, स०, मु० । २.-प्तविक-अ० । ३. पिङ्गवद् भ-अ०, ब०, स० । ४. त्वाटः अ० । ५.-वति विप-अ०, ब०, स० । ६. पूर्वं सूत्रे मु० । ७. रुदित्वा इति नास्ति अ० ब० स० पुस्तकेषु । ८. शीप्सतीति अ०, ब०, स० ।

हलन्तात् ॥ १११८४ ॥ सन् भलिक इति^१ वर्तते । अन्तःशब्दः समीपवचनः । इकोऽन्तः समीपो यो हल् तदन्ताद्धोर्लादिः सन्किद् भवति । विभित्सति । बुभुत्सते । विवृत्सति । अन्तग्रहणं किम् ? यियत्ति । जिर्नं भवति । नात्रेकस्मीपाद्धलः परः सन् । एवं वा सूत्रार्थः । इकः परो हलन्तो हलवयवो यो धुस्तस्मादुचरो भलादिः सन्किद् भवति । अन्तग्रहणं स्पष्टार्थमुक्तमस्मिन् व्याख्याने । इक इति कानिर्देशः किम् ? यियत्ति । भलित्येव । विविद्धपते । “निरैकाजनाङ्” [१११२२] इत्यत्र एकग्रहणं ज्ञापकमुक्तम्, “अन्यत्र वर्णाग्रहणे जाति-ग्रहणमिति ।” तेनेह हल्ग्रहणेन भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययनिमित्तं हल् जातिर्गृह्यते । ततो धिप्सतीति सिद्धम् ।

सिलिङ् दे ॥ १११८५ ॥ सन्निति निवृत्तम् । भलिकः हलन्तादिति च वर्तते । सिश्च लिङ् च दे इको हलन्तात्परौ भलादी कितौ भवतः । सेरेव दपरत्वं विशेषणं न लिङोऽसम्भवात् । द एव हि लिङ् भलादिः । अभित् । अद्भुद् । भित्सीष्ट । भुत्सीष्ट । द इति किम् ? अस्वाङ्गीत् । अद्राङ्गीत्^३ । कित्वे सृजिदृशोरमागमो न स्यात् । “वद्वज्र (वज्रवद्)” [१११७६] इत्यादिनैप् । इक इत्येव । अयष्ट । यन्तीष्ट । जिः प्रसज्येत । हलन्तादित्येव । अचेष्ट । चेपीष्ट । एम्न स्यात् । भलादिरित्येव । अर्वातिष्ट । वर्तिषीष्ट । एम्न स्यात् ।

उः ॥ १११८६ ॥ अर्तेर्व्याख्यानादग्रहणम् । ऋवर्णान्ताद्धोः परौ सिलिङ्गौ दे भलादी कितौ भवतः । अकृत । अहृत । कृषीष्ट । हृषीष्ट । द्विमात्रस्य । अस्तीर्ष्याम् । स्तीर्षीष्ट । “लिङ्ग्योर्दे” [१११६०] इत्यनि-ट्पक्षे द्रष्टव्यम् । भलादिरित्येव । अस्तरिष्ट । स्तरीषीष्ट ।

गमो वा ॥ १११८७ ॥ गमेषोः परौ सिलिङ्गौ दे भलादी वा कितौ भवतः । समगत । सङ्गसीष्ट । वा गमः कित्वे “अनुदात्तोपदेश” [४१३३७] इत्यादिना डखं “ग्राद् गोः” [१३१४५] इति सेः खम् । पक्षे-समगंस्त । सङ्गसीष्ट ।

हनः सिः ॥ १११८८ ॥ हन्तेषोः परः सिर्दे किद्भवति । आहत । आहसाताम् । आहसत । सेः कित्वान्ङस्य खम् । [अन्यथा अनिदित इति उङ्ः खस्य प्रतिषेधः स्यात् ।] पुनः सिग्रहणं लिङ्निवृत्त्यर्थम् । दग्रहणमनुवर्तते । एवं नित्यो वधादेश इति इह प्रयोजनं नास्ति ।

यमः सूचने ॥ १११८९ ॥ यमेषोः सूचनेऽर्थे वर्तमानात्परः सिर्दे किद्भवति । सूचनं गन्धनमा-विष्करणमित्यर्थः । उदायत । उदायसाताम् । उदायसत । अकर्मकत्वे “आङो यमहनः” [१२१२३] इति दः । सूचन इति किम् । आर्यस्त कृपाद्रज्जुम् । सकर्मकत्वे “समुदाङ्ग्यमोऽग्रन्थे” [१२१७०] इति दः ।

वोपयमे ॥ १११९० ॥ उपयमो दारस्वीकारः । उपयमेऽर्थे वर्तमानाद्यमेषोः परः सिर्दे वा किद्भवति । उपायत कन्याम् । उपायस्त कन्याम् । “स्वीकृतावुपायमः” [१२१५१] इति दः । इयमप्राप्ते विभाषा । स्वीकारसूचने पूर्वविप्रतिषेधेन पूर्वेण नित्यो विधिः ।

भुस्थोरिः ॥ १११९१ ॥ द इति वर्तते । भुसंज्ञकानां स्था इत्येतस्य च धोरिकारोऽन्तादेशो भवति सौ सिश्च दे कित् । अदित । अधित । उपास्थित । “ग्रात्” [४३१५८] इति सेः खम् । सन्निपातपरिभाषाया अनित्यतां वक्ष्यति । तिष्ठतेः “उपात्मन्त्रकरणे” [१२१२०] “धेः” [१२१२१] इति दः । इत्त्वचनसामर्थ्या-देपो निवृत्तिः सिद्धेति किद्भवति । सेरपि विशेषणम् ।

१. इति च वर्तते अ०, ब०, स० । अत्र च शब्दोऽप्यर्थकः । २. अन्तःशब्दः ब० । ३. अद्भुक्षीत् इति मुद्भित्तपुस्तके नास्ति । ४. कोष्टकस्थितः पाठोऽप्रासंगिक इव भाति । “हलुङ्ः किङ्कित्यनिदितः” इत्यस्यात्राप्रवृत्तेः । ५. हन्धोर्दे “हनो वध लिङ्” इति नित्यवधादेशविधानात् “हनः सिः” इत्यत्र लिङ्निवृत्तेः प्रयोजनं नास्ति कित्वप्रयुक्त-नख-रूप-फलस्य लिङ् नित्ये वधादेशोऽभावात् । ६. षणं विहितम् । तः सेट्—अ०, ब०, स० ।

तः सेट् पूङ् शीङ् स्विन्मिद्विद्भृषो न ॥१।१।६२॥ पूङ् शीङ् स्विद् मिद् चिद् धृष इत्येतेभ्यः परस्तसंज्ञः सेट् न किद्भवति । पवितः । पवितवान् । “श्रुकः किति” [१।१।१७] इतीष्टि प्रतिषिद्धे “पूङ्ः” [१।१।६६] इति तक्त्वोरिड् विभाषितः । शीङ्-शयितः । शयितवान् । अनुबन्धो यङ्बन्तनिवृत्त्यर्थम् । शोश्रियतः । शोश्रियतवान् । “एगिवाक्चादुङोऽसुधियः” [४।४।७८] इति यत्वम् । स्विदा । प्रस्वेदितः । प्रस्वेदितवान् । प्रमेदितः । प्रमेदितवान् । प्रद्वेदितः । प्रद्वेदितवान् । प्रधर्षितः । प्रधर्षितवान् । वैयात्ये धृष्ट इत्येव भवति । पूङ्ः “तयोर्व्यक्तखार्थः” [२।४।२५] इति कर्मणि क्तः । शीङ्ः “धिगत्यर्थाच्च” [२।४।२८] इति कर्तरि (क्तः) चेति । स्विदादीनां “कर्त्तरि चारम्भे क्तः” [२।४।२६] इति कर्त्तरि क्तः । “आदितः” [१।१।१२२] इति प्रतिषेधे (षिद्धे) “वा भावारम्भयोः” [१।१।१२३] इति पक्षे भवति । त इति किम् ? पवित्वा । “पूङ्ः” [१।१।६६] इतीट्पक्षे मृडादिनियमादकित्वम् । सेडिति किम् ? पूतः । पूतवान् ।

मृषः स्वार्थे ॥१।१।६३॥ स्वार्थस्ति तिक्त्वा । मृषेधोः स्वार्थे वर्तमानात्तसंज्ञः सेट् न किद्भवति । मर्षितः । मर्षितवान् । स्वार्थं इति किम् ? अपमृषितं वाक्यमाह । धूनामनेकार्थत्वात् स्वार्थग्रहणं पठितापेक्षम्^१ । पाठस्तूपलक्षणम् । सेडित्येव । मृषु सहने चास्योदित्वात् “यस्य वा” [१।१।१२१] इतीष्टि प्रतिषिद्धे मृष्टम्^२ ।

वोदुङो भावारम्भयोः शपः ॥१।१।६४॥ तः सेण किदिति वर्तते । उदुङो धोः शब्बिकरणात्परो भावे चारम्भे च तः सेट् वा न किद्भवति । भावग्रहणं क्तस्य विशेषणम् । आरम्भ आत्रः^३ क्रियाक्षणः । स धोर्विशेषणम् । द्युतितमस्य । द्योतितमस्य । सम्बन्धे ता । कर्तृत्वविवक्षायां “न क्ति” [१।४।७२] इत्यादिना ता-प्रतिषेधः । द्युतितमनेन । द्योतितमनेन । प्रलुठितः । प्रलोठितः । प्रलुठितवान् । प्रलोठितवान् । “कर्त्तरि चारम्भे क्तः” [२।४।२६] इति कर्त्तरि क्तः । उदुङ इति किम् ? विदितमनेन । प्रविदितः । भावारम्भयोरिति किम् ? रुचितः कार्षापणः । शब्बिकरणादिति किम् ? गुधितमस्य । प्रगुधितः । श्राविकरणोऽयम् । सेडित्येव । रूढमस्य । प्ररूढः । तपरकरणमसन्देहार्थम् । निकुचित इति नकारस्य स्वे कृते “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य” इत्युदुङो विकल्पो न भवति । विहितविशेषणाद्वा ।

नोडस्थफात् क्त्वा ॥१।१।६५॥ सेडिति वर्तते वेति च । नकारोडो धोः स्थकारान्तात् फकारान्ताच्च क्त्वा सेट् वा किद्भवति । श्रथित्वा । श्रन्थित्वा । ग्रथित्वा । ग्रन्थित्वा । गुफित्वा । गुभित्वा । मृडादिनियमान्नित्यमकित्वे प्राप्ते विधिविभाष्यते । नोड इति किम् ? गोफित्वा । नन्वत्रापि “व्युङोऽवो हलः संश्र” [१।१।६७] इति विकल्पेन भाव्यम् । एवं तर्हि ऋफेरफित्वा प्रत्युदाहरणम् । थफान्तादिति किम् ? स्तं सित्वा ।

वञ्चिलुञ्च्यृत् षिमृषिकृषः ॥१।१।६६॥ वञ्चि लुञ्चि ऋति तृषि मृषि कृष् इत्येतेभ्यः परः क्त्वा सेट् वा किद्भवति । वञ्चित्वा । वञ्चित्वा । लुञ्चित्वा । लुञ्चित्वा । ऋतेर्वाऽर्गं इति यदा ईयङ् न भवति तदा ऋतित्वा । अर्तित्वा । तृषित्वा । तर्षित्वा । मृषित्वा । मर्षित्वा । कृषित्वा । कर्षित्वा । मृडादिनियमान्नित्यमकित्वं प्राप्तम् । सेडित्येव । वक्त्वा । मृष्ट्वा । “बोदितः” [१।१।१०४] इति पक्षे नेट् ।

व्युङोऽवो हलः संश्र ॥१।१।६७॥ सेडिति वर्तते वेति च । उकारोड इकारोडश्च धोरवकारान्ताद्बलादेः परः संश्र क्त्वा च सेटो वा कितौ भवतः । उकारेकारोडोऽजन्तत्वासम्भवाद्बलग्रहणमादिशेषणम् । दिद्युतिषते । दिद्योतिषते । “द्यु तिस्वाप्योर्जिः” [१।२।१६७] इति चस्य जिः । द्युतित्वा । द्योतित्वा । लिलिखिषति । लिलिखिषति । लिखित्वा । लेखित्वा । सन्नकिदेव क्त्वापि नेट्पक्षे निवृत्तेः । तयोरप्राप्तं कित्वमनेन विधीयमानं

१. धातुपाठपठितितिक्षार्थस्य ग्रहणमित्यर्थः । २. मृष्टः ब० । ३. -द्यक्त्रि-ब० । ४. “कमृत्यो-
शिङीयङ्” २।१।२८ इति नित्यं शिङीयङौ । अत्र “वाऽवो” इत्यनुवृत्तेः अगो विकल्पेन शिङीयङौ इति
तत्रत्यवृत्त्यभिप्रायः । एतदाशयेनैवात्र ऋतेर्वाग इति इत्याद्युक्तम् । नत्विथं किमपि सूत्रम् । ५. क्वेति
ब०, स० । ६. अभ्यासस्य ।

विकल्प्यते । व्युड इति किम् ? विवर्तिषते । वर्त्तित्वा । अत्र इति किम् ? दिदेविषति । देवित्वा । हलादेरिति किम् ? एषिषिषति । एषित्वा । सनि एषि कृते द्वित्वम् । सेडित्येव । बुमुक्षते । भुक्त्वा ।

युक्त्वदुसि लिङ्गसंख्ये ॥११।६८॥ युक्तः प्रकृत्यर्थः । प्रत्ययार्थेन सम्बन्धात् । उसोऽर्थ उस् । उसि युक्त इव लिङ्गसंख्ये भवतः । इवार्थे वत् । उसिति नाशस्य संज्ञा । उसा नष्टस्य त्यस्यार्थः साहचर्यादुस् । तत्रोसर्थे प्रकृत्यर्थे इव लिङ्गसंख्ये विधीयते । लिङ्गं स्त्रीपुंनपुंसकानि । संख्या एकत्वद्वित्वबहुत्वानि । पञ्चालो नाम राजा तस्यापत्यं “राष्ट्रशब्दाद्वाज्ञोऽञ्” [३।१।१५०] इत्यञ् । बहुत्वे तस्योपि कृते पञ्चालाः क्षत्रियाः पुंल्लिङ्गा बहुसंख्याः । तेषां निवासो जनपदः “तस्य निवासादूरभवौ” [३।२।५६] इत्यागतस्याणः “जनपद उस्” [३।२।६१] इत्युस् । क्षत्रियेषु ये लिङ्गसंख्ये ते जनपदेऽपि भवतः । पञ्चालाः । कुरवः । अङ्गाः । वङ्गाः । कलिङ्गाः । एवं वरुणानामदूरभवः । गोदौ नाम हृदौ तयोर्दूरभवः । “वरुणादेः” [३।२।६२] इति उस् । वरुणाः । शिरीषाः । गोदौ । “अर्थातिदेशाद्विशेषणानामपि तद्वत्ता सिद्धा” (वा०) पञ्चाला रमणीया बह्वन्ना बहुद्वीरघृता बहुमाल्यफलाः । वरुणा रमणीयाः । गोदौ रमणीयौ । “अजातेरिति वक्तव्यम्” (वा०) । पञ्चाला जनपदः । गोदौ ग्रामः । अत्र जनपदग्रामयोर्जातित्वान्नातिदेशः । जात्यर्थो जातिः । तेन तद्विशेषणानामपि प्रतिषेधः । पञ्चाला जनपदो रमणीयः । नेदं वक्तव्यम् । सञ्ज्ञाप्राप्त्यात् । यथा वर्षा आपो दारा गृहाः सिकता इत्येवमादीनां संज्ञाशब्दानां संज्ञाप्राप्त्याद्यादेव स्वलिङ्गेन स्वसंख्यया च साधुत्वमेवं जातेरपि भविष्यति । पञ्चालादीनां तु संज्ञाशब्दानामन्वाख्यानप्रदर्शनात् । विशेषणानि विधीयते इत्यदोषः । उसीति किम् ? आमलकं फलम् । उपि कृते फलेऽर्थे आमलकशब्दस्य स्त्रीलिङ्गे मा भूत् । लिङ्गसंख्ये इति किम् ? बदर्या अदूरभवो ग्रामः । वरुणादिः वाडुस् तस्य वनं बदरीवनम् । वनस्पतित्वातिदेशो मा भूत् । “विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः” [५।४।६०] इति ण्वं प्रसज्येत । वेति व्यवस्थितविभाषानुवृत्तेर्मनुष्यार्थे उसि विशेषणानां न लिङ्गसंख्यातिदेशः । पञ्चाला अभिरूपः । बह्वीका दर्शनीयः । चञ्च्रेव मनुष्यः । “इवे प्रतिष्ठितौ कः” [४।१।१५०] इति कः । तस्य “उस् मनुष्ये” [४।१।१५२] इत्युस् । खलतिकादिषु संख्यातिदेश एव । खलतिकस्य नररुद्राणां खलतिकं वनानि । हरीतक्यादिषु लिङ्गातिदेश एव । हरीतक्या अवयवः फलानि । “हरीतक्यादेः” [३।३।१२४] इत्युस् । हरितक्यः फलानि ।

तिष्यपुनर्वसूनां भद्रन्द्रे द्वित्वम् ॥११।६९॥ तिष्य एकः पूनर्वसू द्वौ । तेषां भद्रन्द्रे द्वित्वं भवति । उदितौ तिष्यपुनर्वसू । तिष्यपुनर्वसूनामिति किम् । राधानुराधाः । श्रवणधनिष्ठाः । भग्नहरणं किम् । तिष्ये जातः । पुनर्वसुवर्जातौ तत्र जात इत्यागतस्याणो “भेभ्यो बहुलम्” [३।३।१३] इत्युप् । तिष्यश्च पुनर्वसू च तिष्यपुनर्वसवो माणवकाः । ननु गौणत्वादेवात्र न भविष्यति । पर्यायार्थं तर्हि भग्नहरणम् । पुष्यपुनर्वसू सिद्धपुनर्वसू इति । बहुवचननिर्देशः किमर्थः ? एकवद्भावे मा भूत् । इदं निश्चयनं । इदमेव ज्ञापकं “वा तरुमृग०” [१।४।८८] आदिसूत्रे वेति योगविभागोऽस्ति । द्वन्द्व इति किम् । यस्तिष्यस्तौ पूनर्वसू येषां ते तिष्यपुनर्वसवो मुग्धाः तिष्यादय एवात्र विपर्ययेण प्रतीयन्त इति भविष्यत्त्वमस्ति । “जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्” [१।२।५८ पा० सू०] इति न वक्तव्यम् । सामान्यविशेषात्मकत्वाद्बन्धुनः । विशेषेष्वनुवृत्ताकारबुद्धिनिमित्तं सामान्यम् । व्यावृत्ताकारबुद्धिहेतवो विशेषाः । तत्र सामान्यविवक्षायामेकत्वं भवति । सन्धो ब्रीहिः । विशेषविवक्षायां बहुत्वम् । सम्पन्ना ब्रीहयः । संख्यानुप्रयोगे जातिविवक्षैव । एको ब्रीहिः सम्पन्नः सुभिन्नं करोति । अस्मदो द्वयोरैकस्य च वा बहुत्वं न वक्तव्यम् । कथमहं ब्रवीमि, आवां ब्रूवः, वयं ब्रूम इति ? आत्मन इन्द्रियाणां च स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं विवक्षया भविष्यति । कदाचिदात्मा स्वतन्त्रो भवति । अनेनाक्षणा पश्यामि । कदाचिदिन्द्रियाणां स्वातन्त्र्यम् । इदम्पेऽन्ति पश्यति । तत्रात्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षाया-

१. विकल्पेन विधीयत इत्यर्थः । २. “वद्विभ्रका” अ० “वद्विका” सु० । ३. अस्मदो द्वयोश्च (पा० सू० १।२.५६) इति सूत्रं लक्षयति वृत्तिकारः ।

मेकत्वमिन्द्रियाणां स्वातन्त्र्ये बहुत्वम् । सविशेषणस्यात्मविवक्षैव । अहं देवदत्तो ब्रवीमि । अहं साधुर्व्रवीमि । युष्मदि गुरावुभयविवक्षा । त्वं मे गुरुः । यूयं मे गुरवः । एतच्च शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् । फल्गुनीप्रोष्ठपदानां नक्षत्रे द्वयोर्बहुत्वं वेति न वक्तव्यम् । कथं कदा पूर्वे फल्गुन्यौ कदा पूर्वाः फल्गुन्यः । कदा पूर्वे प्रोष्ठपदे कदा पूर्वाः प्रोष्ठपदाः ? यदा ऋतुनीननीनगते चन्द्रमसि फल्गुनीशब्दो विवक्ष्यते तदा बहुत्वमन्यदा द्वित्वम् ।

स्वाभाविकत्वाद्भिधानस्यैकशेषानारम्भः ॥१११॥१००॥ स्वभावत एव शब्द एकशेषमनपेक्ष्य एकत्वद्वित्वबहुत्वेषु वर्तते । अत एवैकशेषानारम्भः । एकत्वादीनां प्रकृत्युपात्तानामभिव्यक्तये विभक्त्युपादानम् । यथा एको द्वौ बहवः पञ्च सतेति । एवं वृद्धः वृद्धौ वृद्धाः । अथ प्रत्यर्थं शब्दनिवेशान्नैकेनानेकस्याभिधानं तत्रानेकार्थाभिधानेऽनेकशब्दत्वं प्रसङ्गमत एकशेषः । अत्रोच्यते—यदि भिन्नेत्रभिन्नाभिधानं प्रत्ययहेतुर्जातिः शब्दार्थः । तस्याः प्रत्यायने एक एव शब्दः समर्थः । अथ द्रव्यं शब्दार्थः । तच्चानेकं व्यावृत्ताभिधानबुद्धिलिङ्गम् । तस्याभिधित्सायामनेकशब्दत्वे प्राप्त एकशेष इति । एतदप्युक्तम् । अवशिष्टः शब्दो निवृत्तशब्दस्य यद्यर्थमभिधत्ते तदास्य द्वित्वेऽपि वृत्तिरिति किमेकशेषेण । अथ नाभिधत्ते तदा पश्चादपि स एवार्थः । कथमनेकत्रार्थे वृत्तिः ? सरूपाणां द्वन्द्वनिवृत्त्यर्थमेकशेष इत्यपि नास्त्यनभिधानात् । न हि भवति द्वौ च द्वौ च द्वाविति । अथ विरूपशब्दार्थ एकशेषः । तथाहि—“वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चैदेव विशेषः” [पा० सू० १।२।६५] ‘अपत्यमन्तर्हितं वृद्धम्’ । एवकारो भिन्नक्रमः । विशेषो वैरूप्यम् । वृद्धः शिष्यते यूना सह वचने वृद्धयुवलक्षणो एव यदि विशेषः समानायां प्रकृतौ । गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ । दान्तिश्च दान्तायणश्च दान्ती । वृद्ध इति किम् ? औपगवश्चानन्तर औपगविश्च युवा औपगवौपगवी । गार्गीगार्ग्यायणौ । यूनेति किम् ? गर्गश्च गार्ग्यश्च गर्गगार्ग्यौ । तल्लक्षण एवेति किम् ? गार्ग्यवात्स्यायनौ । अत्र प्रकृतिविशेषोऽप्यस्ति । एवकारः किमर्थः । भागवित्ति भागवित्तिका । भागवित्तेरपत्यं युवा । “दोष्टण सौवीरेषु प्रायः” [३।१।१३६] इत्यत्र ज्ञेपस्यापि भावान्न तल्लक्षण एव । विशेष इति किम् ? वैदश्च वृद्धो वैदश्च युवा वैदवैदौ । “स्त्री पुं वचच्च” [पा० सू० १।२।६६] स्त्री वृद्धा यूना सह वचने शिष्यते पुं वचनश्चास्या भवति तल्लक्षण एव यदि विशेषः । गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ । दान्ती च दान्तायणश्च दान्ती । नेदं द्वयं वक्तव्यम् । जीवति वंश्ये वृद्धं द्वयमभिधत्ते । अजीवति वृद्धयूनोर्द्वन्द्वो नास्त्यनभिधानात् । जीवति वंश्ये वृद्धा स्त्री युवानञ्च सामान्येन वृद्धशब्द एवाभिधत्ते । द्वन्द्वस्य चानभिधानम् । यदपि पुमान् स्त्रिया सह वचने शिष्यते तल्लक्षण एव यदि विशेषः । कठश्च कठी च कठौ । मयूरश्च मयूरी च मयूरी । प्राणिधर्मयोः स्त्रीपुंसयोर्भेदोऽस्ति न भवति । नदनदीपतिः । घटघटीसरावोदञ्चनादि । तल्लक्षण इत्येव । कुक्कुटमयूरी । एवकार इत्येव । इन्द्रेन्द्रायणौ । भवभवान्यौ । पुंयोगलक्षणोऽप्यत्र विशेषः । इदमपि जातिमात्रविवक्षया सिद्धयति । द्वन्द्वस्य चानभिधानम् । अभिधाने द्वन्द्वोऽस्ति । नदनदीपतिः । ब्राह्मणवत्सब्राह्मणी(ण)वत्सो । भ्रातृपुत्रौ स्वसदुहितृभ्यां शिष्यत इति न वक्तव्यम् । भ्राता च स्वसा च भगिनी वा भ्रातरौ । पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ । अपत्यमात्रविवक्षया द्वन्द्वानभिधानञ्च । इदं तर्हि वक्तव्यम् । नपुंसक^१मनपुंसकेनैकवत्सास्यान्यतरस्यान्तल्लक्षण एव यदि विशेष इति । शुक्लञ्च वज्रं शुक्लश्च कम्बलः शुक्ला च साठी तदिदं शुक्लम् । तानीमानि शुक्लानि । नेदं ज्यायः, त्रिषु लिङ्गेषु नपुंसकस्य प्रश्नादौ प्राधान्यात् । तैर्न (नपुंसकत्वं)

१.—याणां बहु-अ०, ब०, स० । २.—किंस्वभावात् । फल्गु-अ० । ३. “फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे” पा० सू० १।२।६० । ४. प्रत्यर्थशब्द-अ० । ५.—धाने प्रत्य-अ० । ६.—तस्य शब्द-अ०, ब०, स० । ७.—कार्थे वृ-स० । ८. ‘पुमान् स्त्रिया’ पा० सू० १।२।६७। इत्यभिलक्ष्य खण्डयति । ९. “भ्रातृपुत्रौ स्वसदुहितृभ्याम्” पा० सू० १।२।६८। इति खण्डयति । १०. “नपुंसकमनपुंसकेनैकवत्सास्यान्यतरस्याम्” इति पा० सू० १।२।६९।

सामान्यविशेषापेक्षया च वृचनभेदः । पिता^१ मात्रा श्वशुरः श्वश्र्वाऽन्यतरस्यामित्यपि न वक्तव्यम् । सामान्यविवक्षया पितरौ श्वशुराविति । द्वन्द्वोऽप्यस्ति । मातापितरौ । श्वश्रुश्वशुरौ । श्वश्रुशब्दः स्त्रियामिहैव निपातितः । “त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् ।” [पा० सू० १।२।७२] सर्वैरिति त्यदादिभिरन्यैश्च सहवचने त्यदादीनि शिष्यन्त इत्येतदपि नास्ति । त्यदादीनामन्यापेक्षया सामान्यवाचित्वम् । त्यदादिषु च यद्यत्परं तत्तत्सामान्यवाचीति तत्प्रयोगो युक्तः । स च देवदत्तश्च तौ । कश्च देवदत्तश्च कौ । स च यश्च यौ । अथात्र कस्य लिङ्गम् । स च स्थाली च कुण्डश्च । स च देवदत्ता च^२ कुण्डं चेति । उच्यते—द्वन्द्वोऽपवादोऽयम् । द्वन्द्वे चान्यलिङ्गम् । अत्रापि तदेव युक्तम् । इदं चापि न वाच्यम् । “ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री” [पा० सू० १।२।७३] ग्राम्या ये पशवस्तोषां सङ्घेषु स्त्री शिष्यते अतरुणाश्चेद् ग्राम्यपशवः । गावश्च स्त्रियो गावश्च पुमांसः गाव इमाः । अजा इमाः । ग्राम्यग्रहणं किम् । आरण्यानां मा भूत् । रुव इमे । पृषत इमे । पशुग्रहणं किम् । ब्राह्मणा इमे । सङ्घेष्विति किम् ? एतौ गावौ चरतः । अतरुणेष्विति किम् ? वत्सा इमे । वर्करा इमे । कथं नेदं वक्तव्यम् ? रि. द्वन्द्वेऽपि लोकाश्रयत्वलिङ्गस्येति । अन्यथा अश्वा इमे इत्येवमादिषु एकशेषेषु अनिष्टं स्त्रीलिङ्गं प्रसज्येत

इत्यभयनन्दिमुनिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

भूवादयो धुः ॥ १।२।१ ॥ भू इत्येवमादयः शब्दाः प्रत्येकं धुसञ्ज्ञा भवन्ति । भू एध स्पृद्ध इत्यादि । धोरित्यधिकृत्य लडादिर्विधिः कार्यम् । भवति । एधते । स्पृद्धते । आदिशब्दो व्यवस्थावाची । तेन आणव्यत्यादीनां निरासः । अर्थपदोपलक्षितानाञ्च व्यवस्था । ततो धुसमानशब्दानां यावामादिवित्येवमादीनां सर्वनामविकल्पप्रतिषेधस्वर्गादिवाचिनामग्रहणम् । भूशब्द आदिरेषामिति वसे भवादय इति प्राप्नोति । नैवम् । “भूवादीनां वकारोऽर्थं लक्षणार्थः प्रयुज्यते । इको यण् भिर्व्यवधानमेकेषामिति संग्रहः” । तेन त्रियवकं यजामहे वायुवम्बरयोरिवेत्यादि सिद्धम् । “भुवो वार्थं वदन्तीति” भवतेः सम्पदादिपाठान्त्वित् । भुवं भवनं क्रियां वदन्तीति बहुलवचनादयन्तादपि वदेरौणादिके इति कृते भूवादयः । अस्मिन् पक्षे रि. दादोऽपवादोऽयम् । “भ्वर्था वा वादयः स्मृताः ।” अथवा वा गतिगन्धनयोरित्यस्मात्पर आदिशब्दः । भुवो वादयो वाच्यवाचकभावसम्बन्धे ता भ्वर्थ इत्यर्थः । ये तु वकारो मङ्गलार्थ इति पठन्ति । त इदं वाच्याः । यद्याधिक्याद्वकारो मङ्गलमतिप्रसङ्गः स्यात् । एतेन तत् ज्ञानं प्रयुक्तम् । मङ्गलाभिधेयश्च वकारो नाममालादिषु न पठ्यते । वृत्तौ मध्यनिपातश्च चिन्त्यः । धुप्रदेशाः “धोर्द्यङ् क्रियासमभिहारे” [२।१।१६] इत्येवमादयः ।

अकर्मको धिः ॥ १।२।२ ॥ अकर्मको धुर्धिसञ्ज्ञो भवति । “कर्त्तव्यम्” [१।२।१२०] इत्यादिना लक्षण्येन विहितं कर्म तदविवक्षितं वा नास्या (नास्त्यस्य वाऽ) कर्मकः । धिप्रदेशाः “अनोधेः” [१।२।४६] इत्येवमादयः ।

कार्यार्थोऽप्रयोगीत् ॥ १।२।३ ॥ शास्त्रेऽन्यस्य कार्यार्थमाश्रीयते प्रयोगे च न श्रूयते यः स इत्सञ्ज्ञो भवति । अइउण् णकारः । जिमिदा स्नेहने, दुनिदि समृद्धौ, हुक्कञ् करण इत्यादिषु जिटुडवो डेडस्यादिषु ङकारः । कार्यार्थ इति किम् ? कुलात्वं कुलीनः । परमकुलीन इत्यत्र लकारस्याऽप्रयोगित्वात् “खित्यरेमु-”

१. ‘पिता मात्रा, श्वशुरः श्वश्र्वा’ पा० सू० १।२।७०, ७१ इत्यभिलक्ष्य खण्डयति । २.-त्ता च । स च कु-अ०, स० । ३. इदमेकशेषवादिनां मते संगच्छते । एकशेषानारम्भवादिना वृत्तिकृता तु “लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वलिङ्गस्य” इति वाच्यम् । ४.-न्दिविर-अ०, ब०, स० । ५. आणपयत्या-अ०, स० आणययत्या-ब० । ६.-दाणपय-अ०, ब०, स० । ७. निरास इत्यर्थः । ८. “भूवादीनां वकारोऽयमंगलार्थः प्रयुज्यते” (१।३।१ पा० म० भा०) इति खण्डनपरः सन्दर्भः ।

मचः” [४।३।१७६, १७७] इति मुम् प्रसज्येत । अप्रयोगीति किम् ? परमकुलीनः । ईनादेशः कार्यमिति मुम् स्यात् । ननु कार्यार्थोऽप्रयोगी च खः कथं नेत्सञ्चः ? उभयविशेषणोपादानात् । अन्यस्य कार्यार्थो भूत्वा योऽप्रयोगीत्यदोषः । अन्वर्था चेत्यमित्सञ्जा । एति गच्छति नश्यतीत् तेन “तस्य लोपः” [पा. सू. १।३।६] इति न वक्तव्यम् । प्रयोगानुसारेणाप्रयोगित्वावगतेः । प्रतिपत्तिगौरवमिति चेत् “उपदेशेऽजनुनासिक इत्” [पा० सू० १।३।२] इत्यनुनासिकत्वमपि प्रयोगादेवावसीयत इति समानम् । इत्प्रदेशाः “टिदादिः” [१।२।५३] इत्येवमादयः ।

यथासंख्यं समाः ॥ १।२।४ ॥ यथासंख्यं यथाक्रमं समाः शिष्यमाणा भवन्ति^१ । यथासंख्यं “यावद्यथा-वधृत्यसादृश्ये” [१।३।६] इति हसः । समास्तुल्याः । तुल्यत्वञ्च द्विष्टमतः । योर्द्विष्टानां नदिष्टाः समा ज्ञेयाः । “मिथस्थतसोऽमन्ततताम्” [२।४।८२] प्रथमसंख्यस्य मिपः प्रथमसंख्योऽम् इत्येवमादि योज्यम् । समा इति किम् ? “सङ्घादङ्गलक्षणबोधेऽन्यजिजासाम्” [३।३।६५] सङ्घादयश्चत्वारोऽर्था अजादयस्त्रयः, वैषम्यात् सङ्घादिषु चतुर्ष्वर्थेष्वनन्तादण् भवति, तथा यजन्तादिजन्ताच्च । समशब्दस्य सर्वार्थे युक्तार्थे च सर्वनाम-सञ्ज्ञोक्ता न तुल्यार्थे ।

स्वरितेनाधिकारः ॥ १।२।५ ॥ स्वरितेन लिङ्गेनाधिकारो वेदितव्यः । “त्यः” [२।१।१] “परः” [२।१।२] “ङ्याम्मृदः” [३।१।१] इत्येवमादिः । स्वरित इति आचार्यप्रतिज्ञाया लिङ्गम् । “व्यामिश्रः स्वरितः” [१।१।१४] इत्यस्याचो धर्मत्वेन “रो रि” [२।४।१८] इत्येवमादिषु स्वरितान्तरात् । अधिकारो विनियोगो व्यापार इत्यर्थः । स्वरितेनेति योगविभागाद्यथासंख्यमपि स्वरितेन ज्ञेयम् ।

अनुदात्तेतो दः ॥ १।२।६ ॥ ङकारेतोऽनुदात्तेतश्च धोर्द एव भवति । ङितः । षुङ् । सूते । शीङ् । शेते । इङ् । अधीते । अनुदात्तेतः । आस । आस्ते । वस । वस्ते । चञ् । आचष्टे । चत्नोर्ङित्करणमनर्थकम् । अनुदात्तेत्वाद्युच । विचत्नणः । “लः कर्मणि च भावे च धेः” [२।४।५४] इति धोर्लकारा विहिताः । तद्-द्वारेण दविधौ मविधौ च प्राप्ते प्रकृतिनियमोऽयम् । अनुदात्तेतो द एव भवति । दस्त्वनियतः । सोऽन्येभ्योऽपि प्राप्तः । “मम्” [१।२।७५] इति द्वितीयो नियमः । यत्र मञ्च दश्च प्राप्नोति तत्र ममेव भवति । यदि त्य-नियमः स्याद् अनुदात्तेत एव दो भवति नान्येभ्यस्तदान्यत्र मस्य सिद्धत्वात् “मम्” [१।२।७५] इति सूत्र-मनर्थकं स्यात् । तदारम्भादिष्वधारणं सिद्धम् । किञ्च त्यनियमे हि अनुदात्तेतोऽपि मं प्राप्नोति तन्निवृत्तये शेषानमिति शेषग्रहणं कुर्यात् । तदकरणं च ज्ञापकं प्रकृतिनियमस्य ।

ङौ ॥ १।२।७ ॥ ङिरिति भावकर्मणाः सञ्ज्ञा । ङौ द एव भवति । आस्यते भवता । सुप्यते भवता । भावस्यैकत्वं युष्मदस्मदर्थोऽसम्भवश्च । कारकेभ्यः पृथग्भूतो धोरर्थः स्वप्रधानको भावः । एति जीवन्तमानन्द इत्यत्र आनन्दो बाह्य एतेः कर्तृत्वेन विवक्षित इति^२ दो न भवति । कर्मणि । क्रियते कटः । कर्मकर्त्तरि । लूयते के^३सरः । भिद्यते कुसूलः स्वयमेव । अर्थनियमोऽयम् । दस्तु कर्तर्यापि प्राप्तः स ममित्यनेन नियमेन निवर्त्यते । यदि ङावेव दो भवतीति त्यनियमः स्याद् भावकर्मणोरनियतत्वान्मेऽपि प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थं शेषात् कर्त्तरि ममित्युच्येत शेषा^४ऽकरणं ज्ञापकमर्थनियमस्य । एवं प्रकृतिनियमोऽर्थनियमे च सति “मम्” [१।२।७५] इत्यत्र कर्त्तृग्रहणं शेषग्रहणञ्च प्रत्याख्यातम् ।

कर्त्तरि ज्ञे ॥ १।२।८ ॥ कर्त्तरि ज्ञे दो भवति । “कर्मव्यतिहारे जः” [२।३।७६] इति ज्ञे विहितस्तत्सहचरितः कर्मव्यतिहारो ज्ञार्थः । कर्मव्यतिहारश्च कर्मग्रहणसामर्थ्यात् क्रियाव्यतिहारः । अन्यस्य कर्त्तृमिष्टां क्रियां यदान्यः करोति तदिष्टां चेतस्तदा क्रियाव्यतिहारः । व्यतिलुनीते । व्यतिपुनीते । आरम्भसामर्थ्यात्

१.-न्ति । यायासङ्ख्या यथा—अ०, ब०, स० । २. इत्यत्र दो अ०, ब० । ३. केदारः अ०, ब०, स० । ४. उत्तरवाक्यस्वारस्येन शेषाकरणं ज्ञापकं प्रकृतिनियमस्य, कर्त्तृग्रहणाकरणाज्ञापक-मर्थनियमस्येति पाठो युक्तः । ५. जसहचरित इत्यर्थः । ६. व्यतिलुनते । व्यतिपुनते अ०, ब० ।

कर्तव्येव सिद्धे कर्तृग्रहणानुत्तरार्थम् “न गतिर्हिंसार्थेभ्यः” [१।२।६] इति । कर्तारि कर्मव्यतिहारे विहितस्य दस्य प्रतिषेधो यथा स्यादिह मा भूत् । व्यतिभूयते सेनया । व्यतिगम्यन्ते ग्रामाः । व्यतिहन्यन्ते दस्यवः । क्रिया-व्यतिहार इति किम् ? पारिभाषिककर्मव्यतिहारे मा भूत् । देवदत्तस्य धान्यं व्यतिलुनन्ति ।

न गतिर्हिंसार्थेभ्यः ॥ १।२।६ ॥ गत्यर्थेभ्यो हिंसार्थेभ्यश्च धुम्यो जार्थे दो न भवति । व्यतिगच्छन्ति । व्यतिधावन्ति । हिंसार्थेभ्यः । वृत्तिर्गन्ति । व्यतिभिन्दन्ति । व्यतिछिन्दन्ति । व्यन्तिपिषति । बहुवचननिर्देशो हसदिंसंग्रहणार्थः । व्यतिहसन्ति । व्यतिजल्पन्ति । व्यतिपठन्ति । व्यतिकथयन्ति । “हृवहोरप्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] सम्प्रहरन्ते राजानः । व्यतिवहन्ते नद्यः । गतिर्हिंसयो प्रतिषेधो गतिर्हिंसाहेतौ न भवति । व्यतिगमयन्ते । व्यतिभेदयन्ते ।

परस्पराभ्योऽन्येतरे ॥ १।२।१० ॥ परस्पर अन्योन्य इतरेतर इत्येतेषु प्रयुक्तेषु जार्थे दो न भवति । परस्परस्य व्यतिलुनन्ति । अन्योन्यस्य व्यतिलुनन्ति । इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति । व्यतिभ्यां द्योतितेऽपि कर्मव्य-तिहारे परस्परादिपदप्रयोगो द्वावपूपौ भन्त्येति यथा । परस्परादिशब्दानां कथं सिद्धिः । द्वित्वप्रकरणे कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वित्वम् । “सवच्च बहुलम्” [वा०] इति वक्ष्यति ।

निविशः ॥ १।२।११ ॥ नि इति स्वरूपस्य ग्रहणं न निसञ्ज्ञाया । निपूर्वाद्धिशो दो भवति । निविशते । निविशते । निविशन्ते । लावस्थायामडागमः । तद्भक्तो न व्यवधायकः । न्यविशत । “मम्” [१।२।७५] इति मं प्रातम् । सनिर्देशः समर्थार्थः । सामर्थ्यञ्च धोर्गिनां । तेनेह न भवति । मधुनि विशन्ति भ्रमराः । अनर्थकत्वाद्वा ।

प्ररिव्यवक्रियः ॥ १।२।१२ ॥ परि वि अत्र इत्येवंपूर्वात् क्रीणातेर्दो भवति । परिक्रीणीते । विक्रीणीते । अत्रक्रीणीते । अत्रकर्त्राप्ये फले विधिरयम् । अनर्थकत्वादिह न भवति । उपरि क्रीणाति । गवि क्रीणाति । अपचाव क्रीणीवः । क्री इति अनुकरणम् । अनुकार्येणार्थवत्त्वान्मत्वे सति स्वादिविधिः । “प्रकृतिवदनुकरणम्” इति ध्रुवातिदेशादियादेशः । उत्तरत्र जेरिति निर्देशात् वत्करणादपि स्वाश्रयोऽपि क्वचिदेव ।

विपराजेः ॥ १।२।१३ ॥ वि परा इत्येवंपूर्वात् जयतेर्दो भवति । विजयते । पराजयते । अत्रापि सनिर्देशः समर्थस्य गेर्ग्रहणार्थः । तेनेह न भवति । वहुविजयति वनम् । पराजयति सेना ।

आडो दोऽव्यसने ॥ १।२।१४ ॥ व्यसनं विकसनं विवरणं वा । अन्येषां दारूपाणां व्यसने वृत्तिर्नास्ति । आडपूर्वाद्ददातेरव्यसनेऽर्थे दो भवति । विद्यामादत्ते । अत्रकर्त्राप्ये फले प्रापणार्थमिदम् । अव्यसनमिति किम् ? आस्यं व्याददाति । पिलकं व्याददाति । विपादिकां व्याददाति । “स्वाङ्गकर्मकादिति वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गमुखम् । यद्यकर्त्राप्ये फले प्राप्तस्याव्यसन इति प्रतिषेधः कर्त्राप्ये फले व्यसने दः प्राप्नोति । नैवम् । अव्यसन इति योगविभागाद् येन केनचित्प्राप्तस्य प्रतिषेधः । आडिति डित्करणं किम् ? आ ददात्यसौ भिन्नानिदानीमहनन्तार्थम् । आडिति योगविभागः । तेन स्थः प्रतिज्ञाने दो भवति । अनित्यं शब्दमातिष्ठन्ते । “गमयतेः कालहरणे” [वा०] आगमयस्व तावद्देवदत्त । “नुप्रच्छिभ्याञ्च” [वा०] । आनुते श्रृगालः । आपृच्छते गुरुमिति सिद्धम् ।

क्रीडोऽनुपर्याडः ॥ १।२।१५ ॥ अनु परि आड् इत्येवंपूर्वात् क्रीडो दो भवति । अनुक्रीडते । परिक्रीडते । आक्रीडते । गिसाहचर्यादनोर्गे रेव ग्रहणादिह न भवति । माणवकमनु क्रीडति । माणवकेन सहेत्यर्थः । “भार्थे” [१।४।१४] इत्यनुना योग इप् गितिसञ्ज्ञाप्रतिषेधश्च । “शिक्षेर्जिज्ञासायां दो वक्तव्यः” [वा०] शकेः सन्नन्तस्येदं ग्रहणम् । विद्यासु शिञ्चते । धनुषि शिञ्चते । कर्मविवक्षायां विद्याः शिञ्चां चक्रे । “हस्तेर्गति-ताच्छीहये” [वा०] पैतृकमश्वा अनुहरन्ते मातृकं गावः । मातुरागतम् “ऋतच्छज्” [३।३।५२] इति ठञ् ।

१. बहु मुवि जय-ब० । २. अपरा अ० । ३. -मातिष्ठते अ०, ब०, स० ।

गतिताङ्गीत्य इति किम् ? मातरमनुहरन्ति । “शप उपलम्भन इति च वक्तव्यम्” [वा०] वाचा शरीरस्पर्श-
नमुपलम्भः । देवदत्ताय शपते । उपलम्भन इति किम् ? शपति ।

समोऽकूजे ॥११२१६॥ सम्पूर्वात् क्रीडोऽकूजेऽर्थे दो भवति । संक्रीडते । संक्रीडते । संक्रीडन्ते ।
अकूज इति किम् ? संक्रीडन्ति शकटानि । अव्यक्तं शब्दं कुर्वन्तीत्यर्थः ।

स्थोऽवविप्राच्च ॥११२१७॥ अव वि प्र इत्येवंपूर्वात् सम्पूर्वाच्च तिष्ठतेर्दो भवति । अवतिष्ठते ।
वितिष्ठते । प्रतिष्ठते । सन्तिष्ठते ।

शीप्सास्थेयोङ्गौ ॥११२१८॥ परपरितोषार्थमात्मरूपादिप्रकाशनं शीप्सा । स्थीयतेऽस्मिन् निर्णयरूपे-
णेति स्थेयः । बहुलवचनादधिकरणे यः । शीप्सायां स्थेयोङ्गौ च तिष्ठतेर्दो भवति । शीप्सायाम्-तिष्ठते कन्या
छात्रेभ्यः । तिष्ठते ब्राह्मणी छात्रेभ्यः । स्वामिप्रायप्रकाशनेनात्मानं रोचयतीत्यर्थः । शीप्सानक्रियया कर्मव्यपदेश-
भाजां छात्राणामुपेयत्वान् संप्रदानत्वम् । स्थेयोङ्गौ-देवदत्ते तिष्ठते । लयि तिष्ठते । मयि तिष्ठते । संशयान्नि-
श्चयं करोतीत्यर्थः ।

उद् ईहे ॥११२१९॥ उत्पूर्वात्तिष्ठतेरीर्हार्थे वर्तमानाद्दो भवति । गोहे उत्तिष्ठते । धर्मे उत्तिष्ठते । घटत
इत्यर्थः । ईह इति किम् ? अस्माद् ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठति । उत्पद्यत इत्यर्थः । ईह इति ईहतेः पर्यायग्रहणात्
गम्यमानायामीहायां न भवति । आसनादुत्तिष्ठति । उत्तिष्ठति सेना । अस्माद् ग्रामाद्विष्टिः (?) । पञ्च
पुरुषा उत्तिष्ठन्ति ।

उपान्मन्त्रकरणे ॥११२२०॥ उपपूर्वात्तिष्ठतेर्मन्त्रकरणे दो भवति । जगत्योपतिष्ठते । त्रिष्टुभोपतिष्ठते ।
मन्त्रकरण इति किम् ? भर्तारमुपतिष्ठति भार्या यौवनेन । उपादिति योगविभागः । तेन देवपूजासङ्गतिकरण-
मित्रकरणपथिषु दो भवति । देवपूजायाम्-सीमन्धरमुपतिष्ठते । सङ्गतिकरणे-रथिकानुपतिष्ठते । मित्रकरणे-
महामात्रानुपतिष्ठते । सङ्गतिकरणमुपश्लेषः । मित्रकरणं मानसः सम्बन्धः । पथि-अयं पन्थाः सृध्नमुप-
तिष्ठते । “वा लिप्सायामिति वक्तव्यम्” [वा०] । भिक्षुको दातृकुलमुपतिष्ठते । उपतिष्ठति वा ।

धेः ॥११२२१॥ अकर्मको धेरिति । उपपूर्वात्तिष्ठतेर्धेर्दो भवति । यावद्मुक्तमुपतिष्ठते । यावदोर्दनमुपति-
ष्ठते । भोजने भोजने ओदने ओदने उदीक्षत इत्यर्थः । धेरिति किम् ? स्वाभिनमुपतिष्ठति ।

व्युत्तपः ॥११२२२॥ धेरिति वर्तते । वि उदित्येवम्पूर्वात्तपतेर्धेर्दो भवति । वितपते । ज्वलतीत्यर्थः ।
उत्तपते । धेरित्येव । उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः । वितपति पृथ्वीमादित्यः । दहतीत्यर्थः । व्युत् इति किम् ?
निष्ठपति । दीप्यत इत्यर्थः । “स्वाङ्गकर्मकाचेति वक्तव्यम्” [वा०] वितपते पाणिम् । उत्तपते पाणिम् ।
आत्मीयमङ्गं स्वाङ्गं न पारिभाषिकं तेनेह न भवति । वितपति परपाणिम् । उत्तपति देवदत्तो यज्ञदत्तस्य पृष्ठम् ।

आडो यमहनः ॥११२२३॥ आङ्पूर्वाभ्यां यम हन इत्येताभ्यां धिभ्यां दो भवति । आयच्छते । दीर्घो
भवतीत्यर्थः । आहते । आघ्नते । आघ्नते । यमः कर्त्राप्ये फले “समुदाह-यमोऽग्रन्थे” [११२७०] इति
दः सिद्धोऽन्यत्रेदम् । धेरित्येव । आयच्छति रज्जुम् । आहन्ति पापम् । “स्वाङ्गकर्मकाचेति वक्तव्यम् [वा०] ।
आयच्छते पाणिम् । आहते वद्दः । स्वाङ्गादिति किम् ? परकीयाङ्गे कर्मणि मा भूत् । आहन्ति
शिरः परकीयम् ।

१. रीहेऽर्थे अ०, ब०, स० । २. अ० स० पुस्तकयोः “विष्टिः” इति पाठः । ब० मु० पुस्तकयोः
“दिष्टिः” इति । परं “विष्टिः” इति पाठः प्रतिभाति । विष्टिश्च कर्मकृत् “आजूवेतनयोर्विष्टिः कर्मकृत्कर्मणो-
रपि” इति शाश्वतवचनात् । पूर्ववाक्याच्चात्र “उत्तिष्ठति” इत्यध्याहारः । “गृष्टिः” इत्यपि पाठः
सम्भवति । गृष्टिश्च सकृत्प्रसूता गौः । ३. दानिकु-अ० । ४.-दामौद-अ० । ५. दीर्घोभव-ब०, स० ।

समो गम्प्रच्छिष्टश्चिष्टश्रुविद्दृशः ॥११२१२४॥ धेरिति वर्तते । सम्पूर्वम्यो गम्-प्रच्छि-स्त्व-ऋ-ऋच्छि-श्रु-विद्-दृश-इत्येतेभ्यो दो भवात् । सञ्जच्छते । संपृच्छते । संस्वरते । ऋ इति ऋच्छतेरियतेश्च ग्रहणम् । सम्पृच्छते । समियते । समरिष्यते । ऋच्छतेरनादशस्य ग्रहणम् । आदशस्य ऋग्रहणेन सिद्धत्वात् । सम्पृच्छिष्यते । संश्रुणुते । विदेरादादिकस्य ग्रहणं मवाद्भस्वाहचर्यात् । संवेत्ते । संपश्यते । धेरित्येव । सञ्जच्छति सुहृदम् । संवेत्ति धर्मम् । “गेरस्यत्पूर्वोवात् वक्तव्यम्” [वा०] । निरस्यते । निरस्यति । समूहति । समूहते ।

निसंव्युपाद् हः ॥११२१२५॥ पुनः संग्रहणाद्देरिति निवृत्तम् । नि-सं-वि-उप इत्येवम्पूर्वात् ह्यतेर्दो भवति । निहयते । संहयते । विहयते । उपहयते । हयतेरात्वेन विकृतानेर्देशोऽपि प्रकृतिग्रहणम् “न व्यो छिति” [४।३।३६] इति निर्देशात् ।

आङः स्पद्धं ॥११२१२६॥ स्पद्धः पराभिभवेच्छा । आङ्पूर्वात् ह्यतेः स्पद्धविषये दो भवति । मल्लो मल्लमाह्वयते । छात्ररञ्जात्रमाह्वयते । स्पद्धयाह्वानं करोतीत्यर्थः । स्पद्ध इति किम् ? गामाह्वयति ।

गन्धनाऽवक्षेपसेवाऽन्यायप्रतियत्नप्रकथोपयोगे कृजः ॥११२१२७॥ गन्धनं सूचनम् । अवक्षेपो भर्त्सनम् । सेवा संश्रयः । अविधिना प्रवृत्तिरन्यायः । अविद्यमानार्जनं विद्यमानसंस्कारो वा प्रतियत्नः । प्रवन्धेन कथनं प्रकथा । उपयोगो धर्मादिनिमित्तो व्ययः । गन्धनादिष्वर्थेषु वर्तमानात् कृजो दो भवति । गन्धने-उत्कुरुते अयमिमम् । सूचयतीत्यर्थः । अवक्षेपे-स्येनो वर्तिकाभुपकुरुते । भर्त्सयतीत्यर्थः । सेवाम्-गणकानुपकुरुते । सेवत इत्यर्थः । अन्याये-परदारानुपकुरुते । न्यायमनपेक्ष्य तेषु प्रवर्तत इत्यर्थः । प्रतियत्ने-एषो दकस्योपस्कुरुते । “प्रतियत्ने कृजः” [१।४।६०] इति कर्मणि ता । “उपात्प्रतियत्नवैकृत०” [४।३।११२] इत्यादिना सुट् । प्रकथाम्-जनापवादान् प्रकुरुते । उपयोगे-शत प्रकुरुते । धर्माद्यर्थं विनियुङ्क्त इत्यर्थः । एतेष्विति किम् ? कटं करोति । अविष्करोतीत्यत्र आविः शब्द एव गन्धने वर्तते न करोतिः । अपकारप्रयुक्तं वा सूचनं गन्धनमित्यदोषः ।

प्रसहनेऽधेः ॥११२१२८॥ प्रसहनमभिभवः । अधिपूर्वात्कृजः प्रसहनेऽर्थे दो भवति । रात्रूनधिकुरुते । वादिनोऽधिकुरुते । अभिभवतीत्यर्थः । प्रसहन इति किम् ? अधिकरोति । अकर्त्राप्ये फले ममेव भवति ।

शब्दकर्मणो वेः ॥११२१२९॥ कर्मह कर्त्राप्यम् । विपूर्वात् करोतेः शब्दकर्मकाहो भवति । ध्वाञ्चो विकुरुते खरान् । क्रोष्टा विकुरुते खरान् । शब्दकर्मण इति किम् ? विकरोति कटम् । शब्दग्रहणेन शब्दविशेषाः खरादयो गृह्यन्ते । तेनेह न भवति । विकरोति शब्दम् । विकरोत्यनुवाकम् । विकरोत्यध्यायमसावहा ।

धेः ॥११२१३०॥ विपूर्वात्करोतेर्धेर्दो भवति । विकुर्वते सैन्धवाः । साधुदान्ताः । ओदनस्य पूर्णाश्छात्रा विकुर्वते । “नृप्यर्थे योगे उपसंख्यानम्” [वा०] इति करणे ता ।

सम्मानोत्सञ्जनोपनयनज्ञानभृतिगणनव्यये नियः ॥११२१३१॥ सम्मानः पूजनम् । उत्सञ्जनमुत्क्षेपः । उपनयनमाचार्यकरणम् । ज्ञानमवगमः । भृतिवैतनादानम् । ऋणशुल्कादिनिर्यातनं गणनम् । व्ययो धर्मादिष्वर्थविनियोगः । सम्मानादिषु यथासम्भवं विशेषणेषु नयतेर्धेर्दो भवात् । सम्माने-नयते चार्वा स्याद्वादे । चार्वा दुद्धिताः प्राग्नाः प्राग्नाःऽपि तथोक्तः । विनेयेषु प्रतिपादनेन सम्मानं करोतीत्यर्थः । उत्सञ्जने-बालमुदानयते । उत्सिपतीत्यर्थः । उपनयने-माणवकमुपनयते । आत्मनः शिष्यभावेन माणवकं प्रापयतीत्यर्थः । ज्ञाने-नयते चार्वा तत्त्वार्थे । तत्त्वपदार्थान् निश्चिनोतीत्यर्थः । भृतौ-कर्मकरानुपनयते । वैतनादानेन पुण्यातीत्यर्थः । गणने-मद्रकाः करं विनयन्ते । निर्यातयन्तात्यर्थः । व्यये-शतं विनयते । सहस्रं विनयते । एतेष्विति किम् ? अजां नयति ग्रामम् ।

कर्तृस्थे कर्मण्यमूर्तौ ॥१२।३२॥ नयतेः कर्ता लकारवाच्यः । रूपाद्यात्मिका मूर्तिः । कर्तृस्थे कर्मणि मूर्तिवर्जिते सति नयतेदो भवति । क्रोधं विनयते । हर्षं विनयते । श्रमं विनयते । शमयतीत्यर्थः । अत्र कर्तृस्थत्वात्कर्मणः कर्ताऽप्यफलता कर्मता । तेन कर्त्राप्ये क्रियाफले सिद्धेऽपि दे नियमार्थमेतत् । कर्तृस्थ इति किम् ? देवदत्तो जिनदत्तस्य क्रोधं विनयति । कर्मणीति किम् ? बुद्ध्या विनयति । अमूर्ताविति किम् ? गडुं विनयति ।

किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणे ॥१२।३३॥ किरतेदो भवति हर्षजीविकाकुलायकरण इत्येषु गम्यमानेषु । हर्षे-अपस्किरते वृषभो हृष्टः । जीविकायाम्-अपस्किरते कुक्कुटो भक्षार्थी । कुलायो निवासः-कुलायकरणे-अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी । “चतुष्पा-ञ्जुनिष्वपाद्धर्षादौ” [४।३।११५] इति सुट् ।

वृत्तिसर्गतायने क्रमः ॥१२।३४॥ वृत्तिरविघातः । सर्ग उत्साहः । तायनं पृथूभावः । वृत्त्यादिष्वर्थेषु वर्तमानात् क्रमेदो भवति । वृत्तौ-नयेष्वस्य क्रमते बुद्धिः । न प्रतिबध्यत इत्यर्थः । सर्गे-क्रमते जैनेन्द्राध्ययनाय । उत्सहत इत्यर्थः । तायने-नास्मिन्मूढे शास्त्राणि क्रमन्ते । न तायन्त इत्यर्थः । एतेष्विति किम् ? क्रामति । “क्रमो मे” [१।२।७४] इति दीत्वम् ।

परोपात् ॥१२।३५॥ वृत्तिसर्गतायन इति वर्तते । पर-उप-इत्येवम्पूर्वात् क्रमेदो भवति । पराक्रमते । उपक्रमते । सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय परोपाभ्यामेव नान्यस्माद्देः । अनुक्रामति । वृत्त्यादिष्वित्येव । पराक्रामति । उपक्रामति ।

ज्योतिरुद्गतावाङ् ॥१२।३६॥ आङ्पूर्वात् क्रमेज्योतिषामुद्गमनेऽर्थे दो भवति । आक्रमते सूर्यः । आक्रमते चन्द्रमाः । आक्रमन्ते ज्योतीषि । ज्योतिरुद्गताविति किम् ? आक्रामति धूमो हर्म्यतलम् । आक्रामति माणवकः कुतानिचरोद्गतिरिति नास्ति ।

वेः स्वार्थे ॥१२।३७॥ स्वार्थः पादविद्धेपः । विपूर्वात् क्रमेः स्वार्थे दो भवति । (अश्वः) सुष्ठु विक्रमते । साधु विक्रमते । विक्रमणमश्वदीनां शिन्नाविशेषाद् गतिविशेषः । स्वार्थे इति किम् ? विक्रामत्यजिनसन्धिः । स्फुटतीत्यर्थः ।

प्रादारम्भे ॥१२।३८॥ आरम्भः प्रथमं कर्म । प्रपूर्वात् क्रम आरम्भे दो भवति । प्रक्रमते भोक्तुम् । परोपादित्यत उपादिति वर्तते । उपक्रमते भोक्तुम् । आरभते भोक्तुमित्यर्थः । आरम्भ इति किम् ? पूर्वैद्युः प्रक्रामति । अपरंद्युरपक्रामति । पूर्वस्मिन्नहनि यदनेन गतं तदपरस्मिन्नागच्छतीत्यर्थः ।

वाऽग्रे ॥१२।३९॥ अग्रेः क्रमो वा दो भवति । क्रमते । क्रामति । इयमप्राप्ते विभाषा । वृत्त्यादिषु पूर्वेण नित्यो विधिः । अग्रेरिति किम् ? संक्रामति ।

ज्ञोऽपह्ववे ॥१२।४०॥ अपह्ववोऽपलापः । अपह्ववेऽर्थे जानातेदो भवति । शतमपजानीते । सहस्रमपजानीते । अपह्वव इति किम् ? किञ्चिदपि जानासि ।

धेः ॥१२।४१॥ जानातेर्धेदो भवति । सर्पिषो जानीते । दध्नो जानीते । सर्पिषा दध्ना चोपायनेन सम्पश्यत इत्यर्थः । “ज्ञोऽस्वार्थे करणे” [१।४।५८] इति करणे ता । अकर्त्राप्ये फले इदं दविधानम् । धेरिति किम् ? स्वरेण पुत्रं जानाति ।

संप्रतेरस्मृतौ ॥१२।४२॥ स्मृतिराध्यानं चिन्तनं वा । सम्प्रतिपूर्वाजानातेरस्मृत्यर्थे दो भवति । शतं सञ्जानीते । शतं प्रतिजानीते । अस्मृताविति किम् ? मातुः सञ्जानाति । पितुः सञ्जानाति । “स्मदर्थददेशा कर्मणि” [१।४।५९] इति ता ।

दीप्त्युपोक्तिज्ञानेहविमत्युपमन्त्रणे वदः ॥१२।४३॥ दीप्तिः प्रकाशनम् । उपेत्योक्तिरुपोक्तिः । उपसान्त्वनमित्यर्थः । ज्ञानं पदार्थावगमः । ईहो यत्नः । नानामतिर्विमतिः । उपमन्त्रणं रहस्यनुकूलनम् । दीप्त्या-

दिव्यर्थेषु वदतेदो भवति । दीप्तौ-वदते चार्वा तत्त्वार्थे । दीप्यमानो वदतीत्यर्थः । उपोक्तौ-कर्मकरानु-
पवदते । उपेत्य सम्भाषत इत्यर्थः । ज्ञाने-वदते चार्वा चन्द्रोदये । जानाति वदितुमित्यर्थः । ईहे-कोऽस्मिन्
क्षेत्रे वदते । को यतत इत्यर्थः । विमतौ-गोहे विवदन्ते । गोष्ठे विवदन्ते । विचित्रं भाषन्त इत्यर्थः । उपम-
न्त्रणो-कुलभार्यामुपवदते । परदारानुपवदते । अनुकूलयतीत्यर्थः । एतैष्विति किम् ? वदति देवदत्तः ।

व्यङ्गवाक्समुक्तौ ॥१२।४४॥ व्यङ्गवाचो व्यङ्गवर्णत्वान्मनुष्यादयः प्रसिद्धाः । सम्भूय वचनं
समुक्तिः । व्यङ्गवाचां समुक्तौ गम्यमानायां वदतेदो भवति । सम्प्रवदन्ते ग्राम्याः । सम्प्रवदन्ते साधवः । सम्भूय
भाषन्त इत्यर्थः । व्यङ्गवागिति किम् ? सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः । समुक्ताविति किम् । देवदत्तो वदति जिनदत्तम् ।

अनोधेः ॥१२।४५॥ अनुपूर्वाद् वदतेधेदो भवति । अनुवदते जिनदत्तो देवदत्तस्य । अनुः सादृश्ये
पुनरर्थे वा । धेरिति किम् ? पूर्वमुक्तमनुवदति । व्यङ्गवाक्समुक्तावित्येव । अनुवदन्ति वीणाः ।

वा विवादे ॥१२।४६॥ विवादो विप्रलापस्तत्र वर्तमानाद्वदतेर्वा दो भवति । विप्रवदन्ते सांवत्सराः ।
विप्रवदन्ति सांवत्सराः । विप्रवदन्ते वादिनः । विप्रवदन्ति वादिनः । युगपद्विरुद्धं वदन्तीत्यर्थः । व्यङ्गवाग्ग्रहण-
मनुवर्तते । ततो वदन्तः सन्तः नित्ये प्राते विकल्पः । विवाद इति किम् ? सम्प्रवदन्ते साधवः । व्यङ्ग-
वागित्येव । सम्प्रवदन्ति शकुनयः । सद्गुक्तावित्येव । सम्प्रवदन्ति वादिनः क्रमेण ।

प्रोऽवात् ॥१२।४७॥ अवपूर्वाद्द्विरतेर्दो भवति । अवगिरते । अवगिरते । अवगिरन्ते । गृणातेरव-
पूर्वस्य प्रयोगो नास्ति । अवादिति किम् ? गिरति । निगिरति ?

प्रतिज्ञाने समः ॥१२।४८॥ प्रतिज्ञानमभ्युपगमः प्रतिज्ञानेऽर्थे सम्पूर्वाद्द्विरतेर्दो भवति । अनेकान्ता-
त्मकं वस्तु सङ्गिरते । शतं सङ्गिरते । प्रतिज्ञान इति किम् ? सङ्गिरति ।

उच्चरोऽधेः ॥१२।४९॥ उत्पूर्वाच्चरतेर्धेदो भवति । गुरुवचनमुच्चरते । उल्कम्य चरतीत्यर्थः ।
अधेरिति किम् ? धूम उच्चरति । उर्ध्वं गच्छतीत्यर्थः ।

समो भया ॥१२।५०॥ सम्पूर्वाच्चरतेर्भान्तेन योगे दो भवति । रथेन संचरते । अश्वेन संचरते ।
भान्ते प्रयुक्ते दो भवति, न तु गम्यमाने । भायुक्तादिति किम् ? त्रींल्लोकान् संचरति जिनधर्मः । अत्र स्वात्मनेति
करणं गम्यमानम् । “दाणश्च सा चेदबर्थेऽशिष्टव्यवहारे इति वक्तव्यम्” [वा०] सम्पूर्वाद्दाणो भायोगे दो भवति
सा चेदबर्थे भा । इदमेव ज्ञापकमशिष्टव्यवहारे भाऽपि भवतीति । दास्या संप्रयच्छते । वृषल्या संप्रयच्छते
कामुकः । सम इति संबन्धे ता । तेन प्रशब्देन व्यवधानं न भवति । अबर्थ इति किम् ? पाणिना सम्प्रयच्छति ।
नेदं वक्तव्यम् । कर्मव्यतिहारे दः । सहार्थे च भा द्रष्टव्या ।

स्वीकृतावुपाद्यमः ॥१२।५१॥ पाणिग्रहणमविरोधो वा स्वीकृतिः । उपपूर्वाद्यमः स्वीकृतावर्थे दो
भवति । कन्यामुपयच्छते । भार्यामुपयच्छते । स्वीकृताविति किम् ? परभार्यामुपयच्छति ।

श्रुस्मृदशः सनः ॥१२।५२॥ श्रु-स्मृ-दश-इत्येतेभ्यः सन्नन्तेभ्यो दो भवति । शुश्रूषते शास्त्रम् ।
सुस्मृषते पूर्ववृत्तम् । दिदृक्षते देवम् । श्रुदशिश्यामकर्मकावस्थायां “समो गम्प्रच्छि०” [१२।२४] इत्यादिना
दो विहितस्तत्र “सनः पूर्ववत्” [१२।५८] इत्येव दः सिद्धः सकर्मकार्थमिदम् । स्मरतेरप्राप्ते विधानम् ।

ज्ञः ॥१२।५३॥ जानातेः सन्नन्तात् दो भवति । जिज्ञासते धर्मम् । “ज्ञोऽपह्ववे” [१२।४०]
“धेः” [१२।४१] “संप्रतेरस्मृतौ” [१२।४२] इति जानातेर्दो विहितः । तथा कर्त्राप्ये फले “ज्ञोऽग्नेः”
[१२।७१] इत्यत्र पूर्ववत्सन इति सिद्धस्ततोऽन्यत्रेदं वचनम् ।

१. तयेति शेषः । २. -प्यमाना वद—अ०, ब०, स० । ३. ‘गोष्ठे विवदन्ते’ अ०पुस्तके नास्ति ।
४. -ति सांवत्सरः । व्यङ्ग—अ० । ५. वाप्यः ब०, स०, मु० । ६. सङ्गिरन्ते मु० । ७. -रते । कुटुम्ब-
मुच्चरते । उल्कम्य—अ०, ब०, स० ।

नानोः ॥१२।५४॥ अनुपूर्वाज्ञानातेः सन्नन्तादो न भवति । पुत्रमनुजिज्ञासति । भृत्यमनुजिज्ञासति । सकर्मकादिति वक्तव्यम् [वा०] इह मा भूत् । अनुजिज्ञासते मनसा । नो वक्तव्यम् । पूर्वेण प्रातस्यायं प्रतिषेधः । पूर्वेण च सकर्मकादेव सन्नन्तादो विहितः । धेस्तु “सनः पूर्ववत्” [१२।५८] इति दः । अनोरिति किम् ? पुत्रं जिज्ञासते ।

प्रत्याङ्श्रुवः ॥१२।५५॥ नेति वर्तते । प्रति आङ् इत्येवपूर्वात् श्रुयोतेः सन्नन्तादो न भवति । प्रतिशुश्रूषति । आशुश्रूषति शास्त्रम् । “श्रुमृदशः सनः” [१२।५२] इति प्रातस्यानेन प्रतिषेधः । सनिर्देशः समर्थार्थः । सामर्थ्यञ्च धोर्गिना । तेनेह न प्रतिषेधः । देवदत्तं प्रतिशुश्रूषते ।

शदेर्गात् ॥१२।५६॥ नेति निवृत्तनसम्भवात् । गनिमित्तनूतः । शदिरुपचाराद्दः । शदेर्गविषयादो भवति । शीयते । शीयते । शीयन्ते । “पात्रा” [१२।३६] आदिना शीयादेशः । गादिति किम् ? शत्स्यति । अशत्स्यत् । शिशत्सति ।

मृडो लुङ्लिङोश्च ॥१२।५७॥ त्र्यैर्लुङ्लिङोर्गाराद्दो भवति । अमृत । मृषीष्ट । आशिषि लिङ् । “उः” [११।८६] इति सिलिङोः क्त्वम् । गपरात् खल्वपि । म्रियते । म्रियस्व । “रिङ् यग्लिङ्शे” [१२।१३७] इति रिङादेशः । डिच्वादेव दे सिद्धे नियमार्थमिदमन्यत्र दो न भवति । मरिष्यति । अमरिष्यत् । ममार ।

सनः पूर्ववत् ॥१२।५८॥ पूर्वेण तुल्यं वर्तते इति पूर्ववत् । पूर्वत्वञ्च प्रत्यासत्तेः । सनः पूर्वं यो धुस्तद्वत्सन्नन्तादो भवति । येभ्यो धुभ्यो येन विशेषणेन दो विहितस्तेभ्यः सन्नधिकेभ्योऽपि दो भवतीत्यर्थः । यथा “अनुदात्तेतो दः” [१२।६] इति । शोते । आस्ते । एवं सन्नन्तादपि शिशयिषते । आसिसिषते । गिविशेषणेन “निविशः” [१२।११] निविशते । निविद्वते । अर्थविशेषेण “गन्धना-” [१२।२७] आदिना उत्कुरुते । अर्यामिममुच्चिकीर्षते । उभयविशेषेण “ज्योतिरुद्गतावाङः” [१२।३६] आक्रमते । आचिक्रंसते । “स्नोर्दार्थात्” [११।१११] “क्रमः” [११।११२] इतीट्प्रतिषेधः । कारकविशेषेण “ज्ञोऽपह्वे” [१२।४०] “धेः” [१२।४१] सर्पिषो जानीते । सर्पिषो जिज्ञासते । इह जुगुप्सते मीमांसते इति गुपुपकृतेरव्यवस्थानुदात्तेकरणं सन्नन्तसमुदायस्य विशेषणमिति दः सिद्धः । यद्येवं गोपायत्यादावपि स्यात् । कर्तव्योऽत्र यत्नः । पूर्ववदिति किम् ? शिशत्सति । मुमूर्षति । अत्र दनिमित्तं नास्ति ।

आम्बत् तत्कृञः ॥१२।५९॥ आम्बहणेन यस्मादाप् विहितस्तस्य ग्रहणम् । आम इव आम्बत् । तस्य कृञ् तत्कृञ् । यस्मादाप् तस्येव धोस्तत्कृञो दो वेदितव्यः । ईहाञ्चक्रे । ईक्षाञ्चक्रे । लिटि परतः “सरोरिजादेः” [२।१।३२] इत्याम् । “आमः” [१।४।१४६] इति परस्योप् । लस्य कृत्त्वान्मृत्वे सति स्वादिविधिः । “सुपो केः” [१।४।१५०] इति तस्योप् । “लिङ्चत् कृञि” [२।१।३६] इत्यनुप्रयोगस्य करोतेरनेन दः । विधिर्नियमश्चात्रेभ्येते । पूर्ववदिति वर्तते । अकर्त्राप्ये फले पूर्ववद्दो भवतीति विधिः । कर्त्राप्ये फले आम्बदेव दो भवति । तेन दार्हस्यैवापन्तस्य प्रयोगे दो भवतीति नियमादिह न भवति । उदुम्भाञ्चकार । तद्ग्रहणं किम् ? आमन्तानुप्रयोगस्य ग्रहणं यथा स्यादिह मा भूत् । ईहते । करोतीति कृञ्ग्रहणं किमर्थम् ? करोतेरेव यथा स्यादिह मा भूत् । ईक्षामास । ईक्षाम्बभूव । इह कृञ्ग्रहणान्यनिरासार्थाज्ज्ञायते “लिङ्चत्कृञि” [२।१।३६] इत्यत्र प्रत्याहारग्रहणं “कृम्बस्तिथोने” [४।२।५५] इत्यत्र आरम्य “कृञो द्वितीय” [४।२।६२] इति अकारेण ।

युजोऽयज्ञपात्रे गेः ॥१२।६०॥ अकर्त्राप्यफलाथोऽयमारम्भः । युजेर्गिपूर्वादो भवत्ययज्ञपात्रविषये ।

१. “आसिसिषते” इति अ. पुस्तके नास्ति । २. विशेषकमिति अ०, ब०, स० । ३. “अनुदात्तेस्व-लक्षणा दोऽनित्यः” इति परिभाषारूपो यत्नः ।

प्रयुङ्क्ते । वियुङ्क्ते । नियुङ्क्ते । अयज्ञपात्र इति किम् ? द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति । गेरिति किम् ? युनक्ति । “युञ्ज समाधौ” इत्यस्यानुदात्ते त्वादग्रहणम् ।

उदः ॥११२।६१॥ उत्पूर्वाद्यु जेरयज्ञपात्रे दो भवति । उद्युङ्क्ते । नियमोऽयं हलन्तेषूद एव नान्य-
स्मात् । निर्युनक्ति । दुर्युनक्ति । संयुनक्ति ।

संक्षुण्णोः ॥११२।६२॥ सम्पूर्वात् क्षुण्णो दो भवति । संक्षुण्णते । संक्षुण्णवाते । संक्षुण्णवते शस्त्रम् ।

भुजोऽदौ ॥११२।६३॥ शब्दे कार्यस्यासम्भवाददावित्यर्थग्रहणम् । भुजेरद्यर्थवर्तमानादो भवति । भुङ्क्ते । भुञ्जाते । भुञ्जते । अद्यर्थासम्भवात्तौदादिकस्य भुजेरग्रहणम् । निभुजति पाणिम् । अदाविति किम् ? भुनक्ति वसुधां भरतः । पालयतीत्यर्थः ।

रोर्भीस्मेहेतुभये ॥११२।६४॥ एयन्ताभ्यां भी स्मि इत्येताभ्यां हेतुभयेऽर्थे दो भवति । “तद्योजको हेतुः” [११२।१२६] इति हेतुः । तस्य भयशब्देन भावसाधनेन “का भीभिः” [११३।३२] इति षसः । भयग्रहणेन विस्मयोऽपीह लक्ष्यते । मुण्डो भीषयते । “ईतः शुङ् नित्यम्” [४।३।४६] इति षुक् । मुण्डो विस्मापयते । जटिलो विस्मापयते । “स्मिङ्” [४।३।२०] इत्यात्वम् । हेतुभय इति किम् ? कुञ्चिकयैर्न भाययति । वाचा विस्माययति । अकर्त्राप्यफलार्थोऽयमारम्भः ।

वञ्चने गृध्रवञ्चे ॥११२।६५॥ षोरिति वर्तते । वञ्चनं विसंवादनम् । गृध्रि वञ्चि इत्येताभ्यां एयन्ता-
भ्यां वञ्चनेऽर्थे दो भवति । माणवकं गर्हयते । माणवकं वञ्चयते । विसंवादयतीत्यर्थः । वञ्चन इति किम् ? श्वानं गर्हयति । काङ्क्षामस्योत्पादयतीत्यर्थः । अहिं वञ्चयति । गमयतीत्यर्थः ।

लियोऽधाष्ट्यसम्मानने च ॥११२।६६॥ षोरिति वर्तते । न धाष्ट्यमधाष्ट्यं शालीनीकरणम् । सम्माननं पूजनम् । लिनातेर्लीयतेश्च एयन्ताद्धाष्ट्यसम्माननयोर्वञ्चने च वर्तमानादो भवति । अधाष्ट्यं—
श्येनो वर्तिकामपलापयते । अभिभवतीत्यर्थः । सम्मानने—जटाभिरालापयते । हेतौ भा । आत्मानं पूजयती
त्यर्थः । वञ्चने च । कस्त्वामुल्लापयते । प्रलम्भयतीत्यर्थः । “त्रिभाषा लियोः” [४।३।४४] इति व्यवस्थि-
तविभाषाश्रयणादेषु त्रिषु नित्यमात्वम् । अधाष्ट्यादिष्विति किम् ? बालकमुल्लापयति ।

कृजो मिथ्यायोगेऽभ्यासे ॥११२।६७॥ षोरिति वर्तते । अभ्यासो गुणनिका । करोतेर्यन्तान्मि-
थ्याशब्दयोगेऽभ्यासेऽर्थे दो भवति । पदं मिथ्या कारयते । स्तुतिं मिथ्या कारयते । सदोषं पुनः पुनरुच्चारय-
तीत्यर्थः । कृज इति किम् ? पदं मिथ्या वाचयति । मिथ्यायोग इति किम् ? स्तोत्रं सुष्ठु कारयति । अभ्यास
इति किम् ? सकृत्पदं मिथ्या कारयति । एतदन्वयः ।

अस्वरितेतः कर्त्राप्ये फले ॥११२।६८॥ षोरिति निवृत्तम् । उत्तरत्र णिच इति निर्देशात् । जितः
स्वरितेतश्च ये धवस्तेभ्यो दो भवति कर्तारमाप्नोति चेत् क्रियाया फलम् । फलं सर्वं क्रियातो भवतीति सामर्थ्यात्
क्रिया लभ्यते । फलग्रहणं मुख्यफलपरिग्रहार्थम् । जितः—पुनीते । लुनीते । कुरुते । स्वरितेतः—पचते । यजते ।
वपते । मुख्यं क्रियाफलमत्र कर्तारमाप्नोति । कर्त्राप्ये फल इति किम् ? पचन्ति भक्तकराः । वपन्ति भृतकाः ।
नात्र मुख्यं फलं किन्तु भृतिरानुषङ्गिकं वा फलम् । अस्वरितेत इति किम् ? याति । वाति ।

वदोऽपात् ॥११२।६९॥ अपपूर्वाद्दत्तेदो भवति कर्त्राप्ये फले । एकान्तवादमपवदते । कर्त्राप्ये फले
इत्येष । अपवदति । इतः प्रभृति कर्त्राप्ये फले दो वेदितव्यः ।

समुदाङ्गथमोऽग्रन्थे ॥११२।७०॥ सम उत् आङ् इत्येवम्पूर्वाद्यमेरग्रन्थविषये दो भवति । त्रीहीन्
संयच्छते । आत्मनश्चद् त्रीहयो भवन्ति । भारमुद्यच्छते । पापमायच्छते । अग्रन्थ इति किम् ? उद्यच्छति

चिकित्सां वैद्यः । चिकित्सेति वैद्यकग्रन्थः । कर्त्राप्ये इत्येव । संयच्छति उयच्छति अर्थिच्छति परस्य वल्लम् ।
“आडो यमहनः” [१।२।२३] इत्यनेन धेर्द्विधानमुक्तम् ।

ज्ञोऽजोः ॥१।२।७१॥ जानातेरगिपूर्वाद्दो भवति कर्त्राप्ये फले । गां जानीते^१ । अगोरिति किम् ? स्वर्ग-
लोकं प्रजानाति । कर्त्राप्ये फले इत्येव । परस्य गां जानाति ।

णिचः ॥१।२।७२॥ णिजन्ताद्दो भवति कर्त्राप्ये फले । कटं कारयते । ओदनं पाचयते । लक्ष्णेः^२
स्वरितेत्करणाज्जायते हेऽमन्त्वाच्चो ग्रहणमिदम् । कर्त्राप्ये फल इत्येव । परस्य कटं कारयति ।

पादस्याड्यमाड्यसपरिमुहृचिन्नुद्धेवद्वसः ॥१।२।७३॥ णिच इति वर्तते । पा दमि
आड्यम आड्यस परिमुहृचिन्नुद्धेवद्वस इत्येतेभ्यो यन्तेभ्यः कर्त्राप्ये फले दो भवति । पाययते ।
दमयते । आयामयते । “यमोऽपरिवेषणे” इति मिसञ्जाप्रतिषेधान् प्रो न भवति । आयासयते । परिमोहयते ।
रोचयते । नर्तयते । धापयते । वादयते । वासयते । पाधेदोरद्यर्थत्वान्नतिवद्योश्चल्यर्थत्वात् “चल्यद्यर्थात्”
[१।२।८४] इति मं प्राप्तम् । अन्येषाम् “अणौ धेः प्राणिकर्तृकात्” [१।२।८५] इति । तत आरम्भः ।

वा वाग्गम्ये ॥१।२।७४॥ वागिति नेदं पारिभाषिकस्य “ईपाऽत्र वाक्” [२।१।७६] इत्यस्य
ग्रहणं किं तर्हि वाक्छब्दः । पदान्तरमित्यर्थः । वाग्गम्ये कर्त्राप्ये फले वा दो भवति । स्वं धान्यं पुनीते । स्वं
धान्यं पुनाति । षड्भियोगैर्नित्यं दे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

मम् ॥१।२।७५॥ निर्यमार्थम् । यस्मान्मं दश्च प्राप्नोति तस्मान्ममेव भवति । पूर्वेण प्रकरणेन
प्रकृतिनियमः कृतो दस्वनियत इत्युभयप्रातिरस्ति । याति । वाति । प्रविशति । आक्रामति धूमः । औ द एव
भवतीति अर्थनियमो व्याख्यातः । ततः कर्त्तरि मं द्रष्टव्यम् । यदि वा “कर्त्तरि जे” [१।२।८] इत्यतः कर्त्तरि
तेनेह न भवति । गम्यते । रम्यते ।

परानुकृञः ॥१।२।७६॥ परा अनु इत्येवंपूर्वात् कृञो म भवति । गन्धनादिषु दः प्रातस्तदपवादोऽयम् ।
पराकरोति । अनुकरोति । कर्त्राप्ये फले ममेव भवति । कस्मान्न नियमः । तत्रापूर्वो विधिरस्तु नियमो वास्त्वित्य
पूर्व एव विधिर्भवति ।

प्रत्यभ्यतिक्षिपः ॥१।२।७७॥ प्रति अभि अति इत्येवम्पूर्वात् क्षिपो मं भवति । प्रतिक्षिपति । अभि-
क्षिपति । अतिक्षिपति । स्वरितेत्वाद्ः प्रातः । एतेभ्य इति किम् ? आक्षिपते ।

प्रवहः ॥१।२।७८॥ प्रपूर्वाद्प्रवहतेः कर्त्राप्ये फले मं भवति । प्रवहति^३ ।

मृषः परेः ॥१।२।७९॥ परिपूर्वान्मृषतेर्मं भवति । परिमृष्यति । परिमृष्यतः । परिमृष्यन्ति । वहिमपि
केचिदनुवर्तयन्ति । परिवहति । परेरिति किम् । मृष्यते परीषहान् साधुः ।

व्याड्यश्च रमः ॥१।२।८०॥ वि आड् इत्येवम्पूर्वात् परिपूर्वाच्च रमेर्मं भवति । विरमति । आरमति ।
परिरमति । अनुदात्तेत्वाद्ः प्रातः । एतेभ्य इति किम् । रमते । अभिरमते ।

उपात् ॥१।२।८१॥ उपपूर्वाच्च रमेर्मं भवति । भार्यामुपरमति । पृथग्योग उत्तरार्थः ।

वा धेः ॥१।२।८२॥ उपपूर्वाद्भमेर्धेर्वा मं भवति । यावद्भुक्तंमुपरमति । उपरमते । निवर्तत इत्यर्थः ।
विरिंसतीत्यत्र पूर्वस्य दनिमित्ताभावात् “सनः पूर्ववत्” [१।२।८८] इति दो न भवति ।

बुध्युध्रञ्जनेड्प्रुद्रु स्रोरीः ॥१।२।८३॥ कर्त्राप्ये फले णिच इति दे प्राप्तेऽयमारम्भः । बुध युध नश
जन इड् प्रु द्रु सु इत्येतेभ्यो यन्तेभ्यो मं भवति । येऽत्राकर्मकास्तेषाम् “अणौ धेः प्राणिकर्तृकात्” [१।२।८५]

१ जानीते । अरवं जानीते । अगे—अ०, ब०, स० । २. “लक्ष दर्शनाङ्कनयोः” इति धोः
स्वरितेत्करणादित्यर्थः । ३. नियमोऽयम् अ०, स० । ४. प्रवहति । प्रवहतः । प्रवहन्ति ।” अ०, ब०,
स० । ५. “परिषहान्” अ० । ६. “यावद्भक्तमुपरमति” ब० ।

इति सिद्धे अप्राणिकर्तृकार्थे ग्रहणम् । प्रवत्यादीनामचल्यद्यर्थम् । बोधयति पत्रम् । योधयति काष्ठानि । नाशयति पापम् । जनयति पुण्यम् । अध्यापयति शास्त्रम् । प्रावयति ग्रामम् । प्रापयतीत्यर्थः । द्रावयति ऋहम् । वितापयतीत्यर्थः । स्त्रावयति तैलम् । स्पन्दयतीत्यर्थः ।

चल्यद्यर्थात् ॥१२।८४॥ षेरिति वर्तते । चल्लेरर्थः कम्पनम् । अदेरर्थोऽभ्यवहारः । चल्यर्थेभ्योऽद्यर्थेभ्यश्च धुभ्यो ग्यन्तेभ्यो मं भवति । चल्यर्थेभ्यः-चलयति । चोपयति । कम्पयति । “कम्पने चलेः” (?) इति मित्सञ्जायां प्रादेशः । अद्यर्थेभ्यः-निगारयति । भोजयति । आशयति । सर्वत्राद्यर्थकार्यमदेर्नेष्यते । आदर्यन्ते देवदत्तेन । इह पय उपयोजयते देवदत्तेनेति भङ्गणार्थाभावान्मं न भवति । सकर्मकार्थमप्राणिकर्तृकार्थञ्च सूत्रम् ।

अणौ धेः प्राणिकर्तृकात् ॥१२।८५॥ अण्यन्तावस्थायां यो धुर्धिः प्राणिकर्तृकस्तस्मात्प्रयन्तान्मं भवति । आस्ते देवदत्तः । आसयति देवदत्तम् । शेते देवदत्तः । शाययति देवदत्तम् । अणाविति किम् ? चेतयमानं प्रयोजयति । चेतयते । ननु च “णिचः” [१२।७२] इत्यत्र हेतुमणिको ग्रहणं व्याख्यातम् । अणाविति तस्यायं प्रतिषेधः । तेनात्र मं भवत्येव चेतयतीति । इदं तर्हि प्रत्युदाहरणम् । आरोह्यमाणं प्रयोजयति आरोहयते । अथवाऽणाविति धेर्विशेषणम् । अणौ यो धिस्तस्य ऋणं यथा स्यात् । अन्यथा धिग्रहणे ग्यन्तविशेषणे इहैव मं स्यान्चेतयमानं प्रयोजयति चेतयति । आसयति इत्यादौ न स्यात् । षेरिति किम् ? कटं कुर्वाणं प्रयोजयति कारयते । प्राणिकर्तृकादिति किम् ? शुष्यन्ति व्रीहयः । शोषयते व्रीहीनातपः । “प्राण्योषधिवृक्षेभ्योऽवयवे च” [३।३।१०३] इति पृथग्निर्देशादिह शब्दशास्त्रे वनस्पतिकायाः प्राणिकर्तृक्येन न गृह्यन्ते ।

क्यषो वा ॥१२।८६॥ क्यषन्ताद्वा मं भवति । वावचनसामर्थ्यात् पक्षे दोऽपि भवति । अपटपटवति पटपटयति । पटपटयते । “अव्यक्तानुकरणदानेकाचोऽनितौ डाच्” [४।२।६१] इति डाच् । “डाचि” इति द्वित्वम् । “अत्रौ डाचि नित्यम्” [४।३।८७] इति तकारस्य पररूपत्वम् । टिखम् । “डाज्जोहिताक्यष्” [२।१।११] इति क्यष् । एवमलोहितो लोहितो भवति लोहितायते ।

द्युद्भ्यो लुङि ॥१२।८७॥ कृपूर्यन्ता द्युतादयः । वेति वर्तते । द्युतादिभ्यो वा मं भवति लुङि परतः । व्यद्युत्त । व्यद्योतिष्ट । अलुद्यत् । अलोद्यिष्ट । मविधिपक्षे “द्युत्पुषादिङित्सर्त्तिज्ञास्यर्त्तेमै” [२।१।४८] इत्यङ् । यद्यपि मेऽङ्विधानसामर्थ्यान्मविधिर्लब्धस्तथाप्यनुदात्तेत्करणं लुङोऽन्यत्र सावकाशमिति नित्यं मं स्यादिति विकल्पार्थं वचनम् । लुङीति किम् ? द्योतते । द्युता सहचरिता इतरेऽपि तयोच्यन्त इति बहुवचननिर्देशः ।

स्यसनोवृद्भ्यः ॥१२।८८॥ द्युतादिष्वन्तभूता वृतादयः । वृतादिभ्यो वा मं भवति स्ये सनि च सति । वत्स्यति । अवत्स्यत् । विवृत्सति । वर्तिष्यते । अवर्तिष्यत । विवर्तिषते । एवं वृध सृध स्यन्दू इत्येते योज्याः । मविधौ “न वृतादेः” [५।१।१०७] इतीट्प्रतिषेधः ।

लुटि च क्लृपः ॥१२।८९॥ क्लृपेर्लुटि स्यसनोश्च वा मं भवति । कल्प्ता । कल्प्सारौ । कल्प्सारः । कल्पस्यति । अकल्पस्यत् । चिक्लृप्सति । कल्पितारः । कल्पिष्यते । अकल्पिष्यत । चिकल्पिषते । क्लृपेर्लुटि-दित्वादेव स्यसनोर्विकल्पे सिद्धे चकारेणानुकर्षणमसन्देहार्थम् । क्लृप इति लत्वं किमर्थम् ? ऋकारस्थस्य रेफ-भागस्य रेफग्रहणेन ग्रहणं यथा स्यात् । क्लृप्तः । क्लृप्तवान् । मातृणाम् । पितृणाम् । लत्वं णत्वञ्च सिद्धम् ।

स्पद्धे परम् ॥१२।९०॥ स्पद्धे परं कार्यं भवति । द्वयोः प्रसङ्गयोरन्यार्थयोरैकस्मिन् युगपदुपनिपाते सङ्घर्षः स्पद्धः । “यन्वतो दीः” [१।२।१६] “सुपि” [१।२।१७] इति दीत्वस्यावकाशः । देवाभ्याम् । वृत्ताभ्याम् । “बहौ ऋत्येत् [१।२।१८] इत्यस्यावकाशः । देवेषु । वृद्धेषु । इहोभयं प्राप्नोति देवेभ्य इति । सूत्र-विन्यासे परमेत्वं भवति । अप्रवृत्तौ पर्याये वा प्राप्ते वचनम् । “कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषम्” [परि०] इति । यावन्ति

१. पापम् । ज्ञनयति पापम् । जन-ब०, स० । २. ‘आदयते’ अ०, ब०, स० । ३. चिक्लृप्सति । कल्पिता । कल्पितारौ । कल्पितारः-अ०, ब०

कार्याणि तावद्वा सूत्रस्य भेद इति विधिर्नियमश्चेदं सूत्रम् । यत्र परस्मिन्कार्ये कृते “पुनः प्रसंगविज्ञानात्” पूर्वं तत्र विधिः । यत्र परमेव कार्यं दृश्यते “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [परि०] इति तत्र नियमः । तद्यथा द्विविधस्यावकाशः । वेभिद्यते । जेरवकाशः । विचति । वेविच्यते इति परत्वाज्जौ कृते पुनः प्रसङ्गाद् द्वित्वम् । “जशसो मिः” [१११७] इत्यस्यावकाशः । कुण्डानि । “डेसुटोरम्” [११२४] इत्यस्यावकाशः । यूयं राजानः । इह यूयं गुरुकुलानि इति पर एवाम्भावः । अतुल्यबलयोः स्पष्टो न भवति । उत्सर्गादपवादः परनित्यविचारणे भवेन्नित्यम् । नित्यात्तथान्तरङ्गम् । तस्मादप्यनवकाशं यत् । एकार्थयोरपि नास्ति विरोधः । धोर्विहितास्तव्यादयः पर्यायेण भवन्ति ।

नन्वाध्य आसम् ॥१२।६१॥ नपा निर्दिष्टो बाध्यो भवति आ साधिकारपरिसमाप्तौ रित्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । लोके संज्ञासमावेशो दृष्टः इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति । शास्त्रेऽपि त्यः कृद् व्य इति । “शेषोऽग एव” [२।४।६४] इत्यवधारणाज्ज्ञापयति इहापि संज्ञासमावेशः स्यादिति यत्नः क्रियते । यत्र नपः समावेश इष्यते तत्र चशब्दोपादानमस्ति । यथा “यश्चैकाश्रये” [१।३।४४] इति । वक्ष्यति “प्रो चि च” [१।२।६६] विदि । भिदि । “स्फे रुः” [१।२।१००] । शिद्धि । भिद्धि । नपा निर्दिष्टा धिसंज्ञा रुंसंज्ञया बाध्यते । समावेशो हि अततदादित्यत्र “धौ कच्यनक्खे सन्वत्” [१।२।१६०] इति कचपरै धौ परतः सन्वद्भावः प्रसज्यते । अविप्रजदित्यत्र वेदीत्वं स्यात् । नञिति किम् ? बाध्नव्यः । पुल्लिङ्गा गुसंज्ञा पुल्लिङ्गया भसंज्ञया न बाध्यते ।

य्वौ स्त्र्याख्यौ मुः ॥१२।६२॥ स्त्रियमाचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ । “प्रे” [२।२।१४] इति नियमादप्राप्तः “सुपि” [२।२।७] इति योगविभागात्कः । यावीकारोकारौ स्त्र्याख्यौ तदन्तं शब्दरूपं मुसंज्ञं भवति । “सुम्मि-
-कन्तं पदम्” [१।२।१०३] इत्यत्रान्तग्रहणमन्यत्र संज्ञाविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधार्थमिह नाश्रीयते “आमीयुवोः” [१।२।६४] इति नियमारम्भात् । स्वाविति यणादेशादुकारो द्विमात्रस्तसाहचर्यादीकारोऽपि द्विमात्रः । ईकारः—कुमारी । गौरी । लक्ष्मीः । ऊकारः—ब्रह्मबन्धूः । वामोरुः । यवागूः । “अण् मोः” [५।२।१०७] इत्यादि मुसंज्ञाकार्यम् । स्वाविति किम् ? मात्रे । दुहिते । स्त्र्याख्याविति किम् ? हे ग्रामणीः । हे खलपूः । नेमौ स्त्रियमेवाचक्षाते । आख्याग्रहणं किम् ? शब्दार्थे स्त्रीत्वे यथा स्यात् पदान्तरगम्ये मा भूत् । ग्रामण्ये स्त्रियै । खलवे स्त्रियै । उभयलिङ्गानामिष्यसनिप्रभृतीनां शब्दार्थ एव स्त्रीत्वम् । इष्वे असन्वै स्त्रियै । तथा गुणशब्दानां पट्व्यै स्त्रियै । इदञ्चाख्याग्रहणस्य प्रयोजनम् । कुमारीभिवाल्मानमाचरति (कुमारीवाचरति) “आचारे सर्वमृद्भ्यः क्विप्” इति क्विप् । कुमार्यै देवदत्ताय । लक्ष्मीमतिक्रान्ताय अतिलक्ष्म्यै । प्रागेव मुसंज्ञा वृत्ता तदन्तान्मुकार्यं भवति । इह अतिकुमारये देवदत्ताय । प्रादेशे कृते “अनल्विधौ” [१।१।५६] इति प्रतिषेधान्मुकार्यं न भवति ।

स्त्री ॥१२।६३॥ स्त्रीशब्दश्च मुसंज्ञो भवति । “आमीयुवोः” [१।२।६४] “वा” [१।२।६५] ङिति प्रश्च [१।२।६६] इति नियमविकल्पयोः सामान्येन पुरस्तादयमपवादः । हे स्त्रि । स्त्रीणाम् । स्त्रियै । प्रादेशानुङाडागमाः सिद्धाः ।

आमीयुवोः ॥१२।६४॥ आमि परत इयुवोः स्थानिनौ य्वौ स्त्र्याख्यौ मुसञ्ज्ञौ भवतः । सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः, आण्येव मुसंज्ञा नान्यत्र । हे श्रीः । हे भ्रूः । इयुवोरिति किम् ? प्रथ्यै । वर्षाम्बै ।

वा ॥१२।६५॥ वा मुसंज्ञा भवतीत्यामीयुवोः । श्रीणाम् । श्रियाम् । भ्रूणाम् । भ्रुवाम् ।

ङिति प्रश्च ॥१२।६६॥ ख्योर्यः प्रः स्त्र्याख्य इयुवोश्च स्थानिनौ य्वौ य्वौ तेषां ङिति वा मुसंज्ञा भवति । कृत्यै । कृतये । धेन्वै । धेनवे । पदे “स्वसखि” [१।२।६७] इति मुसंज्ञा । “सोर्ङिति”

१. ‘ङिति’ आ०, ब०, स० । २.-तक्षत् । अस्सक्षदित्य-अ०, स० । ३. कचपरवौ प-अ० । ४. ‘आण्मोः’ स० । ५.-डागमाडागमाः सिद्धाः-अ०, ब०, स० । ६. ‘वा च मु-ब०, स० ।

[१।२।१०६] एप् । इयुवै । श्रियै । श्रिये । भ्रुवै । भ्रुवे । स्थाख्यावित्येव । अग्नये । अतिकृतये । अतिश्रिये । अतिभ्रुवे दवदत्ताय । य्वौ य्वोः प्र इति किम् ? मात्रे । दुहित्रे ।

स्वसखि ॥१।२।६७॥ प्रो य्वोरिति वर्तते । य्वोः प्रस्सुसंज्ञो भवति सखिशब्दं वर्जयित्वा । असखीति प्रतिषेधात् सिद्धौ प्रति निर्देशात्स्वाख्याख्यस्य स्थाख्यास्य च प्रस्येह ग्रहणम् । अग्नये । वायवे । स्थाख्याश्च यो सुसंज्ञो न भवति तस्य ग्रहणम् । कृतये । घेनवे । सुसंज्ञाविषये “नन्बाध्य आसम्” [१।२।११] इति सुसंज्ञा बाध्यते । कृत्याम् । घेन्वाम् । असखीति किम् ? सख्युः । सख्यौ । असखीति पर्युदासोऽयम् । तेन शोभनः सखा सुसखा । अतिसखा । अतिसखेरगच्छति । अतिसखेः स्वम् । सखिशब्दादन्यत्वमस्तीति सुसंज्ञा । मृद्ग्रहणेन तदन्तविधिरिति वा^२ । य्वोः प्र इत्येव । पित्रे । मात्रे । सुप्रदेशाः “सोर्ङिति” [५।२।१०६] इत्येवमादयः ।

पतिः से ॥१।२।६८॥ पतिशब्दः स एव सुसंज्ञो भवति । प्रजाप्रतिना । प्रजापतये । पतिरेव स इति कस्मान्न नियमः । एवं हि “द्वन्द्वे सुः” [१।३।१८] इति पूर्वनिपातवचनमनर्थकं स्यात् द्वन्द्वे पतिरिति ब्रूयात् । न ह्यन्यस्य से सुसंज्ञासम्भवः । अपि चानेकप्राप्तावेकस्य नियम इति वचनमनर्थकं स्यात् । पट्टमृदुगुप्तपटव इति । स इति किम् ? पत्या । पत्ये ।

प्रो घि च ॥१।२।६९॥ प्र इति मात्रिकस्य संज्ञा । प्रो घिसंज्ञो भवति । भेत्ता । बोद्धा । घीति नपा निर्देशः किमर्थः ? पुल्लिङ्गया रुसञ्ज्ञया बाधा यथा स्यात् । प्रयोजनमग्रे वक्ष्यते । चशब्दः सञ्ज्ञान्तर-समावेशार्थः । घि च भवति यच्चान्यत्प्राप्नोति तच्च भवति । इह प्रविनय्य गत इति सुसंज्ञासमावेशः । विश्च ना च विनरौ तावाचष्टे णिच् । “णाविष्टवन्मृदः” [४।४।१४६] इति इष्टवद्भावः । टिखम् । प्रशब्देन योगः । त्वः प्यादेशे णिखे प्राप्ते घिसंज्ञायां सत्यां “प्ये घिपूर्वात्” [४।४।१५६] इति षोरप्यादेशः सिद्धः । सुसंज्ञायाश्च पूर्वनिपातः । अन्यथेकारोकारान्यामन्यत्र सावकाशा घिसंज्ञा इकारोकारविषयत्वादनवकाशया सुसंज्ञया बाध्यते ।

स्फे रुः ॥१।२।१००॥ प्र इति वर्तते । स्फसञ्ज्ञे परतः प्रो रुसञ्ज्ञो भवति । कुरडा । हुणडा । स्पर्धा । नुन्विधादेशात्प्रयणात्प्रगेव नुम् । “सरोर्ङलः” [२।३।८५] इति अस्यः । “अजाद्यतष्टाप्” [३।१।१४] ।

दीः ॥१।२।१०१॥ दीरिति द्विमात्रस्य सञ्ज्ञा । दीश्च रुसञ्ज्ञो भवति । ईहाञ्चक्रे । लिटि परतः “सरोरिजादेः” [२।१।३२] इत्याम् । शेषम् “आम्बत्तकृजः” [१।२।१६] इत्यत्रोक्तम् । रुरिति पुल्लिङ्ग-निर्देशः किमर्थः ? ईकारोकारविषयया सुसंज्ञया बाधा मा भूत् । द्वयोः समावेशे हे परमदानीं ईक इत्यत्र “ऋन्मोः” [४।२।१५३] इति सुसंज्ञाश्रयोः कप् । रुसञ्ज्ञाश्रयो “अनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य रोः” [२।३।१६४] इति पविधिश्च सिद्धः ।

यस्ये तदादि गुः ॥१।२।१०२॥ यो हि यस्मात्स्यः स तस्येत्युच्यते । यस्य धोर्मृदो वा त्यः यस्यस्तस्मिन् परतस्तदादिशब्दरूपं गुसञ्ज्ञं भवति । केवलायाः प्रकृतेर्व्यपदेशिवद्भावात्तदादित्वम् । दोग्धि । जुहोति । करिष्यति । कुरडानि । गुकार्यमेविडागमो नुमागमश्च । जसि “नोङः” [४।४।५] इति दीत्वञ्च । यदिति सञ्ज्ञिनिर्देशार्थम् । अन्यथा तदादीति न लभ्येत तथा च त्ये सति पूर्वमात्रस्य गुसञ्ज्ञा स्यात् । तत्र को दोषः ? इह न्यविशत प्राकरोदिति सगेरडागमः स्यात् । यस्य इति यच्छब्देन त्यस्य विशेषणं किम् ? अस्यापत्यमिः । देवदत्त इं पश्येत्यत्र आदेरैप् स्यात् । अखस्य स्थानिवद्भावाद् व्यवधानमिति चेत् योऽनादिष्टादचः पूर्वस्तं प्रति स्थानिवद्भावः । आदिष्टाच्चैषोऽचः पूर्वो निष्पन्नस्य पदस्य पदान्तरेणाभिसम्बन्धात् । यस्य इति ईमिनिर्देशः

१. ‘निर्देशात्’ इत्यस्य ‘अनुवृत्तेः’ इत्यर्थः । प्रसङ्गस्वारस्यात् । २. ‘वा’ अनित्यमित्यर्थः ।

३. नोङ इत्यस्मिन्ननुवर्तमाने ‘घेऽकौ’ इति दीः ।

किमर्थः ? यद्यस्तदादि गुरित्युच्यमाने यस्य त्यः सम्भवति तस्यान्यस्मिन्नपि शब्दे गुणांशा स्यात् । तथा च स्त्रियै इदं स्त्र्यर्थं भुवे इदं भ्वर्थम् । इयुवौ प्रसज्येयाताम् । तदादिवचनं किमर्थम् ? यत्रानेकस्यः सम्भवति तत्र तदादेर्गुसंज्ञा यथा स्यात् । करिष्यति । कुराडानि । स्यान्तस्य सनुष्कस्य च गुसंज्ञायां “यज्यतो दीः” [१२।२।६६] “धेऽकौ” [४।४।६] इति दीत्वं सिद्धम् । गुरिति पुल्लिङ्गनिर्देशो भपदसंज्ञासमावेशार्थः । इह भाभ्रव्य इति गुसंज्ञाश्रय आदेरैप् । भसंज्ञाश्रयः “कद्र्वो रोऽस्वयम्सुवः” [४।४।१३४] इति ओकारः । इह च यजुः पर्यमस्य याजुष्कः । गुसंज्ञाश्रय आदेरैप् “स्वादावधे” [१२।१०६] इति पदत्वे पदसंज्ञाश्रयाणि रिसत्वषत्वानि सिद्धानि । नपुंसकलिङ्गा चेद् गुसंज्ञा होतुरपत्यं हौत्र इत्यत्र सावकाशा सती पदसंज्ञया बाधेत ।

सुम्भिडन्तं पदम् ॥१२।१०३॥ “नः क्ये” [१२।१०४] इति नियमारम्भात् सुविति प्रत्याहार-ग्रहणं नेपो बहोः । मिडा साहचर्याद्वा । सुवन्तं मिडन्तं च शब्दरूपं पदसंज्ञं भवति । सूपकारः पचति । पदसंज्ञाश्रयो रित्वादिविधिः । खरि सादेशविधिश्च भवति । ननु सुम्भिडौ त्यौ । त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहण-मित्यन्तग्रहणं किमर्थम् ? अन्यत्र संज्ञाविधौ तदन्तविध्यभावज्ञापनार्थम् । तेन दृषत्तीर्णेत्यत्र क्तान्तस्य “क्त-वत्” [१।१।२८] इत्यनेन तसंज्ञा नास्तीति “द्वान्तस्य तो नः” [५।३।५६] इत्येष विधिर्दृष्टकारापेक्ष-या न भवति । इह च कुमारौगौरितरा “तादी ऋः” [४।१।११७] इत्यनेन तरान्तस्य ऋसंज्ञा नास्तीति “ऋरूप०” [४।३।१५५] इत्यादिना प्रादेशो न भवति । पदमिति नपा निर्देशो भसंज्ञया बाधा यथा स्यादि-त्येवमर्थः । अन्यथा राज्ञः राजन्य इत्यत्र भसंज्ञाश्रयमनोऽखं पदसंज्ञाश्रयं नखञ्च स्यात् ; पदप्रदेशाः “पदस्य” [५।३।१४] इत्येवमादयः ।

नः क्ये ॥१२।१०४॥ क्य इति क्यच्क्यङ्क्यधामविशेषग्रहणम् । क्ये परतो नान्तस्य पदसंज्ञा भवति । राजानमिच्छति राजीयति । राजेवाचरति राजायते । अचर्म चर्म भवति चर्मायते । पदत्वे सति नखं सिद्धम् । “नखं सुन्विधिं क्तु कि” [५।३।२८] इति नियमादन्यत्र सिद्धमिति “क्यचि” [५।२।१४२] इतीत्वं “दीर्घद्वारे” [५।२।१३४] इति दीत्वञ्च भवति । “त्यखे त्याश्रयम्” [१।१।६३] इति पदत्वे सिद्धे नियमार्थ-मिदम् । नान्तमेव क्ये पदसंज्ञं भवति नान्यत् । वाच्यति । शुच्यति^१ । कुत्वं न भवति । नान्तं क्य एवेति विप-रीतो नियमो नाशङ्कनीयः । “अकौ” [१।३।३०] इति कौ नखप्रतिषेधात् ज्ञायते पदत्वे हि नखप्राप्तिः ।

सिति ॥१२।१०५॥ सिति त्ये परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति । भवतोऽयं भवदीयः । “भवतष्टण्छसौ” [३।२।६१] इति छस् । “यचि भः” [१२।१०७] इति पदसंज्ञायां बाधितायां पुनरारम्भः । एवमूर्णा अस्या-स्तीति ऊर्णायुः । “ऊर्णाहंशुभंभ्यश्च युस्” [४।१।६२] इति युस् । “यस्य ड्याञ्च” [४।४।१३६] इति खं न भवति । अहँय्युः । अहँयुः । शुभँय्युः । शुभँयुः । “वा पदान्तस्य” [१।४।१३३] इति परस्वविकल्पः ।

स्वादावधे ॥१२।१०६॥ अध इति प्रतिषेधाद्वाया एकस्य सोर्ग्रहणम् । स्वादौ धवर्जिते परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति । राजभ्याम् । राजभिः । राजत्वम् । राजता । अध इति किम् ? राजानौ । राजानः । यद्येवं राजे-त्यत्रापि प्रतिषेधः स्यात् । नैवं शङ्क्यम् । अध इति पर्युदासोऽयं धादन्यत्र पदसंज्ञा विधीयते । धे तु पूर्वेण भविष्यति । यद्येवं सुवाचौ सुवाच इत्यत्रान्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वं प्राप्नोति । अस्तु तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधः । राजेत्यत्र “अकौ” [१।३।३०] इति प्रतिषेधात् ज्ञायते सौ पदसंज्ञा भवति । एवमप्यध इति अनन्तरस्य स्वादौ विधेः प्रतिषेधोऽयं सुवाचौ सुवाच इत्यत्र पूर्वेण प्राप्तिरस्त्येव । कर्तव्योऽत्र यत्नः । “उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ त्यलक्षणं न भवतीति ।

यचि भः ॥१२।१०७॥ स्वादावध इति वर्तते । यकारादावजादौ च स्वादौ धवर्जिते पूर्वं भसंज्ञं भवति । गार्ग्यः । वात्स्यः । दाक्षिः । प्लाक्षिः । पूर्वेण पदसंज्ञा प्राप्ता भवाद् “यस्य ड्याञ्च” इत्यखम् । “नभोऽङ्गिरो-

१. भ्रुवे अ०, ब०, स० । २. भवर्थम्-अ०, ब०, स० । ३. इति नखवि-ब०, स० । ४. न सम्भ-अ० । ५. च्यति अ०, स० ।

मनुष्यां वन्युपसङ्ख्यानम् । [वा०] नभसा तुल्यं वर्तते इति नभस्वत् । अङ्गिरस्वत् । मनुष्वत् । वृष्णो वस्वश्वयोर्ध्वोर्भस्संज्ञेति केचित् । वृष्णो वसुः वृषणवसुः । वृषणश्वः ।

मत्वर्थे स्तौ ॥१२।१०८॥ मत्वर्थे ल्ये परतः सकारान्तं तकारान्तञ्च भसंज्ञं भवति । तपस्वी । यशस्वी । “विन्नस्मायामेधास्रजः” [४।१।४७] इति विन् । मतोर्विशेषणत्वेऽपि मत्वर्थग्रहणेन ग्रहणम् । यथा देवदत्तशालापण्डिता आनीयन्तामित्युक्ते देवदत्तो विशेषणभूतोऽपि यदि पण्डितः सोऽपि आनीयते । भास्वान् । विद्युत्वान् । मरुत्वान् । स्ताविति किम् ? राजवद् गृहम् ।

कारके ॥१२।१०९॥ कारक इत्ययमधिकारः । यदित उर्ध्वमनुक्रमिष्यामः कारक इत्येवं तद्वेदितव्यम् । कारकं निर्वर्तकं हेतुर्वा । कस्य ? क्रियायाः । का च क्रिया ? ध्वर्थः । कारक इति निर्धारणलक्षणोयमीप् । जात्यपेक्षैकवचनम् । सौत्रो वा निर्देशः । कारकेषु यद्भ्रुवं तदपादानं, यः कर्मणोपेयोऽर्थः स सम्प्रदानमित्यादि योज्यम् । वक्ष्यति “व्यपाये ध्रुवमपादानम्” । [१२।११०] ग्रामादागच्छति । स्वर्गादवरोहति । अपाय-क्रियाया ग्रामोऽपि निर्वर्तकः देवदत्तोऽपि । ध्रुवत्वाद् ग्रामोऽपादानम् । कारक इति किम् ? वृक्षस्य पर्णं पतति । कुड्यस्य पण्डः पतितः । अपायक्रियाया निर्वर्तकत्वेन वृक्षः कुड्यञ्च न विवक्षितम् । “अकथितञ्च” [१२।१२१] अपादानादिभिरकथितं च कारकं कर्मसंज्ञं भवति । आचार्यं धर्मं पृच्छति । कारक इति किम् ? आचार्यस्य शिष्यं धर्मं पृच्छति । आचार्यस्य शिष्यविशेषणत्वाद्कारकत्वम् । यदा कारकञ्चाकारकञ्च सर्वमकथितमप्रतिपादितमित्यर्थस्तदेदं प्रत्युदाहरणम् । असङ्कीर्तितमिति व्याख्याने कारकमेव लभ्यते । प्रदेशेषु कारकाभिधानेऽपादानादीनां ग्रहणम् ।

ध्यपाये ध्रुवमपादानम् ॥१२।११०॥ धीर्बुद्धिः । प्राप्तिपूर्वको विश्लेषोऽपायः । धिया कृतो अपायो ध्यपायः । धीप्राप्तिपूर्वको विभाग इत्यर्थः । धीग्रहणे ह्यसति कायप्राप्तिपूर्वक एवापायः प्रतीयेत धीग्रहणेन सर्वः प्रतीयते । ध्रुवमविचलम्, अवधिभूतं वा । ध्यपाये साध्ये यद् भ्रुवं तदपादानसंज्ञं भवति । ग्रामादागच्छति । ग्रामो देवदत्तं नानुपतति इति ध्रुवः । अथवा अपायात्प्रागपि ग्रामः । अपायेऽपि ग्राम एव । देवदत्तस्त्वपाये ग्रामग्रहणेन न गृह्यत इति ग्रामो ध्रुवः । एवमश्वाद् धावतः पतितः । गच्छतः सार्थादवहीनः । देवदत्तो जिनदत्तादागतः । मेधौ परस्परतोऽपसर्पतः । शृङ्गाच्छरो जायते । गङ्गा हिमवतः प्रभवति । इह ग्रामान्नागच्छतीति पूर्वमपादानसंज्ञा पश्चात्प्रतिषेधः । धियाऽपायस्य विशेषणं किम् ? अधर्माञ्जुगुप्तने । प्रेक्षापूर्वकारी दुःखहेतुरधर्म इति बुद्ध्या संप्राप्य ततो निवर्तत इति अपादानत्वम् । एवमधर्माद्विरमति प्रमाद्यति । व्याघ्राद्धिमेति । चौरैर्भ्यञ्जायते । अध्ययनात् पराजयते । न शक्नोतीत्यर्थः । यवेभ्यो गां वारयति । अकार्यात्सुतं वारयति । कृपादन्धं वारयति । उपाध्यायादन्तर्द्धत्ते । भयं सञ्चिन्त्य निवर्तत इत्यर्थः । विवक्षातः कारकाणि भवन्ति । उपाध्यायादधीते । उपाध्यायाच्छृणोति । अविवक्षायां नटस्य शृणोति । ग्रन्थिकस्य शृणोति । ध्रुवमिति किम् ? अरण्ये बिभेति । नात्र भयावधिभूतमरणं किं तर्हि चौराः । नपा निर्देशः किमर्थः । वक्ष्यमाणाभिः संज्ञाभिर्बाधा यथा स्यात् । धनुषा विध्यति । पुलिङ्गया करणसंज्ञया बाधात् । कांस्यपात्र्यां मुङ्क्ते । पुलिङ्गाऽधिकरणसंज्ञैव । धनुर्विध्यतीति कर्तृसंज्ञा । इह गां दोग्धि पय इति परत्वात्कर्मसंज्ञा । अपादानप्रदेशाः “काऽपादाने” [१।४।३७] इत्येवमादयः ।

कर्मणोपेयः सम्प्रदानम् ॥१२।१११॥ उपपूर्वादिङो ये कृते उपेय इति भवति । कर्मणा य उपेयोऽर्थस्तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति । उपाध्यायाय गा ददाति । देवाय बलिं प्रयच्छति । कर्मणेति किम् ? गवा उपाध्यायमुत्रैति । सम्प्रदानमित्यन्वर्थसंज्ञाकरणात् ददात्यर्थानां धूनां द्रव्येण कर्मणा उपेयोऽर्थः सम्प्रदानमिति । तैनेह न भवति । देवदत्तस्य वस्त्रं दर्शयति । मित्रस्य कार्यं कथयति । अजां नयति ग्रामम् । सम्यक् प्रदानं सम्प्रदानमिति चाश्रितम् । तैनेह न भवति । धनतः पृष्ठं ददाति । रजकस्य वस्त्रं ददाति । राज्ञो दण्डं ददाति । इह तर्हि कथं श्राद्धाय निगृह्यते । युद्धाय सन्नद्धति । तिष्ठते ब्राह्मणी छात्रेभ्यः ? तादर्थ्यात् सिद्धम् । अथवा

कथञ्चिद्विबन्धितभेदाभिः सन्दर्शनप्रार्थनाऽध्यवसायक्रियाभिः क्रियापि व्याप्या सती कर्मतश्चौपेयत्वात् सम्प्रदानत्वम् । तेनेहापि भवति । रोचते देवदत्ताय मोदकः । स्वदते देवदत्ताय मोदकः । पुष्पेभ्यः स्पृहयति । मित्राय कथयति । मित्राय क्रुध्यति । मित्राय दुह्यति । मित्राय ईर्ष्यति । मित्रायारुयति । मित्राय कुप्यति । कोपादन्यत्र क्रुधादीनां प्रार्थनादिभिः क्रियाविशेषैर्भेदो न विवक्षित इति क्रियायाः कर्मव्यपदेशो नास्ति । भार्यामीर्ष्यति । औषधं द्वेष्टि । शप उपलम्भनेऽर्थे भेदः । देवदत्ताय शपते । ह्युङ् आत्मनिहवे भेदः । मित्राय ह्युते । अन्यत्र मित्रं हुते । राधी-
द्वयोर्देवालोचने । पुत्राय राध्यति । पुत्राय ईक्षते । अन्यत्र पुत्रस्य राध्यति । पुत्रमीक्षते । यत्र च प्रत्याङ्पूर्वः शृणोतिरभ्युपगमे वर्तते । देवदत्ताय प्रतिशृणोति । अन्यत्र शृणोति । शृणोतिर्यदि कथयितुः प्रोत्साहने वर्तते । आचार्याय अनुशृणोति । आचार्याय प्रतिशृणोति । इह भेदाभेदविवक्षा । देवदत्ताय श्लाघते । देवाय प्रणमति । गत्यर्थानां चेष्टायामसम्प्राप्तावुभे [वा०] । यथा ग्रामाय गच्छति । ग्रामं गच्छति । ग्रामाय व्रजति । ग्रामं व्रजति । चेष्टायामिति किम् ? मनसा पाठलिपुत्रं गच्छति । असम्प्राप्ताविति किम् ? पन्थानं गच्छति । भार्या गच्छति । अन्यत्राभेदविवक्षैव । कटं करोति । ओदनं पचति । शास्त्रं पठति । “सग्योश्च क्रुधिद्रुहोः” [वा०] मित्रमभिक्रुध्यति । मित्रमभिक्रुध्यति । “सिद्धिरनेकान्तात्” [११११] इत्यतो भेदाभेदोभयविवक्षा प्रत्येतव्या । परेषामपि प्रतिपत्तिगौरवं तुल्यम् । क्व क्रियाया व्याप्यत्वमिष्टं क्व च नेति दुर्बोधम् ।

धारेरुत्तमर्णः ॥११२११२॥ ऋणो उत्तम उत्तमर्णः । निपातनात् सविधिः । धारयतेरुत्तमर्णो योऽर्थस्तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति । देवदत्ताय गां धारयति । उत्तमर्ण इति किम् ? देवदत्ताय शतं धारयति दरिद्रः ।

परिक्रयणम् ॥११२११३॥ परिक्रीयतेऽनेनेति परिक्रयणम् ; तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति । शताय परिक्रीतः । सहस्राय परिक्रीतः । साधकतमत्वात् करणसंज्ञा प्राप्ता ।

साधकतमं करणम् ॥११२११४॥ क्रियायामतिशयेन साधकं साधकतमम्, तत्कारकं करणसंज्ञं भवति ।

“दानेन भोगं दयया सुरूपं ध्यानेन मोक्षं तपसेष्टसिद्धिम् ।
सत्येन वाक्यं प्रशमेन पूजां वृत्तेन जन्माग्रमुपैति मर्त्यः ॥”

तमग्रहणं किमर्थम् ? यथा रूपप्रस्तावे अभिरूपाय कन्या देयेत्युक्तेऽभिरूपतमायेति । एवमिहापि कारकाधिकारादकारके संज्ञावृत्तिर्नास्तीति ‘साधकं करणम्’ इत्युक्तेऽपि साधकतममिति गम्यते तदेतत् तमग्रहणं साधकमन्यत्र-तमग्रहणेन विना प्रकर्षो न लभ्यते । तेना “आधारोऽधिकरणः” [१११११६] इत्यनेन मुख्यामुख्ययोरधिकरणत्वं सिद्धम् । तिलेषु तैलम् । गङ्गायां घोषः । साधकतमस्याविवक्षायां स्वातन्त्र्याद्धनुर्विध्यतीति भवति । पुंल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः ? नरिन्द्रयनिर्देशः संज्ञायां सम्प्रदानसंज्ञया बाधा मा भूत् । शतेन परिक्रीतः । वचनात् साऽपि भवति । शताय परिक्रीतः । “द्विवः कर्म” [११२११५] इत्यत्र च समावेशो यथा स्यात् । अक्षौ दीव्यति ।

दिवः कर्म ॥११२११५॥ दिवेः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं भवति । अज्ञान् दीव्यति । शर्लाकां दीव्यति । नपा निर्देशात् करणत्वमपि ।

आधारोऽधिकरणः ॥११२११६॥ आध्रियतेऽस्मिन् क्रियेत्याधारः । इदमेव निपातनमधिकरणो ध्वजः । आधारो यस्तत् कारकमधिकरणसंज्ञं भवति । यद्येवं कर्तृकर्मणोरधिकरणसंज्ञा प्राप्ता तदाश्रितत्वात् क्रियायाः । एवं तर्हि कर्तृकर्मणोः क्रियाश्रययोर्धारादाधारोऽभिप्रेतः । पूर्वं तमग्रहणेन ज्ञापितं गौण-

स्याप्याधारस्याधिकरणत्वम् । कर्तृकर्मणोः सत्यपि क्रियाधारत्वेऽनवकाशत्वात् कर्तृकर्मसञ्ज्ञे भविष्यतः । भेदवि-
वक्षायामधिकरणत्वमपि । अशनक्रिया देवदत्ते वर्तते । विकृते दनं तण्डुलेषु ।

“औपरलोषिकवैषयिकाऽभिव्यापक इत्यपि । आधारस्त्रिविधः प्रोक्तः कटाकाशतिलेषु च ॥”

औपरलोषिकः—कटे आस्ते । स्याल्यां पचति । वैषयिकः—आकाशे शकुनयः । गङ्गायां घोषः । गुरौ
वसति । यदधीना यस्य स्थितिः स तस्याधारः । अभिव्यापको विभागाप्रतीतेः । तिलेषु तैलम् । दधनि सर्पिः ।
अधिकरणप्रदेशाः “ईबधिकरणे च” [१।१।४४] इत्येवमादयः ।

कर्मैवाऽधिशीङ्स्थाऽसः ॥१।२।११७॥ अधिपूर्वाणां शीङ् स्था आस् इत्येषामाधारो यस्तत्
कारकं कर्मसञ्ज्ञमेव भवति । ग्राममधिरोते । पर्वतमधितिष्ठति । प्रासादमध्यास्ते । एवकारः पुंल्लिङ्गाऽधिकरण-
संज्ञासमावेशनिवृत्त्यर्थः । कर्मप्रदेशाः “कर्मणीप्” [१।१।२] इत्येवमादयः ।

वसोऽनूपाध्याङ् ॥१।२।११८॥ अनु उप अधि आङ् इत्येवम्पूर्वस्य वसतेराधारो यस्तत् कारकं
कर्मसञ्ज्ञं भवति । ग्राममनुवसति । गिरिसुपवसति । गृहमधिवसति । वनमावसति । इह कथं ग्रामे उपवसति ।
भोजननिवृत्तिं करोतीत्यर्थः ? अत्रापि त्रिरात्रादेराधारस्य कर्मत्वं प्रतीयते ।

अभिनिविशश्च ॥१।२।११९॥ अभिनि इत्येवंपूर्वस्य विशतेराधारो यस्तत् कारकं कर्मसञ्ज्ञं भवति ।
ग्राममभिनिविशते । गेहमभिनिविशते । चकारात् कचिदधिकरणसंज्ञाऽपि भवति । या या संज्ञा यस्मिन्नभिनि-
विशते । अर्थेष्वभिनिविष्टः । कल्याणेऽभिनिवेशः ।

कर्त्राप्यम् ॥१।२।१२०॥ कर्त्रा क्रियया यदाप्यं तत् कारकं कर्मसञ्ज्ञं भवति । कर्तृग्रहणादाप्यग्रहण-
सामर्थ्याद्वा क्रिया लभते । तत्र कर्म ।

“प्राप्यं विषयभूतं च निर्वर्त्यं विक्रियात्मकम् । कर्तुश्च क्रियया व्याप्यमीप्सितानीप्सितेतरत् ॥”

आप्यत्वसामान्यं सर्वत्र विद्यते । प्राप्यम्—ग्रामं गच्छति । आदित्यं पश्यति । विषयभूतम्—जैनेन्द्रमधीते ।
हिमवन्तं शृणोति । निर्वर्त्यम्—घटं करोति । ओदनं पचति । विक्रियात्मकम्—काष्ठानि दहति । घटं भिनत्ति ।
ईप्सितम्—गुडं भक्षयति । ओदनं भुङ्क्ते । अनीप्सितम्—दानं गच्छन् व्याघ्रं पश्यति । कण्टकान्-
मृदाति । अनुभयम्—ग्रामं गच्छन् वृद्धमूलान्युपसर्पति । कर्त्रेति किम् ? माषेष्वश्वं बध्नाति । अश्वेन
कर्मणा भक्षणाक्रियया माषाणाम्प्यानां कर्मसंज्ञा मा भूत् । अथ सर्वाणि कारकाणि कर्त्राप्यन्त इति कर्मसंज्ञा
प्राप्नोति ? नैष दोषः । सर्वेषु कारकेष्वप्येषु आप्यग्रहणसामर्थ्यादाप्यतमे संप्रत्ययः । तेन करणादिषु न भवति ।
पयसा ओदनं भुङ्क्ते । इह कथं कर्मत्वं गेहं प्रविशतीति ? आधारस्याविवक्षया ।

अकथितञ्च ॥१।२।१२१॥ अकथितमसङ्कीर्तितम् । अपादानादिभिर्विशेषकारकादिभिरकथितं च यत्
कारकं तत् कर्मसंज्ञं भवति । अकथितमप्रधानमिति गृह्यमाणे इह देवदत्ताद् गां याचत इत्यप्रधानतयाऽपादान-
संज्ञा कर्मसंज्ञया बाध्येत ।

“दुहियाचिरुद्धिप्रच्छिभिश्चिञ्जागुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ ।

ब्रुविज्ञासिगुणेन च यत् सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना ।”

दुहि—गां दोग्धि पयः । गौः कृत्-कृत्-गा-भ-भे-भ-त्-द्वि-ति-ग-क-त्-दि-त्-ति-त-ल-त् । गोरप्याप्यत्वेन सिद्धं
कर्मत्वमिति चेत् परिगणनार्थमिदं बह्वव्यम् । इह मा भूत् । नटस्य शृणोति श्लोकम् । याचि—माणवकं
गा याचते । याचनमात्रेणापायस्याविवक्षितत्वात् । रुधि—गामवरुणद्धि ब्रजम् । सतोऽप्याधारस्याविवक्षा ।
अनुदरा कन्येति यथा । प्रच्छि—आचार्यं धर्मं पृच्छति । प्रश्नमात्रेणापायस्याविवक्षा । भिद्धि—देवदत्तं गां
भिद्धते । चिञ्—वृद्धमवचिनोति फलानि । उपयोगनिमित्तं प्रयोगनिमित्तम् । अथवा उपयोगो दुग्धादि तन्नि-
मित्तं गवादि । इहापि तर्हि स्यात् । पाणिना कांस्यपात्र्यां दोग्धि । पाण्यादिकमप्युपयोगनिमित्तमित्याह ।

अपूर्वविधौ-यस्य पूर्वो विधिर्नोक्तः । इह तु पूर्वमेव करणसञ्ज्ञा अधिकरणसञ्ज्ञा च विहिता । ब्रुविशा-
स्योर्गुणेन च क्रियया कर्मणा वा यत् सचते सम्बध्यते तदानीर्निर्गमिन्नाचार्येण । ब्रुवि-माणवकं धर्मं
ब्रूते । शासि-माणवकं धर्ममनुशास्ति । माणवकस्य सम्प्रदानत्वेनाविवक्षा । अकथितमिति किम् ? देवदत्तात्
गां याचते । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेनम् “कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणामिति” लब्धम् ।
काले^१-मासमास्ते । संवत्सरं वसति । भावे^२-गोदोहं स्वपिति । अध्वा च स गन्तव्यश्चेति इच्छया विशेषणत्वम् ।
क्रोशमास्ते । क्रोशं स्वपिति । देशोऽपि कर्मसंज्ञ इति केचित् । कुरूनास्ते । कुरून् स्वपिति । अथ नीचहि-
हरतिकृषि^३जयत्यादयो द्विकर्मका उपलभ्यन्ते । तेषां कथं द्विकर्मकत्वं प्रधानाप्रधानकर्मणोः सामान्येनाऽप्यत्वात् ।
अजां नयति ग्रामम् । भारं वहति ग्रामम् । भारं हरति ग्रामम् । शाखां कर्षति^४ ग्रामम् । देवदत्तो जिनदत्तं शतं
जयति । देवदत्तो ग्रामं शतं दण्डयति । अयं तु विशेषः —

“प्रधानकर्मण्यभिधेये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम् । अप्रधाने दुहादीनां प्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः ॥”

नीयते अजा ग्रामम् । उह्यते भारो ग्रामम् । हियते भारो ग्रामम् । कृष्यते शाखा ग्रामम् । जीयते
जिनदत्तः शतम् । दण्ड्यते जिनदत्तः शतम् । अप्रधाने कर्मणि दुहादीनाम् । दुह्यते गौः पयः । याच्यते माण-
वको गाम् । अवरुध्यते गां व्रजः । पृच्छ्यते आचार्यो धर्मम् । भिद्यते देवदत्तो गाम् । अरुच्यते वृक्षः
फलानि । उच्यते माणवको धर्मम् । शिष्यते^५ माणवको धर्मम् । ग्यन्ते कर्तुश्च कर्मण इति उत्तर सूत्रेणाऽप्य-
न्तावस्थायां यः कर्ता ग्यन्तावस्थायां कर्मतामापन्नः प्रयोज्यस्तस्याभिधाने लादीनाहुः । बोध्यते माणवकः
शास्त्रम् । गम्यते माणवको ग्रामम् । भोज्यते माणवक ओदनम् । आस्यते माणवको मासम् । अज्याप्यते^६
माणवको जैनेन्द्रम् । ननु ग्यन्तेषु धुषु ग्यन्तवाच्यया क्रियया प्रेषणाऽध्येषणलक्षणया यदाप्यते तत् प्रधानं
कर्म । अव्ययक्रियया यदाप्यते तदप्रधानम् । एवं च सति प्रधानकर्मण्यभिधेये लादीनाहुरित्यनेनैव सिद्धत्वादन-
र्थकमिदं ग्यन्ते कर्तुश्च कर्मण इति ? नानर्थकं समुच्चयार्थमेतत् प्रधाने कर्मणि लादयो भवन्त्यप्रधाने च । तेन
बोध्यते माणवकं धर्मः । भोज्यते माणवकमोदनः । अज्याप्यते माणवकं जैनेन्द्रः । अकर्मणां गत्यर्थानां च प्रधान
एव कर्मणि लादयः । आस्यते माणवको मासम् । आस्यते माणवको गोदोहम् । गम्यते माणवको ग्रामम् ।
प्राप्यते माणवको ग्रामम् ।

ज्ञागम्यद्यर्थेरणि कर्ता शौ ॥१॥१२२॥ शार्थानां गम्यर्थानामद्यर्थानां धीनाञ्च धूनामग्य-
न्तानां यः कर्ता स शौ सति कर्मसंज्ञो भवति । शार्थानां-जानाति माणवको धर्मम् । ज्ञापयति माणवकं
धर्मम् । बुध्यते माणवको धर्मम् । बोधयति माणवकं धर्मम् । पश्यति माणवको ग्रामम् । दर्शयति माणवकं
ग्रामम् । गम्यर्थानाम्-गच्छति माणवको ग्रामम् । गमयति माणवकं ग्रामम् । याति माणवको ग्रामम् ।
यापयति माणवकं ग्रामम् । अद्यर्थानाम्-भुङ्क्ते ओदनं माणवकः । भोजयति माणवकमोदनम् । अश्नाति
माणवक ओदनम् । आशयति माणवकमोदनम् । धीनाम्-आस्ते माणवकः । आसयति माणवकम् । शेते
माणवकः । शाययति माणवकम् । अत्रापि पूर्ववरिणजन्तवाच्यया क्रियया प्रेषणाऽध्येषणलक्षणया आप्यत्वात्
कर्मसंज्ञा सिद्धा । यद्यपि स्वातन्त्र्यमाप्यल्लब्धास्ति तथापि क्रमैरेत्यवधारणान् कर्तृसंज्ञा न भवतीति । एवं सिद्धे
नियमार्थमिदं तेषामेवाणौ कर्ता ग्यन्ते कर्मसंज्ञो भवति नान्येषाम् । पचत्योदनं देवदत्तः । पाचयत्योदनं देव-
दत्तेन । अणि कर्तेति किम् ? गमयति देवदत्तो जिनदत्तम् । तमन्यः प्रयुङ्क्ते । गमयति देवदत्तेन जिनदत्तम् ।
नयत्यादयः प्रापणार्था न गत्यर्थास्तेनेह कर्मसंज्ञा न भवति । अजां नयति देवदत्तः । नाययति देवदत्तेन । भारं

१. गन्तव्यः क-मु०, ब० । २. कालः अ०, स० । ३. भावः अ०, स० । ४. कृषज-मु० ।
५. जिनदत्तो ग्रामं भारं हरति अ०, ब०, स० । ६. कृषति अ०, ब०, स० । ७. ‘शिष्यते माणवको धर्मम्’
इति ब० पुस्तके नास्ति । ८. अज्याप्यते माणवको जैनेन्द्रम् अ०, ब०, स० ।

वहति वाहीकः । वाहयति वाहीकेन । यदा गत्यर्थतासंभवस्तदा भवति कर्मसंज्ञा । वहन्ति बलीवर्दा यवान् । वाहयन्ति बलीवर्दान् यवान् । प्रवहत्युदकं देवदत्तः । प्रवाहयत्युदकं देवदत्तम् । “अद्यथेषु अदिखाद्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः [वा०] अत्ति देवदत्तः । आदयति देवदत्तेन । खादयति (खादति) देवदत्तः । खादयति देवदत्तेन । अथवा “सर्वमद्यर्थकार्यमदेन भवतीति वक्तव्यमधिकरणे तविधिं मुक्त्वा” [वा०] आदयते माणवकेन । “चल्यद्यथात्” [१।२।८४] ममपि न भवति । “भक्षिरहिंसार्थः कर्मसंज्ञो न भवतीति वक्तव्यम्” [वा०] भक्षयति पिएडीं देवदत्तः । भक्षयति पिएडीं देवदत्तेन । अहिंसार्थस्येति किम् ? भक्षयति बलीवर्दीं यवम् । भक्षयति बलीवर्दं यवम् । अत्र हिंसाऽस्ति । वनस्पतिकायानां प्राणित्वात् । प्रकृतेन कर्मणा अकर्मका इह गृह्यन्ते तेन धिग्रहणे कालादिकर्मणः कर्ता कर्मसंज्ञो भवति । आस्ते मासं देवदत्तः । आसयति मासं देवदत्तम् । आस्ते गोदोहं देवदत्तः । आसयति गोदोहं देवदत्तम् । आस्ते क्रोशं देवदत्तः । आसयति क्रोशं देवदत्तम् ।

शब्दे च ॥१।२।१२३॥ शब्दे कर्मभावेन क्रियाभावेन च यो धुर्वर्तते तस्याण्यन्तस्य कर्ता शौ कर्मसंज्ञो भवति । शब्दकर्मणः—शृणोति देवदत्तः शब्दम् । श्रावयति देवदत्तं शब्दम् । उपलभते देवदत्तः शब्दम् । उपलभयति देवदत्तं शब्दम् । अधीते माणवकस्तर्कम् । अध्यापयति माणवकं तर्कम् । शब्दक्रियस्य—जल्पति देवदत्तः । जल्पयति देवदत्तम् । विलपति देवदत्तः । विलापयति देवदत्तम् । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन ह्ययत्यादिषु न भवति । ह्ययति देवदत्तः । ह्याययति देवदत्तेन । क्रन्दति देवदत्तः । क्रन्दयति देवदत्तेन ।

हृक्रोर्न वा ॥१।२।१२४॥ हृ कृ इत्येतयोरण्यन्तयोर्यः कर्ता स ण्यन्तयोर्न वा कर्मसंज्ञो भवति । न वेति निर्देशात् प्राते चाप्राते च विकल्पः । प्राते—अभ्यवहरति देवदत्तः । अभ्यवहारयति देवदत्तं देवदत्तेनेति वा । विहरति देवदत्तः । विहारयति देवदत्तं देवदत्तेनेति वा । विकुर्वते सैन्धवाः । विकारयन्ति सैन्धवान् सैन्धवैरिति वा । अद्यर्थगम्यर्थे धिसंज्ञायां पूर्वेण प्रातिः । अप्राते—हरति माणवको भारम् । हारयति माणवकं माणवकेन वा । करोति कटं देवदत्तः । कारयति कटं देवदत्तं देवदत्तेन वा । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थोऽनुवर्तते । तेन अभिवदिदृश्योर्द्विषये विकल्पः । अभिवदति गुरुं देवदत्तः । अभिवादयते गुरुं देवदत्तं देवदत्तेन वा । पश्यन्ति भृत्या राजानम् । दर्शयते भृत्यान् भृत्यैरिति वा । “शिचः” [१।२।७२] इति द्विविधिः ।

स्वतन्त्रः कर्ता ॥१।२।१२५॥ स्वतन्त्र आत्मप्रधानः । क्रियासिद्धौ स्वतन्त्रो योऽर्थस्तत् कारकं कर्तृसंज्ञं भवति । देवदत्तः पचति । देवदत्तेन कृतम् । प्रेषितः करोतीत्यत्रापि स्वातन्त्र्यं गम्यते । अनिच्छायामकरणात् । इह स्थाली पचतीति स्वातन्त्र्यं विवक्षितम् ।

तद्योजको हेतुः ॥१।२।१२६॥ योजकः प्रेरकः, तस्य स्वतन्त्रस्य योजको योऽर्थस्तत् कारकं हेतुसंज्ञं भवति । पुल्लिङ्गकर्तृसंज्ञासमावेशात् कर्तृसंज्ञं च । कारयति । भोजयति । हेतुत्वात् “हेतुमत्ति” [२।१।२४] इति शिच् । कर्तृत्वाल्लकारवाच्यता । गौणस्यापि योजकस्य हेतुत्वम् । भिक्षा वासयति । कारीषोऽनिरध्यापयति । तद्योजक इति वचनं ज्ञापकं “वृजकाभ्यां” [१।३।७८] “कर्तरि” [१।३।७९] इत्यस्य तासप्रतिषेधस्यानित्यत्वम् ।

निः ॥१।२।१२७॥ अधिकारोऽयम् । “प्राग्धोस्ते” [१।२।१४९] इत्यतः प्राक् । यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो निःसंज्ञास्ते वेदितव्याः । वक्ष्यति चादिरसत्त्वे । च वा ह अह एव । निरिति पुल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः ? गितिसंज्ञाभ्यां समावेशो यथा स्यात् । निरदेशाः “निरिकाजनाङ्” [१।१।२२] इत्येवमादयः ।

चादिरसत्त्वे ॥१।२।१२८॥ सीदत अस्मिंस्त्रिङ्गसंख्ये इति सत्त्वम् । लिङ्गसंख्यावद् द्रव्यमित्यर्थः । चादयो निःसंज्ञका भवन्ति न चेत् सत्त्वे वर्तन्ते । च वा ह अह एव एवम् नूनम् शश्वत् सपत् कूपत् कुवित्

नेत् चेत् चण् कञ्चित् यत्र नह हन्त माकिम् नकिम् माङ् । ड्कारो “माङ्ङि लुङ्ङि” [२।३।१२३] इति विशेषणार्थः । अङ्ङिति माशब्दे माऽभवत् मा भविष्यति । न नञ् । जकारो “नञ्” [१।३।६८] इति विशेषणार्थः । नहि वाच लाक ननु च त्वे^१ तु^२ द्वै^३ न्वै^४ नु वै^५ रूवै^६ रे^७ वै^८ श्रौषट्^९ वौषट्^{१०} वषट्^{११} स्वाहा स्वधा ओम् तथाहि खलु किल अथ अत्रस् स अस्मि अ इ उ ऊ ऋ लृ ए ऐ ओ औ उञ् सुञ् आदह आतड वेलायमा मात्रायाम् यावत् यथा किम् यत् तत् यदि पुरा धिक् है^{१२} हौ^{१३} पाट्^{१४} प्याट्^{१५} उताहो आहो अथो अथो^{१६} मानो ननु नाना मन्ये असि ब्रूहि हितु तु इति इव वत चैन धावत एवं आ आं शं हिकम् हिरुक् शुभम् सुकम् शुक्रम तुकम् नहि कम् ऋतम् सत्यम् अद्धा नो हि मुधा न चेत् जातु कथम् ऋते कुत्र अपि (अयि) आदक आवहन् भोस् श्रित्^{१७} वाह संवत् दिष्ट्या पशु युगपत् फट सह अनुष्वक् ताजक् नाजक अङ्ग पुत्र अये अरे अवे वट् वेट् वाट् उं श्रक्ति मर्या ईप^{१८} कौम् सीम् गिविभङ्गीस्वरप्रतिरूपकाश्च । गिप्रतिरूपका अवदत्तमित्यादौ । दुर्ज्ञातं दुर्नय इति श्लवं न भवति । असत्त्व इति किम् ? अस्यापत्यमिरिति ।

प्रादिः ॥१।२।१२६॥ प्रादयो निसंज्ञा भवन्त्यसत्त्वे । प्रपराऽपसमूनिदुर्व्याङ्ग्यधयोऽप्यनिसूदभयश्च । प्रतिना सह लक्षयितव्याः पर्युपयोरपि लक्षणमत्र । असत्त्व इत्येव । विप्रातीति विप्रः । पराजयति सेना । पृथक्करणमुत्तरार्थम् । प्रादीनामेव गिसंज्ञा यथा स्याच्चादीनां मा भूत् । उत्तरत्र प्रादिग्रहणे क्रियमाणे अक्रियायोगे निसंज्ञा न स्यात् । आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तत् ।

क्रियायोगे गि ॥१।२।१३०॥ क्रियायोगे प्रादयो गिसंज्ञा भवन्ति । प्रणमति । परिणायकः । “गेरसेऽपि विङ्ङते” [२।४।६८] इति श्लवं सिद्धम् । क्रियायोग इति किम् ? प्रगता नायका अस्मादेशान् प्रनायको देशः । नन्वत्रापि क्रियाऽस्ति । योगग्रहणसामर्थ्यात् यत्क्रियायुक्तास्तं प्रति गितिसंज्ञा भवति । गमि-क्रियया चात्र योगः । “मरुच्छब्दस्योपसंख्यानम्” । मरुतः । “गेस्तोऽचः” [५।२।१४६] इति अनजन्तत्वेऽप्युपसंख्यानसामर्थ्यात्तादेशः । “प्रज्ञाश्रद्धाचर्चावृत्तिभ्यो णः” [४।१।२८] इति निर्देशादङ्विषये श्रतो गित्वम् । “तिरोऽन्तद्धौ” [१।२।१४] इति निर्देशादन्तःशब्दस्यापि क्यादिविषये ।

ति ॥१।२।१३१॥ तिसंज्ञाश्च प्रादयो भवन्ति क्रियायोगे । प्रकृत्य । प्रस्तुत्य । तिसंज्ञायां “तिक्रुप्रादयः” [१।३।८१] इति षसः । “प्यस्तिवाक्से त्वः” [५।१।३१] इति प्यादेशः । पुंस्त्रिंशो गिसंज्ञा समाविशति । अमिषिष्य । प्रणम्य । षत्वणत्वे सिद्धे । योगविभागः किमर्थः ? उत्तरत्र तिसंज्ञैव यथा स्यात् गिसंज्ञा मा भूत् । इह ऊरीस्त्रादिति । “गिप्रादुभ्यां यच्चस्तेः” [२।४।६८] इति षत्वं त्यात् ।

चि्वडाजूर्यादिः ॥१।२।१३२॥ च्यन्तो डाजन्त ऊरीप्रभृतयश्च शब्दाः क्रियायोगे तिसंज्ञा भवन्ति । अशुक्लं शुक्लं कृत्वा शुक्लीकृत्य । डाच्-अपटत् पटत् कृत्वा पटपटाकृत्य । कुम्बस्तियोगे चि्वडाचौ विहितौ तत्साहचर्यादूर्यादीनामपि कुम्बस्तिभिरेव योगे तिसंज्ञा भवति । ऊर्यादिषु च्यर्थो न संभवति । ऊरीकृत्य । उररीकृत्य । ऊरीभूय । उररीभूय । ऊरीउररीशब्दावङ्गीकरणे विस्तारे च । पापीशब्दो विध्वंसे माधुर्ये सकरण-विलापे च । तालीआतालीशब्दौ वर्णे । वेताली वैरूप्ये । धूसीशब्दः कान्तौ वाञ्छायाञ्च । सकलाशंसकला-ध्वंसकलाभ्रंसकला एते हिंसायाम् । गुलुगुथाशब्दौ पीडायाम् । सज्जः सहाय्ये । फलू फली विङ्ङी अङ्ङी एते विकारे । आलम्बी आलोष्टी केवासी केवाली वर्षाली भस्मसा मसमसा एते हिंसायाम् । श्रौषट् वौषट् स्वाहा

१. त्वै ब० । २. तुवे अ० । तुवै ब०, स० । ३. रै अ०, ब० । ४. है अ० । ५. है स० । ६. अथो अ०, ब०, स० । ७. चन । ८. वत अ० । वत । ९. वत स० । वत । १०. वत । धवत । सु० । ११. भो शिवत् अ० । १२. वाट अ० । १३. इप् अ० ।

स्वधा एते दानार्थाः । चाश्विषु च पाठादक्रियायोगेऽपि निसंज्ञा । प्रादुस् श्रत् आविस् । प्रादुःकृत्य । प्रादुर्भूय । श्रद्धाय । आविर्भूय । आविःशब्दः साक्षादादौ च पठ्यते । तस्य “वा कृञि” [१।२।१४१] इति करोतियोगे तिसंज्ञाविकल्पः । आविष्कृत्य । आविष्कृत्वा ।

अनितावनुकरणम् ॥१।२।१३३॥ अन्यक्तो व्यक्तो वा शब्दोऽनुक्रियतेऽनेनेत्यनुकरणम् । अनिति-परमनुकरणं क्रियायोगे तिसंज्ञं भवति । खाट्कृत्य । पट्टकृत्य । अनिताविति किम् ? खाडिति कृत्वा निरङ्गी-वत् । खाट्कृत्यस्य धोः प्राक् प्रयोगः सविधिरच प्रसज्येत । “ध्वादेः षः सः” [४।३।१३] इत्यत्र सुबधुष्ठी-वतिष्वक्तित्वात्प्रथमतीर्णा प्रतिषेध उक्तः ।

सदादरानादरयोः ॥१।२।१३४॥ आदरः सम्भ्रमः । अवज्ञानमौदासीन्यं वाऽनादरः । सच्छब्द आदरानादार इत्येतयोरर्थयोस्ति संज्ञो भवति । आदरे-सत्कृत्य । अनादरे-असत्कृत्य । अनादर इत्यर्थनिर्दे-शात् सच्छब्दस्य तदन्तविधिरिष्टः । तेनेहापि भवति । परमसत्कृत्य । तिसंज्ञायां निसंज्ञासमावेशः । निसंज्ञस्या-संख्यत्वात्प्रसज्या । आदरानादरयोरिति किम् ? सत्कृत्वा काण्डं गतः । विद्यमानं कृत्वेत्यर्थः ।

भूषाऽपरिग्रहेऽलमन्तः ॥१।२।१३५॥ अलमन्तरित्येतौ शब्दौ भूषायामपरिग्रहे चार्थे यथासंख्यं तिसंज्ञौ भवतः । अलङ्कृत्य । भूषयित्वेत्यर्थः । अन्तर्हृत्य । मध्ये हत्वेत्यर्थः । भूषाऽपरिग्रह इति किम् ? अलं कृत्वा । अन्तर्हृत्वा मूषिका गताः । पर्याप्तं कृत्वेत्यर्थः । परिग्रहोत्यर्थः । “तिरोऽन्तर्द्धौ” [१।२।१४०] इति शापकादन्तःशब्दस्य गिसंज्ञाऽपि । अङ्गिविधिरणेषु प्रयोगदर्शनात् । अन्तर्द्धा । अन्तर्द्धिः । अन्तर्णयः ।

करोमनः श्रद्धाघाते ॥१।२।१३६॥ श्रद्धाघातोऽभिलाषनिवृत्तिः । करोमनःशब्दौ श्रद्धाघातेऽर्थे तिसंज्ञौ भवतः । करोमनशब्द ईबन्तप्रतिरूपको निसंज्ञोऽभिलाषातिशये वर्तते । मनःशब्दोऽपि तत्साहचर्यादिह तादृशः । करोमनस्य भुङ्क्ते । मनोहृत्य भुङ्क्ते । श्रद्धाघात इति किम् ? तन्दुलावयवे करोमनस्य हृत्वा गतः । मनो हृत्वा गतः । चेतो हत्वेत्यर्थः ।

पुरोऽस्तं भिः ॥१।२।१३७॥ पुरस् अस्तमित्येतौ भिसंज्ञौ क्रियायोगे तिसंज्ञौ भवतः । पुरःशब्दः “पूर्वाधरावराणो पुरधवेऽसि” [४।१।१०३] इत्यत्र साधितः । अस्तंशब्दोऽनुपलब्धौ वर्तते । पुरस्कृत्य गतः । अस्तङ्कृत्य पुनरुदेति । “नमःपुरसोऽस्त्योः” [५।४।२६] इति सलम् । भिरिति किम् ? पूः पुरौ पुरः कृत्वा गतः । अस्तं कृत्वा काण्डं गतः ।

गत्यर्थवदेऽच्छः ॥१।२।१३८॥ भिरिति वर्तते । अच्छशब्दो भिसंज्ञः गत्यर्थे वदतौ च तिसंज्ञो भवति । अच्छगत्य । अच्छगम्य । “ष्ये” [४।४।३८] “वा मः” [४।४।३९] इति वा मस्य खम् । अच्छोद्य । अच्छशब्दो दृढार्थे आमिमुख्ये च वर्तते । भिरित्येव । उदकमच्छं गत्वा ।

अनुपदेशेऽदः ॥१।२।१३९॥ अवचनात्मिका प्रतिपत्तिरनुपदेशः । अदःशब्दोऽनुपदेशे तिसंज्ञो भवति । अदःकृत्य । अनुपदेश इति किम् ? अदः कृत्वा गतः । एतत् कृत्वा गत इति परस्य कथयति ।

तिरोऽन्तर्द्धौ ॥१।२।१४०॥ तिरःशब्दोऽन्तर्द्धाने तिसंज्ञो भवति । तिरोभूय । अन्तर्द्धाविति किम् ? तिरो भूत्वा स्थितः । तिर्यग्भूत्वा स्थित इत्यर्थः ।

वा कृञि ॥१।२।१४१॥ तिरःशब्दोऽन्तर्द्धौ कृञि वा तिसंज्ञो भवति । प्राप्ते विकल्पः । तिरस्कृत्य । तिरः कृत्वा । “तिरसो वा” [५।४।३०] इति सलम् । अन्तर्द्धावित्येव । तिरः कृत्वा काण्डं गतः ।

उपाजेऽन्वाजे ॥१।२।१४२॥ उपाजे अन्वाजे ईबन्तप्रतिरूपकावेतौ कृञि वा तिसंज्ञौ भवतः । उपा-जेकृत्य । उपाजे कृत्वा । अन्वाजे कृत्य । अन्वाजे कृत्वा । दुर्बलस्य भग्नस्य वा बलाधानं कृत्वेत्यर्थः ।

सान्नादादिः ॥११२।१४३॥ वेति वर्तते । सान्नात्प्रभृतीनि शब्दरूपाणि कृञि वा तिसंज्ञानि भवन्ति । “च्विडाजूर्यादिः” [१२।१३२] इत्यतो मण्डकप्लुत्या च्विग्रहणमर्थपरमनुवर्तते । तेन च्व्यर्थे तिसंज्ञाविकल्पोऽयम् । सान्नात्कृत्य । सान्नात्कृत्वा । मिथ्याकृत्य । मिथ्याकृत्वा । यदा च्विरूपयते तदा “च्विडाजूर्यादिः” इत्यनेन नित्यं तिसंज्ञा भवति । सान्नात् । मिथ्या । चिन्ता । भद्रा । रोचना । लोचना । अमा । आस्था । श्रद्धा । आस्ता । प्राजर्या । प्राजरहा । बीजर्या । बीजरहा । संसर्या । अर्थे । लवणम् । उष्णम् । शीतम् । उदकम् । आर्द्रम् । तिसन्नियोगे लवणादीनां मकारान्तत्वं निपात्यते । अग्नौ । वसे । विकसने । विकम्पने । विहसने । अग्नौप्रभृतय ईबन्तप्रतिरूपका निपातनं वा । वेति नान्यथा निपातः । ईबन्तप्रतिरूपकाः नान्यथा निपातः इत्यन्तानां मकारौकारनिपातनं न भवति । लवणीकृत्य । वशीकृत्य । नमस् । प्रादुराविःशब्दौ ऊर्यादिष्वपि पठ्येते । तयोः कृञि विकल्पार्थं इह पाठः ।

मनस्युरस्यनत्याधाने ॥११२।१४४॥ मनसिउरसिशब्दौ ईबन्तप्रतिरूपकौ निपातनं च । अत्याधानमुपश्लेषः । मनसि उरसि इत्येतौ अनत्याधानेऽर्थे कृञि वा तिसंज्ञौ भवतः । उरसिकृत्य । उरसि कृत्वा । मनसिकृत्य । मनसि कृत्वा । निश्चित्येत्यर्थः ; अनत्याधान इति किम् ? उरसि कृत्वा पाणिं शेते ।

मध्ये पदे निवचने ॥११२।१४५॥ अनत्याधान इति वर्तते । मध्ये पदे निवचने इत्येते शब्दाः कृञि वा तिसंज्ञा भवन्ति अनत्याधाने । एकारान्तता पूर्ववद्देदितव्या । मध्येकृत्य । मध्ये कृत्वा । पदेकृत्य । पदे कृत्वा । निवचने इति वचनाभावे वर्तते । निवचनेकृत्य । निवचने कृत्वा । अनत्याधान इत्येव । हस्तिनः पदे कृत्वा हस्तमास्ते ।

हस्ते पाणौ स्वीकृतौ तिः ॥११२।१४६॥ हस्ते पाणौ इत्येतौ स्वीकृतावर्थे कृञि तिसंज्ञौ भवतः । हस्तेकृत्य । पाणौकृत्य । भार्या कृत्वेत्यर्थः । स्वीकृताविति किम् ? हस्ते कृत्वा कार्षापणं गतः । नात्र दारस्वीकारः । पुनस्तिसंज्ञा नित्यार्थम् ।

प्राध्वं बन्धे ॥११२।१४७॥ प्राध्वमिति मकारान्तो भ्रिसंज्ञः शब्द आनुलोम्ये वर्तते । प्राध्वंशब्दः कृञि तिसंज्ञो भवति बन्धो निमित्तं चेत् । प्राध्वंकृत्य । बन्धनिमित्तमानुलोम्यमिह प्राध्वंकरणम् । बन्ध इति किम् ? प्रगतमध्वानं प्राध्वं कृत्वा शकटं गतः । “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इति षसः । “गेरध्वनः” [४।२।८०] इति सान्तोऽकारः । प्रतिपदोक्तपरिभाषानाश्रयणे प्रत्युदाहरणमिदम् ।

जीविकोपनिषदाविवे ॥११२।१४८॥ उपनिषद्रहस्यम् । जीविका उपनिषदित्येतौ शब्दाविवशब्दस्यार्थे कृञि तिसंज्ञौ भवतः । जीविकाकृत्य । उपनिषत्कृत्य । जीविकाविव उपनिषदविव कृत्वेत्यर्थः । इवाथ इति किम् ? जीविकां कृत्वा गतः ।

प्राग्धोस्ते ॥११२।१४९॥ प्रयोगनियमोऽयम् । ते गितिसंज्ञा धोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः । तथा चैवोदाहृतम् । ते इति वचनं किमर्थम् । अनन्तराणां तीनां गीनां च ग्रहणार्थम् ।

लो मम् ॥११२।१५०॥ नवानां लकाराणामनुबन्धांपाये ल इति सामान्येन निर्देशः । लादेशो मसंज्ञो भवति । मिप् वस् मस् सिप थस् थ तिप् तस् भि शट् । नपा निर्देशः पुंल्लिङ्गया दसंज्ञया बाधा यथा स्यात् । समावेशे हि आक्रमत आदित्यः । सङ्गस्यत इत्यत्र “क्रमो मे” [५।२।७४] दीत्वं “गमेरिष्मे” [१।१।१०६] इति इट् प्रसज्येत । शतरि मसंज्ञा सावकाशेति मिङ् लु वक्ष्यमाणाभिरस्मदादिभिः संज्ञाभिर्बाध्यत्वं नाशङ्कनीयम् । “सावैष्मे” [५।१।७७] इति वचनं शापकं मिङ् मसंज्ञाऽपि भवतीति ।

इडानं दः ॥११२।१५१॥ इडिति प्रत्याहार इडित्यतः प्रभृति आ भडो डकारेण । इड् च आनश्च दसंज्ञौ भवतः । इट् वहि महि थास् आथाम् ध्वम् त आताम् भड् । आन इति शानो गृह्यते ।

मिडंस्त्रिशोऽस्मद्युष्मदन्याः ॥११२।१५२॥ मिडो मसंज्ञानि च त्रीणि त्रीणि वचनानि अस्मद्युष्मदन्य इति एवसंज्ञानि भवन्ति । मिप् वस् मसित्यस्मद् । सिप् थस् थ्येति युष्मद् । तिप् तस् भतीत्यन्यः ।

दानामपि । इट् वहि महि इत्यस्मद् । यास् आथां ध्वमिति युष्मद् । त आतां भङित्यन्यः । मिङ् इति किम् ? अनुत्तरस्य दस्य मस्य च ग्रहणार्थम् । त्रिश इति “संख्यैकाद्वीप्सायाम् [१।२।४८] इति शस् ।

साधने स्वार्थे ॥१।२।१५३॥ अस्मदादयोऽन्वर्थसंज्ञा अनुवर्तन्ते । लस्येत्यधिकृत्याविशेषेण मिङ्-दयो विहितास्तन्नियमोऽयम् । स्वस्यार्थः स्वोऽर्थो वा स्वार्थस्तस्मिन् स्वार्थे साधनेऽस्मदादयो वेदितव्याः । अस्मत्पदस्यार्थे साधनेऽस्मत्त्रिकं युष्मत्पदस्यार्थे साधने युष्मत्त्रिकमाभ्यामन्यस्यार्थे साधनेऽन्यन्निकं भवति । अस्मदाद्यर्थानां साधनत्वे सति नियमोऽयम् । ततोऽस्मदादिपदानामनुप्रयोगे सत्यसति चास्मदादयो भवन्ति । अहं पचामि । आवां पचावः । वयं पंचामः । पचामि । पचावः । पचामः । त्वं पचसि । युवां पचथः । यूयं पचथ । पचसि । पचथः । पचथ । स पचति । तौ पचतः । ते पचन्ति । पचति । पचतः । पचन्ति । एवं द्विधावपि योज्यम् । भावेऽस्मद्युष्मदर्थयोरभावात् भावस्य चान्यामन्यत्वादेकत्वाच्च तस्मिन् साधनेऽन्य एव भवति । आस्यते भवता । ग्लायते भवता । यत्रास्मदाद्यर्था युगपत् साधनं तत्र क इष्यते ? पूर्वनिरूपयमेव यः पूर्वः । अत्र किमस्मदर्थं एव साधनेऽस्मद् भवतीत्यवधियते आहोस्विदस्मदर्थं साधनेऽस्मदेव भवतीति । उभयथाऽप्यदोषः सर्वेषां नियतत्वात् । ननु द्वितीये पक्षे त्वया (मया) कुर्वाणेनेत्यत्र दोषः । मैवम् । त्रिकापेक्षया नियमो न साधनापेक्षया ।

प्रहासे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेरस्मदेकवच्च ॥१।२।१५४॥ मन्य इति मन्यतेरेकदेशः । ब्रूते इति वाक् । मन्यो वाक् यस्य प्रहासन्य तस्मिन् मन्यवाचि प्रहासे गम्यमाने युष्मद्भवति मन्यतेश्चास्मद्भवति एकवच्च । अस्मद्युष्मदोर्व्यत्ययार्थोऽयमारम्भः । एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता । एहि मन्यसे रथेन यास्यामीति प्राप्तम् । एवमेहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे न हि भोक्ष्यसे भुक्तः *सोऽतिथिभिः । द्वित्वबहुत्वविवक्षा-यामपि मन्यतेरेकवद्भावो भवति । एवं मन्ये रथेन यास्यथ न यास्यथेति । प्रहास इति किम् ? एहि मन्यसे ओदनं भोक्ष्य इति सुष्ठु मन्यसे साधु मन्यसे ।

एकद्विबहुवश्चैकशः ॥१।२।१५५॥ यान्यस्मद्युष्मदन्यसंज्ञानां संज्ञित्वेनोपात्तानि षट् त्रिकाणि तान्ये-कश एक द्वि बहु इत्येवंसंज्ञानि भवन्ति । मित्रित्येकः । वसिति द्विः । मसिति बहुः । एवं शेषेषु योज्यम् । अस्म-दादिसंज्ञाः पुंल्लिङ्गा एकादिभिः सह समाविशन्ति ।

सुपश्च ॥१।२।१५६॥ त्रिश इति वर्तते । सुपश्च त्रिकाणि एकद्विबहुसंज्ञानि भवन्त्येकशः । सु इत्येकः औ इति द्विः । जसिति बहुः । एवं शेषेषु त्रिकेषु नेयम् । उभयत्र चशब्दः “साधने स्वार्थे” [१।२।१२२] इत्यस्यानुकर्षणार्थः । एकार्थे साधने एको मिम्भवति । द्वयर्थे द्विर्वस् । बह्वर्थे बहुर्मस् । एवं मिङ्ङु सुप्सु च योज्यम् । ननु च “साधने स्वार्थे” इत्येतन्मिङ् उपपद्यते यतः साधनं कारकं क्रियाया निर्वर्तकं क्रिया च ध्वर्थः । धोश्च मिङ्गे विहिता इति साधनवाचित्वोपपत्तेः । सुपस्त्वक्रियावाचिनो ङ्याम्भूदो विधीयन्त इति तत्र साधने स्वार्थ इत्येतन्न घटते । नैष दोषः । अक्रियावाचिनोऽपि विधीयमानाः सुपः क्रियावाचिपदान्तरमा-काङ्क्षन्ति । पदान्तरवाच्यायाः क्रियायाः साधनभावोपपत्तेः सुप्सुपि “साधने स्वार्थे” इत्यर्थं व्यवहारो युज्यते । देवदत्तः पचति देवदत्तौ पचतः । देवदत्ताः पचन्ति । यत्रापि क्रियापदं न प्रयुज्यते वृत्तः प्लक्ष इति तत्राप्य-स्ति भवतीति परः सन्निहितस्तदपेक्षया व्यवहारः । मिङ्ः सामान्येन धुमात्राद्विधीयन्ते सुपश्च मृन्मात्रात्तेषां संकरेण प्राक्तौ नियमोऽयम् । त्यनियमोऽर्थनियमो वा । एकार्थं एव साधन एको भवति द्वयर्थं एव साधने द्विर्भवति बह्वर्थं एव (साधने) बहुर्भवतीति त्यनियमः । एकार्थं साधने एक एव भवति द्वयर्थं द्विरेव भवति बह्वर्थं बहुरेव भवतीत्यर्थनियमः । त्यनियमपक्षे “सुपो भेः” [१।४।१२०] इति वचनं ज्ञापकमेकत्वादीनामभावेऽप्युत्पद्यन्ते भेः सुप इति । अर्थनियमपक्षे एकत्वादयो नियतास्त्यान्न व्यभिचरन्ति त्याः पुनरनियता एकत्वादीनामभावे व्यति-करणेन भिन्नसंज्ञकेभ्यो भवन्ति । तत्र “सुपो भेः” [१।४।१२०] इत्युपि कृते सुबन्तं पदं भवति ।

विभक्ती ॥१२।२।१५७॥ सुप इत्यनुवर्तते त्रिश इति च । सुपां त्रीणि त्रीणि वचनानि विभक्तीसंज्ञानि भवन्ति । सु औ जसिति त्रिको वर्गस्तस्य विभक्ती इति संज्ञा । त्रिकसमुदाये संज्ञा । विहिताऽव्ययेऽप्युपचर्यते । एवं सर्वत्र सुपां त्रिकेषु योज्यम् । मिडां विभक्तीसंज्ञायां न गुणो नापि दोषः । विभक्तीशब्दस्य कथं सिद्धिः । विपूर्वाद्भजे: “क्त्विचत्तौ खौ” [२।३।१५०] इति क्त्विच् । तस्मात् “कृदिकारादक्तेः” [३।१।३१। ग० सू०] इति डीविधिः । महासंज्ञाकरणमुत्तरार्थम् ।

तासामाप्यरास्तद्धलच ॥१२।१५८॥ तस्य विभक्तीशब्दस्य हलोऽचश्च आकारपकारपगस्तासां विभक्तीनां यथासंख्यं संज्ञा भवन्ति । वा इप् भा अर्प् का ता ईप् इति एताः संज्ञाः । सुपस्त्रिश इति चानुवर्तते । सु औ जसिति वा । अम् औट् शसिति इप् । टा भ्यां भिसिति भा । डे भ्यां भ्यसिति अप् । डसि भ्यां भ्यसिति का । डस् औष् आभिति ता । डि औम् सुप् इति ईप् । तासां ग्रहणं सुबिभक्त्युपादानार्थम् । “सपूर्वाया वायाः” [५।३।२३] इत्येवमादयो निर्देशाः सौत्राः ।

इत्यभयनन्दिर्विचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥२॥

समर्थः पदविधिः ॥१३।१॥ परिभाषेयम् । समर्थपदाश्रयत्वात् समर्थः । पदसम्बन्धी विधिः पदविधिः । सर्वः पदविधिः समर्थो वेदितव्यः । समर्थानां पदानां विधिवेदितव्य इत्यर्थः । द्विविधं सामर्थ्य-मेकार्थीभावः परस्परव्यपेक्षा च । तत्र सविधिनामधुहृद्विधिषु स्वभावत एकार्थीभावः सामर्थ्यमन्यत्र व्यपेक्षा । एकार्थीभावे सङ्गतार्थः संसृष्टार्थो वा समर्थः । व्यपेक्षायां सम्बद्धार्थः सम्प्रेक्षितार्थो वा समर्थः । वक्ष्यति “इप् तच्छ्रितातीतपतितगतत्यस्तैः [१।३।२१] धर्मं श्रितो धर्मश्रितः । समर्थग्रहणं किम् ? व्याचष्टे मुनिधर्मं श्रितः शिष्यो गुरुकुलम् । अत्र व्यपेक्षा नास्ति । “भा गुणोक्त्याऽर्थेनोनेः” [१।३।२७] । मदेन पदुर्मदपदुः । समर्थ-ग्रहणं किम् ? दन्ती भ्रमति मदेन पदुः शाब्देण । “असदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः” [१।३।३१] । रथाय दारु रथदारु । समर्थग्रहणं किम् ? गच्छ त्वं रथाय दारु देवदत्तस्य गेहे । “का भीभिः” [१।३।३२] । संसाराद्भयं संसारभयम् । समर्थग्रहणं किम् ? ध्यानी निष्कामति संसाराद्भयमरण्ये । “ता” [१।३।७०] । मोक्षस्य मार्गो मोक्षमार्गः । समर्थग्रहणं किम् ? अनन्तसुखं मोक्षस्य मार्गः स्वर्गस्य व्रतम् । “ईष्णैः [१।३।३५] । अक्षेण शौण्डोऽक्षशौण्डः । समर्थग्रहणं किम् ? मूढः शक्नोऽक्षेण शौण्डः पिबति पानागारे । पदग्रहणं किम् ? तिष्ठतु दध्यशान त्वं साकेन । तिष्ठतु कुमारी, छत्रं हर देवदत्तात् । वर्णविधौ समर्थपरिभाषा नावतरतीत्यान-न्तर्यमात्रेण यथादेशस्तुतिविधिश्च भवति । “वा पदस्य” [१।३।६४] इत्यत्र पदग्रहणं द्विमात्रस्य विशेषण-मिति पदविधिरयं न भवतीति विकल्पेन तुक् ।

सः ॥१३।२॥ स इत्ययमधिकारो वेदितव्यश्चा पादपरिसमाप्तेः । समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिश्चाश्रीयते तेन पदसमुदाये संज्ञा न प्रत्येकमिति । वक्ष्यति “यावद्यथावष्टत्यसादश्ये” [१।३।६] । यथावृद्धमतिथीन् भोजय । नित्यत्वात् सविधेरस्वपदविग्रहेणार्थः प्रदर्श्यते ये ये वृद्धा इति । वीप्सायां यथाशब्दः । स इति पुंलिङ्गनिर्देशः किमर्थः ? हादिभिर्विशेषसंज्ञाभिः समावेशो यथा स्यात् ।

सुप् सुपा ॥१३।३॥ सुबन्तं सुबन्तेन सह सो भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यमापादपरिसमाप्तेः । वक्ष्यति-“इसच्छ्रिता” [१।३।२१] इत्यादि । धर्मश्रितः । लक्षणञ्चदं सुबन्तं सुबन्तेन सह सो भवति । यदच्छ्रयाऽतर्कितोपस्थिते चित्राकरणे वाऽयमिष्यते । तेन काकतालीयादयः सिद्धाः । तथाहि यदच्छ्रया तालस्य पतनं सन्निहितं काकश्चातर्कितं उपस्थितः स काकस्तेन तालेन पतता हतः । अस्मिन्नर्थेऽनयोः सामान्येन सः । काकश्च तालश्च काकतालां तदिव काकतालीयम् । “इवे प्रतिष्ठतौ” [१।१।१५०] इत्यधिकृत्य “कुशा-प्राच्छः” [१।१।१५४] इति चानुवर्तमाने “सात्तद्विषयात्” [१।१।१६०] इति च्छो भवति । एवम-जाकृपाणीयमन्धकवर्तकीयम् ।

हः ॥१३।४॥ अधिकारोऽयम् । यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो हसंज्ञास्ते वेदितव्याः षमित्यतः प्राक् ।

१.-न्दिरचि-अ० । २.-यां महा-अ० । स० । ३. द्विविधम् इति अ० ब० स० पुस्तकेषु नास्ति ।

वक्ष्यति “स्तोके प्रतिना” [१३।७] सूत्रप्रति । शाकप्रति । अस्वपदेन विग्रहः । अस्यत्र किञ्चित् सूत्रस्य मात्रा स्तोत्रमिति वा । अत्रान्ये मन्यन्ते अनव्ययस्याव्ययभवनभव्ययोभाव इत्यन्वर्थसंज्ञा कर्तव्या । एतच्चायुक्तम् । असंख्यस्य भिसंज्ञा युज्यते । अस्य च संख्या विद्यते । उपकुम्भेन । उपकुम्भाभ्याम् । उपकुम्भैः । दोषः खल्वपि भिसंज्ञायां “भिसर्वनाम्नोऽक् प्राक्टे” [४।१।१३०] इति यथेहागभवति । उच्चकैः । नीचकैरिति । एवमिहापि प्राप्नोति उपाग्निकं प्रत्यग्निकमिति । तथा “खित्यभेः” [४।३।१७६] “सुमचः” [४।३।१७७] इति भेः प्रतिषेध उच्यते दोषामन्यमहः दिवामन्या रात्रिः । स इहापि प्राप्नोति । उपकुम्भमन्य । उपमणिकमन्यः । इह च “अस्य च्वौ” [१।२।१४१] इति भेः प्रतिषेधो वक्ष्यति दोषाभूतमहः दिवाभूता रात्रिरिति । स इहापि प्राप्नोति । उपकुम्भीभूतः । उपमणिकीभूतः । तस्माल्लघीयसी ह इति संज्ञा युक्ता । यद्येवं “कृकमिकंस कुम्भकुशाकर्णीपात्रेऽतो भेः” [१।४।३४] इत्यनेन सत्वस्य प्रतिषेधो न प्राप्नोति उपपयकार इति । अद्युस्थस्येति तत्र वर्तते । हसे च द्युस्थो भवतीति प्रतिषेधः सिद्धः । पूर्वपदप्राधान्यञ्च हसस्याभिधानवशाज्ज्ञेयम् । हप्रदेशाः “हात्” [१।४।१५१] इत्येवमादयः ।

किं विभक्त्यभ्यासद्वयार्थाभावातीत्यसंप्रतिव्युद्धि-शब्दप्रभवपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्य-संपत्साकल्यान्तोक्तौ ॥ १।३।५ ॥ विभक्ती-अभ्यास-ऋद्धि-अर्थाभाव-अतीति-असंप्रति व्युद्धि-शब्दप्रभव-पश्चात्-यथा-आनुपूर्व्य-यौगपद्य-सम्पत्-साकल्य-अन्तोक्ति इत्येतेष्वर्थेषु यत् भिसंज्ञं वर्तते तत् सुवन्तेन समर्थेन सह हसंज्ञकः सो भवति । विभक्त्यर्थः कारकमधिकरणादि । स्त्रीषु कथा वर्तते । अधिस्त्रि । अधिकुमारि । ईबन्तेन वृत्तिः । “हरश्च” [१ । ४ । १४] इति ननुंसकलिङ्गातिदेशः । “प्रो नपि [१।१।७] इति प्रादेशः । “हात्” [१ । ४ । १५१] इति सुप उप् । अभ्यासः-समीपम् । उपकुम्भम् । उपगुरु । कुम्भस्याभ्यास इत्यर्थप्रदर्शनम्, तान्तेन वृत्तिरिति केचित् । तदयुक्तम् । उपशब्दोऽयं द्योतकः स उत्तरपदार्थव्यतिरेकं न जनयति अभ्यासादीनान्तु शब्दानां वाचकानां सन्निधाने व्यतिरेकः प्रतीयते यथा धवश्च खदिरश्चेत्यस्यार्थे समुच्चयो धवखदिरस्य । तस्माद्वान्तेन वृत्तिः । विभूतेराधिक्यं ऋद्धिः । मद्राणां ऋद्धिः सुमद्रं सुमगधं वर्तते । पूर्वपदार्थस्य प्राधान्ये हसः । यदा तु मद्रा ऋद्ध्या विशिष्यन्ते तदा शोभना मद्राः सुमद्रा इति “तिकुम्रादयः” [१ । ३ । ८१] इति षसः । अर्थाभाव उत्तरपदार्थप्रध्वंसः । अभावो मन्त्रिकाणाममन्त्रिकम् । विमन्त्रिकम् । निर्मन्त्रिकम् । अर्थग्रहणं किम् ? धर्माभावे इतरेतराभावे च मा भूत् । न भवति ब्राह्मणो गौरश्वो न भवतीति । अतीतिरतीतत्वम् । स्वत एवातिक्रान्तत्वमित्यर्थः । अतीतानि तृणानि अतृणम् । नितृणम् । एवं निशीतं निवातं वर्तते । न सम्प्रति असम्प्रति नेदानीमित्यर्थः । न सम्प्रति तैसुकमति तैसुकम् । नार्यं तैसुकस्याच्छादनस्योपभोगकाल इत्यर्थः । तिसुका नाम ग्रामस्तत आगतं तैसुकम् । विगम ऋद्धेत्युद्धिः । गब्दिकानामृद्धेर्विगमो दुर्गब्दिकम् । दुर्यवनम् । शब्दप्रभवः शब्दस्य प्रकाशमानता । श्रीदत्तस्य शब्दप्रभवः इति श्रीदत्तम् । तच्छ्रीदत्तमहो श्रीदत्तम् । श्रीदत्तशब्दो लोके प्रकाशत इत्यर्थः । पश्चात्—रथानां पश्चादनुरथं पादातम् । यथार्थो योग्यता । अनुरूपं सुरूपो वहति । सादृश्यमपि यथार्थः । उत्तरत्रासादृश्य इति प्रतिषेधाज्ज्ञायते । सदृशं व्रतस्य सव्रतम् । सशीलम् । “हेऽकाले” [४।३।१८६] इति सहस्य सादेशः । पूर्व, पूर्वमनुपूर्वं तस्य भाव आनुपूर्व्यम् । अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः । ज्येष्ठानुक्रमेणेत्यर्थः । आनुपूर्व्यं विन्यासविशेष इति यथार्थात् पृथगुक्तम् । यौगपद्यसम्पत्साकल्यान्तोक्तिषु सहशब्दो वर्तते । यौगपद्यमेककालता । सचक्रं घेहि । युग-चक्रे घेहीत्यर्थः । सधुरं प्राज्ञ । युगपद्भुरौ प्राजेत्यर्थः । सम्पत् सिद्धिः । आत्मभावनिष्पत्तिरित्यर्थः । वृत्तस्य सम्पत् क्षत्रस्य सम्पत् सवृत्तं साधूनाम् । सत्क्षत्रं शालङ्कायनानाम् । साकल्य—सतृणमभ्यवहरति । सर्वेण सहाभ्यवहरतीत्यर्थः । अन्तः समाप्तिः—प्राप्तपर्यन्तमधीते । एवं सबन्धं सटीकम् । अत्र परिसमाप्तिरसाकल्येऽप्यध्ययने प्रतीयत इति साकल्येऽनन्तर्भावः । इह आचण्डालं प्रयच्छतीति अन्तोक्तिरभिविधिरप्यस्ति । परत्वात् “पर्य-पाद्बहिरञ्चवः कया” [१।३।१०] इति विभाषा भवति । आचण्डालमाचण्डालेभ्य इति । “वीप्सायां वा हसो वक्ष्यः” [वा०] प्रत्यर्थम् । प्रतिपर्यायम् । अर्थमर्थं प्रति । पर्यायं पर्यायं प्रति ।

यावद्यथावधृत्यसादृश्ये ॥१३१६॥ प्रसक्तस्य परिमाणमवधृतिः । सादृश्यं तुल्यता । यावत् यथा इत्येतौ शब्दाववधृति आसादृश्य इत्येतयोरर्थयोः सुपा सह यथासंख्यं हसो भवति । यावदमत्रं यावदवकाशमतिथीन् भोजय । यावन्त्यमत्राणि तावतो भोजयेत्यवधार्यते । यथावृद्धं साधूनर्चय । यथापटु । यथाध्यापकम् । वृद्धानतिक्रमेणेत्यर्थः । उत्तरपदार्थानतिवृत्तिर्यथाशब्दस्यार्थो वीप्सा सादृश्यञ्च । अवधृत्यसादृश्य इति किम् ? यावद् दत्तं तावद्भुक्तम् । यथा देवदत्तस्तथेन्द्रदत्तः । पूर्वैर्गोव यथार्थे हसे सिद्धे सादृश्ये प्रतिषेधार्थमिह यथाशब्दोपादानम् । गुणक्रियाङ्गायासादृश्ये हसो वक्तव्यः [वा०] गुणः—यथाशक्ति । यथाबलम् । क्रिया—यथोपदेशम् । छाया—यथासुखम् । न वक्तव्यम् । अत्राप्युत्तरपदार्थानतिवृत्तिर्गम्यते ।

स्तोके प्रतिना ॥१३१७॥ भीति निवृत्तम् । स्तोकं मात्रा । स्तोकेऽर्थे प्रतिना सह सुबन्तं हसो भवति । सूपस्य मात्रा सूपप्रति । शाकप्रति । स्तोक इति किम् ? वृद्धं प्रति विद्योतते विद्युत् । लक्षणेऽत्र प्रतिशब्दो वर्तते ।

परिणाऽन्नशलाकासंख्याः ॥ १३१८ ॥ अन्नशब्दः शलाकाशब्दः संख्या च परिणा सह हसो भवति । परिणाऽन्नशलाकासंख्यमिति सिद्धे बहुवचननिर्देशादिष्टसंग्रहो लब्धो वेति सिंहावलोकनाद्वा । अन्नादयो यदा भान्ता एकत्वञ्चाऽन्नशलाकयोः पूर्वोक्तस्यान्यथावृत्तौ परिशब्दो यदा वर्तते कितव्यवहारविषये तदा वृत्तिरिष्यते । तथाहि पञ्चिका नाम द्युतं यत्र पञ्चाक्षाः शलाका वा पात्यन्ते पञ्चस्वेकरूपसु पातयिता जयत्यन्यथा पाते जीयते । अन्नेणेदं न तथा वृत्तं यथा पूर्वं जये । अन्नपरि । शलाकापरि । संख्या—एकपरि । द्विपरि । त्रिपरि । चतुःपरि । परिणोति किम् ? सुबन्तमात्रे मा भूत् । अन्नादय इति किम् ? पाशकेनेदं न तथा वृत्तम् । एकत्वेऽन्नशलाकयोरिति किम् ? अन्नाभ्यां न तथा वृत्तम् । कितव्यवहार इति किम् ? अन्नेणेदं न तथा वृत्तं शक्ये ।

वा ॥१३१९॥ वेत्ययमधिकारः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तद्वा भवतीति वेदितव्यः । इत उत्तरः सविधिर्वा भवति पक्षे वाक्यमपि साधु भवति । पूर्वस्तु सविधिर्नित्यः । तेनास्वपदेन तत्र विग्रहो ज्ञेयः ।

पर्यपाङ्बहिरञ्चवः कया ॥१३१९०॥ परि अप्र आङ्बहिस् अञ्चु इत्येते सुबन्ताः कान्तेन सह वा हसो भवति । परित्रिगतौ वृष्टो देवः । वाक्यपक्षे परेर्वर्जने वा वचनमिति वा द्वित्वम् । परि परि त्रिगतौभ्यः । परि त्रिगतौभ्यः । अप्र त्रिगतौभ्यः । “वर्जनेऽपपरिभ्याम् [१३१२९] इति का । आपाटलिपुत्रं वृष्टो देवः । पाटलिपुत्रात् । आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य । आ कुमारेभ्यः । “काङ्गाम्यादावचने” [१३१२०] । इति मर्यादाभिविध्योः का । बहिरग्रामम् । बहिरग्रामात् । इदमेव ज्ञापकं बहिःशब्दयोगे का भवति । अञ्चु । प्राग्रामम् । प्राग्रामात् । प्राची दिग् रमणीया इति विग्रह्य “दिक्छब्देभ्यो वा केऽभ्योऽस्ताहिग्देशयोः काले” [१३१३२] इति अस्तात् । तस्य “अञ्चेरुप्” [१३१३६] इत्युप् । “सुपो केः” [१३१३७] इति सुप उप् । पदत्वात् कुत्वम् । तेन योगे ता प्राप्ता तां बाधित्वा दिक्छब्दत्वात् का प्राप्ता तां बाधित्वा “ताऽतसर्थे त्येन” [१३१३६] इति तायां प्राप्तायाम् “अञ्चुद्यु” [१३१३८] इति का भवति । कयेति किम् ? परिगतः । अप्रगतः । वर्जनार्थाभावात् का नास्तीति “तिक्रमादयः” [१३१८९] इति नित्यं षसो भवति ।

लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती ॥१३१९१॥ लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् । तद्वाचिना सुबन्तेन सह अभिप्रतिशब्दावाभिमुख्ये वर्तमानौ वा हसो भवति । अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति । प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति । अग्निमभि पतन्ति । अग्निं प्रति पतन्तीति वाक्यम् । अत्राग्निना चिह्नेन शलभपातो लक्ष्यते । “वीप्सेत्थम्भूत-लक्षणेऽभिना” [१३१९१] इप् । “भागे चानुप्रतिपरिणा” [१३१९२] इति चेप् । लक्षणेनेति किम् ? लुप्त्वं प्रति गतः । दिङ्मोहात्तत्रैव पुनरागत इत्यर्थः । आभिमुख्य इति किम् ? अभ्यङ्गा गावः । अभिनवः प्रतिनवोऽङ्गो यासामिति । यद्यपि पूर्वपदार्थप्रधानो हसस्तथापीहार्थविशेषाभावेऽन्यपदार्थेऽपि स्यात् । अभिप्रती इति किम् ? येनाग्निस्तेन गतः । येनेत्यस्याग्निना सह हसो न भवति ।

यत्समयाऽनुः ॥११३१२॥ समयावाची अनुशब्द उपचारात् समया । यस्य समया यत्समया । मुख्येन समयाशब्देन योगाभावादिम्न भवति । अत एव “न स्मित” [११३१२] इत्यादिनाऽपि न तासप्रति-
षेधः । अनुर्यत्समयावाची तेन लक्षणभूतेन सह वा हसो भवति । अनुवनं गतोऽशनिः । वनमनुगत इति
वाक्यम् । “भागे चानुप्रतिपरिणा” [११३१२] इति लक्षणा इप् । वनेन समीपस्थमशनिगमनं लक्ष्यते । “स्मि
विभक्त्यभ्यास-” [११३१५] इत्येवं सिद्धे विकल्पार्थे वचनम् । यत्समयेति किम् ? वृत्तमनु विद्योतते ।

आयामिना ॥११३१३॥ अनुरिति वर्तते । लक्षणैनेति च । अनाऽऽयमिना लक्षणभूतेन सह वा
हसो भवति । द्वयोः प्रकृष्टहीनयोर्दीर्घयोर्गोऽनुः प्रयुज्यमान उभयोर्दीर्घत्वमाह । तत्र प्रसिद्धाऽऽयामेन लक्षणैनाति-
शयेन दीर्घेण वा हसवृत्तिर्भवति । अनुगङ्गं वाराणसी । अनुशोऽनं पाटलिपुत्रम् । वाक्यमपि साधु भवति ।
गङ्गामन्वायता वाराणसी । नद्यायामेन पत्तनायामो लक्ष्यते । लक्षणो इप् । अथवा “हेतावनुना” [११३१३] ।
“भाऽर्थे” [११३१५] इतीव । गङ्गया सहायतेत्यर्थः ।

तिष्ठद्गवादीनि च ॥११३१४॥ तिष्ठद्गु इत्येवमादीनि च शब्दरूपाणि हसंज्ञानि भवन्ति । समुदाया
एते हसंज्ञाः कार्यार्थं (कार्यार्थाः) पाठादेवं निपात्यन्त इत्यर्थः । तिष्ठद्गु कालविशेषेऽन्यपदार्थे । तिष्ठन्ति गावो
यस्मिन् काले दोहाय तिष्ठद्गु । “त्यद्यो” [५११५७] इति लटः शत्रादेशो निपातनाद्वा । “स्त्रीगोर्ज्ञाचः” [१११५]
इति प्रादेशः । वहन्ति गावो यस्मिन् काले वहद्गु । आयतीगवम् । पूर्वपदस्य निपातनात् पुंवद्भावाभावो
ऽकारश्च सान्तो निपात्यते । खलेबुसम् । निपातनाद्दीपोऽलुप् । लूनयवम् । लूयमानयवम् । लूयन्ते यवा यस्मिन्
काले लूयोरिति लटः शानादेशः । पूयवम् । पूयमानयवम् । संहृतयवम् । संह्रियमाणयवम् । संहृतबुसम् ।
संह्रियमाणबुसम् । एते कालविशेषेऽन्यपदार्थे उक्ताः । समः समपदातिप्रत्ययौ पूर्वपदार्थप्रधानौ समत्वं भूमैः
समत्वं पदातेरिति । उत्तरपदार्थप्रधाने तु समा भूमिः । षस एव । हसे पूर्वपदस्य केचिन्मकारान्त-
त्वमपीच्छन्ति । समम्भूमि । समम्पदाति । सुषमम् । विषमम् । निष्पमम् । दुष्पमम् । अवरसमम् । समशब्देन
पूर्वपदार्थप्रधान्ये हसः । अत्र शोभनत्वं समस्येत्येवमादिवाक्यमप्युच्यते । उत्तरपदार्थप्रधान्ये तु षसः । समाशब्दः
संवत्सरवाचि । तेन वक्ष्यमाणो हसः । आयतीसमा । आयतीसमम् । पापसमम् । पुण्यसमम् । केचित्तु सम-
शब्देनैव भासमिच्छन्ति । आयत्या सममायतीसमम् । प्रगतमहः प्राहम् (प्राहम्) । उत्तरपदार्थप्रधान्ये षसः ।
प्राह्णे (ह्णे) कल्याणनामानाबुदितौ तिष्ठन्पुनर्वसु । प्ररथम् । प्रमृगम् । प्रदक्षिणम् । अपदक्षिणम् । सम्प्रति ।
असम्प्रति । इच्-दण्डादण्डि । मुसलामुसलि । “अ इच्” [११३१२५] इति इच् सान्तः । “अन्यस्यापि”
[११३१३२] इति पूर्वपदस्य दीत्वम् । चशब्दोऽवधारणार्थः । तिष्ठद्गवादीन्येव नान्यैः सह वृत्तिं लभन्ते ।
परमं तिष्ठद्गु । “सन्महत्परमो” [११३१५६] इत्यादिना षसो न भवति ।

पारे मध्ये तथा वा ॥११३१५॥ पारे मध्ये शब्दौ तान्तेन सह हसो भवति वावचनात्तासोऽपि । प्रकृ-
तेन वाग्रहणेन वाक्यस्य साधुत्वमभ्यनुज्ञायते । हसन्नियोगेन वानयोरेकारान्तता निपात्यते । पारं गङ्गायाः । मध्यं
गङ्गायाः । पारेगङ्गम् । मध्येगङ्गम् । तासपक्षे गङ्गापारम् । गङ्गामव्यम् ।

संख्या वंशयेन ॥११३१६॥ विद्याजन्मादिकृतः सन्तानो वंशः । तत्र भवो वंश्यः । संख्या वंश्य-
वाचिना सह हसो भवति । द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्यौ द्विमुनि व्याकरणस्य । अत्र सम्बन्धे ता । यदा व्याक-
रणस्याचार्ययोरभेदविवक्षा यावैतौ द्वौ मुनी तावेव व्याकरणमिति द्वौ मुनी वंश्यौ द्विमुनि व्याकरणमिति तदा-
सामानाधिकरण्यं भवति । एवं सप्तकाशि । त्रिकोशलम् । एकाश्रयस्य वसस्य चापवादोऽयम् ।

नदीभिश्च ॥११३१७॥ बहुवचननिर्देशादर्धस्येदं ग्रहणम् । नदीवाचिभिः शब्दैः सह संख्या हसो
भवति । सप्त सिन्धवः समाहृताः सप्तसिन्धु । सप्तगङ्गम् । द्वियमुनम् । तिस्रो गोदावर्यः समाहृताः त्रिगो
दावरम् । “कृष्णोदकपाण्डुपूर्वाया भूमैः सान्त इत्येते । गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदा ॥” इति

सुखम् । अत्यन्तरमणीयम् । सर्वरात्रकल्याणी । सर्वरात्रशोभना । “कालाध्वन्यविच्छेदे” [१।४।४] इतीप् ।

भा गुणोक्त्याऽर्थेनौः ॥१।३।२७॥ भान्तं गुणोक्त्या अर्थशब्देन गुणवाचिभिश्च शब्दैः सह षसो भवति । शङ्कुलया खरडः शङ्कुलाखरडः । “गुणवचनादुप्” [वा० ४।१।२३]” इति मतेरुप् । एवं गिरिणा काणः गिरिकाणः । मदेन पटुर्मदपटुः । कुसुमैः सुरभिः कुसुमसुरभिः । कार्यकारणभावलक्षणात् सामर्थ्यं शङ्कुलादिकृतत्वात् खरडत्वादीनाम् । उक्तिग्रहणं किमर्थम् ? उच्यते इत्युक्तिः । गुणोक्त्याऽर्थोक्तिः । गुणद्वारेण द्रव्ये यः शब्दो वर्तते तेन वृत्तिर्यथा स्यात् केवलेन गुणेन मा भूत् । मदेन पाटवम् । वृत्तेन पाटवम् । अर्थेन-धान्येनार्थो धान्यार्थः । पुरयेनार्थः पुरयार्थः । अर्थशब्दोऽत्र प्रयोजनवाची । ऊनैः—माषेणोनो माषोनः । माषविकलम् । एतैरिति किम् ? गोभिर्वपावान् । अस्यत्र कार्यकारणभावः । गोभिः कृतत्वाद्भाव-त्वस्य । इह कस्मान्न भवति ? अक्षणा काणः । असामर्थ्यात् । नात्र काणत्वमक्षिप्तमन्येन केनापि काणः कृतः । केवलमक्षणा काणत्वयुक्तो लक्ष्यते । इह कस्मान्न भवति । दध्ना पटुः । वृत्तेन पटुः । अनभिधानात् ।

पूर्वावरसदृशकलहनिपुर्यामिश्रलक्ष्यसमैः ॥१।३।२८॥ पूर्व-अवर-सदृश-कलह-निपुर्या-मिश्र-लक्ष्य-सम इत्येतैः सह भान्तं षसो भवति । मासेन पूर्वो मासपूर्वः । संवत्सरपूर्वः । मासावरः । संवत्सरावरः । अस्मादेव वचनाद्भा । हेतौ वा । पित्रा सदृशः पितृसदृशः । “भाऽतुलोपमाभ्यां तुल्याधैः” [१।४।७६] इति भा । विद्यया सदृशो विद्यासदृशः । अक्षिणा कलहोऽसिकलहः । वाचा निपुर्या वाङ्निपुर्या । गुडेन मिश्रा गुडमिश्राः । तिलमिश्रा धानाः । वाचा श्लक्ष्णो वाक्श्लक्ष्णः । जिह्वाश्लक्ष्णः । मात्रा समो मातृ-समः । कुलेन समः कुलसमः ।

साधनं कृता बहुलम् ॥१।३।२९॥ साधनं कारकं तत् कृदन्तेन बहुलं षसो भवति । कर्तुं—अहिना हतोऽहितः । करणम्—विषण हतो विषहतः । “कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्थापे ।” (नखैर्निर्भिन्नः) नखैर्निर्भिन्नः । तथा देवदत्तेन नखैर्निर्भिन्नः देवदत्तनखैर्निर्भिन्नः । कर्म—ग्रामं गमो ग्रामगमी । ओदनं बुभुक्षुरोदनबुभुक्षुः । अपादानम्—ग्रामनिर्गतः । अधर्मजुगुप्सुः । सम्प्रदानम्—पादाभ्यां हियते पादहारको भूपः । अधिकरणम्—गले चोपते गलचोपकः । “युद्ध्या बहुलम्” [२।३।६४] इति बहुलवचनादुभयत्र कर्मणि एवुच् । क्वचिन्न भवति । दात्रेण लूनवान् । परशुना छिन्नवान् । व्यान्तराधिकार्थवचन इष्यते । कुक्कुटैः सम्पात्याः कुक्कुट-सम्पात्या ग्रामाः । अत्यासन्नताकथनम् । काकपेया नदी । श्वलेह्यः क्रूपः । कण्टकतचयेय ओदनः । बाष्पच्छेद्यानि तृष्णानि । क्वचिन्न भवति । काकैः पातव्याः । काकैः पानाया नदी । क्वचिदधिकार्थाभावेऽपि । बुसोपेन्ध्यम् । तृष्णोपेन्ध्यम् । पूर्वमुत्तरञ्च कारकविभक्तौलक्ष्यं सविधानमस्यैव प्रपञ्चः । साधनमिति किम् ? भिक्षामिच्छितः । हेतौ भा । कृद्ग्रहणं किम् ? कृदन्तेनैव वृत्तिर्यथा स्यात् सुवन्तेन मा भूत् । अभ्रविलिप्ती । “कादक्षे” [३।१।४४] इत्यकारान्तात् ङीविधिः सिद्धः । सुपुंलिङ्गयुक्ताद्भवति ।

भक्ष्यान्नाभ्यां मिश्रणव्यञ्जने ॥१।३।३०॥ मिश्रणव्यञ्जनवाचिना सुवन्तेन भक्ष्यान्नाचिभ्यां यथा-संख्यं षसो भवति । गुडेन मिश्रा धाना गुडधानाः । वृत्तौ क्रियाया अन्तर्ज्ञावादप्रयोगः । एवं गुडपृथुकाः । तिलपृथुकाः । व्यञ्जनम्—दध्ना उपसिक्क ओदनो दध्योदनः । वृत्तौदनः ।

असदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ॥१।३।३१॥ तस्मै इदं तदर्थम् । अबन्तं तदर्थेनार्थशब्देन च बलि-हित-सुख-रक्षित इत्येतैश्च सह षसो भवति । रथाय दारु । रथदारु । कुण्डलाय हिरण्यम् । कुण्डलाहिर-ण्यम् । बहुलग्रहणानुवृत्तेः प्रकृतिविकृतिभावे तदर्थेन वृत्तिः । विकृतिः प्रकृत्या सह इत्यर्थः । इह न भवति । रन्धनाय स्थाली । अवहननायोल्लखलम् । इदमेव ज्ञापकं तादर्थ्यं अब् भवति । कथमश्ववासो हस्तिविद्येति ? तापेन सिद्धम् । अर्थशब्देन नित्यं वृत्तिः । मात्रे इदं मात्रर्थम् । त्रिलिङ्गता लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य । आतुरार्था

यवागूः । आतुरार्थः सूपः । देवाय बलिः देवबलिः । गृहबलिः । तादर्थ्ये अप् । गोभ्यो हितं गोहितम् । अश्व-
हितम् । हितयोगे इदमेव ज्ञापकमपः । गोभ्यः सुखं गोसुखम् । “अप् चाशिष्या” [१।४।७७] इत्यादिना
अप् । गोभ्यो रक्षितं गोरक्षितम् । तादर्थ्येऽप् ।

का भीभिः ॥१।३।३२॥ बहुवचनार्थविज्ञानम् । कान्तं भीवचनैः सह षसो भवति । वृकेभ्यो भीः
वृकभीः । वृकेभ्यो भीतो वृकभीतः । वृकेभ्यो भयं वृकभयम् । वृकेभ्यो भीतिः वृकभीतिः । सुष्ठुनुग्रहार्थं^१
पूर्वस्यायं प्रपञ्चः ।

मुक्तापेतापोढपतितापत्रस्तैः प्रायः ॥१।३।३३॥ मुक्त-अपेत-अपोढ-पतित-अपत्रस्त इत्येतैः सह
कान्तं प्रायः षसो भवति । भवान्मुक्तो भवमुक्तः । पापापेतः । मुखापोढः । स्वर्गपतितः । तरङ्गापत्रस्तः । सर्व-
त्रापादाने का । प्राय इति किम् ? प्रासादात् पतितः । भोजनादपत्रस्त इत्येवमादौ न भवति ।

स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं क्लेन ॥१।३।३४॥ स्तोक-अन्तिका-दूर इत्येवमर्थाः शब्दाः कृच्छ्रशब्दश्च
कान्ताः क्लान्तेन सह षसो भवति । स्तोकान्मुक्तः । अन्तिकादागतः । अभ्यासादागतः । दूरादागतः । विप्रकृष्टा-
दागतः । कृच्छ्रान्मुक्तः । कृच्छ्राल्लब्धः । “स्तोकार्थकृच्छ्रेभ्योऽपादाने का” । दूरान्तिकार्थेभ्य इप्चेति का ।
“कायाः स्तोकादेः” [४।३।१२१] इत्यनुप् ।

ईपृञ्छौण्डैः ॥१।३।३५॥ ईबन्तं शौण्डादिभिः सह षसो भवति । शौण्डैः सहचरिताः शौण्डाः ।
अक्षेपु प्रसक्तः शौण्डोऽक्षशौण्डः । पानशौण्डः । वृत्तौ प्रसङ्गिक्रियाया अन्तर्भावादप्रयोगः । सर्वत्र अधिकरणे
ईप् । शौण्ड, धूर्त, कितव, व्याड, संवीत, समीरण, अन्तर् वने^२ अन्तर्वनान्तः । अधि राशि अधि राजाधीनम् ।
“अषडक्षासितडग्बधिद्योः” [४।२।१६] इति खः । यदा पूर्वपदार्थप्राधान्यं विभक्त्यर्थश्च तदा हसः । अन्त-
र्वणम् । अधिक्षि । पण्डित । कुशल । चपल । निपुण ।

सिद्धशुष्कपक्कबन्धैः ॥१।३।३६॥ सिद्ध-शुष्क-पक्क-बन्ध इत्येतैरीबन्तं षसो भवति । काम्पिल्ये सिद्धः
काम्पिल्यसिद्धः । सांकायसिद्धः । ऊके शुष्कः । ऊकशुष्कः । छायाशुष्कः । कुम्भीपक्कः । स्थालीपक्कः । चक्र-
बन्धः । चारकबन्धः । “साधनं कृता” [१।३।२६] इत्यस्यैव प्रपञ्चः ।

ऋणो व्यैः ॥१।३।३७॥ ईबन्तं व्यान्तैः सह षसो भवति ऋणो गम्यमाने । मासे देयमृणं मासदेयम् ।
मासैकदेशे मासशब्दः । अधिकरणे ईप् । एवं संवत्सरदेयम् । नियोगतः कार्यमृणम् । तेनेहापि भवति पूर्वाह्न-
ज्ञेयम् । प्रातरध्येयम् । अत्र यत्यान्तेनैवाभिधानादिह न स्यात् । मासे दातव्यम् । मासे दानीयम् । ऋण इति
किम् ? मासे देया भिन्ना ।

खौ ॥१।३।३८॥ खुर्विषये ईबन्तं सुबन्तेन सह षसो भवति । अरण्येतिलकाः । वृत्तिपदेन संज्ञा गम्यत
इति नित्यः सविधिः । “ईपोऽद्धलः” [४।३।१२७] इत्यनुप् । एवमरण्येमाषकाः । वनेकसेरुकाः । वनेवल्व-
जकाः । पूर्वाह्नेस्फोटकाः । कूपेपिशाचिकाः ।

क्लेनाहोरात्रभेदाः ॥१।३।३९॥ भेदा अवयवाः । क्लान्तेन सह अहोरात्रभेदा ईबन्ताः षसो भवति ।
पूर्वाह्नकृतम् । अपराह्नकृतम् । पूर्वरात्रमुक्तम् । अपररात्रमुक्तम् । भेदग्रहणं किम् ? “उलूखलैराभरणैः
पिशाची यदभाषत । एतत्तु ते दिवा नृत्तं रात्रौ नृत्तन्तु द्रक्ष्यसि ।”

तत्र ॥१।३।४०॥ क्लेनेति वर्तते । तत्रेत्येतत् क्लान्तेन सह षसो भवति । तत्रकृतम् । तत्रमुक्तम् ।
तत्रपीतम् । ऐकपद्यं प्रयोजनम् ।

क्षेपे ॥१।३।४१॥ क्षेपः कुत्सा । क्षेपे गम्यमाने ईबन्तं क्लान्तेन सह षसो भवति । “कृद्ग्रहणे तिका-

१.-हणार्थम् अ० । २. वने अन्तः (वनान्तः) वसति अ०, ब०, स० । ३.-रुकाः ।
वने हरिदुषाः । वने अ० । -रुकाः । वने हरिदुकाः । वने ब०, स० ।

रूपपूर्वस्यापि ।” अत्रतप्तौनकुलस्थितं त एतत् । कार्येष्वनवस्थितत्वं तवेदमित्यर्थः । “षे कृति बहुलम्” [४।३।१३२] इत्यनुप । एवमुदकेविशीर्णं भस्मनिहुतम् । निष्फलं तवेदमित्यर्थः ।

ध्वाङ्क्षेः ॥१।३।४२॥ क्लेनेति निवृत्तम् । क्षेप इति वर्तते । बहुवचनादर्शनदेशः । ध्वाङ्क्ष्वान्निभिः सुबन्तं षसो भवति क्षेपे । तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव तीर्थध्वाङ्क्षः । वृत्ताविवाथस्यान्तर्भावः । तीर्थकाकः । आद्ध-वायसाः । अनवस्थित एवमुच्यते । ध्वाङ्क्षैरित्यर्थनिर्देशात्तत्सदृशानामपि ग्रहणमिति केचित् । तीर्थश्वा । तीर्थसारमेयः । तीर्थशृगालः । क्षेप इति किम् ? तीर्थे ध्वाङ्क्षो वास्यते ।

पात्रेसमितादयश्च ॥१।३।४३॥ क्षेप इति वर्तते । पात्रेसमितादयश्च शब्दा गणपाठादेव निपा-तिताः षसंज्ञा भवन्ति क्षेपे । पात्रे एव समिताः पात्रेसमिताः । पात्रेबहुलाः । न क्वचित्कार्यं इति क्षेपो गम्यते । निपातनादनुप । उदुम्बरे मशक इव उदुम्बरमशकः । उदुम्बरकृमिः । कूपकच्छपः । अत्रकच्छपः । कूप-मण्डकः । उदपानमण्डकः । नगरकाकः । नगरवायसः । एतैष्विवार्थो वृत्तावन्तर्भूतः । मातरिपुरुषः । अयुक्तकारीत्यर्थः । पिण्डशीशूरः । निरुत्साह इत्यर्थः । गेहेक्ष्वेडी । गेहेनर्दी । गेहेनर्ती । गेहेविजिती । गेहेव्याडः । गर्भेतृतः । गर्भेदृतः । आखनिकवकः । गोष्ठेशूरः । गोष्ठेविजिती । गोष्ठेक्ष्वेडी । गेहेशूरः । गेहेमेही । गेहेदासः । गोष्ठेपट्टः । गोष्ठेपण्डितः । गोष्ठेप्रगल्भः । कर्णेचुरुचुराः । चकारोऽवधारणार्थः । पात्रेसमितादय एव न वृत्त्यन्तरं लभन्ते । परमाः पात्रेसमिताः । अत्र एव क्तान्तेनापीह वृत्तिः सार्थिका अन्यथा ‘क्षेपे’ [१।३।४१] इत्यनेनैव सिद्धा स्यात् ।

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलं यश्चैकाश्रये ॥१।३।४४॥ एकाश्रयः समानाधिकरणम् । पूर्वकालेवाचि-एकसर्व-जरत्-पुराण-नव-केवल इत्येते सुबन्ता एकाश्रये सति सुबन्तेन सह यसंज्ञः सो भवति षसं-ज्ञश्च । पूर्वः कालो यस्य स पूर्वकालः । सम्बन्धिश्चशब्दत्वादपरकालेन तस्य वृत्तिः । पूर्वं स्नाताः पश्चादनु-लिप्ता स्नातानुलिप्ताः । कृष्टसमीकृतम् । छिन्नप्ररूढम् । दग्धप्ररूढम् । एकशटी । एकचर्या । एकभिन्ना । सर्वदेवाः । सर्वपदार्थाः । जरद्वस्ती । जरद्ववः । पुरा भवं पुराणम् । “सायञ्चिरम्प्रा-ह्णे प्रगेक्षिभ्यस्तनट्” [३।२।१३६] इति तनट् । अत्र एव निपातनात्तत्त्वम् । पुराणान्मम् । पुराणशास्त्रम् । नवावसथः । केवलमसहायं ज्ञानं केवलज्ञानम् । विशेषणवृत्तेरयं प्रपञ्चः । चशब्दः षसंज्ञासमावेशार्थः । अन्यथा राजपुरुषादौ कृतार्था षसंज्ञा बाध्येत । मोषिका गौः मोषकगवी । “स्युक्तपुंस्क” [४।३।१४६] आदिना पुंवद्भावः, “न बुह्ल्कोळः” [४।३।१४६] इति प्रतिषिद्धो यसंज्ञायां “पुंवद्गजातीयदेशीय” [४।३।१५४] इति पुनर्भवति । षसंज्ञाश्रयो “गोरहृदुपि” [४।२।६४] इति टः सान्तः । इत उत्तरमेकाश्रयाधिकारो यावत् “मयूरज्यंसकादयश्च” [१।३।६६] इति । एकाश्रय इति किम् ? एकस्या शटी ।

दिकसंख्यं खौ ॥१।३।४५॥ दिग्वाचि संख्यावाचि च नुब्रन्तमेकाश्रये सुबन्तेन सह षसो भवति खुविषये । पूर्वेषुकामशमी । अपरेषुकामशमी । पूर्वकृष्णमृत्तिका । अपरकृष्णमृत्तिका । दक्षिणपञ्चालाः । उत्तरपञ्चालाः । संख्या—पञ्चाम्राः । पञ्चवयाः । सप्तर्षयः । खाविति किम् ? दक्षिणा ग्रामाः । पञ्च ग्रामाः ।

हृदर्थद्युसमाहारे ॥१।३।४६॥ दिक्संख्यमिति वर्तते । हृदर्थविषये चौ परतः समाहारेऽभिधेये दिक्संख्यमेकाश्रये सुबन्तेन सह षसो भवति । दिक् । हृदर्थे—पूर्वस्यां शालायां भवः षसे कृते समुदायात् “दिगादेरखौ” [३।२।८४] इति णः । पौर्वशालः । आपरशालः । द्यौ—पूर्वा शाला प्रिया अत्र्य पूर्वशालाप्रियः । आपरशालाप्रियः । अवयवापेक्षया षसः । पूर्वपदस्य पुंवद्भावः । दिशां समाहारो नास्ति । क्रियागुणा-पेक्षयाऽपि समाहारे अनभिधानम् । संख्या । हृदर्थे—पञ्चभिः शकुलीभिः क्रीतः पञ्चशकुलः । अनेन

षसे कृते तस्य “संज्ञादी रश्च” [१।३।४७] इति रसंज्ञायां आर्हायस्य ठणो “गदुर्बलौ” [३।४।२६] इत्युप् । “हृदुप्युप्” [१।१।१६] इति स्त्रीत्यस्योप् । पञ्चानां नापितानामपत्यं पाञ्चनापितिः । “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इति वचनं ज्ञापकं हृदर्थेऽपि से हृदुत्पत्तिर्भवति । द्यौ-पञ्च गावो धनमस्येति पञ्चगवधनः । अवयवसापेक्षया ‘भोरहृदुपि’ [४।२।१४] इति टः सान्तः सिद्धः । द्वेऽहनी जातस्य द्वयहजातः । “एभ्योऽहोऽहः” [४।२।१०] इत्यह्लादेशः । समाहारे-पञ्च पूलाः समाहृताः पञ्चपूली । अनेन षसः । उत्तरसूत्रेण रसंज्ञायां “रात्” [३।१।२५] इति ङीविधिः । कथं षरणगरी ? अत्रापि क्रियागुणापेक्षया रसंज्ञायां रसि । लब्धा शोभना चेति गम्यते समाहारस्यैकत्वादेकवचनम् । ननु समाहारः समूहः स तु हृदर्थ एव न पृथक् समाहारनिर्देशात् । समूहार्थस्य त्यस्यानुपपत्तिः पञ्चानां कुमारीणां समाहारः पञ्चकुमारि । त्योत्पत्तौ हि “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् प्रसज्येत । ततश्च “हृदुप्युप्” [१।१।१६] स्त्रीत्यस्योप् स्यात् ।

संख्यादी रश्च ॥१।३।४७॥ हृदर्थद्युसमाहार इत्यत्र संख्यादिर्यः स उक्तः स रसंज्ञो भवति हृदर्थे । द्वावनुयोगौ वेत्यधीते वा द्व्यनुयोगः^१ । “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्यण उप् । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः । द्यौ-पञ्च नावः प्रिया अस्य पञ्चनावप्रियः । “नावो रात्” [४।२।१०२] इति टः सान्तः । समाहारे-पञ्चपूली । चशब्दः षसंज्ञासमावेशार्थः । द्वे अंगुली समाहृते द्वयङ्गुली । “षेऽङ्गुलेर्भिर्-संख्यादेः” [४।२।८८] इति अः सान्तः । “रात्” [३।१।२५] इति ङीविधिश्च सिद्धः ।

कुत्स्यं कुत्स्यैः ॥१।३।४८॥ कुत्स्यवाचि सुबन्तं कुत्सनवाचिना षसो भवति । वैयाकरणखसूचिः । प्रत्यासत्तः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य कुत्सायामयं सविधिः । रूपसिद्धिं पृष्टो निःप्रतिभः सन् यः खं सूचयति वीक्षते स खसूची । खसूचिखं कुत्सनम् । विशेषणस्य परनिपातार्थं आरम्भः । एवं क्षत्रियमीरुः । श्रोत्रियकितवः । भिक्षुविटः । मीमांसकदुर्दुरुटः । कुत्स्यमिति किम् ? वैयाकरणः कितवः । न हि वैयाकरणत्वं कितवत्वेन कुत्स्यते । कुत्सनैरिति किम् ? कुत्सितो ब्राह्मणः ।

पापाणके कुत्स्यैः ॥१।३।४९॥ पापाणकशब्दौ कुत्सनवचनौ कुत्स्यवचनैः षसो भवति । पापकुलालः । आणकनापितः । पूर्वयोगेन कुत्स्यस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते परनिपातार्थं आरम्भः ।

सामान्येनोपमानम् ॥१।३।५०॥ उपमानोपमेययोः साधारणो धर्मः सामान्यम् । उपमीयते परिच्छिद्यते अनेन सादृश्येनार्थं इत्युपमानम् । उपमानवाचि सुबन्तं सामान्यवाचिना सुबन्तेन सह षसो भवति । निराधारं सामान्यं न प्रतीयत इति सामान्यधर्मेण विशिष्टं यदुपमेयं तेनात्र वृत्तिः । शस्त्रीव श्यामा शस्त्रीश्यामा देवदत्ता । शस्त्रीशब्दः श्यामगुणमुपादाय देवदत्तायां वर्तत इति एकाश्रया वृत्तिर्न विरुध्यते । मृगीव चपला मृगचपलेति पुं वद्भावश्च भवति । एवं कुमुदस्येनी हंसगमनी न्यग्रोधपरिमण्डला दूर्वाकाण्डश्यामा सरकाण्डगोरी । सामान्येनेति किम् ? फला इव तण्डुलाः । पर्वता इव बलाहकाः । उपमानमिति किम् ? देवदत्ता श्यामा ।

व्याघ्रै रूपमेयोऽतद्योगे ॥१।३।५१॥ तस्य सामान्यस्य योगः प्रतिषिध्यते । उपमेयार्थवाचिव्याघ्रादिभिः सह षसो भवत्यतद्योगे । उपमेयशब्दस्य सन्धन्विशब्दत्वाद्दुपमाने न वृत्तिः । साधारणधर्मः सामान्यं हि वृत्तान्तभूतम् । अतद्योग इत्यनेन विशिष्टः साधारणधर्मः प्रतिषिध्यते । पुरुषोऽयं व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः । पुरुषविशेषणस्य परनिपातार्थं आरम्भः । व्याघ्र सिंह ऋषभ चन्दन वृक वृषभ वृष वराह हस्तिन् कुञ्जर रुद्र पुण्डरीक स्त्री पलायिका । आकृतिगणोऽयम् । तेन सुखकमलं करकशल्यं पुरुषचन्द्रादि सिद्धम् । अतद्योग इति किम् ? पुरुषोऽयं व्याघ्र इव शूरः । इदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकं भवति-प्रधानस्य सापेक्षस्यापि वृत्तिः । तेन राजपुरुषो दर्शनीयः । राजपुरुषः परिडित इत्येवमादि सिद्धम् ।

१.-योगः । व्यनुयोगः । रस्यो-अ० । २. मीमांसकदुर्दुरुटः स० । ३. सम्बन्धित्वाद्दुप-भु० ।

विशेषणं विशेष्येणेति ॥१३।५२॥ एकाश्रय इति वर्तते । यत् सामान्याकारेण प्रवृत्तं सत् अनेक-
प्रकाराधारभूतं वस्तु प्रकारान्तरेभ्यो व्यावर्त्यैकत्र प्रकारे अवस्थापयति तद्विशेषणम् । अनेकप्रकाराधारभूतं
वस्तु विशेष्यम् । विशेषणं विशेष्यवाचिना सह षसो भवति । कृष्णश्च स कम्बलश्च स कृष्णकम्बलः ।
लोहिता च सा शाटी च सा लोहितशाटी । अर्द्धञ्च तत् पिप्पली च सा अर्द्धपिप्पली । यदा पिप्पल्यवयवे
पिप्पलीशब्दस्तदेयं वृत्तिरेकाश्रयाधिकारान् । यदा समुदाये वर्तते तदा पिप्पल्यर्द्धमिति तासः । भिन्नैकदेशे
भिन्नाशब्दः । द्वितीया भिन्ना द्वितीयभिन्ना । तृतीयभिन्ना । चतुर्थभिन्ना । तुर्यभिन्ना । इह भिन्नाद्वितीयमिति
तासो नोपपद्यते । “इद्गुणवृत्तार्थण” [१३।७५] आदिप्रतिषेधः बलीयस्त्वात् । कायैकदेशे कायशब्दः । पूर्वः
कायः पूर्वकायः । अपरः कायः अपरकायः । उत्तरकायः । एवं मध्याह्नः । सायाह्नः । पूर्वं कायस्येति अव-
यवसम्बन्धे तासानभिधानं पूर्वं कायादिति प्राप्नोति । विशेषणविशेष्योरन्यतरस्य ग्रहणेऽपि सम्बन्धिशब्दत्वाद्दु-
भयोः प्रतिपत्तिरिति द्वयनिर्देशो व्यर्थः ? नैवम्; यत्र पूर्वोत्तरपदयोः प्रत्येकं विशेषणविशेष्यभावस्तत्र यथा स्यादिह
मा भूत् । वृत्तः शिक्षाया । शिक्षाया हि वृत्तार्थं न व्यभिचरतीति न तस्या विशेष्यत्वम् । यदा शिक्षायादिशब्दाः
फलादिष्वपि वर्तन्ते तदोभयोर्विशेष्यत्वे सविधिर्भवत्येव । शिक्षायावृत्तः । पलाशावृत्तः । उभयोर्विशेषणत्वे कस्य
पूर्वनिपात इति चेत् प्रधानद्रव्यापेक्षान्वर्थस्य नीचो गुणस्य पूर्वनिपातः । यद्यप्युत्पलादिशब्दो जातिशब्द-
स्तथापि जातिद्रव्यस्योत्पत्तेः प्रतीयत इति जातिनिमित्तः शब्दो द्रव्यशब्दो व्यवस्था-
प्यते । अत एव विशेष्यत्वमुत्तरपदार्थस्य द्रव्यद्वारेण जातेरनीलत्वादानाधेया^१तिशयत्वाच्च, सामानाधिकरण्यात् तु
जात्यपेक्षया, जातेर्भेदाभेदविवक्षा अनेकान्ताधिकाराल्लभ्यते । विशेषणमिति किम् ? तत्तकः सर्पः । संज्ञैषा ।
अस्य विशेष्यत्वमेव न विशेषणत्वम् । विशेष्येणेति किम् ? लोहितस्तत्तकः । तस्य^२ लोहितत्वाव्यभिचारादवि-
शेष्यत्वम् । इतिशब्दः किमर्थो यत्र लोके विवक्षा तत्र यथा स्यात् । इह न भवति रामो जामदग्न्यः । अर्जुनः
कार्तवीर्यः । इह कृष्णसर्पः लोहिताहिः लोहितशार्ङ्गलरित्येवमादिषु संज्ञाशब्देषु नित्यः सविधिः । वाक्यं तु साह-
श्यमात्रेण । नीलोत्पलादिभूमयम् । नीलमुत्पलं नीलोत्पलम् । इहेच्छुया विशेषणत्वम् । खञ्जकुण्डः ।
कुण्डखञ्जः ।

पूर्वाऽपरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराः ॥१३।५३॥ पूर्व-अपर-प्रथम-चरम जघन्य-
समान-मध्यम-मध्यम-वीर इत्येते एकाश्रये सुपा सह समस्यन्ते षसो भवति । पूर्वपुरुषः । अपरपुरुषः । प्रथम-
पुरुषः । चरमपुरुषः । जघन्यपुरुषः । सनानपुरुषः । मध्यपुरुषः । मध्यमपुरुषः । वीरपुरुषः । एवमाद्यनुक्रमणं
पूर्वयोगप्रपञ्चार्थः । उपसर्जनानां परोपसर्जनार्थम्, प्रधानानां परप्रधानार्थञ्च । इह सूत्रे पूर्वशब्दो वीरशब्द-
श्चोपसर्जनं तयोर्वृत्तौ परत्वात् वीरशब्द उपसर्जनम् । वीरपूर्वः । “वृन्दारकनागकुञ्जरैस्तत्” [१३।५७]
इत्यत्र नागशब्दः प्रधानं “पोढायुवति” [१३।६०] इत्यत्र प्रवक्तृशब्दः प्रधानं तयोर्वृत्तौ परत्वात् प्रवक्त्रा
प्रधानम् । नागप्रवक्त्रा ।

श्रेण्यादि कृतैः ॥१३।५४॥ श्रेण्यादयः कृतादिभिः सह एकाश्रये षसो भवति । वैषम्याद्यथासङ्ख्यं
न भवति । श्रेण्यादिषु व्यर्थग्रहणं कर्तव्यं न कर्तव्यमिति शब्दानुवृत्तेस्तत्रैव वृत्तिः । अश्रेण्याः श्रेण्याः
कृताः श्रेणिकृताः । अनूका ऊकाः कृताः ऊककृताः । व्यर्थान्यत्र श्रेण्याः कृताः । करोतेरनेकार्थत्वाद्द-
ण्डिता पूजिता वेति गम्यते । विकल्पेन चिर्विधास्यते यदा चि्वस्तदा परत्वात् ‘तित्कुप्रादयः’ [१३।६०] इति
नित्यं षसः । श्रेणीकृताः । ऊकीकृताः । श्रेणि ऊक पूग कुन्दुम राशि निचय विषय विशिष्ट निर्धन देव इन्द्र
सुरेण श्रमण भूत वदान्य अभ्यापक ब्राह्मण क्षत्रिय पट्ट परिडित कुशल चपल निपुण इति श्रेण्यादिः ।
कृतादिराकृतिगणः । कृत मित मत भूत उक्त समाज्ञात समाख्यात समाभ्नात सम्भावित अवधारित संसेवित
अवकल्पित निराकृत उपकृत इत्येवमादि । क्रियाकारकसम्बन्धोऽत्र न विशेषणविशेष्यभाव इति ।

१. न आधेयोऽतिज्ञायो यस्मिन्, तस्य भावः, तस्मात् । २. तत्तकस्य अ०, ब० ।

विसमाप्तौ क्लोऽनञ् ॥१३।५५॥ विगता समाप्तिः विसमाप्तिः । विसमाप्तिः । अनञ्-
कतान्तं विसमाप्तौ सामर्थ्यात् कतान्तेन समस्यते षसो भवति । एकस्यां हि क्रियायां विसमाप्तिर्भवति न क्रिया-
भेद इति सामर्थ्यम् । कतान्तस्यानञिति प्रतिषेधानञ् पूर्वेषां कतान्तेन सविधिः । कृतञ्च तदकृतञ्च कृता-
कृतम् । कृतभागसम्बन्धात् कृतम् । अकृतभागसम्बन्धात्तदेवाकृतम् । एवं भुज्ताभुक्तम् । पीतापीतम् ।
अशितानशितम् । क्लिष्टाक्लिष्टितम् । “क्लिष्टशस्तक्त्वोः” [५।१।६८] इति वेट् । मुक्तविमुक्तम् । पीतवि-
पीतम् । कृतापकृतम् । विसमाप्ताविति किम् ? सिद्धं चाभुक्तं च । क्रियाभेदे विसमाप्तिर्नास्ति एकस्याः
समाप्तत्वादपरस्या अननुष्ठानात् । क्त इति किम् ? कर्तव्यं तदकर्तव्यं च । अनञिति किम् ? अकृतं च
तत्कृतञ्च । ननु कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यैव ग्रहणमनञिति किमर्थम् ? नञ्पूर्वेषां वृत्त्यर्थमिति शेषः । इह
गतप्रत्यागतः यातानुयात इत्येवमादिषु “पूर्वकालैक” [१।३।४४] इत्यादिना षसः ।

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टं पूज्येन ॥१३।५६॥ सत्-महत्-परम-उत्तम-उत्कृष्ट इत्येते सुब्रन्ताः पूज्य-
वचनेन सह समस्यन्ते षसो भवति । संश्च सः पुरुषश्च सत्पुरुषः । महापुरुषः । परमपुरुषः । उद्गततमः
उत्तमः । अत एव निपातनात् “किमेन्मिङ्भिभादाद्भ्ये” [४।२।२०] इत्याम् न भवति । उत्तमपुरुषः ।
उत्कृष्टपुरुषः । पूज्येनेति वचनादत्र सदादयः पूजावचना ज्ञातव्याः । पूज्येनेति किम् ? उत्कृष्टो गौः । कर्द-
माहुद्घृत इत्यर्थः ।

वृन्दारकनागकुञ्जरैस्तत् ॥१३।५७॥ पूज्येनेति वर्तमानमर्थवशाद्ब्रान्तं संपद्यते । वृन्दारकादिभिः
सह तत् पूज्यवाचिसुब्रन्तं समस्यते षसो भवति । तदित्यनेन पूज्यवचनेनाभिसम्बन्धात् वृन्दारकादयः पूजा-
वचना गृह्यन्ते । गौश्चासौ वृन्दारकश्च गोवृन्दारकः । पुन्नागः । गोकुञ्जरः । अश्वकुञ्जरः । व्याघ्रादेराकृति-
गणत्वात् “व्याघ्रैरुपमेयेऽतद्योगे” [१।३।५१] इत्येव सिद्धे सामान्यप्रयोगेऽपि यथा स्यादित्यारम्भः । गोनागो
बलवान् । तदिति किम् ? शोभना शीमा फणा अस्य सुशीमो नागः ।

कतरकतमौ समर्थौ ॥१३।५८॥ किंशब्दात् “क्रियत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरः” [४।१।१४७]
“वा बहूनां जातिप्रश्ने डतमः” [४।१।१४८] तयोः परतष्टिले कृते कतरकतमशब्दौ सिद्धयतः । समर्थौ सङ्ग-
ताथौ समानार्थावकार्थवित्यर्थः । तौ सुब्रन्तेन सह समस्यते षसो भवति । कदा चानयोः समानार्थत्वं यदा
जातिप्रश्ने तौ व्युत्पाद्येते तदा तयोः समानार्थत्वम् । कतरश्च स गार्ग्यश्च कतरगार्ग्यः । कतमगार्ग्यः । कत-
रकठः । कतमकठः । वृद्धं चरणैः सहेति जातिवाचित्वम् । समर्थविति किम् ? कतरो भवतोर्देवदत्तः ।
द्रव्यप्रश्नेऽयम् । समर्थग्रहणं हि कतरस्यैव विशेषणं डतरस्याविशेषणं विधानान्न कतमस्य । डतमस्य
जातिप्रश्न एव तैर्विधानात् । अतः कतमो भवतां देवदत्त इति कतमो भवतां देवदत्तः । कतरकत-
मयोः प्रश्ने विहितयोः सविधिना न गार्ग्यादिविशेष्यव्यवस्थेति वचनम् ।

क्षेपे किम् ॥१३।५९॥ क्षेपः कुत्सा । यो हि यदर्थस्तस्य तदर्थाननुष्ठानं क्षेपः । किमेतत् क्षेपे गम्ये
सुब्रन्तेन समस्यते षसो भवति । को नाम राजा किराजा । यो न रक्षति । “न स्वति किम्” [४।२।६६]
इति सान्तप्रतिषेधः । किंस्वा । योऽभिद्रुहति । किंगौः । यो न वहति । “गोरहृदुपि” [४।२।६४] इति
सान्ते टे प्राप्ते “न स्वति किम्” [४।२।६६] इति प्रतिषेधः । सर्वत्र स्वकार्याभावात् क्षेपः । क्षेप इति
किम् ? को राजा पाटलिपुत्रे । किमिति योगविभागः । तेन संज्ञायां शुकादिभिः सह किंशब्दः समस्यते षसो
भवति । किंशुकः पलाशः । किंशुकः पर्वतः । किंपुरुषो मयुः । किन्नरः स एव । किञ्जल्कः पुष्परेणुः ।
किङ्किरातः । किंवन्तीत्यादयः सिद्धाः ।

पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्व्यक्यणीप्रवक्त्रश्रोत्रियाध्यापकधूर्तैर्जातिः ॥१।
३।६०॥ पोट्यादीनामितरेतरयोगो द्वन्द्वः । पोट्यादिभिः सहैकाश्रये जातिः समस्यते षसो भवति । विशेषणस्य
परनिपातार्थं आरम्भः । जातिद्वारेण यः शब्दो द्रव्ये वर्तते स इह जातिशब्दोऽभिप्रेतः । इभ्या च सा पोट्या

च इभ्यपोटा । इभ्येति जातिशब्दः । स्त्री भूत्वा राज्यपालनार्थं या पुंवेप्रेण युज्यते सा पोटा । यापि गर्भ एव दास्यं गता साऽपि पोटा । “स्व्युक्तपुंस्क” [४।३।१४६] इत्यादिना पुंवद्भावे प्राप्ते “जातिश्च” [४।३।१४३] इति प्रतिषिद्धे “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१४४] इति पुंवद्भावः । एवमार्यपोटा । युवतिस्तरुणी । इभ्य-युवतिः । क्षत्रिययुवतिः । अग्निश्च स स्तोकश्च तदग्निस्तोकम् । दधि च तत् कतिपयञ्च दधिकतिपयम् । स्तोककतिपयशब्दावेकार्थं । सकृत्प्रसूता गृष्टिः । गौरश्च सा गृष्टिश्च गोगृष्टिः । धेनुरभिनवप्रसवा । गोधेनुः । वशा बन्ध्या । गोवशा । वेहत् गर्भघातिनी । गर्भधारिणीत्यन्ये । गोवेहत् । महता बत्सेन या दुह्यते सा बष्कथिणी । गोबष्कथिणी । प्रवक्ता उपाध्यायः । कठप्रवक्ता । कठश्रोत्रियः । अध्यापकोऽध्येता । कठ-ध्यापकः । कठधूर्तः । बुद्धिमानित्यर्थः । धूर्तग्रहणमिहाकुत्सार्थम् । अथवा आश्रयिषु कुस्तिषु तद्भवति । आश्रयेषु तु कुत्स्येषु इदम् । ब्राह्मणधूर्तः क्षत्रियधूर्त इति यदा हि ब्राह्मणत्वमाश्रयि कुत्स्यते तदा तेनैव सिद्धं सविधानम् । यदा तु तद्युक्तो देवदत्तः कुत्स्यते तदर्थमिदम् । जातिरिति किम् ? देवदत्तः प्रवक्ता । देवदत्त-शब्दस्याजातिवचनत्वादवृत्तिः । जातेर्विशेष्यायाः पूर्वनिपातार्थं आरम्भः ।

चतुष्पाद्गर्भिया ॥१।३।६१॥ जातिरिति वर्तते । चत्वारः पादा यस्याः सा चतुष्पाद्वादिजातिः । “सुसंख्यादेः” [४।२।१४०] इत्यकारस्य खम् । चतुष्पाज्जातिर्गर्भिणीशब्देन सहैकाश्रये समस्यते षसो भवति । गौश्च सा गर्भिणी च गोगर्भिणी । अजगर्भिणी । “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१४४] इति पुंवद्भावः । चतुष्पादिति किम् ? ब्राह्मणी गर्भिणी । जातिरित्येव । कालाक्षी गर्भिणी । स्वस्तिमती गर्भिणी । चतुष्पदः संज्ञैषा । न तु जातिः । विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थं वचनम् ।

प्रशंसोक्त्या ॥१।३।६२॥ जातिरिति वर्तते । उच्यते इत्युक्तिः शब्दः । प्रशंसाशब्देन सह जातिवाचि सुबन्तं समस्यते षसो भवति । गौश्च स प्रकारञ्च तत् गोप्रकाण्डम् । प्रशस्तो गौरित्यर्थः । एवमश्वप्रकाण्डम् । गोमतल्लिका । अश्वमचर्चिका । गोकुमारी । गोतल्लजकः । अभिधा जातिरित्येव । देवदत्ता कुमारी ।

युवा खलतिपलितवलिनजरङ्गिः ॥१।३।६३॥ खलति पलित वलिन जरदित्येतैरेकाश्रयैयुंशब्दः समस्यते षसो भवति । युवा खलतिः युवखलतिः । युवतिः खलती युवखलती । युवा पलितः युवपलितः । युवतिः पलिता युवपलिता । वलयोऽस्य सन्ति वलिनः । पामादित्वाच्च । युवा वलिनः युववलिनः । युवतिर्वलिना युववलिना । “जृषोऽन्” [२।२।२७] इति अतृत्ये कृते जरदिति भवति । युवा जरन् युवजरन् । युवतिर्जरती युवजरती । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ।” “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१४४] इति पुंवद्भावात् तिशब्दस्य निवृत्तिः ।

व्यतुल्याख्या अजात्या ॥१।३।६४॥ व्यन्तास्तुल्याख्याश्च अजातिवाचिना सह समस्यन्ते षसो भवति । परनिपातः फलम् । भोज्यञ्च तदुष्णञ्च भोज्योष्णम् । भोज्यलवणम् । पानीयशीतम् । हरणीयपूर्णो घटः । तुल्याख्याः । तुल्यश्च स श्वेतश्च स तुल्यश्वेतः । सदशश्वेतः । तुल्यमहान् । सदशमहान् । अजात्येति किम् ? भोज्य आदनः । तुल्यो वैश्यः । इह तुल्यसन्निति पूज्यत्वाभावात् परत्वाद्दानं सः । इह कथमेकाश्रया वृत्तिः । कृष्णसारङ्गः । लोहितसारङ्गः । कृष्णशबलः । लोहितशबलः । यदि सारङ्गादिशब्दा जातिवचना जातेः कथञ्चिद्द्रव्यादभिन्नत्वमित्येकाश्रयत्वमस्ति ततो विशेषणत्वम् सः । अथ पूर्वोत्तरपदयोर्वर्णाविशेषवाचत्वं तत्रापीच्छातो विशेषणविशेष्यभावः । कृष्णश्वेतः । श्वतकृष्णः ।

कुमारः श्रमणादिभिः ॥१।३।६५॥ कुमारशब्दः श्रमणादिभिः सह समस्यते षसो भवति । कुमा-रशब्दो मृत् । स्त्रीलिङ्गैस्तरपदैः स्त्रीलिङ्गः । अश्वमचर्चिकादिभिः गदना समस्यते । कुमारी श्रमणा कुमारश्रमणा ।

१.-मतल्लिका । अश्वमतल्लिका । गोमचर्चिका । गोकुमा-अ० ।—ल्लिका । अश्वमतल्लिका ।

अश्वम-ब० ।

कुमारी प्रव्रजिता कुमारप्रव्रजिता । कुमारश्च स अध्यापकश्च स कुमाराध्यापकः । कुमारी अध्यापिका कुमाराध्यापिका । श्रमणा प्रव्रजिता कुलटा गर्भिणी तापसी बन्धकी दासी एते स्त्रीलिङ्गाः । अध्यापक अभिरूपक पट्ट मृदु परिणत कुशल चपल निपुण ।

मयूरव्यंसकादयश्च ॥१३।६६॥ मयूरव्यंसकादयश्च शब्दा गणपाठादेव निपातिताः षसंश भवन्ति । विशिष्टावसावस्य व्यंसः । इवार्थे कः । व्यंसको मयूरो मयूरव्यंसकः । छत्रव्यंसकः । कम्बोजमुण्डः । यवनमुण्डः । एतेषु परनिपातः प्रयोजनम् । “एहीडादयोऽन्यपदार्थे ।” एहीडमिति यत्र कर्मणि एहि यवैरिति एहीडम् । “हियवं वर्तते । एहिवाणिजेति यस्यां क्रियायां सा एहिवाणिजा । प्रेहिवाणिजा । एहिस्वागता । अपेहिस्वागता । एहिद्वितीया । अपेहिद्वितीया । प्रोहकटमस्यां प्रोहकटा । प्रोहकर्दमा । उद्धमचूडा । आहरचेला । आहरवसना । आहरवितता । भिन्धिप्रलवणा । उद्धर उत्सृजेति यस्यां सा उद्धरोत्सृजा । उद्धमविधमा । उद्धरविसृजा । उत्पतनिपता । उत्पचनिपचा । आख्यातमाख्यातेन सिद्धेऽप्यसातत्यार्थं वचनम् । उदक्च अवाक्च उच्चावक्चम् । उच्चैश्च नीचैश्च उच्चनीचम् । आचितञ्चोपचितञ्च आचोपचम् । आचितपरचितस्य आचपराचम् । निश्चितप्रचितस्य निश्चप्रचम् । अकिञ्चनम् । स्नात्वाकालकः । पीत्वास्थिरकः । भुक्त्वासुहितः । प्रोष्यपापीयान् । उन्पत्यपाकला जाता । निपत्यरोहिणी जाता । निषद्यश्यामा जाता । अपेहिप्रधसा वर्तते । इहपञ्चमी । इहद्वितीया । “जहि कर्ण्या बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति ।” जहि जोडमित्याह जहिजोडः । उज्जहिजोडः । जहिस्तम्बः । बहुलमिति किम् ? पचौदनम् । “आख्यातमाख्यातेन सातत्ये ।” अशनीतापिबता वर्तते । पचतभृज्जता । खादतमोदता । खादाचामाः । आहरविषसा । आहरनिष्करा । अविहितलक्षणं सविधानमिह द्रष्टव्यम् । तैन शाकप्रधानः पार्थिवः शाकपार्थिवः । कुतपसौश्रुतः । अजातौल्वलिः । धृतरौढीयाः । ओदनपाणिनीया इत्येवमादि सिद्धम् । चकारोऽवधारणार्थः । परमो मयूरव्यंसकः । वृत्त्यन्तरं न भवति ।

काला मेयैः ॥१३।६७॥ कालावाचिनः शब्दा मेयैः परिच्छेद्यैः सह समस्यन्ते षसो भवति । मेयैरिति सम्बन्धात् काला मानवचना गृह्यन्ते । यद्यपि मुख्यं मानत्वं व्यवहारकालस्य मासादेन सम्भवति तथापि वचनात् परिच्छेदहेतुत्वमात्रं साधर्म्यमुपादायोपचारात् कालः परिमाणम् । मासादयो जातादेः सम्बन्धिनीमादित्यगतिं परिच्छिन्दन्तीति जातस्यापि परिच्छेदहेतव उच्यन्ते । एकाश्रय इति निवृत्तम् । मासो जातस्य मासजातः । संवत्सरजातः । तासापवादोऽयम् । काला इति बहुवचननिर्देशः किमर्थः ? द्वे अहनी जातस्य द्वयहजातः । त्रिपदोऽपि षसो यथा स्यात् । “हृदर्थद्यु समाहारे” [१।३।४६] इत्यवयवषसे “राजाहःसखिभ्यष्टः” [४।२।१३] इति टः । “एभ्योऽहोऽहः” [४।२।१०] इति अह्लादेशः । यदा द्वयोरहोः समाहार इति विग्रहस्तदा “न समाहारे” [४।२।११] इत्यह्लादेशप्रतिषेधः सिद्धः । द्वयहो जातस्य द्वयहजातः । त्रयहजातः ।

नञ् ॥१३।६८॥ नञ् सुपा सह समस्यते षसो भवति । अब्राह्मणः । अधर्मः । असर्वज्ञः । अगौः । नेयं पूर्वपदार्थप्रधाना वृत्तिरलिङ्गात्स्वल्पप्रसङ्गान् । किञ्च पूर्वपदप्रधानो हस उक्तः । अमल्लिकमिति । अन्यपदार्थप्रधान्ये तु अत्रर्षा हेमन्त इत्यत्र प्रादेशादि प्राप्नोति । अस्तुत्तरपदार्थप्रधानेयं वृत्तिः । यद्येवमगामानयेत्युक्तं ऽगोमात्रत्यानयनं स्यात् । अथ स्वयमेव निवृत्तिपदार्थको गोशब्दः स नञा केवलं द्योत्यते । एवं सति न कस्यचिदानयनं स्यात् । नायं दोषः । द्वाविह गोशब्दो प्रवृत्तपदार्थको निवृत्तपदार्थकश्च । सारूप्यात्तयोर्भेदापरिज्ञाने निवृत्तपदार्थकस्य द्योतनार्थं नञः प्रयोगः प्रतिषेधे सत्युत्तरपदार्थसदृशो वृत्त्यर्थो जायते । “नञ्जिवयुक्तमन्यसद्भाधिकरण्ये तथा ह्यर्थगतिः” [परि०] इति वचनात् । अन्यपदार्थे तु परत्वाद्दसो भवति । अशालिको देशः । अकारो नञोऽनित्यत्र विशेषणार्थः । वामनपुत्रादिष्वनादेशो मा भूत् ।

गुणोक्त्येषद् ॥१३।६९॥ उच्यते इत्युक्तिः शब्दः । गुणशब्देन सह ईषच्छब्दः समस्यते षसो भवति । ईषत्कडारः । ईषत्पिङ्गलः । ईषद्विकटः । ईषदुन्नतः । ईषद्रक्तः । ईषत्पीतः । हृदुत्पत्तिः प्रयो-

१. वाखिजा । अपेहिवाणिजा । एहिस्वा-अ०, ब०, स० । २. निषण्णरयामा मु० ।

जनम् । गुणोक्त्येति किम् ? ईषत्कारकः । ईषद्गार्ग्यः । जाल्येकार्थसमवायिक्रियागुणापेक्षया जातेरपि वृद्धिहासौ ।

ता ॥१३१७०॥ तान्तं सुवन्तेन सह षसो भवति । मोक्षमार्गः । स्वर्गसुखम् । राजपुरुषः ।

कृत्ति ॥१३१७१॥ कृत्ययोगे या ता तदन्तं सुपा सह षसो भवति । “न प्रतिपदम्” [१३१७३] इति प्रतिषेधं वक्ष्यति । तस्यायं पुरस्तान्निरासः । इध्मनां व्रश्चनः इध्मव्रश्चनः । पलाशसातनः । अखिलवनः । श्मश्रुकर्तनः । करणे युट् । “कर्तृकर्मणोः कृत्ति” [१३१६८] इति ता ।

याजकादिभिः ॥१३१७२॥ याजकादिभिश्च सह तान्तं समस्यते षसो भवति । पूर्वेण प्रातः तृजकाभ्यां कर्त्तरीति प्रतिषिद्धः पुनरनेन षसः । देवानां याजको देवयाजकः । साधूनां पूजकः साधुपूजकः । याजक पूजक परिचारक परिवेषक स्नापक अध्यापक उद्धर्त्तक उत्सादक होतृ भर्तृ रथगणक पत्तिगणक ।

न प्रतिपदम् ॥१३१७३॥ प्रतिपदं विहिता या ता तदन्तं न समस्यते । शेषलक्षणां तां सुक्त्वा सर्वाऽन्या ता प्रतिपदविधाना । सर्पिषो ज्ञानम् । पयसो ज्ञानम् । “ज्ञो स्वार्थं करणे” [१३१६८] इति ता । इहापि धर्मानुस्मरणम् । धर्मचिन्तनमिति । “स्त्र्यर्थदेशां कर्मणि” [१३१६९] इत्यनेन शेषलक्षणा तान्-द्यते । वनस्वामी । वनेश्वरो विद्यादायाद इत्येवमादिषु “स्वामीश्वरो” [१३१७०] आदि सूत्रे चकारेण शेषलक्षणा ता समुच्चयते ।

निर्धारणे ॥१३१७४॥ निर्धारणे या ता तदन्तं न समस्यते । जप्तिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य निष्कृष्य धारणं पृथक्करणं निर्धारणम् । क्षत्रियो मनुष्याणां शूरतमः । श्यामा नारीणां दर्शनीयतमा । कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा । धावन्तोऽध्वगानां क्षिप्रतमाः । क्षत्रियादिशब्देन सह वृत्तिर्न भवति । “यत्तश्च निर्धारणम्” [१३१७५] इति चकारेण शेषलक्षणायास्तायाः समुच्चयः । प्रतिपदविधानत्वे हि पूर्वेणैव सिद्धः प्रतिषेध इतीदमनर्थकं स्यात् । इह पुरुषेश्वर इति शेषलक्षणा ता विवक्षिता न निर्धारणलक्षणा ।

डङ् गुणतृप्तार्थसत्त्वैकद्रव्यैः ॥१३१७५॥ डदन्त गुणार्थं तृप्तार्थं सत्संज्ञं तव्य एकद्रव्य इत्येतैः सह तान्तं न समस्यते । तस्य पूरणे डडित्यतः प्रभृति तमट्टकारेण डडिति प्रत्याहारः । चक्रधराणां पञ्चमः । तीर्थङ्कराणां षोडशः । बलदेवानां नवमः । समुदायसमुदितसम्बन्धे शेषलक्षणा ता । गुणार्थः—बलाकायाः शौक्त्यम् । काकस्य काष्प्यम् । कण्टकस्य तैक्ष्ण्यम् । गुणगुणिसम्बन्धे ता । “पृङ्गि पररूपम्” [१३१८१] इत्यत्र परस्य रूपं पररूपमिति वृत्तिपदं ज्ञापकं यो गुणद्वारेण पूर्वं द्रव्ये वृत्तो भवत्यन्ते गुणमाह तेन गुणशब्देनेह प्रतिषेधः । यस्तु सर्वदा गुणवचनस्तेन वृत्तिर्भवत्येव । हस्तिरूपम् । कपित्थरसः । चन्दनगन्धः । अग्निस्पर्शः । गुणशब्देनेह लोकप्रसिद्धा रूपरसगन्धस्पर्शा गुणा अभिप्रेताः । ततस्तद्विशेष्यैरयं प्रतिषेधः, तेन यत्नगौरवं सूत्रलाघवं करणपाठवं वचनप्रामाण्यं गोविंशतिरित्येवमादिषु न प्रतिषेधः । वृषलस्य धाष्ट्यमित्यत्र वृत्तेरनभिधानम् । तृप्तार्थः—फलानां तृप्तः । सङ्कानां पूर्णः । फलानां सुहितः । सङ्कानां प्रीतः । “तृप्त्यर्थं तृप्तसंख्यानम्” [वा०] इति ता । सदिति शतृशानयोः संज्ञा । चौरस्य द्विषन् । “कर्तृकर्मणोः कृत्ति” [१३१६८] इति कर्मणि ता प्राप्ता “न क्ति०” [१३१७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धः । “द्विषः शतुर्वा वचनम्” [वा०] इति ता । इह तु शेषलक्षणा ता । देवदत्तस्य कुर्वन् । देवदत्तस्य कुर्वाणः । तव्यः—देवदत्तस्य कर्तव्यम् । जिनदत्तस्य कर्तव्यम् । अत्रापि “व्यस्य वा कर्त्तवि” [१३१७६] इति शेषलक्षणा ता । तव्येन केचिद्विकल्पमिच्छन्ति । देवदत्तकर्तव्यम् । एकं द्रव्यमस्य एकद्रव्यम् । राज्ञः पाटलिपुत्रकस्य । शुकस्य मारविदस्य । आचार्यस्य श्रीदत्तस्य । पूर्वनिपातस्यानियमः प्रसज्येत । विशेषणादिसूत्रे इतिशब्दोऽस्ति तेन नीलस्योत्पलस्य नीलो-

१. पूर्वनिपातस्येत्यादि न भवतीत्यन्तसन्दर्भस्यायमभिप्रायः—

“एक द्रव्ये तासाङ्गीकारे उभयोः पदयोस्तान्तत्वेन वोक्तत्वात्पूर्वनिपातस्यानियमः प्रसज्येत । ननु नीलस्योत्पलस्य नीलोत्पलस्येत्यत्रैकद्रव्यत्वेन तासनिषेधः कुतो न, गुणगुणिभावस्थले एकद्रव्यत्वानङ्गी-

त्यलस्येति । गुणगुणिसम्बन्धे सविधिर्भवति । एकद्रव्येण गुणगुणिविचना नास्तीति विशेषणवृत्तिरपि न भवति । भिन्ना प्रतिषेधो वक्तव्यः । देवदत्तस्य साक्षात् । देवदत्तस्योपरि ।

कर्मणि च ॥११३७६॥ चकारोऽवधारणार्थः । कर्मण्येव या ता विहिता तदन्तं सो न भवति । आश्रयों गवां दोहोऽगोपालकेन । रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन । साधु खलु पयसः पानं जिनदत्तेन । “युट्” [११३१६७] इति नभमावै युट् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [११३१६८] इत्युभयत्र तायां प्राप्तायां “द्विमासौ परे” [११३१६९] इति कर्मण्येव भवति । कर्तरि तु भा । कर्मण्येवेति किम् ? इध्मत्रश्चनः ।

कर्तरि क्तेन ॥११३७७॥ कर्तरीति ताया विशेषणम् । कर्तरि या ता विहिता तदन्तं क्तान्तेन सो न भवति । अस्मिन्नास्यते स्म इदमेषामासितम् । इदमेषां यातम् । इदमेषां भुक्तम् । तयोरेव भावकर्मणोः क्ते प्राप्ते “धिगत्यर्थाच्च” [११३१६८] “अधिकरणे चाद्यर्थाच्च” [११३१६९] इति अधिकरणे क्तः । अधिकरणस्योक्तत्वात् । इदमित्येतस्मादीनास्ति “मित्तैकार्थे वा” [११३१६९] इति वैव भवति । “कर्तृकर्मणोः कृति” [११३१६८] इति ता प्राप्ता ‘न क्तितलोक’ [११३१७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा ‘क्तस्याधिकरणे’ [११३१७०] इत्यनेन एषामिति कर्तरि ता । एवं राज्ञां मतः, राज्ञां बुद्धिः, राज्ञां पूजितः “मतिबुद्धिपूजार्थाच्च” [११३१६९] इत्यनेन वर्तमाने काले क्तो नियम्यते । स चेह कर्मणि कारके विहितः “कर्तृकर्मणोः कृति” [११३१६८] इति कर्तरि ता प्राप्ता “नक्तित्” [११३१७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा भवतीत्यनेन सूत्रेण प्रत्यवस्थाप्यते । अथ यदा सकर्मकस्योऽधिकरणे क्तस्तदा कर्तृकर्मणोरनुक्तत्वात् “क्तस्याधिकरणे” [११३१७०] इत्यनेन या ता कर्तरि तस्याः प्रतिषेधः सिद्धः कर्मणि या ता तस्याः कथं वृत्तिप्रतिषेधः । इदमोदनस्य भुक्तमिति । नैष दोषः । कर्मणि चेति वर्तते तेनेह कर्तरि कर्मणि च ता क्तान्तेन न समस्यते । इह शेषलक्षणं ता । छात्रहसितम् ।

तृजकाभ्यां योगे ॥११३७८॥ कर्तरि या ता तदन्तेन सो न भवति । तृचैव कर्तुं कृत्वात् । तद्योगे कर्तरि ता नास्ति । नृजः कर्तुं कृत्वात् । भवत आसिका । भवतः शायिका । भवतोऽग्रेगामिका । “पर्यायाहृणो-त्पत्तौ वृण्” [११३१६२] इति भावे स्त्रीलिङ्गे वृण् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [११३१६८] इति कर्तरि ता । कर्तरीत्येव । इच्छुमन्त्रिकां मे धारयसि । पूर्ववद्वृण् । अत्रेच्छुशब्दात् कर्मणि ता “कृति” [११३१७१] इति ता सः । म इति सम्प्रदानमेतत् ।

कर्तरि ॥११३७९॥ कर्तरि यौ तृजकौ ताभ्यां सह तान्तं न सो भवति । अपां स्रष्टा । पुरां भेत्ता । वज्र-स्य भर्ता । याजकादिषु पतिपर्यायो भर्तृशब्दः । यवानां लावकः । सङ्कानां पायकः । कर्तरीति शक्यमकर्तुं तृचोऽ-कस्य च कर्तरि विधानात् । नन्वकस्य भावेऽपि विधानमस्ति । सत्यम् । तद्योगे कर्तरि विहितायास्तायाः पूर्वेण वृत्त्यभावः सिद्धः सामर्थ्यादिह कर्तरि विहितस्याकस्य ग्रहणम् । तदेतत्कर्तृग्रहणं शपकं पूर्वप्रतिषेधो नित्यः अयम नित्यस्तेन तीर्थकर्तारमर्हन्तमित्येवमादि सिद्धम् । तुनन्तेन वा “साधनं कृता” [११३१२९] इति सः ।

क्रीडाजीविकयोर्नित्यम् ॥११३८०॥ नेति निवृत्तम् । तृचः क्रीडाजीविकयोरसम्भवानानुवृत्तिः । क्रीडायां जीविकायाञ्च तान्तमकेन सह नित्यं षसो भवति । क्रीडायाञ्च तदन्तं कर्तुं नित्यम् । भावे खुविषये वृण् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [११३१६८] इति कर्मणि ता । जीविकायम्—दन्तलेखकः । नखलेखकः । अबस्कर-सूदकः । क्रीडायां कृतीति विकल्पः प्राप्तः । जीविकायां कर्तरीति प्रतिषेधः प्राप्तः । क्रीडायां आरम्भादेव नित्यत्वं सिद्धं नित्यग्रहणं जीविकार्थमुत्तरार्थञ्च ।

तिक्प्रादयः ॥११३८१॥ तिसंशः कुशब्दः प्रादयश्च समर्थेन नित्यं षसो भवति । ऊरीकृत्य । ऊरी-कृतम् । पटपयकृत्य । प्रादिसाहचर्यात् कुशब्दो भित्तंशो गृह्यते । कुत्सितो ब्राह्मणः कुब्राह्मणः । ईषन्मधुरं काम-

कारात् । ननु भेऽत्र सः विशेषणं विशेष्येनेतिशब्दस्य क्वचिद्व्यञ्जापि विवक्षितस्थले समासार्थत्वेनात्रे-तिशब्दबलेन सः । विशेषणवृत्तिस्तु न गुणगुणिवद्भावे विशेषणवृत्तेरप्यनङ्गीकारात् ।”

धुरम् । “क्रियायोगे नि, ति” [१।२।१३०-१३१] इति प्रादयोऽपि क्रियायोगे तिसंज्ञा अक्रियायोगार्थं प्रादि-
ग्रहणम् । स्वती पूजाथकम् । शोभनः पुरुषः सुपुरुषः । अतिपुरुषः । अतिशयेन स्तुतं सुस्तुतम् । अतिक्रमेण
स्तुतमतिस्तुतम् । दुः पापाद्यर्थे । पापः पुरुषो दुष्पुरुषः । कृच्छ्रेण कृतं दुष्कृतम् । आङ्गीषदाद्यर्थे । ईषत्कडार
आकडारः । क्रियायोगे आबद्धमाभरणम् । प्रादय एवमात्मका यत्र क्रियापदं प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषमाहुः ।
यत्र न प्रयुज्यते तत्र ससाधनां क्रियामाहुरिति । “प्रादयो गताद्यर्थं च वया” [वा०] प्रगत आचार्यः प्राचार्यः ।
वृत्तिविषये प्रशब्दो गतशब्दस्यार्थं ससाधनमभिधत्ते । एवं प्रवृद्धो गुरुः प्रगुरुः । प्रपितामहः । सङ्गतार्थः
समर्थः । “अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे इपा” [वा०] अतिक्रान्तः खट्वामतिखट्वः । उक्रान्तो वेलामुद्वेलः ।
“अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे भया” [वा०] अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिलः । परिणद्धो वीरुद्धिः परिवीरुत् । “पर्या-
दयो ग्लानाद्यर्थे अपा” [वा०] परिग्लानोऽप्ययनाय पर्यध्ययनः । उद्युक्तः संग्रामाय उत्संग्रामः । पर्यादिराकृतिगण
इत्येके । अलं कुमारिः । “निरादयः क्रान्ताद्यर्थे कया” [वा०] निःक्रान्तः कौशाम्या निष्कौशाम्बिः । अप्रगतः
शाखाया अपशाखः । लक्षणादिष्वर्थेष्वनभिधानादवृत्तिः । वृद्धं प्रति विद्योतते ।

वागमिड् ॥१।३।८२॥ वाक्संज्ञममिडन्तं समर्थेन नित्यं षसो भवति । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।
शरलावः । अमिडिति किम् ? एघानाहारको व्रजति । “वुण्णुमौ क्रियायां तदर्थायाम्” [२।३।८] इति वुण् ।
अमिडिति प्रतिषेधवचनं ज्ञापकमनयोयोगशोः “सुप्सुपा” [१।३।३] इति नाभिसंबन्धते । एवञ्च सत्येतल्लब्धम्
“तिवाक्कारकाणां प्राक् सुबुत्पत्तेः कृद्धिः सविधिः” [परि०] इति । इह माषवापिणी । त्रीहिवापिणी स्त्री ।
कृदन्तेन वृत्तौ “मृदन्तनुम्विभक्त्याम्” [५।१।५] इति एत्वं सिद्धम् । अन्यथा सुबुत्पत्तिः स्त्रीत्येन बाध्यते ।
अश्वक्रीती च प्रयोजनम् । यदि सुबुत्पत्तेः प्राक् तिवाक्कारकाणां कृता वृत्तिः । अदःकृत्य तमोपहः राजश्रित इत्यत्र
पूर्वस्य पदकार्यं न स्यात् । “कायाः स्तोकादेः” [३।३।१२१] इत्येवमादि अनुबन्धानं चानर्थकं कचिदेव
डीविधिगत्वादिविषये ज्ञापकात् सिद्धिः ।

भिनाऽमैव ॥१।३।८३॥ पूर्वेण सिद्धे नियमोऽयम् । भिसंज्ञकेनामन्तेनैव वागमिड् षसो भवति । स्वादु-
ङ्कारं भुङ्क्ते । लवणङ्कारं भुङ्क्ते । स्वाद्वर्थेषु वान्तु “स्वादुमि णम्” [२।१।१२] इति णम् भवति । स्वादु-
मीति निर्देशात्प्रसन्नियोगे मान्ता निपात्यते । अमैवेति किम् ? कालो भोक्तुम् । समयो भोक्तुम् ।
“कालसमयवेलासु तुम्बा” [२।३।१४३] इति तुम् । आरम्भादेव नियमः सिद्धः । भिनैवेति विपरी-
तावधारणे व्यावर्त्यं नास्तीत्येवकारः किमर्थः ? अमैव यत् सह निर्दिष्टं वाक्संज्ञं तस्य वृत्तिर्यथा स्यात् । अमा
चान्येन च यत् सह निर्दिष्टं तस्य मा भूत् । अग्रे भोजं गच्छति । अग्रेभुक्त्वा । प्रथमम्भोजम् । पूर्वं भोजम् ।
“वाग्रे प्रथमपूर्वे” [२।१।१०] इति क्त्वाणमौ विहितौ । भिनेति विस्पष्टार्थम् । व्यावर्त्याभावात् ।

वा भादि ॥१।३।८४॥ “उपदंशो भायाम्” [२।१।३३] इत्यतः प्रभृति वाक्संज्ञं भादीत्युच्यते ।
भादीनि वाक्संज्ञानि अमा सह वा समस्यन्ते षसो भवति । मूलकोपदंशं भुङ्क्ते । “उपदंशो भायाम्”
[२।१।३३] इति णम् । पार्श्वोपपीडम् । पार्श्वोपपीडं पार्श्वे उपपीडं शेते । “ईषि चोपपीडरुधकर्षः”
[२।१।३५] इति णम् । अमन्तेनेत्येव । पर्यातो भोक्तुम् । प्रभुर्भोक्तुम् । “पर्यासिचने अलमर्थे” [२।१।५१]
इति तुम् । एवकारो नानुवर्तते तेन भादिषु यदमा सह निर्दिष्टं वाक्संज्ञं यदमा चान्येन च सह निर्दिष्टं तदपि
समस्यते । उच्चैःकारमाचष्टे उच्चैःकारं “क्त्वाविद्योक्तौ कृजः क्त्वाणमौ” [२।१।४४] इति णम् ।

क्त्वा ॥१।३।८५॥ क्त्वान्तेन सह वा भादि समस्यते षसो भवति । उच्चैःकृत्याचष्टे । उच्चैः कृत्वा ।
भादीत्येव । प्रदेशान्तरवाचो वृत्तिर्न भवति । अलं कृत्वा । अग्रे भुक्त्वा ।

अन्यपदार्थेऽनेकं बम् ॥१।३।८६॥ वानिर्दिष्टं सुब्रह्णमनुवर्तते । भानिर्दिष्टं निवृत्तम् । अन्यस्य
पदस्यार्थे वर्तमानमनेकं सुब्रह्मं बसंज्ञकः सो भवति । चित्रगुः । लम्बकर्णः । दर्शनीयरूपः । अन्यग्रहणं किम् ?
स्वपदार्थे बसो मा भूत् । लम्बश्च स कर्णश्च स लम्बकर्णः । पदग्रहणं किम् ? अन्यवाक्यार्थे मा भूत् ।

अर्थग्रहणं किमर्थम् ? यावता शब्दे कार्यस्यासम्भवादर्थे कार्यं विज्ञास्यते । अन्यपदार्थस्य ये लिङ्गसंख्ये ते यथा स्यातामित्येवमर्थम् । बहुयवं कुलम् । बहुयवा भूमिः । बहुयवौ । बहुयवाः । वाविभक्त्यन्ते अन्य-पदार्थे वृत्तिर्न भवत्यनभिधानात् । अनेकग्रहणं बहूनामपि प्रापणार्थम् । सामानाधिकरण्याभावेऽपि बसो भवति । कण्ठेकालः । उरसिलोमा । उच्चैर्मुखो देवदत्तः । अस्तिक्षीरा गौः । भीनामसंख्यत्वादसामाना-धिकरण्यम् । इहाभिधानाभावान्न भवति । पञ्चभिर्मुक्कमस्य । सामानाधिकरण्येऽप्यनभिधानम् । पञ्च भुक्क-वन्तोऽस्य । नपा निर्देशः किमर्थः ? उन्मत्तगङ्गम् । लोहितगङ्गम् । ‘खावन्वपदार्थे’ [१।३।१८] इति हस एव भवति । इह वीरपुरुषको ग्राम इति परत्वाद्वसः षसस्य बाधकः । शस्त्रीश्यामा देवदत्तेत्येवमादिषु ‘यश्चैकाश्रये’ [१।३।१४] इति प्रकृतमस्ति तेन बसस्य बाधः । ‘प्रादयो गताद्यर्थे वया’ [वा०] इत्येवमादि-ज्ञातिक्नचनं प्रमाणम् । तेन निष्कौशाभिरित्येवमादिषु बसो न भवति । ‘ईडुपमानपूर्वस्य घुखं वक्तव्यम्’ [वा०] उदरे स्थितो मणिरस्य उदरेमणिः । ‘बे कृति बहुलम्’ [४।३।१३२] इति ईपोऽनुपु । उण्डूमुखमिव मुखमस्य उण्डूमुखः । उपमानावयवत्वादुण्डूऽप्युपमानम् । इह केशचूडः सुवर्णालङ्कारो देवदत्तः इति केश-सम्भारे केशशब्दः । सुवर्णविकारे सुवर्णशब्दो वर्तते । सङ्गतार्थः समर्थ इति निर्देशादेवजातीयस्य वा युखं द्रष्टव्यम् । प्रपतितपर्णः प्रपर्णः । अविद्यमानभार्यः अभार्यः ।

संख्येये संख्यया भयासन्नादूरसंख्यम् ॥१।३।८७॥ संख्येये या संख्या वर्तते तथा फि आसन्न अदूर इत्येतानि संख्या च बसो भवति । अनन्यार्थार्थे वान्तेऽप्यन्यपदार्थे प्रापणार्थञ्च । समीपे दशानामिमे उपदशाः । उपविंशाः । समीपप्राधान्ये तु हसः । आसन्ना दशानामिमे आसन्नदशाः । आसन्नविंशाः । अदूरदशाः । अदूरचत्वारिंशाः । द्वौ वा त्रयो वा इमे द्वित्राः । त्रयो वा चत्वारो वा इमे त्रिचतुराः । ‘नञ्विसूपत्रिभ्यश्चतुरः’ [४।२।७५] इति अस्थो निपात्यते । त्रिदश इमे त्रिदशाः । वृत्तैवाभ्यावृत्तेरुक्तत्वात् सुचोऽप्रयोगः । संख्यासंज्ञाविधानेऽधिकशब्दस्यापि संख्यात्वमुक्तम् । अधिका दशानामिमेऽधिकदशाः । संख्येय इति किम् ? अधिका विंशतिर्गवाम् । संख्येय इति किम् ? पञ्च पदार्थाः । भयासन्नादूरसंख्यमिति किम् ? पार्थिवाः पञ्च ।

दिशोऽन्तराले ॥१।३।८८॥ दिक्छब्दाः सुवन्ता अन्तरालवचने बसञ्जकः सो भवति । अन्तराल एव यथा स्यादिति नियमार्थ आरम्भः । दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालं दक्षिणपूर्वा । ‘सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पूर्वपदस्य पुं वद्भावः’ [वा०] इति पुं वद्भावः । उत्तरपदस्य ‘स्त्रीगोनीचः’ [१।१।८] इति प्रादेशः । अन्तरालादिशः स्त्रीत्वात् पुनष्टाप् । अनेकमित्यनुवर्तनात् न्यक्संज्ञायां द्वयोः पर्यायेण पूर्वनिपातः । एवं दक्षिण-परा । उत्तरपरा । उत्तरपूर्वा । प्रसिद्धानां दिक्छब्दानां ग्रहणादिह न भवति । वारुण्याश्च कौबेर्याश्च दिशोर-न्तरालम् ।

तत्रेदमिति सरूपे ॥१।३।८९॥ तत्रेति ईबन्ते द्वे सरूपे इदमित्येतस्मिन्नर्थे बसो भवति । इतिकर-णात् ग्रहणविशिष्टे युद्धे विवक्षा । केशेषु केशेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं वृत्तं केशाकेशि । कचाकचि । ‘ज इच्’ [४।२।२८] इति इच् सान्त इजिति तिष्ठद्गवादौ हसंज्ञार्थं पठ्यते । ‘अन्यस्यापि’ [४।३।२३२] इति पूर्वपदस्य दीलम् । अत्र सापेक्षत्वात् पूर्वेण वृत्तिर्न प्राप्नोति । सरूपे इति किम् ? केशेषु च कचेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं वृत्तम् ।

तेन ॥१।३।९०॥ इदमिति सरूपे इति वर्तते । तेनेति भान्ते सरूपे इदमित्येतस्मिन्नर्थे बसो भवति । इतिकरणानुवृत्तेर्यत्तेनेति निर्दिष्टं प्रहरणं चेतद्भवति । दरडैश्च दरडैश्च प्रहृत्येदं युद्धं वृत्तं दरडादण्डि । सुसलामुसलि । सरूपे इत्येव । दरडैश्च कमण्डलुभिश्च प्रहृत्येदं युद्धं वृत्तम् । योगविभाग उत्तरार्थः ।

सहेति तुल्ययोगे ॥१।३।९१॥ तुल्ययोगः समानक्रियादियोगः । तेनेति वर्तते । सह इत्येतत् सुवन्तं तुल्ययोगे वर्तमानं तेनेति भान्तेन सह समस्यते बसो भवति । सह छत्रेण सच्छात्र आगतः । सशिष्यः ।

सपुत्रः । “वा नीचः” [४।३।१६०] इति सहशब्दस्य सादेशः । तुल्ययोग इति किम् ? प्रत्यहं सह शावेन भारं वहति रासमी । विद्यमानताऽत्र सहार्थः । आद्ये नैव सिद्धे हसनिवृत्यर्थं कवभावार्यञ्च वचनम् । इति-शब्दो योगविभागार्थः । तेनातुल्ययोगेऽपि क्वचिद्वसः का च । तेन सकर्मकाच्चरेदो भवति । सपुत्रको वादी ब्रूत इत्यादि सिद्धम् । अत्र हि चरेरेव देन योगो न कर्मणः । तथा वादिन एव च तेन योगो न पक्षस्य ।

चार्थे द्वन्द्वः ॥१।३।६२॥ चकृतोऽर्थश्चार्थः । तस्मिन् वर्तमानमनेकं सुबन्तं द्वन्द्वसंज्ञः सो भवति । चत्वारश्चार्थाः । समुच्चयोऽन्वाचय इतरेतरयोगः समाहारश्चेति । तत्रानियतक्रमयौगपद्यानां द्वयादिवस्तूनामेकत्राप्यारोपः समुच्चयः । यथा “गामश्वं पुरुषं पशुमहरहर्नयमानो वैवश्वतो न तृप्यति, सुरया इव दुर्मदी ।” गुणप्रधानभावमात्रविशिष्टः समुच्चय एवान्वाचयः । यथा भिक्षामट गां चानयेति । इतरेतरयोगसमाहारावपि समुच्चयस्य भेदौ । परस्परं सापेक्षानामवयवभेदानुगत इतरेतरयोगः । अनपेक्षिता अवयवभेदाः संहतिप्रधानाः समाहाराः । आद्ययोश्चमन्तरेणापि क्वचित् प्रयोगात् । असामर्थ्याच्च नास्ति सविधिः । इतरेतरयोगे । प्लक्ष-न्यग्रोधौ छायां कुरुतः । समाहारे प्लक्षन्यग्रोधं सिध्यति । वाक्त्वचम् । वाग्दृषदम् । छत्रोपानहम् । इह द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशद्दशितैत्येवमादिषु समाहारेऽपि लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वादिति नपुंसकत्वाभावः । द्वन्द्व-प्रदेशः “द्वन्द्वञ्चुदहषो रार्थे” [४।२।१०८] इत्येवमादयः ।

वोक्तं न्यक् ॥१।३।६३॥ सलक्षणसूत्रेषु वानिर्दिष्टं न्यक्संज्ञं भवति । तस्य प्रयोजनं पूर्वमित्यनेन पूर्वनिपातः । अधिस्त्रि । अधिक्कुमारि । भौति वोक्तम् । कष्टश्रितः । इविति वोक्तम् । शङ्कुलाखण्डः । भेति वोक्तम् । एवं सर्वत्र बोद्धव्यम् । वसेऽनेकं सुबन्तं तस्य पूर्वनिपातनियमसुत्तरत्र वक्ष्यति । इह राज्ञः पुरुषं श्रित इति यत् प्रति यदप्रधानं तत् प्रति तन्न्यक्संज्ञं भवति । कथमयं विभागो लभ्यते । न्यगितीय-मन्वर्थसंज्ञा । नीचैरञ्चतीति न्यगप्रधानमित्यर्थः ।

एकविभक्ति ॥१।३।६४॥ विभक्तिशब्दः पूर्वाचार्येणो निर्दिष्टः एका विभक्तिर्यस्य तन्न्यक्संज्ञं भवति । निष्कौशाभिः । निर्मथुरः । “परम्” [१।३।६५] इत्यनेन परनिपातार्थमेतत् । प्रादेशस्तु “स्त्रीगो-नीचः” [१।१।६] इत्यत्र अन्वर्थस्य नीचः समाश्रयणात् सिद्धः ।

परम् ॥१।३।६५॥ एकविभक्ति न्यक्संज्ञं परं प्रयोक्तव्यम् । पूर्वमित्यनेन पूर्वनिपाते प्राप्तेऽपवादः । इह धर्मं श्रितः । धर्मं श्रितेन धर्मश्रिताय इत्येवमादिषु “वोक्तम्” [४।३।१६०] इत्यनेनैव न्यक्संज्ञा भव-त्यनवकाशत्वात्तस्तदाश्रयः पूर्वनिपातः ।

राजदन्तादौ ॥१।३।६६॥ राजदन्तादिषु न्यक् परं प्रयोक्तव्यम् । उत्तरसूत्रैः प्राप्तस्य पूर्वनिपातस्या-पवादोऽयम् । दन्तानां राजा राजदन्तः । वनस्याग्रे अग्रेवणम् । गणपाठादनुप् । लिप्तवासितं नग्नमुषितम् अवक्लिन्नपक्वं सिक्कसंमृष्टं भृङ्गुञ्चितम् अर्पितोप्तम् उतगाढमेतेषु पूर्वकालस्य परनिपातः । उत्तुल्लन्सलं तन्दुलकिण्वम् । आरग्वायनिबन्धकी । चित्ररथबाह्लीकम् । अवन्त्यश्मकम् । शूद्रायम् । स्नातकराजानौ । विश्वक्सेनार्जुनौ । अक्षि भ्रुवम् । दारगवम् । शब्दार्यौ । धर्मार्थौ । कामार्थौ । अक्षु व्यत्ययोऽपि । अर्थशब्दौ । अर्थधर्मौ । अर्थकामौ । वैयाकरणमतम् । भोजवाजौ । गोपालधानीप्लासम् । पूलास-करण्डम् । उशीरबीजम् । सिञ्जस्थम् । शिञ्जाली । चित्रास्वाती । भार्यापती । जायापती । जम्पती । दम्पती । जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च निपात्यते । पुत्रपती । पुत्रपशू । केशश्मश्रुः । शिरोबिन्दु । सर्पिर्मधुनी । मधुसर्पिणी । आद्यन्तौ । अन्तादी । गुणवृद्धी । वृद्धिगुणौ ।

पूर्वम् ॥१।३।६७॥ न्यगिति वर्तते । न्यक्संज्ञं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । वाक्यवद् वृत्तावनियमो मा भूदि-त्यारम्भः । उक्तान्युदाहरणानि । यत्र द्वे अपि तान्ते राज्ञः पुरुषस्येति तत्र कस्य न्यक्त्वं न्यगित्यन्वर्थसंज्ञा-श्रयणाद्राजशब्दस्य ।

द्वन्द्वे सुः ॥१३।६८॥ द्वन्द्वे से स्वन्तं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । मुनिगुप्तौ । यदुगुप्तौ । अनेकप्राप्तावनियां मुनिपटुगुप्ताः । पटुमुनिगुप्ताः । पटुगुप्तमुनयः । न्यगित्यन्वर्थसंज्ञा । द्वन्द्वे च न कस्यचिदप्राधान्यमित्यप्र पूर्वनिपात इदं सूत्रम् ।

अजाद्यत् ॥१३।६९॥ अजादि अदन्तं शब्दरूपं द्वन्द्वे से पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । इन्द्रचन्द्रौ । उग्रखरः उग्रशशम् । इह इन्द्राग्नी । इन्द्रवायू इति सुलक्षणात् परत्वाद्नेन पूर्वनिपातः । उभयत्र वायोः प्रतिषेध इ आनङ् न भवति । बहुष्वनियमेन इभरथाश्चम् । अश्वरथेभम् । तपरकरणं किम् ? वृक्षाश्चे । अश्वचतौ ।

अल्पाचूत्रम् ॥१३।१००॥ अल्पाचूत्रं शब्दरूपं द्वन्द्वे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । धवखदिरौ । धवाश्च र्णम् । “बहुष्वनियमः” [वा०] । शीरानुन्दुनिन्नाः । शङ्खदुन्दुभिबीणाः । “ऋतुनक्षत्राणां समानाक्षराणामानुपूर्व्येण वक्तव्यम्” [वा०] । शिशिरवसन्तौ । हेमन्तशिशिरवसन्ताः । अश्विनीभरणयः । कृत्तिकारोहियः समानाक्षराणामिति किम् ? ग्रीष्मवसन्तौ । “द्वयक्षरस्य पूर्वनिपातो वक्तव्यः” [वा०] । कुशाकाशम् । तृष काष्ठम् । “वर्णानामानुपूर्व्येण” [वा०] । ब्राह्मणान्त्रियविट्शूद्राः । “आतुरश्च ज्यायसः” [वा०] युधिष्ठिराजुनौ । “संख्याया अल्पीयसो वाचिकायाः” [वा०] द्वित्राः । एकादश । नवतिशतम् । “अभ्यर्हितश्च” [वा०] । मातापितरौ । श्रद्धामेधे । दीक्षातपसी ।

ईन्विशेषणो वे ॥१३।१०१॥ ईवन्तं विशेषणं च बसे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । बसे अनेकं सुवन्तं न्यसंभित्यनियमे प्राप्तेऽयमारम्भः । कण्ठेकालः । उरसिलोमा । उदरेमणिः । वहेगडुः । “अकामेऽमूर्धमस्कात् स्वाङ्गम्” [४।३।१३१] इत्यनुप् । चित्रगुः । लम्बकर्णः । “सर्वनामसंख्ययोः पूर्वनिपातो वक्तव्यः” [वा०] । सर्वं श्वेतमस्य सर्वं श्वेतः । सर्वगौरः । द्विशुक्लः । द्विकृष्णः । सर्वनामसंख्ययोः परस्परं वृत्तिः । वास संख्यायाः परत्वात् पूर्वनिपातः । द्वयन्यः । त्र्यन्यः । “वा प्रियस्य” [वा०] । प्रियदधिः । दधिप्रियः । कथं गृह्णः । गडुशिराः । आहिताग्न्यादिषु द्रष्टव्यः ।

तः ॥१३।१०२॥ तान्तं बसे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । कृतकटः । भिक्षितभिक्षः । अवमुक्तोपानक्तः । तान्त्र विशेषणत्वेनाविवक्षितत्वात् पूर्वेण न सिध्यति । कथं क्वचिजातिकालसुखादिभ्यश्च तान्तस्य परप्रयोगः (जातः) सारङ्गजम्भी । पलाण्डुभक्षिती । कालात्-मासजाता । संवत्सरजाता । सुखादिभ्यश्च-सुखं जातं यस्याः सुखजाता । दुःखजाता । वाऽहिताग्न्यादिषु व्यवस्थयेदं भविष्यति । प्रहरणार्थेभ्यः परे वेपौ वक्तव्ये । उद्यतोऽसिरने अस्युद्यतः । मुसलोद्यतः । असिः पाणावस्य आसपाणिः । दण्डपाणिः । कथमुद्यतगदः । उद्यतासिः । इदमा वेति सिंहावलोकनात् ।

वाऽऽहिताग्न्यादौ ॥१३।१०३॥ आहिताग्न्यादिषु बसे तान्तं वा पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । आहिताग्निः अग्न्याहितः । एवं जातपुत्रः । जातदन्तः । जातश्मश्रुः । तैलपीतः । घृतपीतः । मद्यपीतः । ऊढभार्यः । अर्थगतः आकृतिगणोऽयम् । तेनेष्टयो न वक्तव्याः ।

ये कडाराः ॥१३।१०४॥ ये कडारादयो वा पूर्वं प्रयोक्तव्याः । कडारश्च स भद्रश्च स कडारभद्रः भद्रकडारः । विशेषणस्य “बोक्तं न्यक्” [१।३।६३] पूर्वनिपातः प्रातो विभाष्यते । कडार गडुल कूट काश खड्ग कुण्ट खोड खलति गौर वृक्ष भिक्षुक पिङ्गल तनु नट बधिर ।

उत्तरपदं च ॥१३।१०५॥ से यदुत्तरपदं तद्व्युत्संज्ञं भवति । पञ्चगवधनः । द्यौ परतः “इत्” (श्रुं) च समाहारे” [१।३।४६] इति पूर्वस्य (स) संज्ञायां टः सान्तः सिद्धः । एवं द्वे अहनी जातस्य द्वयङ्जातः “काळा मेधैः” इति समुदायस्य षसंज्ञा द्यौ परतः पूर्वस्यापि षसंज्ञायां टः सान्तः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पदः समाप्तः ।

अनुक्ते ॥११४१॥ अनुक्ते इत्ययमधिकारः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्याम अनुक्ते इत्येवं तद्वेदितव्यम् । स्वार्थद्रव्यलिङ्गानि त्रिको मृदर्थ इति अस्मिन् दर्शने स्वार्थिकाष्टावादयोः संख्याकर्मादयो विभक्त्यर्थाः । एवं च “कर्मणीप्” [११४२] इत्येवमादीनां “साधने स्वार्थे” [१२११२३] इत्येतस्य च गुणप्रधानभावनैक्यता । स्वार्थैकत्वादिविशिष्टेषु कर्मादिष्वनुक्तेष्विवाद्यो भवन्ति । अथवा अत्र कर्मादिष्वनुक्तेष्विवाद्यो भवन्ति । इह परिसंख्यानमिति केचित् । मिड्कृद्भृतैरनुक्ते कर्मादाविति । वक्ष्यति “कर्मणीप्” [११४२] । कटं करोति । आदनं भुङ्क्ते । अनुक्ते इति किम् ? क्रियते कटः । मिडोक्तं कर्म । कृतः कटः । कृतोक्तं कर्म । श्राद्धिको देवदत्तः । “आद्धं मुक्तं ठोऽनेन” [४१११८] इति ठः । हृतोक्तः कर्ता । शतेन क्रीतः । “शतादस्वार्थेऽसे ठयौ” [३१४१८] इति यः । हृतोक्तं करणमिति । कर्तरि करणे च भा न भवति । प्राप्तमुदकं यं ग्रामं स प्रातोदको ग्रामः । सेन कर्माक्तम् । मिड्कृद्भृतैरिति परिसंख्यानं किम् ? कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयम् । अत्र कटशब्दादुत्पद्यमानया इपा उक्ते कर्मणि भीष्मादिभ्य इम्न स्यात् । तदेतत्परिगणननयुक्तम् । कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपि न ह्यसौ कटमात्रे सन्तोषं करोतीत्यनेकं कर्म गृह्यते । समुदायस्य चामृत्त्वात् प्रत्यव्यवाहिकमभक्त्युत्पत्तिः । इह आसने आस्ते शयने शेते इति अन्यो ह्यधिकरणप्रत्ययः सामान्येन युटाऽभिहितो अन्यश्च विशेषरूपेण विभक्त्योच्यते इति न दोषः ।

कर्मणीप् ॥११४२॥ कर्मणि कारके अनुक्ते इव विभक्तिर्भवति । कटं करोति । ग्रामं गच्छति । आदित्यं पश्यति । अविशेषेण व्यामृदः स्वादयो वक्ष्यन्ते । तन्नियमोऽयं कर्मादिष्वेव इवाद्यो भवन्ति । इवाद्यो नियताः । कर्मादयस्त्वनियताः । तेषु ताऽपि प्राप्नोति । तत इदमुच्यते “ता शेषे” [११४१६७] इति शेषे ता भवति^१ नोक्ते कर्मादौ ।

अन्तरान्तरेण योगे ॥११४३॥ अन्तरेण अन्तरान्तरेण शब्दौ निसंज्ञौ ताभ्यां योगे इविविभक्तीर्भवति । अन्तरा गन्धमादनं मात्स्यवन्तञ्च^१ कुरवः । कुरुविशेषणत्वेन तायां प्राप्तायामिद्विधीयते । कुरुशब्दार्थे वर्तमानात् मृदुर्थातिरेकाभावात् इम्न भवति । अन्तराशब्दो मध्यमाधेयप्रधानं ब्रूते । अन्तरेणशब्दः तच्च विनार्थं च । अन्तरेण सौमनसं विद्युत्प्रभञ्च देवकुरवः । मोक्षमन्तरेण नात्यन्तिकं सुखम् । निसंज्ञयोर्ग्रहणादिह न भवति । अन्तरायां पुरि वसति । किं ते धात्रवापां सालङ्कायनानां चान्तरेण गतेन । योग इति किम् ? अन्तरा तद्दशिलाञ्च पाटलिपुत्रञ्च सुधनस्य प्राकारः । ननु पदविधिरयं अन्तराशब्दे सामर्थ्यात् सुधनशब्दादिभ्यं भविष्यति योगग्रहणमनर्थकम् । क्वचिदन्यैरपि योगे यथा स्यादित्येवमर्थम् । “अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेषुपसंख्यानम्” [वा०] अभितो ग्रामम् । परितो ग्रामम् । समयो ग्रामम् । निकषा ग्रामम् । हा देवदत्तम् । वृष्णीष भद्रे प्रतिभाति चेत्त्वम् । बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् । “उभसर्वतसोः कार्यो भिगुपर्यादिषु त्रिषु । कृतद्वित्वेष्विषा योगस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते” [वा०] उभयतो ग्रामम् । सर्वतो ग्रामम् । भिग्देवदत्तम् । उपर्यादिष्विति सूत्रोपलक्षणम् । सामीप्येऽधोऽध्युपरि [“उपर्यध्यधसः सामीप्ये”] [२१३५] इति द्वित्वे कृते त्रयाणां ग्रहणम् । अधोऽधो ग्रामम् । उपर्युपरि ग्रामम् । अभ्यधि ग्रामम् । “अन्यत्राऽपि दृश्यते” [वा०] विना धर्मं कृतः सुखम् । अपि शब्दान्न च दृश्यते । हा तात हा पुत्र वत्सल ।

कालाध्वन्यविच्छेदे ॥११४४॥ अविच्छेदोऽत्यन्तसंयोगः । द्रव्यगुणक्रियाभिः काल्पर्येण कालाध्वनोः सम्बन्ध इत्यर्थः । कालाध्वनोरविच्छेदे वर्तमानयोः सतोरिव भवति । अन्यस्याश्रुतत्वात् कालाध्ववाचिन्यामेवाधिकरणविवक्षायामीपि प्राप्तायां तदविवक्षायां सम्बन्धलक्षणायां तायां प्राप्तायामयं विधिः । कालस्य द्रव्येण योगे—मासं गुडापूपाः । संवत्सरं क्षीरोदनम् । गुणेन—शरदं मथुरा रमणीया । मासं कल्याणी काञ्ची । क्रियया—मासमधीते । संवत्सरमधीते । अध्वनो द्रव्येण योगे—क्रोशं सिकताः । योजनं वनराजिः । गुणेन—

१. कर्मत्वेन विवक्षायाम् नेत्यर्थः । २. अन्तरा कुरवः सु० । ३. दिम्न भवति ब०, स० ।

द्वन्द्वे सुः ॥११३।६८॥ द्वन्द्वे से स्वन्तं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । मुनिगुप्तौ । यदुगुप्तौ । अनेकप्राप्तावनियमेन मुनिपदगुप्ताः । ऋमुनिगुप्ताः । ऋमुनिगुप्तः । न्यगित्यन्वर्थसंज्ञा । द्वन्द्वे च न कस्यचिदप्राधान्यमित्यप्राप्ते पूर्वनिपात इदं सूत्रम् ।

अजाद्यत् ॥११३।६९॥ अजादि अदन्तं शब्दरूपं द्वन्द्वे से पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । इन्द्रचन्द्रौ । उग्रखरम् । उग्रशशम् । इह इन्द्राग्नी । इन्द्रवायु इति सुलक्षणात् परत्वाद्नेन पूर्वनिपातः । उभयत्र वायोः प्रतिषेध इति आनङ् न भवति । बहुष्वनियमेन इभरथाश्चम् । अश्वरथेभम् । तपरकरणं किम् ? वृक्षाश्चे । अश्ववृक्षा ।

अल्पाचूत्रम् ॥११३।१००॥ अल्पाचूत्रं शब्दरूपं द्वन्द्वे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । धवखदिरौ । धवाश्वकर्णम् । “बहुष्वनियमः” [बा०] । वीणादुन्दुभिश्चाः । शङ्खदुन्दुभिर्वीणाः । “ऋतुनक्षत्राणां समानाक्षराणामानुपूर्व्येण वक्तव्यम्” [वा०] । शिशिरवसन्तौ । हेमन्तशिशिरवसन्ताः । अश्विनीभरण्यः । कृत्तिकारोहिरण्यः । समानाक्षराणामिति किम् ? ओष्मवसन्तौ । “द्वयक्षरस्य पूर्वनिपातो वक्तव्यः” [वा०] । कुशकाशम् । तृणकाष्ठम् । “वर्णानामानुपूर्व्येण” [वा०] । ब्राह्मणक्षत्रियविद्विशूद्राः । “आतुरश्च ज्यायसः” [वा०] युधिष्ठिराजुनौ । “संख्याया अल्पीयसो वाचिकायाः” [वा०] द्वित्राः । एकादश । नवतिशतम् । “अभ्यर्हितस्य च” [वा०] । मातापितरौ । श्रद्धामेधे । दीक्षातपसी ।

ईन्विशेषणे वे ॥११३।१०१॥ ईवन्तं विशेषणं च बसे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । बसे अनेकं सुवन्तं न्यक्तसंज्ञमित्यनियमे प्राप्तेऽयमारम्भः । कण्ठेकालः । उरसिलोमा । उदरेमणिः । वहेगडुः । “अकामेऽमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गम्” [४।३।१३१] इत्यनुप् । चित्रगुः । लम्बकर्णः । “सर्वनामसंख्ययोः पूर्वनिपातो वक्तव्यः” [वा०] । सर्वं श्वेतमस्य सर्वंश्वेतः । सर्वगौरः । द्विशुकलः । द्विकृष्णः । सर्वनामसंख्ययोः परस्परं वृत्तिः । वाक्ये संख्यायाः परत्वात् पूर्वनिपातः । द्वयन्यः । त्रयन्यः । “वा प्रियस्व” [वा०] । प्रियदधिः । दधिप्रियः । कथं गडुकण्ठः । गडुशिराः । आहिताग्न्यादिषु द्रष्टव्यः ।

तः ॥११३।१०२॥ तान्तं बसे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । कृतकटः । भिक्षितभिक्षः । अवमुक्तोपानक्तः । तान्तस्य विशेषणत्वेनाविवक्षितत्वात् पूर्वेण न सिध्यति । कथं क्वचिजातिकालसुखादिभ्यश्च तान्तस्य परप्रयोगः (जातः) । सारङ्गजग्धी । पलाण्डुभक्षिती । कालात्-मासजाना । संवत्सरजाता । सुखादिभ्यश्च-सुखं जातं यस्याः सुखजाता । दुःखजाता । वाऽहिताग्न्यादिषु व्यवस्थयेदं भविष्यति । प्रहरणार्थेभ्यः परे वैपौ वक्तव्ये । उद्यतोऽसिरनेन अस्युद्यतः । मुसलोद्यतः । असिः पाणावस्य आसपाणिः । दण्डपाणिः । कथमुद्यतगदः । उद्यतासिः । इदमपि वेति सिंहावलोकनात् ।

वाऽऽहिताग्न्यादौ ॥११३।१०३॥ आहिताग्न्यादिषु बसे तान्तं वा पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । आहिताग्निः । अग्न्याहितः । एवं जातपुत्रः । जातदन्तः । जातश्मश्रुः । तैलपातः । घृतपीतः । मद्यपीतः । ऊढभार्यः । अर्थगतः । आकृतिगणोऽयम् । तैनेष्टयो न वक्तव्याः ।

ये कडाराः ॥११३।१०४॥ ये कडारादयो वा पूर्वं प्रयोक्तव्याः । कडारश्च स भद्रश्च स कडारभद्रः । भद्रकडारः । विशेषणस्य “चोक्तं न्यक्” [१।३।६३] पूर्वनिपातः प्राप्ते विभाष्यते । कडार गडुल कूट काण खञ्ज कुण्ट खोड खलति गौर वृत् भिक्षुक पिङ्गल तनु नट बधिर ।

उत्तरपदं घृ ॥११३।१०५॥ से यदुत्तरपदं तद्घृसंज्ञं भवति । पञ्चगवधनः । द्यौ परतः “द्वर्थे (थं) घृसमाहारे” [१।३।४६] इति पूर्वस्य (स) संज्ञायां टः सान्तः सिद्धः । एवं द्वे अहनी जातस्य द्वयहजातः । “काळा मेयैः” इति समुदायस्य षसंज्ञा द्यौ परतः पूर्वस्यापि षसंज्ञायां टः सान्तः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पदः समाप्तः ।

अनुक्ते ॥११४१॥ अनुक्त इत्ययमधिकारः । यदित् कर्मानुष्ठापना अनुक्त इत्येवं तद्वेदितव्यम् । स्वार्थद्रव्यलिङ्गानि त्रिको मृदर्थ इति अस्मिन् दर्शने स्वार्थिकाष्टात्रादयो संख्याकर्मादयो विभक्त्यर्थाः । एवं च “कर्मणीप्” [११४१२] इत्येवमादीनां “साधने स्वार्थे” [११२।१२३] इत्येतस्य च गुणप्रधानभावेनैक्यता । स्वार्थैकत्वादिविशिष्टेषु कर्मादिष्वनुक्तेष्विवाद्यो भवन्ति । अथवा अनुक्तकर्माद्याश्रयेष्वेकत्वादिविवाद्यो भवन्ति । इह परिसंख्यानमिति केचित् । मिडकृद्भृत्सैरनुक्ते कर्मादाविति । वक्ष्यति “कर्मणीप्” [११४१२] । कटं करोति । ओदनं भुङ्क्ते । अनुक्ते इति किम् ? क्रियते कटः । मिडोक्तं कर्म । कृतः कटः । कृतोक्तं कर्म । आदिको देवदत्तः । “आद्धं सुक्तं ठोऽनेन” [४।१।१८] इति ठः । हृतोक्तः कर्ता । शतेन क्रीतः । “शतादस्वार्थेऽसे ठयौ” [३।४।१८] इति यः । हृतोक्तं करणमिति । कर्तरि करणे च भा न भवति । प्राप्तमुदकं यं ग्रामं स प्राप्तोदको ग्रामः । सेन कर्मोक्तम् । मिडकृद्भृत्सैरिति परिसंख्यानं किम् ? कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयम् । अत्र कटशब्दादुत्पद्यमानया इपा उक्ते कर्मणि भीष्मादिभ्य इम्न स्यात् । तदेतत्परिगणनमनुक्तम् । कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपि न ह्यसौ कटमात्रे सन्तोषं करोतीत्यनेकं कर्म गृह्यते । समुदायस्य चामृत्वात् प्रत्यवर्थाद्विभक्त्युत्पत्तिः । इह आसने आस्ते शयने शेते इति अन्यो ह्यधिकरणप्रत्ययः सामान्येन युटाऽभिहितो अन्यश्च विशेषरूपेण विभक्त्योच्यते इति न दोषः ।

कर्मणीप् ॥११४२॥ कर्मणि कारके अनुक्ते इव् विभक्तिर्भवति । कटं करोति । ग्रामं गच्छति । आदित्यं पश्यति । अविशेषेण व्यामृदः स्वादयो वक्ष्यन्ते । तन्नियमोऽयं कर्मादिष्वेव इवाद्यो भवन्ति । इवाद्यो नियताः । कर्मादयस्त्वनियताः । तेषु ताऽपि प्राप्नोति । तत इदमुच्यते “ता शेषे” [११४।२७] इति शेषे ता भवति^१ नोक्ते कर्मादौ ।

अन्तरान्तरेण योगे ॥११४३॥ प्रतिपदोक्तत्वादिहान्तरान्तरेणशब्दौ निःसंज्ञौ ताम्यां योगे इद्विभक्तीर्भवति । अन्तरा गन्धमादनं माल्यवन्तञ्च^२ कुरवः । कुरुद्विशेषणत्वेन तायां प्राप्तायामिद्विधीयते । कुरुशब्दार्थे वर्तमानात् मृदर्थान्तिरेकाभावात् इम्न भवति । अन्तराशब्दो मध्यमाधेयप्रधानं ब्रूते । अन्तरेणशब्दः तच्च विनार्थं च । अन्तरेण सौमनसं विद्युत्प्रभञ्च देवकुरवः । मोक्षमन्तरेण नात्यन्तिकं सुखम् । निःसंज्ञयोर्ग्रहणादिह न भवति । अन्तरायां पुरि वसति । किं ते धात्रवाणां सालङ्कायनानां चान्तरेण गतेन । योग इति किम् ? अन्तरा तद्वाशिलाञ्च पाटलिपुत्रञ्च खुध्नस्य प्राकारः । ननु पदविधिरयं अन्तराशब्दे सामर्थ्यात् खुध्नशब्दादिम्न^३ भविष्यति योगग्रहणामनर्थकम् । क्वचिदन्यैरपि योगे यथा स्यादित्येवमर्थम् । “अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेषूपसंख्यानम्” [वा०] अभितो ग्रामम् । परितो ग्रामम् । समयो ग्रामम् । निकषा ग्रामम् । हा देवदत्तम् । वृणीष्व भद्रे प्रतिभाति चेत्त्वम् । बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् । “उभसर्वतसोः कार्यो धिगुपर्यादिषु त्रिषु । कृतद्वित्वेष्विवा योऽस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते” [वा०] उभयतो ग्रामम् । सर्वतो ग्रामम् । धिग्देवदत्तम् । उपर्यादिष्विति सूत्रोपलक्षणम् । सामीप्येऽधोऽधुपरि [“उपर्यध्यधसः सामीप्ये”] [१।३।५] इति द्वित्वे कृते त्रयाणां ग्रहणम् । अधोऽधो ग्रामम् । उपर्युपरि ग्रामम् । अभ्यधि ग्रामम् । “अन्यत्राऽपि दृश्यते” [वा०] विना धर्मं कुतः सुखम् । अपि शब्दान् च दृश्यते । हा तात हा पुत्र वत्सल ।

कालाध्वन्यविच्छेदे ॥ १।४।४ ॥ अविच्छेदोऽत्यन्तसंयोगः । द्रव्यगुणक्रियाभिः कात्स्न्येन कालाध्वनोः सम्बन्ध इत्यर्थः । कालाध्वनोरविच्छेदे वर्तमानयोः सतोरिव भवति । अन्यस्याश्रुतत्वात् कालाध्ववाचिभ्यामेवाधिकरणविवक्षायामीपि प्राप्तायां तदविवक्षायां सम्बन्धलक्षणायां तायां प्राप्तायामयं विधिः । कालस्य द्रव्येण योगे—मासं गुडापूपाः । संवत्सरं क्षीरोदनम् । गुणेन—शरदं मथुरा रमणीया । मासं कल्याणी काञ्ची । क्रियया—मासमधीते । संवत्सरमधीते । अध्वनो द्रव्येण योगे—क्रोशं सिकताः । योजनं वनराजिः । गुणेन—

१. कर्मत्वेन विवक्षार्या नैत्यर्थः । २.—चान्तरा कुरवः सु० । ३.—द्विन्न भवति ब०, स० ।

क्रोशं कुटिला नदी । योजनं दीर्घः पर्वतः । क्रियया—क्रोशमधीते । योजनमधीते । अविच्छेद इति किम् ? मासस्य द्विरधीते । क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः ।

सिद्धौ भा ॥११४५॥ अविच्छेद इति वर्तते । सिद्धिः क्रियाफलनिष्पत्तिः । अविच्छेदे यौ काला-
ध्वानौ तद्वाचिभ्यां भा भवति सिद्धौ गम्यमानायाम् । मासेन प्राभृतमधीतम् । योजनेन प्राभृतमधीतम् ।
सिद्धाविति किम् ? मासमधीतं प्राभृतं न चानेनावधारितम् । नात्र क्रियाफलनिष्पत्तिरस्ति पूर्वेण इवेव भवति ।

क्रियामध्ये केपौ ॥११४६॥ कालाध्वनीति वर्तते । क्रिययोर्मध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्यां केपौ विभक्तयौ
भवतः । अद्य भुक्त्वा मुनिद्वयं हान्द्रोक्ता द्वयहे भोक्ता । इहस्योऽयमिष्वासः क्रोशाद् विध्यति क्रोशे विध्यति
लक्ष्यम् । चापाच्छरस्य निर्गमनं धानुष्कावस्थानं वा एका क्रिया द्वितीया व्यधनक्रिया तयोर्मध्ये क्रोशशब्दात्ता
प्राता ।

सुः पूजायां न गिति ॥११४७॥ सुशब्दः पूजायामर्थे गिसंज्ञितसंज्ञश्च न भवति । सुस्थितं भवता ।
सुसिद्धं भवता । गिसंज्ञाश्रयं षत्वं न भवति । तिसंज्ञाप्रतिषेधे यद्यपि तिसंज्ञाश्रयः सविधिर्न भवति, तथापि
प्रादिलक्षणे भविष्यति । स्वती पूजायामिति वचनात् । सुसिच्य गतः । तस्मादुत्तरार्थं तिसंज्ञाप्रतिषेधवचनम् ।
पूजायामिति किम् ? सुषिक्तं किं तवाऽत्र ।

अतिक्रमे चातिः ॥११४८॥ अतिक्रम आधिक्यम् । अतिक्रमे पूजायाञ्चातिशब्दो गितिसंज्ञो न
भवति । अतिसिक्तमेव भवता । अतिन्तननेन भवता । गितिसंज्ञाश्रयः प्रादिलक्षणश्च सविधिर्न भवति ।
अतिसिक्तवैव गतः । पूजायाम्—अतिसिक्तमतिस्तुतं भवता । स्वती पूजायामिति प्रादिलक्षणः सविधिः ।
अतिसिच्य गतः । “प्यस्तिवाक्से क्वः” [१११३१] इत्यत्र तिग्रहणमुपलक्षणं प्रादिसेऽपि प्यादेशः ।

पदार्थसंभावनाऽनुज्ञागर्हासमुच्चयेऽपिः ॥११४९॥ अप्रयुज्यमानस्य पदस्यार्थः पदार्थः ।
संभावनं सामर्थ्याविष्करणम् । अनुज्ञा अभ्युपगमः । गर्हा निन्दा । एकत्रानेकस्य नियोजन समुच्चयः ।
एतेष्वर्थेष्वपिर्गितिसंज्ञो न भवति । पदार्थे—सर्पिषोऽपि स्यात् । पयसोऽपि स्यात् । बिन्दुः स्तोत्रं मात्रा चेत्य-
स्यार्थोऽपिशब्दः । सम्बन्धे च ता । संभावने—अपि सिञ्चेन्मूलकसहस्रम् । अपि स्तुयाद्राजानम् । अनुज्ञायाम्—
अपि सिञ्च । अपि स्तुहि । अतिसर्गे लोट् । गर्हायाम्—धिग् ब्राह्मणमपि सिञ्चेत्पलायडुम् । अपि स्तुयाद्ब्रह्मम् ।
“अनवकलप्यमर्षे” [२।३।१२१] इति लिङ् । समुच्चये—अपि सिञ्च । अपि स्तुहि । सिञ्च च स्तुहि चेत्यर्थः ।
गितिसंज्ञाश्रयं षत्वादिकार्यं न भवति ।

अधिपरी अनर्थकौ ॥११४१०॥ अनर्थकावनर्थान्तरवाचिनौ । अधि परि इत्येतौ अनर्थकौ गिति-
संज्ञौ न भवतः । कुतोऽध्यागतः । कुतः पर्यागतः । गितिसंज्ञाश्रयं सविधानं न भवति । “प्राग्धोस्ते”
[१।२।१४१] इति प्रयोगनियमश्च न भवति । इह च पर्यायान्तमिति शत्वं न भवति ।

वीप्सेत्थम्भूतलक्षणेऽभिनेप् ॥११४११॥ न गितिरिति वर्तते योग इति च । वीप्सा इत्यम्भूत
लक्षण इत्येतैष्वर्थेषु अभिना योगे इव्विभक्ती भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । वीप्सायाम्—वृद्धं वृद्धमभि-
सिञ्चति । इत्यम्भूते—साधुर्देवदत्तो मातरमभिस्थितः । इत्यम्भावोऽभिना गम्यते । लक्षणे—वृद्धमभिःसिञ्चति ।
वृद्धमभिविद्योतते । गितिसंज्ञाप्रतिषेधात् षत्वं “प्राग्धोस्ते” [१।२।१४१] इति नियमश्च न भवति ।

भागे चानुप्रतिपरिणा ॥११४१२॥ भागोऽर्थे वीप्सेत्थम्भूतलक्षणेऽनु प्रति परि इत्येतैर्योगे
इव् भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । भागोऽत्रांशः । यदत्र मामनुस्यात् मां प्रति स्यात् मां परि स्यात् तद्वीथ-
ताम् । वीप्सायाम्—वृद्धं वृद्धम् अनुसिञ्चति प्रतिसिञ्चति परिसिञ्चति । इत्यम्भूते—साधुर्देवदत्तः मातरम-

१. सु ब०, सु० । २. चाति अ०, स० । ३. येऽपि स० । ४. पर्यायान्तमिति अ०, ब०, स० ।
५. वृद्धमभिसिञ्चति अ०, ब०, स० ।

नुस्थितः मातरं प्रति मातरं परि । लक्षणे—वृद्धमनुसिञ्चति प्रतिसिञ्चति परिसिञ्चति । वृद्धं प्रति विद्यो-
तते । एतेष्विति किम् ? ओदनं परिषिञ्चति । अनुप्रतिपरिणेति किम् ? यदत्र मामभिष्यात् । अभेर्भागे
गितिसंज्ञा भवत्येव सगित्वात् सकर्मकत्वं कर्मणीप् प्लवं च भवति ।

हेतावनुना ॥१४१३॥ हेतावर्थे अनुना योगे इब्विभङ्गी भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । जिनस्य
ज्ञानोत्पत्तिमन्वागमन्सुराः । सुराणामागमनस्य जिनज्ञानोत्पत्तिर्हेतुः । एवं शान्तिचरितपट्टकप्रसारणमनु प्राव-
र्षत् पर्जन्यः । यदपि इत्थम्भूते लक्षणे वार्थेऽनुना योगे सिद्धैवेप् तथापि येन नाप्राप्तन्यायेन शेषलक्षणाया-
स्तायाः सोऽपवादः । हेत्वर्थे तु परत्वाद्वा प्रसज्येत तद्वाधनार्थमिदम् ।

भार्थे ॥१४१४॥ भार्थः सहशब्दस्यार्थः । भार्थेऽनुना योगे इव् भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च ।
नदीमन्ववसिता सेना । नदीमन्ववसिता नगरी । नद्या सह सम्बद्धेत्यर्थः । एवं पर्वतमन्व-
वसिता सेना ।

हीने ॥१४१५॥ अनुनेति वर्तते । हीनार्थे द्योत्ये अनुना योगे इव् भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च ।
उत्कृष्टापेक्षया हीनो भवतीति सामर्थ्यादुत्कृष्टादिप् । अनु शालिभद्रमाढ्याः । अनु समन्तभद्रं तार्किकाः ।

उपेन ॥१४१६॥ हीनार्थे उपेन योगे इव् भवति न गितिसंज्ञा च । उपसिंहनन्दिनं कवयः । उप-
सिद्धसेनं वैयाकरणाः ।

ईबधिके ॥१४१७॥ ईब्विभङ्गी भवति अधिकार्थे द्योत्ये उपेन योगे । उप खार्यां द्रोणः । उप-
निष्के कार्षापणम् । यस्मादधिकं मृदर्थान्तिरेकात्तत ईप् ।

ईश्वरेऽधिना ॥ १४१८ ॥ ईश्वरशब्द ईश्वरेशितव्यसंबन्धमुपलक्षयति । ईश्वरे द्योत्ये अधिना
योगे ईब्विभङ्गी भवति न गितिसंज्ञा च । उत्तरसूत्राद्वेति विभाषाऽवलोकते । तत ईश्वरादीशितव्याच्च
पर्यायेणेप् । अधि मेघेश्वरे कुरवः । अधि कुरुषु मेघेश्वरः । इह विभक्त्यर्थे हसः कस्मान्न भवति विभ-
ङ्गीशब्देन तत्र कारकं गृह्यते । ईश्वरेशितव्यसंबन्धश्चात्र न तु कारकम् ।

वा कृञधिः ॥१४१९॥ ईश्वर इति वर्तते । अधिशब्दः करोतौ वा गितिसंज्ञो भवति ।
तमधिकृत्य तमधिकृत्वा । ईश्वरं कृत्वेत्यर्थः । अत्र कर्मणीप् । पुनरधिग्रहणं गितिसंज्ञाप्रतिषेधार्थमेव
न त्वीवर्थम् ।

काऽङ्ग मर्यादावचने ॥१४२०॥ काविभङ्गी भवति आङ्ग योगे मर्यादावचने गितिसंज्ञाप्रति-
षेधश्च । आ पाठलिपुत्रात् वृष्टो देवः । आ मथुरायाः । मर्यादायामिति सिद्धे वचनग्रहणमभिविधिसंग्रहा-
र्थम् । आ कुमारभ्यो यशः समन्तभद्रस्य । मर्यादावचन इति किम् ? ईषदर्थे क्रियायोगे च मा भूत् ।
आकडारः । आबद्धमाभरणम् ।

वर्जनेऽपपरिभ्याम् ॥१४२१॥ विवक्षितेनासंबन्धो वर्जनम् । वर्जनेऽर्थे अप परि इत्येताभ्यां
योगे काविभङ्गी भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । अप त्रिगतैभ्यो वृष्टो देवः । “परेवर्जने” [१३।४] इति वा
द्वित्वम् । परि परि त्रिगतैभ्यः । वर्जन इति किम् ? ओदनं परिषिञ्चति ।

यतः प्रतिदाप्रतिनिधौ प्रतिना ॥१४२२॥ प्रतिदानं प्रतिदा प्रतिनिधीयत इति प्रतिनिधिः
मुख्यस्य संदृशः । प्रतिना योगे यतः प्रतिदा यतश्च प्रतिनिधिस्ततः काविभङ्गी भवति न गितिसंज्ञा च ।
प्रतिदायाम्—माषानस्मै तिलेभ्यः प्रतियच्छति । तिलान् गृहीत्वा माषान् ददातीत्यर्थं । एवं सर्पिषोऽस्मै
तैलं प्रतिसिञ्चति । सर्पिषोऽस्मै तैलं प्रतिसिञ्चत्वा व्रजति—प्रतिनिधौ अर्ककीर्तिर्भरततः प्रति । अभयकुमारः
श्रेणिकतः प्रति । प्रतियोगे “कायास्तसिः [स्तस्]” [४।१।७३] इति तसिः ।

संप्रदानेऽपि ॥१४२३॥ संप्रदाने कारके अन्विभक्ती भवति । त्रिपुष्टाय स्वयंप्रभामदात् । क्रियायाऽपि कर्मभूतया यदाप्यते तदपि संप्रदानमुक्तम् । देवदत्ताय रोचते । पत्ये शेते । श्वभ्यो वर्षति । भिक्षु-केभ्यो वर्षति । तदर्थेन सविधिवचनं ज्ञापकं तादर्थ्येऽव् भवतीति । रथाय दारु । रन्धनाय स्थाली । अवहननायोलूखलम् ।

ध्वर्थवाचः कर्मणि स्थानिनः ॥१४२४॥ ध्वर्थः क्रिया । ध्वर्थो वागस्य स ध्वर्थवाक् । तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य धोः कर्मणि कारके अन्विभक्ती भवति । यत्र यस्यार्थः प्रयोगमन्तरेण प्रतीयते स तत्र स्थानी । एधेभ्यो व्रजति । अत्र आहत्तुमित्येतत्तुमन्तं पदं स्थानि । तदेव च ध्वर्थवाक् । कर्मणीपोऽपवादोऽयम् । तादर्थ्येन सिद्धमिति चेत् स्थानिनो यथा स्यात् प्रयुज्यमानस्य मा भूत् इत्येवमर्थमिदम् । ध्वर्थवाच इति किम् ? प्रविश पिण्डीम् । प्रविश तर्पणम् । अस्यत्र भक्तय सिञ्चति च स्थानी न तु ध्वर्थ-वाक् । कर्मणीति किम् ? एधेभ्यो व्रजति शकटेन । स्थानिन इति किम् ? एधानाहर्तुं व्रजति ।

तुमर्थाद्भावे ॥१४२५॥ तुमा समानाऽर्थस्तुमर्थः । तुमर्थो भावे वर्तमानो यस्त्यस्तदन्तान्मृदोऽव् भवति । “बुण्णुमौ क्रियायां तदर्थ्यायम्” [२।३।८] इति वर्तमाने भावे “भाववाचिनः” [२।३।९] इति वक्ष्यति तेषां घञादीनामिह ग्रहणम् । पाकाय व्रजति । मतये व्रजति । पुष्टये व्रजति । अत्र तदर्थ्यां क्रियायां त्यस्य विधानात् तादर्थ्यं तेनैवोक्तमिति तादर्थ्यं अब् न प्राप्नोति । तुमर्थादिति किम् ? पाकः । त्यागः । भाव इति किम् ? कारको व्रजति ।

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंबषड्योगे ॥१४२६॥ नमस् स्वस्ति स्वाहा स्वधा अलं वषट् इत्ये-तैर्योगे अन्विभक्ती भवति । नमो देवेभ्यः । स्वस्ति प्रजाभ्यः । आशीर्विवक्षायां कुशलाथैर्योगे ताऽपौ प्राप्ते ताभ्यां पूर्वनिर्णयेनायमेव नित्यो विधिः । स्वस्त्यस्तु गोभ्यः । स्वस्ति प्रजाभ्यो भूयात् । स्वाहा इन्द्राय । स्वाहा अग्नये । स्वधा पितृभ्यः । अलं मल्लो मल्लाय । अलमिति पर्याप्त्यर्थानां ग्रहणम् । “तस्मै प्रभवति” [३।४।६५] इति निर्देशात् । प्रभुर्मल्लो मल्लाय । समर्थो मल्लो मल्लाय । अन्यत्राऽपि कस्मान्न भवतीति ? कन्यामलङ्कृते । अलं रोदनेन । “वाग्विभक्तेः कारकविभक्ती बलीयसी” इति कर्मणीप् । करणे च भा भवति । वषडग्नये । वषडिन्द्राय । योगग्रहणं किम् ? नमो जिनानामायतनेभ्यः । ननु इत्याम्मुदः स्वादयो विहिताः । तदन्तविषयोऽयं नियमः पदविधिः । ततोऽसामर्थ्यादेव जिनशब्दान्न भविष्यति योगग्रहणमनर्थ-कम् । अन्यैरपि योगे यथा स्यात् इत्येवमर्थम् । “हितशब्दयोगे उपसंख्यानम्” [वा०] अरोचकिने हितम् । “क्लृप्प्यर्थधुप्रयोगोऽवकन्या” [वा०] मूत्राय प्रकल्पते यवागूः । मूत्राय संपद्यते । मूत्राय जायते । भिन्न-विकारापत्तौ चेदं वक्तव्यम् । अभेदे मूत्रं संपद्यते यवागूरिति वैव भवति । विकारग्रहणं किम् ? देवदत्तस्य संपद्यते यवागूः । मूत्रं संपद्यते यवाग्वाः । “उत्पातेन ज्ञाप्यमानेऽवकन्या” [वा०] ।

“वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी ।

पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्मिच्छाय भवेत्सिता ॥”

तेनैतत् सर्वं लब्धम् ।

प्रकृष्यगर्हे मन्यकर्मण्यजीवे वा ॥१४२७॥ प्रकृष्यगर्होऽतिशयतिरस्कारः । प्रकृष्यगर्हे गभ्ये मन्यतेः कर्मणि जीववर्जिते वा अन्विभक्ती भवति । न त्वा तृषां मन्ये । न त्वा तृषाय मन्ये । न त्वा बुसं मन्ये । न त्वा बुसाय मन्ये । प्रकृष्येति किम् ? काष्ठं त्वां मन्ये । लोष्ठं त्वां मन्ये । न त्वा नावं मन्ये । यावत्तीर्णं नाव्यम् । न त्वा अन्नं मन्ये । यावद् भुङ्क्ते श्राद्धम् । गर्ह इति किम् ? इन्द्रनीलात् पद्मरागम-

धिकगुणं मन्ये । प्रशंसेयम् । उभयग्रहणं किम् ? अश्मानं दृषदं मन्ये । स्वरूपकथनमेतत् । मन्यग्रहणं किम् ? न त्वा तृणं चिन्तयामि । विकरणनिर्देशः किम् ? न त्वा तृणं मन्ये । अजीव इति किम् ? न त्वा श्वानं मन्ये । न त्वा श्रुगालं मन्ये । अगर्हवाचित्वाद् युष्मदस्मदादेरब्बिभङ्गी न भवति ।

संज्ञो भा ॥११४२८॥ कर्मणीति वर्तते । संपूर्वस्य ज्ञानातेः कर्मणि भा भवति । मात्रा संजानीते । मातरं संजानीते । पित्रा संजानीते । पितरं संजानीते । “संप्रतेरस्मृतौ” [११२।४२] इति दः । वेति व्यवस्थित-विभाषाऽनुवर्तते । तेन दविषये भाविकल्पः । स्मृत्यर्थे मविधिः । तत्र मातुः संजानाति । मातरं संजानाति । “स्त्रदर्थदयेर्शा कर्मणि” [११४।२६] इत्यत्र ताविकल्पं वक्ष्यति । कृत्प्रयोगे परत्वात् “कर्तृकर्मणोः कृति” [११४।६८] इति तैव भवति । मातुः संज्ञाता ।

कर्तृकरणे भा ॥११४।२९॥ कर्त्तरि करणे च कारके भाविभङ्गी भवति । देवदत्तेन भुक्तम् । जिन-दत्तेन भुक्तम् । करणे—दात्रेण लुनाति । भेति वर्तमाने पुनर्भाग्रहणं किम् ? प्रकृत्यादिभ्यो यथा स्यात् । प्रकृत्याऽभिरूपः । प्रकृत्या दर्शनीयः । प्रायेण वैयाकरणः । काश्यपोऽस्ति गोत्रेण । समेन धावति । विषमेण धावति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति । पञ्चकेन पशून् क्रीणाति । सहस्रेण अश्वान् क्रीणाति ।

सहार्थेन ॥११४।३०॥ योग इति मयङ्कण्लुत्याऽनुवर्तते । सहशब्दार्थेन योगे भाविभङ्गी भवति । प्रधानस्य मृदार्थातिरेकाभावादप्रधाने भवति । पुत्रेण सहागतः । पुत्रेण सह पिङ्गलः । पुत्रेण सह धनवान् । अत्र प्रधानाप्रधानयोः क्रियागुणद्रव्यसम्बन्धे सति सहयोगः । अर्थग्रहणं किम् ? पुत्रेण सार्द्धमागतः । पुत्रेण समम् । पुत्रेण साकम् । पुत्रेणामा । “तस्य द्रोणस्य संप्रामः सारणेन गदेन च । युगपत् कोपकामाभ्यां मनीषिष्य इवाभवत्” । विनाऽपि सहशब्देन तदर्थसंप्रत्ययमात्रे च भवति । “अन्त्येनेताऽदिः” [१११।७३] अन्त्येन सह आदिरित्यर्थः । योग इत्येव । शिष्येण सहोपाध्यायस्य गौः । पुत्रेण सह स्थूलो ग्रामे । उपाध्याय-शब्दस्य ग्रामशब्दस्य च नास्ति सहशब्देन योगः ।

येनाङ्गिचिकारेत्थम्भावौ ॥११४।३१॥ अङ्गिचिकारः शरीरविकृतत्वम् । अनेन प्रकारेण भवनमित्थंभावः । कचिदेव छात्रादौ प्रकारे वृत्तिरित्यर्थः । येनाङ्गिनो विकार इत्थम्भावश्च लक्ष्यते ततो भाविभङ्गी भवति । अक्षया काणः । पाणिना कुणिः । पादेन खञ्जः । इत्थम्भावेऽपि—भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत् । चूलया परित्राजकमद्राक्षीत् । सहार्थेनेत्यस्याविवक्षायामिदं द्रष्टव्यम् । अङ्गिचिकारेत्थम्भावाविति किम् ? अङ्गि काणमस्य । वृद्धं प्रति विद्योतते ।

हेतौ ॥११४।३२॥ हेतावित्यर्थनिर्देशः । हेतावर्थे भा [च] भवति तद्वाचिनः । अन्नेन वसति । धनेन कुलम् । विद्यया यशः । इह लौकिकफलसाधनयोग्यः पदार्थो हेतुर्गृह्यते । “तद्योजको हेतुः” [११२।१२६] इत्यस्य पारिभाषिकस्य प्रयोगे सिद्धैव भा । उत्तरसूत्रे लविशेषेण हेतोर्ग्रहणं द्रष्टव्यम् ।

कर्णेऽकर्त्तरि ॥११४।३३॥ हेताविति वर्तते । कर्तृवर्जिते ऋणे हेतौ काविभङ्गी भवति । भापवा-दोऽयम् । शताद्धः । सहस्राद्धः । उत्तमर्णोऽत्र कर्ता । अकर्त्तरीति किम् ? बद्धस्त्वया देवदत्तः । नाऽहं बन्धामि । शतं मे धारयति । शतैन बद्धः । बन्धितस्त्वया देवदत्तः । नाऽहं बन्धयामि । शतं मे धारयति । शतैन बन्धितः । कथं देवदत्तेन शतेन बन्धितः । एकस्य हेतुकर्तृत्वमपरस्य प्रयोज्यकर्तृत्वमित्यं दोषः । केति योगविभागः । तेन हेतौ काऽपि भवति । कृतकत्वादित्यः । अनुपलब्धेर्नास्तीति ।

गुरो श्रीदत्तस्याऽस्त्रियाम् ॥११४।३४॥ हेताविति वर्तते । अस्त्रीलिङ्गे गुरो हेतौ श्रीदत्तस्याच्चार्यस्य मतेन काविभङ्गी भवति । अन्येषां मतेन हेताविति भा । जाब्ध्याद्धः । जाब्धेन बद्धः । पारिख्यात्यान्मुक्तः ।

१. त्वां मु० । २. त्वां मु० । ३. कृतम् अ०, ब०, स० । ४. -मन्यस्य अ०, ब०, स० । ५. “-मिति न दोषः” अ० स० ।

पारिख्यात्वेन मुक्तः । गुण इति किम् ? धनेन कुलम् । अस्त्रियामिति किम् ? बुद्ध्या मुक्तः ।

ता हेतौ ॥१।४।३५॥ हेताविति शब्दनिर्देशोऽयं हेत्वर्थस्य तु प्रकृतत्वात् । हेतुशब्दे प्रयुक्ते हेत्वर्था ता भवति । अन्नस्य हेतोर्वसति । अध्ययनस्य हेतोर्वसति । भिक्षाया हेतोर्वसति । हेतुशब्दोऽपि हेत्वर्थे वर्तते । तस्मादपि ता । सामानाधिकरण्याद्वा ।

सर्वनाम्नो भा च ॥१।४।३६॥ हेतुशब्दे प्रयुक्ते सर्वनाम्नो भाविभक्ती ता च । केन हेतुना वसति । कस्य हेतोर्वसति । येन हेतुना वसति । यस्य हेतोर्वसति । पूर्वेण तायामेव प्राप्तायामयमारम्भः । अथवा चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन निमित्तकारणप्रयोजनहेतुषु प्रयुक्तेषु सर्वासां प्रायो दर्शनमित्येतल्लब्धम् । किं निमित्तं वसति । केन निमित्तेन वसति । कस्मै निमित्ताय वसति । कस्मान्निमित्तात् । कस्य निमित्तस्य । कस्मिन्निमित्ते वसति । एवं कारणप्रयोजनहेतुपूदाहार्यम् । प्रायोग्रहणादिभ्यः भवति ।

काऽपादाने ॥१।४।३७॥ अपादाने कारके काविभक्ती भवति । ग्रामादागच्छति । आचार्यादधीते । रथात् पतितः । केति योगविभागादन्यत्राऽपि भवतीति । तेनेदं बहु वक्तव्यं न भवति । “प्यस्त्रे कर्मणि का-वक्तव्या” [वा०] प्रासादमाह्वयं प्रेक्षते । प्रासादात् प्रेक्षते । “अधिकरणे प्यस्त्रे का वक्तव्या” [वा०] आसने उपविश्य प्रेक्षते । आसनात् प्रेक्षते । शयनात् प्रेक्षते । “प्रशनाख्यानयोश्च वा वक्तव्या” [वा०] किं देवदत्तो व्याकरणान् कथयति ? आख्याने—व्याकरणात् कथयति । “यतश्चाध्वकालपरिच्छेदस्ततः का वक्तव्या” [वा०] गवेधुमतः साङ्गस्थं चत्वारि योजनानि । कार्तिक्या आग्रहायणी मासे । “कायुक्तात् पराध्वनो वा वेप च वक्तव्ये” [वा०] गवेधुमतः साकाश्यं चत्वारि योजनानि, चतुर्षु योजनेषु ।

दिक्छब्दाऽन्याऽरादितरत्तैश्चुध्वाहियुक्ते ॥१।४।३८॥ दिक्छब्द अन्य आरात् इतर ऋते अञ्चु यु आ आहि इत्येतैर्युक्ते काविभक्ती भवति । दिक्छब्द—इयमस्याः पूर्वा । इयमस्या उत्तरा । शब्दग्रहणं किम् ? दिशि दृष्टो यः शब्दो देशकालवृत्तिनाऽपि तेन योगे यथा स्यात् । पूर्वो ग्रामात् । उत्तरो ग्रामात् । पूर्वो ग्रीष्माद्भवन्तः । अन्यदित्यर्थं दृश्यं । अन्यो देवदत्तात् । व्यतिरिक्तो देवदत्तात् । भिन्नो देवदत्तात् । अर्थान्तरं देवदत्तात् जिनदत्तः । देवदत्ते मृदार्थातिरेकात् तायां प्राप्तायां का विधीयते । आराच्चशब्दो भिसंज्ञको दूरेऽन्तिके च वर्तते तद्योगे “दूरान्तिकाथैस्ता च [१।४।४२] इति अस्मिन् प्राप्ते काविधिः । आराद् गृहात् क्षेत्रम् । आरादेव-दत्तात् पीठम् । इतरो निर्दिश्यमानप्रतियोग्यर्थः । इतरो देवदत्तात् । ऋते इति भिसंज्ञं पदम् । ऋते धर्मात् कुतः सुखम् । अञ्चुद्यु । प्राग्ग्रामात् । प्राची दिग्मरणीया । इत्येवमाद्यर्थे आगतस्य अस्तातः “अन्चेरुप्” [१।४।३९] इत्युप् । अस्य दिक्छब्दत्वेऽपि “ताऽतसर्थे ल्येन” [१।४।३९] इति ता प्राप्ता तदपवादोऽयम् । आ दक्षिणा ग्रामात् । उत्तरा ग्रामात् । आहि । दक्षिणाहि ग्रामात् । उत्तराहि ग्रामात् । अस्तादर्थे “दक्षिणादा [१।४।१००] ‘आहि च दूरे’ [१।४।१०१] “उत्तराच्च” [१।४।१०२] इति आत्रास्त्यौ । अत्रापि “ताऽतसर्थे ल्येन [१।४।३९] इति ता प्राप्ता । “अवयवयोगे प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] पूर्वाञ्छात्राणामामन्त्रयस्व ।

ताऽतसर्थे ल्येन ॥१।४।३९॥ वक्ष्यति दक्षिणोत्तराभ्यामतन् । तत्समानार्थेन ल्येन युक्ते ता विभक्ती भवति । दक्षिणतो ग्रामस्य । उत्तरतो ग्रामस्य । उपरि ग्रामस्य । उपरिष्ठाद् ग्रामस्य । उपर्युपरिष्ठात्पश्चादिति अतसर्थे निपातितौ । पुरो ग्रामस्य । पुरस्ताद् ग्रामस्य । “पूर्वावराधराणां पुरवधोऽसि” [१।४।१०३] “अस्ताति” [१।४।१०४] इति च पुरादेशः ।

१. “गवेधुमतः” इत्यारभ्य “गवेधुमतः” इत्यतः पूर्वम् अ० पुस्तके नास्ति । २. पूर्वं ग्रामात् अ० । ३. उत्तरे ग्रामात् अ० ।

इबेनेन ॥१४४०॥ इब्विभङ्गी भवति एनेन योगे । दक्षिणेन विजयार्धं वसति । “दक्षिणोत्तरा धरादात्” [४१।१६] इत्यधिकृत्य । “दैनोऽदूरेऽकायाः” [४१।१६] इति अस्तादर्थे एन इत्ययं त्यः । पूर्वसूत्रे नेति योगविभागादनेन योगे तापि भवति इति केचित् । दक्षिणेन ग्रामस्य । उत्तरेण ग्रामस्य ।

पृथग्विनानानाभिर्भा वा ॥ १४४१ ॥ पृथग्विना नाना इत्येतैर्युक्ते वा भाविभङ्गी भवति । पृथग्देवदत्तेन । पृथग्देवदत्तात् । विना देवदत्तेन । विना देवदत्तात् । नाना देवदत्तेन । नाना देवदत्तात् । पक्षे अन्यार्थत्वात् कापि भवति । अथ पृथगादयोऽसहायार्थं वर्तन्ते नान्यार्थे । एवं तर्ह्यधिकारात् का एष्टव्या । त्रयाणां ग्रहणं पर्यायनिवृत्त्यर्थम् । हिन्दुदेवदत्तस्य । “करणे स्तोकात्पङ्क्त्युक्तिपथेभ्योऽसस्ववचनेभ्यो भाके वक्तव्ये” [वा०] स्तोकेन मुक्तः । स्तोकान्मुक्तः । अल्पेन मुक्तः । अल्पान्मुक्तः । कुच्छ्रेण मुक्तः । कुच्छ्रान्मुक्तः । कतिपयेन मुक्तः । कनिनयान्मुक्तः । असस्ववचनेभ्य इति किम् ? स्तोकेन विपेण हतः । नेदं वक्तव्यम् । विवक्षातः कारकाणि भवन्ति इत्युभयं सिद्धम् । “क्रियाविशेषणविवक्षार्था भाके न भवतः” [वा०] स्तोके चलति । अल्पं जल्पति ।

दूरान्तिकार्थैस्ता च ॥१४४२॥ केति वर्तते । दूरार्थैरन्तिकार्थैश्च युक्ते ताविभङ्गी भवति का च । दूरं ग्रामस्य । दूरं ग्रामात् । विप्रकृष्टं ग्रामस्य । विप्रकृष्टेन ग्रामात् । अन्तिकं ग्रामस्य । अन्तिकं ग्रामात् । अभ्यासं ग्रामस्य । अभ्यासं ग्रामात् ।

तेभ्य इप् च ॥१४४३॥ तेभ्यो दूरान्तिकार्थेभ्य इब्विभङ्गी भवति का च । दूरं ग्रामस्य । दूराद् ग्रामस्य । विप्रकृष्टं ग्रामस्य । विप्रकृष्टाद् ग्रामस्य । अन्तिकं ग्रामस्य । अन्तिकाद् ग्रामस्य । समीपं ग्रामस्य । समीपाद् ग्रामस्य । काऽनुवर्तनादेव सिद्धा । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन भापि भवति । दूरेण ग्रामस्य । अन्तिकेन ग्रामस्य । असस्ववचनेभ्य इति वक्तव्यम् । इह मा भूत् । दूरात् पथ आगतः । दूरस्य पथः शम्बलम् । अन्तिका ग्रामाः । यत्रसस्ववचनेभ्य इत्युच्यते इब्विधानमनर्थकम् । लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात् । नपुंसके सोरम्भावेन सिद्धम् । इदं प्रयोजनं “सपूर्वाया वायाः” [५।३।२३] इत्येष विकल्पो मा भूत् । ग्रामो दूरं त्वा पश्यति । ग्रामो दूरं मा पश्यति ।

ईवधिकरणे च ॥१४४४॥ ईब्विभङ्गी भवति अधिकरणे कारके दूरान्तिकार्थेभ्यश्च । कटे आस्ते । शयने शेते । दूरान्तिकार्थेभ्यः । दूरे ग्रामस्य । विप्रकृष्टे ग्रामस्य । अन्तिके ग्रामस्य । समीपे ग्रामस्य । “क्तस्येन्विषयस्य कर्मणीव् वक्तव्या” [वा०] अधीती व्याकरणे । अधीतमनेन व्याकरणमित्यस्मिन्नर्थे “इष्टादेः” [४।१।२२] इतीन् । एवमाग्नाती छन्दसि । परिगणिते ज्योतिषि । “निमित्तात् कर्मसंयोगो ईव् वक्तव्या” [वा०] “चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोहन्ति कुञ्जरम् । केशेषु चमरी हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ॥” नेदं बहु वक्तव्यम् । ईविति योगविभागात् सिद्धम् ।

यद्भावाद्भावागतिः ॥१४४५॥ भावः क्रिया । ईविति वर्तते । यस्य भावाद्भावान्तरगतिर्भवति तत्र ईव् भवति । गोषु दुह्यमानासु गतः । दुग्धास्वागतः । अत्र प्रसिद्धेन गोदोहनभावेन गमनक्रिया लक्ष्यते । एवं देवार्चनायां क्रियमाण्यां गतः । कृतायामागतः । इदं द्रष्टव्याऽन्तरेण गतः पक्षेष्वागतः । सामर्थ्याज्जातेष्विति प्रतीयते । यद्भावादिति किम् ? यो जटाभिः स भुङ्क्ते । जटा द्रव्यम् । पुनर्भावग्रहणं किम् ? यो मुक्तवान् स देवदत्तः ।

ता चाऽनादरे ॥१४४६॥ अनादरोऽवज्ञा । यद्भावाद् भावान्तरगतिर्भवति तत्र ताविभङ्गी भवति ईप् चानादरे गम्यमाने । देवदत्तस्य क्रोशतः प्रावाजीत् । देवदत्ते क्रोशति प्रावाजीत् । रुदतः प्रावाजीत् । रुदति प्रावाजीत् । अत्रावज्ञानेन क्रोशनेन प्रव्रजनभावो लक्ष्यते ।

स्वामीश्वराधिपतिदायादसान्निप्रतिभूप्रसूतैश्च ॥११४७॥ स्वामिन् ईश्वर अधिपति दायाद सान्नि प्रतिभू प्रसूत इत्येत्युक्ते तेषौ विभक्त्यौ भवतः । गवां स्वामी । गोषु स्वामी । गवामीश्वरः । गोष्वीश्वरः । गवामधिपतिः । गोष्वधिपतिः । दायमादत्ते दायादः । “अ्रे” [१२।४] इति नियमादचस्मिन् गाव-प्राप्ते के अत एव निपातनात् कः । गवां दायादः । गोषु दायादः । गवां सान्नी । गोषु सान्नी । गवां प्रतिभूः । गोषु प्रतिभूः । गवां प्रसूतः । गोषु प्रसूतः । चकारः किमर्थः ? तेषोरनुवर्तनार्थः । अन्यथा पूर्वत्र चानुकृष्टाया ईपोऽनुवृत्तिर्न स्यात् । उत्तरसूत्रयोरपि चकारस्येदमेव फलम् । प्रसूतयोगे ईवेव प्राप्ता इतरैर्योगे ता प्राप्ता ।

कुशलायुक्तेन चासेवायाम् ॥११४८॥ आसेवा मुहुर्मुहुः सेवा तात्पर्यं च^१ । कुशल आयुक्त इत्येताभ्यां युक्ते आसेवायां गम्यमानायां तेषौ विभक्त्यौ भवतः । कुशलो विद्याग्रहणस्य । कुशलो विद्याग्रहणे । आयुक्तन्तश्चरणस्य आयुक्तस्तपश्चरणे । आसेवायामिति किम् ? आयुक्तो गौः शकटे । आकृष्य युक्त इत्यर्थः । अधिकरणलक्षणेयमीप् ।

यतश्च निर्धारणम् ॥११४९॥ जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम् । यतश्च निर्धारणं ततस्तेषौ विभक्त्यौ भवतः । मनुष्याणां क्षत्रियः शूद्रतमः । मनुष्येषु क्षत्रियः शूद्रतमः । नारीणां श्यामा दर्शनीयतमा । नारीषु श्यामा दर्शनीयतमा । अध्वगानां धावन्तः शीघ्रतमाः । अध्वगेषु धावन्तः शीघ्रतमाः । प्रपञ्चार्थमिदं समुदाये अवयवोऽन्तर्भूतः । अभिदन्ति विद्वान्नीन् सिद्धा अवयव-सम्बन्धविवक्षायां तापि सिद्धा अत एवापादाने कापि भवति । गोभ्यः कृष्णा निर्धार्यते इति ।

विभक्ते का ॥११५०॥ यतश्च निर्धारणमिति वर्तते । भिन्नजातीयात् समुदायाद्गणादिना पृथक्करणं विभक्त्यनिर्धारणं तत्र का विभक्ती भवति । पूर्वेषु तेषोः प्रातयोरयमपवादः । माधुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्य-तराः । दर्शनीयतराः । अयमस्मादधिकः । अयमस्माद्विलक्षणः । इदमपि प्रपञ्चार्थम् । पाटलिपुत्रकाणामव-धिभावेन बुद्धिं प्राप्तानामपादानत्वमस्ति ।

साधुनिपुणेनाचार्यामीबप्रतेः ॥११५१॥ साधु निपुण इत्येताभ्यां युक्ते अर्चायां गम्यमानायामी-विभक्ती भवति प्रतिशब्दस्याप्रयोगे । मातरि साधुः । पितरि साधुः । भ्रातरि निपुणः । पितरि निपुणः । तापवा-दोऽयम् । अर्चायामिति किम् ? साधुर्निपुणो वाऽमात्यो राज्ञः । अप्रतेरिति किम् ? साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति । प्रतिशब्दस्येति तत्र गान्धर्वेति तत्र गान्धर्वेति तत्र गान्धर्वेति । मातरमपि । मातरं परि । मातरमनु । कथमसाधुः पितरि । अनिपुणो मातरि । पूजाप्रयुक्तसाधुनिपुणप्रतिशेपोऽयम् । असमर्थस्यापि नञः सविधिरस्ति ।

प्रसितोत्सुकाभ्यां भा च ॥११५२॥ प्रसित उत्सुक इत्येताभ्यां युक्ते भाविभक्ती भवति । ईप् च । केशैः प्रसितः । केशेषु प्रसितः । प्रसक्त इत्यर्थः । केशैस्त्सुकः । केशेषूत्सुकः । पक्षे भार्थमिदम् । ईवधिकरण-त्वादेव सिद्धा ।

उसि भे ॥११५३॥ ईबनुवर्तते भा च । उस्विषये भवाचिनि भेषौ विभक्त्यौ भवतः । “भाद्युक्तः कालः” [३।२।४] इत्यागतस्याणः “उसभेदे” [३।२।५] इत्युसि कृते यदा भवाची शब्दः काले वर्तते तदा तस्माद्भा च ईप् च भवत इत्यर्थः । पुष्येण पायसमश्नीयात् । पुष्ये पायसमश्नीयात् । मघाभिः पललौदनम् । मघासु पललौदनम् । उसीति किम् ? मघासु ग्रहः । नात्र मघाशब्दः काले वर्तते । म इति किम् ? पञ्चालेषु वसति । पञ्चालस्यापत्यानि पञ्चालाः तेषां निवासः पञ्चालः । निवासार्थे आगतस्याणः “अनपद उस्” [३।२।६] इत्युस् । इह कस्मान् भवति ? अद्य पुष्यः । मिडैकार्थत्वात् । चानुकृष्टाया ईपः कथमनुवृत्तिः ? ईवधिकारे सूत्रारम्भसामर्थ्यात् । अत्राप्यधिकरणात्वादीप् सिद्धा पक्षे भार्थं वचनम् । यद्यधिकरणास्यापि करणविवक्षा यथा स्थाल्या पचति तदेदं प्रपञ्चार्थम् ।

मिडैकार्थं वाः ॥१।४।५४॥ मिडन्तेन पदेन एकार्थे वर्तमानान्मृदो वा विभक्ती भवति । गौश्ररति । कुमारी तिष्ठति । आदनः पच्यते । खारी मीयते । एकः । द्वौ । बहवः । इत्यत्रोक्तेष्वप्येकत्वादिषु वा भवतीत्युक्तप्रायम् । च वा ह उच्चैरित्येवमादिषु अनर्थं ऋषु च प्रादिषु मिडन्तेनैकार्थत्वाभावेऽपि “सुपो ऋः” [१।४।१५०] इति ज्ञापकाद्भवति । भावे वर्तमानेन मिडन्तेन स्वभावादन्त्येनैकार्थत्वं नास्ति । आस्यते देवदत्तेन । नन्वेकत्वादिविशिष्टेषु कर्मादिषु कर्मादिविशिष्टेषु वा एकत्वादिषु इत्यादिनां नियमात् परिशेषात् वृत्तः सन्न इत्येवमादिषु वादिषु च “ङ-याम्मृदः” [३।१।१] इत्यनेनैव वायाः सिद्धत्वादनर्थकमिदम् ? नानर्थकम् । एकद्विबहुवचनानां व्यतिकरनिवृत्त्यर्थं वायास्तायाश्च विषयभेदार्थं चेदम् । विसर्जनीयो विभाषा सन्देहनिवृत्त्यर्थम् ।

सम्बोधने बोध्यम् ॥१।४।५५॥ सम्बोधनमभिसुखीकरणम् । सम्बोधने या वा तस्या बोध्यमित्येषा संज्ञा । सम्बोधनेऽपि मिडैकार्थत्वमस्ति इति पूर्वेण वाविधानम् । हे देवदत्त आगच्छ । हे देवदत्तौ । हे देवदत्ताः । हे पचन् । हे पचमान । “सम्बोधने” [२।२।१०३] इति शत्रुशानौ । बोध्यसंज्ञाप्रयोजनम् “बोध्यमसद्भूत्” [१।३।२४] इत्येवमादि ।

एकः किः ॥१।४।५६॥ बोध्यसंज्ञायां वाया एकवचनं किसंज्ञं भवति । हे कन्ये । हे वटो । किप्रदेशाः “क्रेरुः” [४।३।५७] इत्येवमादयः ।

ता शेषे ॥१।४।५७॥ कर्मादिकारकाणां अविबद्धा कर्मादिभ्योऽन्यो वा मृदूर्थातिरेकः स्वस्वामिसंक्रन्धादिः शेषः । ता विभक्ती भवति शेषे अर्थविशेषे । नटस्य शृणोति । ग्रन्थिकस्य शृणोति । स्वस्वामिसम्बन्धसमीप-समूहविकारावयवस्थानादयस्तार्थाः । राज्ञः स्वम् । मद्राणां राजा । देवदत्तस्य समीपम् । यवानां राशिः । यवानां धानाः । देवदत्तस्य हस्तः । गोः स्थानम् । शेषग्रहणं किम् ? इवादयो नियताः कर्मादयस्त्वनियतास्तेभ्यस्ता मा भूत् ।

ज्ञोऽस्वार्थे करणे ॥१।४।५८॥ स्वार्थोऽवबोधनं तत्पर्युदस्यतो जानातेरस्वार्थे वर्तमानस्य करणे ताविभक्ती भवति । सर्पिषो जानीते । पयसो जानोते । सर्पिषा करणभूतेन अवेद्धते प्रवर्तते वा इत्यर्थः । “ज्ञोऽपह्नवेः” [१।२।४] इति दविधिः । करणस्य शेषत्वविवक्षायांमविवक्षायां च तैव भवति । अस्वार्थ इति किम् ? स्वरेण पुत्रं जानाति ।

स्मर्यदयेशां कर्मणि ॥१।४।५९॥ शेष इति वर्तते । स्मृ इत्यनेन समानार्थानां धूनां दय ईश इत्येतयोश्च कर्मणि शेषत्वेन विवक्षिते ता विभक्ती भवति । मातुः स्मरति । पितुरध्येति । सर्पिषो दयते । सर्पिष ईष्टे । कर्मणीति किम् ? मातुर्गुणैः स्मरति । शेष इत्येव । मातरं स्मरति । यद्येवं नार्थोऽनेन “ता शेषे” [१।४।५७] इत्येव सिद्धम् । लादेशे “न स्मि” [१।४।७२] इति प्रतिषेधोऽपि “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इत्येतस्याः प्राप्तेरनन्तरत्वात् । नापि “प्रतिपदम्” इति सविधिप्रतिषेधार्थम् । नेयं प्रतिपदविधाना ता । वृत्तिरपि दृश्यते । अर्थानुस्मरणं धर्मानुचिन्तनम् । एवं तर्हि कर्मणः शेषत्वेन विवक्षितत्वादकर्मकत्वोपपत्तेर्लव्यक्तत्वार्थाः भावे सिद्धा भवन्ति । मातुः स्मर्यते । मातुः स्मर्तव्यम् । सकर्मकविवक्षायां कर्मणि भवन्ति । माता स्मर्यते । माता स्मर्तव्या ।

प्रतियत्ने कृजः ॥१।४।६०॥ करोतेः कर्मणि ताविभक्ती भवति प्रतियत्ने गम्यमाने । असतोऽर्थस्य प्रादुर्भावाय सतो गुणान्तराधानाय समीहा प्रतियत्नः । एधो दकस्योपस्कुरुते । काण्डं गुणस्योपस्कुरुते । “गन्धनावक्षेपः” [१।२।२७] आदिना दः । प्रतियत्न इति किम् ? कटं करोति बुद्ध्या । शेष इत्येव । एधो दकमुपस्कुरुते ।

रुजर्थस्य भाववाचिनोऽज्वरिसन्ताप्योः ॥१।४।६१॥ रुजर्थानां धूनां भावकर्तृकाणां कर्मणि ता विभक्ती भवति ज्वरिसन्तापी वर्जयित्वा । चोरस्य रुजति रोगः । रुजर्थस्येति किम् ? एति जीवन्तमानन्दः ।

१. रोगः । वृषलस्थामयति रोगः । रुज—अ०, ब०, स०

गत्यर्थोऽसौ। भाववाचिन इति किम् ? श्लेषमा मधुराशिनं रुजति । अज्वरिसन्ताप्योरिति किम् ? आद्यूनं ज्वरयति ज्वरः । घटादित्वात् प्रादेशः । अत्याशिनं सन्तापयति ज्वरः । शेष इत्येव । चोरं रुजति रोगः ।

आशिषि नाथः ॥११४।६२॥ आशीःक्रियस्य नाथः कर्मणि ता विभक्ती भवति । सर्षिषो नाथते । पयसो नाथते । सर्षिमें भूयात् इत्यर्थः । 'आशिषि नाथः' इत्युपसंख्यानानेन दक्षिणः । आशिषीति किम् ? माणवकमुपनाथति अङ्ग पुत्राधीष्वेति । शेष इत्येव । सर्षिर्नाथते ।

जासनिग्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम् ॥११४।६३॥ जास निग्रहण नाट क्राथ पिष इत्येतेषां हिंसा-क्रियाणां कर्मणि ता विभक्ती भवति । "जस ताडने" इति चौरादिकः । चोरस्योज्जासयति । वृषलस्योज्जासयति । 'जसु मोक्षण' इत्येतस्य दैवादिकस्याहिंसार्थत्वादग्रहणम् । जास इति कृतदीत्वोच्चारणं किम् ? प्रादेशे मा भूत् । दस्युमजीजसम् । निग्रहण इति निप्रयोः समुदितयोः व्यस्तयोर्विपर्यस्तयोर्ग्रहणम् । चोरस्य निग्रहन्ति^१ । चोरस्य निहन्ति । चोरस्य प्रहन्ति । चोरस्य प्रणिहन्ति । नट अवस्यन्दने चुरादिः । चोरस्योच्चाटयति । दीत्वोच्चारणं किम् ? दस्युमनीनटत् । "स्रथ क्रथ क्लथ हिंसार्थाः" "हेतुमति" [२।१।२४] इति णिच् । चोरस्योत्-क्राथयति । दीत्वं हि किम् ? दस्युमचिक्रथत् । घटादित्वेऽपि निपातनादुडः प्रादेशबाधनार्थं च । चोरस्य पिनष्टि । वृषलस्य पिनष्टि । हिंसायामिति किम् ? धानाः पिनष्टि । शेष इत्येव । चौरं निहन्ति । रुजर्थत्वादेतेषामपीति चेदभावकर्तृकार्थं वचनम् । चोरस्योज्जासयति राजा ।

व्यवहृपणोः सामर्थ्ये ॥११४।६४॥ सामर्थ्यं समानार्थत्वं व्यवहृ पण इत्येतयोः सामर्थ्यं स्तुतिकर्मणि ता भवति क्रयविक्रये द्यूते च सामर्थ्यम् । शतस्य व्यवहरते । सहस्रस्य व्यवहरते । सहस्रस्य पणते । आयः कस्मान्न भवति गुणादिभिः साहचर्यात् भौवादिकस्य स्तुत्यर्थस्य तत्र ग्रहणम् । इह तु तौदादिकस्यानुदात्तेतः । सामर्थ्यं इति किम् ? शलाकां व्यवहरति । गणयतीत्यर्थः । देवान् पणयति । शेष इत्येव । शतं व्यवहरति । सहस्रं पणते ।

दिवश्च ॥११४।६५॥ "व्यवहृपणोः सामर्थ्ये" [१।४।६४] इति वर्तते । दिवश्च व्यवहृपणिसमानार्थस्य कर्मणि ता भवति । शतस्य दीव्यति । सहस्रस्य दीव्यति । चकारः किमर्थः ? सामर्थ्यानुकर्षणार्थः । ननु विकारादेव सामर्थ्यग्रहणमनुवर्ततेऽन्यथा चानुकृष्टमुत्तरत्र च नानुवर्तते "बा गौ" इत्यत्र सामर्थ्यानुवृत्तिर्न स्यात्, अनुक्तसमुच्चयार्थत्वादि क्वचिदन्यस्यापि प्रयोगे यथा स्यात् । सक्तूनां पूर्णः । ओदनस्य तृप्तः । सामर्थ्यं इत्येव । साधून् दीव्यति ।

वा गौ ॥११४।६६॥ सामर्थ्यं इति वर्तते । गिपूर्वस्य दिवः कर्मणि वा ता विभक्ती भवति । शतस्य प्रदीव्यति । शतं प्रदीव्यति । सहस्रस्य प्रदीव्यति । सहस्रं प्रदीव्यति । इयं पूर्वेण प्राप्ते विभाषा । ननु शेषविवक्षया तापि भविष्यति इति व्यर्थमिदम् । एवं तर्हि इदमेव शपकमगिपूर्वस्य शेषविवक्षा नास्ति इति । शतस्य दीव्यति । सामर्थ्यं इत्येव । शलाकां प्रतिदीव्यति ।

कालेऽधिकरणे सुजर्थे ॥११४।६७॥ कालेऽधिकरणे ता विभक्ती भवति सुजर्थे त्वे प्रयुक्ते । द्विरहोऽधीते । त्रिरहोऽधीते । पञ्चकृत्वोऽहो भुङ्क्ते । "संख्याया ध्वभ्यावृत्तौ कृत्वस्" [४।२।२४] इति कृत्वस् । "द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्" [४।२।२५] इति सुच् । काल इति किम् ? द्विः कांसपात्र्यां भुक्ते । अधिकरण इति किम् ? द्विरहो भुङ्क्ते । सुजर्थं इति किम् ? अहनि भुङ्क्ते । रात्रौ भुङ्क्ते । नन्वत्रापि द्विः त्रिवेति सुजर्थो गम्यते ? प्रयुक्तग्रहणं दूरादनुवर्तते तेन गम्यमाने सुजर्थे न भवति । शेष इत्येव । द्विरह्वधीते ।

कर्तृकर्मणोः कृति ॥११४।६८॥ कृति प्रयुक्ते कर्तरि कर्मणि च ता विभक्ती भवति । अनुक्त इति वर्तते । भवत आसिका । भवतः शायिका । स्त्रीलिङ्गे भावे "पर्यायाहर्णोत्पत्तौ वुष्" [२।३।४२] इति वुष् ।

१. चोरस्य निग्रहन्ति इति ब० पुस्तके नास्ति । २. व्यवहृपणेः समा-अ० । ३. प्रतिदीव्यति ब० ।

४. इह अ० ।

यवानां लावकः । ओदनस्य भोजकः । विश्वस्य ज्ञाता । तीर्थस्य कर्ता । कृतीति किम् ? ओदनं पचति । ननु “न क्ति०” [१।४।७२] इत्यादिनाऽत्र प्रतिषेधो भविष्यति । एवं तर्हि हृति मा भूत् । कृतपूर्वी कटम् । कृतं पूर्वमनेन “इच्” [४।१।१६] “पूर्वात्” [४।१।२०] “सपूर्वात्” [४।१।२१] इतीन् । पुनः कर्मग्रहणादिह शेषस्य ग्रहणं नाभिसंबन्ध्यते ।

द्विप्राप्तौ परे ॥१।४।६६। पूर्वसूत्रविन्यासापेक्षया परशब्देन कर्माऽभिप्रेतम् । द्विप्राप्तौ कृति पर एव कर्मणि ता विभक्ती भवति न कर्तरि । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन । रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन । साधु खलु पयसः पानं जिनदत्तेन । द्वयोः प्रामिर्यस्मिन् कृतीति व्यधिकरणस्य अन्त्यःश्रयणात् भिन्ने कृति नियमो न भवति । आश्चर्यमिदमतिथीनां प्रादुर्भावः ओदनस्य च नाम पाकः । “अकाराकारयोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्” [वा०] भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम् । चिकीर्षा जिनदत्तस्य काव्यानाम् । अकारग्रहणेन निरनुबन्धकस्य “अस्त्यात्” [२।३।८४] इत्यस्यैव ग्रहणम् । “शेषे विभाषा” [वा०] अकारापेक्षया शेषस्य स्त्रीत्यस्य ग्रहणम् । विचित्रा सूत्रस्य कृतिराचार्यस्य आचार्येण वा । केचिदविशेषेणोच्छ्रान्ति । विचित्रं शब्दानुशासनमाचार्यस्य आचार्येण वा ।

कस्याधिकरणे ॥१।४।७०। अधिकरणे यः क्तस्तस्य प्रयोगे ता विभक्ती भवति । “अधिकरणे चाद्य-थाच्च” [२।४।२६] इति अद्यर्थेभ्यो धिभ्यो गत्यर्थेभ्यश्च क्तो वक्ष्यते तस्य प्रयोगे “कर्तृकर्णोः कृति” [१।४।६८] इति ता प्राप्ता “न क्ति” [१।४।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा पुनः प्रसूयते । इदमेषामशितम् । इदमेषां भुक्तम् । इदमेषामासितम् । इदमेषां शयितम् । इदमेषां तृतम् । इदमेषां पराक्रान्तम् । एषामिति कर्तरि ता । अधिकरणस्य क्तेनोक्तत्वादिदंशब्दादीन् भवति । “अधिकरणे च” [२।४।५६] इत्यत्र चकारेण यथा प्राप्तः समुच्चै-यते । कर्तरि-इहेमे आसिताः । भावे-इह एभिरासितम् । शेषविवक्षायामिह एषामासितम् । एवं सर्वत्र योज्यम् ।

भवति ॥१।४।७१। भवति काले विहितस्य क्तस्य प्रयोगे ता विभक्ती भवति । अयमपि प्रतिषेधाप-वादः । राज्ञां मतः । राज्ञां बुद्धः । सतां पूजितः । “मतिबुद्धिपूर्वार्थाच्च” [२।२।१६६] इति सम्प्रतिकाले क्तः । शेषविवक्षायां यद्यपि ता सिद्धा तथापि कर्तृविवक्षायां भावाधनार्थमिदम् । सम्प्रतिकाले चकारेण लब्धेषु शीलित-तादिषु प्रयुक्तेषु ता नेष्यते । देवदत्तेन शीलितः । कथं मयूरस्य नृत्तं छात्रस्य हसितमिति ? शेषविवक्षयेदम् । कर्तरि तु मयूरेण नृत्तम् । छात्रेण हसितम् ।

न क्ति लोकावार्थनाम् ॥१।४।७२। किं त ल उ उक् खार्थं तृन् इत्येतेषां प्रयोगे ता विभक्ती न भवति । “कर्तृकर्णोः कृति” [१।४।६८] इति तायाः प्राप्तायाः प्रतिषेधोऽयम् । कि-कटं कृत्वा । कटं कर्तुम् । तसंज्ञा-देवदत्तेन कृतम् । देवदत्तः कटं कृतवान् । ल-कटं कुर्वन् । कटं कुर्वाणः । अनूषिवान् श्रीदत्तं धान्यसिंहः । कटं कारयामास । धर्मे दधिश्चत्तम् । “सहिवृहवलिपतीनामिथंङः” इत्यधिकृत्य धाञ्कसुजनितमि-भ्यो लिङ्त्वदित्युपसंख्यानानेन शीलादिष्वर्थेषु इरित्ययं त्यो भवति । कटं चिकीर्षुः । ओदनं बुसुद्धुः । कन्यामलङ्कारिष्णुः । उक्-आगामुको वाराणसीम् । उक्प्रतिषेधे कमेरप्रतिषेधः । दास्याः कामुकः । खार्थः-सुकरः कटो भवता । सुपानं पयो भवता । वृत्तिं प्रत्याहारः शत्रुशानावित्यत आरभ्य तृनो नकारेण । धान्यं पवमानः । अधीयन् जैने-न्द्रम् । “पूङ् यजोः शानः” [२।२।१०६] इति शानः । “धारीङः शत्रुकृच्छ्रिणि” [२।२।१०८] इति शत्रुत्यः । कर्ता कटान् । वदिता जनापवादान् । शीलाद्यर्थे वृत्तिं तृन् । “द्विषः शत्रुर्वा वचनम्” [वा०] चोरं द्विषन् । चोरस्य द्विषन् । “द्विषोऽरौ” [२।२।१०६] इति शत्रुत्यः ।

वर्त्यत्यकस्य ॥१।४।७३। वर्त्यति काले विहितस्याकस्य योगे ता विभक्ती न भवति । कटं कारको व्रजति । ओदनं भोजको गच्छति । “वुण्णुमौ क्रियायाम्” [२।३।८] इति वुण् । वर्त्यतीति किम् ? ओदनस्य भोजकः । वर्त्यतीति विहितस्याकस्य ग्रहणादिह न भवति । वर्षशतस्य पूरकः । पुत्रपौत्राणां दर्शकः ।

आधमर्ये चैनः ॥१।४।७४। आधमर्ये वर्त्यति च काले विहितस्येनः प्रयोगे ता विभक्ती न

भवति । शतं दायी । सहस्रं दायी । “आवश्यकामधर्मयोर्णिन्” [२।३।१४६] इति णिन् । वत्स्यति । गमी ग्रामम् । आगामी नगरम् । “गम्यादिर्घत्स्यति” [२।३।१] इति वत्स्यतिकाले साधुत्वम् । आधमर्ये चैन इति किम् ? अवश्यंकारी कटस्य । आवश्यकेऽर्थे कालसामान्ये णिन् ।

व्यस्य वा कर्त्तरि ॥१।४।७५॥ व्यसंज्ञस्य प्रयोगे कर्त्तरि वा ता विभक्ती भवति । भवतः कटः कर्त्तव्यः । भवता कटः कर्त्तव्यः । कर्तुं कर्मणोः कृतीति ता प्राप्ता विभाष्यते । कर्त्तरीति किम् ? गेयो माणवको गाथानाम् । “भव्यगेय०” [२।४।२३] आदि सूत्रे कर्त्तरि गेयशब्दो निपातित । अत्र कर्मणि नित्यं ता भवति । इह कस्मात्ता न भवति ऋष्टव्या ग्रामं शाखा देवदत्तेन । नेतव्या ग्राममजा देवदत्तेन * वेति व्यवस्थितविभाषा । तेन “द्विप्राप्तौ परे” [१।४।६६] इत्यस्यास्ताया व्यप्रयोगे प्रतिषेध एव ।

भाऽतुलोपमाभ्यां तुल्यार्थैः ॥१।४।७६॥ वेति वर्तते । तुलोपमाशब्दाभ्यामन्यैस्तुल्यार्थैः शब्दैर्युक्ते वा भाविभक्ती भवति । तुल्यो देवदत्तेन । तुल्यो देवदत्तस्य । पक्षे शेषलक्षणा ता । अतुलोपमान्या-मिति किम् ? नास्ति तुला देवदत्तस्य । उपमा नास्ति सनत्कुमारस्य ।

अप् चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखहितार्थैः ॥१।४।७७॥ वेति वर्तते । वा अन्विभक्ती भवति-आशिषि गम्यमानायाम् । आयुषो निमित्तं संयोगः । “निमित्तं संयोगोत्पादौ” [३।४।३७] “योऽसंख्या परिमाणाशब्दादेः” [३।४।३८] इति यः । आयुष्य मद्र भद्र कुशल सुख हित इत्येवमर्थैर्युक्ते । आयुष्यमिद-मस्तु देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । चिरमस्तु जीवितं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । मद्रं भवतु जिनशासनाय जिनशा-सनस्य वा । भद्रं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । कुशलं साधुभ्यः । कुशलं साधूनाम् । निरामयं साधुभ्यः । निरामयं साधूनाम् । सुखं साधुभ्यः । सुखं साधूनाम् । शमस्तु साधुभ्यः । शमस्तु साधूनाम् । हितं देवदत्ताय । हितं देवदत्तस्य । पथं देवदत्ताय । पथं देवदत्तस्य । पक्षे शेषलक्षणा ता । चकारः किमर्थः ? अर्थार्थैरपि योगे यथा स्यात् । अर्थो देवदत्ताय । अर्थो देवदत्तस्य । प्रयोजनं देवदत्ताय । प्रयोजनं देवदत्तस्य । तापक्षे वृत्तिर्न भवति अगमकज्ञात् । न हि वृत्त्याऽऽशोर्गम्यते । आशिषीति किम् ? आयुष्यं देवदत्तस्य । अत्र नाप् ।

प्राणितूर्यसेनाङ्गानां द्वन्द्व एकवत् ॥१।४।७८॥ प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानां च द्वन्द्व एक-वद्भवति । एकार्थवद्भवतीति अर्थनिर्देशाद्विशेषणानामपि तद्वत्ता । पाणी च पादौ च प्राणिपादम् । दन्तौ-ष्ठम् । शिरोप्रीवम् । यदि प्राण्यङ्गं प्राण्यग्रहणेन गृह्यते “अप्राणिजातेः” [१।४।८२] इति प्रतिषेधे प्राप्ते अथ न गृह्यते तदा “अप्राणिजातेः” इत्येव सिद्धे व्यतिकरनिवृत्त्यर्थं वचनं प्राण्यङ्गानामन्येन द्वन्द्वो मा भूत् । तूर्यम्-मार्दङ्गिकाश्च पाण्यविकाश्च मार्दङ्गिकपाण्यविकम् । सेना-रथिकाश्च अश्वारोहाश्च रथिकाश्वारोहम् । रथिकपादात्तम् । “सेनाङ्गेषु बहुत्वे” [वा०] इति तेन रथिकाश्वारोहौ । हस्त्यश्वादिषु परस्वात् पशु विभाषा । यद्यप्यभिधानवशादिह समाहारे द्वन्द्वः, दधिपयम्नादिषु इतरेतरयोगे, तरुमृगादिषु उभयत्र, तथापि तद्विषयविभागज्ञापनार्थमिदं प्रकरणम् ।

चरणानामनूक्तौ ॥१।४।७९॥ चरणं कठादिप्रोक्तोऽध्ययनविशेषः । तद्यदा पुरुषेष्वध्येतृषु वर्तते तदेह गृह्यते । अनूक्तिरनुवादः । चरणानां द्वन्द्व एकवद्भवति अनूक्तौ । स्थेरोर्लुङन्तयोः प्रयोगे चेदमि-ष्यते । उदगात् कठकालापम् । प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम् । अनूक्ताविति किम् ? उदगुः कठकालापाः । प्रथ-मोपदेशोऽयम् । कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः । प्रोक्तार्थे “शौनकादिभ्यश्छन्दसि णिन् [३।३।७७] इति णिन् । तस्य “कठचरणा (का डुप्” इत्युप् । अध्येतृविषयस्याणः “उप् प्रोक्तात्” [३।२।२४] इत्युप् । कला-पिना प्रोक्तमधीयते कालापाः । प्रोक्तार्थे “कलापिनोऽण्” । टिखम् । परस्याणः “उप्प्रोक्तात्” [३।२।२४] इत्युप् । “छन्दो ब्राह्मणानि चात्रैव” [३।२।२६] इत्यध्येतृविषयता ।

अध्वर्युं कतुरनप् ॥१।४।८०॥ अध्वरिभ्यश्छन्ति अध्वर्यवो यजुर्वेदविदः । अतएव निपातनात् क्यन्-

कारस्य खम् । व्यजन्तस्य ष्टश्च त्यः । अध्वर्युः क्रतुरनपुंसकलिङ्गो द्वन्द्वमेकवद्भवति । येषां क्रतूनां यजुर्वेदशाखासु लक्षणं प्रयोगश्च शिष्यते प्राधान्येन तेषामध्वर्युः क्रतूनामनपुंसकलिङ्गानां द्वन्द्व एकवद्भवति इत्यर्थः । अर्कश्च अश्वमेधश्च अर्काश्वमेधम् । सायाह्वातिरात्रम् । पौण्डरीकातिरात्रम् । अध्वर्युः क्रतुरिति किम् ? पञ्चोदनदशौदनाः । इषुवज्रौ । उद्भिद्वलमिदौ । एते सामवेदविहिताः । अनविति किम् ? राजसूयं च वाजपेयं च राजसूयवाजपेये । इह कस्मान्न भवति दर्शपौर्णमासौ । दधिपयत्रादिषु द्रष्टव्यः ।

अधीत्याऽदूराख्यानाम् ॥१४८१॥ आख्या नामधेयम् । अधीत्या निमित्तभूतया अदूराख्यानां द्वन्द्व एकवद्भवति । पदमधीते पदकः । क्रममधीते क्रमकः । पदक्रमकम् । क्रमकवार्तिकम् । पदाध्ययनस्यासन्नं क्रमाध्ययनम् । अधीत्येति किम् ? आख्यदरिद्रौ । अदूराख्यानामिति किम् ! याज्ञिकवैयाकरणौ । यश्मधीते याज्ञिकः ।

अप्राणिजातेः ॥१४८२॥ अप्राणिजातिवाचिनां द्वन्द्व एकवद्भवति । आराशास्त्रि । धानाशङ्कुलि । युगवरत्रम् । अप्राणिग्रहणं किम् ? गौरालिराःलाङ्घनाः । गोत्रं चरस्यैः सहेति जातिः । जातेरिति किम् ? हिमवद्विन्ध्यौ । नन्दकपाञ्चजन्यौ । संज्ञाशब्दा एते । नञ्सदृशसम्प्रत्ययहेतुः । तेन द्रव्यजातीनामेकवद्भावादिह न भवति । रूपरसगन्धस्पर्शाः । गमनागमने । जातेरविवक्षायां न भवति । बदरामलकानि तिष्ठन्ति ।

भिन्नलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामोऽपुरम् ॥१४८३॥ भिन्नलिङ्गानां नदीदेशवाचिनामग्रामाणामपुराणां द्वन्द्व एकवद्भवति । नदी-उद्वथश्चरावती च उद्वथेरावति । विपाट्चक्रमिदम् । गङ्गाशोणम् । देशाः-कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च कुरुकुरुक्षेत्रम् । कुरुकुरुजाङ्गलम् । दार्वाश्च अभिसारं च दार्वाभिसारम् । काश्मीराभिसारम् । भिन्नलिङ्ग इति किम् ? गङ्गायमुने । मद्रकेकयाः । नदीदेश इति किम् ? कुक्कुटमयूयौ । अग्राम इति किम् ? जाम्बवश्च शालूकिनी च जाम्बवशालूकिन्यौ । ननु नद्यपि देश इति पृथग्रहणं किमर्थम् ? ज्ञापकार्यं जनपदो देशोऽभिप्रेतो न नदीपर्वतादिः । तेनेह नैकवद्भावः । कैलासश्च गन्धमादनं च कैलासगन्धमादने । अपुरमिति किम् ? लोके ग्रामग्रहणेन पुरमपि गृह्यते ततोऽपुरमिति प्रतिषेधः । मथुरापाठलिपुत्रम् । अग्राम इति प्रसज्यप्रतिषेधः । तेन यत्र पुरग्रामयोर्द्वन्द्वस्तत्रापि नैकत्वम् । नासौर्यकैतवौ पुरग्रामौ ।

क्षुद्रजीवाः ॥१४८४॥ इहाल्पशरीरः क्षुद्रः । क्षुद्रजीवानां द्वन्द्व एकवद्भवति । क्षुद्रजीवाश्रयो द्वन्द्व उपचारात् क्षुद्रजीवा इति निर्देशः । यूकालिक्षु । शतस्वश्च उत्पादकाश्च शतसूत्पादकम् । दशमशकम् ।

“क्षुद्रजीवा अकङ्काला येषां स्वं नास्ति शोणितम् । नाञ्जलिर्यत्सहस्रेण केचिदानकुलादपि ॥”

केचित् शब्दः प्रत्येकमभिसंबन्ध्यते । क्षुद्रजीवा इति बहुवचननिर्देशात् द्वित्वविषये नेदमिति यूकालिक्षौ । दशमशकौ ।

येषाञ्च द्वेषः शाश्वतिकः ॥१४८५॥ द्वेषोऽप्रीतिः । येषां च द्वेषः शाश्वतिकस्तद्वाचिनां द्वन्द्व एकवद्भवति । शाश्वद्भवः शाश्वतिकः । “कालाट्टज्” [३।२।१३१] इति ठञ् । निपातनादिकादेशः । “केभ्रमात्रे टिखम्” इति खं च न भवति । अहिनकुलम् । श्ववराहम् । “अन्यस्यापि” [४।३।२३३] इति दीत्वम् । शाश्वतिक इति किम् ? गौपालिशालङ्कायनाः । केनचिन्निमित्तेन कलहायन्ते । चकारोऽवधारणार्थः । अयमेव नित्य एकवद्भावो यथा स्यात् पश्वादिविभाषा मा भूत् । अश्वमहिषम् । काधोलूकम् ।

१. पा० महाभाष्ये-“क्षुद्रजन्तुरनस्थिः स्यादथ वा क्षुद्र एव यः । नाञ्जलिर्यत्सहस्रेण केचिदानकुलादपि ।” २।४।८ । २. श्ववाराहम् अ० ।

वर्णेनार्हद्रूपयोग्यानाम् ॥११४८६॥ वर्णेनार्हद्रूपस्यायोग्यास्तेषां द्वन्द्व एकवद्भवति । येन रूपे-
णार्हन्यमवाप्यते, तदिह नैर्ग्रन्थमर्हद्रूपमभिप्रेतम् । अतिशयोपेतस्यार्हद्रूपस्य प्रातिहार्यसमन्वितस्य बहुत-
रमयोग्यमिति नेह तद् गृह्यते । तन्नायस्कारम् । कुलालवरुदम् । रजकतन्तुवायम् । नन्वेतेष्वप्येकवद्भावः
प्राप्नोति । चण्डालमृतपाः । न दधिपयआदिष्वन्तर्भूतो द्वन्द्वो द्रष्टव्यः । वर्णेनेति किम् ? मूकवधिराः । एते
करणदोषेणायोग्याः । अर्हद्रूपयोग्यानामिति किम् ? ब्राह्मणक्षत्रियौ ।

गवाश्वादीनि च ॥११४८७॥ गवाश्वादीनि च गणपाठे द्वन्द्वरूपाणि च एकवद्भवन्ति । गवा-
श्वम् । गवैडकम् । गवाविकम् । अजाविकम् । पशुविभाषा प्राप्ता । कुब्जवामनम् । कुब्जकैराकतम् । पुत्र-
पौत्रम् । श्वचाण्डालम् । अद्वेषे-स्त्रीकुमारम् । दासीमाणवकम् । शाटीपिच्छिकम् । इदं जात्यविवक्षायाम् ।
उद्धरम् । उद्धशशम् । पशु विभाषा प्राप्ता । मूत्रशकृत् । मूत्रपुरीषम् । यकृन्मेदः । मांसशोषितम् । इमानि
जात्यविवक्षायाम् । दर्भशरम् । दर्भपृतीकम् । अर्जुनपुरुषम् । तृणोपलम् । एतेषां तृणविकल्पः प्राप्तः ।
दासीदासम् । कुट्टिकुट्टम् । भागवतीभागवतम् । एषां सरूपाणां लिङ्गमात्रकृतविशेषाणां निपातनाद् द्वन्द्वः ।
चकारोऽवधारणार्थः । गवाश्वादीनि पठितान्येवैकवद्भवन्ति नान्यथा । गोऽश्वौ । गोऽश्वम् ।

वा तरुमृगतृणधान्यव्यञ्जनपश्वश्ववडवपूर्वापराधरोत्तरपक्षिणः ॥११४८८॥ तरु-मृग-तृण-
धान्य-व्यञ्जन-पशु-वेशोत्रवाचेनामश्व-वडव-पूर्वापर-अधरोत्तर इत्येषां पक्षिविशेषाणां च द्वन्द्वो वा एकवद्भवति ।
प्लक्षान्यग्रोधम् । प्लक्षान्यग्रोधाः । आरण्या मृगाः । रुरुषुषतम् । रुरुषुषताः । कुशकाशम् । कुशकाशाः ।
ब्रौहियवम् । ब्रौहियवाः । दधिघृतम् । दधिघृते । ग्राम्याः पशवः । वृष्णिस्तभम् । वृष्णिस्तभाः । अश्ववडवम् ।
अश्ववडवौ । पर्यायनिवृत्त्यर्थं च अश्ववडवग्रहणम् । पूर्वापरम् । पूर्वापरे । अधरोत्तरम् । अधरोत्तरे । तित्ति-
रिकापिञ्जलम् । तित्तिरिकापिञ्जलाः । अत्रेष्टिः । “सेनाङ्गफलक्षुद्रजीवतरुमृगतृणधान्यपक्षिण्यां प्रकृत्यर्थवद्भुत्वे
एकवद्भावः” [वा०] तेन रथिकाश्वारोहौ । बदरामलके । इदमेव ज्ञापकम् “अप्राणिजातेः” [११४८२] इत्यत्र
न बहुवचनान्त एव विग्रहोऽभिप्रेतः । यूकालिङ्गे । प्लक्षान्यग्रोधौ । रुरुषुषतौ । कुशकाशौ । ब्रौहियवौ ।
हंसचक्रवाकौ । वेति योगविभाषाऽयम् । द्वन्द्वमात्रे कृतो भवेत् । पूर्वो विधिस्तु नित्यार्थः तुल्यजात्यर्थ उत्तरः ।
इह मा भूत्—प्लक्षान्यवाः । हंसपृषताः ।

विरोधि चानाश्रये ॥११४८९॥ वेति वर्तते । आश्रयो द्रव्यं विरोधो येषामस्ति तद्वाचिनामनाश्रया-
भिधायिनां द्वन्द्व एकवद् भवति । विरोधीत्यामः स्वे कृते सौत्रो निर्देशः । सुखदुःखम् । सुखदुःखे । जननमर-
णम् । जननमरणे । शीतोष्णम् । शीतोष्णे । विरोधीति किम् ? कामक्रोधौ । अनाश्रय इति किम् ? सुखदुःखौ
ग्रामौ । शीतोष्णे उदके । चकारादविरोधेऽपि । वधूवरम् । वधूवरौ । स्थावरजङ्गमम् । स्थावरजङ्गमे ।

न दधिपयआदीनि ॥११४९०॥ दधिपयआदीनि द्वन्द्वरूपाणि नैकवद्भवन्ति । येन केनचित्
प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । दधिपयसी । सर्पिर्मधुनी । मधुसर्पिणी । व्यञ्जनत्वात् प्राप्तिः । ब्रह्मप्रजापती । शिववैश्र-
वणौ । स्कन्दविशाखौ । परित्राजकक्रौशिकौ । प्रवर्ग्योपसदौ । वेतिप्राप्तिः । शुक्लकृष्णौ । इध्मावर्हिणी ।
निपातनात् पूर्वस्य दीलम् । योगानुवके । दीक्षातपसी । श्रद्धातपसी । अध्ययनतपसी । उल्लूखलमूसले ।
आद्यावसाने । श्रद्धामेधे । ऋक्सामे । वाङ्मनसे । वेति योगविभाषात् प्राप्तिः । चण्डालमृतपादयश्च ।

अर्थेतावत्त्वे च ॥११४९१॥ एतावत्त्वमियत्ता । वृत्त्यवयवार्थानामेतावत्त्वे च द्वन्द्वो नैकवद्भवति ।
द्वादश मे मार्दाङ्गिकपाणविकाः । चकारः प्रतिषेधानुकर्पर्यायः ।

वा समीपे ॥११४९२॥ नेति निवृत्तम् । अर्थानामेतावत्त्वस्य समीपे वा द्वन्द्व एकवद्भवति । उपदर्श
दन्तोष्ठम् । उपदर्शा दन्तोष्ठाः । एकवद्भावपक्षे हसोऽनुप्रयुज्यते अन्यत्र वसः । हसे “अनः” [१२१११०]
इति अः सान्तः । असे तु ङः ।

१. अर्जुनशिरीषम् इति काशिका । २. शुक्लकृष्णे अ०, ब०, स० ।

स नप् ॥११४६३॥ यस्यायमुक्त एकवद्भावः स नन्भवति । तथा चैवोदाहृतम् । समाहारे रसो नप् भवतीति वक्तव्यम् । पञ्चाग्नि । पञ्चवायु । अकारान्तप्रकरणे “रात्” [३११२५] इति डीविधानं ज्ञापकम् । अकारान्तोत्तरपदो रः स्त्रियां वर्तत इति । पञ्चपूली । प्रणगरी । “वावन्त इति वक्तव्यम्” [वा०] पञ्चखट्वी । पञ्चखट्वम् । “स्त्रीगोर्नीचः” [१११८] इति प्रादेशः । “अन्नन्तस्य नखं स्त्रियां वा वृत्तिः” [वा०] पञ्चतन्म । पञ्चतन्नी । “पात्रादिभ्यश्च प्रतिषेधः” [वा०] पञ्चपात्रम् । त्रिभुवनम् । चतुर्युगम् । पञ्चगवम् । दशगवम् । “गोरहृदुपि” [४२।६४] इति टः सन्तः ।

हश्च ॥११४६४॥ हसंज्ञश्च नन्भवति । अधिस्त्रि । उन्मत्तगङ्गम् । द्विमुनीदम् । “प्रो नपि” [१११७] इति प्रादेशार्थमनुप्रयोगार्थं च वचनम् । पूर्वपदार्थप्रधानस्यालिङ्गत्वं प्राप्तम् । अन्यत्राभिधेयवह्निङ्गं प्राप्तम् । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन क्रियाविशेषणानां नपुंसकत्वं सिद्धम् । शोभनं पचति^१ ।

षोऽनञ् यः ॥११४६५॥ नञ्सं यसञ्च वर्जयित्वा नन्भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् । प इति पुंल्लिङ्गेन निर्देशः सौत्रः । वाच्यप्रकरणादन्यत्र कामचारो वा वच्यति । सेनासुरञ्छायाशालानिशा वेति । क्षत्रियसेना । क्षत्रियसेनम् । ष इति किम् ? महती सेनाऽस्य महासेनः । अनञिति किम् ? असेना । अय इति किम् ? परमसेना ।

खौ कन्थोशीनरेषु ॥११४६६॥ खुविषये कन्थान्तः षसो नन्भवति उशीनरेषु चेत् सा कन्था । सौसमीनां कन्था सौसमिकन्थम् । आह्वरकन्थम् । आसमिकन्थम् । चर्मकन्थम् । एते उशीनरेषु ग्रामाः । विग्रहवाक्यं सादृश्यमात्रेण । खाविति किम् ? वीरणकन्था । उशीनरेष्विति किम् ? दक्षिकन्था । अन्यत्र ग्रामसञ्ज्ञे यम् ।

उपज्ञोपक्रमं तदाद्युक्तौ ॥११४६७॥ उपज्ञायत इति उपज्ञा उपदेशः । उपक्रम्यत इति उपक्रमः प्रारम्भः । उपज्ञोपक्रम इत्येवमन्तः षसो नन्भवति तयोरुपज्ञाप्रक्रमयोरद्युक्तौ गम्यमानायाम् । स्वायम्भुवस्त्यो-पज्ञा स्वायम्भुवोपज्ञमाकालिकाचाराध्ययनम् । देवोपज्ञमनकरोषव्याकरणम् । कुरुराजस्त्योपक्रमः कुरुराजोपक्रमं दानम् । अकम्पनापक्रमं स्वयंवरविधानम् । उपज्ञोपक्रमाभेदात् किम् ? आदिदेवतपस्या तीव्रा । तदाद्युक्ता-विति किम् ? देवदत्तोपज्ञा । देवदत्तोपक्रमो गणितम् । उत्तरपदस्य प्राधान्यवह्निङ्गम् । ष इत्येव । सम्यगुपज्ञो भगवान् स्वायम्भुवो यस्येदमाकालिकाचाराध्ययनम् । वाक्येन तदाद्युक्तौ गम्यमानायामिदं प्रत्युदाहरणम् ।

छाया बहूनाम् ॥११४६८॥ बहूनां या छाया तदन्तः षसो नन्भवति । इक्षूणां छाया इक्षुच्छायम् । सलभच्छायम् । बहूनामिति किम् ? कुब्जस्य छाया कुब्जच्छायम् । कुब्जच्छाया । “सेनासुरा” [११४।१०१] इत्यादिना विकल्पः । ष इत्येव । बहवश्छाया अस्मिन्बहुच्छायो वनखण्डः ।

सभाऽराजामनुष्यात् ॥११४६९॥ अराज्ञः अमनुष्याच्च परा या सभा तदन्तः षो नन्भवति । अराज्ञः । इनस्य सभा इनसभम् । ईश्वरसभम् । इन्द्रसभम् । पार्थिवसभम् । राजशब्दपर्युदासात् तत्पर्या-यात्पामत्र ग्रहणं न विशेषाणाम् । तेनेह न भवति । सातवाहनसभा । चन्द्रगुप्तसभा । अमनुष्यात्-रक्षसां सभा रक्षःसभम् । पिशाचसभम् । अमनुष्यशब्दस्य च रक्षःप्रभृतिष्वेव रूढत्वादिह न भवति । काष्ठसभा । पाषाणसभा । पक्षेष्टकासभा । यत्रेवं “टगमनुष्ये” [२।२।५०] इत्यत्र कथम् । जायान्तिस्तिलकः । पित्तघ्नं घृतम् । “युद्ध्या बहुलम् [२।३।६४] इति बहुलवचनात्तत्रान्यस्यापि ग्रहणम् । “अराजामनुष्यात्” इति किम् ? राजसभा । देवदत्तसभा । ष इत्येव । ईश्वरा सभाऽस्य ईश्वरसभः ।

अशाला ॥११४१००॥ अशाला च या सभा तदन्तः षो नन्भवति । गोनालनगम् । दासीसभम् । स्त्रीसभम् । अत्र समुदाये सभाशब्दः । अशालेति किम् ? देशिकसभा ।

सेनासुराच्छायाशालानिशा वा ॥१।४।१०१॥ सेना सुरा छाया शाला निशा इत्येवमन्तः षो वा नभवति । देवानां सेना देवसेनम् । देवसेना । पिष्टसुरम् । पिष्टसुरा । कुड्यच्छायम् । कुड्यच्छाया । गोशालम् । गोशाला । शनिशम् । शनिशा । चोरनिशम् । चोरनिशा । ष इत्येव । सूरसेनो राजा । अनय्य इत्येव । असेना । परमसेना ।

द्वन्द्वे द्युवल्लिङ्गम् ॥१।४।१०२॥ द्वन्द्वे सेद्योरिव लिङ्गं भवति । इतरेतरयोगद्वन्द्वस्येह ग्रहणम् । तत्र सर्वेषामवयवानां प्राधान्यात् पर्यायेण समुदायलिङ्गे प्राप्ते वचनम् । कुक्कुटमयूर्याविमे रमणीये । मयूरी-कुक्कुटाविमौ । यथा “हश्च” [१।४।१४] इति नपुंसकलिङ्गातिदेशः संघातस्य भवति न चावयवस्य निवर्तकः । अधिल्लि । अधिकुमारीति । एवमहापि समुदाये लिङ्गातिदेशोऽनुप्रयोगार्थं क्रियमाणो नावयवस्य स्त्रीत्यस्य निवर्तकः । षस्य द्युवल्लिङ्गातिदेशो न वक्तव्यः । विशेष्यवल्लिङ्गवचनानि भवन्ति विशेषणानामित्यनेन सिद्धत्वात् । द्व्यर्थस्य तु विशेष्यत्वात् प्राधान्यम् । अर्द्धपिप्पली । अर्द्धकौशातकी शोभना । यत्र पूर्वपदार्थः प्रधानं तत्र पूर्ववल्लिङ्गमेव । यथा “प्राप्तापन्नालम्पूर्वतिसल्लक्षणेभु” । प्राप्ता जीविकां प्राप्तजीविकः । आपन्नजीविकः । अलं जीविकायै अलजीविकः । “निरादयः क्रान्ताद्यर्थं कया” [वा०] निष्क्रान्ता कौशाभ्या निष्कौशाभ्यः । हृदयै रसस्य अन्यपदार्थप्राधान्यादभिधेयवल्लिङ्गम् । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः पुरोडासः ।

अश्ववडवौ पूर्ववत् ॥१।४।१०३॥ अश्ववडयोरितरेतरयोगे पूर्ववल्लिङ्गं भवति । अश्वश्च वडवा च अश्ववडवौ । समुदाये लिङ्गातिदेशोऽनुप्रयोगार्थं पूर्ववल्लिङ्गनिवृत्तिर्नास्तीत्युक्तम् । कथं टापो निवृत्तिः । अश्ववडव इति निपातनात् । पूर्ववदिति किमथम् ? अर्थातिदशार्थम् । अश्ववडवावित्युच्यमाने वचनान्तरे न स्यात् । अश्ववडवान् पश्य । अश्ववडवैः कृतम् ।

रात्राह्नौ पुंसि ॥१।४।१०४॥ रात्रअह्नशब्दौ कृतसन्तौ निर्दिष्टौ एतौ पुंसि भवतः । द्वयो रात्र्योः समाहारः द्विरात्रः । “अहःसर्वकदेशमंख्यातपुण्याच्च रात्रेः” [४।२।८६] इत्यः सन्तः । पूर्वमहः पूर्वाह्नः । अपराह्नः । “पूर्वापरप्रथम” [१।३।५३] इत्यादिना षसः । “राजाहःसखिभ्यष्टः” [४।२।१३२] इति टे कृते “एभ्योऽह्नोऽह्नः” [४।२।१०] इत्यह्नादेशः । उत्तरपदप्राधान्यात् स्त्रीनपुंसके प्राप्ते ।

अहः ॥१।४।१०५॥ अह इत्ययं शब्दः पुंसि भवति । द्वयोरह्नो समाहारः द्वयहः । व्यहः । “न समाहारे” [४।२।११] इत्यह्नादेशप्रतिषेधः । टिलम् । “अनुवाकादयश्चेति वक्तव्यम् [वा०] अनुवाकः । सम्प्रवाकः । सूक्तवाकः ।

पुण्यसुदिनाभ्यां नप् ॥१।४।१०६॥ पुण्यसुदिनाभ्यां परः अहशब्दो नभवति । पुण्यमहः पुण्याहम् । पुण्यग्रहणं सूत्र उपजज्ञणम् । एकाहमिति च भवति । विशेषणसविधिः । “पुण्यैकाभ्याम्” [४।२।१२] इति अह्नादेशप्रतिषेधः । सुदिनमहः सुदिनाहम् ।

अपथम् ॥१।४।१०७॥ अपथं शब्दो नभवति । न पन्थाः अपथम् । “पथो वा” [४।२।१८] इति प्रतिषेध विकल्पः । “ऋक्पूरुषू पथोऽनक्षे” [४।२।७०] इति असन्तः । ष इत्येव । न विद्यते पन्था अस्मिन् अपथो देशः । अपथा अट्ठी । “ऋक्संख्यादेरिति वक्तव्यम्” [वा०] उत्पथम् । “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इति षसः । त्रिपथञ्चतुःपथमिति तासः ।

पुंसि चाधर्चाः ॥१।४।१०८॥ अधर्चादयः शब्दाः पुंसि नपि च वेदितव्याः । अधर्चं च तत् ऋक् च सार्द्धर्चः । अर्द्धं चम् । गोमयकत्रायकार्षापणकुतपकवाटशङ्खादिपाठादवगमः कर्त्तव्यः ।

“शब्दरूपाश्रया चेयं प्रणीतोभयान्निङ्गता । वर्वाचिदप्यर्थभेदेन शब्देषु व्यवतिष्ठते ॥”
पञ्चराङ्गशब्दौ निधिवचनौ पुल्लिङ्गौ । जलजे द्विलिङ्गौ । भूतशब्दः प्राणिति द्विलिङ्गः । क्रियाशब्दस्याभिधेयवल्लिङ्गम् । सैन्धवशब्दो लवणे द्विलिङ्गोऽन्यत्राभिधेयवल्लिङ्गः । सारशब्दोऽन्याय्येऽर्थे नपुंसकलिङ्गः । उरुर्ध्वेऽर्थे पुल्लिङ्गः । धर्मशब्दोऽपूर्वे पुल्लिङ्गः । तत्साधने नपुंसकलिङ्गः ।

अगे ॥११४१०६॥ अगे इत्ययमधिकारो वक्ष्यते । “हनो वध लिङि” [११४११४] इति ।
वध्यात् । वध्यास्ताम् । वध्यासुः । “अतः खम्” [४१४५०] इत्यकारस्य खम् । अग इति किम् ?
हन्यात् । अग इति विषयनिर्देशः । आदेशे कृते यो यतः प्राप्नोति स ततो यथा स्यादित्येवमर्थः । आख्ये-
यम् । भव्यम् । प्रवेयम् । परनिर्देशे हि एयः प्रसज्येत ।

तिक्रिप्येऽदो जग्धिः ॥११४११०॥ तकारादौ किति प्ये चागे परतोऽदेर्जग्धिरादेशो भवति ।
जग्धा । जग्धिः । जग्धवान् । इकार उच्चारणार्थः । “तथोर्धोऽधः” [१३१५६] इति तकारस्य धत्वम् ।
“भ्रूलां जश् ऋशि” [५१४१२८] इति धकारस्य दत्वम् । “भ्रूरो ऋरि स्वे” [११४१३६] इति दत्वम् ।
कथमन्नम् ? “अदोऽनन्ने” [२१२६०] इति निपातनात् । प्ये—प्रजग्ध्य । “अनल्विधौ” [११४१६६]
इति स्थानिवद्भावो नास्ति । इदमेव ज्ञापकम् “एकपदाश्रयत्वेनान्तरङ्गानपि जग्ध्यादिविधौ बहिरङ्गः
प्यादेशो बाधते” [५०] तेन प्रधायेत्यत्र हित्वं न भवति । प्रखन्येति “जनसनखनाम्” [४१४४३] इति
नित्यमात्वं न भवति । प्रदायेति “द्वो द्दुभोः” [५१२१४८] इति दत्वं नास्ति । प्रस्थयेति “द्यतिस्थिति-
मास्था” [११२१४४] इत्यादिनेत्वं नास्ति । प्रशम्येति “इस्य किम्बलोः” [४१४१३] इति दीत्वं नास्ति ।
प्रपृच्छ्य प्रदीन्येति शूठौ न भवतः । प्रपठ्येति इडभावः ।

घस्त्व लुङ्घञ्सनञ्चु ॥११४१२१॥ अदेर्घस्त्व इत्ययमादेशो भवति लुङि घञि सनि अचि च
परतः । लुङि—अघसत् । अघसताम् । अघसन् । घञि—घासः । सनि । जिघत्सति । अजिति
पचाद्यचः [२१११०६] “गावदः” [२१३१६३] इत्यस्य च सामान्येन ग्रहणम् । प्राप्तिः प्रादनं
वा प्रघसः ।

लिटि वा ॥११४१२२॥ लिटि परतः अदेर्घस्त्वादेशो भवति वा । जघास । जघतुः । जघ्नुः । आद ।
आदतुः । आदुः ।

वेञो वयिः ॥११४१२३॥ वेञो वयिरादेशो लिटि वा भवति । इकार उच्चारणार्थः । उवाय ।
ऊयतुः । ऊयुः । णलि “चस्यैर्वा लिटि” [४१३१३३] इति वकारस्य जिः । “लिटि वेञो यः” [४१३३२]
इति यकारस्य जिप्रतिषेधे “हलोऽनादेः” [५१२१६१] इति खम् । अतुसि उसि च “वचिस्वपियजादीनां
किञि” [४१३११] इति जिः प्राप्तः । “प्ये च” [४१३३४] इति प्रतिषिद्धिः । “वो वा किति”
[४१३३३] इति विभाषया प्राप्तः । “ग्रहिय्यावयि” [४१३१२] इति नित्यो जिर्भवति । यदा न वयिस्तदा
“प्ये च” [४१३३४] इति जिप्रतिषेधे—ववौ । द्विवहोः “वो वा किति” [४१३३३] इति जिपद्धे—
ऊवतुः । ऊवुः । जौ कृते द्वित्वे च “वाणाद्गावं बलीयः” [५०] इति उवादेशे कृते “स्वेऽको” [४१३८८]
दीत्वम् । अजिपद्धे—ववतुः । ववुः ।

हनो वध लिङि ॥११४१२४॥ हन्तेर्वध इत्ययमादेशो भवति लिङ्यगे परतः । वध इत्यदन्तः
उदात्तश्चादेशः । वध्यात् । वध्यास्ताम् । वध्यासुः । अखस्य स्थानिवद्भावादवधीरित्यत्र हलन्तलक्षणः
“अतोऽनादेर्धेः” [१११८३] इत्यैप् न भवति । इह वेति न स्मर्यते । वधक इति प्रकृत्यन्तरस्य ।

लुङि ॥११४१२५॥ लुङि परतो हन्तेर्वध इत्ययमादेशो भवति । अवधीत् । अवधिषाम् । अव-
धिषुः । उत्तरत्र वानिर्देशादिह नित्यो विधिः ।

वेङि ॥११४१२६॥ इङि लुङि परतो हन्तेर्वधादेशो वा भवति । आवधिषुः । आवधिषाताम् ।
आवधिषत । आहत । ग्राहसाताम् । ग्राहसत । “आङो यमहनः” [११२१२३] इति दविधिः । “हनः सिः”
[१११८८] इति सेः क्तिवम् । कर्मणि—अवधि । अवधिषाताम् । अवधिषत । जिवद्भावे अवधानि ।
अवधानिषाताम् । अवधानिषत ।

लुङ्येत्योर्गाः ॥११४११७॥ लुङि परतः एत्योर्गा इत्ययमादेशो भवति । अगात् । अगाताम् । अग्रुः । अध्रगात् । अध्रगाताम् । अध्रगुः । “स्थेणिव” [११४११६] इत्यादिना “इण्वदिकः” इति च सेरुप् । “आतः” [२१४६०] इति भेजुर्षु । पुनर्लुङ्प्रहणमिद्व्यपि नित्यार्थम् । अगायि भवता । अध्रगायि भवता । गात्रमिति गायते ।

णौ गमज्ञाने ॥११४११८॥ णौ परत एत्योर्गमित्ययमादेशो भवत्यज्ञानेऽर्थे । गमयति । गमयतः । गमयन्ति । अनेकार्थत्वादिकोऽप्यज्ञाने वृत्तिः । अधिगमयति । अधिगमयतः । अधिगमयन्ति । “उङोऽतः” [५२१४] इत्येप् । “जनीजृषवनसुरञ्जोऽमन्ताश्च” इति मित्वम् । “जिणामोर्दीमिताम्” [४१४८६] “प्रः” [४१४८७] इति प्रादेशः । अज्ञान इति किम् ? अर्थान् संप्रत्याययति ।

सनि ॥११४११९॥ सनि च परत एत्योरज्ञानेऽर्थे गमित्ययमादेशो भवति । जिगमिषति । अधिजिगमिषति । “गमेरिणे” [५१११०६] इतीट् । अज्ञान इत्येव । अर्थान् प्रतीषिषति । अच इति वर्तमाने “सन्त्यङोः” [४१३८] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । योगविभाग उत्तरार्थः ।

इङो ॥११४१२०॥ सनि परत इङो गमित्ययमादेशो भवति । अधिजिगांसते । इङिकावधिगि न व्यभिचरतः । “हनिङ्गम्यर्चा सनि” [४१४१४] इति दीत्वम् ।

गाङ् लिटि ॥११४१२१॥ इङो गाङित्ययमादेशो भवति लिटि परतः । अधिजगे । अधिजगते । अधिजगरे । “सेर्हपिच्व” [२१४७४] इति ज्ञापकादादेशस्य ङित्त्वे गाङो ङित्करणं किमर्थम् ? “गाङ्कुटादेरङ्गिण्डित्” [१११७६] इत्यत्र विशेषणार्थः । गायतेग्रहणं मा भूत् । अगासीद्वाथकः इति ईत्वं प्रसज्येत ।

लुङ्लृङोर्वा ॥११४१२२॥ लुङ्लृङोः परत इङो वा गाङादेशो भवति । लुङि—अध्यगीष । अध्यगीषाताम् । अध्यगीषत । “गाङ् कुटादेः” [१११७६] इति ङित्वं “मुमास्थागा” [४१४६६] इत्यादिनेत्वम् । पद्मे अध्यैष । अध्यैषाताम् । अध्यैषत । लृङि—अध्यगीष्यत । अध्यगीष्येताम् । अध्यगीष्यन्त । पद्मे अध्यैष्यत । अध्यैष्येताम् । अध्यैष्यन्त ।

णौ सन्कचोः ॥११४१२३॥ णौ सन्परे कन्परे च परतः इङो वा गादेशो भवति । अध्यापयितुमिच्छति अधिजिगापयिषति । “प्रकल्प्यापवाद्विषयं तत् उत्सर्गोऽभिनिविशते” [५०] इति गाङादेशपद्मे “क्रीङ्जेणौ” [४१३४१] इत्यात्वं न भवति । अन्यत्र अध्यापिपयिषति । “अचः” [४१३२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । कन्परे—अध्यजीगपत् । अन्यत्र अध्यापिपत् । माङ्योगे—मा भवानध्यापिपदिति भवति । “णौ कच्युङः” [१२१११६] इति प्रादेशे कृते द्वित्वम् । कथं ज्ञायते ? ओणतेः ऋदित्करणं ज्ञापकं यदि द्वित्वं प्रागेव स्यात् ओण उकारस्यानुङ्मूतत्वात् प्रादेशप्रतिषेधार्थं ऋदित्करणमनर्थकं स्यात् ।

अस्तिब्रूजोर्भूवच्ची ॥११४१२४॥ अस्तिब्रूजित्येतयोर्थथासंख्यं भूवचि इत्येतावादेशौ भवतः । भविता । भविषुम् । भवितव्यम् । अस्तीति तिपा निर्देशः किमर्थः ? यस्य केवलस्य अस्तीति रूपं तस्य यथा स्यात् अनुप्रयोगस्य लिटपरस्य मा भूत् । ईहामास । ब्रू—वक्त्रा । वक्तुम् । वक्तव्यम् । वचेरिकार उच्चारणार्थः । स्थानिवद्भावाद्ः । ऊचे ।

चक्षः खशाञ् ॥११४१२५॥ चक्षः खशाजित्ययमादेशो भवति अगे । आख्याता । आख्याता । “ख्शाःशो यो वा” [११४१२४] इति वा यकारादेशः । पर्याख्यानमित्यत्र यकारादेशस्यासिद्धत्वात् शकारेण व्यवहितत्वात् “कृत्यचः” [५१४१०८] इति णत्वं न भवति । स्थानिवद्भावेन “ङनुदात्तेतो ङः” [१२१६] इति नित्यं दो मा भूत् इति ङित् क्रियते ।

न वर्जने ॥११४१२६॥ वर्जनेऽर्थे चक्षुः खशाजादेशो न भवति । गां संचक्ष्य । वर्जयित्वेत्यर्थः । कण्टकाः संचक्ष्याः । नेति योगविभागादसि युचि च प्रतिषेधः । वृचक्षाः राक्षसः । विचक्षणः ।

वा ल्लिटि ॥११४१२७॥ लिटि परतो वा चक्षुः खशाजादेशो भवति । आचख्यौ । आचख्ये । आचचक्षे । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते ऽयमारम्भः ।

व्यजोऽघञचोः ॥११४१२८॥ अजेषोः वी इत्ययमादेशो भवति अघञचोः परतः । अनुदात्तोऽयमादेशः । प्रवेता । प्रवायकः । अघञचोरिति किम् ? समाजः । उदाजः । समजः । उदजः । “पशुष्वजः समुदोः” [२।३।५६] इति पशुविषयेऽच् । अन्यत्र घञ् । अजिति सामान्यग्रहणं तेन पचादिलक्षणेऽप्यचि प्रतिषेधः । अजतीत्यजः ।

बहुलं खौ ॥११४१२९॥ खुविषये बहुलमजेर्वाभावः । प्रवयणो दरडः (प्राजनः ।) बहुलग्रहणाद्युबलादौ च विकल्पः । प्रवेता । प्राजिता । प्रवेतुम् । प्राजितुम् । प्रवयणम् । प्राजनम् । अजिरमित्यौणादिकः शब्दः । समञ्ज्या । “समजनिषद” [२।३।८१] इत्यादिना क्यप् । अत्र बहुलवचनान्न भवत्येव ।

जिण्यराजार्षाद्यन्युबणिजोः ॥११४१३०॥ जिदन्तात् एयन्तात् राजविशेषवाचिवृद्धात् ऋष्यणन्ताच्च परयोरणिजोः यूनि उञ् भवति । जितः-तिकस्यापत्यं वृद्धं तैकायनिः । तैकायनेरपत्यं प्राग्दोरण उपितैकायनिः पिता तैकायनिः पुत्रः । विदस्यापत्यं वैदः । वैदस्यापत्यं युवा इज उपि वैदः पिता वैदः पुत्रः । एयः । कुरोरपत्यं कौरव्यः । “कुर्वादिर्ण्यः” [३।१।१३६] इति एयः । कौरव्यस्यापत्यं इज उपि कौरव्यः पुत्रोऽपि । इहोन्नचनसामर्थ्यात् कौरव्यशब्दादिञ् । तिकादौ पाठात् फिजपि भवति । कौरव्यायणिरिति । राज्ञः स्वफलकस्यापत्यं स्वारुलकः । “कुर्वृष्यन्धकृष्येः” [३।१।१०३] इत्यण् । तदन्तादिज उपि स्वाफलकः पिता । स्वाफलकः पुत्रः । एवं कलिङ्गस्यापत्यं कालिङ्गः । “द्वयञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्” [३।१।१५२] इत्यण् । तदन्तादिज उपि कालिङ्गो युवाऽपि । इह पाञ्चालः पिता पाञ्चालः पुत्रः इति । “जितः” इति वा “राजः” इति वा उप् । आर्षात् । वशिष्ठस्थापत्यं “कुर्वृष्यन्धकृष्येः” [३।१।१०३] इत्यण् । वाशिष्ठः । तदन्तादिज उपि वाशिष्ठः पुत्रोऽपि । जिण्यराजार्षादिति किम् ? कुहडस्यापत्यं कौहडः । “शिवादिभ्योऽण्” [३।१।१०१] इत्यण् । तस्याप्यपत्यं कौहडिः । यूनीति किम् ? वामरथस्यापत्यं वामरथः । “कुर्वादिर्ण्यः” [३।१।१३६] । तस्य शिष्या वामरथाः । वामरथस्य “शकलादिवत्” इत्यतिदेशात् “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३।२।८७] इति शैषिकोऽण् “क्यच्छयना” [३।४।१४१] इत्यादिना यत्वम् । अणिजोरिति किम् ? दक्षस्यापत्यं दक्षिः । दानेरपत्यं दानायणः ।

पैलादेः ॥११४१३१॥ पैलादेः परस्य युवत्यस्योब् भवति । पीलाया अपत्यं पैलः । “पीलाया वा” [३।१।१०७] इत्यण् । पैलस्यापत्यं “द्वयचोऽण्” [३।१।१४३] इति फिज् । तस्योप् । पैलः पुत्रोऽपि । अन्य इजन्तास्तेभ्यः परस्य फण् । “प्राचामिजोऽतौत्वलिभ्यः” [१।४।१३२] इति प्राप्ते उपि अप्रागर्थमिदम् । पैलः । सालङ्किः । सात्यकिः पिता । सात्यकिः पुत्रः । सात्यकामिः । औदङ्घ्रिः । बाहादिषु उदञ्चुशब्दः सनकारः पठ्यते । औदमञ्जिः । औदमञ्जिः । औदमेधिः । औदशुद्धिः । दैवस्थानिः । पैङ्गलायनिः । राणायनिः । रौहन्तिः । भौलिङ्गिः । राजाऽयं शाल्वावयवः । सौमिनिः । औद्वाहमानिः । औज्जिहानिः । औज्जहायिनिः । त्रिसंज्ञाच्चाणः परस्य युवत्यस्योप् । आङ्गः । “द्वयचोऽण्” इति फिज् । तस्योप् । आकृतिगणोऽयम् । तेन वीविजावालि औदम्भरि एतेभ्यः साल्वावयवत्वादिञ् । भाडीजङ्घिः इत्यादि द्रष्टव्यम् ।

प्राचामिजोऽतौत्वलिभ्यः ॥११४१३२॥ प्राचां वृद्धे य इज् तदन्ताद्युक्त्यस्योब् भवति तौत्वलिप्रभृतीन् वर्जयित्वा । पानागारिः पिता । पानागारिः पुत्रः । मान्यरेषणिः पिता । मान्यरेषणिः पुत्रः ।

क्षैरकलम्भिः पिता । क्षैरकलम्भिः पुत्रः । “यज्जिजोः” [३।१।६०] इत्यस्य फण् उप् । प्राचाभिति किम् ? दाक्षिः पिता । दाक्षायणः पुत्रः । अतौल्वलिभ्य इति किम् ? तौल्वलिः पिता । तौल्वलायनः पुत्रः । तौल्वलिः । धारणिः । स्वालिम्पिः । दैलीपिः । दैवतिः । दैवमित्रिः । दैवमतिः । दैवयज्ञिः । प्राडाहनिः । मांघातकिः । आनुराहतिः । बाह्यादिरथम् । आनुतिः । आहिःसिः । आसुरिः । नैमषिः । आसिबन्धकिः । वैङ्किपौषिः । पौष्करसादिः । अयं बाह्यादौ वैरकि । वैलकिः (वैल्वकिः) । वैहतिः । वैकणिः । कारेणुपालिः ।

द्रेर्बहुषु तेनैवास्त्रियाम् ॥१।४।१३३॥ द्विसञ्ज्ञकस्य त्यस्य बहुर्येषु वर्तमानस्य उच् भवति तेनैव द्विसञ्ज्ञकेन कृतं बहुत्वं भवति अस्त्रियाम् । आङ्गः । आङ्गौः । अङ्गाः । ऐच्वाकः । ऐच्वाकौ । इच्वाकवः । अणः अजश्च द्विरित्यधिकारेण द्विसञ्ज्ञा स्वार्थिकानामपि “ते द्वयः” [४।२।६] इति द्विसञ्ज्ञा । लौहध्वज्यः । लौहध्वज्यौ । लोहध्वजाः । त्रैहिमत्यः । त्रैहिमत्यौ । व्रीहिमताः । “पूगाल्भ्योऽग्रामणीपूर्वात् [४।२।१] इति व्यः । द्वन्द्वेऽपि सामान्येन द्विसञ्ज्ञा कृते बहुत्वे भवति अङ्गवङ्गसुप्ताः । द्वेरिति किम् ? औपगवाः । बहुष्विति किम् ? आङ्गः । आङ्गौ । तेनैवेति किम् ? प्रियो वाङ्ग एषामिति प्रियवाङ्गाः । अत्र वृत्त्या बहुत्वं गम्यते । अतोऽनुबर्हत्यान्तानामन्येषां च द्वन्द्वे तेनैव कृतं न बहुत्वमित्युभयं भवति । गार्ग्यवात्स्यौपगवाः । ज्ञापकादुबन्धयत्र भवतीति केचित् । गार्ग्वत्स्योपगवाः । किं ज्ञापकमिति चेत् “शरद्वच्छुनकदभार्द् भृगुवत्साग्रायणेषु” [३।१।६१] इति वचनम् । भार्गववात्स्याग्रायणेष्विति निर्देशः स्यात् । उभयथाऽपि साधुः प्रयोगः । अस्त्रियामिति किम् ? आङ्गयः वाङ्गयः स्त्रियः ।

यस्कादिभ्यो वृद्धे ॥१।४।१३४॥ यस्क इत्येवमादिभ्यः परस्य वृद्धत्यस्य बहुषु वर्तमानस्योच् भवति अस्त्रियां तेनैव चेत् कृतं बहुत्वम् । उभयगतिरिह शास्त्रे लौकिकमपि वृद्धं गृह्यते तेनानन्तरापत्येऽप्युच् भवति । यास्कः । यास्कौ । यस्काः । “शिवादिभ्योऽण्” [३।१।१०१] इत्यागतस्याण उप् । यस्क लुब्ह द्रुह्य अयस्थूण तृणकर्ण भलन्दन एतेषां शिवादिषु पाठः । कम्बलहार बहिर्योग कर्णाटक पर्णाटक सदाभत पिण्डीनडध्व बकसन्ध रत्नोमुख जङ्घारथ उत्कास कटुक मन्थक पुष्करवत् । अस्य “न गोपवनादेः” [१।४।३१८] इति प्रतिषेधः प्राप्तः । विषपुष्ट उपरिमेखल पदक भटक भडिल भण्डिल एतेभ्यः “अशवादेः फञ्” [३।१।६६] इति फञ् । कुद्रि अजवस्ति विश्रि मित्रयु एतेभ्यः “गृष्ट्यादेः” [३।१।१२४] इति ढण् । वृद्ध इति किम् ? यस्को देवता एषां यास्काः । बहुष्वित्येव । यास्कौ । तेनैव चेत्येव । प्रिययास्काः । अस्त्रियामित्येव । यास्क्यः ।

यज्जोः ॥१।४।१३५॥ यजश्च अजश्च वृद्धे बहुषु वर्तमानस्योच् भवति तेनैव चेद्बहुत्वमस्त्रियाम् । गर्गाः । कसाः । अजः । विदाः । ऊर्वाः । “विदादिभ्योऽनृष्यानन्तर्येऽज्” [३।१।६३] इति अज् । बहुष्वित्येव । गार्ग्यः । वैदः । तेनैवेत्येव । प्रियगार्ग्याः । वृत्त्याऽत्र बहुत्वं गम्यते । यत्र वृत्त्यैकत्वं गम्यते यथा बहुत्वं तत्रापि भवति । गर्गानतिक्रान्तः अतिगर्गः । अस्त्रियामित्येव । गार्ग्यः स्त्रियः । “यजः” [३।१।१८] इति ङीविधिः । “यस्य ङ्याञ्च” [४।४।१३६] इति खम् । “दलो हतो ङ्याम्” [४।४।१४०] इति यकारस्य खम् । “यजादीनामेकत्वद्वित्वयोर्वा तासे इति वक्तव्यम्” [वा०] गार्ग्यस्य कुलं गार्ग्यकुलम् । गर्गकुलम् । गार्ग्ययोः कुलं गार्ग्यकुलम् । गर्गकुलम् । वैदस्य कुलं वैदकुलम् । विदकुलम् । वैदयोः कुलं वैदकुलम् । विदकुलम् । न वक्तव्यं यदा यजादयो न श्रूयन्ते तदा मूलप्रकृतेस्तासः निश्चयविषयत्वात् शब्दानां तत उभयं सिध्यति ।

भृग्वत्रिकुत्सवशिष्टगोतमाङ्गिरोभ्यः ॥१।४।१३६॥ वृद्ध इति वर्तते । भृगवादिभ्यः परस्य वृद्ध-
त्यस्य बहुषून्भवति । भार्गवः । भार्गवौ । भृगवः । आत्रेयः । आत्रेयौ । अत्रयः । एवं कुत्साः वशिष्टाः गौतमाः

अङ्गिरसः । अत्रिशब्दात् "इतोऽनिजः" [३।१।१११] इति टण् । अन्येभ्य ऋष्यण् । बहुष्वित्येव । भार्गवः । आङ्गिरसः । तेनैवेत्येव प्रियभार्गवाः । अस्त्रियमित्येव । भार्गव्यः स्त्रियः । वृद्ध इत्येव । भृगुर्देवता एषामिति भार्गवाः ।

इजो बह्वचः प्राच्यभरतेषु ॥१।४।१३७॥ बह्वचो मृदो य इज् तस्य प्राच्यभरतेषु वृद्धे बहुषूभ-
वति । प्राज्ञागारिः । पान्नागारी । पन्नागाराः । एवं मान्थरेषणिः । मान्थरेषणी । मन्थरेषणाः । बह्वच इति
किम् ? पौष्यः । प्राच्यभरतेष्विति किम् ? वालाक्यः । हास्तिदास्यः । ननु भरतः प्राच्य एव तेषां पृथग्रहणं
किमर्थम् ? ज्ञापकार्थमन्यत्र प्राच्यग्रहणे भरतग्रहणं न भवतीति । तेन "प्राचामिजोऽतौत्वलिभ्यः" [१।४।१३२]
इति अत्र भरतानां युवत्यस्योन्म भवति । यौधिष्ठिरिः पिता यौधिष्ठिरायणः पुत्रः । ननु युधिष्ठिरादिभ्य इज् एव
नास्ति "कुट्ट्व्यन्धकवृष्णेः" [३।१।१०३] इत्याद्या भवितव्यम् । इह तर्हि उन्म भवति औद्दालकिः
पिता औद्दालकायनः पुत्रः । अत्र "प्राचामिजोऽतौत्वलिभ्यः" इति युवत्यस्योप्प्रसज्येत । एतद्वि
प्राच्यभरतगोत्रम् ।

न गोपवनादेः ॥१।४।१३८॥ विदाद्यन्तर्गणो गोपवनादिः । गोपवन इत्येवमादेः परस्य वृद्धत्यस्योव्
न भवति । गोपवनस्यापत्यानि गौपवनाः । "यजजोः" [१।४।१३५] इत्यु प्रातः । गोपवन शिशुविन्दु भाजन
अश्वावतान श्यामक श्यामाक श्यापर्ण एते गोपवनादयः । प्राग्घरितशब्दात् परत उन्मभवति । हरिताः ।
किंदासाः । तौत्वलिप्रभृतयोऽत्र पठ्यन्त इति केचित् । तौत्वलयः । अनन्तरेण उप्रातः ।

घोपकादिभ्यः ॥१।४।१३९॥ उपक इत्येवमादिभ्य उत्तरस्य वृद्धत्यस्य वा बहुषूभभवति । उपकस्या-
पत्यानि उपकाः । औपकायनाः । लमकाः । लामकायनाः । एतौ नडादौ । भ्रष्टकाः । भ्राष्टक्यः । कपिष्ठलाः ।
कापिष्ठलयः । कृष्णाजिनाः । कृष्णाजिनयः । कृष्णसुन्दराः । काष्ण्यासुन्दरयः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनै-
षामद्वन्द्वे विकल्पः । परिशिष्टानां द्वन्द्वे चाद्वन्द्वे च । सुपिष्ठ मयूरकर्णं कर्णकं पर्णकं पिङ्गलकं जटिलकं वधिरकं
एतेषां शिवादिषु पाठः । अनुलोमप्रतिलोम एतौ बाह्यादी । वटारक आडारक असुकक [अबन्धक] उद्दक
सुपर्चक सुवर्चक सुवर्मक खरीजड्घ शलाजड्घ शलायल पतञ्जल कमन्दक कण्ठेरणि कुशीतक काशकृत्स्न
निदाघ कलशीकष्ठ दामकण्ठ कृष्णापिङ्गल जतुक अविरग्ध कपिष्ठलक प्रतान अनभिहित ।

तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे ॥१।४।१४०॥ वेति नानुवर्तते । तिककितव इत्येवमादिभ्यो द्वन्द्वे वृद्धस्य
बहुषूभ भवति । तैकायनयश्च कैतवायनयश्च तिककितवाः । तिकादिलक्षणस्य फिज उप् । वाङ्खरयश्च भाण्डी-
रथयश्च इज् उपि वङ्खरभण्डीरथाः । पाटकयश्च नारकयश्च पटकनरकाः । वाकनखयश्च श्रागुदपरिणद्धयश्च
वकनखरवगुदपरिणद्धाः । औञ्जयश्च काकुभाश्च ककुमराब्दः शिवादिषु विदादिषु वास्ति उञ्जककुभाः ।
लाङ्कयश्च शान्तमुखयश्च लङ्कशान्तमुखाः । उरसशब्दस्तिकादौ । औरसायनयश्च लाङ्कयश्च उरसलङ्कटाः ।
अग्निवेशशब्दो गर्गादौ । अग्निवेशाश्च दाशेरकयश्च अग्निवेशदाशेरकाः । औपकायनाश्च लामकायनाश्च
फण् उपि उपकलमकाः । भ्राष्टकयश्च कापिष्ठलयश्च भ्रष्टककपिष्ठलाः । काष्ण्याजिनयश्च काष्ण्यासुन्दरयश्च
कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः ।

कौण्डिन्यागस्त्ययोः कुण्डिनागस्ती ॥१।४।१४१॥ कौण्डिन्य आगस्त्य इत्येतयोर्वृद्धत्यस्य बहुषूभ
भवति कुण्डिन अगस्ति इत्येतौ चादेशौ यथासङ्ख्यं भवतः । अगस्त्यशब्दात् ऋष्यण् । कुण्डमस्यास्तीति
कुण्डिनी नाम काचित् गर्गादौ पठ्यते । कौण्डिन्यः । कौण्डिन्यौः । कुण्डिनाः । आगस्त्यः । आगस्त्यौः । अग-
स्त्यः । यद्यपि "यजजोः" [१।४।१३५] इति यज् उप् सिद्धस्तथापि कुण्डिनशब्दोऽकारान्त आदेशो विधीयमानो
बाधकः स्यादिति पुनर्वचनम् । अगस्तीनां छात्रा आगस्तीया इत्यत्र अगस्तिरादेशो भवति । प्राग्द्रवीविषये
"वृद्धेऽच्यनुप्" [३।१।७३] इति अनुपि सति "द्वोरङ्" [३।२।१०] इति ङः सिद्धः । कौण्डिन्यशब्दा-
च्छस्य बाधकः "शकलादिभ्यो वृद्धे" [३।२।८७] इति अण् भवति । कौण्डिनाश्छात्राः ।

हादकारान्तात् परस्य सुप उन्न भवति । अमादेशस्तु भवति सुपः कां विभक्तीं वर्जयित्वा । उपकुम्भं तिष्ठति । उपकुम्भं पश्य । उपकुम्भं देहि । अत इति किम् ? उपाग्नि । अकाया इति किम् । उपकुम्भादानय ।

ईभयोर्विभाषा ॥११४१५३॥ ईप् भा इत्येतयोर्विभाषा अमादेशो भवति । उपकुम्भं कृतम् । उपकुम्भेन कृतम् । उपकुम्भं कृतम् । उपकुम्भाभ्यां कृतम् । उपकुम्भं निधेहि । उपकुम्भे निधेहि । व्यवस्थितविभाषेयम् । तेन ऋद्धिनदीसंख्यावयवभ्यो नित्यममादेशः । ऋद्धौ । सुमद्रं कृतम् । सुमगधं कृतम् । नदीसे—“नदीभिश्च” [११३१७] इति हसः । उन्मत्तगङ्गम् । द्वियसुनम् । संख्यावयवः—“संख्या वंशयेन” [११३१६] इति हसः । द्विकौशलम् । त्रिकौशलम् । एकविंशति भारद्वाजम् ।

लुटोऽन्यस्य डारौरसः ॥११४१५४॥ लुटोऽन्यसंज्ञस्य त्रिकस्य डा रौ रस् इत्येते आदेशा भवन्ति । अर्थद्वारकमत्र यथासंख्यम् । श्रोता । श्रोतारौ । श्रोतारः । अध्येता । अध्येतारौ । अध्येतारः । डा इत्यन्तादेशः । डा आ इति प्रश्लेषनिर्देशाद्दानेकाल् सर्वादेशः । डित्यभस्यापि डित्करणसामर्थ्याद्विखम् । रौरसोः परतः “रि” [५१२१५३] इति सखम् ।

इत्यभयनन्दिमुनिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

अध्यायश्च समाप्तः ।

द्वितीयोऽध्यायः

त्यः ॥२१११॥ अधिकारेण संज्ञेयमा कपः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः अपूर्वं शब्दोपजननं प्रकृतिवाग्विशेषणविकारागमवर्जं यत् त्यसंज्ञं तद् वेदितव्यम् । प्रकृतिर्गुपादिः । वाक् “कर्मण्यण्” [२१२११] इत्येवमादावीपा निर्दिष्टम् । विशेषणं “इतिनाथयोः पशौ ह्रजः” [२१२३०] इत्येवमादौ पश्वादि । विकारः सतो भावान्तरावाप्तिः । “दुहो घश्च” [२१२३६] इत्येवमादिषु घकारादिः । आगमः परतन्त्रः । “अपुजतुनोः पुक्” [३३१०६] इत्येवमादिः । युक्तिरुच्यते निर्मित्ति कार्यञ्च निर्मित्तिस्येति प्रकृतिवागुपाधीनामग्रहणम् । अथवा भाव्यमानविभक्तीनिर्दिष्टं सन्नादि प्रधानं भूतविभक्तीनिर्दिष्टं प्रकृत्याद्यप्रधानं प्रधाने च कार्यसम्प्रत्ययः । विकारागमयोस्तु “परः” [२११२] इत्यनेन निरासः; नहि तयोः परत्वं सम्भवः । वक्ष्यति तव्यानीथौ । कर्त्तव्यः । करणीयः । प्रतियन्ति तैनाथमिति प्रत्ययः । “पुंस्त्रैघः प्रायेण” [२३१००] इति घः । एवं यद्यन्वर्था संज्ञा क्रियेत तदा प्रकृतेः सविभक्तिकस्य वा पदस्य त्यसंज्ञा स्यात् । त्यप्रदेशाः “यत्त्वे तदादि गुः” [११२१०२] इत्येवमादयः ।

परः ॥२११२॥ परिभाषेयं नियमार्था । पर एव भवति धोर्मुदो वा यस्त्यसंज्ञः । कर्त्तव्यः । करणीयः । औपगवः । धोरित्येवमादौ दिग्गोलक्षणकानिर्देशोऽपि पूर्वशब्दस्याध्याहारः स्यादिति परत्वं न लभ्यते “ईष्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः” [१११६०] इत्यत्र यदि कार्यं परमुच्यते तत्तानिर्दिष्टस्येति । न च सनादयस्तानिर्दिष्टाः । अथासतः प्रादुर्भावः पर उच्यते एवं सति नियमार्थमिदं त्यपरैव प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवला ।

गुत्तिज्किद्भ्यः सन् ॥२११३॥ त्य इति वर्तते । गुप् तिज् कित् इत्येतेभ्यः परः सन् भवति । जुगुप्सते । तित्तिद्धते । चिकित्सति । धुसंशब्दनेनाविधानात् अगसंज्ञा नास्ति । तेन^२ नेडागमः । “निन्दाक्षमारोगापनयेषु यथाक्रमं सन्निव्यते” [वा०] । गोपननिशाननिवासादिषु न भवति । गोपनं गोपायति । तेजं तेजयति । निकेतनं निकेतयति । भुवादिषु पाठः किमर्थः ? “अस्त्यात्” [२१३८३] इत्यकारो यथा स्यात्^३ ।

१. न्दिविर-अ०, ब०, स० । २.-स्तीति ने-अ० । ३. जुगुप्स तित्तिद्ध चिकित्सेत्यादीनां भवादिषु पृथक् पाठाकरणम् अस्त्यादित्यर्थमित्याशयः कथञ्चिदुन्नेयः ।

जुगुप्सा । तितित्ता । चिकित्सा । सनोऽकारोपदेशः प्रतीषिषतीत्यादौ श्रवणार्थः ।

“एकदेशकृतं लिङ्गं समुदायविशेषणम् । अनुदात्तेष्वभाद्याभ्यां तेनायं दो विधीयते ।”

मान्बधदानशान्भ्यो दीश्चस्य ॥२।१।४॥ मान् वध दान शान् इत्येतेभ्यः सन् भवति दीश्च चस्ये-
कारस्य । मीमांसते । बीभत्सते । दीदांसते । शीशांसति । शीशांसते । आद्यावनुदात्तेतौ । परौ स्वरितैतौ ।
“चविकारेष्वपवादा उत्सर्गान्न बाधन्ते” [प०] इति कृतेकारस्य चस्य दीत्वम् । अत्रापि “जिज्ञासावैरूप्याज्व-
निज्ञानेषु यथाक्रमं सन्निष्यते” [वा०] । पूजान्बधनावखण्डनतेजनेषु न भवति । मानयति । बाधयति । दानयति ।
निशानयति । दान उत्तरत्र वेति व्यवस्थितविभाषा । तदवलोकनादयं विभागः ।

तुमीच्छायां धोर्वीप् ॥२।१।५॥ इच्छायां तुमि यो धुस्तस्मात् सन् वा भवति तुमश्चोऽभवति यदा
सन् । कर्तुमिच्छति चिकीर्षति । बुभुक्षते । अयं 'हीच्छायां तुम् विहितः । हेतुफलयोरित्यधिकृत्य “इच्छार्थं
लिङ्छोढौ” [२।३।१३३] “तुमेककर्तृके” [२।३।१३४] इति वचनात् । इहापि सामान्यविशेषभावेन हेतुफल-
भावोऽस्ति । एषितुमिच्छति एषिषिषति । तुमिति किम् ? इच्छायामित्युच्यमाने इच्छार्थानामिषिवाच्छायादीनां
ग्रहणं स्यात् । तुमग्रहणे सति इच्छायामित्येतत्तुमो विशेषणम् । इच्छायामुपलक्षिते तुमीति । तेन यत्र तुमो
निमित्तं हेतुफलभावो नास्ति तत्र न भवति । इच्छति कटं करोति चैनम् । भिन्नकर्तृकत्वे च न भवति । इच्छति
देवदत्तः कटं कुर्याज्जिनदत्तः । यत्र तुम् नास्ति तत्र च न भवति । इच्छायामिति किम् ? कर्तुं गच्छति । अत्र
“बुण्णुनौ क्रियायां तदर्थायाम्” [२।३।८] इति तुम् । धोरिति किम् ? प्रकर्तुमैच्छत् प्राचिकीर्षत् । सगेरुत्प-
त्तिर्मा भूत् । अग्रसंज्ञार्थं च धुग्रहणम् । वाग्रहणाद्वाक्यस्यापि साधुत्वम् । इहोपचारात् सिद्धम् । पिपतिषतीव
पिपतिषति कूलम् । मुमूर्षतीव मुमूर्षति श्वा । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनेच्छासन्नतात् सन्न भवति । चिकी-
र्षितुमिच्छति । अनिच्छासन्नन्ताद्भवति । जुगुप्सिषते ।

“मत्वर्थाच्छैषिकाच्चापि मत्वर्थः शैषिकस्तथा । सरूपत्यविधिर्नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥”

स्वेषः क्यच् ॥२।१।६॥ स्वस्य यदिवन्तं तस्मादिच्छायां वा क्यञ् भवति । आत्मनः पुत्रमिच्छति
पुत्रीयति । पटीयति । ककारो “नः क्ये” [१।२।१०४] इत्यत्र सामान्यग्रहणार्थः । चकारः सामान्यग्रहणाविषा-
तार्थः । तेन “एकानुबन्धग्रहणे न द्वयनुबन्धकस्य” [प०] इत्ययं विघातो नास्ति । स्वग्रहणं किम् ? पुत्रमिच्छति
ब्रह्मचारी मरणमिच्छति दुर्जनः । अत्र परस्येति गम्यते । इविति किम् ? पुत्र इच्छति । पुत्राय इच्छति ।
वाक्यात् कस्मान्न भवति । महान्तं पुत्रमिच्छति वाक्यस्यानिबन्तत्वात् । अवयवादसामर्थ्यान्न भवति । कर्मोक्त-
मत्र क्यचा तेन कर्त्तरि भावे च प्रयोगः । पुत्रीयति । पुत्रीयते अनेन । वेत्यनुवृत्तेर्भिन्नेभ्यो न भवति ।
उच्चैरिच्छति । इदमिच्छति । किमिच्छति ।

काम्यः ॥२।१।७॥ स्वस्य यदिवन्तं तस्माद्वा काम्यो भवतीच्छायाम् । पुत्रमिच्छत्यात्मनः पुत्रकाम्यति ।
पटकाम्यति । ककारस्य प्रयोगार्हत्वादित्संज्ञा नास्ति । योगविभागादुत्तरत्र क्यच् एवानुवृत्तिर्न काम्यस्य ।

गौणादाचारे ॥२।१।८॥ गौणमुख्यमाचरणक्रियायामुपमानमित्यर्थः । गौणादिबन्तादाचारेऽर्थे वा
क्यञ् भवति । पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति छात्रम् । प्रावारीयति कम्बलम् । व्यवस्थितविभाषाधिकारादीप्यपि
भवति । प्रासादीयति कुट्ये ।

कर्तुः क्यङ् सखं विभाषा ॥२।१।९॥ कर्तुं गौणादाचारेऽर्थे वा क्यङ् भवति यद्यन्ते सकार-
स्तस्य च खं विभाषया । इह कर्तुं ग्रहणादिम्न सम्भवति सुवन्तात् क्यङ् । श्येन इव आचरति काकः श्येना-
यते । कुमुदं पुष्करायते । व्यवस्थितविभाषेयम् । “ओजोऽप्सरसोर्नित्यं पयस्तु विभाषया सखम्” [वा०] ।

१. यदीच्छा-अ० । २. पा० भाष्ये—“शैषिकान्मनुबन्धार्थाच्छैषिको मनुबन्धकः । सरूपः प्रत्ययो
नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥” इत्येवंरूपः ।

ओजस्वीवाचरति ओजायते । वृत्तिविषये मत्वर्थीयः क्यङोक्तः । अप्सरायते । मथितं पयायते पयस्यते । अस-
खपत्ने “नः क्ये” [१।२।१०४] इति नियमात् पदत्वाभावे रिखादिविधिर्न भवति । कर्तुरिति सखापेक्षया
तथा विपरिणम्यते तेनान्त्यस्य खम् । इह न भवति । सारसायते । “आचारे सर्वमृद्भ्यः क्त्वा भवतीत्येके”
[वा०] अश्व इवाचरति अश्वति । अश्वायते ।

भृशदेश्चवौ हलो भुचि ॥२।१।१०॥ कर्तुरिति वर्तते । भृश इत्येवमादिभ्यः च्यर्थे वर्तमा-
नेभ्यो भवत्यर्थे वा क्यङ् भवति यद्यन्ते हल् तस्य^१ च नित्यं खम् । च्विर्विकल्पेन विधीयते । यत्र नोत्पद्यते
तत्रायं क्यङ् । अभृशो भृशो भवति भृशायते । भृश शीघ्र चपल परिडत उत्सुक । नात्र गर्वहिर्भावः । उन्म-
नस् सुमनस् दुर्मनस् अभिमनस् । संग्राम युद्ध इति ज्ञानक्रावुदादीनामडागमःडिनु बहिर्भावः । रेहत् वेहत्
शश्वत् तृप्त वृत्तस् ओजस् आण्डर शुचि मन्द नील मद्र फेन हरित ।

डाजलोहितात् क्यष् ॥२।१।११॥ डाजन्ताल्लोहितशब्दाच्च च्यर्थान्नवत्यर्थे वा क्यष् भवति ।
च्यर्थग्रहणं लोहितस्य विशेषणं न डाजन्तस्याव्यभिचरन् । पटपययति । पटपययते । यदा न क्यष् तदा
पटपयामवतीति प्रयोगः । अलोहितो लोहितो भवति लोहितायति । लोहितायते । एवं हि “नः क्ये”
[१।२।१०४] इत्यत्र सामान्यग्रहणार्थः ककारः शोभेत यदि चर्मादिभ्योऽपि स्यात् । चर्मायति । चर्मायते ।
निद्रायति । निद्रायते । कर्णायति । कर्णायते । कृपायति । कृपायते । वृत्तिविषये मत्वर्थीयः क्यष्ऽभिहितः ।

कष्टाय ॥२।१।१२॥ क्यङ् अनुवर्तते । कष्टयेति तादर्थ्ये अप् । कष्टाय ये शब्दा वर्तन्ते तैभ्यः क्यङ्
भवति । कष्टार्थादिति वक्तव्यम् । अवन्तनिर्देशः समर्थविभक्त्युपादानार्थः । अभिधानवशात् क्रमणोऽनार्जवे
क्यङ् द्रष्टव्यः । यथा “नमोवरिवश्चिन्नः क्यच्” [२।१।१६] इत्यत्र पूजाद्यर्थनियमः । कष्टाय कर्मणे क्रामति
कष्टायते । अनार्जवं पापं करोतीत्यर्थः । सत्राय कर्मणे क्रामति सत्रायते । कक्षायते । गहनायते । अनार्जव इति
किम् ? अजः कष्टं क्रामति । नात्र पापं गम्यते ।

वाष्पोष्मफेनादुद्वघ्ने ॥२।१।१३॥ इप इति वर्तते । वाष्प ऊष्मन् फेन इत्येतैभ्यः उद्वम इत्यर्थे क्यङ्
भवति । वाष्पमुद्वमति वाष्पायते । ऊष्माणमुद्वमति ऊष्मायते । फेनायते ।

रोमन्थतपःशब्दचैरकलहाभ्रकण्वमेघात् कृञि ॥२।१।१४॥ रोमन्थ तपस् शब्द वैरं कलह
अभ्र कण्वं मेघ इत्येतैभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् भवति । रोमन्थं करोति रोमन्थायते गौः । अत्र करोतिः क्रिया-
सामान्ये वर्तमानोऽपि अन्यद्दृष्टान्तर्नृत्तक्रियायां गृह्यते । तेनेह न भवति । क्रीटको रोमन्थं वर्तयति । “तपसो
मञ्जेति वक्तव्यम्” [वा०] तपः करोति तपस्यति । तपश्चरतीत्यर्थः । शब्दं करोति शब्दायते । वैरायते । कल-
हायते । अभ्रायते । कण्वायते । पापं करोतीत्यर्थः । मेघायते । तत्करोतीत्यस्मिन्नर्थे णिजपि भवति । शब्दयति ।
वैरयति । “सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्चेति वक्तव्यम्” [वा०] सुदिनायते । दुर्दिनायते । नीहारायते । “अटाट्टाङ्गी-
काकोटापोटासोटापुष्टाभ्योऽपीति केचित् ।” [वा०] अट्टायते । अट्टायते । शीकायते । कोटायते । पोटायते ।
सोटायते । पुष्टायते ।

सुखादेः स्वभोगे ॥२।१।१५॥ भोगोऽनुभवो वेदना वा । सुख इत्येवमादिभ्य इवन्तैभ्यः स्वभोगे
क्यङ् भवति । सुखमात्मनः करोति सुखायते । सुखं भुङ्क्ते अनुभवति वेदयतीत्यनर्थान्तरम् । एवं दुःखायते ।
सुख दुःख तृप्त कृच्छ्र अस्र अलीक कर्ण कृपण सोढ प्रतीप । स्वभोग इति किम् ? सुखं करोति प्रसाधको
देवदत्तस्य ।

१. तस्य नित्यं खम् ब०, स०, सु० । २. कृण्ट अ०, ब०, स० । ३. कण्ट अ०, ब०, स० ।

४. कण्ठायते अ०, ब०, स० ।

नमोवरिवश्चित्रङ्कः क्यच् ॥२।१।१६॥ कृजीति वर्तते । नमस् वरिवस् चित्रङ् इत्येतेभ्यः क्यञ् भवति करोत्यर्थे । पूजापरिचर्याश्रयविशेषे । नमः करोति नमस्यति देवान् । अत्र नमःशब्दस्यानर्थकत्वात्तद्योगे नाब् भवति । वरिवः करोति वरिवस्यति गुरुन् । चित्रङ् करोति चित्रीयते । डित्त्वाद् । पूजादिभ्योऽन्यत्र नमः करोतीति भवति ।

पुच्छभाण्डचीवराण्शिङ् ॥२।१।१७॥ पुच्छ भाण्ड चीवर इत्येतेभ्य इबन्तेभ्यो णिङ् भवति करोत्यर्थविशेषे । कोऽसौ विशेषः । “पुच्छादुदसने पयंसने वा” [वा०] उत्पुच्छयते । परिपुच्छयते । “भाण्डात्सञ्चयने परिचयने वा” [वा०] संभाण्डयते परिभाण्डयते । “चीवरादर्जने परिधाने वा” [वा०] संचीवरयते भिङ् । णकारः “णाविष्टवन्मृदः” [४।४।१४४] इत्यत्र सामान्यग्रहणाविधातार्थः । अर्थविशेषादन्यत्र णिजेव भवति ।

मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच् ॥२।१।१८॥ मुण्ड इत्येवमादिभ्य इबन्तेभ्यो णिञ् भवति करोत्यर्थे । चुरादिषु “मृदो ध्वर्थे” इति णिचि सिद्धे अर्थविशेषपरिग्रहार्थमिदम् । च्यर्थे वायमिति केचित् । अमुण्डं मुण्डं करोति मुण्डयति । मिश्रयति । श्लक्ष्णयति । लवणयति । “व्रताङ्गो जने तन्निवृत्तौ च” [वा०] पयो व्रतयति । पयो मुङ्क्ते इत्यर्थः । सावद्यं व्रतयति । सावद्यं न मुङ्क्ते इत्यर्थः । “वस्त्रात् समाच्छादने” [वा०] वस्त्रेण संच्छादयति संवस्त्रयति । हलिं गृह्णाति हलयति । कलिं गृह्णाति कलयति । “हलिकल्योरकारान्तता णिच्चा योगे निपात्यते” [वा०] “वौ कच्यनक्खे सन्वत्” [१।२।१८६] इति सन्वद्भावप्रतिषेधार्थम् । कलिं गृहीतवानचकलत् । अजहलत् । अन्यथा परत्वादपि कृते टिखं स्यात् ततः सन्वद्भावः प्रसज्यते । यथा अलीलघत् अपीपटत् इति । कृतं गृह्णाति कृतयति । तूस्तानि केशजटाः विहन्ति दिन्वस्तयति ।

धोर्थङ् क्रियासमभिहारे ॥२।१।१९॥ पौनःपुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः । धोर्थङ् भवति क्रियासमभिहारे । पुनः पुनः पचति भृशं वा पापच्यते । बोमुच्यते । क्रियान्तरैरव्यवहितायाः प्रधानभूतविकलेदनक्रियायाः पुनः पुनरारम्भः पौनःपुन्यम् । गुणभूताधिभ्रयणादिक्रियाणां क्रियान्तरैरव्यवहितानां साकल्येन करणं भृशार्थता । सूचिसूत्रिमूच्यत्वर्थशृणोतीनां ग्रहणं नियमार्थं कर्त्तव्यम् । सोसूच्यते । सोसूच्यते । मोमूच्यते । अनेकाभ्य एव नान्यस्मात् । अत्यर्थं जागर्तीति । अट्वाच्यते । अरायते । “यङि” [१।२।१३६] इत्येप् । अत्यर्थमश्नुते अशाश्यते । प्रोणोन्त्यते । अट्यादिग्रहणं किमर्थम् ? अन्यस्मादजादेर्मा भूत् । भृशमीक्षते । पुनः पुनरीहते । क्रियासमभिहारे सर्वस्य द्वित्वे वेति विभाषानुवर्तते । तेन यङन्तस्य द्वित्वं न भवति । तत एव क्रियासमभिहारे यो लोट् तदन्तस्य भवति । लोलूयस्व लोलूयस्व इत्येवायं लोलूयते । धोरिति किम् ? सगेरुत्पत्तिर्मा भूत् । अगसंज्ञार्थं च धुग्रहणम् । पेपीयते । “शुभिरुचिभ्यां प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] । अत्यर्थं शोभते । अत्यर्थं रोचते ।

नित्यं गतिविशेषे ॥२।१।२०॥ नित्यं यङ् भवति गतिविशेषे गभ्यमाने । चङ्क्रम्यते । दन्द्म्यते । आरवनीवच्यते । गतिविशेषो हि यङन्तवाच्यः । तेनास्वपदेनार्थमात्रकथनमिदं कुटिलं क्रामतीति । नित्यग्रहणं तु विषयनियमार्थम् । एतयोर्योगोर्गतिविशेष एव गहं एव च यङ् यथा स्थात् क्रियासमभिहारे मा भूत् । भृशं क्रामति । भृशं लुम्पति ।

लुपसदचरजपजभदहृदशो गहं ॥२।१।२१॥ लुपादिभ्यो गहं गभ्यमाने नित्यं यङ् भवति । प्रत्यासत्तेर्ध्वर्थस्य गहो गृह्यते न साधनस्य । अनर्थकं लुम्पति लोलुप्यते । सासद्यते । चञ्चूर्यते । जञ्जयते । जञ्जयते । दन्दह्यते । निजेगिल्पते । दन्दश्यते । दशोः कृतनखस्य निर्देशाद्यङुप्यपि खं भवतीति केचित् । दंद्शीति । तदयुक्तं सौत्रत्वान्निर्देशस्य । गहं इति किम् ? सुखं सीदति स्वग्रहे ।

पाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादेर्णिच् ॥२।१।२२॥ पाशरूपवीणा-
तूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादि-श्च णिच् भवति । चुरादौ “मृदो ध्वर्थे” इति सिद्धेऽपि अर्थ-
विशेषपरिग्रहार्थं पाशादेः पृथग्ग्रहणम् । “पाशाद्विमोचने” [वा०] पाशं विमोचयति विपाशयति । “रूपाद्दर्शने
[वा०] रूपं दर्शयति रूपयति । वीण्या उपगारयति उपवीणयति । दूलैरनुकुष्णाति अनुतूलयति । श्लोकै-
रुपस्तौति उपश्लोकयति । सेनया अभियाति अभिषेणयति । लोमान्यनुमार्ष्टि अनुलोमयति । त्वचं गृह्णाति
त्वचयति । त्वच इति अकारान्तनिपातनात् “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।२७] इत्यखस्य स्थानिवद्भावात्
“उङोऽतः” [१।२।४] इत्यैम्न भवति । वर्मणा सन्नहति संवर्मयति । वर्णान् गृह्णाति वर्णयति । चूर्णैरव-
किरति अवध्वंसयति वा अवचूर्णयति । चुरादिभ्यः-चोरयति । मन्त्रयते ।

आ चार्थवेदसत्यानाम् ॥२।१।२३॥ अर्थ वेद सत्य इत्येतेषां आकारश्चान्तादेशो भवति णिच् ।
अर्थमाचष्टे अर्थापयति । वेदापयति । सत्यापयति ।

हेतुमति ॥२।१।२४॥ हेतुस्तद्योजकः । हेतुमति ध्वर्थेऽभिधेये णिच् भवति अन्येषां दर्शनं प्रयोज-
कव्यापारः प्रेप्रणाय्येऽरूपो हेतुमान् तस्मिन्नभिधेये णिच् भवति । कटं कारयति । ओदनं पाचयति ।
अत्र वाग्विसर्गो हेतुव्यापारः । क्वचित् समर्थाचरणम् । यथा भिक्षा वासयति । कारीषोऽग्निरध्यापयति ।
“आख्यानात् कृतस्तदाचष्ट इति कृदुपप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकमिति” [वा०] आख्यायते यत्तदाख्यातं
तस्मात् कृदन्तात् आचष्ट इत्यस्मिन्नर्थे णिच् वक्तव्यः कृदुपप्रकृतिवच्च णिच् । प्रकृतिवच्च कारकं भवतीति वक्त-
व्यम् । कंसवधमाचष्टे कंसं घातयति । बलिबन्धमाचष्टे बलिं बन्धयति । राजागममाचष्टे राजानमागमयति ।
“आख्यानशब्दात्प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] आख्यानमाचष्टे इति वाक्यमेव भवति । मृगरमणमाचष्टे मृगान्
रमयति । यदा ग्रामे मृगरमणमाचष्टे तदा नेष्यते । “आङ्निवृत्तिश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्यादायाम्” [वा०]
कृदन्तात् णिच् तदाचष्टे इति कृदुपप्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकमिति वर्तते । आरात्रिवासाचष्टे रात्रि
विवासयति । “चित्रीकरणे च प्राप्स्यर्थे णिच् वक्तव्यः” [वा०] उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं
सम्भावयति सूर्यमुद्गमयति । “नक्षत्रयोगे जार्थे” [वा०] पुष्येण योगं जानाति पुष्येण योजयति । चन्द्रमसा
मघाभियोगं जानाति मघाभियोजयति । नेदं बहु वक्तव्यमत्रापि कथञ्चिद्धेऽनुवाचरोऽस्ति बहुलग्रहणाद्वा सिद्धम् ।

कण्डवादेर्यक् ॥२।१।२५॥ कण्डूञ् इत्येवमादिभ्यो यक् भवति । यकः कित्करणं एप्प्रतिषेधार्थं
ज्ञापकमिह कण्डवादेयो धवो गृह्यन्ते न मृदुरूपाणि (मृद्रूपाः) । कण्डूञ् हृणीङ्गादिषु दीत्वोच्चारणं ज्ञापकं विकल्पेन
धुरूपतैवामन्यथा “दोरकृद्गे” [१।२।१३४] इति दीत्वेनाप्येतत्सिद्धयते । तेन मृत्पदे कण्डुः मन्तुः वल्गुः
इत्यादिप्रयोगा ज्ञातव्याः । कण्डूयति । कण्डूयते । कण्डूतिः । मन्तूयति । कण्डूञ् मन्तु वल्गु असङ् हृणीङ्
महीङ् वेटलीङ् । ङकारो दावध्यर्थः । इयस् इरस् तिरस् मगधस् पम्पस् कुषुभ ङवस् तन्तस् सुख दुःख
भिषज् भिष्णुज् अरर चुरण् तुरण् तरण् सरण् (चरण्) सपर इषुध इषुभ गद्गद एला वेला केला खेला
लेट् लोट् उरस् । अकारान्तानाम् अतः खम् ।

गुपूधूपविच्छिन्नपणिपनेरायः ॥२।१।२६॥ गुपू धूप विच्छि पणि पनि इत्येतेभ्यो धुभ्य आयो भवति ।
गोपायति । धूपायति । विच्छेरन्तरङ्गत्वात्तुकि कृते आयः । विच्छायति । अनुदात्तेत्वं केवले चरितार्थमिति दो
न भवति । गुपादिभिर्भौवादिभ्यः साहचर्यात्परोर्भौवादिकस्य ग्रहणं न तौदादिकस्य । शतस्य पण्ते । “व्यचङ्गपयोः
सामर्थ्ये” [१।४।६४] इति कर्मणि ता । पनिरिहैव पणिना समानार्थः उपदिश्यते । पनायति ।

वाङ्गे ॥२।१।२७॥ अगविषये गुपादिभ्यो वा आयो भवति । गोपायिता । गोता । गोपायांचकार ।
जुगोप । गोपाया । गुप्तिः । इत्येवमादि योज्यम् ।

कमृत्योर्णिङ्गीयङ् ॥२।१।२८॥ सूत्रत्वात्कायाः स्थाने ता कृता । कम् ऋति इत्येताभ्यां णिङ् ईयङ् इत्येतौ ल्यौ भवतः । कामयते । णकारः ऐवर्थः । “न कम्यमिचमाम्” इत्यत्र कमेर्मित्संज्ञाप्रतिषेधः किमर्थः ? “जिणमोर्दीमिताम्” [४।४।८६] इति वा प्रादेशो मा भूदित्येवमर्थः । अकामि । कामं कामम् । “वाऽजे” [२।१।२७] इति णिङोऽनुत्पत्तौ णिङ्निमित्तस्यैपः प्रादेशनिवृत्त्यर्थश्च । ङकारो दविध्यर्थः । ङिङ्तीत्येप्रतिषेधार्थं न भवति इकस्तत्रानुवृत्तेः । ऋतिरिहैव घृणार्थमुपदिश्यते ऋतीयते । वाऽग इति च वर्तते । तेन कमिता । कामयिता । अर्तिता । ऋतीयिता ।

तदन्ता धवः ॥२।१।२९॥ येऽनुक्रान्ताः सनादयस्ते अन्ता येषां ते धुसञ्चका भवन्ति । तथा चैवो-दाहृतम् । पदसंज्ञायामन्तग्रहणं नियमार्थमुक्तम् । अन्यत्र “संज्ञाविधौ त्यग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति” [५०] इति एष प्रतिषेधो मा भूदित्यन्तग्रहणम् ।

स्यतासी लृलुटोः ॥२।१।३०॥ लृ इति लृङ्लृटोः सामान्येन ग्रहणम् । धोः स्यतासी इत्येतौ मध्ये ल्यौ भवतः लृलुटोः परतः । शब्दापेक्षमत्र यथासंख्यम् । धोरधिकारात् पूर्वभक्तानिबृत्तिः । अगा संज्ञा च । भावकर्मकर्तृषु लो विहितः । तत्र यक्षपावुत्सर्गौ स्यादयस्तदपवादाः । करिष्यति । अकरिष्यत् । कर्ता । तासे-रिदित्करणं किम् ? “हलुङ्ङः ङिङ्ङनिदितः” [४।४।२३] इति नखप्रतिषेधार्थम् । हन्ता । मन्ता ।

कास्यनेकाञ्च्यल्लिङ्ग्याम् ॥२।१।३१॥ कासेरनेकाञ्चस्त्यान्ताच्च लिटि परतः आम्भवति । कासाञ्चक्रे । अनेकाञ्च्यः-चकासाञ्चकार । चुलुम्प इति सौत्रो धुः । चुलुम्पाञ्चकार । दरिद्राञ्चकार । त्यान्तात्-लोलूयाञ्चक्रे । कारयाञ्चक्रे । गवाञ्चकार । “आचारार्थं सर्वभृद्भ्यः” इति क्तिप् । अनेकाञ्चग्रहणमत्यान्तार्थम् । आमिति नाय-मागमः । कासेर्विधानात् ।

सरोरिजादेः ॥२।१।३२॥ सह रुणा वर्त्तते इति सरुः । सरोरिजादेशोः लिङ्ग्याम्भवति । ईहाञ्चक्रे । इन्दाञ्चकार । उपदेशावस्थायां नुम् । ऊहाञ्चक्रे । उञ्छाञ्चकार । उदम्भाञ्चकार । सरोरिति किम् ? इयेष । उवोष । एपि कृते सररिति चेत् ; “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमिर्षा तद्विधातस्य” [५०] इति न भवति । इजा-देरिति किम् ? ततत् । “ऋच्छल्युताम्” [५।२।१२३] इति लिट्येद्वचनं शापकं ऋच्छेरात्म भवति । आनच्छुः । आनच्छुः । आनच्छुः । कथं प्रोक्तुं नाव ? “वाच्य ऊर्णोर्णवद्भावो यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम् । आमश्च प्रति-षेधार्थमेकाञ्चश्चेपि न वृत्तये” । प्रोक्तुं नृषति । “सनिग्रहश्च” [५।१।११८] इतीट्प्रतिषेधः ।

दयायासः ॥२।१।३३॥ दय अय आस इत्येतेभ्यश्च लिटि आम्भवति । दबाञ्चक्रे । पलायाञ्चक्रे । “गेर्यतौ” [५।३।३७] इति ललम् । आसाञ्चक्रे ।

वोषजागृविदात् ॥२।१।३४॥ उष जागृ विद् इत्येतेभ्यश्च लिटि परतो वा आम् भवति । ओषाञ्च-कार । उवोष । जागराञ्चकार । जजागार । विदाञ्चकार । विवेद । विदेराग्यकारान्तत्विनापातनात् एम्न भवति । जागृसाहचर्यादादादिकस्य ग्रहणम् ।

भोहोभृहुवामुज्वत् ॥२।१।३५॥ भौ हौ भृ हु इत्येतेभ्यो लिटि आम् भवति उचीव कार्ये भवत्ये-षाम्, उचि कार्ये द्वित्वमित्येव । तदतिदिश्यते । लिङ्पेक्षं द्वित्वमामा व्यवधानात् प्राप्नोति । बिभयाञ्चकार । बिभाय । जिहयाञ्चकार । जिहाय । बिभराञ्चकार । बभार । “भृजां त्रयाणाम्” [५।२।१७५] इति षस्ये-त्वम् । जुहवाञ्चकार । जुहाव ।

लिङ्ङवत् कृञि ॥२।१।३६॥ कृञिति प्रत्याहारेण कृम्बस्तीनां त्रयाणां ग्रहणम् । मण्डूकलुत्या वेति विभाषाऽपेक्षणीया । तेन सम्पदो बहिर्भावः । य उक्तं आम् स लिङ्ङवत्कृञि प्रयुक्ते साधुर्भवति । लिङ्ङवत् कृञीतीमिन्दैशात् आमन्तस्याव्यवहितस्य पूर्वं प्रयोगः । ईहाञ्चक्रे । “आम्बत् तत्कृञः” [१।२।५६] इति दः । इहाम्भूव । ईहामास । “अस्तिब्रूजोर्भूवची” [१।४।१२४] इत्यत्रोक्तमस्तैरनुप्रयोगस्य भूभावो न भवति । कृञि प्रत्याहारग्रहणसामर्थ्याद्वा ।

विदाङ्कुर्वन्तु वा ॥२।१।३७॥ विदाङ्कुर्वन्त्विति एतद्वा निपात्यते । किमत्र निपात्यते ? लोटि वा आम् एवभावो लोडन्तस्य करोतेरनुप्रयोगश्च निपात्यते । विदाङ्कुर्वन्तु । विदन्तु । सर्वेषु लोड्वचनेषु निपातनमिदं प्रायेण । ल्यन्तस्य प्रयोगान्ते निर्देशः । विदाङ्करवाणि । वेदानि । विदाङ्करवाव । वेदाव । विदाङ्करवाम । वेदाम । विदाङ्कुर । विद्धि । विदाङ्कुरतम् । वित्तम् । विदाङ्कुरत । वित्त । विदाङ्कुरोतु । वेतु । विदाङ्कुरताम् । वित्ताम् । (विदाङ्कुर्वन्तु । विदन्तु ।)

सिर्लुङि ॥२।१।३८॥ धोः सिर्भवति लुङि परतः । अकार्षीत् । अभैत्सीत् । अकृषातां कटौ देव-
दत्तेन । इतिकरणं किम् ? अमस्त । “अनिदितः” [४।४।२३] इति प्रतिषेधात् नोडः खं न भवति ।

स्पृशमृशकृषत्पटपपो वा ॥२।१।३९॥ स्पृश मृश कृष तृप टप इत्येतेभ्यो लुङि वा सिर्भवति ।
तृपिट्प्योः पुषादित्वात्प्रत्ययमङ् प्राप्तः । अन्यत्र “शलः” [२।२।४०] इति क्सः । अस्पाक्षीत् । अस्पा
क्षीत् । “बाऽमुदात्तस्यङुङः” [४।३।२२] इति वामागमः । यणादेशे कृते “वद्ब्रजहल” [५।१।७६]
इत्यैप् । पन्ने-अस्पृक्षत् । अप्राक्षीत् । अमार्क्षीत् । अमृक्षत् । अफ्राक्षीत् । अकार्षीत् । अकृक्षत् । अत्राप्सीत् ।
अताप्सीत् । अतृपत् । अद्राप्सीत् । अदाप्सीत् । अटपत् ।

इगुङः शलोऽनिटोऽदृशः क्सः ॥२।१।४०॥ इगुङ् शलन्तो यो धुः अनिट् तस्माद् दृशिवर्जितात्
मे क्सो भवति । दिह—अधिक्षत् । दुह—अधुक्षत् । लिह—अलिक्षत् । इगुङ इति किम् ? दह—अधाक्षीत् ।
शल इति किम् ? अभैत्सीत् । अनिट इति किम् ? अक्रोषीत् । ‘नेडि’ [२।१।८०] इत्यैप्रतिषेधः । अदृश
इति किम् ? अदर्शत् । अद्राक्षीत् । “वेरितः” [२।१।४६] इत्यङ् ।

श्लिषः ॥२।१।४१॥ अनिट इत्यधिकारात् श्लिष दाहे इत्यस्य ग्रहणं न भवति । श्लिषः क्सो भवति
लुङि परतः । आश्लिषत् । पूर्वैण प्रातस्य बाधके पुषादित्वादङि प्राप्ते अयमारम्भः । “पुरस्तादपवादा अन-
न्तराद् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [५०] इत्यङ एव बाधा न ज्ञेः । आश्लेषि ।

स्वार्थे ॥२।१।४२॥ स्वार्थः आलिङ्गनम् । श्लिषः स्वार्थ एव क्सो भवति । आश्लिषत् कन्यां देवदत्तः ।
स्वार्थ इति किम् ? समाश्लिषत् जतु च काष्ठं च (जतुकाष्ठम्) । दविष्ये सिखे समाश्लिष्यस्वं धवखदिरेण ।
“भ्रूलो भ्रुळि” [५।३।४४] इति सेः खम् ।

णिश्रिद्रुश्रुकमेः कर्त्तरि कच् ॥२।१।४३॥ णिजन्तेभ्यः श्रि द्रु श्रु कश्चि इत्येतेभ्यः कर्तृधाचिनि
लुङि कश्चि भवति । ककार क्तकार्यार्थः । चकारः “लुङि कचि धोः” [लिङ्कचि धोः] [४।३।७] इति
विशेषणार्थः । अचीकथत् । अपीपचत् । “ओनयत्यादेः कश्चिधो वक्रव्यः” [वा०] औनयीत् । अशिश्रि-
यत् । अदुदुवत् । कमिग्रहणं “बाऽगे” [२।१।२७] इति यदा णिङ् न भवति तदा प्रयोजयति । अचकमत् ।
अकः खं यस्मिन् णाविति तत्र विग्रहात् सन्वद्भावो न भवति । णिङ्पदे सन्वद्भावः । अचीकमत् । आत्मक-
र्मणापि चङ् भवति । अचीकरत् कटः स्वयमेव । “णिश्रिद्रुश्रुक्कूर्त्तौ दविष्यौ धीनाञ्च” [वा०] इति
जियङ्कोः प्रतिषेधं वक्ष्यति ।

वा घेट्श्वयोः ॥२।१।४४॥ घेट् शिव इत्येताभ्यां वा कश्चि भवति कर्त्तरि लुङि परतः । अदधत् ।
“द्वित्वेऽचि” [१।१।२६] इत्यात्वस्य स्थानिवद्भावाद् द्वित्वं यदा सिस्तदा “वा घ्राघेट्च्छाशासः” [१।४।१४७]
इति वा सेरूप् । अधत् । अधाक्षीत् । अनुपि “यमरमनमातः सकच” [२।१।१३२] इति सगिटौ । अशिशिव-
यत् । “न जौ जिः” [४।३।३१] इत्यनेकारप्रश्लेषात् जिप्रतिषेधः । कचा मुक्ते पदे “जूशिव” [२।१।२०]
इत्यादिना विकल्पेनाङ् । अश्वत् । अश्वयीत् । “हायक्षण” [२।१।८१] इत्यादिना सवैप्रतिषेधः ।
कर्त्तरित्वेव । अधिघातां वत्सेन ।

वक्त्यसुख्यातेरङ् ॥२।१।४५॥ वक्ति असु ख्याति इत्येतेभ्यो लुङि परतः अङ् भवति । इदमेव वक्तिवचनं ज्ञापकं गोऽपि ब्रूओ वचिरादेशो भवतीति । अबोचत् । अबोचत । “श्व्यस्पद्वचोऽथुक् पुमुमोऽङि” [१।२।१२८] इत्युमागमः । अस् । उदास्थत । उदास्थेताम् । उदास्थन्त । “अगोर्ग्ल्युस्यहोर्वचनम्” [वा०] इति दः । मविषये पुषादित्वादेवाङ् सिद्धः । ख्यातिरिति ख्या प्रकथन इत्यस्य चत्वादेशस्य च कृतयकारस्या-विशेषेण ग्रहणम् । आख्यत् । आख्यताम् । आख्यन् ।

ह्यालिप्सिचः ॥२।१।४६॥ हा लिप् सिच् इत्येतेभ्यश्चाङ् भवति लुङि परतः । आहत् । अलिपत् । असिचत् । पृथगारम्भ उत्तरार्थः ।

दे वा ॥२।१।४७॥ हा लिप् सिच् इत्येतेभ्यो लुङि दे वा अङ् भवति । आहत् । आहास्त । अलिपत् । अलित । असिचत् । असिक्त । “सिळिङ् दे” [१।२।८५] इति कित्वादेःप्रतिषेधः । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

द्युत्पुषादिलिस्सर्तिशास्त्यर्तेमै ॥ २।१।४८ ॥ द्युतादिभ्यः पुषादिभ्यः लृकारेऽभ्यः सर्तिं शास्ति अर्तिं शा इत्येतेभ्यश्च लुङि मे परतः अङ् भवति । वेति नानुवर्तते । द्युतादयः कृपूपर्यन्ताः । व्यद्युत् । व्यलुद्यत् । अशिवत् । “द्युद्भ्यो लुङि” [१।२।८७] इति वा मम् । पुषादयः आ गणपरिसमाप्तेः । अपुषत् । अशुषत् । कसः प्रातः लृकारेऽभ्यः । आपत् । अगमत् । अशकत् । असरत् । अशिषत् । आरत् । म इति किम् । व्यद्योतिष्ठ । व्यत्यपुन्यत् । अर्तेरपि दविषये —मा समृषातां मा समृषत ।

वेरितः ॥२।१।४९॥ म इति वर्तते । इरशब्देतो धोर्वाऽङ् भवति लुङि मे परतः । अरुषत् । अरौत्सीत् । अभिदत् । अभैत्सीत् । म इत्येव । अरुद्ध । अभित्त ।

जृश्विस्तम्भुञ्चुस्लुच्चुच्चुर्ग्लुचः ॥२।१।५०॥ वेति वर्तते । जृ श्वि स्तम्भु मुच् स्लुच् शुच् इत्येतेभ्यः कर्त्तरि लुङि वाङ् भवति । जृष् । अजरत् । आजारीत् । अङि “इशुरेप्” [५।२।१२६] अश्वत् । अश्वयोत् । कजपि विभाषितः । अशिश्वियत् । स्तम्भुरिहैवोपदिष्टः । अस्तम् । अस्तम्भीत् । न्यमुच्चत् । न्यमुचीत् । न्यमुचत् । न्यमुचीत् । अग्रुच्चत् । अग्रुचीत् । अग्रुचत् । अग्रुचीत् । अग्रुचत् । अग्रुचीत् । ग्लुञ्चेर्नोडो ग्रहणमनर्थकम् । अङ्पक्षे विशेषाभावात् नोडुग्रहणसामर्थ्यान्नखं न भवति इत्यपि न युक्तं न्यग्लुञ्चदिति लडा सिद्धयति ।

जिस्ते पदः ॥२।१।५१॥ वेति निवृत्तमुत्तरत्र वाग्रहणात् । कर्त्तरिति वर्तते । पदेर्धोर्लुङि ते परतः जिर्भवति । उदपादि मैलम् । समपादि शस्यम् । त इति किम् ? उदपत्साताम् । उदपत्सत ।

दीपजनबुधपूरितायिव्यायो वा ॥२।१।५२॥ दीपादिभ्यः लुङि ते परतः वा जिर्भवति । अदीपि । अदीपिष्ठ । अजनि । अजनिष्ठ । औ “जनिवध्योः” [५।२।४०] इत्यैःप्रतिषेधः । साहचर्याद् बुधेरनुदात्तेतो ग्रहणम् । अबोधि । अबुद्ध । अपूरि । अपूरिष्ठ । अतायि । अतायिष्ठ । अप्यायि । अप्यायिष्ठ । अयं कर्त्तरि विकल्पः । अन्यत्र “जिङ्गै” [२।१।६२] इत्यनेन नित्यो जिः ।

कर्मण्यात्मनि ॥२।१।५३॥ आत्मशब्देन कर्त्ताऽभिप्रेतः । यदा सौकर्यात् कर्म कर्तृत्वेन विवक्ष्यते तदा कर्मणि आत्मनि विहिते तशब्दे परतः वा जिर्भवति । अकारि कटः स्वयमेव । अकृत कटः स्वयमेव । “उः” [१।१।८६] इति सेः कित्त्वम् । अलावि केदारः स्वयमेव । अलाविष्ठ केदारः स्वयमेव । “जिङ्गै” [२।१।६२] इति नित्ये औ प्राप्ते विकल्पोऽयम् । आत्मकर्मणीति किम् ? अकारि कटो देवदत्तेन ।

दुहृश्च ॥२।१।५४॥ चशब्दो विकल्पानुकर्षणार्थः । दुहृर्वा जिर्भवति तशब्दे परतः कर्मण्यात्मनि । नियमोऽयं हलन्तेषु दुहरेव विकल्पः, तेन पूर्वसूत्रेऽजन्तेषु विकल्पो द्रष्टव्यः । अदोहि गौः स्वयमेव । अदुग्ध गौः स्वयमेव । “वोप् दुहृदिहृलिहृगुहो दे दन्त्ये” [१।२।७०] इति कसस्योप् । आत्मकर्मणीत्येव । अदोहि गौर्गौपालकेन ।

न रुधः ॥ २।१।१५ ॥ जिर्णविति प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । भावे कर्मण्यात्मनि जिर्णं भवति । अन्व-
वारुद्ध गौः स्वयमेव ।

तपोऽनुतापे च ॥ २।१।१६ ॥ तपतेरनुतापे च कर्मण्यात्मनि च जिर्णं भवति । अनुतापः
पश्चात्तापः तत्र तावत् भावकर्मणोरनुपि प्रतिषेधः । अन्ववातस्त पापेन कर्मणा । कर्मण्यात्मनि । अतस्त तपः
स्वयमेव । साधुस्तावदुपवासादिलक्षणं तपस्तप्यते । तद्यदा तीव्रत्वात् कर्तृत्वेन विवक्षितं तदाऽयं प्रयोगः ।

यग् दुहः ॥ २।१।१७ ॥ नेति वर्तते । दुहेः कर्मण्यात्मनि यद् न भवति । दुग्धे गौः स्वयमेव ।
लङि-अदुग्ध गौः स्वयमेव ।

नमः शप्त् ॥ २।१।१८ ॥ नमः कर्मण्यात्मनि यद् न भवति शप् तु भवति । नमते दण्डः स्वय-
मेव । अनमत दण्डः स्वयमेव । कर्त्राश्रयः शप्न स्यात् ।

स्नोश्च जिश्च ॥ २।१।१९ ॥ स्नोश्च नमश्च कर्मण्यात्मनि जिर्यग् च न भवतः । प्रास्नोष्ट गौः स्वय-
मेव । प्रस्तुते गौः स्वयमेव । लङि प्रास्तुत गौः स्वयमेव । जिप्रतिषेधार्थं नमोऽनुकर्षणम् । यक् तु पूर्वैर्गैव
प्रतिषिद्धः । अनंस्त दण्डः स्वयमेव । “जियकोः प्रतिषेधे णिश्चन्धिग्रन्थिब्रूजां दविधौ धीनां चोपसंख्यानं
कर्तव्यम्” [वा०] णिरिति हेतुमण्णिचोऽन्यस्य चाविशेषेण ग्रहणम् । अचीकरत कटः स्वयमेव । कारयते
कटः स्वयमेव । अश्रन्थिष्ट मेखला स्वयमेव । अशनीते माला स्वयमेव । अग्रन्थिष्ट मेखला स्वयमेव । अशनीते मेखला
स्वयमेव । अवोचत वाक् स्वयमेव । ब्रूते वाक् स्वयमेव । दविधौ धीनाम् व्यकृषत सैन्धवाः स्वयमेव । व्यकुर्वत
सैन्धवाः स्वयमेव । विकुर्वते सैन्धवाः स्वयमेव । जियकोः प्रतिषेधे कथं कर्त्राश्रयाः कजादयः । “नमः शप्त्”
[२।१।१९] इत्यतस्तुशब्दोऽनुवर्तते तेन कर्त्राश्रयविकरणसिद्धिः । अत इदमपि सिद्धम् । आरोहन्ति हस्तिनं
हस्तिपकाः । आरोहयते हस्ती स्वयमेव । सिञ्चन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः । सेचयते हस्ती स्वयमेव । “ञौ” [१।२।७]
इति दविधिः । यदान्यत्कर्म प्रति स्वातन्त्र्येण विवक्षा तदा कर्त्राश्रया विधयो भवन्ति । आरोहयमाणो हस्ती
स्थलमारोहयति मनुष्यान् । यथा भिद्यमानः कुश्लः पात्राणि भिनत्ति । इह कस्माद्दो न भवति । स्मरति वन-
गुल्मस्य कोकिलः । स्मरत्यनेन वनगुल्मः स्वयमेव । कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां चात्मकर्म विवक्षा । कर्तृ-
स्वभावकं चाऽध्यानमिति दो न भवति ।

कुषिरञ्जेः श्यो मे वा ॥ २।१।२० ॥ कुषिरञ्जीत्येताभ्यां कर्मण्यात्मनि वा श्यो भवति मे परतः ।
कथं मविधिः वृद्धकुमारीवरवाक्यन्यायेन यथा बहुञ्जीरघृतमोदनं मम पुत्रा भुञ्जीरन्नित्यत्र वरादिलङ्घिः ।
कुष्यति पादः स्वयमेव । रण्यति वस्त्रं स्वयमेव । यदा श्यो न भवति तदा यग्दविधौ भवतः । कुष्यते पादः
स्वयमेव । रण्यते वस्त्रं स्वयमेव । यगनुवर्तते तदपवादोऽयं तेन लिङ्गलिङ्गोः स्यादविषये च नायं विधिः ।

तपस्तपःकर्मकस्य कर्मवत् ॥ २।१।२१ ॥ तपतेस्तपःकर्मकस्य कर्त्ता कर्मवद्भवति । कर्मातिदेशस्य
यग्दविधी प्रयोजनम् । तप्यते तपः साधुः । अर्जयतीत्यर्थः । अतप्यत तपः साधुः । अतस्त तपः साधुः ।
तपःकर्मकस्येति किम् ? उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः ।

जिर्णौ ॥ २।१।२२ ॥ मण्डकप्लुत्याते इति वर्तते लुङीति च । जिरित्ययं त्यो भवति ङावर्थे लुङि ते
परतः । भावे-आसि भवता । अशाधि भवता । कर्मणि-अकारि कथे भवता । अलावि केदारो भवता ।
पुनर्विग्रहणं किम् ? जिरेव यथा स्यात् । यदन्यत्राप्राप्नोति तन्मा भूत् । उपाश्लोषि कन्या । “श्लेषः”
[२।१।२१] इति क्यो न भवति ।

गे यक् ॥ २।१।२३ ॥ ङाविति वर्तते । ङिवाचिनि गे यक् भवति । आख्यातवाच्यस्य भावस्यैकत्वात्

अस्मद्युष्मत्सञ्ज्ञाऽभावाच्च अन्यसञ्ज्ञक एक एव च भवति । आस्यते भवता । सुप्यते भवता । कर्मणि—क्रियते कटः । भुज्यते ओदनः । ऋकारस्य दीप्ते प्राप्ते “रिड्यग्लिङ्गो” [१।२।१३७] इति रिङ् । कर्मसामान्यात् आत्मकर्मण्यपि यग् भवति । क्रियते कटः स्वयमेव । भिद्यते कुशूलः स्वयमेव । कथं भिद्यते कुशूलेन स्वयमेवेत्यत्र कर्त्तरि भा । अत्राकर्मकत्वविवक्षा । तेन भावे लकारः । लान्तस्यो (तस्यो) भयविवक्षा । व्यङ्ग्यार्थेष्वकर्मकविवक्षैव (क्षयैव) । भेत्तव्यं कुशूलेन स्वयमेव । भिन्नं कुशूलेन स्वयमेव । ईषद्दे दं कुशूलेन स्वयमेव ।

कर्त्तरि शप् ॥२।१।६४॥ कर्तृवाचिनि गे परतो धोः शब्भवति । जयति । भवति । तरति । शकारः “सिङ्शिद्गाः” [२।४।६३] इति विशेषणार्थः । पकारः “गोऽपित्” [१।१।७८] इति विशेषणार्थः ।

दिवादेः श्यः ॥२।१।६५॥ दिव इत्येवमादिभ्यः श्यो भवति गे परतः । दीव्यति । सीव्यति । श्रीव्यति । “हृस्वभकुञ्चुरः” [५।३।८६] इति उङो दीत्वम् । इमे श्यादय शपोऽपवादाः ।

वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुत्रसिन्नुटिलषः ॥२।१।६६॥ भ्राश भ्लाश भ्रम क्रम त्रसि त्रुटि लष इत्येतेभ्यो धुभ्यो वा श्यो भवति । उभयत्र विभाषेयम् । भ्राशते । भ्राश्यते । भ्लाशते । भ्लाश्यते । भ्रमति । भ्रम्यति । श्ये (शिति) भौवादिकस्याशमादित्वादीत्वं नास्ति । दैवादिकस्य दीत्वम् । भ्रमति । भ्राम्यति । क्रमति । क्राम्यति । “क्रमो मे” [१।२।७४] इति दीत्वम् । त्रसति । त्रस्यति । त्रुटति । त्रुट्यति । लषति । लष्यति । ह्रामिग्रह्यां न कर्तव्यम् । दिवादिपाठात् श्ये सति “शमित्यामदो दीः” [१।२।७२] इति दीत्वं सिद्धम् । “ष्टिबुक्लम्वाचमां शिति” [१।२।७३] पुनर्दीत्ववचनं ज्ञापकं शवपि भवतीति ।

यसः ॥२।१।६७॥ यसु प्रयत्न इत्यस्माद्वा श्यो भवति । यसति । यस्यति ।

समः ॥२।१।६८॥ संपूर्वाच्च यसः वा श्यो भवति । संयस्यति । संयसति । नियमोऽयं सम एव च गोर्विकल्पो नान्यस्मात् । आयस्यति । प्रयस्यति । दिवादिपाठान्नित्यः श्यः ।

स्वादेः श्नुः ॥२।१।६९॥ शुञ् इत्येवमादिभ्यो धुभ्यः श्चुरित्ययं त्यो भवति । सुनोति । सिनोति ।

श्रुचः श् ॥२।१।७०॥ शृ इत्येतस्मात् श्रुर्भवति श्रु इत्ययं चादेशः । श्रु इति शुवादौ स्वादौ च पठ्यते । श्रुणुतः । श्रुण्वन्ति ।

वाऽच्च ॥२।१।७१॥ अच्च इत्येतस्माद्धोः वा श्रुर्भवति । अच्चणोति । अच्चति । भौवादिकोऽयम् ।

तच्चः स्वार्थे ॥२।१।७२॥ स्वार्थस्तनूकरणम् । तच्चु इत्यस्मात् स्वार्थे वा श्रुर्भवति । तच्चणोति काष्ठम् । तच्चति काष्ठम् । स्वार्थे इति किम् ? सन्तच्चति वाग्भिर्दुर्जनः ।

रुधितुदादिभ्यां शनम्शौ ॥२।१।७३॥ रुधादिभ्यस्तुदादिभ्यः शनम्शौ त्यौ भवतः । शकारः “शनात्तखम्” [१।४।२२] इति विशेषणार्थः । मकारः “परोऽचो मित्” [१।१।१५] इति विशेषणार्थः । रुणद्धि । भिनत्ति । तुदादिभ्यः शः । तुदति । क्षिपति ।

कुञ्चतनादेरुः ॥ २।१।७४ ॥ कुञ् इत्येतस्मात्तनादिभ्यश्च उरित्यग्रं त्यो भवति । करोति । कुरुतः । कुर्वन्ति । तनादिभ्यः—तनोति । सनोति । क्षणोति । तनादित्वादेव सिद्धे पृथक् कुञ्चो ग्रहणं किम् ? अन्यत्तनादिकार्यं करोतेर्मा भूत् । “तनादिभ्यस्तथासोः” [१।४।१४८] इति विभाषया सेरुन् भवति । अकृत । अकृयाः । न चानुपपत्ते “प्राद् गोः” [१।३।४५] इति खं सम्भवति । तस्मिन् प्राप्ते उप आरम्भात्सेः भवत्यर्थं प्रचक्षते ।

धिन्विक्कण्योर च ॥२।१।७५॥ 'धिवि प्रीणने', 'कृवि हिंसाकरणयोः' इत्येताभ्यां उरित्यं ल्यो भवति अकारश्चान्तादेशः । धिनोति । कृणोति । अतः खम् । "न धुखेऽगे" [१।१।१८] इति प्रतिषेधात् "परेऽचः पूर्वविधौ" [१।१।१७] इति स्थानिवद्भावाद्वा (एप्) न भवति । सनुम्कोच्चारणं ज्ञापकं ल्योत्पत्तेः प्रागेव नुम्भवतीति । तेन कुण्डा हुण्डेति सिद्धम् ।

त्रयादेः शना ॥२।१।७६॥ क्री इत्येवमादिभ्यो धुभ्यः श्रा इत्ययं ल्यो भवति । क्रीणाति । प्रीणाति ।

स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्कम्भुस्कृज्भ्यः श्नुश्च ॥२।१।७७॥ स्तम्भ्वादिभ्यः श्नुर्भवति श्रा च । स्तभ्नोति । स्तभ्नाति । स्तुभ्नोति । स्तुभ्नाति । स्कुभ्नोति । स्कुभ्नाति । स्कुभ्नोति । स्कुभ्नाति । स्कुनोति । स्कुनाति । स्कुज् भ्रज्यादिषु पठ्यते । इतरेषामिहैवोपदेशः । उदित्करणान्यत्रापि प्रयोगः ।

हौ हलः शनः शानः ॥२।१।७८॥ हल उत्तरस्य श्रा इत्येतस्य शान इत्ययमादेशो भवति हौ परतः । अशान । पुषाण । हाविति किम् ? अश्नाति । हल इति किम् ? क्रीणीहि । श्र इति स्थानिनिर्देशः किमर्थः ? स्तम्भादीनां यदा श्नुस्तदा मा भूत् । स्तभ्नोति । त्यान्तरं वा सर्वेभ्यः सम्भाव्यते । शानस्य शित्करणं ज्ञापकम्-अनित्योऽनुबन्धस्य स्थानिवद्भाव इति । तेन लडादीनां मिवादिषु स्थानिवद्भावाद्धिच्छं छिच्छं च न भवति । पचमाना स्त्री । अचिनवम् । असुनवम् ।

ईपाऽत्र वाक् ॥२।१।७९॥ धोरिति वर्तते । अत्र धोरधिकारे ईपा निर्दिष्टं वाक्संज्ञं भवति । गम्यमानक्रियापेक्षया ईपेत्यस्य करणत्वम् । वक्ष्यति "कर्मण्यण्" [२।२।१] कुम्भकारः । शरलावः । मृद्रूपस्येयं वाक्संज्ञा तेन "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८] इति कर्मणि ता भवति । तासाद्वाक्सः परत्वेन । अत्र-ग्रहणं विस्पष्टार्थम् । वागितीयमन्वर्थं संज्ञा । ब्रूतेऽर्थे वागिति तेनासामर्थ्ये वाक्संज्ञा नास्ति । पश्य कुम्भं करोति कटम् । मृत्पिण्डं कुम्भं करोति । महान्तं कुम्भं करोति । सविशेषणानां च न भवति । हरतेः "द्विनाथयोः पशौ" [२।२।३०] इति पशुशब्दस्य न भवति । यत्र वाचकत्वं तत्र भवति । काशकटकारः ।

कृदमिङ् ॥२।१।८०॥ अत्र धोरधिकारे मिङ् वर्जितास्याः कृत्संज्ञा भवन्ति । अत ऊर्ध्वं ये वक्ष्यन्ते तेषामधिकारेण्येयं संज्ञा । वक्ष्यति "तव्यानीयौ" [२।१।८३] । कर्तव्यः । करणीयः । अत्र मृत्संज्ञाप्रयोजनम् । इत्यः । स्तुत्यः । "पिति कृति" [४।३।१६] इति तुक् । अमिङिति किम् ? चीयात् । स्यात् । अकृद्यकारादीत्वं सिद्धम् ।

प्राक्तेर्वाऽसमः ॥२।१।८१॥ स्त्रियां क्लिरिति वक्ष्यते । प्रागेतस्मादसमो यस्यः कृत् स वा भवतीत्येषोऽधिकारे वेदितव्यः । सरूपस्त्वपवादो बाधक एवेति भावः । विक्षेपकः । विक्षेप्ता । विक्षिपः । इगुल्लक्षणा-कविषये एवतुच्चावपि भवतः । प्राक्तेरिति किम् ? चिकीर्षा । "अस्त्यात्" [२।३।८३] इत्यकारः क्लेर्बाधकः । व्याक्रोशी । व्याकृष्टिरित्येवमादिषु यत्नो विधेयः । असम इति किम् ? गोदः । कम्बलदः । "आतः कः" [२।२।३] इति को भवति । अणोऽपवादः । अनुबन्धापाये रूपगतं समत्वमत्र ।

ण्वोर्व्याः ॥२।१।८२॥ प्रागिति वर्तते "ण्वुचौ" [२।१।१०६] इति वक्ष्यति । प्रागेतस्माच्च त्यास्ते व्यसंज्ञा वेदितव्याः । देवदत्तस्य कर्तव्यम् । देवदत्तेन कर्तव्यम् । व्यप्रदेशाः "व्यस्य वा कर्तरि" [१।४।७६] इत्येवमादयः ।

तव्यानीयौ ॥२।१।८३॥ तव्य अननीय इत्येतौ ल्यौ भवतः । कर्तव्यः । करणीयः । कथं वास्तव्यः ? वास्तु क्षेत्रं तस्माद्भावाद्यर्थे दिगादित्वाच्च । एवं वस्तुनि भवो वस्तव्यः ।

योऽचोऽरासुयुवः ॥२।१।८४॥ य इत्ययं ल्यो भवत्यजन्ताद्धोः ऋवर्णान्त आसु यु इत्येतान् वर्जयित्वा । देयम् । गेयम् । "ईघे" [४।३।६४] इति ईत्वम् । "गागयोः" [२।२।८१] इति पुनरेप् । "देयमृणे" [३।३।२२] इति निर्देशादीन् गुकार्ये निवृत्ते पुनरेप् । दित्त्वं धित्त्वामित्यत्र अगे ये परतोऽतः खम् । अच इति किम् ? पाक्यम् । अरासुयुव इति किम् । कार्यम् ? हार्यम् । आसाव्यम् । याव्यम् ।

पोरदुडोऽत्रपिवपिरपिलपिचमः ॥२।१।८५॥ पवर्गान्ताद्धोरदुडो य इत्ययं ल्यो भवति त्रपिवपि-
रपिलपिचमीन् वर्जयित्वा । रभ्यम् । लभ्यम् । समत्वेन यथापवादोऽयम् । पोरिति किम् ? वाच्यम् । अदुड इति
किम् ? डेष्यम् । कुटादित्वादेन्न स्यात् । तपरकरणमसन्देहार्थम् । अत्रपिवपिरपिलपिचम इति किम् ? चाप्यम् ।
वाप्यम् । राप्यम् । लाप्यम् । आचाप्यम् ।

शकिसहश्च ॥२।१।८६॥ शकि सह इत्येताभ्यां यो भवति । शक्यम् । सह्यम् । चकारोऽनुक्तसमुच्च-
यार्थः । तेन ससितकिचतियतियजिजनीनां संग्रहः । सस्यम् । तक्यम् । चत्यम् । यत्यम् । ज्यम् । जन्यम् ।
‘हनो वा वध इति च वक्तव्यम्’ [वा०] वध्यम् । क्षत्यम् ।

गदमदचरयमोऽगो ॥२।१।८७॥ गद मद चर यम इत्येतेभ्योऽगिपूर्वेभ्यः यस्त्यो भवति । गद्यम् ।
मद्यम् । चर्यम् । यभ्यम् । अगोरिति किम् ? निगाद्यम् । प्रमाद्यम् । अभिचार्यम् । प्रयाम्यम् । यमः ‘पोर-
दुडः’ [२।१।८५] इति सिद्धे नियमार्थमिदम् । अगोरेव यथा स्यात् । इतरेषामप्राप्ते विधिः । ‘चरेरेडि चागु-
राविति वक्तव्यम्’ [वा०] आचर्यं व्रतम् । अगुराविति किम् ? आचार्यो गुरुः ।

परयाऽवद्यवर्यावह्याऽर्योपसर्याऽजर्याणि ॥२।१।८८॥ परय अवद्य वर्या वह्य अर्य उपसर्या अजर्य
इत्येतानि शब्दरपाणि निपात्यन्ते । परयमिति निपात्यते व्यवहर्तव्यं चेद्भवति । परयः कम्बलः । परया गौः ।
पाण्यमित्यन्यत्र । अवद्यं भवति गह्यं चेत् । अवद्यं द्यूतम् । अवद्यं पापम् । न उद्यते इत्यनुद्यमन्यत् । वर्येति
वृद्धो यो भवत्यनिरोधोऽर्थे । शतेन वर्या । सहस्रेण वर्या । स्त्रीलिङ्गादन्यत्र एय एव भवति । वार्या ऋषयः धन-
संविभागरूपोऽत्राप्यनिरोधोऽस्ति । अनिरोध इति किम् ? वार्या गौः शस्येषु । वह्यमिति निपात्यते करणं चेद्भव-
ति । वहति तेन वह्यं शक्यम् । वाह्यमन्यत् । अर्य इति निपात्यते स्वामिनि वैश्ये च । अर्यः स्वामी । अर्यो
वैश्यः । अन्यत्र एय एव । आर्यं साधु । उपसर्येति निपात्यते काल्या प्रजने चेत् । प्रजनो गर्भग्रहणकालः
प्राप्तोऽस्याः काल्या । ‘तदस्य प्राप्तम्’ [३।४।१७] इति वर्तमाने ‘काल्यायः’ [३।४।१००] इति यः ।
उपसर्या गौः । उपसर्या वडवा । उपसर्या शरदि मथुरा अन्यत्र । अजर्यामिति नञ्पूर्वाच्छृषः कर्त्तरि यो निपात्यते
सङ्गतेऽर्थे । न जीर्यते इत्यजर्यमर्थसङ्गतम् । अजरिता कम्बल इत्यन्यत्र ।

वदः सुपि क्यप् च ॥२।१।८९॥ अगोरिति वर्तते । वदतेः क्यन्भवति यश्च गिर्वर्जिते सुपि वाचि ।
सत्यमुद्यत इति सत्योद्यम् । सत्यवद्यम् । मिथ्योद्यम् । मिथ्या वद्यम् । ‘वागमिड्’ [१।३।८२] इति षसः । सुपीति
किम् ? वाद्यम् । अगोरित्येव । अनुवाद्यम् ।

भूयहृत्ये ॥२।१।९०॥ सुप्यगोरिति वर्तते । भूय हत्य इत्येते शब्दरूपे निपात्यते गिर्वर्जिते सुपि वाचि ।
देवभूयं गतः । देवत्वं गत इत्यर्थः । साधुभूयं गतः । क्यन्नत्र निपात्यते । दरिद्रहननं दरिद्रहत्या । चोरहत्या ।
हन्तेः स्त्रीलिङ्गे भावे क्यन्निपात्यते । सुपीत्येव । भव्यम् । घातो वर्तते । अगोरित्येव । प्रभव्यनुपपातः ।

स्तुशासिण्वृद्धजुषः क्यप् ॥२।१।९१॥ सुप्यगोरिति निवृत्तम् । सामान्येनायं विधिः । स्तु शास् इण
वृणोति ष जुष इत्येतेभ्यः क्यन्भवति । स्तुत्यः । शिष्यः । इत्यः । आवृत्यः । आहत्यः । पुनः क्यन्नहृणं
किमर्थम् ? ‘ओरावश्यके’ [२।१।१०२] इत्यस्यापि बाधनार्थम् । अवश्यस्तुत्यः । ‘शंसिहुहिगुहिभ्यो वेति
वक्तव्यम्’ [वा०] शस्यम् । दुह्यम् । शंस्यम् । दोह्यम् । गुह्यम् । गोह्यम् । ‘आङ्पूर्वाद्भजेः सञ्ज्ञार्या क्यब्
वक्तव्यः’ [वा०] आभ्यम् । न वक्तव्यम् । पुनः क्यन्नहृणाद्योगविभागाद्भव्यति । उपेयमिति ईडो रूपम् ।

ऋदुडोऽकल्पपिचृतेः ॥२।१।९२॥ ऋकारोडो धोः क्यन्भवति कृपिचृती वर्जयित्वा । वृत्यम् ।
वृद्धयम् । यथापवादोऽयम् । अकृपिचृतेरिति किम् ? कल्प्यम् । चर्यम् । ‘पाणौ समवशब्दे च सृजेण्यौ
वक्तव्यः’ [वा०] पाणिसर्ग्या रञ्जुः । समवसर्ग्यः कः ।

भृत्वोऽखौ ॥२।१।६३॥ भृजः क्यम्भवति अखुविषये । भृत्याः कर्मकराः । भृत्याः शिशवः । भर्तव्या इत्यर्थः । अखाविति किम् ? भार्या नाम क्षत्रियाः केचित् । देवदत्तस्य भार्या । स्त्रियां “समजनिषद्” [२।३।८१] इत्यादिना भावे क्यप् । कर्मणि चायं भार्याशब्दः । ‘संपूर्वाद्भेति वक्तव्यम्’ [वा०] सम्भृत्या सम्भार्याः कर्मकराः ।

खेयराजसूयसूर्यमुषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्यान्यथ्याः ॥२।१।६४॥ खेयादयः शब्दा निपात्यन्ते । खेयमिति खनतेर्यो निपात्यते इकारश्चान्तादेशः । आदेप् । ‘ये वा’ [४।४।४५] इत्यात्वं नाशङ्कनीयं निपातनादेव । राजसूयमिति राजशब्दे वान्ते भान्ते सुनोतेः क्यप् दीत्वं च निपात्यते । राज्ञा सूयते राजा वा अस्मिन् सूयते इति राजसूयम् । सरति कर्माणि सुवतीति वा सूर्यः । सत्तेरुत्वं सूवतेर्वा रुडागमः क्यञ्च निपात्यते । मृपापूर्वस्य वदतेर्मित्यं क्यप्निपात्यते । मृषोद्यम् । रुच्यमिति कर्त्तरि क्यप् निपात्यते । कुप्यमिति संज्ञायां गुपेरादौ कत्वं क्यञ्च निपात्यते । कुप्यं फल्गु भाण्डमित्यर्थः । गोप्यमन्यत् । कृष्टे पच्यन्ते स्वयमेव कृष्टपच्या ब्रीहयः । आत्म-कर्मणि क्यप् । न व्यथतेऽसावन्यथ्यः । नञ्पूर्वाद्द्व्यथतेः कर्त्तरि क्यप् निपात्यते ।

भिद्योद्ध्यौ नदे ॥२।१।६५॥ भिद्य उद्ध्य इत्येतौ निपात्येते नदेऽभिधेये । भिनत्ति कूलानि भिद्यः । उज्झत्युदकमिति उद्ध्यः । कर्त्तरि कारके क्यप् उज्झेर्धत्वं च निपात्यते । नद इति किम् ? भिदः । उज्झः । इगुङ्लक्षणः कः पचाद्यच्च यथाक्रमम् ।

पुष्यसिद्ध्यौ भे ॥२।१।६६॥ पुष्य सिध्य इत्येतौ निपात्येते भेऽभिधेये । पुष्यस्यस्मिन्नर्था आरभमाणाणामिति पुष्यः । सिध्यन्त्यस्मिन्नर्था इति सिद्ध्यः । अधिकरणे क्यप्निपात्यते नक्षत्रे वाच्ये । अन्यत्र पोषणः सेधन इति च भवति ।

विपूयविनीयजित्या मुञ्जकल्कहलिषु ॥२।१।६७॥ विपूय विनीय जित्या इत्येते शब्दा निपात्यन्ते यथासंख्यं मुञ्ज कल्क हलि इत्येतेषु वाच्येषु । विपूयते इति विपूयो मुञ्जः । पवतेः क्यप्निपात्यते । विपव्यमन्यत् । विनीयतेऽसौ घृतादिना विनीयः । त्रिफलादिकल्कः । विनेयमन्यत् । जित्यो हलिः । जेयमन्यत् ।

पद्मस्वैरिवाहापद्मेषु ग्रहः ॥२।१।६८॥ पदे अस्वैरिणि बाहायां पद्मेषु चार्थे ग्रहेषोः क्यम्भवति । प्रगृह्यते इति प्रगृह्यं पदम् । अगृह्यं पदम् । अस्वैरी परवशः । गृह्यका इमे । अनुकम्पायां कः । परतन्त्रा इत्यर्थः । बहिर्भवा बाह्या । गृह्यते इति गृह्याः । ग्रामस्य गृह्या ग्रामगृह्या नगरगृह्या सेना । ताभ्यां बहिर्भूता इत्यर्थः । स्त्रीलिङ्गादन्यत्र न भवति । पद्मे भवः पद्म्यः । भरतगृह्यः । भुजबलिगृह्यः । तत्पद्म्य इत्यर्थः ।

कृष्विमुञ्जां यशोभद्रस्य ॥२।१।६९॥ कार्ये ता । कृ वृषि मुञ्ज इत्येतेभ्यः क्यब् भवति यशो-भद्रस्याचार्यस्य मतेन । कृत्यम् । कार्यम् । नित्यं एयः प्राप्तः । वृष्यम् । वर्ष्यम् । परिमृज्यम् । परिमार्यम् । “ऋदुङ्” [२।१।६२] इति नित्यं क्यप् प्राप्तः ।

युग्यं पत्रे ॥२।१।७०॥ पतति अनेनेति पत्रं वाहनम्; तस्मिन्नर्थे युग्यमिति निपात्यते । युज्यते इति युग्योऽश्वः । युग्यो गौः । क्यप् कुत्वं च निपात्यते । पत्रादन्यत्र योग्यमिति ।

पथः ॥२।१।७१॥ एय इत्ययं त्वो भवति धोः । अयमुत्सर्गः । अजन्ताद्यः क्यप् चास्यापवादौ । कार्यम् । हार्यम् । पाक्यम् । पाठ्यम् ।

ओरावश्यके ॥२।१।७२॥ उवाणान्ताद्दोषयो भवत्यावश्यके द्योत्ये । अवश्यमित्यस्य भावः आवश्यकम् । मनोसादित्वाद् बुञ् । लाव्यम् । पाव्यम् । यद्यावश्यकोऽर्थेऽवश्यलाव्यमिति कथं सविधिः ? मयूर-व्यंसकादित्वाद्धिभाषया । आवश्यक इति किम् ? लाव्यम् । पाव्यम् ।

अमावस्या वा ॥२।१।७३॥ अमावस्य इति वा प्रादेशो निपात्यते । अमा वसतः सूर्याचन्द्रमसावस्यां

अमावस्या । अमावास्या । अमाशब्दे सहाय्ये वाचि वसेरधिकरणेऽर्थे एयो विभाषया उङः प्रादेशश्च निपात्यते । प्रदेशेषु एकदेशविकृतस्य ग्रहणार्थम् ।

**पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्याऽऽनाय्यप्रणाय्या मानहविर्निवाससामिधेयनित्याऽसम्भ-
तिषु ॥२।१।१०४॥** पाय्य सान्नाय्य निकाय्य धाय्य आनाय्य प्रणाय्य इत्येते शब्दा निपात्यन्ते यथासंख्यं मान हविर्निवास सामिधेनी अनित्य असम्भति इत्येतेष्वर्थेषु । मीयतेऽनेनेति पाय्यं मानम् । माङः करणे एयः । आदिपत्वञ्च निपात्यते । मानमन्यत् । सन्नीयते इति सान्नाय्यं हविः । सम्पूर्वात्नयतेः एयः आयादेशो गेर्दीत्वं च निपात्यते । सन्नेयमन्यत् । निचीयते इति निकाय्यो निवासश्चेत् । निपूर्वाच्चिञः एयावादेशावादिक्त्वं च निपात्यते । निचेयमन्यत् । धीयते इति धाय्या सामिधेनी । दधातेर्यो निपात्यते । विशिष्टा ऋचः सामिधेयः । तत्र रुद्विशात्काचिदेवोच्यते । धेयमन्यत् । आनाय्य इति नयतेराङ्पूर्वाग्रण्यायादेशौ निपात्यावनित्येऽर्थे । आनाय्यो दक्षिणाग्निः । रुद्विरेषा दक्षिणाग्निविशेषस्य । आनेयोऽन्यः । अविद्यमानसम्भतिरसम्भतिः प्रपूर्वा-
न्नयतेर्यायादेशौ निपात्यौ । प्रणाय्यश्चौरः । प्रणयोऽन्यः ।

कुरण्डपाय्यसंचाय्यपरिचाय्योपचाय्यचित्याग्निचित्याः ॥२।१।१०५॥ कुरण्डपाय्य सञ्चाय्य परिचाय्य उपचाय्य चित्य अग्निचित्या इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । कुरण्डेन पीयतेऽस्मिन्सोम इति कुरण्डपाय्यः क्रतुः । कुरण्डशब्दे भान्ते एयोऽधिकरणे निपात्यते । कुरण्डपानमन्यत् । सञ्चीयते इति सञ्चाय्यः क्रतुः । सञ्चेयमन्यत् । परिचाय्योपचाय्यौ निपात्येते अग्नावभिधेये । परिचेय उपचेय इत्यन्यत् । चित्याग्नि-
चित्याशब्दौ निपात्येते अग्नावभिधेये । चीयतेऽसौ चित्योऽग्निः । अग्निचयनमग्निचित्या । अन्त्ये स्त्रीलिङ्गे भावे क्यन्निपात्यः ।

पुतृचौ ॥२।१।१०६॥ एवु तृच इत्येतौ त्वौ भवतः । कारकः । कर्ता । भोजकः । भोक्ता ।

नन्दिग्रहपिचिभ्यो ल्युण्णिन्चः ॥२।१।१०७॥ नन्द्यादिभ्यो ग्रहादिभ्यः पचादिभ्यश्च यथासंख्यं ल्यु णिन् अच् इत्येते त्या भवन्ति । नन्दयतीति नन्दनः । लकारः ‘युवोरनाकौ’ [५।१।१] इति सामान्य-
ग्रहणाविधातार्थः । नन्दिग्रहिनदिनः नूनिताधिरशोभिर्नर्दिभ्यो एयन्तेभ्यः संज्ञायां सहितपिदमिञ्जलिश्चिञ्जलिप-
टपिरसिसङ्क्रन्दिसङ्कर्षिभ्यः संज्ञायामएयन्तेभ्यः । जनार्दनः । मधुसूदनः । लवण इति निपातनायणत्वम् । विभीषणः । पवनः । वित्तनाशनः । कुलदमन एतावयोऽपवादौ इति नन्द्यादिः । ग्रह उत्सह उद्वास स्था उद्वास मंत्र संमर्द निरञ्ची निश्रावी निवापी निवेशी एतेभ्यः निपूर्वेभ्यः । अयाची अव्याहारी असंव्याहारी अवादी अत्राजी अवासी एतेभ्यः प्रतिषिद्धेभ्यः । अचामचित्तकर्तृकाणां प्रतिषिद्धानामिति वर्तते । अकारी अहारी अविनायी विशयी विषयीशब्दौ देशे निपातनात् अद्रिभावी प्रविभावी भूते भवतः । अपराधी उपरोधी परिभवी परिभावी इति ग्रहादिः । पच पठ वप वद चल पत तथा चरिचलिर्पातवदीनामच्याक्चस्येति वद्द्यते । नदट् लवट् तरट् चरट् चारट् चेलट् गा हट् देवट् टिक्करणं स्त्रियां ङ्यर्थम् । जर मर च्चर सेच मेघ कोष दर्भ सर्ष नर्त प्रण डर । अर्ण्य विषयेऽपि । श्वपच चक्रधर । पचादिराकृतिगणः ।

झाकृप्रीगुङः कः ॥२।१।१०८॥ ज्ञा कृ प्री इत्येतेभ्यः इगुङश्च धोः को भवति । जानातीति ज्ञः । आकारान्तलक्षणेण शः प्राप्तः । इह अर्थं जानातीति अर्थज्ञः । परत्वादातः के सति नित्यः सविधिः । उत्किरतीति उत्किरः । विक्रिः । प्रीणातीति प्रियः । इगुङः । वित्तिपः । विबुधः । विवृतः । इह काष्ठभेदः इति परत्वादण् ।
आतो गौ ॥२।१।१०९॥ आकारान्ताद्भोः को भवति गौ वाचि । णापवादाऽयम् । प्रस्थः । सुगलः । इह षड्वासन्दाय इति परत्वादण् ।

पात्राध्माधेदृशः शः ॥२।१।११०॥ गाविति वर्तते । पादिभ्यः शो भवति । पा इति साहचर्या-
दलान्ताणिकत्वाच्च पिबतेग्रहणम् । उत्पिबः । विपिबः । उज्जिबः । विजिबः । संज्ञायां तु ‘व्यात्रैरुपमेयेऽतद्योगे’

[१।३।१] इति निर्देशात् कः । व्याघ्रः । उद्धमः । विधमः । उद्धयः । विधयः । उत्पश्यः । विपश्यः । गाविति केचिदिह नाभिसम्बन्धन्ति । तेन पश्यतीति पश्यः । जिघ्रः ।

लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्योऽगेः ॥२।१।१११॥ लिम्प विन्द धारि पारि वेदि उदेजि चेति साहि इत्येतेभ्यः अगिपूर्वेभ्यः शो भवति । लिम्पतीति लिम्पः । कथं कुड्यलैप इति ? “मध्येऽपवादाः पूर्वान्विर्चान् बाधन्ते नोत्तरान्” [५०] इति इयुङ् कस्यायं शो बाधको नाणः । विन्दतीति विन्दः । लिम्पविन्द इति सानुपङ्गनिर्देशादन्यत्राप्ययं विधिर्भवति । संज्ञायां गावपि । निलिम्पा नाम देवाः । अरविन्दं गोविन्द इत्यण्विषयेऽपि शः सिद्धः । धारयतीति धारयः । पारयः । वेदयः । उदेजयः । निर्देशादेव गिपूर्वस्य ग्रहणम् । चेतयः । सातं करोतीति णिच् । सातयः । साहयः । आद्याभ्यां के इतरेभ्योऽञि प्राप्ते वचनम् ।

दाञ्धाञ्जोर्वा ॥२।१।११२॥ कार्थे ताविभङ्गी । दाञ् धाञ् इत्येताभ्यां अगिपूर्वाभ्यां वा शो भवति । ददः । दधः । दायः । धायः । अगावित्येव । प्रदः । प्रधः । अनुबन्धनिर्देशो यडुबन्तयोः शो मा भूदित्येवमर्थः ।

ज्वलितिकसन्ताण्णः ॥२।१।११३॥ इतिः आद्यर्थे अविभङ्गिकश्च निर्देशः । ज्वलादिभ्यः कस गतौ इत्येवमन्तेभ्यो वा णो भवति । ज्वालः । ज्वलः । कासः । कसः । चालः । चलः । अगावित्येव । प्रज्वलः ।

श्याद्व्यधासुसंस्तुलिहश्लिषश्वसतीणः ॥२।१।११४॥ श्यैङ् आकारान्त व्यध आसु संस्तु लिह श्लिष श्वस् अतीण् इत्येतेभ्यो णो भवति । वेति निवृत्तं अगाविति च । अवश्यायः । आदिति सिद्धे पुनः श्याग्रहणम् “आतो गौ” [१।१।१०६] इत्यस्य बाधनार्थः । आत् । दायः । धायः । व्याधः । आस्त्रावः । संस्त्रावः । लेहः । श्लेषः । श्वासः । अत्यायः । “अवादिभ्यस्तनेरिति वक्तव्यम्” [वा०] अवतनोतीत्यवतानः ।

ह्रसोऽवे ॥२।१।११५॥ ह्र सा इत्येताभ्यामवपूर्वाभ्यां णो भवति । अवहारः । अवसायः ।

दुन्योरगौ ॥२।१।११६॥ दुनी इत्येताभ्यां णो भवति । दुनोतीति दावः । नायः । अगाविति किम् ? प्रदवः । प्रणयः ।

विभाषा ग्रहः ॥२।१।११७॥ ग्रहेर्विभाषया णो भवति । ग्राहः । ग्रहः । व्यवस्थितविभाषेश्चम् । जलचरे ग्राह एव । ज्योतिषि ग्रह एव । विभाषेति योगविभागाद् भवतीति भावः ।

गेहे कः ॥२।१।११८॥ ग्रहेर्गेहेऽभिधेये को भवति । गेहं सन्न । तात्स्थ्याद्वारा अपि । गृहं गृहाः ।

शिल्पिनि ट्बुः ॥२।१।११९॥ शिल्पिन्यभिधेये ट्बुर्भवति धोः । नर्त्तकः । खनकः । रज्जकः । रज्जक-रजनरजसां नखं वक्ष्यति । एत एव धवः प्रयोजयन्तीति केचित् ।

गौ ण्युथकौ ॥२।१।१२०॥ गायतेयु^१ थक इत्येतौ त्वौ भवतः । शिल्पिनीति वर्तते । गायनः । गाथकः ।

हायनः ॥२।१।१२१॥ हायन इति निपात्यते व्रीहिकालयोः कर्त्रोः । जहात्युदकमिति हायना नाम व्रीहयः । जहाति सहवृताः क्रियाः हायनः संवत्सरः ।

पुस्तुत्वः साधुकारिणि बुन् ॥२।१।१२२॥ पु स्त लू इत्येतेभ्यः धुभ्यः साधुकारिणि कर्तरि बुन् भवति । साधु प्रवते यः स प्रवकः । एवं सरकः । लवकः । साधुकारिणीति किम् ? प्रवः ।

आशिषि ॥२।१।१२३॥ आशिषि चार्थे बुन् भवति धोः । जीवतादिति य उच्यते स जीवकः । एवं नन्दकः । वर्धकः ।

इत्यभयनान्दविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ।

कर्मण्यण् ॥२।२।१॥ कर्मणि कारके वाचि धोरणित्ययं ल्यो भवति । कुम्भकारः । शरलावः । चर्चापारः । कुम्भादिशब्दात् “कर्तृकर्मणोः कृत्” [१।४।६८] इति ता । “वागमिङ्” [१।३।८२] इति षसः । “शीलिकामिभक्ष्याचरीक्षिभिम्यो णो वक्तव्यः” [वा०] धर्मशीलः । धर्मशीला । धर्मकामः । वायुभक्तः । धर्माचारः । धर्मापेक्षः । क्लेशक्षमः । नेदं वक्तव्यम् । घञन्तेन षसे सति सिद्धम् । धर्म शीलमस्य धर्मशीलः । धर्मे कामोऽस्य धर्मकामः । धर्मे क्लेशक्षमः । अन्भिधानादण् न भवति यथा आदित्यं पश्यति हिमवन्तं शृणोतीत्येवमादौ न भवति । कुम्भकारादिष्वण् घञन्तेन च षस इत्युभयं भवति ।

ह्रावामः ॥२।२।२॥ हा वा मा इत्येतेभ्यश्चाण् भवति कर्मणि वाचि । के प्राप्ते इदं वचनम् । स्वर्गहायः । तन्तुवायः । वातिवायत्योर्मातेश्चाकर्मकत्वादप्रहणम् । धान्यं मिमीते मयते वा धान्यमायः । मीनातिमिनोत्योः कप्राप्तेरभावात् पूर्वैषैवाण् ।

आतः कः ॥२।२।३॥ आकारान्ताद्धोः कर्मणि वाचि क इत्ययं ल्यो भवति । गोदः । अर्थज्ञः । पार्ष्णित्रम् । अङ्गुलित्रम् । ज्या वयोहानावित्यस्य ब्रह्म जिनातीति ब्रह्मज्यः । के कृते परत्वादातः खं पश्चाजिः । “असिद्धवदत्राभात्” [४।४।२१] इत्याखस्यासिद्धत्वादिवादेशो न भवति । यणादेशः सिद्धः । जुहुवतुः जुहु-बुरित्यत्र ह्येज आत्वमकृत्वा जिः क्रियते इत्यात्वं नास्तीत्युवादेशः सिद्धः । आह्वः । प्रह्वः । इत्याकारान्तात् “आतो गौ” [२।३।८८] इति कः । प्रागात्वं पश्चाजिः ।

प्रे ॥२।२।४॥ प्रपूर्वादातः को भवति कर्मणि वाचि । तत्त्वप्रज्ञः । मोक्षप्रज्ञः । नियमार्थोऽयमारम्भः । प्र एव गौ नान्यस्मिन्नातः को भवति । गोसंदायः । वडवासंदायः ।

दाज्ञः ॥२।२।५॥ अयमपि नियमः । दा ज्ञा इत्येताभ्यामेव प्रपूर्वाभ्यां कर्मणि को भवति । धर्म-प्रदः । धर्मप्रज्ञः । नियमादिह न भवति । पार्ष्णिप्रत्रायः । अङ्गुलिप्रत्रायः । कथं भाष्ये प्रयोगः “अभिज्ञश्च पुनरेकत्वादीनामर्थानाम्” इति । अत्राभिधानवशात् “आतो गौ” [२।३।८८] इति को भविष्यति ।

संख्यः ॥२।२।६॥ प्र इति नियमेन निवर्तिते के पुनरारम्भः । सम्पूर्वात् ख्या इत्येतस्मात्कर्मणि वाचि को भवति । पशून् सञ्चष्टे पशुसंख्यः । अश्वसंख्यः ।

सुपि ॥२।२।७॥ सुवन्ते वाचि धोरातः को भवति । पादैः पिबति पादपः । कच्छेन पिबति कच्छपः । द्वाभ्यां पिबति द्वीपः । समस्थः । विषमस्थः । धर्माय प्रददाति धर्मप्रदः । शास्त्रेण प्रजानाति शास्त्रप्रज्ञः । अकर्मण्यपि वाचि यथा स्यादिति सुब्रह्मणम् । इह केचिदात इति नानुवर्तयन्ति । तेन मूलविभुजादिष्वभिधानवशात् कः सिद्धः । मूलान् विभुजति मूलविभुजो रथः । जलरहम् । नखमुचानि धनूंषि । काकगुहास्तिष्ठाः ।

स्थः ॥२।२।८॥ सुपि वाचि तिष्ठतेः को भवति । कर्चरि पूर्वो योगः । अनिर्दिष्टार्थत्वात् भावेऽपि यथा स्यादित्यारम्भः । आखूनामुत्थानमाखूथः । शलभोत्थः । “स्थास्तभोः पूर्वस्योदः” [१।४।१३५] इति सका-रस्य पूर्वस्वत्वम् ।

दुहो घश्च ॥२।२।९॥ इतः प्रभृति कर्मणीति सुपीति च द्वयमनुवर्तते । कर्मणि वाचि दुहेः को भवति षकारश्चादेशः । कामान्दोग्धि कामदुघो धर्मः । कामदुधा धेनुः ।

तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः ॥२।२।१०॥ तुन्द शोक इत्येतयोः कर्मणोर्वाचोः परिमृज अपनुद इत्येताभ्यां को भवति । अविशेषेण “सुपि” [२।२।७] इत्येतेनैव के सिद्धे आलस्यसुखाहरणयोरर्थयोर्यथा स्यादित्यारम्भः । तुन्दपरिमृजः अलसश्चेत् । शोकापनुदः पुत्रो जातः । पूर्वं “तिकुप्रादयः” [१।३।८३] इति षसः पश्चाद्वाक्सः । आलस्यसुखाहरणयोरिति किम् ? तुन्दपरिमृजं आतुरः । शोकापनोदो धर्माचार्यः ।

१. के कृते परत्वादेश्यारभ्य प्रागात्वं पश्चाजिजः इत्यन्तः पाठश्चिन्यः ।

भिन्नासेनादाये ॥२।२।२२॥ अनधिकरणार्थमेतत् । भिन्ना सेना आदाय इत्येतेषु वाञ्छु चरेष्टो भवति । भिन्नाचरः । सेनाचरः । आदायशब्दः प्यान्तः । आदाय चरति आदायचरः ।

पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सुः ॥२।२।२३॥ पुरस् अग्रतस् अग्रे इत्येतेषु सुबन्तेषु वाञ्छु सरतेष्टो भवति । पुरःसरः । “अग्रतस् आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] इत्येवन्तात्तसिः । अग्रतःसरः । अग्रेसरः । अग्रेसरी । अनीबन्तत्वेऽप्येकारो निपातनात् ।

पूर्वं कर्त्तरि ॥२।२।२४॥ कर्त्तृग्रहणं कर्मनिवृत्त्यर्थं पूर्वशब्दे कर्त्तृवाचिनि सुबन्ते वाचि सरतेष्टो भवति । पूर्वः सरति पूर्वसरः । क्रियाया विशेषणोऽपीष्यते । पूर्वं प्रथमं सरति पूर्वसरः । कर्त्तरीति किम् ? पूर्वं देशं सरति पूर्वसारः ।

कृञो हेतुशीलानुलोम्येऽशब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदे ॥२।२।२५॥ शब्द-श्लोकादिवर्जिते कर्मणि वाचि कृञः ट इत्ययं ल्यो भवति हेतौ शीले आनुलोम्ये च गम्यमाने । हेतुशब्दोपादानात् इह हेतुः प्रकृष्टं कारणम् । विद्या यशस्करी । धनं कुलकरम् । शीलं स्वभावः । समासकरः । अर्थकरः । आनुलोम्यमनुकूलता । प्रेषकरः । वचनकरः । एतेष्विति किम् ? कुम्भकारः । अशब्दादिष्विति किम् ? शब्दकारः । श्लोककारः । कलहकारः । गाथाकारः । वैरकारः । चाटुकारः । सूत्रकारः । मन्त्रकारः । पदकारः ।

दिवाविभानिशाप्रभाभास्करान्तानन्तादिनान्दीलिपिलिविलिभक्किकर्त्तृचित्रक्षेत्रसंख्या-जङ्गाबाह्वर्द्धनुरःषु ॥२।२।२६॥ अहेत्वाद्यर्थं आरम्भः । दिवाशब्दे सुबन्ते वाचि विभादिषु कर्मसु वाञ्छु करोतेष्ट इत्ययं ल्यो भवति । दिवेति भिसंज्ञं षट् । दिवा करोतीति दिवाकरः । विभां करोतीति विभाकरः । निशाकरः । प्रभाकरः । भासनं भाः । भासं करोति भास्करः । सूत्रे भास्करान्तेति सकारस्य निपातनात् जिह्वा-मूलीयविसर्जनीयौ न भवतः । कारं करोतीति कारकरः । अन्तकरः । अनन्तकरः । अन्तकरस्य नञ्से अन्योऽर्थः प्रतीयते इत्यनन्तग्रहणम् । आदिकरः । नान्दीकरः । लिपिकरः । लिविकरः । बलिकरः । भक्तिकरः । कर्त्तृकरः । चित्रकरः । क्षेत्रकरः । संख्या एकत्वद्वित्वादिका । एककरः । बहुशब्दोऽपि नानाधिकरणवाची संख्याशब्दः । बहुकरः । जंघाकरः । बाहुकरः । अहस्करः । “रोऽसुपि” [१।३।७८] इति रेफः । तस्य ‘कृकसि’ [१।४।३४] आदि सूत्रेण सत्वम् । धनुष्करः । अरुष्करः । “सस्तेऽद्यु स्थस्य” [१।४।३३] इति सत्वम् । “इणः षः” [१।४।२७] इति षत्वम् ।

कर्मणि भृतौ ॥२।२।२७॥ कर्मशब्दे वाचि कृञष्टो भवति भृतौ गम्यमानायाम् । भृतिर्नियतं कर्ममूल्यम् । कर्म करोति कर्मकरः । भृताविति किम् ? कर्मकारः ।

किञ्चद्बहुष्वः ॥२।२।२८॥ किम् यद् तद् बहु इत्येतेषु वाञ्छु कृञः अ इत्ययं ल्यो भवति । किङ्करः किङ्करा । यत्करः । यत्करा । तत्करः । तत्करा । चौयै तत्करः । बहुकरा । इह बहुशब्दो वैपुल्यवाची । हेत्वादिषु ट एव भवति । किङ्करणशीला किङ्करी ।

सकृत्स्तम्बे वत्सव्रीहोरिः ॥२।२।२९॥ सकृत् स्तम्ब इत्येतयोः कर्मणोः कृञ इरित्त्वयं ल्यो भवति वत्सव्रीहोः कर्त्रोः । सकृत्करिर्वत्सः । स्तम्बकरिः व्रीहिः । वत्सव्रीहोरिति किम् ? सकृत्कारः । स्तम्बकारः ।

इतिनाथयोः पशौ हृञः ॥२।२।३०॥ इति नाथ इत्येतयोर्वाचोः पशौ कर्त्तरि हृञ इरित्त्वयं ल्यो भवति । इतिहरिः । नाथहरिः पशुः । पशाविति किम् ? इतिहारः । नाथहारः ।

फलेग्रहात्मभरिः कुक्षिम्भरिः ॥२।२।३१॥ फलेग्रहि आत्मभरि कुक्षिम्भरि इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । फलानि ग्रह्णाति फलेग्रहिः । वाच एत्वमिश्र निपात्यते । आत्मानं विभर्ति आत्मभरिः । कुक्षिम्भरिः । वाचो मन्तत्वमिश्र निपात्यते ।

एजेः खश् ॥२।२।३२॥ एजतेर्त्यन्ताखशित्यं त्यो भवति कर्मणि वाचि । खकारः “खित्यकेः” [४।३।१७६] इति विशेषणार्थः । शकारो गमंज्ञार्थः । अङ्गान्येजयति अङ्गमेजयः । जनमेजयः । “वाततिल-साधेषु अजतुदजहातिभ्यः खश्वक्तव्यः” [वा०] वातमजाः मृगाः । तिलन्तुदः काकः । सार्धंज्ञहा मृगाः ।

नासिकादौ धेट्ध्मः ॥२।२।३३॥ नासिकादिषु कर्मसु धेट् ध्मा इत्येताभ्यां खश् भवति । नासिकान्धयति नासिकन्धयः । नासिकान्धमः । स्वरिन्धयः । स्वरिन्धमः । नाडिन्धयः । नाडिन्धमः । मुष्टिन्धयः । मुष्टिन्धमः । घटिन्धयः । घटिन्धमः । वातन्धयः । वातन्धमः । शुनीस्तनयोर्धेट एव । शुनिन्धयः । स्तनन्धयः । आदिशब्दः प्रकारवाची ।

उदि कूले रुजिवहोः ॥२।२।३४॥ उदीति कास्थाने ईप् । उत्पूर्वाभ्यां रुजि वहि इत्येताभ्यां कूले कर्मणि खश् । कूलमुद्रुजः । कूलमुद्रुहः ।

वहाभ्रे लिहः ॥२।२।३५॥ वह अभ्र इत्येतयोः कर्मणोः लिहैर्धोः खश् भवति । वहं लेटि वहंलिहो गौः । अभ्रंलिहः प्रासादः ।

मितनखपरिमाणे पचः ॥२।२।३६॥ मितशब्दस्य पृथग्निर्देशात् परिमाणं प्रस्थादि गृह्यते । मित नख परिमाण इत्येतैषु कर्मसु पचेर्धोः खश् भवति । मितं पचते मितम्पचा कन्या । नखम्पचा यवागूः । प्रस्थम्पचा । आटकम्पचा । द्रोणम्पचा ।

विध्वरुषोस्तुदः सखम् ॥२।२।३७॥ विधु अरुष् इत्येतयोः कर्मणोः तुदैर्धोः खश् भवति । सकारस्य च खम् । विधुन्तुदः । अरुन्तुदः ।

वाचंयमासूर्यं पश्योग्रम्पश्यललाटन्तपपरन्तपद्विषन्तपेरम्मदपुरन्दरसर्वं सहाः ॥२।२।३८॥ एते शब्दा निपात्यन्ते । वाक्छन्दे कर्मणि यमेर्धोः खो निपात्यते व्रते । वाचं यच्छति वाचंयमस्तपस्वी । वाग्यामोऽन्यः । सूर्यं न पश्यति असूर्यपश्यं सुखम् । असूर्यं पश्या राजदाराः । निपातनादसामर्थ्येऽपि नञ्सः दृशेः खश् । उग्रं पश्यति उग्रम्पश्यः । उग्रे कर्मणि दृशेः खश् निपात्यते । ललाटन्तपति ललाटन्तपो भास्वान् । खश् निपात्यः । परास्तापयति परन्तपः । द्विषतस्तापयति द्विषंस्तपः । परद्विषतोः कर्मणोस्तापेः खञिपात्यते । तकारस्य च खम् । “खचि” [४।४।८८] इति प्रादेशः । खियामनभिधानम् । द्विषतीतापः । इरया माद्यति इरम्मदम् । खञिपात्यः । पुरो दारयति पुरन्दरः । खच् वाचो मन्तता च निपात्यते । सर्वं सहते इति सर्वं सहः । खश् निपात्यः । कथं पाणयो ध्मायन्ते एषु पाणिन्धमा पन्थान इति ? नासिकादौ पाणिशब्दः; तत्र पाणिन्धमाः पथिकाः तास्त्थात्पन्थानोऽपीत्यधिकरणे खश् न वक्तव्यः ।

प्रियवशे वदः खच् ॥२।२।३९॥ प्रिय वश् इत्येतयोः कर्मणोः वदतेः खजित्यं त्यो भवति । प्रियंवदः । वशंवदः । खकारो वागर्थः (सुमर्थः) । चकारः “खचि” [४।४।८८] इति विशेषणार्थः । त्यान्तरकरणं किमर्थम् ? खशि सति उत्तरत्र करोतेर्बिभर्तेश्च विकरणः स्यात् । धोरिहोडः प्रादेशश्च न स्यात् ।

सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः ॥२।२।४०॥ सर्व कूल अभ्र करीष इत्येषु वाञ्छु कषतेः खज् भवति । सर्वकषो विप्रः । कूलङ्कषा नदी । अभ्रङ्कषो वायुः । करीषङ्कषा वात्या । “भगे दारेः खज् वक्तव्यः” [वा०] भगन्दरः ।

मेघर्तिभयेषु कृजः ॥२।२।४१॥ मेघ ऋति भय इत्येषु कर्मसु करोतेः खज् भवति । मेघङ्करः । ऋतिङ्कर । भयङ्करः । “अभयाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] अभयङ्करो जिनः । नञ् से अन्योऽर्थः प्रतीयते । अणोऽपवादोऽयम् । परत्वेन हेत्वादित्य च बाधकः ।

क्षेमप्रियमद्रे ऽण् च ॥२।२।४२॥ क्षेम प्रिय मद्र इत्येतेषु कर्मसु करोतेरणित्ययं ल्यो भवति खञ् । वेति सिद्धे कृत्रो हेत्वादिष्वपि ऽप्रणितेऽर्थान्तरान् । क्षेमकारः । क्षेमङ्करः । प्रियकारः । प्रियङ्करः । मद्रकारः । मद्रङ्करः ।

आशितम्भवः ॥२।२।४३॥ आशितम्भव इति निपात्यते । आशितशब्दे सुवन्ते वाचि भवतेर्भावकरणयोः खञ् निपात्यते । आसित इति कर्त्तरि क्लो दीत्वं चात एव निपातनात् । आशितस्य भवनमाशितम्भवो वर्त्तते । आशितो भवत्यनेनालमयमाशितम्भव ओदनः । प्रकरणान्तरविहितो युडपि भवति । भावे घञः समत्वान्दयं बाधकः ।

भृतवृजिधारिसहितपिदमः खौ ॥२।२।४४॥ भृ तृ वृ जि धारि सहि तपि दमि इत्येतेभ्यः खुविषये खञ् भवति । कर्मणि सुपि वाचि यथासम्भवभयं विधिः । विश्वम्भरा । वसुन्धरा । रथन्तरो नाम राजा । वृडावृत्रोः-पतिवरा कन्या । अरिञ्जयः । युगं धारयति इति युगन्धरः । “खञ्चि” [४।४।१८] इत्युङ् प्रादेशः । शत्रुंसहः । शत्रुन्तपः । दधिरन्तर्गतस्यर्थः । अरिन्दमः । खाविति किम् ? कुटुम्बमारः ।

गमः ॥२।२।४५॥ खाविति वर्त्तते । सुवन्तवाचि गमेर्धोः खञ् भवति । सुतङ्गमो नाम कश्चित् । क्वचिदखावपीष्यते । मितंगमोऽश्वः । अमितङ्गमा हस्तिनी । ‘विहायसो विहादेशः खञ्च वा डिङ्कव्यः’ [वा०] विहायसा गच्छति विहङ्गः । विहङ्गमः । ‘तुरसुजयोश्च’ [वा०] तुरङ्गः । तुरङ्गमः । भुजङ्गः । भुजङ्गमः ।

ङः ॥२।२।४६॥ खाविति निवृत्तं गम इति वर्त्तते । गमेर्धो भवति सुवन्ते वाचि । अन्तादिषु वाक्तु प्रायेणाभिधानम् । अन्तगः । अत्यन्तगः । अध्वगः । दूरगः । पारगः । अनन्तगः । गुस्तङ्गपगः । स्रयागारगः । ग्रामगः । सर्वत्र गच्छति सर्वत्रगः । पन्नं गच्छति पन्नगः । ‘उरसः सखञ्चेति वक्तव्यम्’ [वा०] ‘विहायसो विहं च’ [वा०] उरसा गच्छति उरगः । विहायसा गच्छति विहगः । ‘सुदुरोरधिकरणे ङो वक्तव्यः’ [वा०] सुलेन गच्छति अस्मिन् सुगः । दुर्गः । ‘निसो देशे’ [वा०] निर्गो देशः । डित्यभस्यापि डित्करणसामर्थ्याद्देः खम् ।

आशिषि हञः ॥२।२।४७॥ आशिष्यर्थे हन्तेर्धो भवति कर्मणि वाचि । तिभिं हन्ति तिमिहः । शापहः ।

अपे क्लेशतमसोः ॥२।२।४८॥ अप इति क्वास्थाने ईप् । अपपूर्वात् हन्तेः क्लेशतमसोः कर्मणोर्वाचोर्धो भवति । अनाशीरर्थोऽयमारम्भः । क्लेशापहः । तमोपहः ।

कुमारशोषयोर्णिन् ॥२।२।४९॥ कुमार शीर्ष इत्येतयोः कर्मणोर्हन्तेर्णिन् भवति । अशीलार्थोऽयमारम्भः । कुमारघातो । शीर्षघातो । शीर्षशब्दोऽकारान्तः शिरःपर्यायोऽस्ति ।

टगमनुष्ये ॥२।२।५०॥ हन इति वर्त्तते । हन्तेः कर्मणि वाचि टग् भवति अमनुष्ये कर्त्तरि । पित्तं हन्ति पित्तघ्नं घृतम् । श्लेष्मघ्नमौषधम् । जायाघ्नस्तिलकः । पतिघ्नी रेखा । अमनुष्य इति किम् ? पापघातस्तपस्वी । चौरघातो हस्तीत्यत्र “युद्ध्या बहुलम्” [२।३।६४] इति बहुलवचनादण् ।

जायापत्योर्लक्षणे ॥२।२।५१॥ लक्षणं चिह्नं तदस्यास्तीति लक्षणः । अर्शआदिपाठादः । जाया पति ह्येतयोः कर्मणोर्हन्तेर्लक्षणवति कर्त्तरि टग्भवति । जायाघ्नो ब्राह्मणः । लक्षणमस्य तद्विधमस्ति । पतिघ्नी कन्या ।

शक्ति हस्तिकवाटे ॥२।२।५२॥ शकनं शक् शक्तिरित्यर्थः । हस्ति कवाट इति एतयोः कर्मणोः हन्तेर्हन् भवति शक्ति गम्यमानायाम् । अयं पूर्वश्च मनुष्यकर्तृकार्य आरम्भः । हस्तिनं हन्ति हस्तिघ्नो मनुष्यः । हस्तिनं हन्तुं शक्न इत्यर्थः । कवाटघ्नो मनुष्यः । शक्तीति किम् ? हस्तिघातो व्याधः उपायेन ।

पाणिघताडघराजघाः ॥२।२।५३॥ एते शब्दा निपात्यन्ते । पाणिघताडघौ शिल्पिनि निपात्येते । अन्यत्र-पाणिघातः । ताडघातः । राजघ इत्यविशेषेण । ढगत्वं टिखं च निपात्यम् ।

सुभगाढ्यस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेऽन्वौ स्तुख्लुकजौ भुवः ॥२।२।५४॥ अच्वाविति च्यन्त-प्रतिषेधात् नजिवधुक्कन्यायेन च्यर्थविज्ञानम् । अच्यन्तेषु च्यर्थे वर्तमानेषु सुभगादिषु वाच्यु भवतेः स्तुख्लुकजौ इत्येतौ त्वौ भवतः । असुभगः सुभगो भवति सुभगम्भविष्णुः । सुभगम्भुङ्कः । आढ्यम्भविष्णुः । आढ्यम्भावुकः । स्थूलम्भविष्णुः । स्थूलम्भावुकः । पलितम्भविष्णुः । पलितम्भावुकः । नग्नम्भविष्णुः । नग्नम्भावुकः । अन्धम्भविष्णुः । अन्धम्भावुकः । प्रियम्भविष्णुः । प्रियम्भावुकः । अत्र तदन्विधिः । श्रीसुभगम्भविष्णुः । श्रीसुभगम्भावुकः । अच्वाविति किम् ? सुभगीभविता । आढ्यीभविता । नन्दिदिष्टे सदृशसंप्रत्ययादिह न भवति-सुभगो भविता ।

कृजः करणे ख्युट् ॥२।२।५५॥ कृजः करणे कारके ख्युट् भवति अच्यन्तेषु च्यर्थे वर्तमानेषु सुभगादिषु वाच्यु । असुभगं सुभगं कुर्वन्त्यनेन सुभगङ्करणम् । आढ्यङ्करणम् । स्थूलङ्करणम् । पलितङ्करणम् । नग्नङ्करणम् । अन्धङ्करणम् । प्रियङ्करणम् । सुभगङ्करणी विद्या । अच्यन्तेषु इत्येव । सुभगीकुर्वन्त्यनेन । नन्वत्र ख्युटि युटि वा नास्ति विशेषः । सत्यम् । अच्यन्तानुवृत्तेस्तु युटोऽप्यत्रार्थः प्रतिषेधः । च्यर्थे वर्तमानेष्वित्येव । आढ्यं कुर्वन्ति तैलेन । अभ्यञ्जयन्तीत्यर्थः ।

स्पृशोऽनुदके किः ॥२।२।५६॥ उदकवर्जिते सुपि वाचि स्पृशोर्धोः किर्भवति । ककारः कित्कार्यार्थः । वकारः सति साम्ये क्विपो बाधनार्थः । मन्त्रेण स्पृशति मन्त्रस्पृक् । दलं स्पृशति दलस्पृक् । ‘‘घरच’’ [५।३।५३] आदि सूत्रेण पत्वं जश्त्वं ‘‘कित्यस्य कुः’’ [५।३।७५] इति कुत्वम् । अनुदक इति किम् ? उदकं स्पृशति उदकस्पर्शः ।

ऋत्विग्दधृगस्त्रिगिद्गुणिगञ्चुयुजिक् ऋचः ॥२।२।५७॥ ऋत्विक् दधृक् लक् दिक् उष्णिक् इत्येते च्यन्ता निपात्यन्ते । अञ्चु युजि कुञ्चि इत्येतैस्त्वन्तु किर्भवति । ऋतौ यजते ऋतुप्रयोजनो वा यजते ऋत्विक् । ऋतुशब्दे वाचि यजेः किर्निपात्यते । धृष्णोतीति दधृक् । धृषेः किर्द्वित्वं च निपात्यते । सृजन्ति तामिति लक् । सृजेः कर्मणि किरमागमश्च निपात्यः । दिशन्ति तामिति दिक् । दिशोः कर्मणि किः । उत्स्निह्यतीति उष्णिक् । उत्पूर्वा स्निहः ग्यन्तखं पत्वं च । उष्णीषेण नह्यतीति वा उष्णिक् । घनखं प्रश्च । अञ्चु । प्राड् । दध्यङ् । सुवन्तमात्रे किर्भवति । युजेः केवलादेव किः । युङ् । युञ्जौ । युञ्जः । क्रुङ् । क्रुञ्जौ । क्रुञ्चः । क्रुञ्चेरपि केवलात् किः । नखं न भवति । स एष विशेषो निपातनैः सह निर्देशास्तभ्यते ।

त्यदादौ दृशोऽनालोके टक् च ॥२।२।५८॥ त्यादादिषु वाच्यु दृशोर्धोरनालोकेऽर्थे टक् भवति किश्च । आलोकरचन्नुर्विषयः पर्युदस्यते । त्यादक् । त्यादृशः । ‘‘दृशदृशवतौ’’ [४।३।१९२] इति निर्देशात्कोऽपि भवति । त्यादृशः । ‘‘आसर्वनाम्नः’’ [४।३।१९७] इत्यात्वम् । एवं तादृक् । तादृशः । तादृशः । यादृक् । यादृशः । यादृशः । सदृशब्दा एते तेन नैतेष्ववयवार्थोऽस्ति । तमिव पश्यति अथवा स इव दृश्यते इति यथा कथञ्चिद्वाक्यम् । ‘‘समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्’’ [वा०] सदृशः । सदृक् । सदृशः । अन्यादृक् । अन्यादृशः । अन्यादृशः । ‘‘दृशदृशवतौ’’ [४।३।१९५] इति समानस्य सभावः । अनालोके इति किम् ? यं पश्यति यदृशः । तदृशः ।

सत्सूद्विषदुहृद् ह्युजविद्भिदच्छिद्जिनीराजो गावपि क्विप् ॥२।२।५९॥ सदादिभ्यो धुम्य किब् भवति गौ वाचि अपिशब्दात् सुवन्तेऽपि । प्रसत् । दिवि सीदतीति द्युषत् । अन्तरिक्षसत् । सू इति

द्विधा सहचरितः आदादिकः । प्रसूते प्रसूः । अण्डं सूते अण्डसूः । शतसूः । गर्भसूः । विद्वेष्टीति विद्विट् । मित्राद्विट् । प्रद्रुहतीति प्रद्रुकृ । मित्राय दुहति मित्रद्रुकृ । प्रदोग्धि प्रधुकृ । युजिर् योगे युज समाधाविति चाविशेषेण ग्रहणम् । प्रयुनक्ति प्रयुकृ । अश्वयुकृ । युजेर्यन्तस्याऽपि युज इति निपातनात् षोडश् । प्रयोजयतीति प्रयुकृ । अश्वान् योजयति-अश्वयुकृ । विदेरविशेषेण ग्रहणम् । प्रवित् । धर्मवित् । प्रभित् । बलभित् । प्रच्छित् । रज्जुच्छित् । प्रजित् । कर्मजित् । प्रणीः । ग्रामणीः । विराजते विराट् । सम्राट् । “मन्वन्कनि-व्विचः क्वचित्” [२।२।६२] “क्विप्” [२।२।६३] इति क्विपि सिद्धे नियोगार्थमिदम् । सुपीति वर्तमाने गिग्रहणं किमर्थम् ? अन्यत्र सुब्रह्मणे गिग्रहणं नास्तीति ज्ञापनार्थम् । तेन “वदः सुपि क्यप् च” [२।१।८६] इति गे क्यम्न भवति । प्रवाद्यमनुवाद्यम् ।

अदोऽनन्ने ॥२।२।६०॥ अदेधोः किन्भवति अनन्ने सुबन्ते वाचि । आममत्ति आमात् । वृक्षात् । अनन्न इति किम् ? अन्नादः ।

क्रव्ये ॥२।२।६१॥ क्रव्यमाममासम् । क्रव्यशब्दे वाचि अदेः किन्भवति । क्रव्यमत्ति क्रव्यात् । पूर्वे-श्वे सिद्धे पुनरारम्भः असरूपस्याणो बाधकः । कथं तर्हि क्रव्यादः ? पृषोदरादिषु कृत्तविकृतादः क्रव्याद इति द्रष्टव्यम् ।

मन्वन्कनिव्विचः क्वचित् ॥२।२।६२॥ मन् वन् कनिप् विच् इत्येते त्याः क्वचिद् दृश्यन्ते । गावपीत्यनुवर्तते । सुशर्मा । सुवर्मा । क्वचिदिति वचनात् केवलादपि । दामा । पामा । वामा । हेमा । वन् । विजावा । अग्नेगावा । “वन्वाः” [४।४।४२] इत्यात्मम् । कनिप् । प्रातरित्वा । प्रातरित्वानौ । केवलादपि । कृत्वा । कृत्वानौ । धीवा । पीवा । विच् । विशतीति वेट् । रेट् । वकारः कृत्कार्यार्थः । इकार उच्चारणार्थः । चकारः एवर्थः । जागर्ति जागः । विरित्युच्यमाने “जागुरविजिण्वित्” [५।२।८२] इति पप्रतिषेधः शङ्क्येत ।

क्विप् ॥२।२।६३॥ क्विप् धोः क्वचिद् दृश्यते गावपि । उखेन (उखायाः) खंसते उखाश्रत् । वाहात् भ्रश्यति वाहाभ्रट् । “अन्यस्यापि” [४।३।२३२] इति दीत्वम् । क्वचिदधिकारात्केवलादापि । याति याः । वाति वाः ।

स्थः कः ॥२।२।६४॥ गावपीति वर्तते । तिष्ठतेः को भवति । शन्तिष्ठति शंस्थः । सुस्थः । ननु “सुपि” [२।२।७] “स्थः” [२।२।८] इत्यनेनैव कः सिद्धः । न सिध्यति । “शमि धोः खौ” [२।२।१६] इत्यत्र धुग्रहणस्य प्रयोजनमुक्तं समत्वेन पूर्वस्य कस्य बाधनमिति । यथा शङ्करा परिव्राजिकेत्यत्र हेलादिलक्षणस्य टस्य बाधात्कस्याकारस्य बाधनार्थं पुनः कविधानं क्विपोऽसमत्वादस्त्यो न बाधक इति पूर्वेण क्विप्सिद्धः । शंस्थाः ।

भजो णिवः ॥२।२।६५॥ भजतेष्विबर्भवति सुपि गावपि । अर्द्धभाक् । प्रभाक् । णकार एवर्थः । वकारः सति साम्ये बाधार्थः । इकारः उच्चारणार्थः । समत्वेन किञ्चिन्वाधकोऽस्ति णिवः ।

सुपि शीलेऽजातौ णिन् ॥२।२।६६॥ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरित्यस्मिन् दर्शने जातिप्रतिषेधोऽयम् । अजातिवाचिनि सुबन्ते वाचि शीले गम्यमाने धोर्णिन्भवति । सुपीति वर्त्तमाने पुनः सुब्रह्मणं सुम्मा-नार्थम् । अन्यथा अजाताविति सत्ववाचिनः प्रतिषेधादन्यस्यापि सत्ववाचिनो ग्रहणं न स्यात् । उष्णं भुङ्क्ते

१. “पिठरस्थास्युखाकुण्डम्” इत्यमरादिप्रामाण्यादुखाशब्दस्य नित्यस्त्रीत्वात् “उखायाः शंसते” इति वक्तुमुचितम् । सूत्रे “उखेन शंसते” इति कर्णात्तीयाऽस्त्रीत्वं च चिन्त्यम् । २. वहाद् अ०, व० । ३. वहाभ्रट्-अ०, व० ।

इत्येवंशीलः उष्णभोजी । उदासारिण्यः । प्रत्यासारिण्यः । अजाताविति किम् ? शालीन् भुङ्क्ते इत्येवं शीलः शालिभोजः । साधूनामन्त्रयिता । शील इति किम् ? उष्णभोजः आतुरः । क्वचिदित्यनुवृत्तेः साधुकारिण्य-प्यर्थे णिन् । साधुकारी । साधुदायी । “ब्रह्मणि वदेषिन् वक्तव्यः” [वा०] असमस्याणो बाधकः । ब्रह्म-वादिनो वदन्ति ।

कर्त्तरीवे ॥२।२।६७॥ कर्त्तरि वाचि इवार्थे धोरिण् भवति । उपमानभूते कर्त्तरीत्यर्थः । जात्यर्थम-शीलार्थं चेदम् । उग्र इव क्रोशते उग्रक्रोशी । ध्वाङ्करावी । खरनादी । सिंहनर्दी । वृत्त्यैवार्थस्योक्तत्वादिवशब्द-स्याप्रयोगः । कर्त्तरीति किम् ? तिलानिव भुङ्क्ते कोद्रवान् । इव इति किम् ? उग्रः क्रोशति ।

व्रते ॥२।२।६८॥ सुब्रन्ते वाचि धोरिण् भवति समुदायेन चेद् व्रतं गम्यते । शास्त्रपूर्वको नियमो व्रतम् । पार्श्वशायी । स्थण्डिलशायी । वृद्धमूलवासी । श्राद्धं न भुङ्क्ते व्रतमस्य अश्राद्धभोजी । अलवण-भोजी । सापेक्षस्यास्यापि नञो वृत्तिव्याख्याता । व्रत इति किम् ? स्थण्डिले शेते कामचारेण ।

प्रायो (य आ) ऽभीक्ष्ये ॥२।२।६९॥ सुब्रन्ते वाचि धोरामीक्ष्ये गम्ये प्रायो णिन् भवति । शीलं गुणान्तरे द्वेषः । ततोऽन्यन्मुहुर्मुहुः सेवनमाभीक्ष्ययम् । कषायपायिणो गान्धारयः । सौवीरपायिणो इपिलाः^१ । तरुपायिणो अन्ध्राः । क्षीरपायिण उशीनराः । “मृदन्तनुम्बिभक्त्याम्” [१।४।६१] इति णत्वम् । प्रायो-ग्रहणादिह न भवति । कुल्माषखादाश्चोलाः ।

मनः ॥२।२।७०॥ मन्यतेः सुपि वाचि णिन् भवति । अशीलाद्यर्थमेतत् । शोभनं मन्यते परं शोभ-नमानी । दर्शनीयमानी । मन इति श्यविकरणस्य ग्रहणं व्याख्यानात् । उत्तरत्र खशि विशेषो भविष्यति ।

खश्चात्मनः ॥२।२।७१॥ आत्मनो यत्सुब्रन्तं तस्मिन् वाचि मन्यतेः खश् भवति णिश्च । शोभ-नमात्मानं मन्यते शोभनगम्यः । शोभनमानी । परिडतमन्यः । परिडतमानी ।

भूते ॥२।२।७२॥ भूत इत्यधिकारो वेदितव्यः । धोरिति वर्तते । अर्थवशाद् भूते ध्वर्थे वक्ष्यमाणा विधयो भवन्तीत्यर्थः । वक्ष्यति दृशेः कनिप् । मेरं दृष्टवान् मेरुदश्चा । भूत इति किम् ? मेरं द्रक्ष्यति । न च भूतशब्दस्येतेरेतराश्रयत्वेनासिद्धिः, अनादित्वाच्छब्दव्यवहारस्य । भूत इति निसंज्ञको वा शब्दः । “इयन्त इति संख्यानं निसंज्ञानां न विद्यते । प्रयोजनवशादेते निपात्यन्ते पदे पदे ॥”

करणे यज्ञः ॥२।२।७३॥ णिन्निति वर्त्तते । करणे सुब्रन्ते वाचि यजेर्धोर्भूते णिन् भवति । अग्नि-ष्टोमेनेष्टवान् अग्निष्टोमयाजी । वाजपेययाजी । विशेषस्य करणत्वम् । यजनसामान्यं यजेरर्थः ।

कर्मणि हनः ॥२।२।७४॥ कर्मणि वाचि हन्तेर्णिन् भवति भूते । पितृव्यं हतवान् पितृव्यघाती । मातुलघाती । कुत्साविशेष इति वक्तव्यमिह मा भूत् । देवदत्तं हतवान् देवदत्तघातः ।

ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्तिप् ॥२।२।७५॥ ब्रह्म भ्रूण वृत्र इत्येतेषु कर्मसु हन्तेः क्तिभभवति । ब्रह्माणं हतवान् । ब्रह्महा । भ्रूणहा । वृत्रहा । सामान्येन क्तिपि सिद्धे नियमार्थमिदम् । ब्रह्मादिष्वेव कर्मसु हन्तेः क्तिमान्यस्मिन् । मित्रं हतवान् मित्रघातः । उभयथा नियमश्चायम् । ब्रह्मादिषु कर्मसु भूते क्तिवैव नान्यस्त्यः । उभयथा शिष्यैः प्रतिपन्नत्वात् उभयथा नियमो लभ्यते । कथं मधुहा ? चिन्त्यमेतत् । हन इत्येव । ब्रह्माणं कृतवान् । भूत इत्येव । ब्रह्माणं हन्ति हनिष्यति वा ।

सुकर्मपापमन्त्रपुण्ये कृजः ॥२।२।७६॥ क्विन्निति वर्त्तते । सुशब्दे वाचि कर्मादिषु च करोतेः क्तिभभवति भूते । सुष्ठु कृतवान् सुकृत् । कर्मकृत् । पापकृत् । मन्त्रकृत् । पुण्यकृत् । एषोऽप्युभयथा नियमः ।

स्वादिष्वेव वाक्तु कृजः किम्भवति नान्यस्मिन् । सूत्रं कृतवान् सूत्रकारः । स्वादिषु च भूते किम्बेव नान्यस्त्यः । कृज इति किम् ? पापं चित्तव्रजम् । भूत इत्येव । कर्म करोतीति कर्मकारः । स्वादिष्वेव भूते किम्भवतीति नायमिह नियम इत्येके । तेन भाष्यकृत् शास्त्रकृत् तीर्थकृदित्येवमादि सिद्धम् । वर्तमानकालविवक्षा वा तेनानियमः ।

सोमे सुजः ॥२।२।७७॥ सोमे कर्मणि सुनोतेः किम्भवति भूते । सोमं सुतवान् सोमसुत् । सोम-सुतौ । सोमसुतः । एषोऽप्युभयथा नियमः । सोम एव वाचि सुनोतेः किम्भनान्यस्मिन् । सुरां सुतवान् सुरासावः । सोमे वाचि भूते किम्बेव नान्यस्त्यः । सुज इति किम् ? सोमं कृतवान् । भूत इत्येव । सोमं सुनोति सोमसावः ।

अग्नौ च्चेः ॥२।२।७८॥ अग्नौ कर्मणि चिनोतेः किम्भवति भूते । अग्निं चितवान् अग्निचित् । अग्निचितौ । अग्निचितः । अयमप्युभयथा नियमः । अग्नावेव वाचि नान्यस्मिन् । कुब्धं चितवान् कुब्धचायः । अग्नौ वाचि भूते किम्बेव नान्यस्त्यः । चेरिति किम् ? अग्निं कृतवान् । भूत इत्येव । अग्निं चिनोति अग्निचायः ।

कर्मण्यग्न्याख्यायाम् ॥२।२।७९॥ कर्मणीति प्रकृतं वर्त्तते । कर्मणि वाचि चिनोतेः कर्मणि कारके किम्भवति समुदायेन चेदग्न्याख्या गम्यते । श्येन इव चितः श्येनचित् । काक इव चितः काकचित् । रथचक्रचित् । आख्याग्रहणं किमर्थम् ? रूढेः परिग्रहार्थम् । अग्न्यर्थं इष्टकाचयः श्येनचित्दुच्यते ।

कर्मणीन्विक्त्रियः ॥२।२।८०॥ कर्मणि वाचि इन्नित्ययं ल्यो भवति । विपूर्वात् क्रीणातेः । कर्मणीति वर्तमाने पुनः कर्त्तव्यमभिधेयनिवृत्त्यर्थम् । कर्मणि वाचि कर्त्तरि कारके यथा स्यात् । तैलं विक्रीतवान् तैलविक्रयी । घृतविक्रयी । “**कुस्त्रायामिति वक्तव्यम्**” [वा०] इह न भवति । धान्यविक्रायः ।

दशोः कनिप् ॥२।२।८१॥ भूते कर्मणीति च वर्त्तते । कर्मणि वाचि दशोधोः कनिम्भवति । मेरुं दृष्टवान् मेरुदृष्टा । विश्वदृष्टा । पित्करणमुत्तरार्थम् । सामान्येन कनिपि सिद्धे पुनर्वचनं भूते मन्वन्विचां निवर्तकम् ।

राज्ञि युधिकृजः ॥२।२।८२॥ राजशब्दे कर्मणि युधि कृज् इत्येताभ्यां कनिम्भवति । युधिरन्त-र्भावितण्यर्थः सकर्मकः । राजयुधा । राजकृत्वा । अयमपि योगः मन्वन्विचां निवृत्त्यर्थः । कर्मणीत्येव । राज्ञा युद्धवान् ।

सहे ॥२।२।८३॥ सहशब्दे वाचि दुर्भिक्षिःपेताभ्यां कनिम्भवति भूते । सह युद्धवान् सहयुधा । सहकृत्वा । “**वा नोचः**” [३।३।१६०] इत्यत्र न्यगवयवस्य वसस्य ग्रहणात् सहशब्दस्य सभावो न भवति । योगविभागो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ।

जनेर्डः ॥२।२।८४॥ सुपि शील् इत्यतः सुपीति संबध्यते । जनेर्धोः सुपि वाचि ड इत्ययं ल्यो भवति । उपसरे जातः उपसरजः । मन्दुरायां जातः मन्दुरजः । “**त्वे ड्यापोः क्वचित् खौ च**” [३।३।१७३] इति प्रादेशः । बलभीजः । “**कायामजातावभिधानम्**” [वा०] जाड्याजातं जाड्यजं दुःखम् । सन्तोषजं सुखम् । सङ्कल्पजः कामः । बुद्धिजः संस्कारः । अजाताविति किम् ? मृगाज्जातः । हस्तिनो जातः । गौ वाचि खुविषये प्रजाताः प्रजाः । “**अनौ कर्मणि वाच्यभिधानम्**” [वा०] पुमांसमनुजातः पुमनुजः । स्त्र्यनुजः । “**अन्यस्मिन्नपि वाचि दृश्यते कारकान्तरेऽपि**” [वा०] किञ्जातेन किञ्जः । अलं जातेन अलञ्जः । द्विर्जातो द्विजः । न जातः अजः । “**कायामजातौ**” इत्युक्तम् । जातावपि दृश्यते ब्राह्मणजः पशुबधः । क्षत्रियजं युद्धम् । गौ वाचि खावि-त्युक्तः अखावपि दृश्यते । अधिजातः । अधिजः । अभिजः । परिजः । अनौ कर्मणीत्युक्तम् । अकर्मण्यपि दृश्यते । अनुजातः अनुजः । यद्यपि विशेषेण सुरीत्युच्यते इहापि प्राप्नोति सर्वाङ्गरिपूणो जातः गृहस्थो जातः । अनुभिधानान्न भवति । “**युड्या बहुलम्**” [२।३।१६३] इति बहुलवचनात् । कर्मणि कारके अन्यस्मादपि भवति । परिखाता परिखा । पुंसा अनुजातः पुंसानुप्रकरणे पुंसानुजो अनुषान्ध इत्यत्रानुवच्यते ।

तः ॥२।२।८५॥ तसंज्ञस्त्यो भवति धोर्भूते । इह वाग्विशेषपरिग्रहो नास्ति । कृतः । कृतवान् । भुक्तः । भुक्तवान् । कृक्वत्वोर्भाविनोः तसंज्ञाश्रिता तेन संज्ञया ल्यविधाने इतरेतराश्रयं नास्ति । आदिकर्मण्यपि कथञ्चित् भूतत्वमस्ति । प्रकृतः कटं देवदत्तः । प्रकृतवान् कटं देवदत्तः ।

सुयजोर्वनिप् ॥२।२।८६॥ सुपीति निवृत्तम् । सु यजि इत्येताभ्यां वनिप् भवति भूते । सुतवान् । सुत्वा । इष्टवानिति यञ्वा ।

जृषोऽन्तु ॥२।२।८७॥ जीर्थेतरत् इत्ययं ल्यो भवति भूते । जरन् । जरन्तौ । जरन्तः । कृक्वत्वो-
रसमत्वाद्वाधकोऽयम् ।

वस्सदिणो वसुर्लिरामम् ॥२।२।८८॥ वस् सद् इण् इत्येतेभ्यः भूते वसुर्भवति लिङ्वन्मसंज्ञश्च । अनूषिवान् श्रीदत्तं धान्यसिंहः । उपसेदिवान् उपाध्यायं शिष्यः । ईयिवान् उपेयिवान् उपाध्यायं शिष्यः । इणः क्रादिनियमादिटि द्वित्वम् । धुरूपस्य “यणेत्योः” [४।४।७७] इति यणादेशः । चस्य “कितीणो ङीः” [१।२।१६६] इति दीत्वम् । अथ क्रादिनियमलक्षणस्येदः “वञ्चि” [१।१।११४] इति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति ? उत्तरत्र “श्रुवोऽनिट्” [२।२।८६] इत्यनिट्त्वचनं ज्ञापकं “वञ्चि” [१।१।११४] इति प्रतिषेधो न भवति । उदात्तस्य वा स प्रतिषेधः । लिङ्वदतिदेशाद्द्वित्वम् । “न भिक्तलोक” [१।४।७२] इत्यादिना कर्मणि ताप्रतिषेधश्च भवति । मसंज्ञायाः किं प्रयोजनं कर्मव्यतिहारे मा भूत् । व्यत्यये जनपद इति । “प्राक्तेर्वाऽसमः” [२।१।८१] इति लुङ्गादयोऽपि भवन्ति । अन्ववात्सीत् । अन्ववसत् । अनूवास । उपासदत् । उपासीदत् । उपससाद । उपागात् । उपैत् । उपेयाय । कसुकानौ लिङादेशौ सर्वधुम्य इत्येके । “कसुल्लो मम्” इति मसंज्ञकः । कानस्य “इङानं दः” [१।२।१२१] इति दसंज्ञा । भावकर्मकर्तृषु च सम्भवः । लिङ् देशत्वादेव कित्त्वे सिद्धे स्फान्तार्थं क्लिक्करणमनयोः । अञ्जेः आजिवान् । स्वञ्जेः सस्वञ्जान् इति कित्त्वान्नखं सिद्धम् । ऋकारान्तरस्यैप्रतिषेधार्थं च क्लिक्करणं तितीर्वातः । “ऋच्छल्युताम्” [१।२।१२३] इत्येभ्यः भवति । कर्मणि ततिराणः । “ऋत इङ्गोः” [५।१।७४] इति इत्वस्य “द्विस्वेऽचि” [१।१।२६] इति स्थानिवद्भावे तु इति द्वित्वम् । “डरः” [१।२।१६६] इति अत्वम् । तैरेवाचार्यैः “वस्वेकाजाद्घसामिङ्” इति वसौ परतः एकाचामाकारान्तानां घसेश्चेङ्विहितः । पेचिवान् । पपिवान् । जक्षिवान् । इह कस्मान्न भवति ? विभिद्धान् चिञ्छिद्धान् । “हल्मध्ये लिङ्घ्यतः” इत्यनेन एत्वचखयोः कृतयोर्वसौ य एकाच तत्रैवेङ् भवति । यद्येवं ययिवानित्यत्रापि “इटि चात् खम्” [४।४।६३] इति खे कृते एकाच्चवमस्तीति आद्ग्रहणमनर्थकम् । नियमार्थ-
मेतत् । यथा इयिनिमित्तमेकाच्चं तेषामाकारान्तानामेव [इङ्भवति] नान्येषां चखन्वानिति । अत्रापि कृते उङ् खे क्रियमाणे एकाच्चसम्भवेऽस्ति । अत एव नियमात् घसेरिट्यप्राप्ते ग्रहणम् । तथा वा दृशिगमहन-
षिदविशाम् । ददृशिवान् । ददृश्वान् । जग्मिवान् । जगन्वान् । जघ्निवान् । जघ्नन्वान् । “मो नः” [१।३।८३] “स्वोः” [१।३।८४] इति मकारस्य नत्वम् । दृशेरनेकाच्वात् गमहनोरात् इति नियमात् इट्यप्राप्ते विभाषा । वसौ परतो विदेः शक्किरणस्य ग्रहणम् । विविदिवान् । विविद्धान् । ज्ञानार्थस्य ग्रहणे ते “यस्य वा” [१।१।१२१] इति प्रतिषेधः स्यात् । विविशिवान् । विविश्वान् ।

श्रुवोऽनिट् ॥२।२।८९॥ श्रु इत्येतस्माद्भ्रुवोर्भ्रुव्यनिट् । उपशुश्रुवान् श्रीदत्तं धान्यसिंहः । असमत्वा-
ल्लुङ्गादयोऽपि । उपाश्रुणोत् । उपशुश्राव ।

अनाश्वाननूचानौ ॥२।२।९०॥ अनाश्वान अनूचान इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । नञ्पूर्वादश्नातेः
वसुर्लिङ्वदिङ्भावश्च निपात्यते । अनाश्वान्तपश्चकार । असमत्वात् नाश्वत् नाश इत्यपि भवति । वचैरनुपूर्वात्
कर्तारि कानो निपात्यते । अनूचानो व्रतोपपन्नः । असमत्वात् अनूक्त्वान् अन्ववोचत् अनूवाच इति च भवति ।

लुङ् ॥२।२।९१॥ लुङ् इत्ययं ल्यो भवति भूते धोः । अकार्षात् । अहार्षात् । क भवानुषितः । अमुत्रा-
वात्समिति । अत्र भूतमात्रस्य विवक्षा, अतएव लङ् न भवति ।

अनद्यतने लङ् ॥२।२।९२॥ भूत इति वर्तते । अविद्यमानाद्यतने भूते धोर्लङ् भवति । अतीताया रात्रेः आ पश्चिमयामात् आगामिन्याश्च रात्रेराप्रथमयामात् अद्यतनकालः । तत्प्रतिषेधादनद्यतनः । अकरोत् । अहरत् । अनद्यतनभूतविवक्षायाः समत्वान्नुडो बाधको लङ् । अनद्यतन इति बसनिर्देशाद्यद्यतनगन्धोऽप्यस्ति तत्र लङ् न भवति । अद्य ह्यश्चाभुञ्महि । यदि बसः अद्यतनेऽप्यद्यतने नास्तीति लङ् प्राप्नोति । नायं दोषः । विशेषाद्यतने सामान्याद्यतनस्य विद्यमानत्वात् । इह भूतमात्रं विवक्षितम् । आगच्छाम घोषात् अपिबाम पय इति । 'परोक्षे लोकविज्ञाते प्रयोक्तुः शक्यदर्शनस्वेन दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः' [वा०] अरुणन्महेन्द्रो मथुराम् । अरुणद्यवनः साकेतम् । परोक्षे इति किम् ? उद्गादादेत्यः । लोकविज्ञात इति किम् ? जगाम ग्रामं देवदत्तः । प्रयोक्तुः दर्शनविषय इति किम् ? जघान कंसं किल वासुदेवः ।

अयद्यभिज्ञोक्तौ लृट् ॥२।२।९३॥ अभिज्ञोक्तिः स्मृतिवचनम् । अविद्यमाने यच्छब्दे अभिज्ञावचने वाचि अनद्यतने लृट् भवति । अभिज्ञानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः । मरेषु वत्स्यामः । उक्तिग्रहणं पर्यायार्थम् । स्मरसि बुध्यसे चेतयसे वा कश्मीरेषु वत्स्यामः । लङोऽपवादोऽयम् । अयदीति किम् ? अभिज्ञानासि देवदत्त यत् कश्मीरेष्ववसामः ।

न वा साकाङ्क्षे ॥२।२।९४॥ आकाङ्क्षा सम्बन्धः । अनद्यतन इत्येव । साकाङ्क्षे अभिज्ञावचने वाचि धोर्न वा लृट् भवति । अयद्यभिज्ञावचने पूर्वेण प्राप्ते लृट् नेति प्रतिषिध्यते । ततः केवले यच्छब्दसहिते चाभिज्ञावचने साकाङ्क्षे वाचि । वेति सर्वत्र विभाषा । अभिज्ञानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः कश्मीरेष्ववसाम तत्रौदनान् भोक्ष्यामहे तत्रौदनान्भुञ्जमहि । यच्छब्दसहिते अभिज्ञानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु वत्स्यामः यत्तत्रौदनान् भोक्ष्यामहे यत्तत्रौदनान्भुञ्जमहि ।

परोक्षे लिट् ॥२।२।९५॥ भूते अनद्यतने इति च वर्तते । परावृत्तोऽक्षेभ्यः परोक्षः इन्द्रियागोचर इत्यर्थः । परोक्षशब्दस्य चेदमेव निपातनम् । भूतानद्यतनपरोक्षे ध्वर्थे लिट् भवति । यद्यपि सर्वो ध्वर्थः साध्यत्वेनानुमेयत्वेन वा परोक्षस्तथापि यत्राश्रयद्वारेण प्रत्यक्षाभिमानो नास्ति लोकस्य स परोक्ष उक्तः । पपाच । चकार । आत्मनानुष्ठिता हि क्रिया सर्वस्य प्रत्यात्मं प्रत्यक्षेति सुप्तमत्तयोरस्मदः प्रयोगः । सुप्तोऽहं किल विललाप । मत्तोऽहं किल जघान । "अत्यन्तापह्नवे लिट् वक्तव्यः" [वा०] नाहं कलिङ्गं जगाम । कलिङ्गगमनस्य प्रत्यक्षत्वात्लिङ्गप्राप्तः ।

हशश्वतोर्लङ् च ॥२।२।९६॥ ह शश्वदित्येतयोर्वाचोर्लङ् भवति लिट् च भूतानद्यतनपरोक्षे । इति हाकरोत् । इति ह चकार । शश्वदकरोत् । शश्वच्चकार ।

प्रश्ने चान्तर्युगे ॥२।२।९७॥ प्रष्टव्य इति प्रश्नः । पञ्चवर्षं युगम् । युगान्यन्तरे प्रश्ने भूतानद्यतने परोक्षे लङ्लिटौ भवतः । चकारः किमर्थः ? पूर्वसूत्रे चानुकृष्टस्य लिटोऽनुकर्षणार्थः । किमगच्छस्त्वं पाटलिपुत्रम् । अददादसौ दानम् । ददावसौ दानम् । प्रश्न इति किम् ? देवदत्तो जगाम । अन्तर्युग इति किम् ? अहं त्वां पृच्छामि । जघान कंसं किल वासुदेवः ।

पुरि लुङ् वा ॥२।२।९८॥ पुराशब्दो भूतानद्यतने वर्तते न भूतमात्रे । पुराशब्दे वाचि भूतानद्यतने वा लुङ् भवति पक्षे यथाप्राप्तं च । अवात्सुरिह पुरा छात्राः । अवसन्निह पुरा छात्राः ।

लट् ॥२।२।९९॥ वेति निवृत्तम् । लङ् भवति पुराशब्दे वाचि भूतानद्यतने । वसन्तीह पुरा छात्राः । योगविभाग उत्तरत्र लट् एवानुवर्तनार्थः ।

स्मे ॥२।२।१००॥ स्मशब्दोऽप्यनद्यतने परोक्षे च वर्तते न भूतमात्रे । स्मशब्दे वाचि अनद्यतने लङ् भवति । इति स्मोपाध्यायः ऋथयति स्वयंप्रमार्थं युष्यन्ते स्म विद्याधराः । लङ्लिटोरपवादोऽयम् । स्मपुराशब्दयोर्युगपत्प्रयोगे परत्वात् स्मलक्षणे लट् । सुलोचनार्थं पुरा युध्यन्ते स्म पार्थिवाः । हशश्वत्तथापि विधिः

परत्वेन स्मलक्षणाः । इति हाधीयते स्म । शश्वदधीयते स्म । तथा हशश्वलक्षणात् परत्वेन पुरालक्षणां विधिः । इति ह पुरा अध्यगीषत । शश्वत्पुरा अध्यगीषत । “ननौ पृष्टप्रतिवचने भूतमात्रे लट् वक्तव्यः” [वा०] अकार्षीः कटं देवदत्त ! ननु करोमि भोः । तथा “नशब्दे नुशब्दे च वाचि पृष्टप्रतिवचने भूते वा लट् वक्तव्यः” [वा०] अकार्षीः कटं देवदत्त ! न करोमि भोः नाकार्षी भोः । अहं नु करोमि अहं न्वकार्षीम् । नेदं द्वयं वक्तव्यम् । पूर्वत्र क्रियाया अपरिसमाप्तेर्वर्तमानत्वम् । उतरत्रासमाप्तिः समाप्तिश्च क्रियाया विवक्षिता ।

सम्प्रति ॥२।२।१०१॥ सम्प्रति ध्वर्थे लट् भवति । आरम्भात्प्रभृत्याऽनुपरमाद्वर्तमानः कालः सम्प्रति इत्युच्यते । उक्तं च—“आरम्भाय प्रसृता यस्मिन् काले भवन्ति कर्तारः । कार्यस्यानिष्ठातस्तन्मध्यं कालमिच्छन्ति ॥” तरति । नयति । याति ।

तस्य शतृशानाववैकार्थे ॥२।२।१०२॥ तस्य सम्प्रतिकाले विहितस्य लटः स्थाने शतृ शान इत्येतावादेशौ भवतः न चेद्वान्तेनैकार्थ्यं भवति । पचन्तं पश्य । पचता कृतम् । पचमानेन कृतम् । तस्य ग्रहणं किम् ? असम्प्रतिकाले विहितस्य लटः स्थाने मा भूत् । उष्यते इह पुरा छात्रैः । अधीयते स्म नटैः । अवैकार्थं इति किम् ? पचति देवदत्तः । अत्र तस्य शतृशानाविति योगविभागः कर्त्तव्यः । “न वा साकाङ्क्षे” [२।२।१०३] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या नवाग्रहणं चाभिसम्बन्धनीयम् । ततो नेत्यनेन इतिशब्दयोगे प्रतिषेध एव भवति । वर्षतीति धावति । हन्तीति पलायते । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेन ह्वादिभिर्योगे चो भिन्नाधिकरणेषु च ह्रस्वु नित्यो विधिः । कुर्वती भक्तिः । कुर्वद्भक्तिः । कौर्वतः । पाचमानः । भक्तिशब्दः प्रियादौ पठ्यते । तेन ‘पुंवद्यजातीयदेशीये’ [३।३।१०४] इति पुंवद्भावः । समानाधिकरणेषु ह्रस्वु विकल्पः । कुर्वत्तरः । कुर्वद्रूपः । कुर्वारूपः । करोतितराम् । करोतिरूपम् । तस्मात् द्युत्ययोरुपसंख्यानं न कर्त्तव्यम् । पुनरवैकार्थं इति द्वितीयो योगः । अत्रापि नवेत्यधिकारात् कचिद्वान्तेन सामानाधिकरण्येऽपि शतृशानौ भवतः । सन् घटः । अस्ति घटः । विद्यमानो घटः । विद्यते घटः । जुह्वन् जुहोति वा देवदत्तः । अधीयानो मुनिः । अधीते मुनिः । व्यवस्थितविभाषाबलात् माडथाक्रोशे लुडपि । मा पचन् । मा पचमानः । मा पाचतीत् ।

संबोधने ॥२।२।१०३॥ सम्बोधनमभिमुखीकरणम् । तद्विषये लटः शतृशानौ भवतः वैकार्थत्वे । नित्यार्थमिदम् । हे पचमान । उभयोर्द्योत्यं सम्बोधनमिति बाविभक्त्यपि भवति ।

लक्षणहेत्वोः क्रियायाः ॥२।२।१०४॥ लक्षणं ज्ञापकं चिह्नम् । हेतुर्जनकः । लक्षणं च या क्रिया क्रियाया हेतुश्च या क्रिया तत्र वर्तमानाद्धोः परस्य लटः शतृशानौ भवतः । शयाना भुञ्जते यवनाः । तिष्ठन्तोऽनुशासति गणकाः । व्यभिचार्यपि लक्षणं दृश्यते यथा यत्रासौ काकस्तद्देवदत्तग्रहमिति । अन्यथेहैव स्यात् शयाना वर्द्धते दूर्वा । आसीनं वर्द्धते विसम् । हेतौ । अधीयान आस्ते । अर्जयन् वसति । नवेत्यनुवृत्तेरिह न भवति । वर्षतीति धावति । हन्तीति पलायते । लक्षणहेत्वोरिति किम् ? यो वेपते सोऽश्वत्थः । यदुत्सवते तल्लघु । द्रव्यस्य गुणस्य च लक्षणे न भवतः । इह शास्त्रे अन्यत्र हेतुग्रहणे कारकग्रहणमिति लक्षणग्रहणे च ज्ञापकग्रहणमिति अन्यतरनिर्देशिनोभयप्रतिपत्तेर्द्वयोरुपादानं द्वन्द्वेषु अल्पान्तरमिति पूर्वनिपातव्यभिचारार्थं [च] ।

तौ सत् ॥२।२।१०५॥ तौ शतृशानौ सत्संज्ञौ भवतः । शतृशानयोः प्रकृतत्वात् तौग्रहणं शतृशानरूपपरिग्रहार्थम् । तेन लृडादेशयोरपि सत्संज्ञा सिद्धा । देवदत्तस्य कुर्वन् करिष्यन् । “ङङ्ग्रहण” [१।३।७२] इत्यादिना तासप्रतिषेधः ।

पूङ्-यञोः शानः ॥२।२।१०६॥ सम्प्रतीति वर्तते । पूङ् यञ् इत्येताभ्यां शानस्त्यो भवति । अज्ञादेशोऽयं कर्त्तव्येव भवति । ममाम्योऽपि धुभ्यो विधास्यते । सोमं पवमानः । यजमानः । “न क्ति” [१।३।७२] आदिसूत्रे शतृ इत्यतः प्रभृति आ तृनो नकारात् तृभिति प्रत्याहार उक्तः । तेन कर्मणि ताप्रतिषेधः ।

वयःशक्तिशीले ॥२।२।१०७॥ वयस् शक्ति शील इत्येतेषु गम्यमानेषु धोः शानो भवति । शरीरावस्था वयः । कतीह शिखरं वहमानाः । कतीह कवचं पर्यस्यमानाः । शक्तिः सामर्थ्यम् । कतीह भटं निघ्नानाः । कतीह भुञ्जानाः । शीलं गुणान्तरद्वेषः । कतीह मण्डयमानाः । कतीह मुण्डयमानाः ।

धारीडः शत्रुकृच्छ्रिणि ॥२।२।१०८॥ अकृच्छ्रमनायासो यस्यास्ति सोऽकृच्छ्री । धारि इड इत्येताभ्यां शतृत्यो भवति अकृच्छ्रिणि कर्त्तरि । धारयन् धर्मशास्त्रम् । अधीयन् जैनेन्द्रम् । अकृच्छ्रिणीति किम् ? कृच्छ्रेण धारयति । कृच्छ्रेणाधीते ।

द्विषोऽरौ ॥२।२।१०९॥ द्विषः शतृत्यो भवत्यरौ कर्त्तरि । चौरस्य द्विषन् । चौरं द्विषन् । “द्विषः शतृवा वचनम्” [वा०] इति कर्मणि वा ता । अराविति किम् । द्वेष्टि पतिं भार्या । असमा एते त्या लटं न बाधन्ते ।

सुजो यज्ञसंयोगे ॥२।२।११०॥ संयुज्यते इति संयोगः संयुक्त इत्यर्थः । सुनोतेर्यज्ञसंयोगे कर्त्तरि शतृत्यो भवति । सर्वे सुन्वन्तः । यज्ञस्वामिन इत्यर्थः । यज्ञसंयोग इति किम् ? सुनोति सुराम् ।

प्रशंसेऽर्हः ॥२।२।१११॥ अर्हतेः प्रशंसेऽर्थे शतृत्यो भवति । अर्हन्निह भवान् पूजाम् । अर्हन्निह भवान् विद्याम् । प्रशंस इति किम् ? अर्हति चोरो वधम् ।

आक्रेः शोलाधर्मसाधुत्वे ॥२।२।११२॥ आडभिविधौ द्रष्टव्यः । वक्ष्यति प्रावस्तुवः क्तिप् । आ एतस्मात् क्तिपसंशब्दनात् यानित ऊर्ध्वं वक्ष्यामः शीलाधर्मसाधुत्वेषु वेदितव्याः । शीलं व्याख्यातम् । धर्म आचारः । धर्मस्य साधु करणं साधुत्वम् ।

तृन् ॥२।२।११३॥ तृन्नित्यर्थं त्यो भवति सर्वधुभ्यः शीलादिषु । शीले-कर्ता कटान् । वदितां जनाप वादान् । धर्मे-मण्डयितारः श्राविष्टायना भवन्ति । वधुमुद्धाम् अन्नमपहर्तार आह्वरका भवन्ति अर्द्धे सिद्धे । साधुत्वे । कर्ता कटम् । गन्ताऽखेटम् । गमेरकञ् वक्ष्यते । अधिकारात्तृन्पि भवति ।

अलङ्कारानिराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्य-पत्रपवृतवृधूसहचर इष्णुः ॥२।२।११४॥ अलङ्कारित्येवमादिभ्य इष्णुर्भवति शीलादिषु । अलङ्कारिष्णुः । मण्डनार्थे पूर्वविप्रतिषेधेन युञ्चोऽयं बाधकः । निराकरिष्णुः । प्रजनिष्णुः । उत्पचिष्णुः । उत्पतिष्णुः । उन्मदिष्णुः । रोचिष्णुः । अपत्रपिष्णुः । वर्तिष्णुः । सहिष्णुः । चरिष्णुः ।

ग्लाम्भूजिस्थः क्स्तुः ॥२।२।११५॥ ग्ला भू जि स्था इत्येतेभ्यो धुभ्यः क्स्तुर्भवति शीलादिषु । ग्लान्तुः । भूष्णुः । जिष्णुः । स्थास्तुः । “क्स्तोर्गित्वाञ्च स्थ ईकारः किङ्कतोरीत्वस्य शासनात् । एबभाव-स्त्रिषु स्मार्थः श्युकोऽनित्त्वङ्कोरितोः ॥”

त्रसिगृधिधृषिन्निपः क्तुः ॥२।२।११६॥ त्रसि गृधि धृषि क्षिप इत्येतेभ्यः क्तुर्भवति शीलादिषु । त्रस्तुः । गृध्णुः । धृष्णुः । क्षिप्नुः । ध्युङ्कः एधप्रतिषधार्थं कित्करणमिदं ज्ञापकं त्यादिहलपेक्षया रुसंज्ञायामपि “व्युङ्कः” [१।१।३३] एबभवतीति । वेत्ता । बोद्धा ।

शमित्यामदेर्धिणिन् ॥२।२।११७॥ इति आद्यर्थे आडभिविधौ । शमादिभ्य आ मदेर्धिनिष् भवति । अष्टौ च शमादयः-शमी । तमी । दमी । शमी । भ्रमी । क्षमी । क्लमी । प्रमादी । उन्मादी । -“उङोऽतः” [१।२।१४] इत्यैप्प्रातः “न सेटस्तासि मोऽवमिकमिचमः” [१।२।३६] इति प्रतिषिद्धः । मदेस्तु भवति । घकारः उत्तरत्र कुत्वार्थः । इकारः उच्चारणार्थः । अन्वे उकारमितं कुर्वन्ति तेषामिह शमिनितरा इति “ङगित्तञ्च” [४।३।११७] इति वा प्रादेशः प्राप्नोति । आमदेरिति किम् ? यसिता ।

दुहानुरुधदुषद्विषद्रुहयुजत्यजरजभुञ्जाभ्याहन ॥२।२।११८॥ दुहादिभ्यो धिनिष् भवति शीलादिषु । दोही । अनुरोधी । दोषी । द्वेषी । द्रोही । योगी । त्यागी । रज इति सूत्रे निपातनात्तस्यम् । रांगी । भोगी । अभ्याघाती । अकर्मकाणामिति वक्तव्यमिह मा भत् । गां दोग्धा । शत्रून्भ्याहन्ता ।

परैः सृदेविक्लिपरटवदद्वहमुहः ॥२।२।११६॥ परिपूर्वैभ्यः सृप्रभृतिभ्यो धुभ्यः घिनिष् भवति ।
परिसारी । देव देवन इत्यस्य परिदेवी । क्लिपेरविशेषेण ग्रहणम् । परिक्लेपी । परिपाटी । परिवादी । परिदाही ।
परिमोही ।

वौ कषचिचलसकत्थस्त्रम्भः ॥२।२।१२०॥ विपूर्वैभ्यः कषादिभ्यो धुभ्यो घिनिष् भवति । विकषी ।
विवेकी । विलाषी । विकत्थी । विस्रम्भी ।

अपे च लषः ॥२।२।१२१॥ अपे च वौ वाचि लषेर्घिनिष् भवति । अपलाषी । विलाषी ।

चरेः ॥२।२।१२२॥ अप इति वर्तते । अपपूर्वाचरेः घिनिष् भवति । अपचारी ।

अतेः ॥२।२।१२३॥ अतिपूर्वाचरेर्घिनिष् भवति । अतिचारी ।

समि पृचिसृजिज्वर ॥२।२।१२४॥ सम्पूर्वैभ्यः पृचि सृजि ज्वरि इत्येतेभ्यो घिनिष् भवति ।
सम्पर्की । संसर्गी । संज्वरी । अकर्मकाणामित्येव । संपुष्पङ्क्ति साकम् ।

आङ् यमियसिक्रीडिमुषः ॥२।२।१२५॥ आङ् पूर्वैभ्यः यमि यसि क्रीडि मुषि इत्येतेभ्यो घिनिष्
भवति । आयामी । तासाव^१निङ्भावादौप्रतिषेधो न भवति । आयासी । आक्रीडी । आमोषी ।

प्रे लपसृद्रुमथवदवसः ॥२।२।१२६॥ प्रशब्दे वाचि लप सृद्रुमथ वद वस इत्येतेभ्यो घिनिष्
भवति । प्रलापी । प्रसारी । प्रद्रावी । प्रमाथी । प्रवादी । वतेरनुबिबकरणस्य प्रवासी ।

निन्दिहिसक्लिशखादविनाशव्याभाषासूयो वुञ् ॥२।२।१२७॥ निन्दादिभ्यो वुञ् भवति शीला-
दिषु । निन्दकः । हिंसकः । क्लिशोरविशेषेण ग्रहणे युचोऽपि बाष्वा । क्लेशकः । खादकः । विनाशैर्यन्तस्य
विनाशकः । असूय इति कण्ठ्वादिर्द्यगन्तः । असूयकः । एवुना सिद्धे वुञ्ग्रहणं ज्ञापकमन्येभ्यः शीलादिषु
एव्वादयो न भवन्तीति ।

परौ वादिक्लिपरटः ॥२।२।१२८॥ परिपूर्वैभ्यः वादि क्लिप रट् इत्येतेभ्यो वुञ् भवति । परिवादकः ।
परिक्लेपकः । परिराटकः ।

देविकुशो गौ ॥२।२।१२९॥ देवि कुश इत्येताभ्यां गौ वाचि वुञ् भवति । देवीति देवतेर्यन्तस्य ।
परिदेवकः । आदेवकः । परिक्रोशकः । आक्रोशकः । गाविति किम् ? देवयिता ।

स्वचलार्थाङ्घ्रेयुञ् ॥२।२।१३०॥ रौत्यर्थेभ्यश्चलत्यर्थेभ्यश्च घिसंज्ञकेभ्यो युञ् भवति । रवणः ।
शब्दनः । कथनः । चलत्यर्थेभ्यः-चलनः । चोपनः । कम्पनः । घेरिति किम् ? पठिता शास्त्रम् ।

अनुदात्ते तोऽयसूददीपदीक्षो हलादेः ॥२।२।१३१॥ अनुदात्तेतो हलादेशोयुञ्भवति यकारान्त-सूद-
दीप दीक्ष इत्येतान्वर्जयित्वा । द्योतनः । रोदनः । अनुदात्तेत इति किम् ? यथा । अयसूददीपदीक्ष इति किम् ?
कूथिता । क्षमायिता । सूदेः सकर्मकस्यापि सूदिता । कथं मधुसूदनः । नन्दादिपाठाण्युः । दीपिता । दीपेर्वि-
शेषेण रो विधास्यते युचः प्राप्तिर्नास्ति । इदं प्रतिषेधवचनं ज्ञापकं शीलादिकेषु असमविधिर्न भवतीत्यनित्यमेतत् ।
तेन कम्पनः । कम्पनः । कम्पनः । विकृत्यी विकृत्यनः इति च भवति । दीक्षिता । हलादेरिति किम् ?
पृषते इत्येवं शील एधिता । आदिग्रहणं किम् ? हला तदन्तविधिर्मा भूत् । इह न स्यात् । जुगुप्सनः ।
मीमासनः । घेरेव । वसिता वल्लम् ।

सृजुज्वलगृधश्चलषपतपदः ॥२।२।१३२॥ सृप्रभृतिभ्यो युञ्भवति । शरणः । ज्वनः ।
ज्वलनः । गद्गनः । शोचनः । लषणः । पतनः । पदनः । चल्यर्थानां पदेश्च ग्रहणं सकर्मकार्थम् । पदिग्रहणं

ज्ञापनार्थमित्यन्ये । शीलादिकेषु चासमविधिर्न भवतीति । पदेरुक्त्वा विशेषविहितेन सामान्यविहितस्य युचो वाचित्वात् पुनरनेन प्रत्यापत्तिः ।

क्रुधमण्डार्थात् ॥२।२।१३३॥ क्रुध्यर्थेभ्यो मण्डार्थेभ्यश्च धुभ्यो युज्भवति । क्रोधनः । कोपनः । रोषणः । मण्डार्थेभ्यः-मण्डनः । रचनः । भूषणः ।

क्रमिद्रमो यङ् ॥२।२।१३४॥ क्रमिद्रमिभ्यां यङन्ताभ्यां युज्भवति । चङ्क्रमणः । दन्द्रमणः ।

यजिञ्जपिवददशासूकः ॥२।२।१३५॥ यङ् इति वर्तते । यज्यादिभ्यो यङन्तेभ्यः ऊको भवति । यायजूकः । जञ्जपूकः । वावदूकः । दन्दशूकः । जपिदंशिभ्यां “लुपसदचरजपजभवहृदशो गार्ह” [२।१।२१] इति यङ् । “जपजभवहृदशभवजपशाम्” [२।२।१३५] इति चस्य नुमागमः ।

जागुः ॥२।२।१३६॥ जागुरूको भवति । जागरूकः ।

लषपतपदस्थाभूवृषहनशृकमगम उकञ् ॥२।२।१३७॥ लषादिभ्यः उकञ् भवति । अपलाषुकं नीचसङ्गतम् । “अपे च लषः” [२।२।१२१] इति वचनात् विनिष्पत्तिर्भवति । प्रपातुका गर्भाः । उपपातुकाः देवाः । उपस्थायुको गुरुन् । प्रभावुकः । प्रवर्षुकः । आघातुकः । शृणोतिः शारुकः । कामुका वन्यस्य स्त्रियो भवन्ति । “न क्लित” [१।४।७२] इत्यादिना कर्मणि तायाः प्रतिषेधे प्राप्ते उकप्रतिषेधे कमेरप्रतिषेध इत्युक्तम् । आगामुकः स्वग्रहम् ।

जल्पभिक्तकुट्टुलुण्टवृङ्गष्टाकः ॥२।२।१३८॥ जल्पादिभ्यो धुभ्यष्टाको भवति । जल्पाकः । जल्पाकी । अकर्मकविवक्षायां “रुचलार्थाङ्गे युञ्” [२।२।१३०] इति युञ् प्रातः । भिन्नाकः । अनुदात्तेतो युञ् प्रातः । कुट्टाकः । लुण्टाकः । बराकः ।

प्रे सूजोरिन् ॥२।२।१३९॥ प्रपूर्वाभ्यां सूजुभ्यां इन् भवति । प्रसवी । प्रजवी ।

परिभूजिद्विद्विश्नीष्वमाव्यथाभ्यमः ॥२।२।१४०॥ इन्निति वर्तते । परिभू जि द् द्वि विश्री इण्वम अव्यथ अभ्यम इत्येतेभ्य इन् भवति । परिभावी । जयी । आदरी । ज्यी । विश्रयी । अत्ययी । वमी । अव्ययी । अभ्यमी ।

स्पृहिशृह्रिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुः ॥२।२।१४१॥ स्पृहिशृह्रिभ्यो धुभ्यः आलुर्भवति । स्पृह्यालुः । गृह्यालुः । पतयालुः । एते चुरादिष्वदन्ताः । दयालुः । निद्रालुः । तन्द्रालुः । तन्निति निपातनमालु-विषये भवति । श्रद्धालुः । इह शीङो ग्रहणं कर्तव्यम् । शयालुः ।

दाघेद्रसिशदसदो रुः ॥२।२।१४२॥ दा घेद् सि शद सद इत्येभ्यो रुर्मवति । दा इत्यविशेषेण ग्रहणम् । दासः । घासः वत्सो मातरम् । “न क्लित” [१।४।७२] इत्यत्र उकारप्रस्लेषात् तदन्तविधिना तायाः प्रतिषेधः । सेरुः । शद्रुः । सडुः । यत्त्वात्मकर्मणि यतेर्दास काष्ठं तदुणादिषु द्रष्टव्यम् ।

सृषस्यद् कमरः ॥२।२।१४३॥ सृ षसि अद् इत्येतेभ्यः कमरो भवति । सृमरः । षसरः । अद्मरः । अनेनैवादेः षसभावो निपात्यते ।

भञ्जभासमिदो घुरः ॥२।२।१४४॥ भञ्जादिभ्यो घुरो भवति । भञ्जेरात्मकर्मण्यभिधानम् । भञ्जुरं काष्ठम् । भाशुरं ज्योतिः । मेदुरं सुखम् ।

विद्विच्छिदः कुरः ॥२।२।१४५॥ विद् भिद् छिद् इत्येतेभ्यः कुरो भवति । विदुरः इति ज्ञानार्थस्यैव । भिच्छिदोरात्मकर्मणि कुर इष्यते । भिदुरं काष्ठम् । छिदुरा रज्जुः ।

सृजीण्णशः करप् ॥२।२।१४६॥ सृ जि इण् नश् इत्येतेभ्यः करप् भवति । सृत्वरः । जित्वरः । इत्वरः । नश्वरः । नश्चरी ।

गत्वः ॥२।२।१४७॥ गत्व इति निपात्यते गमेः करप्, मकारस्य खं निपात्यते । गत्वरः । गत्वरी ।

नमिकम्पिस्म्यजस्कमहिंसदीपो रः ॥२।२।१४८॥ नमि कम्पि स्मि अजस कम हिंस दीप इत्ये-
तेभ्यो रो भवति । नमेरात्मकर्मण्यपि । नम्रं काष्ठम् । नम्रो देवदत्तः । कम्प्रा शाखा । स्मेरं मुखम् । जस्यतेर्नञ्-
पूर्वात् अञ्चलं ज्ञानं भावयामः । कम्प्रा युवतिः । हिंसः पापमेति । दीपो मणिः । कम्पेश्च एयर्थत्वात्
कमदीप्योरनुदात्तेत्वाद्युच् प्राप्तः ।

सनाशंसभिन्न उः ॥२।२।१४९॥ सन्नन्त आशंस भिन्न इत्येतेभ्य उत्यो भवति । चिकीर्षुः । आङः
शसि इच्छायामित्यस्य आशंसुः । भिन्नुः ।

विन्दिच्छु २।२।१५०॥ विन्दु इच्छु इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । वेत्तेरुकारः नुमागमश्च निपात्येते ।
विन्दुः । इच्छतीत्येवंशील इच्छुः । उश्छत्वं च निपात्येते ।

स्वपितृषोर्नजिङ् ॥२।२।१५१॥ स्वपितृषिभ्यां नजिङ् भवति शीलादिषु । स्वप्नक् । स्वप्नञौ ।
तृष्णक् । तृष्णञौ ।

शृवन्द्योरारुः ॥२।२।१५२॥ शृ वन्दि इत्येताभ्यामारु इत्ययं त्यो भवति । शरारुः । वन्दारुः
जिनान् ।

भियः क्रुकलुकौ ॥२।२।१५३॥ भिभेतेः क्रु क्लुक इत्येतौ भवतः । भीरुः । भीलुकः । क्रुकोऽपि
वक्त्रव्यः । भीरुकः ।

स्थेशभासपिसकसो वरः ॥२।२।१५४॥ स्था ईश भास पिस कस इत्येतेभ्यो वरो भवति ।
स्थावरः । ईश्वरः । भास्वरः । पेस्वरः । कस्वरः ।

यो यङः ॥२।२।१५५॥ यातेर्यङन्ताद्वरो भवति । यायावरः । वरे अतः खम्, तस्य यखविधिं प्रति न
स्थानिवद्भाव इति “वलि न्योः खम्” [४।३।१५] इति यखम् । यखे कृते अतः खस्य स्थानिवद्भावात् “इटि
चात्खम्” [४।४।६३] इति आत्खं प्राप्तम् । वरे पूर्वादेशस्य न स्थानिवद्भाव इति न भवति । “शीलादि-
प्रकरणे धाञ्कृत्सृजनिभिर्य इडिट् वक्तव्यः” [वा०] धानशीलो दधिः । करणशीलः चक्रिः । सरणशीलः
सलिः । जननशीलः जलिः । नमनशीलः नेमिः । “ह्रस्वमध्ये लिङ्यतः” इति एत्वचले ।

ग्रावस्तुवः क्तिप् ॥२।२।१५६॥ ग्रावपूर्वात् स्तौतेः क्तिप् भवति शीलादिषु । ग्रावाणं स्तौतीत्येवंशीलः
ग्रावस्तुत् । शीलादिषु वाऽसमविधिर्नास्तीति सामान्यलक्षणः क्तिप् न प्राप्नोति पुनर्विधीयते ।

अन्येभ्योऽपि ॥ २।२।१५७ ॥ अन्येभ्योऽपि धुभ्यः शीलादिषु क्तिब् भवति । अपिप्रहणं
विकल्पार्थम् । अन्येभ्योऽपि धुभ्यः शीलादिष्वपि भवत्यशीलादिष्वपि तत्राभिधानवशात् । आजभासधुर्विद्युतेर्जि-
पृजुभ्यः शीलादिषु क्तिब् भवति । अन्येभ्योऽन्यत्र । विभ्राजनशीले विभ्राट् । विभ्राञौ । भाः । भासौ ।
धूर्वणाशीलः धूः । धूरौ । विद्युत् । विद्युतौ । ऊर्क् । ऊर्जौ । पूः । पुरौ । जूः । जुवौ । जुवः । “क्तिवपिचिप्र-
च्छायतस्तुकटप्रुञ्जुश्रीर्णा दीरजिरच” [वा०] इति दीलम् । अन्येभ्योऽशीलादिषु । पक् । पचौ । मित् ।
मिदौ । छित् । छिदौ । वाक् । प्रच्छेः प्राट् । आयतस्तूः । कटप्रूः ।

भुवः ख्वन्तरे ॥२।२।१५८॥ भवतेः क्तिब् भवति ख्वन्तरे च गम्यमाने । मित्रभूः । मित्रभुवौ ।
मित्रभुवः । अन्तरे । प्रतिभूः । प्रतिभुवौ । प्रतिभुवः । पूर्वैर्यैव सिद्धे नियमार्थमेतत् ख्वन्तरयोरेव भुवः शीला-
दिषु नान्यत्र । भविता । भावुकः ।

विप्रसमोऽखौ डुः ॥२।२।१५९॥ शीलादिष्विति निवृत्तम् । सम्प्रतीत्यनुवर्तते एव । विप्रसंपूर्वाद्धो-

भुंवो ह्रुर्भवत्यलौ । विभुः । प्रभुः । शम्भुः । अखाविति किम् ? विभुर्नाम कश्चित् । “हुप्रकरणे मितद्रुप्रभृतीना-
सुपसंख्यानम्” [वा०] मितं द्रवति मितद्रुः । शम्भुः ।

दाङ्गीशसयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे ऋट् ॥२।२।१६०॥ दाप् लवन इत्ये-
वमादिभ्यः करणे कारके ऋट् भवति । दान्ति तेन दात्रम् । नेत्रम् । शस्त्रम् । योत्रम् । योक्त्रम् । स्तोत्रम् ।
तोत्रम् । सेत्रम् । सेक्त्रम् । मेदूम् । पत्रम् । दंष्ट्रा । अजादिषु पाठाद्दाप् । नघ्री । दंशेः कृतनखस्य निर्देशो
ज्ञापकः क्वचिदन्यत्रापि नखम् । दशनः ।

धात्रपोत्रे ॥२।२।१६१॥ धात्र पोत्र इत्येते शब्दरूपे निपात्येते । घेटः कर्मणि ऋट् निपात्येते । धयन्ति
तामिति धात्री । पोत्रमिति पुनातेः पवतेर्वा करणे ऋट् निपात्येते । हलस्य सूकरस्य वा मुखं चेद्भवति हलस्य
पोत्रम् । सूकरस्य पोत्रम् ।

लधूसूखनर्तिसहचर इत्रः ॥२।२।१६२॥ करण इति वर्तते । ल्वादिभ्यो धुभ्यः करणे इत्रो भवति ।
लुनाति तेन लवित्रम् । धुवति तेन धवित्रम् । सुवति तेन सवित्रम् । खनित्रम् । अरित्रम् । सहित्रम् । चरित्रम् ।

पुवः खौ ॥२।२।१६३॥ करण इति वर्तते । पवतेः पुनातेर्वा करणे इत्रो भवति खुविषये । पूयतेऽनेन
पवित्रम् । पवित्रा नाम नदी ।

कर्तरि चर्षिदेवतयोः ॥२।२।१६४॥ पुव इत्रो भवति कर्तरि करणे च कारके ऋषिदेवतयोरभिषे-
ययोः । भिन्नयोगनिर्दिष्टत्वाद्यथासंख्यं न भवति । पूयतेऽनेन पुनाति वा पवित्रोऽयमृषिः । देवतायां पवित्रोऽहंन्
स मां पुनातु ।

जीतः क्लः ॥२।२।१६५॥ संप्रतीति वर्तते । विशब्देतो धोः संप्रति क्लो भवति । जिमिदा मिन्नः ।
जिभृषा । धृष्टः । जिद्विदा । दिवणः ।

मतिबुद्धिपूजार्थाच्च ॥२।२।१६६॥ मतिरनुमतिः । बुद्धिर्ज्ञानम् । पूजा अर्चा । मत्यर्थेभ्यो
बुद्धयर्थेभ्यः पूजार्येभ्यश्च धुभ्यः संप्रति क्लो भवति । राज्ञां मतः । राज्ञामिष्टः । राज्ञां बुद्धः । राज्ञां ज्ञातः । राज्ञां
पूजितः । राज्ञामर्चितः । क्लयोगे कर्तरि ता प्राप्ता “न क्ति” [१।४।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा भवतीत्यनेन
पुनर्विधीयते । चकारोऽनुक्कसमुच्चयार्थः ।

शीकितो रक्षितः क्षान्त आक्रुष्टो लुष्ट इत्यपि । सृष्टश्च सषितश्चोभौ अभिव्याहृत इत्यपि ॥

हृष्टनुष्टौ तथा कान्तः दयितोऽन्यः संयतोद्यतौ । कष्टं भविष्यतीत्याहुरमृताः पूर्वकस्मृताः ॥

अमृतशब्दः संप्रति बहुत्वनिर्देशात् । सुप्तः शयितः स्थितः आशित इत्येवमादयोऽपि संप्रति बोद्धव्याः ।

उणादयो बहुलम् ॥२।२।१६७॥ “पुवः खौ” [२।२।१६३] इत्यतो मण्डकप्लुत्या खविति
वर्तते । उण् इत्येवमादयस्स्याः संप्रति ध्वर्थे बहुलं भवन्ति । खुविषये क्वचित्संज्ञा भवति । “कृवापाजिमिस्वदि-
सांध्यशूभ्य उण् ।” कारः । वायुः । पायुः । जायुः । मायुः । स्वादुः । साधुः । आशुः । क्वचित्संज्ञा न
भवति । कृधूम्यां कसरः । कसरः । धूसरः । त्यसंज्ञाविरहात् “त्यादेशयोः” [१।४।३३] इति षत्वं न भवति ।
इह च शङ्खः शण्ड इण् न भवति । क्वचिदुभयथा । “वृत्तवदिहानिकमिकाषिभ्यः सः ।” वसंम् । तसंम् ।
एपम्प्रति त्यसंज्ञा षत्वं प्रति नास्ति । इह च षण्ड इति प्रकृतिकार्यं ध्वादिसत्त्वं न भवति उहं च-

“क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥”

तथा अनुक्ताभ्योऽपि प्रकृतिभ्यस्तथा भवन्ति । अण्डः । जूकसुवृङ्गः—जरण्डः । करण्डः । सरण्डः । वरण्डः । आङ् ईर्तेरपीष्यते । एरण्डः । अनुक्ता अपि त्या भवन्ति ऋफिङः ऋफण्डः इत्येन्द्रमदिदु । तथा संप्रतिकाले उणादयो विहिताः क्वचिद्भूतेऽपि दृश्यन्ते । कषितोऽसौ कषिः । ततोऽसौ तन्तिः । भसितं भस्म । चरितं चर्म । वृत्तं तदिति वर्त्म । तदुक्तं “बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदष्टेः प्रायसमुच्चथनादाप तेषाम् । कार्यसशेषावधेश्च तदुक्तं नैगमरूढभवं हि सुसाधु ॥” जात्यपेक्षयैकत्वं तनुदष्टेरिति प्यले कर्मणि का । तनुदष्ट वीक्ष्य तनुदष्टेः प्रकृतेस्तनोर्गुणस्य दर्शनादित्यर्थः । तद्बाहुलकमुक्तम् । एवं हि नैगमाः गौरित्येवमादयः रुदिभवाः पलाशा इत्येवमादयः शब्दा सुसाधवो भवन्ति ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

गम्यादिवर्त्स्यति ॥२।३।१॥ उणादयो अन्यत्र च ये साधिता गम्यादयः शब्दास्ते च वर्त्स्यति काले साधवो भवन्ति । वर्त्स्यतीत्यनागतस्य कालस्य सामान्येन ग्रहणम् । संप्रत्यादिकाले तेषां साधुत्वव्यवच्छेदार्थं आरम्भः । गमिष्यति गमी ग्रामम् । आगमिष्यति आगामी नगरम् । “आधमपर्यं चेनः” ; [१।४।७४] इति कर्मणि तायाः प्रतिषेधात् “कर्मण्यीप्” [१।४।२] इतीवेव भवति । एवं भविष्यति भावी । प्रस्थास्यते प्रस्थायी । प्रतिभोत्स्यते प्रतिबोधी । प्रतियोक्ष्यते प्रतियोगी । प्रयास्यति प्रयायी । “गमेरिन्” इति इन् । स एव “आङ् णित्” इति णित् । “मुवरश्च” इति भवतेरपि णिन् । अन्येभ्यः “सुपि शीलेऽज्ञातौ णिन्” [२।२।६६] इति णिन् । कथं श्वो गमी ग्रामम् । “अनद्यतने लुङ्” इति लुङ्प्राप्तेः ? तदसत् । यतो वर्त्स्यतीत्यनेन सामान्यशब्देनानद्यतनविशेषोऽप्यत्र गृहीतो यथा गौरित्यनेन खण्डमुण्डोऽपि । अतो वर्त्स्यतीत्यविशेषेण वृत्तावप्यर्थकरणादेर्विशेषप्रतिपत्तिः । अथवा “अनद्यतने लुङ्” [२।३।१४] इत्यत्र “गम्यादिवर्त्स्यति” इत्येतदनुवर्तिष्यते । तेनानद्यतनविषयेऽपि गम्यादयः सिद्धा भवन्ति । असमाद्धा अनद्यतने भवन्ति । लुङ्लुटावपि भवतो गमिष्यति गन्तेति ।

पुरायावतोलुङ् ॥२।३।२॥ पुरा च यावच्च पुरायावतौ । तयोः पुराया-च्छब्दयोर्वाचोर्वर्त्स्यति धोलुङ् भवति । पुरा भुङ्क्ते । पुराधीते । यावद्भुङ्क्ते । यावदधीते । भविष्यदनद्यतने लुटोऽयमपवादो लट् । लुङ्पि लृडपवादः, तत्रापवादयोः स्पष्टं परत्वाल्लुट् प्रातः पूर्वनिर्णयेन लङ् भवति । श्वः पुराऽधीते । श्वो यावदधीते । लङ्प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं न तु लान्तरिण्यस्येतिभिधानात् । तेनेह न भवति । यावद्दास्यति तावद्भोक्ष्यते । महत्या पुरा जेष्यति ।

वा कदाकर्होः ॥२।३।३॥ कदा कर्हि इत्येतयोर्वाचोर्वर्त्स्यति धोर्वा लङ् भवति । कदा भुङ्क्ते । कदा भोक्ष्यते । कदा भोक्ता । कर्हि भुङ्क्ते । कर्हि भोक्ता ।

किंवृत्ते लिप्सायाम् ॥२।३।४॥ किमो वर्तनं किंवृत्तं तस्मिन् वाचि लिप्सायां गम्यमानायां वर्त्स्यते वा लङ् भवति । लुटि लृटि च प्राप्ते अयमारम्भः । लब्धुमिच्छा लिप्सा प्रार्थनाभिलाषः । को भवद्भयो भिन्नां ददाति । को भवद्भयो भिन्नां दास्यति । को भवद्भयो भिन्नां दाता । इह कस्मान्न भवति । कदा भोजयिष्यसि भोजयितासि वा । किमो हि विभक्तयन्तस्य डतरडतमान्तस्य च वर्तनं किंवृत्तमिति वैयाकरणानामभिप्रायः । तच्चेह नास्ति ततोऽत्र लटोऽभावात् लृडलुटावैव भवतः । लिप्सायामिति किम् ? कः पाटलिपुत्रं यास्यति ?

लिप्स्यसिद्धौ ॥२।३।५॥ वत्स्यतीत्यनुवर्तते । लिप्सति हि लिप्स्यो दाता श्रोदनादिश्च । तत्र दातरि तासः । लिप्स्यस्य सिद्धिः लिप्स्यसिद्धिः । याचकेन हि यो लिप्स्यते दाता तस्य सिद्धौ स्वर्गादिफलप्राप्तौ । श्रोदनादौ तु भासः । याचकेन हि यो लिप्स्यते श्रोदनादिना करणभूतेन सिद्धिः दातुः स्वर्गादिफलप्राप्तिः तस्यां गम्यमानायां वत्स्यति वा लङ् भवति । यो भवद्भयो भिन्नां ददाति दास्यति दाता वा स स्वर्गलोकं गच्छति गमिष्यति गन्ता वा । दानाद्दातुः स्वर्गसिद्धिं ब्रुवाणो दातारमेवमुत्साहयति । ननु चात्र उभयत्रापि लिप्साया गम्यमानत्वात् ‘किंवृत्ते लिप्सायाम्’ [२।३।४] इत्येव लङ्विकल्पसिद्धेर्व्यर्थोऽयमारम्भः । न व्यर्थोऽकिंवृत्तार्थत्वादेतदारम्भस्य । पूर्वेण हि किंवृत्ते वाचि लङ्विकल्पो विहितः ।

लोडर्थलक्षणम् ॥२।३।६॥ वत्स्यतीति वेति च वर्तते । लोडर्थः प्रेषादिः, स लक्ष्यतेऽनेन लोडर्थ-लक्षणम्, तस्मिन् लोडर्थलक्षणे ध्वर्थे वर्तमानात् धोर्वत्स्यति वा लङ् भवति । उपाध्यायश्चेदागच्छति । उपाध्यायश्चेदागमिष्यति । उपाध्यायश्चेदागन्ता । अथ त्वं तर्कमधीष्व अथ गणितमधीष्व । अत्रोपाध्यायागमनेन प्रेषो लक्ष्यते ।

लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके ॥२।३।७॥ वेति वर्तते । लोडर्थलक्षण इति । ऊर्ध्वं मुहूर्ताद्भवः काल ऊर्ध्वमौहूर्तिकः । निपातनात्सविधिरुत्तरपदस्यैप् । ऊर्ध्वमौहूर्तिके वत्स्यति काले लोडर्थलक्षणे वर्तमानाद्धोर्लिङ् भवति लङ् वा । ऊर्ध्वं मुहूर्तादुपाध्यायश्चेदागच्छेत् उपाध्यायश्चेदागच्छति उपाध्यायश्चेदागमिष्यति उपाध्यायश्चेदागन्ता अथ त्वं तर्कमधीष्व अथ त्वं गणितमधीष्व ।

बुणत्तुमौ क्रियायां तदर्थायाम् ॥२।३।८॥ वत्स्यतीत्येव वर्तते । यस्माद्धोस्त्योत्पत्तिः प्रार्थ्यते तद्वाच्य-क्रिया तच्छब्देनाभिप्रेत्ता सा क्रिया अर्थः प्रयोजनं यस्या ब्रजनादिक्रियायाः सा तदर्था, तस्यां वाचि वत्स्यति-काले बुणत्तुमौ भवतः । कारको ब्रजति । कर्तुं ब्रजति । भोजको ब्रजति । भोक्तुं ब्रजति । क्रियायामिति किम् ? भिक्षिष्ये इत्यस्य जटाः । अध्येष्ये इत्यस्य कमण्डलुः । द्रव्यमत्र तदर्थम् । तदर्थायामिति किम् ? धावतस्ते पतिष्यति दण्डः । नात्र धावनं दण्डपतनार्थम् । ननु सामान्यविहितेन शबुना सिद्धं किमर्थं बुण्विधीयते भिक्षुतो भावे भवन्तीति भिन्नविषयत्वात्तुमपि न बाधकः । क्रियायां तदर्थायां वाचि लृङ् वक्ष्यते स बाधकः स्यात् । वाऽसमविधिना शबुर्भविष्यतीति चेत्; एवं तर्हि नियमार्थं बुण्वचनम् । वत्स्यति क्रियायां तदर्थायां वाचि बुणोव यथा स्यात् तुजादयो मा भूवन् इति । कर्ता ब्रजति विकिरो ब्रजति इत्येवमादि न भवति ।

भाववाचिनः ॥२।३।९॥ भाववाचिनो घञादयस्ते वत्स्यति काले क्रियायां तदर्थायां वाचि भवन्ति । यद्यपि सामान्येन विहिता घञादयस्तथापि बुण्प्रहणं ज्ञापकमुक्तम् सामान्यविहितास्या वत्स्यति काले क्रियाया तदर्थायां न भवन्तीति तुमा च बाध्येन् । तेनायं यत्नः । पाकाय ब्रजति । त्यागाय ब्रजति । मतये ब्रजति । पुष्टये ब्रजति । ‘तुमर्थाद् भावे’ [१।४।२५] इत्यप् । भाव इति विशेषणेन । वाचि प्रहणं किमर्थम् ? यकाभ्यः प्रकृतिभ्यो येन विशेषणेन त्या विहितास्ताभ्यः प्रकृतिभ्यस्तेन विशेषणेन क्रियायां तदर्थायां वाचि यथा स्युरित्येवमर्थम् ।

कर्मणि चाण् ॥२।३।१०॥ कर्मणि वाचि तदर्थायां च क्रियायामण् भवति । पूर्वेण बुण्प्राप्तः । वाऽसमविधिश्च नास्तीत्युक्तम् । अण् न स्यात् तेनायमारम्भः । कुम्भकारो ब्रजति । काण्डलावो ब्रजति । वाचिप्रहणानुवृत्तेर्यथाविहितमण् भवति इति कर्मण्येव वाचि भविष्यति । कर्मप्रहणं किमर्थम् ? अपवादविषयेऽपि यथा स्यादित्येवमर्थम् । गोदायो ब्रजति । तुषपायो ब्रजति । क्रियायां तदर्थायामनुवर्तते । चकारः किमर्थः ? केवलं कर्मणि केवलायां च क्रियायां वाचि मा भूत् । प्रत्येकमीपा निर्देशात् वाक्सः ।

लृट् ॥२।३।११॥ लृट् भवति क्रियायां तदर्थायां वाचि । करिष्यामीति ब्रजति । हरिष्यामीति ब्रजति । उदाहरणे इतिशब्दो हेतुहेतुमद्भावद्योतनार्थः ।

शेषे ॥२।३।१२॥ उक्तादन्यः शेषः; शुद्धं वर्त्यत् कालमात्रम्. शेषे वर्त्यति लृट् भवति । करिष्यति । हरिष्यति ।

विभाषा लृटः सत् ॥२।३।१३॥ वर्त्यति लृट् तस्य स्थाने सत्संज्ञौ शतृशानौ विभाषया भवतः । पद्यन्तं पश्य । पद्यमाणं पश्य । पद्यता कृतम् । पद्यमाणेन कृतम् । हे पद्यन् । हे पद्यमाण । अर्जयिष्यन् वसति । अध्येष्यमाण आस्ते । देवदत्तः पद्यन् पद्यति वा पद्यमाणः पद्यते वा । व्यवस्थितविभाषेयम् । तेन इवादिभिर्योगे सम्बोधने लक्षणहेत्वोः क्रियायामित्यत्र नित्यो विधिः । यान्तैकार्थत्वे विकल्पः । इतिशब्दयोगे तु न भवति । करिष्यामीति व्रजति । हरिष्यामीति व्रजति । लङ्ग्रहणं किम् ? त्यान्तरत्वं मा विज्ञायि ।

अनद्यतने लृट् ॥२।३।१४॥ वर्त्यतीति वर्तते । वर्त्यत्यनद्यतने ध्वये वर्तमानाद्धोलुङ् भवति । श्वः कर्ता । श्वोऽध्येता । अनद्यतन इति वसनिर्देशादद्य श्वो भोक्त्यामहे इत्यत्र न भवति । विभाषानुवर्तनात् परिदेवने लृट् विषयेऽपि लुङ् भवति । इयन्तु कदा गन्ता एवं निदधती पादौ । अयं तु कदाध्येता एवमनभियुक्तः ।

पदरुजविशस्पृशो घञ् ॥२।३।१५॥ पद रुज विश स्पृश इत्येतेभ्यो घञ् भवति । पद्यतेऽसौ पादः । श्वुतृचोरयमपवादो न पचाद्यचः “सुम्भिङ्गन्तं पदम्” [१।२।१०३] इति पदनिर्देशात् । रुजत्यसौ रोगः । विशत्यसौ वेशः । इगुङ् लक्षणस्यापवादः । स्पृश उपतापेऽभिघातम् । स्पृशतीति स्पर्शो रोगः । उपतापादन्यत्र स्पृश्या । स्पर्शकः ।

सु स्थिरे ॥२।३।१६॥ सरतेः स्थिरे कर्तरि घञ् भवति । कालान्तरं सरतीति सारः । मधूकसारः । विभाषानुवर्तनात् स्थिरव्याधिमस्त्यबलेष्वभिधानम् । अतीसारो व्याधिः । विसारो मत्स्यः । सारो बलम् । प्रतेष्विति किम् ? सर्ता । सारकः ।

भावे ॥२।३।१७॥ भावे धोर्घञ् भवति । भाव इति क्रियासामान्यं ध्वयः । तद्यद्यपि पूर्वापरीभूतमपरिनिष्पन्नमलिङ्गसंख्यं प्रकृत्यैवोच्यते, तथापि यस्त्वस्यासिद्धताधर्मः स लिङ्गसंख्यावानिति तत्र घनादयः । पाकः । त्यागः । रागः ।

अकृतरि ॥२।३।१८॥ कर्तुरन्यस्मिन् कारके घञ् भवति ।

“नङ्युक्तमिवयुक्तं वा यत्कार्यं संप्रतीयते । तुल्याधिकरणेऽन्यस्मिन् लोकेऽप्यर्धं गतिस्तथा ॥”

प्रास्यन्ति तं प्रासः । प्रसीव्यन्ति तं प्रसेवः । आहरन्ति तस्मादाहारः । संज्ञायामसंज्ञायामपि दृश्यते । को भवता दायो दत्तः । को भवता लाभो लब्धः । वर्तव्यः कटः इत्येवमादिषु अनभिधानात् भवति ।

परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः ॥२।३।१९॥ आख्याग्रहणात्परिमाणमिह संख्यादिकं गृह्यते । परिमाणस्याख्यायां गभ्यमानायां सर्वेभ्यो घञ् भवति । एकस्तं गडुलनिचायः । एकस्तं गडुलावचायः । द्वौ केदारलावौ । द्वौ बीजकारौ । “श्वग्रहवृद्धगमोऽच्” [२।३।१२] इति अचि प्राप्ते इदम् । परिमाणाख्यायामिति किम् ? निश्चयः । सर्वग्रहणं बाधकत्राघनार्थम् । एकस्तृणनिघासः । अन्यथा पुरःशब्दवादेऽयमिति अनन्तरमेवाचं बाध्येत न व्यवहितम् । नौ णश्चेति णम् । घञि घस्तृभावः सिद्धः । इहाकर्तरीत्येवाभिसंबध्यते । स्त्रीलिङ्गे भावे घनमा भवेत् । एका तिलोच्छ्रितः । द्वे श्रुती । सर्वग्रहणं बाधकत्राघनार्थमुक्तं क्लिरपि बाध्येत ।

इङः ॥२।३।२०॥ इत् उत्तरं भावे अकर्तरीति च वर्तते । इङ्श्च धोर्घञ् भवति । अधीयते इत्यध्यायः । उपेत्याधीयतेऽस्मादित्युपाध्यायः । अपादाने यो घञ् तदन्ताद्वा ङीर्वाङ्गव्यः । उपाध्यायी । उपा-

ध्याया । वृद्धकुमारीवरवाक्यन्यायेनास्मिन्विषये क्तिमपि घञ् बाधते । “शृणातेर्वाथुवर्णयोर्घञ् वक्तव्यः” [वा०] शारो वायुः । शारो वर्णः ।

गौ रवः ॥२।३।२१॥ गिसंज्ञे वाचि रौतेर्घञ् भवति । विरावः । संरावः । अचोऽपवादोऽयम् । गाविति किम् ? रवः ।

समि युद् दुवः ॥२।३।२२॥ संपूर्वेभ्य यु ड् डु इत्येतेभ्यो घञ् भवति । संयाव । संद्रावः । संदावः । समीति किम् ? यवः ।

यज्ञे स्तुवः ॥२।३।२३॥ समीति वर्तते । सम्पूर्वात् स्तौतेर्घञ् भवति यज्ञविषये । समेत्य स्तुवन्ति अस्मिन्निति संस्तावः छन्दोगानम् । यज्ञ इति किम् ? सतां संस्तवः ।

श्रिणीभुवोऽगौ ॥२।३।२४॥ अगिपूर्वेभ्यः श्री णी भू इत्येतेभ्यो घञ् भवति । श्रायः । नायः । भावः । अगाविति किम् ? प्रश्रयः । प्रभवः । कथं प्रभावो धर्मस्य । प्रकृष्टो भावः प्रभावः इति प्रादिसः । कथं षाड्गुण्यस्य यथावत्प्रयोगो यथावत्प्रयोगो नयः “पुंस्त्रौघः प्रायेण” [२।३।१००] इति करणे घो द्रष्टव्यः ।

नियोऽवोदोः ॥२।३।२५॥ अव उद् इत्येतयोर्वाचोर्नयतेर्घञ् भवति । अवनायः । उन्नायः । कथमुन्नयः । शब्दानां पूर्ववत्करणे घो विधेयः ।

निरभ्योः पूत्वोः ॥२।३।२६॥ निस् अमि इत्येवंपूर्वाभ्यां पू लू इत्येताभ्यां यथासंख्यं घञ् भवति । पू इति सामान्येन ग्रहणम् । निष्पावः । अभिलावः । निरभ्योरिति किम् ? पवः । लवः ।

उन्न्योर्गः ॥२।३।२७॥ उद् नि इत्येवंपूर्वात् गृ इत्येतस्मात् घञ् भवति । गृ इति सामान्येन ग्रहणम् । उद्गारः । निगारः ।

कृ धान्ये ॥२।३।२८॥ उन्न्योरिति वर्तते । कृ इत्येतस्माद्धोरुदनिपूर्वात् घञ् भवति धान्यविषये । उत्कारो धान्यस्य । निकारो धान्यस्य । धान्य इति किम् ? पुष्पोत्करः । पुष्पनिकरः ।

प्रे द्रुस्तुश्रुवः ॥२।३।२९॥ प्रशब्दे वाचि ड् स्तु श्रु इत्येतेभ्यो घञ् भवति । प्रद्रावः । प्रस्तावः । प्रश्रावः । प्र इति किम् ? द्रवः ।

स्तोऽयज्ञे ॥२।३।३०॥ प्र इति वर्तते । प्रपूर्वात् स्तृ इत्येतस्मात् घञ् भवति अयज्ञविषये । शङ्ख-प्रस्तारः । मणिप्रस्तारः । ऋत्नारान्तत्वादभि (चि) प्राप्ते इदम् । अयज्ञ इति किम् ? वर्हिष्प्रस्तारः । “इद्दुडुडोऽव्यपुम्मुहुसः” [१।४।३८] इति षत्वम् ।

प्रथने वावशब्दे ॥२।३।३१॥ प्रथनं विस्तीर्णता । विपूर्वात्स्तृ इत्येतस्मात् घञ् भवति अशब्दविषये प्रथने । पटस्य विस्तारः । गृहस्य विस्तारः । प्रथने इति किम् ? तृणविस्तरः । अशब्द इति किम् ? वाक्यविस्तरः ।

छन्दः खौ ॥२।३।३२॥ छन्दः पद्ये वर्णविन्यासः । छन्दःसंज्ञायां च विपूर्वात् स्तृणातेः घञ् भवति । विष्टारः पंक्तिच्छन्दः । विष्टारो वृहतीछन्दः । षत्वप्रकरणे विष्टार इति निपातनादेव सिद्धे छन्दःसंज्ञा-ज्ञापनार्थमिदम् ।

क्षुश्रुवः ॥२।३।३३॥ वाविति वर्तते । क्षु श्रु इत्येताभ्यां विपूर्वाभ्यां घञ् भवति । विक्षावः । विश्रावः । वावित्येव । क्षवः । श्रवः ।

उदि ग्रहः ॥२।३।३४॥ उत्पूर्वाद् ग्रहेर्घञ् भवति । उद्ग्राहः । अचोऽपवादोऽयम् ।

समि मुष्टौ ॥२।३।३५॥ संपूर्वाद् ग्रहेर्घञ् भवति मुष्टिविषये । शाकनुष्टयादौ परिमाणवचनो मुष्टिशब्दः । तत्र परिमाणख्यायामित्येव सिद्धं ततोऽन्यदुदाहरणम् । अहो मल्लस्य संग्राहः । अहो मौष्टिकस्य संग्राहः । मुष्टेर्दाढ्यमित्यर्थः । मुष्टाविति किम् ? संग्रहः शास्त्रस्य ।

न्यायपरिणायपर्य्यायः ॥२३३६॥ न्यायादयः शब्दाः निपात्यन्ते । निपूर्वादिणः अत्रेषे घञ् निपात्यते । अत्रेषो युक्तकरणमकुत्सा वा । एषोऽत्र न्यायः । अत्रेष इति किम् ? न्ययं गतश्चौरः । परिपूर्वात् नयतेर्नूतविषये घञ् निपात्यते । परिणयेन सारान् हन्ति । द्यूतविषयादन्यत्र परिणयः परिपूर्वादिणः अनुपात्यये गम्यमाने घञ् निपात्यते । अनुपात्ययः क्रमप्राप्तस्यानतिवृत्तिः । तव पर्यायो भोक्तुम् । मम पर्यायो भोक्तुम् । अनुपात्यय इति किम् ? स्वाध्यायकालस्य पर्य्यायः । अतिक्रम इत्यर्थः ।

व्युपे शीङोऽन्त्ये ॥२३३७॥ अन्त्य इति पूर्वसूत्रे विन्यासापेक्षया पर्यायोऽभिप्रेतः । वि उप इत्येतयोर्वाचोः शीङो घञ् भवति पर्याये गम्ये । तव विशायो मम विशायः । तव राजोपशायः । मम राजोपशायः । राजानमुपशाययितुमवसर इत्यर्थः । अन्त्य इति किम् ? विशयः । उपशयः ।

हस्तादाने चेरस्तेये ॥२३३८॥ हस्तादाने गम्यमाने चिनोतेर्घञ् भवति न चेस्तेयं भवति । पुष्पप्रचायः । फलप्रचायः । हस्तादानशब्देन निकटस्य गुच्छादेर्ग्रहणं लक्ष्यते । हस्तादान इति किम् ? पुष्पप्रचयः । अस्तेय इति किम् ? पुष्पप्रचयं करोति चौर्येण ।

निवासचितिशरीरोपसमाधाने चः कः ॥२३३९॥ चेरिति वर्तते । निवास चिति शरीर उपसमाधान इत्येतेष्वर्थेषु चिनोतेर्घञ् भवति चकारस्य च ककारः । निवासे-साधुनिकायः । उत्कृष्टनिकायः । अधिकरणे घञ् । चीयतेऽसौ चितिः । यज्ञे अग्निविशेषः । अकायमग्निं चिन्वीत । शरीरे-चीयते इति कायः । उपसमाधानमुपर्युपरि राशीकरणम् । महान् गोमयनिकायः । उपर्युपरीति विशेषणादिह न भवति । महान् काष्ठनिचयः । एतेष्विति किम् ? चयः ।

संघेऽनूर्ध्वे ॥२३४०॥ संघः प्राणिविशेषसमुदायः । अनूर्ध्वे संघे वाच्ये चिनोतेर्घञ् भवति चकारस्य च कत्वम् । निचीयते इति निकायः । साधुनिकायः । पण्डितनिकायः । प्राणिविशेषस्य सङ्घस्य ग्रहणादिह न भवति । काष्ठचयः । पदसमुच्चयः । विशेषग्रहणं किम् ? प्राणिसमुच्चयः । सामान्येन समुदायोऽयम् । अनूर्ध्व इति किम् ? उपर्युपरि सूकरनिचयः ।

आक्रोशेऽचन्योर्ग्रहः ॥२३४१॥ आक्रोशः शपनम् । अत्र नि इत्येतयोर्वाचोर्ग्रहर्घञ् भवति आक्रोशे गम्ये । अत्रग्राहो ह ते वृषल भूयात् । निग्राहो ह ते वृषल भूयात् । आक्रोश इति किम् ? अत्रग्रहः पदस्य । निग्रहो दुष्टस्य ।

प्रे लिप्सायाम् ॥२३४२॥ प्रशब्दे वाचि लिप्सायां गम्यमानायां ग्रहर्घञ् भवति । प्रग्राहेण चरति भिन्नुः । पात्रं प्रग्रह्य अन्नं लिप्सुर्ग्रमतीत्यर्थः । लिप्सायामिति किम् ? प्रग्रहो देवदत्तस्य राज्ञा ।

परौ यज्ञे ॥२३४३॥ परिपूर्वाद्ग्रहर्घञ् भवति यज्ञविषये । उत्तरः परिग्राहः । यज्ञ इति किम् ? परिग्रहो देवदत्तस्य ।

नौ बुर्धान्ये ॥२३४४॥ निशब्दे वाचि वृ इत्येतस्मात् घञ् भवति धान्यविशेषे वाच्ये । वृ इति वृङ्बुर्ग्रहणम् । नीवारा नाम व्रीहयो भवन्ति । धान्य इति किम् ? नित्रियत इति निवरा कन्या ।

उदि पूद् यौतिश्चिन् ॥२३४५॥ उत्पूर्वैभ्यः पू इ यौति श्चिन् इत्येतेभ्यो घञ् भवति । उत्पावः । उद्द्रावः । उद्यावः । उच्छ्रायः ।

वाङ्गि रण्णुवोः ॥२३४६॥ आङ्पूर्वाभ्यां ङ णु इत्येताभ्यां वा घञ् भवति । आरावः । आरावः । "गौस्वः" [२३३२१] इति नित्यं घञ् प्राप्तः । आज्ञावः । आज्ञावः ।

प्रहोऽचे वर्षप्रतिबन्धे ॥२३४७॥ वेति वर्तते । अत्रशब्दे वाचि ग्रहेर्वा घञ् भवति वर्षप्रतिबन्धे वाच्ये । अत्रग्राहो देवस्य । अत्रग्रहो देवस्य । वर्षप्रतिबन्ध इति किम् ? अत्रग्रहः पदस्य ।

आङ्घ्राजौ ॥२१३६०॥ आङ्घ्रिः संग्रामः । आङ्पूर्वात् ह्रूयते आजावभिधेयायां जिर्भवत्यच्च । आहूयन्तेऽस्मिन्निति आहवः । आजाविति किम् ? आहायः ।

निपानमाहावः ॥२१३६१॥ निपिबन्त्यस्मिन्निति निपानं जलस्थानम् । आहाव इति निपात्यते निपानं चेद्भवति । आङ्पूर्वस्य ह्यतेरधिकरणे घञ् निपात्यते । आहूयन्तेऽस्मिन्निति आहावः शकुनीनाम् । निपानमिति किम् ? आहायः ।

भावेऽगौ ॥२१३६२॥ अगिपूर्वस्य ह्यतेर्भावे जिर्भवत्यच्च । हानं हवः । अगाविति किम् ? आहायो वर्तते । कर्तरीत्यस्यानुप्रवेशो मा भूदिति पुनर्भावग्रहणम् ।

हनश्च वधः ॥२१३६३॥ हन्तेरगिपूर्वस्य भावे वधादेशो भवत्यच्च । हननं वधः । चकारो घञ् समुच्चयार्थः । घातो वर्तते ।

व्यधमदजपोऽगौ ॥२१३६४॥ अगाविति वर्तमाने पुनरगिग्रहणं भावनिवृत्त्यर्थम् । तेन भावे अकर्तरीति द्वयं संवध्यते । अगिपूर्वस्य व्यध मद जप इत्येतेभ्यः अञ् भवति । व्यधः । मदः । अगाविति किम् ? प्रव्याधः । उन्मादः । उपजापः ।

स्वनहसोर्वा ॥२१३६५॥ अगाविति वर्तते । अगिपूर्वाभ्यां स्वन हस इत्येताभ्यामञ् भवति वा । स्वनः । स्वनः । हसः । हासः । अगावित्येव । प्रस्वानः । प्रहासः ।

यमः सन्निव्युपे च ॥२१३६६॥ यमेषोः सम् नि वि उप इत्येतेषु वाञ्छु अगौ च अञ् भवति । वेति वर्तते । संयमः । संयामः । नियमः । नियामः । वियमः । वियामः । उपयमः । उपयामः । अगौ-यमः । यामः ।

नौ गदनदपठस्वनः ॥२१३६७॥ वेति वर्तते । निपूर्वस्य गद नद पठ स्वन इत्येतेभ्यो वा अञ् भवति । निगदः । निगादः । निनदः । निनादः । निपठः । निपाठः । निस्वनः । निस्वानः ।

कणो वीणायां च ॥२१३६८॥ नौ वा अगाविति त्रयं वर्तते । कणेषोः निपूर्वादिगिपूर्वाच्च अवीणायां वीणायां च विषये अञ् भवति । निकणः । निक्राणः । अगौ-कणः । क्राणः । वीणाग्रहणं गावपि प्रापणार्थम् । कल्याणप्रकाशा वीणा । कल्याणप्रकाशा वीणा । एतेष्विति किम् ? अतिक्राणः ।

**घनान्तर्घणप्रघणप्रघाणोद्धनापघनायोघनविघनद्रुघणस्तम्बघ्नस्तम्बघनपरिघोपघ्नसंघो-
द्धनिघप्रमदसम्मदाः** ॥२१३६९॥ घनादयः शब्दा निपात्यन्ते । हन्तेरच् घनभावश्च मूर्तावभिधेयायां निपात्यते । मूर्तिः काठिन्यम् । अभ्रघनः । दधिघनः । कर्मणि घनं दधीति भवति । अन्तःशब्दपूर्वस्य हन्तेरधिकरणे घनभावोऽच्च निपात्यते देशाभिधाने । अन्तर्हन्त्येतेऽस्मिन्निति अन्तर्घणो वाहीकेषु देशविशेषः । केचिन्नकारं पठन्ति । अन्तर्घातोऽन्यः । प्रपूर्वस्य हन्तेः अचि घञि च घनभावो निपात्यते अगारैकदेशोऽभिधेये । प्रघणः । प्रघाणः । गृहद्वारदेश इत्यर्थः । प्रघातोऽन्यः । उत्पूर्वस्य हन्तेरधिकरणे घनभावोऽच्च निपात्यते अत्याधानं चेद्भवति । अत्याधीयतेऽस्मिन्नित्याधानम् । यत्र काष्ठानि लोहानि चाहन्त्यन्ते तदुच्यते । ऊर्ध्वं हन्त्येतेऽस्मिनुद्धनः । उद्धातोऽन्यः । अपघन इति निपात्यते अङ्गं चेद्भवति । अपघातोऽन्यः । अयोघनः । द्रुघणः स्तम्बघ्नः स्तम्बघनः परिघ इत्येते करणे कारके अजन्ता निपात्यन्ते । द्रुघणे केचिन्नकारं पठन्ति । स्तम्बघ्ने कमात्रं निपात्यते । परिपूर्वस्य हन्तेर्भावश्च निपात्यते । उपपूर्वात् हन्तेराश्रयेऽभिधेये को निपात्यते । गुरुपघ्नः । पर्वतोपघ्नः । उपघातोऽन्यः । सम्पूर्वस्य हन्तेर्भावोऽच्च निपात्यते गणश्चेद्भवति । गणः प्राणिसमुदाय एव । पशूनां संघः । अन्यत्र संघातः । उत्पूर्वस्य हन्तेर्घातोऽच्च निपात्यते प्रशासायाम् । उद्धो मनुष्यः । उद्धाताऽन्यः । निघ इति निपात्यते निमित्तेऽर्थे । संमतादारोहपरिणाहाभ्यां मित्तुल्यनिमित्तम् । निघाः शालयः । निघातोऽन्यः । प्रमदसंमदौ हर्षेऽभिधेये । अन्यत्र प्रमादः । सम्मादः ।

द्वितः क्विः ॥२।३।७०॥ डुशब्देतो धोः क्वित्यो भवति । भावे अकर्तरीति वर्तते । डुपचष्-
पक्वित्रमम् । “भावादिसः” [३।३।१४३], “त्रेः” [३।३।१४४] इति इमः । व्यन्तस्य केवलस्य प्रयोगो
नास्तीत्यस्वपदेनार्थकथनम् । पाकेन निर्वृत्तमिति । एवं डुवप् उप्त्रिमम् । डुयाचु याचित्रिमम् ।

द्वितोऽथुः ॥२।३।७१॥ डुराब्देतो धोरथुस्यो भवति । डुवेपृ-वेपथुः । डुओशिव-श्चयथुः । डुनु-
ल्वथुः ।

यजयाचयतविच्छ्रप्रच्छुरक्षस्वपो नङ् ॥२।३।७२॥ यजादिभ्यो नङ् भवति । भावे अकर्तरीति
वर्तते । यज्ञः । “स्तो रचुना रचुः” [५।४।११६] इति लुत्वम् । याञ्जा लिङ् लोक्वशात् । यत्नः । विश्नः ।
नङ्गे डित्करणमेपप्रतिषेधार्थं ज्ञापकं प्रागेव तुकः । “द्वोः श्रुड् (ङे) च” [४।४।१७] इति शत्वम् । प्रश्नः ।
“प्रश्ने चान्त्युगे” [२।२।६७] इति निर्देशाज्जिर्न भवति । रक्षणः । “ष्टुना ष्टुः” [५।४।१२०] इति
डुत्वम् । स्वप्नः ।

गौ भोः किः ॥२।३।७३॥ गौ वाचि भुसंज्ञकेभ्यो धुभ्यः क्तिर्भवति । भावे अकर्तरीति वर्तते ।
प्रादीयते । अस्मात् प्रादिः । निधीयतेऽसौ निधिः । संधानं संधिः ।

कर्मण्यधिकरणे ॥२।३।७४॥ कर्मणि वाचि अधिकरणे कारके भुसंज्ञकेभ्यः क्तिर्भवति । जलं
धीयते अस्मिन् जलधिः । बालधिः । अधिकरणग्रहणं कारकान्तरनिवृत्त्यर्थम् ।

स्त्रियां क्तिः ॥२।३।७५॥ भावे अकर्तरीति वर्तते । स्त्रीलिङ्गे धोः क्तिर्भवति । घञचोरपवादोऽयम् ।
कृतिः । सृष्टिः । संपत्तिः । “संपदादिभ्यः क्तिवपि वक्तव्यः” [वा०] संपत् । विपत् । “ग्लाज्याहाभ्यो निः
स्त्रियां वक्तव्यः” [वा०] ग्लानिः । ज्यानिः । हानिः । “ऋकारान्तस्वादिभ्यः क्तिस्तवद्भवतीति वक्तव्यम्”
[वा०] कीर्णः । गीर्णः । लूनिः । पूनिः । इत उत्तरः स्त्रियामित्यधिकारः ।

कर्मव्यतिहारे वः ॥२।३।७६॥ इह कर्मव्यतिहारः क्रियाव्यतिहारो गृह्यते धोरधिकारात् । कर्म-
व्यतिहारे गम्यमाने घोरं इत्ययं त्यो भवति स्त्रियाम् । परस्परस्य व्याक्रोशनं व्याक्रोशी “जात् स्त्रियाम्”
[४।२।२२] इति स्वार्थिकोऽण् । “ऋद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि” [परि०] सतिकाद्भवति । एवं व्यावलेखी
व्यावहारी वर्तते । स्त्रियामित्येव । व्यतिपाको वर्तते । “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन्वाधन्ते नोत्तरान्”
[परि०] इति “स्त्रियां क्तिः” [२।३।७५] इत्यस्यैव बाधको न “सरोहलः” [२।३।८५] इति अत्यस्य ।
व्यतीक्षा व्यतीहा वर्तते । कथं व्यात्युक्ती । “युड् व्या बहुलम्” [२।३।६४] इति बहुलवचनात् । व्याक्रुष्टिरित्येव-
मादिषु क्तिरपि ।

रोः ॥२।३।७७॥ अयन्ताच्च कर्मव्यतिहारे जो भवति । अस्य बाधके युचि प्राप्तेऽयमारम्भः । व्याव-
चोरी व्यावचर्ची वर्तते ।

यूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयः ॥२।३।७८॥ यूत्यादयः शब्दा निपात्यन्ते । यौतिजवत्योर्दीर्घं निपात्य-
ते । यूतिः । जूतिः । स्यतेः सुनोतेर्वा सातिः । इत्वाभावः आत्वं च निपात्यते । हिनोतेर्हन्तेर्वा हेतिः । कीर्तयतेः
युचि प्राप्ते कीर्तिः ।

स्थागापापचो भावे ॥२।३।७९॥ स्था गा पा पच् इत्येतेभ्यः स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिर्भवति । मावग्रहण-
मकर्तरीत्यस्य निरासार्थम् । प्रस्थितिः । संस्थितिः । गा इत्यविशेषेण ग्रहणम् । उपगीतिः । उद्गीतिः । पिबतेः

१. आदीयतेऽस्मादादिः अ०, स० । २. सृष्टिः अ० । ३. व्यापलेखी अ०, ब०, स० ।

४. व्यापहारी अ०, ब०, स० । ५. व्यापचोरी अ०, ब०, स० । ६. व्यापचर्ची अ०, ब०, स० ।

प्रपीतिः । निपीतिः । पक्तिः । “आतो गौ” [२।१।१०६] इति “षिद्ः” [२।३।८६] इति च अङ् प्राप्तः तद्वाधनार्थमिदम् । गणे “व्यवस्थायामसंज्ञायाम्” इति निर्देशादङ्गपि भवति । संस्था । “श्रुयज्ञोषिस्तुभ्यः स्त्रियां करणे युङ्बाधनार्थं क्तवक्तव्यः” [वा०] श्रूयतेऽनयेति श्रुतिः । इष्टिः । स्तुतिः ।

व्रजयजः क्यप् ॥२।३।८०॥ भाव इति वर्तते । व्रज यज इत्येताभ्यां स्त्रीलिङ्गे भावे क्यप् । व्रज्या । प्रव्रज्या । इज्या । पित्करणमुत्तरार्थम् ।

समजनिषदनिपदमनविदुशुशोङ् भृञिणः खौ ॥२।३।८१॥ भाव एवेति निवृत्तम् । द्वयमनु-वर्तते । समजादिभ्यः स्त्रियां क्यप् भवति खुविषये । समजन्ति अस्यां समज्या । क्यपि बीभावः कस्मान्न भवति । “बहुलं खौ” [१।४।१२६] इति तत्रापेक्ष्यते । निषीदन्ति अस्यां निषद्या । निपद्यन्ते अस्यां निपद्या । केचित्प-दिस्थाने पतिं पठन्ति । मन्यते अनया मन्या । विद्यते अनया विद्या । सुनोति तस्यां सुत्या । शेते अस्यां शय्या । भरणं भूया । भाव एवाभिधानं करणे वा । इत्या । कथं भार्या कर्मणि भविष्यति ? अथवा “तृज्याश्चाहं” [२।३।१४५] इत्येवमादिषु विशेषेण विधानात् । व्यसज्जानामिमे स्त्रीत्या न बाधकाः । “मतिबुद्धिपूजार्थाच्च” [२।२।१६६] “कर्मणि भृतौ” [२।२।२७] “रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलः” [४।१।३८] इति ज्ञापकात् क्वचित् क्तिरपि भवति । मतिः । वितिः । आसुतिः । भृतिः ।

कृञः श च ॥२।३।८२॥ करोतेः स्त्रियां शो भवति क्यप् च । यदा भावकर्मणोः शस्तदा मध्ये यक् “रिङ्यलिङ्गेशो” [१।२।१३७] इति रिङादेशः । यदापादानादिविवक्षा तदा यग्नास्तीति रिङादेशोयादेशौ । क्रिया । कृत्या । “गेरसेऽपि विकृतेः” [५।४।६८] इति ज्ञापकात् क्तिरपि भवति । कृतिः ।

इच्छा ॥२।३।८३॥ इच्छेति निपात्यते । इष इच्छायामित्यस्माद्भावे शः यगभावश्च निपात्यते । क्लेरपवादोऽयम् । “परिचर्यापरिसर्यामृगयायां निपातनं वक्तव्यम्” [वा०] परिपूर्वाच्चरेः शः सरतेरेप् च निपात्यते । मृगयतेः शप् शो यगभावश्च निपात्यते । “जागर्तेरज्ञौ वक्तव्यौ” [वा०] जागरा । जागर्था । शे यक् । “जागुरविजिष्णुडिति” [१।२।८२] इत्येप् ।

अस्त्यात् ॥२।३।८४॥ अ इत्ययं ल्यो भवति त्यान्तेभ्यो धुभ्यः स्त्रियाम् । चिकीर्षा । लोल्लया । अटाट्या । पुत्रीया । पुत्रकाम्या । कण्डूया ।

सरोर्हलः ॥२।३।८५॥ सह स्या वर्तत सरुः । सरुर्हलन्तो यो धुस्ततः स्त्रियामस्त्यो भवति । कुण्डा । चुण्डा । मेधा । ईहा । “पर्यासिवचनेऽलमर्थे” [२।४।५१] इति निर्देशाद् ये सेट्स्तेषामिह ग्रहणम् । तेनेह न भवति । आसिः । दीप्तिः । राद्धिः । अस्तिः । प्रध्वस्तिः । प्रशस्तिः । “प्रशंसार्या रूपः” [४।१।१२५] इति निर्देशात् । शसेरत्योऽपि भवति । सरोरिति किम् ? निपठितिः । हल इत्येव । नीतिः ।

षिङ्गिदादिभ्योऽङ् ॥२।३।८६॥ षिङ्ग्यो धुभ्यो भिदादिषु च गणपठितेषु याः प्रकृतयस्ताभ्यश्चाङ् भवति स्त्रियाम् । जृष्-जरा । त्रपुष्-त्रपा । घटादयः पितः । घटा । व्यथा । “युङ् व्या बहुलम्” [२।३।६४] इति बहुलवचनात् लब्धिल्लभेति च भवति । भिदादिभ्यः खल्वपि । भिदा विदारणे । भित्तिरन्या । छिदा द्वैधीकरणे । छित्तिरन्या । विदा विचारणे । वित्तिरन्या । क्षिपा प्रेरणे । क्षित्तिरन्या । गुहा गिर्योषधयोः । गूढिरन्या । कुहा । नद्याम् । कुहना अन्या । आरा शस्त्र्याम् । आर्तिरन्या । आङ् वाचि (अङ्) कृते “इशुरेप्” [५।२।१२६] । क्लौ कृते “धावृत्ति गेः” [४।३।७६] इत्यैप् । कारा बन्धने । कृतिरन्या । तारा

य्योतिषि । तार्क्षिरन्या । एपि कृते दीलमनयोर्निपातनात् । वपा मेदोविशेषे । उत्तिरन्या । वशा शरीरगतस्नेहे । उष्टिरन्या । मृजा शरीरसंस्कारे । मृष्टिरन्या । धारा वर्षप्रपाते । धृतिरन्या । निपातनादात्वम् । “क्रपोजिश्च” [वा०] कृपा । गोधा । हारा । रेखा । लेखा । निपातनादेप् । चूडा । पीडा ।

चिन्तिपूजिकथिकुम्भिर्चर्चः ॥२१३८७॥ चिन्त्यादिभ्यो धुभ्यः स्त्रियामङ् भवति । युचोऽपवा-
दोऽयम् । चिन्ता । पूजा । कथा । कुम्भा । चर्चा ।

आतो गौ ॥२१३८८॥ आकारान्तेभ्यो धुभ्यो गौवाचि अङ् भवति । क्लेरपवादः । प्रदा । प्रधा । प्रपिबन्त्यस्यां प्रपा । पिबतेर्भावे क्तिर्विहितः । “प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः” [४।१।२८] “तिरोऽन्तद्धौ” [१।२।१४०] इति प्रयोगात् श्रदन्तरोर्णिवद्बृत्तिः । श्रद्धा । अन्तर्धा ।

णयासभ्रन्धिघट्टिवन्दिविदो युच् ॥२१३८९॥ एयन्तेभ्यः आस श्रन्थि घट्टि वन्दि विद् इत्येतेभ्यो
धुभ्यः स्त्रियां युच् भवति । एयन्तात् “अस्यात्” [२।३।८४] इति इतरेभ्यः “सरोर्हल्” [२।३।८५]
इत्यकारः प्रातः । विदेः क्तिः प्रातः । कारणा । गणना । कामना । आसना । श्रन्थना । घट्टना । वन्दना ।
वेदना । अनुभवे वेदनद्रष्टव्या । “दृषोऽनिच्छार्था युच् वक्तव्यः” [वा०] अन्वेषणा । “परेर्वा” [वा०]
पर्येषणा । परीष्टिः । “युङ्ख्या बहुलम्” [२।३।९४] इति वा भविष्यति । व्यानां स्त्रीत्याः अबाधका
इत्युक्तम् । तेन आस्या उपास्या ।

खौ विभाषा वुण् ॥२१३९०॥ खुविषये विभाषया वुण् भवति धोः । क्यादीनामपवादाः । प्रस्कन्दिका ।
प्रच्छर्दिका । प्रवाहिका । विचर्चिका । एता रोगसंज्ञाः । उद्दालकपुष्पभञ्जिका । वारणपुष्पप्रचायिका । अभ्यो-
षलादिका । शालभञ्जिका । एताः क्रीडासंज्ञाकाः । कृल्लक्षणा कर्मणि ता । “क्रीडाजीविकयोर्नित्यम्”
[१।३।८०] इति नित्यः सविधिः । उद्दालकपुष्पाणि भज्यन्ते यस्यां क्रीडायां इत्येवमादिरस्वपदविग्रहो बोद्धव्यः ।
विभाषाग्रहणादिह न भवति शीर्षार्थिः शीर्षार्थिभित्तिः । शिरोऽर्तिः । “धावृत्ति गेः” [४।३।७६] इत्यैषा
भवितव्यमिति चेत् ; न ; अर्द हिंसायामित्यस्य प्रयोगः । चन्दनतन्त्रिका । क्रीडेयम् । विभाषाग्रहणाद्ध्वर्थनिर्दे-
शोऽपि वुण् भवति । आसिका । शायिका वर्तते ।

वेञ्च प्रश्नाख्याने ॥२१३९१॥ प्रश्ने आख्याने च गम्यमाने धोरिञ् भवति वुण् च वा । कां त्वं
कारिमकार्षीः कां कारिकां वा । वचनाद्यथाप्राप्तं च भवति । कां क्रियां कां कृत्यां कां कृतिम् । आख्याने सर्वां
कारिमकार्षीं सर्वां कारिकां सर्वां क्रियां सर्वां कृत्यां सर्वां कृतिम् । कां त्वं गणिमजीमणः कां गणिकां कां
गणनाम् । सर्वां गणिमया गणिता । सर्वां गणिका सर्वां गणना । कां त्वं पाठिमपाठीः कां पाठिकां कां
पठितिम् । सर्वां मया पाठिः पठिता सर्वां पाठिका सर्वां पठितिः । प्रश्नाख्यान इति किम् ? कृतिः ।

पर्यायाहर्णोत्पत्तौ वुण् ॥२१३९२॥ पर्याय अर्हं ऋण उत्पत्ति इत्येतेष्वर्थेषु गम्यमानेषु धोरुण्
भवति स्त्रियाम् । पर्यायोऽनुक्रमः तस्मिन् । भवतः शायिका । भवतोऽप्रगामिका । “कर्तृकर्मणोः कृति”
[१।३।६८] इति कर्तरि ता । “वृजकाभ्याम्” [१।३।७८] इति तासप्रतिषेधः । अर्हणमर्ह-
योग्यता । तत्र अर्हति भवानिच्छुभक्तिकाम् । ओदनभोजिकाम् । पयःपायिकाम् ! “वृजकाभ्याम्” [१।३।७८]
इत्यत्र कर्तरीत्यनुवर्तनात् कर्मणि या ता तत्र “कृति” [१।३।७९] इत्यनेन तासः । ऋणं यत्परस्य धार्यते ।
तत्र इच्छुभक्तिकां मे धारयसि । ओदनभोजिकाम् । पयःपायिकाम् । उत्पत्तौ-इच्छुभक्तिका मे उदपादि ।
ओदनभोजिका । पयःपायिका । विभाषानुवर्तनात् क्वचिन्न भवति । घटन्चिकीर्षा मे उदपादि । ओदनबुभुक्षा
मे उदपादि ।

आक्रोशे नञ्यनिः ॥२।३।६३॥ आक्रोशे गम्यमाने नञि वाचि धोरनिस्त्यो भवति । कत्यादीनाम-
पवादः । अकरणस्ते वृषल भूयात् । अप्रयाणस्ते वृषल भूयात् । आक्रोश इति किम् ? अकृतिस्तस्य पटस्य^१ ।
नञीति किम् ? मृत्तिस्ते वृषल भूयात् ।

युड्व्या बहुलम् ॥२।३।९४॥ भावे अकर्तरि स्त्रियामिति च निवृत्तम् । युड्व्यसंज्ञश्च बहुलं भवन्ति ।
भावकरणाधिकरणेषु युड् विहितोऽन्यत्रापि भवति । निरदन्ति तदिति निरदनम् । अवसेचनम् । अवसावणम् ।
राज्ञा भुज्यन्ते राजभोजनाः शालयः । ज्ञत्रियपानं मधु । राजाच्छादनानि वस्त्राणि । प्रयतते तस्मात् प्रयतनम् ।
प्रस्कन्दनम् । प्रच्छर्दनम् । भावकर्मणोर्व्या उक्तास्ततोऽन्यत्रापि भवन्ति । स्नान्ति तेन स्नानीयं चूर्णम् ।
दीयतेऽस्मै दानीयोऽतिथिः । ज्ञानमावृणोति आत्रियते वानेन ज्ञानावरणीयम् । दर्शनावरणीयम् । वेदनीयम् ।
मोहनीयम् । बहुलवचनादन्येऽपि कृतः उक्तादन्यत्र भवन्ति । गले चोप्यते गलचोपकः । पादान्यां हियते
पादहारकः ।

नप् भावे क्लः ॥२।३।६५॥ नविति ङित्वं कृत्वा निर्देशः । नपि नपुंसकलिङ्गे भावे क्लो भवति ।
घञचोरपवादः । हसितं छात्रस्य शोभनम् । जल्पितम् । आसितम् । शयितम् । नपुंसकलिङ्गे भावे क्लादि-
निवृत्त्यर्थं भयादीनामञ् वक्तव्य इत्युक्तम् । तेन भयं वर्षमित्यादौ क्लो युर्न भवति । येषां घञजन्तानां नपुंसक-
त्वमिष्टं तैऽर्द्धार्चादिषु द्रष्टव्याः ।

जिन्नभिविधौ ॥२।३।६६॥ नवभावे इति वर्तते । अभिविधिः क्रियागुणान्यां कास्येन व्याप्तिः ।
नपि भावे धोर्जिन् भवति अभिविधौ गम्यमाने । क्लस्यायमपवादः । साङ्कौटिनं सांमार्जिनं सांराविणं सान्द्रा-
विणं वर्तते । “जिनोऽण्” [४।२।२१] इति स्वार्थिकोऽण् “नो पुंसोऽह्वति” [४।४।१३०] इति ङित्वं प्राप्तं
“प्रायोऽनपत्येऽणीनः” [४।४।१२५] इति न भवति । मध्येऽपवादोऽयं युटं न बाधते । संकुटं संमार्जनम् ।
अभिविधाविति किम् ? संरावः ।

युट् ॥२।३।९७॥ नवभाव इति वर्तते । नपि भावे युड् भवति घोः । हसनं छात्रस्य शोभनम् ।
जल्पनम् । आसनम् । शयनम् ।

कर्मणि यत्स्पर्शात्कर्त्रङ्गसुखम् ॥२।३।६८॥ युड् नवभाव इति च वर्तते । येन संस्पर्शात्
कर्त्रङ्गस्य सुखं भवति तस्मिन् कर्मणि वाचि नपुंसकलिङ्गे भावे युड् भवति । ओदनभोजनं सुखम् । पयः-
पानम् । चन्दनानुलेपनम् । पूर्वेण सिद्धेऽपि नित्यसर्वविध्यर्थं आरम्भः । कर्मणीति किम् ? तूलिकाया उत्थानम् ।
युडत्र पूर्वेण सिद्धः । सविधिस्तु न भवति । यत्स्पर्शादिति किम् ? अग्निक्वण्डस्योपासनं सुखम् । युट् पूर्वेण ।
पादिकः सविधिः । कर्तरीति किम् ? गुरोः स्नापनं सुखम् । नात्र स्नापयतेः कर्तुः शरीरसुखं किं तर्हि गुरोः
कर्मणः । अङ्गग्रहणं किम् ? पुत्रस्य परिष्वङ्गनं सुखम् । मानसमिदम् । अन्यथा परपुत्रपरिष्वङ्गनेऽपि स्यात् ।
सुखमिति किम् ? कण्टकानां मर्दनम् ।

करणाधिकरणयोः ॥२।३।६९॥ करणेऽधिकरण्ये च कारकेऽभिधेये युड् भवति । घञापवादः ।
करणे-इध्मत्रश्चनः । पलाशशातनः । अविलवनः । कर्मणि ता । कृतीति तासः । अधिकरण्ये गोदोहनी ।
शङ्कुधानी । तिलपीडनी । परत्वात् तयादिकं स्त्रीत्वं बाधते ।

पुंखौ घः प्रायेण ॥२।३।१००॥ करणाधिकरण्योरिति वर्तते । पुंलिङ्गसंज्ञायां गम्यमानायां घोर्धो
भवति प्रायेण । घकारः “झादेर्वे” [४।४।६०] इत्यत्र विशेषणार्थः । प्रच्छदः । उरच्छदः । स्रवः ।
आखनः । अधिकरण्ये-एत्य कुर्वन्त्यस्मिन्नाकरः । आलवः । आपवः । पुंग्रहणं किम् ? प्रधानम् । विचयनी ।

नपुंसकलिगा स्त्रीलिगा चेयं संज्ञा । खाविति किम् ? हरणो दण्डः । प्रायेणेति किम् ? क्वचिन्न भवति । प्रसाधनः । दोहनः ।

तृह्योऽवे घञ् ॥२।३।१०१॥ तृ स्तृ इत्येताभ्यामवशब्दे वाचि घञ् भवति करणाधिकरणयोः पुंस्त्वौ । अवतारः । अवस्तारः । कथमसंज्ञायामवतारो नद्या इति ? चिन्त्यमेतत् ।

हलः ॥२।३।१०२॥ हलन्ताद्धोर्घञ् भवति करणाधिकरणयोः पुंस्त्वौ । आपवादोऽयम् । वेदः । नेगः । वेशः^१ । गन्धः । सङ्गः । विषङ्गः । तैलोदकम् । घृतोदकम् । नास्त्यत्र घञि घे वा विशेषः । इमानि तर्ह्युदाहरणानि । खेलः । निमार्गः । अपामार्गः । प्रासादः । आखानः । प्रायेणेत्यनुवर्तनात् हलन्तेभ्यः केभ्यश्चित् घञ् न भवति घ एव भवति । अधिकरणे-कषः । निकषः । निगमः । गोचरः । आपणः । करणे-संचरः । वहः । व्रजः । इह व्यञ्जन्त्यस्मिन्निति व्यञ्जः । घे कृते “बहुलं खौ” [१।४।१२१] इति बहुलवचनादजेर्वीभावो न भवति । इह उदकोदञ्चनः । दोहनः । प्रसाधन इति घघञौ न भवतः । आखनः आखानः इत्यत्रोभयं भवति ।

संहारोद्यावानायावहारावायाः ॥२।३।१०३॥ संहारादयः शब्दा घञि निपात्यन्ते पुंस्त्वौ । अहलन्तत्वात् पूर्वैणाप्राप्तिः । संहरति तेन संहारः । करणेऽधिकरणे वा उद्यावः । आनयन्ति तेन आनायो जालं चेत् । अवहरन्ति तेन अवहारः । एत्य तस्मिन् वयन्ति आवायः । “अध्यायानुवाकयोर्वोप्” [४।१।६४] “आधारोऽधिकरणः” [१।२।११६] इति ज्ञापकात् उञ्छादिषु न्यायशब्दस्य निर्देशात् अधीयते अनेनाध्यायः । आध्रियते अस्मिन् आधारः । नीयतेऽनेन न्यायः । एतेऽपि शब्दाः साधवः ।

स्वीषद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे खः ॥२।३।१०४॥ सु ईषत् दुस् इत्येतेषु वान्तु कृच्छ्रे अकृच्छ्रे चार्थे खो भवति धोः । कृच्छ्राकृच्छ्रग्रहणं स्वादिविशेषणम् । सुकरः कटो भवता । ईषत्करः कटो भवता । दुष्करः कटो भवता । “तथोर्व्यक्तलार्थाः” [२।४।२५] इति कर्मणि खः । “न क्ति” [१।३।७२] इत्यादिना ताप्रतिषेधः । भिक्त्वात्पूर्वपदस्य मुम्न भवति । कृच्छ्राकृच्छ्र इति किम् ? ईषत्कार्यः । मनाकार्य इत्यर्थः ।

कर्तृकर्मणोर्भू कृञ्भ्याम् ॥२।३।१०५॥ स्वीषद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे ख इति वर्तते । कृञ्ग्रहणसामर्थ्यात् कर्तृकर्मग्रहणं वाग्विशेषणम् । कर्तरि कर्मणि च वाचि भू कृञ् इत्येताभ्यां यथासंख्यं खो भवति सु ईषत् दुस् इत्येतेषु वान्तु कृच्छ्रे अकृच्छ्रे चार्थे । त्यस्य खित्करणं मुमर्थमिति पूर्वं कर्तृकर्मभ्यां योगः पश्चात्स्वादिभिः । प्रायेणेत्यनुवर्तनात् कर्तृकर्मणोश्च्यर्थयोर्ग्रहणम् । अनाद्येन सुखमाद्येन भूयते स्वाद्यं भवं भवता । ईषदाद्यं भवं भवता । दुराद्यम्भवं भवता । सुखमनाद्यमाद्यङ्कियते । स्वाद्यं करो देवदत्तो भवता । ईषदाद्यङ्करः । सूत्रन्यासे परत्वात्कर्तृकर्मणोः वाक्सं कृत्वा पश्चात्पूर्वस्य क्रियते । च्यर्थयोरिति किम् ? स्वाद्येन भूयते । स्वाद्येन क्रियते । यदा करोतिर्विकारार्थः तदा सुकटंकराणि वीरणानि । यदा निष्पत्तिवचना तदा सुकरः कटो वीरणैरिति ।

युजातः ॥२।३।१०६॥ स्वीषद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्र इति वर्तते । आकारान्तेभ्यो धुभ्यो युञ् भवति स्वादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु वान्तु । सुपानं पयो भवता । ईषत्पानम् । दुष्पानम् । सुग्लानम् । ईषद्ग्लानम् । दुर्ग्लानम् । आपवादोऽयम् । प्रायेणेति वर्तते । तेन “दुःशब्दे वाचि शासियुधिदृशि-ध्विमृषिभ्यः युञ् भवति” [वा०] । दुःशासनः । दुर्योधनः । दुर्दर्शनः । दुर्धर्षणः । दुर्मर्षणः । सुदर्शनादिषु बसो द्रष्टव्यः ।

भवद्भवा तत्सामीप्ये ॥२।३।१०७॥ भवच्छब्दो वर्तमानपर्यायः । समीपमेव सामीप्यम् । भवतीव त्यधिर्भवति वा तत्समीपे भूते भविष्यति च ध्वर्थे वर्तमानाद्धोः । संप्रतीत्यारभ्य आ पादपरिसमाप्तेर्विहितारत्या अतिदिश्यन्ते । कदा देवदत्त आगतोऽस्ति । एष आगच्छामि । आगच्छन्तमेव मां विद्धि । एष आगामुकोऽस्ति । वावचनाद्यथाप्राप्तम् । एष आगतोऽस्ति । कदा देवदत्त गमिष्यसि । एष गच्छामि । गच्छन्तमेव मां विद्धि । गन्तारमेव मां विद्धि । पत्ने एष गमिष्यामि । एषोऽस्ति गन्ता । वत्करणं किमर्थम् ? प्रकृतिविशेषादिपरिग्रहार्थम् । तत्सामीप्यग्रहणं व्यवहितनिरासार्थम् । कदा ग्राममगच्छत् । श्वः करिष्यति । इह मा भूत् । नन्वत्र लुटा भवितव्यं कथं लृट् ? पदसंस्कारवेलायां श्वःप्रभृतिपदानामसंनिधानाददोषः ।

भूतवच्चाशंसायाम् ॥२।३।१०८॥ आशंसनमाशंसा भविष्यत्कालविषया; तस्यां गम्यमानायां भूतवच्यविधिर्भवति भवद्बच्च वा । भूतग्रहणेन भूतसामान्ये विहितस्य त्यस्य परिग्रहः । उपाध्यायश्चेदागमिष्यति उपाध्यायश्चेदागमत् उपाध्यायश्चेदागतः तदा तर्कमधीमहे अध्येष्यामहे अध्यगीष्महि एषोऽधीतस्तर्कः । आशंसायामिति किम् ? उपाध्याय आगमिष्यति ।

क्षिप्रवचने लृट् ॥२।३।१०९॥ आशंसायामिति वर्तते । क्षिप्रार्थे शब्दे वाचि लृट् भवत्याशंसायां गम्यमानायाम् । लृट्-वे-न-न-ः-ः-ः । उपाध्यायश्चेदागमिष्यति क्षिप्रमध्येष्यामहे शीघ्रमध्येष्यामहे । नेति वक्तव्ये लृट्ग्रहणं लुट्विषयेऽपि यथा स्यात् इत्येवमर्थम् । श्वः क्षिप्रमध्येष्यामहे ।

लिङ्गाशंसोक्तौ ॥२।३।११०॥ आशंसा उच्यते येन शब्देन तस्मिन् वाचि लिङ् भवत्याशंसायां गम्यमानायाम् । अर्थमपि भूतवच्चेत्यस्यापवादः । उपाध्यायश्चेदागच्छेत् आशंसे युक्तोऽधीयीय । अवकल्पये युक्तोऽधीयीय । परत्वाल्लृटो बाधकोऽयम् । आशंसे क्षिप्रमधीयीय ।

न लङ्लुट् सामीप्याव्युच्छित्योः ॥२।३।१११॥ सामीप्यं तुल्यजातीयेनाव्यवधानम् । अव्युच्छित्तिः क्रियाप्रबन्धः । लङ्लुटौ न भवतः सामीप्याव्युच्छित्योः गम्यमानयोः । अनद्यतनविहितयोर्लङ्लुटोरयं प्रतिषेधः । सामीप्ये-थेयं पौरुषाम्सात्क्रान्ता एतस्यां देवान्पूजामः । अतिथीन्ब्रूजानः । येयममावास्यागामिनी एतस्यां देवान् पूजयिष्यामः अतिथीन् भोजयिष्यामः । अव्युच्छित्तौ-यावदजीवीत् भृशमन्नमदात् । यावज्जीविष्यति भृशमन्नं दास्यति ।

वत्स्यत्यवरेऽवधेः ॥२।३।११२॥ यद्यपि लङ्लुडिति प्रकृतम्; तथापीह वत्स्यद्ग्रहणाल्लुट एव प्रतिषेधः । वत्स्यतिकाले अवरस्मिन् भागे लुण्ण भवति । असामीप्याव्युच्छित्यर्थोऽयमारम्भः । कालविभाग उत्तरत्र वक्ष्यते । देशविभागेऽयं प्रतिषेधः । योऽयमध्वा गन्तव्य आ चित्रकूटात् तस्य यदवरं मथुरायाः तत्र द्विरोदनं भोक्ष्यामहे द्विःसङ्कृन्पास्यामः । वत्स्यतीति किम् ? योऽयमध्वागत आ चित्रकूटात् तस्य यदवरं मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्वैमहि । अवर इति किम् ? योऽयमध्वा गन्तव्य आ चित्रकूटात् तस्य यदवरं मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्येतास्महे । अवधेरिति किम् ? योऽयमध्वा गन्तव्यो निरवधिकः तस्य यदवरं मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्येतास्महे ।

कालविभागेऽनहोरात्राणाम् ॥२।३।११३॥ वत्स्यत्यवरेऽवधेरिति वर्तते । वत्स्यतिकाले अवरस्मिन्कालविभागेऽहोरात्रसंबंधविवर्जिते लुण्ण भवति । पूर्वेण प्रतिषेधे सिद्धेऽप्यहोरात्रसंबन्धविभागप्रतिषेधार्थं वचनम् । कालविभागग्रहणमिहार्थं नुक्तार्थं च । योऽयं संवत्सर आगामी तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्रार्हत्पूजां करिष्यामहे अतिथिभ्यो दानं दास्यामहे । वत्स्यतीत्येव । योऽयं संवत्सरोऽतीतस्तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता द्विरध्वैमहि । अवर इति किम् ? “वा परे” [२।३।११४] इति वक्ष्यति । अवधेरित्येव । योऽयं निरवधिकः काल आगामी तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता द्विरध्येतास्महे । अनहोरात्राणामिति किम् ? योऽयं त्रिंशद्रात्र आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रस्तत्र युक्ता द्विरध्येतास्महे । योऽयं त्रिंशद्रात्र अमीत्यागत

योऽवरोऽर्द्धमासस्तत्र द्विरध्येतास्महे । योऽयं मास आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रस्तत्र द्विरध्येतास्महे । प्रसज्य [इति] प्रतिषेधात् त्रिविधमुदाहरणम् ।

वा परे ॥२।३।११४॥ कालविभाग इति वर्तते । परस्मिन्नबधेः कालविभागे वर्त्यति लुण्ण भवति न चेदहोरात्राणां विभागः । योऽयं संवत्सरः आगामी तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येष्यामहे अध्येतास्महे वा । सामीप्याव्युच्छित्तिविवक्षायामपि परत्वादयं विकल्पः । अनहोरात्राणामित्येव । योऽयं त्रिंशद्वात्र आगामी तस्य यः परः पञ्चदशरात्रः तत्र द्विरध्येतास्महे । सामीप्याव्युच्छित्त्योर्लुटः प्रतिषेध एव । वर्त्यतीत्येव । योऽयं संवत्सरोऽतीतः तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येमहि । अवधेरित्येव । योऽयं निरवधिः काल आगामी तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येतास्महे । कालविभाग इत्येव । योऽयमध्वा गन्तव्यः आ चित्रकूटात् तस्य यत्परं मथुरायास्तत्र द्विरध्येतास्महे । सर्वत्र लुङ् भवति न चेदव्युच्छित्तिविवक्षा ।

लिङ्हेतौ लृङ् क्रियाऽवृत्तौ ॥२।३।११५॥ वर्त्यतीति वर्तते । हेतुनिमित्तम् । लिङ्हेतौ वर्त्यति काले लृङ् भवति क्रियाया अवृत्तौ सत्याम् “हेतुफळयोर्लिङ्” [२।३।११३] इत्येवमादि लिङ्निमित्तं वक्ष्यति । अतिथीश्चेदलिप्त्यत भ्रशमन्नमदास्यत् । अत्रान्नदानं फलं तद्वेतुभूतोऽतिथिलामः तदनभिनिर्वृत्तिं प्रमाणाद-वगम्भेदं वाक्यं प्रयुक्तम् । एवमुपाध्यायं चेदुपासिष्यत शास्त्रान्तमगमिष्यत् । अभोक्ष्यत भवान् दध्ना यदि मत्समीपे आसिष्यत । इह दक्षिणेन चेदयास्यत् न पर्याभविष्यदिति यानमनिष्पन्नं पर्याभवनं तु निष्पन्नमिति कथमवृत्तिः क्रियायाः । एवं तर्हि प्रत्यासत्तेर्हेतुभूतायाः क्रियाया अवृत्ताविति द्रष्टव्यम् । क्रियायाः अवृत्ता-वपि शक्तिरूपेण क्रियामध्यारोप्य कर्तृत्वेनाभिसंबन्धः क्रियते यथा भूतभविष्यत्कालविषयायाः कर्तृत्वे-नाभिसंबन्धः ।

भूते ॥२।३।११६॥ भूते च काले लिङ्हेतौ क्रियाया अवृत्तौ सत्यां लृङ् भवति । “उताप्योः ष्टोक्तौ लिङ्” [२।३।१२८] इत्यतः प्रभृति कालसामान्ये यल्लिङ्निमित्तं विधानं तत्रानेन भूते लृङ् । ततः पूर्वं तु “वाऽशेषात्” [२।३।११७] इत्येनेनैव विकल्पः सिद्धः । दृष्टो मया भवतः पुत्रोऽन्नार्थी चङ्क्रम्यमाणः । इत-रश्चातिथ्यर्थी यदि तेन दृष्टोऽभविष्यत् उताभोक्ष्यत । अप्यभोक्ष्यत अन्येन यथा स गतः नापि मुक्तवान् । इदं सर्वं प्रतिवचनम् ।

वाऽशेषात् २।३।११७। वक्ष्यति “शेषेऽयदौ लृट्” [२।३।१२७] इति आ एतस्मात्सूत्राबधेः यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः भूते काले लिङ्हेतौ क्रियायाः अवृत्तौ लृङ् वा भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् । परस्तु लृङ्को विधिर्नित्य इति तत्रैवोदाहरिष्यामः ।

लङ् गर्हेऽपिजात्वोः ॥२।३।११८॥ अपि जातु इत्येतयोर्वाचोः लङ् भवति गर्हं गम्यमाने । अयं कालसामान्ये विहितो लट् कालविशेषे विहितान् लकारान् परत्वाद्बाधते । अपि तत्रभवान् प्राणिनो हन्ति । जातु तत्रभवान् प्राणिनो हन्ति । गर्हामहे । अन्यायमेतत् । लिङ्हेत्वभावात् भूते क्रियाऽवृत्तौ लृङ् न भवति ।

वा कथमि लिङ् च ॥२।३।११९॥ गर्ह इति वर्तते । कथंशब्दे वाचि लिङ् भवति लङ्वा । कथं नाम तत्र भवान् मांसं भक्षयेत् । मांसं भक्षयति । गर्हामहे । अन्यायमेतत् । वावचनाद्यथाप्राप्तम् । अबभक्षत् । अभक्षयत् । भक्षयाञ्चकार । भक्षयिष्यति । भक्षयिता । अत्र लिङ्हेतुरस्तीति भूते क्रियाऽवृत्तौ वा लृङ् भवति । अभक्षयिष्यत् । वर्त्यति नित्यं लृङ् ।

किंवृत्ते लिङ् लृटौ ॥२।३।१२०॥ गर्ह इति वर्तते । वेति नाधिकृतम् । विभक्त्यन्तस्य उत्तरडतमान्तस्य च किमो वर्तनं किंवृत्तम् । किंवृत्ते वाचि गर्हं गम्यमाने लिङ् लृटौ भवतः । सर्वलकाराणामयमपवादः । किं तत्रभवान् अवृत्तं ब्रूयात् । अवृत्तं वक्ष्यति । लिङ्हेतुरस्तीति भूते वा लृङ् भवति । वर्त्यति तु नित्यः ।

अनवकल्प्यमर्षे ॥२।३।१२१॥ गहं इति निवृत्तम् । लिङ्लुटाविति वर्तते । अनवकल्प्यमर्षे अव-
मर्षे च गम्यमाने लिङ्लुट् इत्येतौ ल्यौ भवतः । अयमपि सर्वलकाराणामपवादः । अनवकल्प्यमर्षे नावकल्पयामि
न संभावयामि न वा श्रद्धे किं तत्र भवानदत्तं गृह्णीयात् अदत्तं ग्रहीष्यति । अमर्षे । धिङ् मिथ्या नैतदस्त्यमर्षो
मे किं 'तत्रभवानदत्तं गृह्णीयात् अदत्तं ग्रहीष्यति । किंवृत्तेऽकिंवृत्ते च वाचि सामान्येनायं विधिः । लिङ्हेतु-
रस्तीति भूते क्रियावृत्तौ वा लृङ् । वर्त्यति तु नित्यः ।

किंकिलास्त्वर्थे लृट् ॥२।३।१२२॥ अनवकल्प्यमर्षे इति वर्तते । किंकिलशब्दे अस्त्यर्थेषु च
शब्देषु वाञ्छु अनवकल्प्यमर्षयोर्लृट् भवति । लिङोऽपवादः । नावकल्पयामि किंकिल तत्र भवान् परदारान्
प्रकरिष्यते । गंधनादिपुत्रेणान्याये दः । अस्त्यर्था अस्तिभवतिविद्यतयः । अस्ति नाम भवति नाम विद्यते नाम
तत्रभवान् परदारान् प्रकरिष्यते ।

जातुयद्यदायदौ लिङ् ॥२।३।१२३॥ अनवकल्प्यमर्षे इति वर्तते । जातुयद्यदायदीत्येतेषु वाञ्छु
अनवकल्प्यमर्षयोर्लिङ् भवति । लृटोऽपवादः । नावकल्पयामि जातु तत्रभवान् सुरां पिबेत्, यत्तत्रभवान्
सुरां पिबेत्, यदा तत्रभवान् सुरां पिबेत्, यदि तत्रभवान् सुरां पिबेत् । न मृष्यामि जातु तत्रभवान् सुरां
पिबेत् इत्येवमादि योज्यम् । लिङ्हेतुरस्तीति भूते वा लृङ् । वर्त्यति तु नित्यः ।

यच्चयत्रयोः ॥२।३।१२४॥ अनवकल्प्यमर्षे इति वर्तते । यच्च यत्र इत्येतयोर्वाचोरनवकल्प्यमर्ष-
योर्लिङ् भवति । लृटोऽपवादः । उत्तरार्थो योगविभाग । न संभावयामि यच्च तत्रभवान् परिवादं कथ-
येत् । न मृष्यामि यच्च तत्रभवान् परिवादं कथयेत् । यत्र तत्रभवान् परिवादं कथयेत् । क्रियाऽवृत्तौ भूते
वा लृङ् । वर्त्यति तु नित्यः ।

गहं ॥२।३।१२५॥ अनवकल्प्यमर्षे इति निवृत्तम् । अर्थान्तरोपादानात् । यच्च यत्र इत्येतयोर्वाचो-
र्गहं गम्यमाने लिङ् भवति । सर्वलकाराणामपवादः । यच्च तत्रभवान् अस्मानाक्रोशेत् विद्वान् वृद्धः सन्नु-
क्लृष्टः । गहामहे । अन्यायमेतत् । लिङ्हेतुरस्तीति यथासंभवं लृङ् वेदितव्यः ।

चित्रार्थे ॥२।३।१२६॥ चित्रशब्दस्यार्थे गम्यमाने यच्चयत्रयोर्वाचोर्लिङ् भवति । सर्वलकारापवादः ।
यच्च तत्रभवान् लोभं कुर्यात् यत्र तत्रभवान् लोभं कुर्यात् विद्वान् वृद्धः सन्नुक्लृष्टः । चित्रमाश्चर्यमद्भुतं
विस्मयमित्येषामन्यतमप्रयोगः । लिङ्हेतुरस्तीति भूते क्रियाऽवृत्तौ वा । वर्त्यति तु नित्यः ।

शेषेऽयदौ लृट् ॥२।३।१२७॥ यच्चयत्राभ्यामन्यश्चित्रार्थः शेषः । शेषे चित्रार्थे गम्यमाने लृट्
भवति यदशब्दश्चेद्वाङ् न भवति । अयमपि सर्वलकारापवादः । चित्रमाश्चर्यमद्भुतं विस्मयमित्ययमन्वो
नाम पुस्तकं वाचयिष्यति मूको नाम जैनेन्द्रमध्येष्यते । लिङ्हेत्वभावात् लृङ् वा न भवति । अयदाविति
किम् ? आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत । अत्रानवकल्प्यमर्षे च प्रतीयते । “जातुयद्यदायदौ लिङ्”
[२।३।१२३] इति लिङ्भूते “वाऽशेषाद्” [२।३।११७] इति लृङ्धिकारे निवृत्तः ।

उताप्योः पृष्ठोक्तौ लिङ् ॥२।३।१२८॥ उत अपि इत्येतयोर्वाचोः पृष्ठस्योक्तौ गम्यमानायां लिङ्
भवति । सर्वलकारापवादः । किमकार्षीः कटं देवदत्त । इति पृष्ठः प्रत्याह उत कुर्यात् । अपि कुर्यात् । कटं
कृतवानित्यर्थः । इतः प्रभृति यत्र लिङ्हेतुरस्ति तत्र वर्त्यति भूते च नित्यो लृङ् । उताकरिष्यत् । अप्याकरि-
ष्यत् । पृष्ठोक्ताविति किम् ? उत दण्डः पतिष्यति । अपि धास्यति द्वारम् । अत्र प्रश्नोद्घहनं च प्रतीयते ।

इच्छोद्बोधेऽकञ्चिति ॥२।३।१२९॥ इच्छोद्बोधः स्वाभिप्रायनिवेदनम् । इच्छोद्बोधे गम्यमाने लिङ्
भवति कञ्चिच्छब्दाप्रयोगे । सर्वलकारापवादः । कामो मे अभीयीत भवान् । अभिलाषो मे भुञ्जीत भवान् ।

अकञ्चित्तीति किम् ? कञ्चिजीवति मे माता । कञ्चिजीवति मे पिता । माराविदं त्वां पृच्छामि कञ्चिजीवति पार्वती ।

संभावनेऽलमि स्थानिनि ॥१।३।१३०॥ लिङ्गित वर्तते । संभावनं क्रियायां सामर्थ्यश्रद्धानम् । अलंशब्दश्चेह पर्याप्तवचनः । यस्य यत्रार्थो गम्यते न चासौ प्रयुष्यते स तत्र स्थानीशब्दः । अलमर्थविशिष्टे संभावने लिङ् भवति अलंशब्दे स्थानिनि । सर्वलकारापवादः । शक्यसंभावने—अपि हस्तिनं हन्यात् । अपि स्तुयाद्राजानम् । अशक्यसंभावने—अपि पर्वतं शिरसा भिन्द्यात् । अपि श्वारीयकं भुञ्जीत । अपि समुद्रं दोर्भ्यां तरेत् । अलमीति किम् ? विदेशस्थायी मे देवदत्तो मन्ये गमिष्यति ग्रामम् । अत्राहमिति स्थानी । स्थानिनीति किम् ? वसति चेत् सुराष्ट्रेषु वन्दिष्यते अलमूर्जयन्तम् । क्रियाऽवृत्तौ वर्त्यति भूते लृङ् भवति ।

तद्वाचि धौ वाऽयदि ॥२।३।१३१॥ अलमीति वर्तते । तच्छब्देन संभावनं परामृश्यते अलमर्थ-विशिष्टे सम्भावनवाचिनि धौ वाचि वा लिङ् भवति । यच्छब्दाप्रयोगे पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । सम्भावयामि भुञ्जीत भवान् । श्रद्धे भुञ्जीत भवान् । पक्षे यो यतः प्राप्नोति स ततो भवति । अलमीति किम् ? सम्भावयामि यत्स भुञ्जीत । अत्रालमर्थे पूर्वेण नित्यो लिङ् ।

हेतुफलयोर्लिङ् ॥२।३।१३२॥ हेतुः कारणम् ; फलं कार्यम् । हेतौ तत्कार्ये च ध्वर्थे वर्तमानाद्धोः लिङ् भवति । अतिथीश्चेत्तमेत भृशमन्नं ददीत । यदि गुरुपूजां कुर्वीत स्वर्गमारोहेत् । वेत्यनुवर्तनात्पक्षे लृट् । अतिथीश्चेत्तस्यते भृशमन्नं दास्यते । लिङ्गिति वर्तमाने पुनर्लिङ्ग्रहणं वर्त्यति यथा स्यादिह मा भूत् । वर्षतीति धावति । हन्तीति पलायते । क्रियाऽवृत्तौ वर्त्यति भूते च नित्यो लृङ् ।

इच्छार्थे लिङ् लोटौ ॥२।३।१३३॥ इच्छार्थे धौ वाचि लिङ् लोटौ ल्यौ भवतः । सर्वलकारापवादौ । वेति व्यवस्थितविभाषानुवर्तते । तेन कामप्रकाशने इदं विधानम् । इच्छामि भुञ्जीत भवान् । भुङ्क्तां भवान् । प्रार्थये अधीयीत भवान् । अधीतां भवान् । कामप्रकाशन इति किम् ? इह मा भूत् । इच्छन् करोति । नात्र प्रयोक्तुः कामप्रवेदनम् । “उत्वाप्योः पृष्टोक्तौ” [२।३।१३८] इत्यत आरभ्य यत्र केवलो लिङ्हेतुः शिष्यते तत्र क्रियाऽवृत्तौ लृङ् नान्यत्रेति केचित् ।

तुमेककर्तृके ॥२।३।१३४॥ इच्छार्थे एककर्तृके धौ वाचि तुम्भवति यस्मानुम् विधीयते प्रत्यासत्तेस्त-दपेक्ष्यैककर्तृकत्वम् । लिङ् लोटोरपवादोऽयम् । इच्छति भोक्तुम् । वाञ्छति कर्तुम् । कामयते कर्तुम् । एककर्तृकं इति किम् ? देवदत्तं भुञ्जानमिच्छति परः । इह कस्मान्न भवति । इच्छति कटं करोति चैनम् । नात्र करोति प्रतीच्छतेः सामर्थ्यं किन्तु कटं प्रति तेनान्वर्थवाक्संज्ञाविरहात्तुम् न भवति ।

लिङ् ॥२।३।१३५॥ इच्छार्थे एककर्तृके धौ वाचि लिङ् भवति । पूर्वं तुमा लिङ् लोटौ वाधितौ पुनर्लिङ्प्रसवार्थमेतत् । योगविभाग उत्तरार्थः । अधीयीति इच्छति । भुञ्जीयेति वाञ्छति । इतिशब्दः क्रियाशब्दसम्बन्धघातनार्थः ।

तेभ्यो भवति वा ॥२।३।१३६॥ तेभ्य इच्छार्थेभ्यो धुभ्यः भवति काले वा लिङ् भवति । इच्छेत् । इच्छति । कामयेत । कामयते । उर्यात् । वष्टि ।

विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधोऽसंप्रश्नप्रार्थने लिङ् ॥२।३।१३७॥ विधिराज्ञापनम् । निमन्त्रणं नियमेन करणम् । यदकरणे प्रत्यवाय इत्यर्थः । आमन्त्रणं स्वेच्छया करणम् । अधीष्टः सत्कारपूर्विका व्यापारणा । संप्रश्नः संप्रधारणा । प्रार्थनं याच्ना । विध्यादिष्वर्थेषु लिङ् भवति । सर्वत्यापवादः । विध्यादिविशि-ष्टेषु कर्त्रादिषु त्वाथेषु लिङ् भवतीत्यर्थः । कटं भवान् कुर्यात् । प्राणिनो भवान्न हिंस्यात् । निमन्त्रणे—संध्यासु भवान् आवश्यकं कुर्यात् । आचारं भवानधीयीत । आमन्त्रणे—इह भवानासीत् । इह भवान्

शयीत । अधीष्टे-अधीच्छामो भवान् व्रतं रक्षेत् । तत्त्वं भवान् गृह्णीयात् । संप्रश्ने-किन्तु खलु भोः जैनेन्द्रमधीयीथ । प्रार्थने-भवति मे प्रार्थना व्याकरणमधीयीथ । तर्कशास्त्रमधीयीथ । यदि विध्यादिषु प्रकृत्युपाधिषु लिङ् विधीयेत; इह विदध्यात् निमन्त्रयेत आमन्त्रयेत अधीच्छेत् । प्रकृत्यैव विध्यादयोऽभिधीयन्ते इति (इहैव) लिङ् प्राप्नोति । तस्माद्विध्यादयः कर्तृकर्मभावानां विशेषणानि । तदभावादिह लिङ् न भवति । विदधाति । निमन्त्रयते । आमन्त्रयते । अधीच्छति । अत्र क्रियाया अत्रुत्तौ परत्याल्लटा लृङ् बाध्यते ।

लोट् ॥२।३।१३८॥ लोङ् भवति विध्यादिविशिष्टेषु कर्त्रादिषु विधौ । ग्रामं भवान्नागच्छतु । प्राणिनो भवान् हिनस्तु । निमन्त्रणे-संध्यासु भवानावश्यकं करोतु । आचारमधीताम् । आमन्त्रणे-इह भवनास्ताम् । इह शोताम् । अधीष्टे-अधीच्छामो भवान् व्रतं रक्षतु । तत्त्वं भवान् गृह्णातु । संप्रश्ने-किन्तु खलु भो काव्यमध्ययै । प्रार्थने-भवति मे प्रार्थना धर्मशास्त्रमध्ययै । योगविभाग उत्तरार्थः ।

प्रैषातिसर्गप्राप्तकाले व्याश्च ॥२।३।१३९॥ प्रेषणं प्रैषः । अतिसर्गः कामचारानुज्ञा । प्राप्तकालः प्राप्तकालता, विशिष्टस्य कालस्यावसर इत्यर्थः । प्रैषादिष्वर्थेषु कर्त्रादिविशेषणत्वेन गम्यमानेषु व्यसंज्ञकास्त्या भवन्ति लोट् च । भवता खलु दानं दातव्यं दानीयं देयम् । करोतु कटो भवानिह प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः । यद्यपि व्यसंज्ञा सामान्येन भावकर्मणोर्विहितास्तथापि सर्वापवादेशु प्रैषादिषु लोटा बाध्येरन्निति पुनर्विधीयन्ते ।

लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके ॥२।३।१४०॥ प्रैषादयोऽनुवर्तन्ते । ऊर्ध्वं सुहूर्ताद्भवः ऊर्ध्वमौहूर्तिकः । निपातात्सविधिरुत्तरपदस्यैवैप् । ऊर्ध्वमौहूर्तिकेऽर्थे वर्तमानाद्धोः प्रैषादौ गम्यमाने लिङ् भवति चकाराद्व्याश्च । उपरि सुहूर्तस्य भवान् खलु दानं दद्यात् । भवता खलु दानं दातव्यं दानीयं देयम् । केचिच्चकारेण यथाप्राप्तं समुच्चिन्वन्ति । तेषां लोटपि भवति । भवान् खलु दानं ददातु । भवान् हि प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः ।

स्मे लोट् ॥२।३।१४१॥ प्रैषादयोऽनुवर्तन्ते । ऊर्ध्वमौहूर्तिक इति च । स्मशब्दे वाचि प्रैषादिषु गम्यमानेषु ऊर्ध्वमौहूर्तिकेऽर्थे लोट् भवति । व्यानां लिङ्श्चापवादाः । ऊर्ध्वं सुहूर्ताद्भवान् दानं ददातु स्म । भवान् हि प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः ।

अधीष्टे ॥२।३।१४२॥ ऊर्ध्वमौहूर्तिक इति निवृत्तम् । अधीष्टे गम्यमाने स्मशब्दे वाचि लोट् भवति । लिङो बाधकः । अङ्ग स्म राजन् दानं देहि व्रतं रक्ष ।

कालसमयवेलासु तुम् वा ॥२।३।१४३॥ काल समय वेला इत्येतेषु वान्तु धोः तुम् भवति वा । कालो भोक्तुम् । समयो भोक्तुम् । वेला भोक्तुम् वा । वाच्यनाद्यथाप्राप्तं च भवति । कालो भोक्तव्यस्य । प्रैषादिग्रहणमनुवर्तते । तेनेह न भवति ।

“कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः । कालः सुतेषु जागति कालो हि दुरतिक्रमः ॥”

लिङ् यदि ॥२।३।१४४॥ यच्छब्दप्रयोगे कालादिषु वान्तु धोर्लिङ् भवति । तुमोऽपवादः । कालो यत्प्रजां कुर्वति भवान् । समयो यद्भुञ्जीत भवान् । वेला यच्छयीत भवान् । केचिद्वैत्यनुवर्तयन्ति तेषां यथाप्राप्तमपि ।

तृज्व्याश्चाहं ॥२।३।१४५॥ अर्हतीत्यर्हः । अर्हं कर्तरि गम्यमाने तृज्व्याश्च भवन्ति लिङ् च । भवान् खलु कन्यायाः वोढा । भवता कन्या वोढव्या वहनीया वाह्या । भवान् खलु कन्यां वहेत् । भवान् योग्य इत्यर्थः । अर्होऽर्थे लिङ् विधीयमानेन तृचो व्यानां च बाधा मा भूत् इति पुनर्विधानम् ।

आवश्यकाधमर्णयोर्णिन् ॥२।३।१४६॥ अवश्यं भाव आवश्यकम् । मनोशादिपाठाद्गुञ् । अधमम् ऋणमस्य अधमर्णः; तद्भाव आधमर्ण्यम् । आवश्यकाधमर्ण्यविशिष्टे त्थार्थे कर्तरि णिन् भवति । अवश्यंहारी मयूरव्यंकादित्वात्सविधिः । शतंदायी । सहस्रंदायी । निष्कदायी “आधमर्ण्ये चैनः” [१।४।७४] इति कर्मणि तायाः प्रतिषेधः ।

व्याः ॥२।३।१४७॥ आवश्यकाधमर्ण्योरिति वर्तते । आवश्यकाधमर्ण्योर्व्यासंज्ञा भवन्ति । सर्व-
त्पापवादेन णिना व्यसंज्ञा बाधिता इति पुनर्विधीयन्ते । भवता खलु अवश्यं धर्मः कर्तव्यः । करणीयः । कृत्यः ।
कार्यः । आधमर्ण्ये भवता खलु निष्को दातव्यः । देयः । योगविभाग उत्तरार्थः ।

शकि लिङ् च ॥२।३।१४८॥ शकीत्यर्थनिर्देशः । शकीत्यर्थविशिष्टे ध्वर्थे लिङ् भवति चकाराद्
व्याश्च । भवता खलु विद्या अध्येतव्या । अध्ययनीया । अध्येया । भवान् खलु विद्यामधीयीत । भवान् हि समर्थः ।
लिङ् सर्वापवाद इति (चकारेण) व्यानामनुकर्षणं क्रियते । यदि शकीति प्रकृत्यर्थविशेषणम् । शक्नुयादि-
त्यत्र लिङ् न प्राप्नोति प्रकृत्यैवाभिहितत्वात् शक्यर्थस्य । नैष दोषः । सामान्यविशेषभावेन भेदाश्रुपगमात् ।
यथा पशितुमिच्छति पशिषिषति ।

आशिषि लिङ् लोटौ ॥२।३।१४९॥ इष्टस्याशंसनमाशीः । अतएव निपातनादिह इकारः । आशी-
र्विशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद्धोल्लिङ्लोटौ भवतः । जी व्यात् । जीव्यास्ताम् । जीव्यासुः । जीवतु । आशिषीति किम् ?
जीवति यदि पथ्याशी ।

क्लिच्छकौ खौ ॥२।३।१५०॥ आशिषीति वर्तते । आशिष्यर्थे क्लिच्छकौ ल्यौ भवतः खुविषये । चकारः
“न क्लिचि दीश्च” [४।४।४०] इति विशेषणार्थः । तनुतात् तन्तिः । सनुतात् सातिः । भवताद्भूतिः ।
कृतः क्लिच्चा विशेषविहितेन बाध्येरन्निति पुनर्विधीयन्ते । देवा एनं देवासुरिति देवदत्तः । देवा एनं-
श्रुण्वन्तु देवश्रुतः ।

माङ् लुङ् ॥२।३।१५१॥ माङ् वाचि लुङ् भवति । सर्वलकारापवादः । मा कार्षीरधर्मम् । मा
हार्षीत्परस्वम् । ङकारः प्रतिषेधवाचिनो माङ् शब्दस्य ग्रहणं यथा स्यादित्येवमर्थः ।

सस्मे लङ् च ॥२।३।१५२॥ सह स्मशब्देन वर्तते सस्मः । तस्मिन् माङ् वाचि लङ् भवति लुङ्
च । मा स्म क्रुध्यत् । मा स्म हरत् । मा स्म हार्षीत् ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

धुयोगे त्याः ॥२।४।१॥ धुशब्देन ध्वर्थोऽत्र निर्दिष्टः । अभिषेये अभिधानस्योपचारात् । धूनां योगे सति अयथाकालोक्ता अपि त्याः साधवो भवन्ति । विश्वदृश्याऽस्य पुत्रो जनिता । कृतः कटः श्वो भाविता । भाविकृत्यमाधीत् । विश्वदृश्वेति भूतकालः जनितेत्यनेन भवि यत्कालेन (अभिसम्बन्धमानः) साधुर्भवति । इहोपसर्जनभूतं सुवन्तं प्रधानभूतस्य मिडन्तस्य कालमनुवर्तते । धोरिति वर्तमाने पुनर्धुर्ग्रहणं अस्तिभूजनिपरिग्रहार्थम् । त्य इति वर्तमाने पुनस्त्यग्रहणं त्यमात्रपरिग्रहार्थम् । गोमान् भवितेति मत्वन्तस्य वर्तमानकालस्य अयथाकालत्वेन साधुत्वम् ।

क्रियासमभिहारे लोट् तस्य हिस्वौ वा तध्वप्रोः ॥२।४।२॥ क्रियासमभिहारविशिष्टे ध्वर्थे वर्तमानादोलोङ् भवति । सर्वलकारापवादः । तस्य लोटो हि स्व इत्येताःवादेशौ भवतस्तध्वमोस्तु वा भवतः । क्रियासमभिहारे लोटिति योगविभागः कर्तव्यः । ततस्तस्य हिस्वौ भवतः । किमेवं सति लब्धम् ? अन्यत्र यौ लोडादेशौ हिस्वौ प्रसिद्धौ ताविह भवतः । तेन मविधिविधिव्यतिकरो न भवति । वा तध्वमोरित्यत्र ध्वमा सह निर्देशात्तशब्दस्य थादेशस्य वहोर्ग्रहणम् । लुनीहि लुनीहि इत्येवाहं लुनामि । आवां लुनीवः । वयं लुनीमः । लुनीहि लुनीहि इत्येव त्वं लुनासि । युवां लुनीथः । यूयं लुनीथ । तशब्दस्य तु वा भवति । लुनीत लुनीत इत्येव यूयं लुनीथ । लुनीहि लुनीहि इत्येवाहं लुनाति । इमौ लुनीतः । इमे लुनन्ति । भूते लुनीहि लुनीहि इत्येवाहमलाविषम् । आवामलाविष्व । वयमलाविष्व । एवं युष्मदन्ययोरपि । वत्स्यति-लुनीहि लुनीहीत्येवाहं लविष्यामि । आवां लविष्यावः । वयं लविष्यामः । एवं युष्मदन्ययोरपि । अधीष्व अधीष्व इत्येवाहमधीये । आवामधीवहे । वयमधीमहे । एवं युष्मदन्ययोरपि योज्यम् । ध्वमस्तु पक्षे श्रवणम् । अधीष्वमधीष्वमित्येवं यूयमधीष्वे । भूते-अधीष्व अधीष्व इत्येवाहमध्यगीषि । आशामध्यगीष्वहि । वयमध्यगीष्वहि । एवं सर्वत्र । वत्स्यति-अधीष्व अधीष्व इत्येवाहमध्येष्ये । आवामध्येष्यावहे । वयमध्येष्यामहे । एवं युष्मदन्ययोरपि । एवं शेषेष्वपि लकारेषु योज्यम् । द्वित्वमपेक्ष्य लोट् क्रियासमभिहारस्य द्योतकः । धुयोग इति वर्तते । प्रत्यासत्तेर्यत एव लोट् विधीयते तस्यैवानुप्रयोगः कालास्मदाद्यकत्वादीनामभिव्यक्तये क्रियते ।

प्रचये वा ॥२।४।३॥ प्रचयः समुच्चयः । स चैकस्मिन् द्विप्रभृतेरध्यावायः । प्रचये उपाधौ वा लोट् भवति तस्य हिस्वावादेशौ भवतस्तध्वमोस्तु वा । अयं सर्वलकारप्राप्तौ विकल्पः । कर्मप्रचयो ग्राममट नगरमट गिरिमट इत्येवाहमटामि । आवामटावः । वयमटामः । ग्राममट नगरमट गिरिमट इत्येवं त्वमटसि । युवामटथः । यूयमटथ । तशब्दस्य तु वा-ग्राममटत नगरमटत गिरिमटत इत्येव यूयमटथ । ग्राममट नगरमट गिरिमट इत्येवायमटति । इमौ अटतः । इमे अटन्ति । वा-चनात् ग्राममटामि नगरमटामि गिरिमटामि इत्येवाहमटामि । आवामटावः । वयमटामः । एवं युष्मदन्ययोरपि । एवं भूते वत्स्यति सर्वलकारेषु योज्यम् । दभाग्यः । जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येवाहमधीये । आवामधीवहे । वयमधीमहे । जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येव त्वमधीषे । युवामधीयाथे । यूयमधीष्वे । ध्वमस्तु वा-जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येव यूयमधीष्वे । जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येवायमधीते । इमौ अधीयाते । इमे अधीयते । वाचनात् जैनेन्द्रमधीये गणितमधीये तर्कमधीये इत्येवाहमधीये । आवामधीवहे । वयमधीमहे । एवं भूते वत्स्यति सर्वलकारेषु योज्यम् । कर्तृसमुच्चये देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव वयमोदनमद्धः । देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव यूयमोदनमत्थ । देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव इमे ओदनमदन्ति । कर्तृसमुच्चये द्विवचनं बहुवचनं वा भवति एकस्य समुच्चयाभावात् । क्रियासमुच्चये । ओदनं बुद्ध्वा सक्त्वा पिब धानाः खाद इत्येवाहमभ्यवहरामि । आवामभ्यवहरावः । वयमभ्यवहरामः । बहूनां क्रियाणां समुच्चये सानान्यप्रयोगोऽभिधानकारात् । एवं सङ्करसमुच्चयोऽप्युक्तः ।

निषेधेऽलंखत्वोः त्वा ॥२।४।४॥ वेति वर्तते । अलं खलु इत्येतयोर्निषेधवाचिनेर्वाचोर्धोः त्वात्यो भवति । अलं कृत्वा । अलं बाले रुदित्वा । “क्लिनाऽमैव” [१।३।८३] इति नियमात् वाक्सो न भवति । निषेध इति किम् ? अलंकारः । अलंखत्वोरिति किम् ? मा कार्षीः । वेत्येव । अलं रोदनेन । “प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] इति भा ।

माडो व्यतिहारे ॥२।४।५॥ माडो व्यतिहारेऽर्थे त्वा भवति वा । परकालत्वादप्राप्तः त्वा विभाष्यते । अप्रमित्य याचते । अवमित्य हरति । “वेमेडः” [४।४।६६] इतीत्वम् । वेत्यधिकारात् याचित्वा अप्रमयते । हत्वा अप्रमयते । मेडः कृतात्वस्य निर्देशो ज्ञापकः—“जानुबन्धकृतं हलन्तत्वम्” [परि०] ।

परावरयोगे ॥२।४।६॥ परावराम्यां योगे गम्यमाने धोः त्वा भवति । वेति वर्तते । संबन्धिशब्दत्वात् परेण पूर्वस्य योगे । अप्राप्य नदीं पर्वतः । परया नद्या युक्तः पर्वतः प्रतीयते । अवरेण योगे परस्य त्वा । अतिक्रम्य पर्वतं नदी । अवरपर्वतयोगविशिष्टा परा नदी प्रतीयते । वावचनाल्लडादयो भवन्ति । न प्राप्नोति नदीं पर्वतः । अतिक्रामति पर्वतं नदी ।

परकालैककर्तृकात् ॥२।४।७॥ परः कालो यस्याः सेयं परकाला क्रिया, तथा एककर्ता यस्य सामर्थ्यात् पूर्वकालक्रियाभिधायिनः स तथोक्तः । तस्माद्धोः त्वा भवति । स्नात्वा भुङ्क्ते । स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा व्रजति । एककर्तृकादिति किम् ? भुङ्क्वति देवदत्ते गच्छति जिनदत्तः । परकालग्रहणं किम् ? सामर्थ्यात् पूर्वकालक्रियाभिधायिनो यथा स्यादिह मा भूत् । भुङ्क्ते च पिबति च आस्ते च जल्पति च इहापि कथञ्चित् पूर्वकालत्वविवक्षास्ति । व्यादाय स्वपिति । संमील्य हसति इति । वेत्यधिकारात् । भुङ्क्ते शेते च ।

णाम् चाभीक्ष्ण्ये ॥२।४।८॥ परकालैककर्तृकादिति वर्तते । सुहृर्मुहुर्वृत्तिरामीक्ष्ण्यम् । एतच्च प्रकृत्यर्थविशेषणम् । परकालैककर्तृकात् णामित्ययं ल्यो भवति त्वात्यश्च । आभीक्ष्ण्ये—भोजंभोजं व्रजति । भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति । पायं पायं गच्छति । पीत्वा पीत्वा गच्छति । त्वाणामौ द्वित्वमपेक्ष्याभीक्ष्ण्यं द्योतयतः । पूर्वेण त्वात्ये सिद्धे णामर्थं वचनम् । इह वेति निवृत्तम् । उत्तरत्र वाग्रहण्यात् ।

न यदनाकाङ्क्षे ॥२।४।९॥ यच्छब्दे वाचि त्वाणामौ न भवतोऽनाकाङ्क्षे सति वाक्ये । अनन्तर-व्यवहितभेदाभावात् पूर्वसूत्रविहितो अनन्तरश्च त्वा निषिध्यते णाम् च । यदयं भुङ्क्ते ततो गच्छति । यदयं शेते ततोऽधीते । अनाकाङ्क्ष इति किम् ? यदयं भुक्त्वा व्रजति । अधीत एव ततः परम् । अत्र पूर्वोत्तर-क्रियाम्यां अतिरिक्तमध्ययनं काङ्क्षते ।

वाऽग्रे प्रथमपूर्वे ॥२।४।१०॥ आभीक्ष्ण्य इति निवृत्तम् । “परकालैककर्तृकात्” [१।३।७] इत्यनेन त्वात्ये प्राप्ते विभाषेयम् । अग्रे प्रथम पूर्वं इत्येतेषु वाच्यु त्वाणामौ वा भवतः । अग्रे भोजं ततो ददाति । अग्रे भुक्त्वा ततो ददाति । प्रथमं भोजं ततो ददाति । प्रथमं भुक्त्वा ततो ददाति । पूर्वं भोजं ततो ददाति । पूर्वं भुक्त्वा ततो ददाति । “क्लिनामैव” [१।३।८३] इत्यत्रैवकारोपादानात् केवलेनैवामा विहितेन वाक्सो भवति नान्यसहितेन । वावचनाल्लडादयोऽपि भवन्ति । अग्रे भुङ्क्ते ततो ददाति । प्रथमं भुङ्क्ते ततो ददाति । पूर्वं भुङ्क्ते ततो ददाति ।

कर्मण्याक्रोशे कृजः खमुञ् ॥२।४।११॥ कर्मणि वाचि आक्रोशे गम्यमाने कृजः खमुञ् भवति । चोरोऽसौत्येवमाक्रोशति चोरङ्कारमाक्रोशति । दस्युङ्कारमाक्रोशति । क्त्वाऽपवादोऽयम् । आक्रोश इति किम् ? चोरं कृत्वाङ् गच्छति । नात्राऽक्रोशसंपादनार्थं चोरग्रहणम् ।

स्वादुमि णम् ॥२।४।१२॥ स्वादुमीत्यर्थनिर्देशः । स्वाद्वर्थेषु वाच्यु कृजो णाम् भवति । परकालैककर्तृकादिति वर्तते । स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते । सम्पन्नङ्कारं भुङ्क्ते । लवणङ्कारं भुङ्क्ते । स्वादुमीति णाम्सन्नियोगे

मकारान्तता निपात्यते । खमुञि प्रकृते । “खित्यक्तेः” [४।३।१७६] “मुमचः” [४।३।१७७] इति मुमा सिद्धमिति चेत् च्यन्तविवक्षायां अभेरिति प्रतिषेधः प्रसज्येत । खमुञ्येव मान्तनिपातनं कर्तव्यमिति चेन्न च्यन्तार्थमेव तत्संभाव्येत । णमि पुनर्निपातनं ङीनिवृत्त्यर्थं “चवौ” [५।२।१३२] दीत्वनिवृत्त्यर्थं च । स्वाद्रीकृत्वा यवागू भुङ्क्ते । स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते । च्विविवक्षायामस्वादुं स्वादुं कृत्वा भुङ्क्ते स्वादुंकारं भुङ्क्ते । “चवौ” [२।२।१३५] इति दीत्वं प्रसज्येत । उत्तरार्थं च इह णमग्रहणम् । विभाषाधिकारात् क्त्वापि भवति । क्त्वादय आतुमो विधीयमाना भावे भवन्ति । ननु स्वादुंकारं भुङ्क्ते देवदत्त इति णमा कर्तुरनुकृत्वात् कर्तरि ता प्राप्ता “न क्तित्” [१।४।७२] इत्यादिना ता कर्तरि न भवति ।

अन्यथैवंकथमित्थंस्वनर्थात् ॥२।४।१३॥ अन्यथा एवं कथमित्थमित्येतेषु वाचु धुभ्यो णम् भवति अनर्थात् । येन विनापि यदर्थः प्रतीयते स तत्रानर्थस्तस्मिन्प्रयुज्यमाने त्यो भवति । तथाहि यावानेवार्यो-
ऽन्यथा भुङ्क्ते इति तावानेव कृञ्प्रयोगेऽपि अन्यथाकारं भुङ्क्ते । एवंकारं भुङ्क्ते । कथंकारं भुङ्क्ते । इत्यङ्कारं भुङ्क्ते । अनर्थादिति किम् ? अन्यथा कृत्वा शिरो भुङ्क्ते ।

यथातथयोरसूयाप्रत्युक्तौ ॥२।४।१४॥ कृजोऽनर्थादिति वर्तते । यथा तथा इत्येतयोर्वाचोः कृजोऽन-
र्थात् णम् भवति असूयाकृतायां प्रत्युक्तौ गम्यमानायाम् । कथं कृत्वा भवान् भुङ्क्ते इत्येवं पृष्ठोऽस्यकस्तं प्रत्याह यथाकारमहं भोक्ष्ये तथाकारमहं भोक्ष्ये किं तवानेन । अनर्थादिति किम् ? यथा कृत्वाहं बलिं भोक्ष्ये किं तवानेन । असूयाप्रत्युक्ताविति किम् ? यथाकृत्वाहं भोक्ष्ये तथा द्रक्ष्यसि त्वम् । तथाकृत्वाऽहं भोक्ष्ये यदा द्रष्टव्यं भवता ।

कर्मण्यशेषे दृशिचिद्ः ॥२।४।१५॥ अशेषः कः ? साकल्यम् । इदं कर्मणो विशेषणम् । अशेषवि-
शिष्टे कर्मणि वाचि दृशिचिदोर्ध्वोर्णम् भवति । साधुदर्शं प्रणमति । सर्वं साधुं प्रणमतीत्यर्थः । अतिथिवेदं भोजयति । यं यं विन्दति विन्दते वा तं सर्वं भोजयतीत्यर्थः । अशेष इति किम् ? अतिथिं दृष्ट्वा भोजयति ।

यावति विन्दजीवः ॥२।४।१६॥ यावच्छब्दे वाचि विन्दतिजीवत्योर्णम् भवति । यत्र पूर्वकालत्वं सम्भवति तत्र त्वाऽपवादः । यत्र न सम्भवति तत्रापूर्वं एव विधिः । धुयोग इति वर्तते । यावद्वेदं भुङ्क्ते । यावत्सभते तावद्भुङ्क्ते इत्यर्थः । यावज्जीवमधीते । यावज्जीवति तावदधीते इत्यर्थः ।

चर्मोदरयोः पूरेः ॥२।४।१७॥ कर्मणीति वर्तते । चर्म उदर इत्येतयोः कर्मणोर्वाचोः पूरयतेर्णम् भवति । चर्मपूरं शेते । उदरपूरं भुङ्क्ते ।

वर्षप्रमाणे ॥२।४।१८॥ कर्मणीति वर्तते । कर्मणि वाचि पूरयतेर्णम् भवति समुदायेन वर्षप्रमाणे गम्यमाने । गोष्पदपूरं वृष्टो देवः । सीतापूरं वृष्टो देवः । कथं गोष्पदप्रं वृष्टो देवः ? प्रातेरातः के कृते क्रियाविशेषणत्वेन नपुंसकलिङ्गम् । एतस्य कान्तस्यैव विभक्तयन्तव्यादिषु च प्रयोगः साधुः । गोष्पदप्रेण गोष्पदप्री भवति । गोष्पदप्रतरम् गोष्पदपूरं वृष्टो देव इत्येवमादाबुभयथा प्रयोग इष्यते । णमन्तस्य घञन्तस्य च क्रियाविशेषणभावेन ह्यति विभक्तयन्तरे च विशेषः । णमन्तस्य हि देश्यादिषु गोष्पदपूरं भवति गोष्पदपूरं-
देश्यम् गोष्पदपूरंदेशीयं गोष्पदपूरंकल्पं गोष्पदपूरंतराम् । घञन्तस्य गोष्पदपूरीभवति गोष्पदपूरदेश्यं गोष्पदपूरदेशीयम् गोष्पदपूरकल्पम् । गोष्पदपूरतराम् ।

चेलेषु क्तोपेः ॥२।४।१९॥ कर्मणीति वर्तते । चेलार्थेषु कर्मसु वाचु क्रोपयतेर्णम् भवति वर्षप्रमाणे गम्ये । चेलकूपं वृष्टो देवः । एवं वल्लकूपं वसनकूपम् ।

शुष्कचूर्णभक्षेण पिषः ॥२।४।२०॥ कर्मणीति वर्तते । शुष्क चूर्णं भक्ष इत्येतेषु कर्मसु वाक्तु पिषेर्धोर्णम् भवति । शुष्कपेषं पिनष्टि तगरम् । शुष्क पिनष्टीत्यर्थः । एवं चूर्णपेषं पिनष्टि । भक्षपेषं पिनष्टि । घञि सति क्रियाविशेषण्ये शुष्कस्य पेषं पिनष्टि इत्येवमादयः प्रयोगाः साधवः । इतः प्रभृति “उपदर्शो भायाम्” [२।४।३३] इत्यतः प्राक् यत एव धोर्णम् भवति तस्यैतन्नुपयोगोऽपि नववर्गविधानवरात् ।

जीवाकृते ग्रहिकृत्वः ॥२।४।२१॥ कर्मणीति वर्तते । जीव अकृत इत्येतयोः कर्मवाचिनोर्वाचोर्थथासंख्यं ग्रहि कृञ् इत्येताभ्यां णम् भवति । जीवग्राहं गृहीतः । अकृतकारं करोति ।

निमूले कषः ॥२।४।२२॥ कर्मणीति वर्तते । निमूले कर्मणि वाचि कषेर्णम् भवति । निमूलकाषं कषति । घञि सति क्रियाविशेषण्ये निमूलस्य काषं कषति इत्यपि भवति ।

समूले हनश्च ॥२।४।२३॥ कर्मणीति वर्तते । समूले कर्मणि वाचि हन्तेः कषेश्च णम् भवति । समूलघातं हन्ति । समूलकाषं कषति ।

करणे ॥२।४।२४॥ हन इति वर्तते । करणे वाचि हन्तेर्णम् भवति । पाणिघातं कुडथं हन्ति । पाणिना हन्तीत्यर्थः । पादघातं शिलां हन्ति । यदा हिंसार्थो हन्तेर्विवक्षितः तदा “हिंसार्थादेककर्मकात्” [२।४।३४] इतोममपि विधि पूर्वविप्रतिषेधेन बाधित्वाऽयमेव णम् । असिघातं हन्ति चौरान् । कोऽत्र विशेषः ? अनेन नित्यः सविधिः तस्यैव धोरनुप्रयोगश्च भवति ।

हस्ते वर्तिग्रहः ॥२।४।२५॥ करण इति वर्तते । हस्त इति अर्थनिर्देशः । हस्तवाचिनि करणे वाचि वर्तयतिगृह्णातिभ्यां णम् भवति । हस्तवर्तं वर्तयति । हस्तेन वर्तयतीत्यर्थः । एवं पाणिवर्तम् । करवर्तम् । हस्तग्राहं गृह्णाति । हस्तेन गृह्णातीत्यर्थः । एवं पाणिग्राहं करग्राहम् ।

स्वेषु पुषः ॥२।४।२६॥ करण इति वर्तते । स्व इति स्वरूपस्य तद्विशेषाणां च ग्रहणम् । बहुत्व-निर्देशात् । स्ववाचिकरणवाचिनि पुषेर्धोर्णम् भवति । आत्मात्मीयज्ञातिधनानि स्वशब्देनेष्यन्ते । स्वपोषं पुषः । विद्यापोषं गोपोषं मातृपोषं पितृपोषं रैपोषं पुष्पाति । सर्वत्र घञन्तेन णमन्तस्यार्थकथनं द्रष्टव्यम् । स्वेन पोषं पुष्ट इति स एव पुषिः कालसाधनभेदादन्यत्वं गतः पुषिणा युज्यते । यथा एषितुमिच्छति एषिषिषिपति-इषिरिषिणा युज्यते ।

स्नेहने पिषः ॥२।४।२७॥ करण इति वर्तते । स्निह्यतेऽनेनेति स्नेहनम् । स्नेहनवाचिनि करणे वाचि पिषेर्धोर्णम् भवति । घृतपेषं पिनष्टि । घृतेन पिनष्टीत्यर्थः । एवं तैलपेषम् । उदपेषम् । “पेषमि” [४।३।१६६] इत्युदकस्योदादेशः ।

बन्धोऽधिकरणे ॥२।४।२८॥ अधिकरणे वाचि बन्नातेर्णम् भवति । चक्रबन्धं बद्धः । चक्रे बद्ध इत्यर्थः । एवं चारकबन्धम् । दृष्टिबन्धम् । गुप्तिबन्धम् । बध्यमानाधारे वाचि णम् भवति न बन्धाधारे । हस्ते बन्नातीति वैत्यधिकाराद्वा न भवति ।

खौ ॥२।४।२९॥ खुविषये च बन्नातेर्णम् भवति । चण्डालिकाबन्धं बद्धः । अण्डालिकाबन्धं बद्धः । महिषिकाबन्धं मयूरिकाबन्धं क्रोञ्चबन्धं बद्धाः । णमन्ताः बन्धविशेषाणां संज्ञा एताः । अर्थप्रदर्शनं तु यथाक्यावत्करणेन वाचा अन्यथा वा दर्शनीयम् । अन्ये तु व्याचक्षते खुभूतो यो बन्धः तस्मिन् करणवाचिनि वाचि बन्नातेर्णम् भवति ।

कर्त्रा जीवपुरुषयोर्नशिचहोः ॥२।४।३०॥ जीव पुरुष इत्येतयोः कर्तृवाचिनोर्वाचोर्थथाक्रमं नशि-

वहिभ्यां णम् भवति । जीवनाशं नश्यति । जीवो नश्यतीत्यर्थः । पुरुषवाहं वहति । पुरुषो भूत्वा वहतीत्यर्थः ।
कर्त्रोरिति किम् ? जीवेन नष्टः । पुरुषं वहन्ति । अत्र करणं कर्म च वाक् ।

ऊर्ध्वं शुषिपुरोः ॥२।४।३१॥ कर्त्रोरिति वर्तते । ऊर्ध्वशब्दे कर्तृवाचिनि वाचि शुषि पूरि इत्ये-
ताभ्यां णम् भवति । ऊर्ध्वशोषं शुष्कः । ऊर्ध्वः इत्यर्थः । ऊर्ध्वपूरं पूर्यते । ऊर्ध्वं पूर्यत इत्यर्थः ।

कर्मणि चेवे ॥२।४।३२॥ शब्दे कार्यस्यासम्भवादिवार्थं उपमानं गृह्यते । इवशब्दार्थे वर्तमाने कर्मणि
कर्तरि भूवादिघोर्णम् भवति कर्मणि । घृतनिघाद्यं निहितः । घृतमिव निहित इत्यर्थः । एवं जीवितरत्नं
रञ्जितः । कर्तरि—अक्रूरनाशं नष्टः । अक्रूर इव नष्ट इत्यर्थः । एवमजकनाशं नष्टः । चूडकनाशं नष्टः ।
पिषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगो न वक्तव्यः । धुयोग इति वर्तते तत्र प्रत्यासत्तेरभिधानवशाद्वा यत एव घोर्णम्
तस्यैवानुप्रयोगः ।

उपदंशो भायाम् ॥२।४।३३॥ उपपूर्वाद्देशोर्भान्ते वाचि णम् भवति । धुयोग इति च वर्तते । एक-
कर्तृकादिति च पूर्वकालत्वं संभवतः संबन्धनीयम् । मूलकोपदंशं भुङ्क्ते । मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते । “वा भादि”
[१।३।८४] इति विभाषया वाक्यः । इत ऊर्ध्वं यानि वाक्यसंज्ञकानि वक्ष्यन्ते तानि भादिग्रहणेन गृह्यन्ते ।
सर्वत्रास्मिन् प्रकरणे वेत्यनुवर्तते । तेन क्त्वाऽपि भवति । मूलकेनोपदंश्य भुङ्क्ते । कर्मणः साधकतमत्व-
विवक्षायां भा भवति । अथवा उपदंशिगुणस्य भुञ्जेरेतत्करणम् ।

हिंसार्थादेककर्मकात् ॥२।४।३४॥ भायामिति वर्तते । हिंसार्थेभ्यो धुभ्योऽनुप्रयोगेणैककर्मकेभ्यो
भान्ते वाचि णम् भवति । दण्डाघातं गाः सादयति । दण्डेनाघातम् । “करणे” [२।४।३४] इत्यनेन हन्तेर्यः
पूर्वनिर्णयेन णम् विहितस्तस्यैवानुप्रयोगो द्रष्टव्यः । हन्तेरन्यदपीहोदाहरणम् । दण्डाताडं गाः कालयति ।
दण्डेनाताडम् । खड्गप्रहारं शत्रून् विजयते । खड्गेन प्रहारम् । एककर्मकादिति किम् ? दण्डेनाहत्य भूमिं
गोपालको गाः सादयति ।

ईपि चोपपोडरुधकर्षः ॥२।४।३५॥ उपपूर्वेभ्यः पीडरुधकर्षेभ्य ईपि वाचि चकाराद्भान्ते वाचि-
णम् भवति । उपशब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्ध्यते । व्रजेपरोधम् । व्रजे उपरोधम् । व्रजेनोपरोधम् । पार्श्वो-
पपीडं शेते । पार्श्वीभ्यामुपपीडम् । पार्श्वयोरोधपीडम् । पायुपकर्षं धानाः पिनष्टि । पाण्यापुपकर्षम् ।
पाणिनोपकर्षम् ।

प्रमाणासत्त्योः ॥२।४।३६॥ ईपि भावां चेति वर्तते । प्रमाणमायाममानम् । आसत्तिः सन्निकर्षः ।
ईबन्ते भान्ते वाचि घोर्णम् भवति प्रमाणासत्त्योर्गम्यमानयोः । द्वयङ्गुलोत्कर्षं गण्डकाशिल्लनत्ति । त्र्यङ्गुलो-
त्कर्षम् । त्र्यङ्गुलेनोत्कर्षम् । त्र्यङ्गुले उत्कर्षम् । आसत्तौ । केशग्राहं युध्यन्ते । केशेषु ग्राहं केशीग्राहम् । सन्निक्वष्टं
युध्यन्ते इत्यर्थः । एवमस्यपनोदं युध्यन्ते । असिष्वपनोदम् । असिभिरपनोदम् । हस्तग्राहम् । हस्तेषु ग्राहम् ।
हस्तैर्ग्राहम् ।

त्वर्थपादाने ॥२।४।३७॥ त्वरयां त्वरा त्वरीति सौत्रमात्त्वम् । त्वरायां गम्यमानायामपादाने
वाचि घोर्णम् भवति । शय्योत्थायं धावति । शय्याया उत्थाय । मुखप्रक्षालनाद्यवश्यकार्यमकृत्वा त्वरत
इत्यर्थः । एवं स्तनरन्ध्रापकर्षं पयः पिबति । स्तनरन्ध्रादपकर्षम् । भ्राष्टापकर्षमपूपान् भक्षयति । भ्राष्टापद-
कर्षम् । वेत्यनुवर्तनात् शय्याया उत्थाय धावति । त्वरीति किम् ? आसनादुत्थाय गच्छति ।

इपि ॥२।४।३८॥ त्वरीति वर्तते । इबन्ते वाचि त्वरायां गम्यमानायां घोर्णम् भवति । यष्टिग्राहं
युध्यन्ते । यष्टिं ग्राहम् । त्वरया युद्धप्रहरणमनपेक्ष यष्टिमादाय युध्यते इत्यर्थः । एवं पटापकर्षं धावन्ति
पटमपकर्षम् । त्वरीत्येव । खड्गं गृहीत्वा युध्यन्ते ।

स्वाङ्गेऽध्रुवे ॥२।४।३९॥ इपीति वर्तते । यस्मिन्विनष्टेऽपि प्राणिनां मरणं न भवति तदध्रुवं स्वाङ्गम् । तस्मिन्निवन्ते वाचि धोर्याम् भवति । अद्भिन्निकोचं जल्पति । अद्भ्यां निकोचम् । भ्रूक्षेपं जल्पति । भ्रुवं क्षेपम् । अंगुलिनिकोटं जल्पति । अंगुलिं निकोटं जल्पति । अध्रुव इति किम् ? शिर उक्त्वप्य जल्पति ।

अद्रवं मूर्तिमत्स्वांगं प्राणस्थमविकारकम् । अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तथायुतम् ।

आञ्चैश्वर्यभिर्विशेषणैर्लाञ्छुद्धिफलशोफादिरहितप्राणस्थं वस्तु स्वाङ्गमुक्तम् । अतत्स्थं तत्र दृष्टं चेत्यनेन भूमिपतितकेशादिपरिग्रहः । तेन चेत्तथायुतमित्यनेन काष्ठादिप्रतिमायां स्थितं पाण्यादि संश्र्णीतम् ।

सक्लेशे ॥२।४।४०॥ इपीति वर्तते स्वाङ्ग इति वा । सह क्लेशेन दुःखेन वर्तते इति सक्लेशं क्लिश्यमानमित्यर्थः । इवन्ते सक्लेशे स्वाङ्गे वाचि धोर्याम् भवति । ध्रुवाधोऽयमारम्भः । उरःप्रतिषेधं युध्यन्ते । उरांसि प्रतिषेधम् । उरांसि पीडयन्तो युध्यन्ते इत्यर्थः । एवं शिरःप्रतिषेधम् । शिरांसि प्रतिषेधम् ।

विशिपतिपदिस्कन्दो व्याप्यासेव्ययोः ॥२।४।४१॥ इपीति वर्तते । विश्यादिभिः कात्स्न्येन व्यापनीयद्रव्यं व्याप्यम् । क्रियारूपं तात्पर्येण आसेवनीयमासेव्यम् । क्रियाधारभूतमुपचाराद्द्रव्यमप्यासेव्यम् । विशि पति पदि स्कन्द इत्येतेभ्यो धुम्यः व्याप्य आसेव्ये च वाचि णम् भवति । गेहानुप्रवेशमास्ते । वृत्त्या व्यापनस्यासेवनस्य चोक्तत्वात् द्वित्वं न भवति । वाक्यपक्षे व्याप्यमानस्य द्रव्यस्य द्वित्वम् । आसेव्यविवक्षायां तु मुख्यस्यासेव्यस्य क्रियारूपस्य द्वित्वम् । गेहं गेहमनुप्रवेशमास्ते । गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशमास्ते । गेहानु-प्रपातमास्ते । गेहं गेहमनुप्रपातम् । गेहमनुप्रपातमनुप्रपातमास्ते । गेहमनुप्रपादमास्ते । गेहं गेहमनुप्रपादम् । गेहमनुप्रपादमनुप्रपादम् । गेहावस्कन्दमास्ते । गेहं गेहमवस्कन्दम् । गेहमवस्कन्दमवस्कन्दम् । वेत्यधिकारात् गेहं गेहमनुप्रविश्य गेहमनुप्रविश्यानुप्रविश्यास्ते । वीभ्सायामाभीक्ष्ये च द्वित्वम् । व्याप्यासेव्ययोरिति किम् ? गेहमनुप्रविश्य भुङ्क्ते । “णम् चाभीक्ष्ये” [२।४।८] इति यद्यप्यासेव्ये णम् सिद्धः, तथापि वाक्सविकल्पार्थमिदम् ।

तृष्यस्वोः क्रियान्तरे काले ॥२।४।४२॥ इपीति वर्तते । इवन्ते कालवाचिनि वाचि तृषि असु इत्येताभ्यां णम् भवति क्रियान्तरार्थे यद्यनुप्रयुज्यमानक्रियापेक्षया क्रियान्तरे वृत्तिरित्यर्थः । द्व्यहापतर्षं गाः पाययति । द्व्यहमपतर्षम् । त्र्यहापतर्षम् । त्र्यहमपतर्षम् । द्व्यहात्यासं गाः पाययति । द्व्यहमत्यासम् । त्र्यहात्यासम् । त्र्यहमत्यासम् । कालाध्वन्यविच्छेद इतीप् । तृष्यस्वोरिति किम् ? द्व्यहमुपोष्य भुङ्क्ते । क्रियान्तर इति किम् ? अहरत्यस्य गतः । अत्रात्यतिर्न क्रियान्तरे वर्तते किन्तु गतावेव । काल इति किम् ? पञ्च पुलान् अत्यस्य तिलान् भक्षयति ।

नाम्न्यादिशिग्रहः ॥२।४।४३॥ इपीति वर्तते । इवन्ते नामशब्दे वाचि आदिशिग्रहिभ्यां णम् भवति । नामादेशमाचष्टे । नामान्यादेशम् । नामग्राहमाकारयति । नामानि ग्राहम् ।

भावनिशोक्तौ कृजः क्त्वाणमौ ॥२।४।४४॥ भित्तसंज्ञके वाचि अनिशोक्तौ गम्यमानायां कृजः क्त्वाणमौ भवतः । वेत्यधिकारात् क्त्वात्ये सिद्धे पुनः क्त्वाग्रहणं क्त्वा इत्यनेन वृत्तिविकल्पार्थम् । मादीति तत्र वर्तते तेनोत्सर्गे क्त्वात्ये सविकल्पो न स्यात् । ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः किं तर्हि वृषल नीचैः कृत्याचष्टे । नीचैः कृत्वा । नीचैः कारम् । उच्चैर्नाम प्रथमाख्येयम् । नीचैराख्यायमानमनिष्टं भवति । ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी । तर्हि वृषल उच्चैः कृत्याऽचष्टे । उच्चैः कृत्वा । उच्चैः कारम् । कन्यागर्भः उच्चैराख्यायमानोऽनिष्टः । अनिशोक्ताविति किम् ? उच्चैः कृत्याचष्टे पुत्रस्ते जातः ।

तिरश्च्यपवर्गे ॥२।४।४५॥ अपवर्गः समाप्तिः । तिर्यक्छब्दे वाचि अपवर्गे गम्यमाने कृजः क्त्वाणमौ

भवतः । तिर्यक्कृत्य गतः । तिर्यक्कृत्वा । तिर्यक्कारम् । समाप्य गत इत्यर्थः । अपवर्ग इति किम् ? तिर्यक् कृत्वा काष्ठं गतः । तिरश्चीति तिर्यक्छन्दानुकरणनिर्देशः । “प्रकृतिवदनुकरणं भवति” [परि०] इति रूपसिद्धिः ।

स्वाङ्गे तस्ये कृभुवः ॥२।४।४६॥ तस्यो यस्मात्तथोक्तम् । तस्ये स्वाङ्गे वाचि कृ भू इत्येताभ्यां क्वाणमौ भवतः । भिन्नयोगनिर्दिष्टलाघथासंख्यमत्र न भवति । मुखतःकृत्य गतः । मुखतः कृत्वा । मुखतः-कारम् । पृष्ठतःकृत्य । पृष्ठतः कृत्वा । पृष्ठतःकारम् । मुखतोभूय । मुखतोभूत्वा । मुखतोभावम् । पृष्ठतोभूय । पृष्ठतोभूत्वा । पृष्ठतोभावम् । “अपादानेऽहीयहोः” [३।२।२०] इति “आदिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] इति वा तसिः । स्वाङ्ग इति किम् ? सर्वतःकृत्वा । तस्यग्रहणं किम् ? सुखीकृत्य गतः । त्यग्रहणं किम् ? मुखे तस्यति मुखतः । अमुखतसं मुखतसं कृत्वा सुखतःकृत्य ।

नाघार्थत्ये च्च्यर्थे ॥२।४।४७॥ नार्थो धार्थश्च त्यो यस्मात्स तथोक्तः । नार्थत्ये धार्थत्ये च शब्दे च्च्यर्थे वाचि कृ भू इत्येताभ्यां क्वाणमौ भवतः । नार्थत्ये-विनाकृत्य गतः । विनाकृत्वा । विनाकारम् । विनाभूय । विनाभूत्वा । विनाभावम् । अनाना नाना कृत्य गतः । नानाकृत्वा । नानाकारम् । नानाभूय । नानाभूत्वा । नानाभावम् । “विनञ्भ्यां नानाञौ न सह” [३।१।१४७] इति नानाञौ भवतः । धार्थे त्ये-अद्विधा द्विधा कृत्य गतः । द्विधाकृत्वा । द्विधाकारम् । द्विधाभूय । द्विधाभूत्वा । द्विधाभावम् । अद्वैधं द्वैधं कृत्य गतः । द्वैधं कृत्वा । द्वैधंकारम् । द्वैधं भूय । द्वैधं भूत्वा । द्वैधं भावम् । अद्वेधा द्वेधा कृत्य गतः । द्वेधाकृत्वा । द्वेधाकारम् । द्वेधाभूय । द्वेधाभूत्वा । द्वेधाभावम् । “संख्याया विघाथे धा” [४।१।१०६] “द्वित्रेधमुञ्” [४।१।१०८] एकधा । ऐक्यम् । “वैकाद्वयमुञ्” [४।१।१०७] । अर्थग्रहणं स्वरूपमात्रनिरासार्थम् । त्यग्रहणं किम् ? नाघार्थे वाचीत्युच्यमाने इहापि स्यात् । अहिरेक् हिरेक्कृत्वा पृथक्कृत्वा च्चिर्विकल्पेन विधास्यते । च्च्यर्थमात्रमत्र विवक्षितं न च्चिः । अर्थ इति किम् ? नाना कृत्वा काष्ठानि गतः ।

तूष्णीमि भुवः ॥२।४।४८॥ तूष्णीमशब्दे वाचि भू इत्येतस्मात् क्वाणमौ भवतः । तूष्णीभूयास्ते । तूष्णीं भूत्वा । तूष्णींभावम् ।

अन्वच्यानुलोम्ये ॥२।४।४९॥ आनुलोम्यमनुकूलता । अन्वच्छब्दे वाचि आनुलोम्ये गम्यमाने भुवः क्वाणमौ भवतः । अन्वग्भूत्वा । अन्वग्भावम् । आनुलोम्य इति किम् ? अन्वग्भूत्वा आस्ते । पश्चाद्भूत्वेत्यर्थः । अन्वचीति निर्देशः प्रकृतिवदनुकरणमिति न्यायात् ।

शकधृषज्ञागलाघटरभलभक्रमसहार्हारत्यर्थे तुम् ॥२।४।५०॥ शकादिषु अस्त्यर्थेषु च धुषु वाञ्छु धोस्तुम् भवति । शक्नोति भोक्तुम् । धृष्णोति भोक्तुम् । जानाति भोक्तुम् । ग्लायति भोक्तुम् । घटते भोक्तुम् । आरभते भोक्तुम् । लभते भोक्तुम् । प्रक्रमते भोक्तुम् । सहते भोक्तुम् । अर्हति भोक्तुम् । अस्त्यर्थेषु-अस्ति भोक्तुम् । भवति भोक्तुम् । विद्यते भोक्तुम् । क्रियायां तदर्थायां वाचि तुम् विहितः । अतदर्थायामपि यथा स्यादित्यारम्भः ।

पर्याप्तिवचनेऽलमर्थे ॥२।४।५१॥ पर्याप्तिः प्रभूतत्वं सामर्थ्यं च अलमर्थेन विशेष्यमाणात्वात्सामर्थ्यमेवावतिष्ठते । पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थविशिष्टेषु वाञ्छु धोस्तुम् भवति । पर्याप्तो भोक्तुम् । समर्थो भोक्तुम् । प्रभुर्भोक्तुम् । अलं भोक्तुम् । पारयति भोक्तुम् । इदमप्यस्योदाहरणम् । युक्तं पुनरिदं विचारयितुम् । “वा भादि” [१।३।८४] इति षसे न भवति । अमैवेति तत्र वर्तते । पर्याप्तिवचन इति किम् ? अलङ्कृते कन्याम् । अलं रुदित्वा । समर्थेष्विति वक्तव्ये गुरुकरणां किम् ? सामर्थ्यमात्रे मा भूत् । शक्त्या भुङ्क्ते । बलेन भुङ्क्ते । अलमर्थे इति किम् ? पर्याप्तं भुङ्क्ते । प्रभूतं भुङ्क्ते । अन्यूनं भुङ्क्ते । पूर्वसूत्रे शक्तिः सौकर्ये वर्तते नालमर्थे ।

कर्तरि कृत ॥२।४।५२॥ कर्तरि कारके कृत्संज्ञास्या भवन्ति । अनिर्दिष्टार्थास्याः स्वार्थे भावे प्राप्ताः । कारकः । कर्ता । ये कृतः कर्तरि नेष्टाः तेषां करणाधिकरणयोर्युङ्गित्येवमादिरपवाद उक्तः ।

भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा ॥२।४।५३॥ भव्य इत्येवमादयः शब्दाः कर्तरि वा निपात्यन्ते । “तयोर्व्यङ्ग्यार्थः” [२।४।५५] इत्यस्मिन् प्राप्ते पक्षे कर्तरि विधानम् । भवत्यसौ भव्यः । भव्यमनेनेति वा । गेयो माणवकः षडङ्गस्य । गेयो माणवकेन षडङ्गः । प्रवचनीयो गुरुः शास्त्रस्य । प्रवचनीयं शास्त्रं गुदणा । उपस्थानीयः शिष्यो गुरोः । उपस्थानीयो गुरुः शिष्येण । जायते असौ जन्यः । जन्यमनेन । “जनिवध्योः” [१।२।४०] इत्यैपप्रतिषेधः । अथवा “शकिसहश्च” [२।१।८६] इति चकारेण जनेर्यः । आप्लावतेऽसौ आप्लाव्यः । आप्लाव्यमनेन । आपततीत्यापात्यः । आपात्यमनेन ।

लः कर्मणि च भावे च धेः ॥२।४।५४॥ ल इति लडादीनां नवानामुत्सृष्टानुबन्धानां सामान्येन ग्रहणं जसा च निर्देशः । लकाराः सकर्मकेभ्यो धुःभ्यः कर्मणि कर्तरि च कारके भवन्ति, भावे कर्तरि च धिसंज्ञेभ्यः । कर्मणि—क्रियते कटः । गम्यते ग्रामः । कर्तरि—करोति कटम् । गच्छति ग्रामम् । धेर्भावे—आस्यते भवता । सुप्यते । कर्तरि—आस्ते भवान् । स्वपिति भवान् । लो ङौ चेति वक्तव्ये प्रपञ्चेन निर्देशः किमर्थः ? सकर्मकेभ्यो लो भावे मा भूवन् ।

तयोर्व्यङ्ग्यार्थः ॥२।४।५५॥ तयोर्भावकर्मणोः व्यसंज्ञश्च कृश्च खार्थाश्च भवन्ति । “कर्तरि कृत” [२।४।५२] इत्यस्यायमपवादः । कर्मणि—कर्तव्यः कटो भवता । भोक्तव्य ओदनो भवता । भावे—आसितव्यं भवता । शयितव्यं भवता । कृतः कर्मणि । कृतः कटो भवता । भुक्त ओदनो भवता । भावे—आसितं भवता । शयितं भवता । खार्थाः कर्मणि—ईषत्करः कटो भवता । सुकरः कटो भवता । सुपानं पयो भवता । दुष्पानं पयो भवता । भावे—स्वासं भवता । दुरासं भवता । सुग्लानं भवता । दुर्ग्लानं भवता । आत्मकर्मविवक्षायां व्यङ्ग्यार्थप्रयोगविषये सकर्मका अप्यविवक्षितकर्मकत्वेनाकर्मकाः । तेन भावे व्यादयः । भेत्तव्यं कुशूलेन स्वयमेव । भावकर्मग्रहणे तु वर्तमाने तयोरिति ग्रहणं यथाविधिप्रतिपादनार्थं सकर्मकेभ्यः कर्मण्यकर्मकेभ्यो भाव इति ।

कर्तरि चारम्भे क्तः ॥२।४।५६॥ आरम्भः आद्यः क्रियात्त्वात् । आरम्भे यो धुर्वर्तते तस्माद्यः क्तः स कर्तरि भवति यथाप्राप्तं च भावकर्मणोः । प्रकृतो भवान् कटम् । प्रकृतः कटो भवता । प्रकृतं भवता । प्रभुक्तो भवानोदनम् । प्रभुक्तः ओदनो भवता । प्रभुक्तं भवता । धिभ्यस्तु “क्षिगत्यार्थाश्च” [२।४।५८] इति वक्ष्यति । आद्यक्रियात्त्वात्काले । कटो नाभिनिवृत्तः तस्योपचारात् भूतकालेन प्रकृतशब्देन सामानाधिकरण्यम् ।

शिलषशीङ्स्थासवसजनरुहजृपरश्च ॥२।४।५७॥ शिलषादिभ्यः कर्तरि क्तो भवति यथाप्राप्तं च भावकर्मणोः । “क्षिगत्यार्थाश्च” [२।४।५८] इति सिद्धे इह सकर्मकार्थमुपादानम् । इदमेव शापकम् । अकर्मका (सकर्मका) अपि भवन्ति । आशिलषः कन्या देवदत्तः । आशिलषा कन्या देवदत्तेन । आशिलषं देवदत्तस्य । अतिशयितो गुरुं भवान् । अतिशयितो भवता गुरुः । अतिशयितं भवतः । उपस्थितो गुरुं भवान् । उपस्थितो भवता गुरुः । उपस्थितं भवतः । उपासितो गुरुं भवान् । उपासितो भवता गुरुः । उपासितं भवतः । अनूषितो गुरुं भवान् । अनूषितो भवता गुरुः । अनूषितं भवतः । अनुजातो माणवको माणविकाम् । अनुजाता माणविका माणवकेण । अनुजातं माणवकस्य । आरूढो वृद्धं देवदत्तः । आरूढ वृद्धो

१. षडङ्गस्य व०, स० । २. षडङ्गः व०, स० । ३. चाधेः मु० । ४. खार्थौ च अ०, व०, स० ।

खार्थौ अ०, व०, स० ।

देवदत्तेन । आरूढं देवदत्तस्य । अनुजीर्णां वृषलीं देवदत्तः । अनुजीर्णां वृषलीं देवदत्तेन । अनुजीर्णां देवदत्तस्य । स्नेहगत्यर्थत्वादपि गत्यर्थकार्यं न भवति । आरोहयति वृद्धं देवदत्तेन । कर्मसंज्ञा न भवति ।

धिगत्यर्थाच्च ॥२।४।१८॥ धिसंज्ञेभ्यः गत्यर्थेभ्यश्च धुभ्यः क्तस्त्यः कर्तरि भवति यथाप्राप्तं च । आसितो भवान् । आसितं भवता । शयितो भवान् । शयितं भवता । गत्यर्थेभ्यः-गतो भवान् ग्रामम् । गतो भवता ग्रामः । गतं भवता । यातो भवान् । यातो भवता ग्रामः । यातं भवता । “काळभावाध्वभिः कर्मभिः सकर्मकवद्भवति” [वा०] वत्करणात् स्वाश्रयमपि भवति । अतस्त्रैरूप्यम् । सुतो भवान् मासम् । सुतो भवता मासः । सुतं भवता । ओदनपाकं सुतो भवान् । ओदनपाकः सुतो भवता । ओदनपाकं सुतं भवता । क्रोशं सुतो भवान् । क्रोशः सुतो भवता । क्रोशं सुतं भवता ।

अधिकरणे चाद्यर्थाच्च ॥२।४।१९॥ क्त इति वर्तते । अद्यर्था अभ्यवहारार्थाः । अद्यर्थेभ्यो धिगत्यर्थेभ्यश्च क्तोऽधिकरणे भवति कर्तरि भावे कर्मणि च । यथाप्राप्तं कर्तृकर्मभावेषु । अद्यर्थेभ्यः अधिकरणकर्मभावेषु क्तः । अधिकरणे अस्मिन्निमे भुञ्जते स्म इदमेषां भुक्तम् । इदमेषां पीतम् । “क्तस्याधिकरणे” [१।४।७०] इति कर्तरि ता । कर्मणि-एभिर्भुक्त ओदनः । एभिः पीतं मधु । भावे-भुक्तमेभिः । पीतमेभिः । धिभ्योऽधिकरणकर्तृभावेषु क्तः । अधिकरणे-इदमेषां मासितम् । आशितो भवान् । आसितं भवता । गत्यर्थेभ्यः अधिकरणकर्तृकर्मभावेषु क्तः । अधिकरणे-इदमेषां यातम् । यातो देवदत्तेन ग्रामम् । यातो देवदत्तेन ग्रामः । यातं देवदत्तेन । इह विभुक्ताः भ्रातरः पीता गावः इति मत्वर्थयोऽकारः ।

दासगोघ्नौ संप्रदाने ॥२।४।६०॥ दास गोघ्न इत्येतौ शब्दौ निपात्येते संप्रदाने कारके । दासतेऽस्मै पचाद्यचि दासः । गां हन्ति अस्मै आगताय गोघ्नोऽतिथिः । टगत्र निपात्यः । स्त्रियां गोघ्नी देवदत्ता ।

भीमादयोऽपादाने ॥२।४।६१॥ भीमादयः शब्दा अपादाने कारके ज्ञातव्याः । भीमादयः शब्दा अन्यत्र साधिताः कारकनियमार्थमिह तेषां पाठः । विभेत्यस्मादिति भीमः । भीष्मः । भयानकः । चरुः । प्रस्कन्दनम् । प्रयतनम् । समुद्रवन्त्यजात् समुद्रः । लुवः । लुक् । शृष्टिः । रक्षा । संकसन्ति तस्मात् संकसुकः । खलिनः ।

उणादयोऽन्यत्राभ्याम् ॥२।४।६२॥ उणादयस्त्या आभ्यां संप्रदानापादानाभ्यामन्येषु कारकेषु भवन्ति । करोतीति कारुः । वृश्चिति तं वृद्धः । कषितोऽसौ कषिः । ततोऽसौ तन्तुः । वृत्तं तत्र कर्म । चरितं तत्रेति चर्म । भसितं तत्रेति भस्म । ऋचन्ति तथा ऋक् ।

लस्य ॥२।४।६३॥ अकार उच्चारणार्थः । लस्येत्ययमधिकारः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो लस्य स्थाने तद्वेदितव्यम् । नव लकाराः पञ्च टितश्चत्वारो ङितः-लट् लिट् लृट् लृट् लोट् लङ् लिङ् लुङ् लृङ् । एषामनुबन्धापायेन लकारमात्रं स्थानित्वेनाधिक्रियते । त्य इति वर्तते धोरिति च । धोर्विहितस्य त्यस्य लकारस्य ग्रहणात् लभते चूडाल इत्येवमादि परिहृतम् ।

मिब्वस्मस्लिप्थस्थतितस्मोड्वहिमहिथासाथां ध्वंतात्तां भुङ् ॥२।४।६४॥ लस्य स्थाने मिबादयः आदेशा भवन्ति । पकारः “गोऽपित्” [१।१।७८] इति विशेषणार्थः । इट्टकारो “रञ्जमेटः” [२।४।८६] इति विशेषणार्थः । भुङो डकारः प्रत्याहारार्थः । पचामि । पचावः । पचामः । पचसि । पचथः । पचथ । पचति । पचतः । पचन्ति । टितां दविषये आदेशान्तराणि वक्ष्यन्ते । लियो मानां खलादयः आदेशाः वक्ष्यन्ते । लुट् । पक्तासि । पक्तास्वः । पक्तासः । इत्येवमादि ज्ञेयम् । लृट् । पक्ष्यामि । पक्ष्यावः । पक्ष्यामः । लोट् आदेशाः वक्ष्यन्ते । ङितां लकाराणां मविषये च इह तानुदाहरिष्यामः ।

लङ् । अपचे । अपचावहि । अपचामहि । वक्ष्यते लिङ् । लुङ् । अपक्षि । अपक्ष्वहि । अपक्षमहि । लृङ् । अपक्ष्ये । अपक्ष्यावहि । अपक्ष्यामहि ।

टिद्धटेरे ॥२।४।६५॥ टितां लकाराणां ये दास्तेषां टेरेत्वं भवति । यत्र एक एवाच् तत्र व्यपदेशिवद्भावादन्तत्वमुक्तम् । यत्र च तदादिरन्यो नास्ति तत्रापि व्यपदेशिवद्भावात्तदादित्वम् । पचे । पचावहे । पचामहे । “थासः से” [२।४।६६] इति वक्ष्यति । पचसे । पचेथे । पचध्वे । पचते । पचेते । पचन्ते । लिट् । पेचे । पेचिवहे । पेचिमहे । लुट् । पक्काहे । पक्कास्वहे । पक्कास्महे । लृट् । पक्ष्ये । पक्ष्यावहे । पक्ष्यामहे । लोटो वक्ष्यति । प्रकृतानां मिडां दस्य टेरेत्वम् । तेनेह न भवति । पचमान इति ।

थासः से ॥२।४।६६॥ टिद्ग्रहणमनुवर्तते । टितो लकारस्य थासः स इत्ययमादेशो भवति । पचसे । पेचिषे । पक्कासे । पक्ष्यसे ।

“एश्विरेसेविधानेषु किं स्यादेत्वे प्रयोजनम् । आदेशो तु कृते मा भूत् ज्ञापकं भवितादिषु ।”

लिटस्तभयोरेशिरे ॥२।४।६७॥ लिङादेशयोस्त भ इत्येतयोः एश् इरे इत्येतावादेशौ भवतः । शकारः सर्वादेशार्थः । परस्यादिर्मा भूत् । पेचे । पेचिरे । नेमे । नेमिरे ।

मानां णत्वमथाथुसणलतुसुसः ॥२।४।६८॥ लिट इति वर्तते । लियो मानां स्थाने यथासंख्यं णलादयो नव आदेशा भवन्ति । णकारः ऐवर्थः । लकारः सर्वादेशार्थः । अ इति द्वयोरकारयोः प्ररलेष-निर्देशः सर्वादेशार्थः । अन्त्यस्याकारस्याकारवचने प्रयोजनाभावात् सर्वादेश इति चेत् समसंख्यत्वं प्रयोजनं संभाव्येत । अथवा धोरिति कानिर्देशात् परस्यादेशकारस्याकारः । पपाच । पेचिव । पेचिम । पपक्ष्य । पेचिथ । पेचथुः । पेच । पपाच । पेचतुः । पेचुः । “बोपदेशे” [५।१।१०८] इत्यादिना वेट् । “सेटि” [४।४।१११] इति एत्वं च । वमयोः क्रादिनियमादिद् ।

विदो लटो वा ॥२।४।६९॥ मानामिति वर्तते । वेत्तेरुत्तरेषां लटो मानां स्थाने वा णलादयो भवन्ति । वेद । विद्व । विन्न । वेत्थ । विदथुः । विद । वेद । विदतुः । विदुः । न च भवन्ति । वेद्धि । विद्वः । विन्नः । वेत्सि । वित्थः । वित्थ । वेत्ति । वित्तः । विदन्ति । विद इति कानिर्देशात् ज्ञानार्थस्य ग्रहणम् । लामार्थस्य शेन व्यवधानात् ।

ब्रुव आहश्च ॥२।४।७०॥ मानामिति वर्तते । लटो वेति वर्तते । ब्रुव उत्तरस्य लटो मानां वा णलादयो भवन्ति । तत्सन्नियोगे ब्रुव आहादेशः । अकार उच्चारणार्थः । “न थास्मदः” [२।४।७१] इत्युत्तरप्रतिषेधादत्र पञ्चग्रहणम् । आत्थ । आहथुः । आह । आहतुः । आहुः । सिपस्थे कृते “आहस्थः” [५।३।५२] इति हकारस्य थकारः । “खरि” [२।४।१३०] इति चर्त्वम् । यद्यत्र स्थानिवद्भावात् “ब्रुव ईट्” [५।३।६१] इति ईट् स्यात् भलादिप्रकरणे “आहस्थः” [२।३।६२] इति वचनमनर्थकं स्यात् । न च भवति । ब्रवीषि । ब्रूथः । ब्रवीति । ब्रूतः । ब्रुवन्ति ।

न थास्मदः ॥२।४।७१॥ ब्रूजः परस्य थस्यास्मदश्च पूर्वोक्ता आदेशा न भवन्ति । ब्रूथ । ब्रवीमि । ब्रूवः । ब्रूमः ।

लोटो लङ् चत् ॥२।४।७२॥ लोटो लङ् इव कार्यं भवति । लोडादेशानां लङादेशानामिव कार्य-मतिदिश्यते इत्यर्थः । पचाव । पचाम । छितः सखं सिद्धम् । पचतम् । पचत । पचताम् । “मिप्यस्थतसो-ऽसूतंतताम्” [२।४।८२] इत्येतत् सिद्धम् । ‘एहः’ [२।४।७३] इति उकारः पुरस्तादपवादन्यायेन ‘एम्’ [२।४।८१] इति इलमेव बाधते न जुसादेशम् । एवं च यथा अद्गुः अद्गुरिति भवति तथा यान्दु पान्दु इत्यत्रापि जुसादेशः प्राप्नोति । नैष दोषः । वक्ष्यते ‘आवः’ [२।४।६०]-“लङो वा”

[२।४।११] इत्यत्र लङ् ग्रहणस्य प्रयोजनं लङेव यो लङ् तस्य जुष् भवति अतिदेशेन यो लङ् तस्य मा भूत् । लङ्वदिति तांताद्वत् (अमृतताम्बत्) तैनाडागमो न भवति ।

एरुः ॥२।४।७३॥ लोट इति वर्तते मानामिति च । लोये मानामिकारस्य उकारादेशो भवति । इखस्यापवादः । पचतु । पचन्तु । करोतु । कुर्वन्तु । मिप्तिपोरादेशान्तरमुत्वस्य बाधकं वक्ष्यते ।

सेह्यपिच्च ॥२।४।७४॥ लोट इति वर्तते । सेह्यरादेशो भवति अपिच्च । लुनीहि । पुनीहि । आप्नुहि । राप्नुहि ।

मेनिः ॥२।४।७५॥ लोये मेनिरित्ययमादेशो भवति । पचानि । करवाणि ।

आमेतः ॥२।४।७६॥ लोट इति वर्तते । लोडादेशस्य य एकारस्तस्य आमित्ययमादेशो भवति । निर्दिश्यमानस्यादेशो भवति । पचेथाम् । पचताम् । पचेताम् । पचन्ताम् ।

स्वो वामौ ॥२।४।७७॥ लोट इति वर्तते एत इति च । सकारवकाराभ्यां परस्य एतो व अम् इत्येता-
वादेशौ भवतः । पचस्व । पचध्वम् । वयस्व । वयध्वम् ।

पिच्चाडस्मदः ॥२।४।७८॥ लोट इति वर्तते । लोटोऽस्मदः आडागमो भवति पिच्च । करवाणि ।
करवाव । करवाम । करवै । करवावहै । करवामहै ।

एत ए ॥२।४।७९॥ लोटोऽस्मद इति वर्तते । लोटोऽस्मदः एकारस्यैकारादेशो भवति । निर्दिश्य-
मानस्यादेशोऽयमामोऽपवादः । करवै । करवावहै । करवामहै । चिनवै । चिनवावहै । चिनवामहै ।

ङितः सखम् ॥२।४।८०॥ अस्मद इत्येव । ङितो लकारस्य योऽस्मत्तस्य सखं भवति । लङ्-
अपचाव । अपचाम । लिङ्-पचेव । लुङ्-अपाद्व । अपाद्वम् । लृङ्-अपक्ष्याव । अपक्ष्याम् ।

एम् ॥२।४।८१॥ ङित इति वर्तते । ङित्लकारसम्बन्धिन इकारस्य खं भवति मविषये । लङ्-
अपचः । अपचत् । अपचन् । लिङ्-पचेरन् । पचेत् । लुङ्-अपाक्षीः । अपाक्षीत् । लृङ्-अपक्ष्यः ।
अपक्ष्यत् । अपक्ष्यन् । म इति किम् ? अपचावहि । अपचामहि ।

मिप्यस्थतसोऽमृतताम् ॥२।४।८२॥ ङितां लकाराणां मिप् थस् थ तस् इत्येतेषां यथासंख्यं
अम् तं त ताम् इत्येते आदेशा भवन्ति । अपचम् । अपचतम् । अपचत । अपचताम् । लिङ्-पचेयम् ।
पचेतम् । पचेत । पचेताम् । लुङ्-अपाक्षम् । अपाक्षम् । अपाक्ष । अपाक्षाम् । “वदव्रज (व्रजवद)”
[१।१।७६] इत्यादिनैप् । “ऋलो ऋळि” [५।३।४४] इति सखम् । लृङ्-अपक्ष्यम् । अपक्ष्यतम् ।
अपक्ष्यत । अपक्ष्यताम् ।

लिङः सीयुट् ॥२।४।८३॥ लिङादेशानां सीयुडागमो भवति । मे यासुद्ये विधानाद्दे सीयुट् द्रष्टव्यः ।
टकारः “टिदादिः” [१।१।५३] इति विशेषणार्थः । उकार उच्चारणार्थः । पचेय । पचेवहि । पचेमहि ।
पचेथाः । पचेयाथाम् । पचेध्वम् । पचेत । पचेयाताम् । पचेरन् । “रुदादेर्गे” [१।१।१३५] इति वर्तमाने
“लिङोऽनन्यसखम्” [१।१।१३८] इति सीयुट्सकारस्य “सुट्तथोः” [२।४।८७] इति सुट्सकारस्य च
खम् । आशिषि लिङ्-पक्षीय । पक्षीवहि । पक्षीमहि । पक्षीषाः । पक्षीयास्थाम् । पक्षीध्वम् । पक्षीष्ट ।
पक्षीयास्ताम् । पक्षीरन् ।

यासुण् मो ङित् ॥२।४।८४॥ लिङ इति वर्तते । लिङो मविषयस्य यासुडागमो भवति ङित् ।
सीयुद्योऽपवादोऽयम् । अत्र “किदाशिषि” [२।४।८२] इति वचनात् विद्यादिलक्षणास्य लिङ इहोदाहरणम् ।

कुर्याम् । कुर्याव । कुर्याम । कुर्याः । कुर्यातम् । कुर्यात । कुर्यात् । कुर्याताम् । कुर्युः । “कृजो ये च” [४।४।१६] इति विकरणस्य खम् । “क्वेर्लु” [२।४।८८] इति जुम् । “उसि” [४।३।८३] इति पररूपम् । स्थानिबन्दावादेव लिङादेशस्य डिन्वे सिद्धे यासुद्यो डिङ्गचनं ज्ञापकं लकाराश्रयमादेशानां डिन्वं च न भवति । तेन अचिनवमित्येप् सिद्धः । पचमाना स्त्री । टित इति ङेत्यो न भवति ।

किङ्काशिषि ॥२।४।८६॥ आशिषि लिङो यासुट् किङ्गपति । डिन्वे प्राप्ते कित्त्वं विधीयते । व्यर्थं जागर्तेरेवर्थं च । उह्यासम् । उह्यास्व । उह्यास्म । उह्याः । उह्यास्तम् । उह्यास्त । उह्यात् । उह्यास्ताम् । उह्यासुः । जागर्यासम् । जागर्यास्व । जागर्यास् । “जागुरावनिष्णद्धिति” [१।२।८२] इत्येप् ।

रक्षज्जेष्टः ॥२।४।८६॥ लिङादेशयोर्ज्ञे इट् इत्येतयोर्थथासंख्यं रन् अत् इत्येतावादेशौ भवतः । पचेरन् । पक्षीरन् । “ओऽन्तः” [१।१।३] इत्यस्यापवादोऽयम् । पचेय । पक्षीय । “क्षीयाशीःप्रैषेषु मिङाकाङ्क्षम्” [१।३।१०२] इत्येवमादिना प्राप्तस्य पस्य निवृत्त्यर्थं तपरकरणम् ।

सुट् तथोः ॥२।४।८७॥ लिङो यौ तकारथकारौ तयोः सुडागमो भवति । अगविषये लिङ् प्रयोजयति । गे हल्वेन भवितव्यम् । पक्षीष्ठाः । पक्षीयास्याम् । पक्षीष्ट । पक्षीयास्ताम् ।

भेर्लुस् ॥२।४।८८॥ लिङादेशस्य भेर्लुस्त्वियमादेशो भवति । अन्तादेशापवादः । कुर्युः । क्रियासुः । निर्दिश्यमानस्यादेशो न यासुट् ।

थवित्स्तेः ॥२।४।८९॥ थसंज्ञक वेत्ति सि इत्येतेभ्यः परस्य भेर्लुसादेशो भवति । डित इति वर्तते । तत्र लिङ् आदेश उक्तः । लृङ् स्येन व्यवधानमस्ति । लुङोऽपि सेरिति भविष्यति । पारिशेष्यात्थविद्-ग्रहणं लङ्पर्यम् । अधिभरः । अजागरः । “उसि” (जुसि) [५।२।८०] इत्येप् । विदेः । अविदुः । अकार्षुः । अहार्षुः ।

आतः ॥२।४।९०॥ सेरिति वर्तते । आकारान्तात्सेः परस्य भेर्लुस् भवति । श्रुतिकृतं भेरातः परत्वं सेरुपि कृते त्याश्रयलक्षण्येन सेः परत्वम् । अत उभयगतमानन्तर्यं भेरस्ति । अस्थुः । अगुः । अयुः । अदुः । अधुः । त्याश्रयलक्षण्येन भेरिति पूर्वेष्वैव सिद्धे नियमार्थमेतत् । आत एव सेरुपि कृते नान्य-स्मात् अभूवन्निति ।

लङो वा ॥२।४।९१॥ आत इति वर्तते । आकारान्तात्परस्य लङादेशस्य भेर्वा जुस् भवति । अयुः । अयान् । अधुः । अधान् । ननु लङ्ग्रहणमनर्थकम् । डित इति वर्तते । पारिशेष्यात् लङ एव संप्रत्ययः । नानर्थकम् । इह लङेव यो लङ् तस्य भेर्लुस् भवति । अतिदेशो मा भूत् । यान्तु । वान्तु । “थवित्स्तेः” [२।४।८९] इत्यनेनापि मुख्यस्य लङो ग्रहणादह न भवति । बिभ्यतु । जाग्रतु । विदन्तु ।

द्विषः ॥२।४।९२॥ लङो वेत्ति वर्तते । द्विषः परस्य लङो भेर्वा जुस् भवति । अद्विषुः । अद्विषन् । अनिगन्तत्वात् “जुसि” [५।२।८०] इत्येन्न भवति ।

मिङ्शिद्धः ॥२।४।९३॥ मिङः शितश्च त्या घोर्विहिताः गसंज्ञा भवन्ति । भूयते । नयति । रोदिति । शित् । पचमानः । यजमानः । गसंज्ञाश्रयो विकरण एव भवति ।

शेषोऽग एव ॥२।४।९४॥ मिङ्शिद्ध्यामन्यः शेषः । घोरित्येवं विहितस्यः शेषोऽगसंज्ञ एव भवति । लविता । लविदुम् । लवितव्यम् । अगसंज्ञाकार्यमिडागम एप् च । घोरिति विशेषणं किम् ? जुगुप्सते । श्रीकाम्यति । लूमाम् । अमित् । एवकार उत्तरार्थः । अगप्रदेशाः—“बलाद्यगस्येट्” [५।१।८४] “गागयोः” [५।२।८१] इत्येवमादयः ।

लिट् ॥२।४।६५॥ एवशब्दोऽनुवर्तते । लिङादेशो मिङ् अगसंज्ञ एव भवति । पेचिथ । शोकिथ । “वोपदेश” [५।१।१०८] इत्यादिनेट् । “सेटि” [४।४।१११] इत्येत्वचखे । गसंज्ञासमावेशनिवृत्त्यर्थ-मेवकारोऽभिसंबन्ध्यते । तेरिम इत्यत्र गसंज्ञायामसत्त्वां तदाश्रयः शम्भ भवति ।

लिङाशिषि ॥२।४।६६॥ एवेति वर्तते । आशिषि यो लिङ् तदादेशश्चागसंज्ञ एव भवति । भावे—जागरिषीष्ट । कर्मणि—लविषीष्ट । अगसंज्ञायां गाश्रयं “लिङोऽनन्त्यसखन्” [५।१।१३८] इति खलं न भवति । एवकाराधिकारात् गसंज्ञासमावेशो न भवति । यदि स्याद्यक् प्रसज्येत । आशिषीति किम् ? जागृयात् । जागृयाताम् । जागृयुः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थः

पादः समाप्तः । समाप्तश्च द्वितीयोऽध्यायः ।

—:०:—

यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोके सान्ध्रं संप्रतीयते ।

तत् सर्वं भ्रातृभिर्याप्तं शरीरमिव भ्रातृभिः ॥

तृतीयोऽध्यायः

ङ्यान्मृदः ॥३।१।१॥ ङी इति स्वरूपग्रहणम् । आविति टावृडापोः सामान्येन ग्रहणम् । मृदिति-संज्ञानिर्देशः “अधु मृत्” [१।१।५] “दृद्धत्स्लाः” [१।१।६] इति । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः आ कपो विधानात् ङ्यन्तादाबन्तान्मृद्रूपाच्च तद्भवतीत्येवं वेदितव्यम् । ननु वक्ष्यमाणास्त्याः “परः” [२।१।२] इति नियमेन परे प्रयुज्यन्ते । धोः परत्वञ्च तव्यादिभिराक्रान्तम् । मिङन्तं च क्रियावाचि सुबन्तमपि पदं क्रियासापेक्षं क्रियत्त्वन्तमित्यतः पारिशेष्यान्ङ्यान्मृद एव भविष्यन्ति । एवं तर्हि वाक्यान्मा भूवन् । वृद्धस्य उपगोरपत्यमिति । गुपदभसंज्ञाश्च प्रयोजनम् । द्वद्वकारद्वयजादिग्रहणानि च ङ्यान्मृदो विशेषणानि न समर्थविभक्त्यन्तस्येत्यधिकारः क्रियते । दु इति मृद्रूपम् । दु—ज्ञानामपत्यमित्यत्र मृद्रूपपेक्षया “वाऽवृद्धाद्दोः” [३।१।१४४] इति दुलक्षणः किञ् न भवति । अदुलक्षणे एव “फिरदोः” [३।१।१४७] इति निर्भवति । दक्षायामपत्यमिति मृद्रूपपेक्षया अदन्तलक्षणः इञ् भवति । घटेन तरतीत्यत्र मृद्रूपेक्षया “नौद्ध्यचढः” [३।३।१३१] इति “द्व्यजलक्षणः सिद्धः” वाचा तरतीत्यत्र न भवति । मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति सिद्धे ङ्यावृद्धयं किम् ? कालितरा । मालितरा । एनिका । हरणिका । परमपि हृतं बाधित्वा स्त्रीत्यो यथा स्यात् । अथ “ऋरूपकल्पचेलङ्भ्रुवगोत्रमरहते प्रोऽनेकाचः” [४।३।१५५] [करणे] इति प्रादेशवचनसामर्थ्यादेतल्लभ्यते । एवं तर्हि मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि परिभाषेयमनित्येति ज्ञाप्यते । तेन गोमतीति उगिल्लक्षणो नुम्भ भवति । युवतीः पश्येति जिर्न् भवति । सख्यौ । सख्यः । इति च गिन्भ भवति । हे भवति भगवति अघवति इत्यत्र “भवद्भगवद्घवलो वा रिः काचवस्यौः” [२।४।३] इत्येष विधिर्न भवति । इह त्र्यग्रहणं न कर्तव्यम् । कथं युवतितरा वामोऽस्तरा ? हृदन्तत्वाद्युदतिशब्दस्य मृत्संज्ञा, वामोऽ-शब्दस्यापि मृदमृदोरेकादेशो मृद्ग्रहणेन गृह्यते । अजादिषु हलन्ताद्व्याप्तं विधास्यति ङापि च टिखेन भावित-व्यमिति एकादेशो नास्ति तस्मात् ङ्यावृद्धयं कर्तव्यम् ।

स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् ॥ ३।१।२ ॥ ङ्या-मृदः स्वादयो भवन्ति । उकाराद्यनुबन्धनाशः । अनेन विहितानां स्वादीनां “कर्मणीप्” [१।४।२] इत्येव-मादिना विभक्तिनियमः “साधने स्वार्थे” [१।२।१२३] इति वचननियमश्च ज्ञातव्यः । ङ्यन्तात्तु कुमारी ।

गोमती । तत्रभवती । पचन्ती । उगिदिति यदीदं त्यग्रहणमेव स्यात् त्यग्रहणे यस्मात् तदादेरिति इह न स्यात् । अतिभवती । निर्गोमती । अथ मृद्विशेषणमेव स्यात् मृद्ग्रहणेन तदन्तविधिरिति तथापीह न स्यात् । अति-महतीति । तस्मान्नेदं त्यग्रहणमेव; नापि मृद्ग्रहणमेव; अपि त्वेकदेशग्रहणमिदम् । उक् इत् यस्यैकदेशस्य तदन्तान्मृद् इति । स चैकदेशः त्यो मृद्वर्णश्च संभवति । त्यः । श्रेयसीत्यादि । मृद्-तत्रभवतीत्यादि । वर्णः । पुमांसमतिक्रान्ता अतिपुंसीति । “पुनातेमुंस्सुकौ प्रश्च” इति सकारो वर्ण उगित् । यद्यागमेषु वर्ण उगिदिति १ डीविधिर्विधीयते तुक्यपि प्राप्नोति अग्निचित् कन्येति । उभयोरुकारयोर्ग्रहणसामर्थ्यदिहैव भवति नान्यत्र । अञ्चतेरुपसंख्यानं नियमार्थं कर्तव्यम् । प्राची । प्रतीची । उदीची । धोरुगितः नान्यस्मात् । उखासत्कन्या । श्रुकारान्तात् कर्त्री । हर्त्री । नकारान्तात् । दण्डिनी । छत्रिणी ।

वनोऽहशो रश्च ॥३१।७॥ वन इति वनः कनिपश्च ग्रहणम् । अहशन्ताद्यो विहितो वन् तदन्तात् स्त्रियां वर्तमानान्मृदो रेफश्चान्तादेशो भवति डीश्च । पूर्वेण सिद्धे रेफार्थमिदम् । घयतिपिबतिभ्यां कनिप् । धीवरी । पीवरी । मेरुद्वरी । कथं शर्वरी ? शृणातेरन्ताद् वन् । कथमवावरी ? अत्र ओण-तेरगाविषय आत्वे कृते वन् । “अनीचः” [३१।१७] इत्यत्र वक्ष्यति । पूर्वो विधिर्नोऽपि भवति । बहु-धीवरी । अतिधीवरी । अथवा अमहत्पूर्वादित्यत्र तदन्तविधिर्ज्ञापितः । अहश इति किम् ? सहयुद्ध्वा स्त्री “राञ्जि युधि कृजः” [२।२।८२] “सहे” [२।२।८३] इति कनिप् । “सन्नियोगशिष्टानामन्यतराभावे उभयोरप्यभावः” [परि०] इति रेफादेशाभावे पूर्वेणाप्यत्र डीत्यो न भवति । एवमर्थश्चकारः क्रियते ।

नेत्स्वसादेः ॥३१।८॥ स्त्रियामिति वर्तते । इल्लसंज्ञकेभ्यः स्वसादिभ्यश्च मृद्भ्यः स्त्रियां यदुक्तं तन्न भवति । पञ्च कुमार्थः । सप्त रोहिण्यः । अथात्रानेन डीप्रतिषेधे कृते नखे सति अत इति टाप् कस्मान्न भवति । सुब्बिधौ नखस्यासिद्धत्वात्तदन्तत्वाभावात् टाप् । कथमयं सुब्बिधिः ? तत्र टापः पकारेण सुपो ग्रहणात् । यद्येवं बहुचर्मिकेत्यत्र नखस्यासिद्धत्वात् “स्वस्थे क्यापी” [३१।१०] इति कात्पूर्वस्यात् इत्वं न स्यात् । एवं तर्हि इहोभौ डीटापो प्रतिषिच्येते । उक्तं च—

“इल्लसंज्ञानामन्ते नष्टे टाडुत्पत्तिः कस्मान्न स्यात् ? प्रत्याहारादापा सिद्धं दोषस्त्वित्त्वे तस्मान्नोभौ ।”
स्वसादिभ्यः-स्वसा । दुहिता । स्वस्व दुहित् ननान्द यात् मात् तिस्र चतस्र ।

मनो डाप् च ॥३१।९॥ डी इति वर्तते नेति च । मन्तान्मृदः स्त्रियां वर्तमानाङ्गाव् भवति डी-प्रतिषेधश्च । डकारः टिखार्थः । पकारः सामान्यग्रहणार्थः । पामे । पामाः । पामानौ । पामानः । “अन्न-नस्मन्ग्रहणेष्वर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिः” [परि०] सीमे । सीमानौ । सुप्रथिमे । सुप्रथिमानौ । अतिमहिमे । अतिमहिमानौ ।

अनश्च वात् ॥३१।१०॥ अन्नन्ताद् वसात् स्त्रियां वर्तमानाङ्गाव् भवति डीप्रतिषेधश्च । चकारो डीप्रतिषेधानुकर्षणार्थः । अर्थवतोऽनर्थकस्य चानो ग्रहणम् । अनुक्त्वतो वसस्येहोदाहरणम् । उक्त्वतोऽनर्थक्यं वक्ष्यति । सुपूर्वे । सुपूर्वाः । सुपूर्वाणौ । सुपूर्वाणः । नकारान्तत्वाङ्गी प्रसज्येत । नादिति किम् ? अतिक्रान्ता पर्वाणि अतिपर्वाणी ।

बोद्धे ॥३१।११॥ अन्नन्ताद् वसात् उडः खे वर्तमानात् डाङ्गीप्रतिषेधौ वा भवतः । वाचनानुचथा-प्राप्ताः । नकारान्तान्डीविधिः “वनोऽहशो रश्च” [३१।७] इत्यभ्यनुज्ञायते । बहुराजे । बहुराजाः । बहु-राजानौ । बहुराजानः । बहुराज्यौ । बहुराज्यः । बहुतद्वे । बहुतद्वः । बहुतद्वानौ । बहुतद्वान्यः । बहुतद्वान्यौ ।

१. उगिद्वर्चा धेऽञोः [३१।१४] इति सूत्र इति शेषः ।

बहुतक्षणः । बहुधीवे । बहुधीवः । बहुधीवानौ । बहुधीवानः । बहुधीवर्यौ । बहुधीवर्यः । उङ् इति किम् ? सुपर्वा । सुपर्वाणौ । पूर्वेण द्वैरूप्यम् । अन इत्येव समत्स्या नदी ।

डी खौ ॥३१११२॥ खुविषयेऽन्नताद् वसान्डी भवति । अधिराज्ञी नाम ग्रामः । पुनड्डी-ग्रहणं नित्यार्थम् ।

ऊधसः ॥३१११३॥ बादिति वर्तते । ऊधःशब्दान्ताद्बसान्डी भवति । कुरडमिवोधो यस्याः कुरडोष्नी । द्वे ऊधसी यस्या द्यूष्नी । निर्गतमूषोऽस्या निष्नी “ऊधसोऽनङ्” [३१२१३२] इति अनङ्-सान्तः । “बोङ्खे” [३११११] इति त्रैरूप्यं प्रातम् । स्त्रियामेवानङ् । सान्त इत्येव । इह मा भूत् । महोधाः । पर्जन्यः । बादित्येव । प्राप्ता ऊधः प्रातोधा गौः । “इपा च प्रासापन्ने” [१३१२०] इति षसः । तत्रैव पूर्ववलिङ्गं व्याख्यातम् ।

दामहायनात्संख्यादेः ॥३१११४॥ संख्यादेर्वसात् दामान्तात् हायनान्ताच्च डी भवति । द्विदाम्नी । त्रिदाम्नी । “बोङ्खे” [३११११] इति त्रैरूप्यं प्रातम् । “हायनाद्वयसि स्मृतः” [वा०] द्विहायनी । त्रिहायणी । चतुर्हायणी वसा । “त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णस्वमपि वयसीष्यते” [वा०] तेनेह डीविधिर्यावं च न भवति । द्विहायना । त्रिहायना । चतुर्हायना शाला । संख्यादेरिति किम् ? उद्दामा वडवा । “बोङ्खे” [३११११] इत्यनेन त्रैरूप्यं भवति ।

पादो वा ॥३१११५॥ पाञ्चद्वान्तान्मृदः स्त्रियां वर्तमानाद्वा डी भवति । द्विपात् । द्विपदी । त्रिपात् । त्रिपदी । “सुसंख्यादेः” [३१२१४०] इति पादशब्दस्य खम् । पादयतैः क्विबन्तस्य प्रयोगो नास्ति ।

टावृचि ॥३१११६॥ पाद इति वर्तते । पाञ्चद्वान्तान् मृदद्याव् भवति ऋच्यधिवेयायाम् । द्विपदा ऋक् । त्रिपदा ऋक् । ऋचीति किम् ? द्विपदी देवदत्ता ।

अनीचः ॥३१११७॥ न्यक्छब्दोऽत्राप्रधानवचनो नञ्पूर्वः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽनीच इत्येवं तद्वेदितव्यम् । नीचो लयादयो न भवन्तीत्यर्थः । वक्ष्यति “टिङ्हाणञ्” [३१११८] इति । कुरुचरी । मद्रचरी । “जातेरयोः” [३११२३] । कुक्कुटी । शकरी । अनीच इति किम् ? बहुकुरुचरा । बहुकुक्कुटा मथुरा । ननु पूर्वत्र समुदायः स्त्रियां वर्तते नावयवः । अवयव एव च टिङ्ग समुदायः । द्वितीयेऽपि वसे न समुदायो जातिवाची; किं त्ववयवः, तत्कथं प्राप्तिः ? इदमेव ज्ञापकं भवत्यत्र प्रकरणे तदन्तविधिरिति । तथाहि प्रधानभूतेन तदन्तविधिः कुम्भकारी देवदत्तकुक्कुटी । यथेवं पूर्वमेवेदं सूत्रं वक्तव्यम् । इह करणात् पूर्वोक्त-विधिर्नीचोऽपि भवतीति ज्ञाप्यते । बहुधीवरी बहुपीवरीति ।

टिङ्हाणञ्ठणञ्करणः ॥३१११८॥ अत इति वर्तते । टित् ढ अण् अञ् टण् ठञ् करण इत्येवमन्तेभ्यः स्त्रियां डी भवति । टापोपवादः । “अनीचः” [३१११७] इत्यधिकारात् प्रधानेन तदन्तविधि-रुक्तः । कुरुचरी । मद्रचरी । “कृद्ग्रहणं तिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्” [परि०] न मन्तव्यम् । इह कृदकृतो-ग्रहणात् । ढ-सौपर्णेयी । वैनतेयी । “झिळाया ढः” [३१११६] इत्यस्य निरनुबन्धकस्य स्त्रियामभिधानं नास्ति । अण्-कुम्भकारी । औपगवी । कथं चुराशीला चौरा । तपःशीला तापसी ? योऽप्यण्कृतं भवतीति वक्ष्यति । अञ्-आत्सी । वैदी । ठण्-लाङ्गिकी । रौचनिकी । ठञ्-पारायणं वर्तयति पारायणिकी । प्राग्बतेष्टञ् । करण-इत्वरि । नश्चरी । अनीच इत्येव । बहुकुरुचरा । ख्युट्प्रभृतीनां द्व्यनुबन्धकत्वेऽपि टिकरणसामर्थ्याद् ग्रहणम् । लकाराणां स्थानिवद्भावाद्द्वित्वं द्वित्वं च न भवतीत्युक्तम् । पचमाना स्त्री । अचिनवम् । त्यसाहचर्यादागमस्य न ग्रहणम् । लिखिता विद्येति ।

यञः ॥३१।१६॥ यञन्तान्मृदः स्त्रियां ङी भवति । गार्गी । वात्सी । “हृत्तो हृतो ङ्याम्” [४।४।१४०] इति यकारस्य खम् । “द्वीपादनुसमुद्रेऽयञ्” [३।२।१३०] इति अयञ् । द्वयनुबन्धकः । तस्येहाग्रहणम् । द्वीपे भवा द्वैप्या । योगविभाग उत्तरार्थः ।

फट् ॥३१।२०॥ यञ इति वर्तते । यञन्तान्मृदः स्त्रियां फडित्यं त्यो भवति । टकारो ङ्यर्थः । अथ गार्ग्यायणी इति स्थिते फटो ह्रस्वज्ञाविरहात् “कृद्घृत्साः” [१।१।६] इति मृत्संज्ञा नास्ति । कथं ङीविधिः ? टिकरणसामर्थ्यात् भविष्यति । गार्ग्यायणी । वात्स्यायनी । श्रावण्यायनी । वचनात्पूर्वोऽपि विधि-र्भवति । गार्गी । वात्सी ।

लोहितादिसकलान्तात् ॥३१।२१॥ यञ इति वर्तते । लोहितादिर्गर्गादिष्वन्तर्गणः । लोहितादिभ्यः सकलशब्दपर्यन्तेभ्यो यञन्तेभ्यः स्त्रियां फट् त्यो भवति । पुनरारम्भो नित्यार्थः । तेन फडेव भवति । “यञः” [३।१।१६] इत्यनेन ङीः प्राप्तो निवर्त्यते । लौहित्यायनी । सांसित्यायनी^१ । बाभ्रव्यायणी । सौक्ष्म्यायणी । सांचव्यायनी । लान्तव्यायनी । जैगीषव्यायणी । मानव्यायनी । मांतव्यायनी । मनाथीशब्दस्य पाठसामर्थ्यात् “अस्य हृत्ये” [वा०] इति पुंवद्भावो न भवति । मानाव्यायनी । काव्यव्यायनी । रौक्ष्यायणी । तारुक्ष्यायणी । तालुक्ष्यायणी । ताण्ड्यायनी । वातण्ड्यायनी । आङ्गिरसे तु वतण्डीत्येव भवति । काप्यायनी । शाकल्यायनी । शाकल्यायनी ।

कौरव्यासुरिमारङ्कात् ॥३१।२२॥ कौरव्य आसुरि मारङ्क इत्येतेभ्यः फट् भवति । कौरव्यायणी । यत्प्राप्तः । अ आसुरीति प्रश्लेषनिर्देशात् अकारश्चान्तादेश आयनादेशो (शे) न स्वेको दीत्वार्थः । अहृत्त्वाद् “यस्य ङ्यां च” [४।४।१३६] इति इत्वं प्राप्नोति । आसुरायणी । “इतो मनुष्यजातेः” [३।१।५६] इति ङीत्यः प्राप्तः । मारङ्कस्यापत्यं स्त्री मारङ्कायनी । “ढञ्च मण्डकात्” [३।१।१०८] इत्यण् । ङी प्रसज्येत । “तस्येदम्” [३।३।८८] इत्यणि विवक्षिते कौरवीति भवति । शौषिकार्थविवक्षायां “इञः” [३।२।८८] इत्यणि प्राप्ते “दोश्छः” [३।२।६०] इष्यते । आसुरिणा प्रोक्ता आसुरीया शिद्धा ।

गौरादेः ॥३१।२३॥ गौरादिभ्यः स्त्रियां ङी भवति । गौरी । वर्णत्वे बहुलं ङीप्राप्तेः संज्ञायामप्राप्तेः । गौर मस्य मनुष्य शृङ्ग गवय इय मुक्य ऋष्य^२ “अयोङः” [३।१।५३] इति ङीप्रतिषेधः प्राप्तः । शृङ्गाहृत्प्राप्तः । एवमुत्तरत्राप्युद्भम् । पुट पट् इण द्रोण हरिण ककण अरीहण वरट उकण आमलक कुवल बदर बिल्व (वल्लक) विम्ब कर्कर तर्कर शर्कर शर्करण्ड शबल सुषव षाण्डशौ केषाञ्चित् । सालन्द (सलद) गडुल पडुश^३ आढक आनन्द सपाट शकुल सूर्य पूष मूष धातक सल्लक मालक मालत साल्वक वेतस वृत (वृस) अतस उमा (उभय) भृङ्ग मह मठ छेद स्वन् तन्नन् अनडुही अनडुवाही । एषणात्करणे कारके । देहमेयकाकादनगवादानादय । यान मेघ गौतम (गोतम) अयस्थूण भौरिकि भौलिकि भौलिङ्गि औद्गाहमानि आलम्बि आंयामक आलम्बि आपाच्याङ्क (आपच्चिक) ऊपस्तश्च (?) आरट टोट नट मूलाट आसुरण (आस्तरण) अधिकार प्रत्यवारोहिणी आग्रहायणी^४ । अग्रहायनस्य स्वार्थे अण् णत्वं च निपात्यते । सेचनी । सुर्मगलात्संज्ञायाम् । सुन्दर मण्डल मन्यर मन्दुल पेट (पट, पिट (विट) पिरड ऊर्द गूर्द सूर्द । केषांचित् रेफात्परे मकारः । सुर्म हर्द भाण्ड लोहाण्ड कदर कन्दर वदल कन्दल तरुण तलुन सौधर्म । रोहिणी रेवती च नक्षत्रे । विकल निष्कल पुष्कल । कटाञ्छोरयाम् । पिप्पल्यादयश्च । पिप्पली हरीतकी कोशातकी शमी करीरी

१. सांसित्यायनी सु० । २. ऋषय अ० । ३. त्राऽप्यभ्युद्भम् अ०, ब०, स० । ४. पद सु० । ५. उणक सु० । ६. पण्डुश अ० । पटुस ब० । ७. अपामक ब० । आपामक स० । ८. ऊपस्तश्च ब० । ९. प्रत्यवारोहिन् सु० । १०. आग्रहायण सु० ।

पृथिवी क्रोष्टु मातामह पितामही एही पयेंही आश्मरथ्यात्फट् प्राप्तः । काव्या शैव्या एतौ व्यान्तौ । आरोह चण्ड । “नृनरयोरैप् च” [वा०] नारी । येऽत्रानडुहीप्रभृतय ईकारान्ताः पठ्यन्ते तेषां से पुंवद्भावो न भवति । अनडुहीभार्यः । प्रत्यवरोहिणीभार्यः । आग्रहायणीभार्यः । इति ।

वयस्यनन्त्ये ॥३१।२४॥ प्राणिनां कालकृता शरीरावस्था वयः । वयस्यनन्त्ये वर्तमानान्मृदः स्त्रियां ङीत्यो भवति । कुमारी । किशोरी । वर्करी । वधूटी । चिरण्टी । तरुणी । तलुनी । अनन्त्य इति किम् ? स्थविरा । वृद्धा । “कन्याया कनीच च” [३१।१०५] इति निपातनात् कन्या । अत इत्येव । शिशुः । उत्तान-शया । लोहितपादिका । द्विवर्षा । नैते सान्नाद्वयोवाचिनः शब्दाः । अथवा द्विवर्षादिषु “परिमाणाद्घृदुपि” [३१।२६] इत्येतस्मान्निमित्तं भविष्यतीति ।

रात् ॥३१।२५॥ रसंज्ञकान्मृदः स्त्रियां ङीत्यो भवति । अकारान्तोत्तरपदो रः स्त्रियां भाष्यते । पञ्चानां पूलानां समाहारः पञ्चपूली । दशपूली । अनन्तस्य रसस्य खं स्त्रियां चेति पञ्चपत्नी दशतद्धी । पञ्चाजी । अजादिष्वजशब्दो जातिवचनोऽभिप्रेतः । कथं त्रिफला ? अजादिषु पाठात् ।

परिमाणाद्घृदुपि ॥३१।२६॥ सर्वतो मानं परिमाणम् परिमाणान्ताद् रात् हृदुपि सति ङीत्यो भवति । द्वाभ्यां कुडवाभ्यां क्रीता आर्हीयस्य त्यस्य “रादुबखौ” [३१।२६] इत्युप् । द्विकुडवी । द्वाधादकी । “रात्” [३१।२५] इति सिद्धे नियमार्थोऽयम् । यतः परिमाणादेव हृदुपि नान्यतः । पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाशवा । दशाशवा । तुल्यजातीयस्य नियमान्नित्युक्तिः । समाहारे भवत्येव । पञ्चाशवी । परिमाणादिति योगवियोगः कर्तव्यः । तत इष्टतोऽवधारणं लभ्यते परिमाणशब्देनेह रुढिवशात् प्रस्थादिर्गृह्यते । कालसंख्ययोरग्रहणम् । तेन द्विवर्षा । त्रिवर्षा । द्विशता । त्रिशता । द्वे वर्षे प्रमाणमस्याः “प्रमाणे ध्वंसनं राच्च” इति द्वयसडादीनामुप् । उक्तं च— “ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः । आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः” ।

न विस्ताचितकम्बल्यात् ॥३१।२७॥ विस्त आचित कम्बल्य इत्येवमन्ताद् रात् हृदुपि ङीत्यो न भवति । विस्तादीनां परिमाणत्वात् सर्वेषु प्राप्तिः—द्वाभ्यां विस्ताभ्यां क्रीता द्विविस्ता । त्रिविस्ता । द्वाधाचिता । त्रिधाचिता । द्विकम्बल्या । त्रिकम्बल्या ।

काण्डात् क्षेत्रे ॥३१।२८॥ काण्डशब्दान्तात् रात् हृदुपि सति क्षेत्रेऽभिधेये ङीत्यो न भवति । द्वे काण्डे प्रमाणमस्या द्विकाण्डा त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्तिः । “प्रमाणेण द्वयसड्ध्वन मात्रतः” [३१।५८] इत्यागतानां द्वयसडादीनां प्रमाणे ध्वंसनं राच्चेति वक्ष्यमाणथा इष्टथा उप् । काण्डं धनु । तस्य परिमाणशब्देनासंगृहीतमतः “परिमाणाद्घृदुपि” [३१।२६] इत्यनेन नियमेन प्रतिषेधे सिद्धे नियमार्थमिदम् । क्षेत्र एव प्रतिषेधो भवति नान्यत्र । द्विकाण्डा । त्रिकाण्डा रज्जुः । “रात्” [३१।०५] इति ङीविधिः ।

पुरुषात्प्रमाणे वा ॥३१।२९॥ हृदुपीति वर्तते । प्रमाणे यो वर्तते पुरुषशब्दस्तदन्ताद्वाद् हृदुपि वा ङीत्यो भवति । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः खातायाः द्वयसडादीनां “प्रमाणे ध्वंसनं राच्च” इति उप् । द्विपुरुषा । द्विपुरुषी । त्रिपुरुषा । त्रिपुरुषी । अपरिमाणात्वात्पुरुषस्य “परिमाणाद्घृदुपि” [३१।२६] इति नियमान्निवर्तितो ङीत्यो विकल्पते । प्रमाण इति किम् ? द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां क्रीता द्विपुरुषा । हृदुपीत्येव । समाहारे पञ्चपुरुषी ।

गुणोक्तेस्तोऽखरुस्फोडः ॥३१।३०॥ वेति वर्तते । गुणोक्तेर्मृद उकारान्ताद् वा ङीत्यो भवति खरुशब्दं स्फोडं च वर्जयित्वा । यः शब्दो गुणे वर्तित्वा द्रव्ये वर्तते स गुणोक्तिरित्युच्यते । पडुः । पट्वी । मृदुः । मृद्वी । गुणोक्तिरिति किम् ? आखुः । जातिशब्दोऽयम् । उत इति किम् ? शुचिरियं कन्या । अखरुस्फोड इति किम् ? खरुरियं कन्या । पाण्डुरियं कन्या । “सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु इत्यते ।

आधेयश्चाक्रियाञ्च सोऽसत्त्वप्रकृतिगुणः ।' सत्त्वं द्रव्यं तत्र निविशते उत्पद्यते आश्रयति वा स गुण्य इति संबंधः । द्रव्यादपैति अपगच्छति यथाप्रात् हरितता पीततायां उत्पन्नयाम् । पृथग्जातिषु दृश्यते, यथा सैव हरितता तरुणवृक्षेषु । आधेयः उत्पाद्यः, यथा कुमुमयोगात् गन्धो वस्त्रे, यथा वा घटे रक्तता । अक्रियाञ्च क्रियाञ्च क्रियातो नोत्पद्यते यथाऽऽकाशादिषु महत्त्वादि । चकारात् क्रियाञ्च यथा संयोगो विभागो वा असत्त्वप्रकृतिद्रव्यस्वभावरहितो निर्गुण इत्यर्थः ।

बह्वादेः ॥३११३१॥ वेति वर्तते । बहु इत्येवमादिभ्यश्च मृद्भ्यः स्त्रियां वा ङीत्यो भवति । बहुः । बह्वी । पद्धतिः । पद्धती । बहु पद्धति अद्भति अद्भति अंहति शकटि शक्ति । केचिच्छब्देऽर्थे शक्तिं पठन्ति । सामर्थ्ये शक्तिरेव तेषाम् । शस्त्रि शारि राति राधि शाधि अहि कपि मुनि यष्टि । किमर्थमिकारान्ताः पठ्यन्ते । यावता कृदिकारादक्तेरित्येव सिद्धे पद्धतिशब्दान्न स्यात् इतरेभ्यश्चाव्युत्पत्तिपद्धः “इवः प्राण्यङ्गात्” [ग०] श्रोणिः श्रोणी । धमनिः । धमनी । इत इति किम् ? ग्रीवा । प्राण्यङ्गादिति किम् ? कौणिः । सणिः । “कृदिकारा-दक्तेः” [ग०] भूमिः । भूमी । अक्तेरिति किम् ? कृतिः । हृतिः । अत्तयथावि(दि)त्येके । इहापि मा भूत् । अकरिणैर्हन्त ते वृषल । कृदिकारादिति किम् ? सुगन्धिः । सुरभिगुंधिः । स्त्रीहृतो न भवति । व्युत्पत्तिपद्धे कृदिकारस्यैचः पूर्वः प्रपञ्च । चण्ड अगल कमल कृपण विकट विशाल विशङ्कट भरज । चन्द्रभागाद्भ्याम् । कल्याण उदार पुराण । अहःशब्दस्येह पाठोऽनर्थकः । केवलस्य स्थियामवृत्तेः । सविधौ तु उत्तरपदभूतस्य “बोद्धे” [३११११] इत्यनेनैव त्रैरूप्यं सिद्धम् । बहुशब्दस्य गुणवाचित्वात्पूर्वेषु विकल्पे सिद्धे द्विर्बद्धं सुबद्धं भवतीति पुनर्ग्रहणम् । तेन सकृदुक्तो अणन्तान्ङीविधिः । क्वचिन्न भवति । कामिकेति ।

पतिवत्स्यन्तर्वत्न्यौ ॥३११३२॥ पतिवत्नी अन्तर्वत्नी इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । पतिमच्छब्दस्य ङीत्ये परतः मतोर्वत्वं नुमागमश्च निपात्यते । जीवति भर्तारि पतिवत्नी । जीवत्पतिरित्यर्थः । अन्यत्र पतिमती पृथिवी । अन्तःशब्दाधिकरणप्रधानात् अस्तिसामानाधिकरण्याभावात् विहितो मत्तुर्गुक् च निपात्यते गर्भिण्याम् । अन्तर्वत्नी गर्भिणी । अन्यत्र अन्तरस्यामस्ति शालायाम् । उक्तं च—“पतिवत्न्यां नुका वश्वमन्तर्वत्न्यां मत्तुर्गुका । जीवत्पत्यां च गर्भिण्यां यथासङ्ख्यं निपात्यते ॥”

पत्नी ॥३११३३॥ पत्नीति निपात्यते । पतिशब्दस्य स्त्रियां नकारोऽन्तादेशः पुंयोगे निपात्यते ङीत्यो नकारान्तत्वादेव भवति । इयमस्य पत्नी । अस्य पुंसः वित्तस्य स्वामिनीत्यर्थः । पुंयोगादन्यत्र पतिरियमस्य ग्रामस्य ।

सपत्न्यादौ ॥३११३४॥ सपत्न्यादिषु पत्नीशब्दो निपात्यते “वा से” [३११३५] इति विभाषया पत्नीशब्दस्य निपातने प्राप्ते नित्यार्थं वचनम् । समानः पतिरस्याः सपत्नी । यद्येवं पत्नीति वर्तते समानादिभ्य इति वक्तव्ये सनकारेकारस्य समुदायस्योच्चारणं किमर्थम् ? समानशब्दस्य सभावार्थम् । इकारापायेऽपि नकारश्रवणार्थं च । सपत्न्याः अर्थं सापत्न्यः । कृतेकारस्योच्चारणं पुंवद्भावप्रतिषेधार्थमित्येके । सपत्नीभार्यः । एवं एकपत्नी । वीरपत्नी । पियडपत्नी । पुत्रपत्नी । भ्रातृपत्नी ।

वा से ॥३११३५॥ से पत्नी वा निपात्यते । पतिशब्दान्तस्य मृदः स्त्रियां वा नकारोऽन्तादेशो निपात्यते । बसे षसे चेदं निपातनम् । अनीच इति नाभिसम्बन्धते । गृह्यमाणस्य शब्दस्याभावात् । बसे-दृढः पतिरस्या दृढपतिः । दृढपत्नी । स्थिरपतिः । स्थिरपत्नी । वृद्धपतिः । वृद्धपत्नी । स्थूलपतिः । स्थूलपत्नी । षसे ग्रामस्य पतिः ग्रामपतिः । ग्रामपत्नी । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् । पुंसा योगे पत्नीति नित्यं निपातनम् । तेन पत्नीशब्देन तासे राजस्तीत्येव भवति । स इति किम् ? पतिरियमस्य ग्रामस्य ।

वर्णाद्बहुलं तो नस्तु ॥३११३६॥ वर्णावाचिनो मृदः स्त्रियां बहुलं ङीत्यो भवति तकारस्य तु नकारोऽन्तादेशः । तुशब्दः किमर्थः ? बहुलं ङीविधिर्भवति तकारस्य तु नकारो नित्यं यथा स्यादित्येवमर्थः । एता ।

एनी । स्येता । स्येनी । रोहिता । रोहिणी । हरिता । हरिणी । शवली । पिशङ्गी । कल्माषी । सारङ्गी । काली संज्ञायां वर्णे च । काला अन्या । क्वचिदप्रवृत्तिरेव श्वेता । अरिता । पलिता । कृष्णा । कपिला । क्वचिदुभयथा । शोणी । शोणा । वडवा । नीली ओषधिः । प्राणिनि च नीली वडवा । नीली गौः । संज्ञायामुभयम् । नीली । नीला । आच्छादने न भवत्येव । नीला शाटी । नीला मेघसंहतिः । वर्णादिति किम् ? कृता । हृता । अत इत्येव । सितिः कन्या ।

कुण्डगोणस्थलभाजनागकुशकामुककबरादत्रमावपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्यायोविकारमैथुनेच्छाकेशवेशेषु ॥३११३७॥ कुण्डादिभ्यः कवरशब्दपर्यन्तेभ्योऽमत्रादिष्वर्थेषु यथासंख्यं स्त्रियां ङीत्यो भवति । कुण्डा भवति अमत्रं चेत् । कुण्डा अन्या । दाह इत्यर्थः । गोणी भवति आवपनं चेत् । गोणा अन्या । संज्ञैषा । स्थली भवति अकृत्रिमा चेत् । स्थला अन्या । भाजी भवति श्राणा चेत् । भाजा अन्या । भाजयतेः स्त्रियां युचि प्राप्ते अत एव निपातनादकारः । नागी भवति स्थौल्यं चेत् । नागा अन्या । तन्वी दीर्घा वा । संज्ञायां वा । जातिविवक्षायां तु नित्यं ङो । कुशी भवति अयोविकारश्चेत् । कुशा अन्या । काष्ठादिमथौ तदाकृतिः । कामुकी भवति मैथुनेच्छा चेत् । कामुका अन्या । कबरी भवति केशवेशश्चेत् । कबरा अन्या ।

पुंयोगात् खोरगोपालकादेः ॥३११३८॥ अत इति वर्तते । पुंयोगाद्वेतोर्यः शब्दः स्त्रियां वर्तते खुभूतस्तस्मान्ङीत्यो भवति गोपालकादीन् वर्जयित्वा । उपाध्यायस्य स्त्री उपाध्यायी । गणकी । प्रष्टी । महामात्री । एते संज्ञाशब्दा पुंयोगात् स्त्रियां वर्तन्ते । पुंयोगादिति किम् ? देवदत्ता । खोरिति किम् ? प्रसूता । प्रजाता । परिभ्रष्टा । पुंयोगादेते शब्दाः स्त्रियां वर्तन्ते; न तु पुंसि संज्ञाभूताः । अगोपालकादेरिति किम् ? गोपालिका । पशुपालिका । आदिशब्दः प्रकारवाची । तेन सूर्याद्देवतायां ङीर्न भवति । सूर्यस्य भार्या सूर्या । देवतायामिति किम् ? सूर्यो नाम मनुष्यः तस्य सूरीति ।

पूतक्रतोरे च ॥३११३९॥ पुंयोगादिति वर्तते । पूतक्रतुशब्दान्ङीत्यो भवत्यैकारश्चान्तादेशः । पूतक्रतोः स्त्री पूतक्रतायी । पुंयोगादित्येव । पूताः क्रतवो यस्याः सा पूतक्रतुः ।

वृषाकप्यग्निकुसितकुसीदात् ॥३११४०॥ ऐ चेति वर्तते पुंयोगादिति च । वृषाकपि अग्नि कुसित कुसीद इत्येतेभ्यः स्त्रियां ङीत्यो भवति ऐकारश्चान्तादेशः । वृषाकपयी । अग्नयी । कुसितायी । कुसीदायी । कुसितकुसीदयोः संज्ञाशब्दत्वात् पूर्वेष्वेव सिद्धेऽप्यैकारार्थं वचनम् । पुंयोगादित्येव । वृषाकपिर्नाम काचित् ।

मनोरौ च ॥३११४१॥ पुंयोगादिति वर्तते । औकारश्चान्तादेश ऐकारश्च । मनोः स्त्री मनावी । मनायी । केषाञ्चिन्मनुरित्यपि ।

वरुणभवशर्वरुद्रेन्द्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक ॥३११४२॥ वरुणादिभ्यो मृद्भयो स्त्रियां ङीत्यो भवति आनुगागमः । अत्र केषाञ्चिच्छब्दानां पुंयोगादिति सिद्धेऽप्यानुगर्थं ग्रहणम् । वरुणानी । भवानी । शर्वाणी । रुद्राणी । इन्द्राणी । मृडानी । “हिमारण्ययोर्महत्त्वे” [वा०] महद्धिमं हिमानी । महदरण्यमरण्यानी । “यवाद्दोषे” [वा०] सदोषो यवः यवानी । “यवनाच्छिप्याम्” [वा०] यवनानां लिपिः यवनानी । उपाध्यायमातुलाभ्यां वा । आनुक एवायं विकल्पः । उपाध्यायी । उपाध्यायानी । मातुली । मातुलानी । “आचार्यादखत्वं च” [वा०] आचार्यानी । आचार्या । “आर्यक्षत्रियाभ्यामपुंयोगे वेति वक्रव्यम्” [वा०]

आर्याणी । आर्या । क्षत्रियाणी । क्षत्रिया । अपुंयोग इति किम् ? आर्यस्य भार्या आर्या । क्षत्रियस्य भार्या क्षत्रियो । आनुगिति द्विमात्रोच्चारणमिष्टिसंग्रहार्थम् ।

क्रीतात्करणादेः ॥३१॥४३॥ क्रीतशब्दान्तान्मृदः करणादेः स्त्रियां ङीत्यो भवति । वज्रेण क्रीयते या वज्रक्रीती । वसनक्रीती । “साधनं कृता बहुलम्” [१।३।२६] इत्यत्र बहुलवचनान्बन्धम् । “तिवाक्कारकार्णा कृद्भिः सविधिः प्राक्सुबुत्पत्तेः” [परि०] इति करणवाचिशब्दस्य क्रीतशब्देन सविधिः । पश्चादकारान्तलक्षणे ङीविधिः । करणादेरिति किम् ? सुक्रीता । दुष्क्रीता । “इदुदुङ्गोऽस्यपुम्मुहुसः” [२।४।२८] इति सत्वषत्वे । कथं “सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी” बहुलवचनान् । सुवन्तेन वृत्तिर्न कृदन्तेन । सुबुत्पत्तिश्च बहिरङ्गा अन्तरङ्गे यपि कृते भवतीति सिद्धम् । क्रीतान्तान्मृद इति विशेषणात् वाक्ये न भवति, वत्येन (वित्तेन) क्रीता ।

क्तादल्पे ॥३१॥४४॥ करणादेरिति वर्तते । करणादेर्मृदः क्लान्तादल्पे ङीत्यो भवति । अत्रापि प्राक् सुबुत्पत्तेः सविधिः । अभ्रविलिती द्यौः । अल्पान्यस्यामभ्राणीत्यर्थः । रूपविलिती पात्री । अल्प इति किम् ? चन्दनानुलिता ।

जातेर्बात् ॥३१॥४५॥ क्लादिति वर्तते । जातिशब्दपूर्वः क्लान्तो यो वसस्तस्मान्ङीत्यो भवति । अस्वाङ्गादेरुत्तरत्र विकल्पो वक्ष्यते । स्वाङ्गे पूर्वपदमिहोदाहरणम् । शङ्खौ भिन्नौ यस्याः सा शङ्खभिन्नी । उषच्छिन्नी । गलकोक्लृत्ती । केशलूनी । जातेरिति किम् ? मासजाता । बहुजाता । अजाता । सुखजाता । दुःखजाता । नादिति किम् ? सव्यजानुप्रतिष्ठिता । “जातान्तात्प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] दन्तजाता । स्तनजाता । “पाणिगृहीत्यादीनां गुर्वनुज्ञातेन ङी वक्तव्यः” [वा०] पाणिगृहीती भार्या । यस्यास्तु यथाकथञ्चित् पाणिर्गृहीतः सा पाणिगृहीता । त इति दतोक्त्वं (त इत्यत्रोक्त्वं) जातिकालसुखादिभ्यः परनिपातस्तान्तस्योत जातिरत्र सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या ।

वाऽस्वाङ्गादेः ॥३१॥४६॥ क्लादिति वर्तते नादिति च । अस्वाङ्गादेः क्लान्तादसाद् वा ङीत्यो भवति । सारङ्गं जग्धमनया सारङ्गजग्धी । सारङ्गजग्धा । पलायडुभक्षिती । पलायडुभक्षिता । सुरापीती । सुरापीता । अस्वाङ्गादेरिति किम् ? शङ्खभिन्नी । स्वाङ्गादेः पूर्वेण नित्यो विधिः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेमेह न भवति । वज्रं छन्नमस्याः वज्रच्छन्ना । वसनच्छन्ना । षतेऽपि संज्ञायां विकल्पः । प्रवद्धविलुनी । प्रवद्धविलुना ।

स्वाङ्गाच्चोऽस्फोडः ॥३१॥४७॥ वेति वर्तते । स्वाङ्गं न्यक् अस्फोड् यत् तदन्तान्मृदो वा ङीत्यो भवति । दीर्घकेशी । दीर्घकेशा । गौरमुखी । गौरमुखा । स्वाङ्गादिति किम् ? बहुयवा । अस्फोड इति किम् ? कल्याणगुल्फा । कल्याणपाश्र्वा । वेति व्यवस्थितविभाषा व्याप्यता । तेन ‘अङ्गाङ्गण्ठेभ्यो वा प्रतिषेधः’ [वा०] मृद्रङ्गी । मृद्रङ्गा । मृद्रुगात्री । मृद्रुगात्रा । स्निग्धकण्ठी । स्निग्धकण्ठा । बसाधिकारे पुनर्न्यङ्ग्रहणं पार्थम् । अतिकेशी । अतिकेशा । निष्केशी । निष्केशा माला । इह कस्मान्न भवति ? कल्याणं पाणिपादमस्याः कल्याणपाणिपादा । स्वाङ्गसमुदायः स्वाङ्गग्रहणेन न गृह्यते । किं स्वाङ्गम् ? “अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणस्थमविकारजम् । अतस्थं तत्र दृष्टं चेत् तस्य चेत् तत् तथायुतम् ।” स्वाङ्गं सुखादि । अद्रवमिति किम् ? बहुकफा । मूर्तिमदिति किम् ? बहुज्ञाना । प्राणस्थमिति किम् ? श्लक्ष्णमुखा शाला । अविकारजमिति किम् ? बहुशोफा । अतस्थं तत्र दृष्टं च प्राक् प्राणिनि दृष्टं संप्रत्यप्राणस्थमपि स्वाङ्गम् । दीर्घकेशी । दीर्घकेशा रथ्या । तस्य चेत् तत् तथायुतम् येन प्रकारेण प्राणिनो युतं दृष्टं तस्याप्राणिनोऽपि यदि तत्तथायुतं दृश्यते एवमपि स्वाङ्गम् । दीर्घमुखी दीर्घमुखा अर्चा ।

नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गात् ॥३॥१॥४८॥ स्वाङ्गान्नीच इति वर्तते वेति च । नासिका-
दयो ये न्यञ्चस्तदन्तान्मृदो वा ङीत्यो भवति । दीर्घनासिका । दीर्घनासिका । तन्दूदरी । तन्दूदरा । विम्बोष्ठी ।
विम्बोष्ठा । “ओत्वोष्ठयोर्वा से पररूपमुपसंख्यास्यते” [वा०] समजङ्घी । समजङ्घा । समदन्ती । समदन्ता ।
चारुकर्णी । चारुकर्णा । तीक्ष्णशृङ्गी । तीक्ष्णशृङ्गा । नासिकोदरयोः “बह्वचः” [३११४६] इत्यनन्तरे
प्रतिषेधे प्राप्ते ग्रहणम् । सहनञ् विद्यमानलक्षणस्तु प्रतिषेधो भवत्येव । शोषाणामस्फोष्ठ इति पूर्वस्मिन् प्रतिषेधे
प्राप्ते उपादानम् । सहादिप्रतिषेधस्तु भवत्येव । “पुच्छाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] दीर्घपुच्छी । दीर्घपुच्छा ।
“कवरमणिशरविषेभ्यो नित्यमिति वक्तव्यम्” [वा०] कवरं पुच्छुमस्याः कवरपुच्छी । मणिः पुच्छेऽस्याः
मणिपुच्छी । विषं पुच्छेऽस्याः विषपुच्छी । “ईद्विषशेषणे वे” [१३११०१] इत्यत्र खङ्गादिभ्यः ईवन्तस्य
परवचनमुक्तम् । “उपमानात् पक्षपुच्छाभ्यामिति वक्तव्यम्” [वा०] उलूक इव पक्षावस्थाः उलूकपक्षी शाला ।
उलूक इव पुच्छुमस्या उलूकपुच्छी सेना ।

न क्रोडादिवह्वचः ॥३॥१॥४९॥ क्रोडादिर्गणः । क्रोडाद्यन्तात् बह्वजन्ताच्च मृदो ङीत्यो न भवति ।
“स्वाङ्गान्नीचः” [३११४७] इति प्रातिः । क्रोडाशब्दः स्त्रीलिङ्गः । कल्याणी क्रोडा अस्याः कल्याणक्रोडा ।
कल्याणगोला । कल्याणबाला । कल्याणखुरा । कल्याणशफा । कल्याणमुदा । क्रोडादिराकृतिगम्याः । सुभगा ।
सुगला । बह्वचः खल्वपि । पृथुजघना । दृढदया । महाललाटा ।

सहनञ्विद्यमानात् ॥३॥१॥५०॥ सह नञ् विद्यमान इत्येतेभ्य उत्तरं यत्स्वाङ्गं तदन्तात्
ङीत्यो न भवति । सकेशा । अकेशा । विद्यमानकेशा । सनासिका । अनासिका । विद्यमाननासिका । सुदन्ता ।
अदन्ता । विद्यमानदन्ता ।

नखमुखात्खौ ॥३॥१॥५१॥ नख मुख इत्येवमन्तान्मृदः खुविषये ङीत्यो न भवति । शर्पणखा ।
व्याघ्रणखा । वज्रणखा । “पूर्वपदात् खावगः” [१४१८७] इति शत्वम् । गौरमुखा । शलङ्गणमुखा ।
कालमुखा । संज्ञाशब्दा एते । खाविति किम् ? शर्पणिव नखा अस्या शर्पणखी । शर्पणखा ।
चन्द्रमुखी । चन्द्रमुखा ।

सख्यशिश्वी ॥३॥१॥५२॥ सखी अशिश्वी इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । ङीविधिर्निपात्येते । सखीयं
कुमारी । नास्याः शिशुरस्ति अशिश्वी ।

जातेरयोः ॥३॥१॥५३॥ अत इति वर्तते । जातिवाचिनः अयकारोऽङो मृदः स्त्रियां ङीत्यो भवति ।
“आकृतिग्रहणा जातिलिङ्गानां च न सर्वभाक् । सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरयैः सह ।” आकृतिः
संस्थानम् । आकृतिग्रहणमस्याः आकृतिग्रहणा । ब्राह्मणत्वादीनां जातिविशेषाणां संस्थानविशेषाभावात् कथं
संग्रहः ? लिङ्गानां च न सर्वभाक् । एकलिङ्गो द्विलिङ्गो वा भावो जातिः । ब्राह्मणत्वादिषु केवलमुपदेशमात्रं
जातिव्यवहारस्य निर्वन्धनम् । जात्यभावेऽपि द्विलिङ्गतास्ति देवदत्तः देवदत्ता इति । अथ कथं त्रिलिङ्गेषु तदस्तदी
तदमित्येवमादिषु जातिवाचित्वम् ? सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या । अभिधानप्रत्यययोरनाकस्मिन्कत्वात्त्रिमितं जातिरि-
ति । एवं सकृदाख्याता निश्चयेन ग्राह्या । ननु सर्वे शब्दा जातिवाचिनः इत्यस्मिन् दर्शने यद्वञ्छाशब्दानां
क्रियागुणाशब्दानां च जातिशब्दत्वं देवदत्तादयोऽपि संज्ञाशब्दा बाल्यकौमारयौवनादिष्वन्वयिनीमाकृतिमवल-
म्बन्ते । एवं च देवदत्ता कारणा शुक्लेत्यत्र ङीविधिः प्रसज्येत । यदीदं दर्शनमाश्रीयेत व्यावर्त्यं नास्तीति
ग्रहणमनर्थकं स्यात् । तस्माद्येषां जातिरेव प्रवृत्तेर्निमित्तं त इह जातिशब्दाः । गोत्रं च लौकिकमपत्यमात्रं

जातिः । नात्राकृतिः प्रतीयते नापि किञ्चिल्लिङ्गमस्ति येन सकृदाख्यायेत । लिङ्गानां च न सर्वभागित्यस्मिन् दर्शने गोत्रं चेति न वक्तव्यम् । चरणैः सहेति चरणमध्ययनवशात् क्रिया तदात्मकं^१ जातिः । कुक्कुटी । ब्राह्मणी । तटी । नाडायनी । बह्वृची । कठी । कठेन प्रोक्तमधीते या “शौनकादिभ्यश्छन्दसि णिन्” [३।३।७७] इति णिन् । परस्याणः “उपप्रोक्तात्” [३।२।२४] इत्युप् । शौनकादिभ्येव । “कठचरकात्” इति इन उप् । जातेरिति किम् ? सुण्डा । अयोङ् इति किम् ? आर्या । क्षत्रिया ।

पाककर्णपर्यपुष्पफलमूलवालयोः ॥३।१।५४॥ पाकादयो द्युभूता यस्य तस्माज्जातिवाचिनो मृदः स्त्रियां ङीत्यो भवति । ओदनपाकी । क्षुपाकी । मूषिककर्णी । शङ्कुकर्णी । पृष्टिपर्णी । शालिपर्णी । शङ्खपुष्पी । हिरण्यपुष्पी । दासीफली । पूगफली । दर्भमूली । शीर्यमूली । गोवाली । अश्ववाली । पुष्पफलमूलोत्तरपदाद्यतो ङीविधिर्नेष्यते तदजादिषु पठनीयम् । पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमेतत् । स्त्रियामेव ये जातिवाचिनः शब्दास्तेषु एतेभ्य एव ङीविधिर्नान्यस्मात् । बलाका । मक्षिका ।

इतो मनुष्यजातेः ॥३।१।५५॥ इकारान्तात्मनुष्यजातिवाचिनो मृदः स्त्रियां ङीत्यो भवति । कुन्ती । अरन्ती । अपत्यार्थे “द्वित्कुन्त्याजादकौशलाब्ज्यः” [३।१।१५३] इति ज्यः । तस्य “कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम्” [३।१।१५७] इत्युप् । एवं दाक्षी । स्याक्षी । इत इति किम् ? विट् । दरत् । यथासंख्यमजयोः “अतोऽप्राच्यभर्गादेः” [३।१।१५८] इत्युप् । मनुष्यग्रहणं किम् ? तित्तिरिः । जातेरिति वर्तमाने पुनर्जातिग्रहणं योजेऽपि यथा स्यात् । औदमेयी । “अयोङ्” [३।१।५३] इति प्रतिषेधः उत्तरत्र त्रिसूत्र्यां च वर्तते । “इव उपसंख्यानमजात्यर्थं कर्तव्यम्” [वा०] सुतङ्गमेन निवृत्ता नगरी सौतङ्गमी । “बुच्छण्कठे” [३।२।६०] इत्यादिना सुतङ्गमादिभ्य इत् ।

ऊरुतः ॥३।१।५६॥ मनुष्यजातेरिति वर्तते । उकारान्तात्मनुष्यजातिवाचिनो मृदः स्त्रियां ऊकार-स्यो भवति । कुरुः । इक्ष्वाकूः । पर्शुः । अस्य “कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम्” [३।१।१५७] इति अजयोः “अतोऽप्राच्यभर्गादेः” [३।१।१५८] इत्युप् । द्विमात्रोच्चारणं “शेषाद्वा” [३।२।१२४] इति परस्यापि कपो बाधनार्थम् । तथाहि ब्रह्मा बन्धुर्यस्याः सा ब्रह्मबन्धुः । वीरबन्धुः । अत्र च समुदायो ब्राह्मणविशेषजातिः । यद्भावेन मृदमृदोरेकादेशो मृद्वद्भवतीति मृत्सजायां स्वाद्युत्पत्तिः । मनुष्यजातेरित्येव । रुरुः । कुक्वाकुः । आलुः । अयोङ् इत्येव । अश्वर्युः स्त्री । अलावूः । कर्कन्धूरित्येवमादय औणादिकाः । कथं अलावुकर्कन्धुह-न्मुफलमिति ? “इकः प्रोऽङ्याः” [३।१।१७२] इति प्रादेशेन सिद्धम् ।

पङ्गोः ॥३।१।५७॥ पङ्गुशब्दात् स्त्रियामूत्यो भवति । पङ्गुः । श्वशुरशब्दशोकाराकारयोः खमूश्च त्यो वक्तव्यः । श्वश्रुः ।

ऊरुद्योरिवे ॥३।१।५८॥ ऊरुशब्दो द्युर्यस्य तस्मान्मृद इवार्थे गम्ये स्त्रियामूत्यो भवति । करभोरुः । कदलीस्तम्भोरुः । नागनासोरुः । इव इति किम् ? वृत्तोरः कन्या ।

संहितशफलक्षणवामादेः ॥३।१।५९॥ संहिताद्यादेर्मुदः ऊरुद्योः स्त्रियामूत्यो भवति । अनिवाथो-ऽयमारम्भः । संहितोरुः । शफोरुः । लक्षणोरुः । वामोरुः । “सहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्” [वा०] संहितोरुः । सहोरुः ।

बाह्वन्तकद्रकमण्डलुभ्यः ॥३।१।६०॥ बाहुशब्दान्तात्मनुदः कद्रकमण्डलुशब्दाभ्यां खुविषये ऊत्यो भवति । मद्रबाहुः । भद्रबाहुः । कद्रुः । कमण्डलुः । कासाञ्चिदेताः संज्ञाः । खाविति किम् ? वृत्तौ बाहु अस्याः वृत्तबाहुः । कद्रुः । कमण्डलुः ।

हृतः ॥३१।६१॥ अधिकारेणोयं संज्ञा । यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्याम आकपो हृत्संज्ञास्ते वेदितव्याः । वक्ष्यति । “यूनस्तिः” [३।१।६२] युवतिः । “कृद्घृत्साः” [१।१।६] इति मृत्संज्ञाया स्वाद्युत्पत्तिः । बहुत्वनिर्देशोऽनुक्तपरिग्रहार्थः । मध्यान्म उक्तोऽन्यतोऽपि भवति । अन्तमः । आदिमः । धर्मार्हाणू विहितः । अधर्मादपि । आधार्मिकः । हृतामिह बहुत्वेन निर्देशे किं प्रयोजनम् ? अनुक्ताच्च हृदुत्पत्तिर्यथा स्यादन्तमादिषु । तथा अनुक्ता अपि हृतो भवन्ति “अग्रपरचाङ्गिमः” [वा०] इत्येवमादयः ।

यूनस्तिः ॥३१।६२॥ युवन्नित्येतस्मात्तिर्भवति स्त्रियाम् । युवतिः । यूनः स्त्रीविवक्षायां कुत्साद्यर्थ-विवक्षायां च परत्वात् कादयः प्राप्नुवन्ति तस्माद्यून इति योगविभागः । यूनो हृत्प्रसङ्गे स्त्रीत्य एव भवति ततः कादयः । युवतिकाः ।

व्योऽनु रूपान्त्ययोर्वृद्धेऽनार्षेऽणिव्योः ॥३१।६३॥ स्त्रियामिति वर्तते । अणिव्यो यौ वृद्धे-ऽनार्षे विहितावन्तु रूपान्त्यौ तदन्तस्य मृदः ध्य इत्ययमादेशो भवति । निर्देश्यमानयोरणिव्योरेव व्यादेशः । “पौत्रादि वृद्धम्” [३।१।७८] इति अपत्यविशेषस्य वृद्धसंज्ञा । ऋषेरिदमार्षं तद्रहिते वृद्ध इति । “स्के रुः [१।२।८१] “दीः” [१।२।८२] इति अर्चां रुसंज्ञोक्ता । रुः उपान्त्यं सन्निहितं ययोरणिव्योस्तयोः ध्यादेशः । वक्त्रः “वे प्यस्य पुत्रयत्योर्जिः” [३।३।६] इत्यत्र विशेषणार्थः । करीषस्येव गन्धोऽस्य करीषगन्धिः । “उपमानात्” [३।२।१३८] इति वा इकारः सान्तः । करीषगन्धेरपत्यं स्त्री करीषगन्ध्या । कौमुद्रगन्ध्या । वराहस्यापत्यं स्त्री वाराह्या । बालाक्या । जातिलक्ष्मणस्य “अयोडः” [३।१।५३] इति प्रतिषेधः । अनल्विधाविति स्थानिवद्भावप्रतिषेधादणिव्योऽपि ङीत्यो न भवति । ततः ध्यान्ताद्वाप् । अद्विविति हलामविवक्षार्थमर्चां निर्द्धारणं क्रियतेऽनु रूपान्त्ययोरिति । अन्यथा येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपीति एकेन वर्णने व्यवधाने वाराह्यादिषु स्यात् । वर्णसङ्घाते व्यवधाने करीषगन्ध्यादिषु न स्यात् । अद्विविति बहुत्वनिर्देशः प्रधानभूतो यत्राचां बहुत्वमस्ति तत्रादेशः । तेनेह न भवति । दाक्षी । प्लाक्षी । रूपान्त्ययोरिति किम् ? औपगवी । वृद्ध इति किम् ? अहिच्छत्रे जाता आहिच्छत्री । अनार्ष इति किम् ? वाशिष्ठी । वैश्वामित्री । अणिव्योरिति किम् ? आर्तभागी । ऋतभागाद्विदादिलक्ष्णोऽञ् । इह उडुलोम्नोऽपत्यं स्त्री औडुलोम्न्या । बाह्वादित्वादिञ् टिले कृते रूपान्त्यत्वं ततः ध्यादेश इति आनुपूर्व्यम्^१ ।

गोत्रावयवात् ॥३१।६४॥ अणिव्योरिति वर्तते । गोत्रमिति पूर्वार्चार्थ्याणां वृद्धस्य संज्ञा । गोत्रावयवाः गोत्राभिमतः कुलाख्याः । गोत्रावयववाचिनो मृदः वृद्धे विहितयोरणिव्योः स्त्रियां ध्यो भवति । अरूपान्त्यार्थोऽयमारम्भः । पुंणिकत्वापत्यं स्त्री पौणिक्या । भुणिकस्य भौणिक्या । मुखरस्य मौखर्या । यत्रानन्तरापत्येऽपि ध्यो दृश्यते क्रौड्यादिषु तत्पठनीयम् । यथा अन्तकाम्या देवदत्ता ।

क्रौड्यादेः ॥३१।६५॥ क्रौडीत्येवमादिभ्यश्च स्त्रियां ध्यो भवति यथासम्भवं ङीटापोः प्राप्तयोः क्वचिदन्तरापत्यार्थः । क्वचिदवहवर्थः । क्वचिदरूपान्त्यार्थः आरम्भः । क्वचिदणिव्योऽन्तोरपि । त्य एवार्यं ध्य इष्यते । क्रौडि । क्रौड्या । “इतो मनुष्यजातेः” [३।१।५२] इति ङीविधिः प्राप्तः । क्रौडि लाडि व्याडि आपिष्ठलि आपिष्ठिति एते इजन्ताः । चौपयत चैटयत सैकयत एते तकारान्ता अणान्ताः । सौघातकिरिजन्तः । “सुतसङ्घाद्युवर्त्या प्यः” [ग० सू०] सत्या । सता अन्यत्र । “भोजात् क्षत्रियजातौ” [ग० सू०] भोज्या । भोबा अन्या । भौरिकि शालास्थलि कापिष्ठलि एते इजन्ता । गौक्या । टवन्तोच्चारणं क्वचिनिवृत्त्यर्थम् । गौक्यापुत्रः ।

दैवयज्ञिशौचिवृत्तिसात्यमुग्रिकाण्डेविद्धिभ्यो वा ॥३१।६६॥ दैवयज्ञि शौचवृत्ति सात्यमुग्रिकाण्डेविद्धि इत्येतेभ्यः वा ष्यो भवति । उभयत्र विभाषेयम् । वृद्धे प्राप्तेऽनन्तरापत्ये चाप्राप्ते । दैवयज्ञ्या । दैवयज्ञी । शौचिवृद्ध्या । शौचिवृद्धी । सात्यमुग्र्या । सात्यमुग्र्यी । काण्डेविद्ध्या । काण्डेविद्धी । अनन्तरापत्ये “इञ् उपसंख्यानमजात्यर्थम्” [वा०] इति डी । वृद्धापत्ये “इतो मनुष्यजातेः” [३१।६६] इति ।

समर्थात्प्रथमाद्वा ॥३१।६७॥ समर्थादिति प्रथमादिति वेति च पदत्रितयमधिकृतं वेदितव्यम् । “किंबहुसर्वनाम्नोऽद्वादेः” [४।१।६८] इत्यतः प्रा ्वक्ष्यति “तस्यापत्यम्” [३।१।७७] उपगोरपत्यं औपगवः । तस्येत्येतत् तातं सूत्रे प्रथमं सन्निविष्टम् तस्मादपत्याभिधाने त्यः । समर्थादित्युच्यते सामर्थ्यं च सुबन्तस्येति सुबन्तात्योत्पत्तिः । द्ववर्णादिति विशेषणार्थं तु ड्याःमृद्ग्रहणमधिक्रियते । वृद्धस्य उपगोरपत्यमिति वाक्यस्यासुबन्तत्वात् वाक्यावयवस्य चासामर्थ्यात् त्यानुत्पत्तिः । समर्थादिति किम् ? कम्बल उपगोरपत्यं देवदत्तस्य । यद्येवं समर्थः पदविधिरिति समर्थादेव भविष्यति किमनेन ? कृतवर्णानुपूर्वकात् पदात् त्यो यथा स्यादित्येवमर्थम् । सूत्रितस्यापत्यं सौत्थितिः । वैज्ञमाणिरिति । “नेन्द्रस्य” [१।२।२७] इत्यत्र वक्ष्यति समुदायकार्यं तावद्भवति पश्चादेकादेशः । एवं वा (चा) संहितात्योत्पत्तवनिष्टं रूपं स्यात् । प्रथमादिति किम् ? तान्ताद्यथा स्यादपत्यशब्दान्मा भूत् । वाग्रहणं किम् ? उपगोरपत्यमिति वाक्यमपि साधु यथा स्यात् । अनन्तराद्वाग्रहणात् सविधिरपि । उपग्वपत्यम् ।

प्राग्द्रोरण् ॥३१।६८॥ “द्रोः” [३।३।११६] “माने वयः” [३।३।१२०] इति वक्ष्यति । प्रागेतस्माद्येऽर्था वक्ष्यन्ते तेष्वण् भवतीति वेदितव्यम् । अधिकारो विधिर्वाऽयम् । अधिकारपक्षे “पीलाया वा” [३।१।१०७] “वोदश्वितः” [३।२।१४] इत्येवमादौ वाचचनादपवादविषये नास्ति वृत्तिः । विधिपक्षेऽपि परिहृत्यापवादविषयं तत् उत्सर्गोऽभिनिविशते । वक्ष्यति तस्यापत्यम् औपगवः । कापटवः । अपवादेन बाधितोऽप्युत्तरानुवर्ततामिति प्राग्वचनम् ।

अश्वपत्यादेः ॥३१।६९॥ अश्वपति इत्येवमादिभ्यः समर्थविभक्त्यन्तेभ्यः अण् भवति प्राग् द्रोरर्थेषु । “पतिद्योः” [३।१।७०] इति एयो वक्ष्यते । तस्यायमपवादः । अश्वपतेरपत्यं आश्वपतः । अश्वपति गणपति वनपति गजपति राष्ट्रपति कुलपति पशुपति धान्यपति बन्धुपति सभापति प्राणपति क्षेत्रपति येऽत्र दुसंज्ञास्तेभ्यो “दोरङ्गः” [३।२।६०] इतिच्छं बाधित्वा पूर्वनिर्णयेनायमेवाण् ।

दित्यदित्यादित्यपतिद्योर्ण्यः ॥३१।७०॥ प्राग् द्रोरिति वर्तते । दिति अदिति आदित्य पतिद्यु इत्येतेभ्यः समर्थविभक्त्यन्तेभ्यः प्राग् द्रोरर्थेषु एयो भवति । अणोऽपवादः । दित्तेरपत्यं दैत्यः । “द्वयचः”, “इतोनिजः” [३।१।११०, १११] इतीमं ढणं पूर्वनिर्णयेनायं बाधते । सर्वतो “अकत्यर्थात्” [३।१।३१ ग०सू०] इति डीविधौ कृते परत्वाङ्ण् च भवति । दैतेयः । लिङ्गविशिष्टपरिभाषा वा नित्या अदित्तेरपत्यं आदित्यः । आदित्यस्यापत्यमादित्यः । प्राक्कनस्य यकारस्य “न्यच्यनाद्घृत्यापत्यस्य” [४।४।१४१] इति “हलो यमां यमि खम्” [१।४।१३८] इति वा खम् । पतिद्योः खल्वापि । बार्हस्पत्यः । सैनापत्यः । प्राजापत्यः । एयादयोऽर्थविशेषलक्षणादण् (णोऽ) पवादात् पूर्वनिर्णयेन (इति) एय एत्र भवति । वनस्पतीनां समूहः वानस्पत्यम् । “यमाञ्चेति वक्तव्यम्” [वा०] यमस्यापत्यं याम्यः । “पृथिव्या जाजौ” [वा०] । पार्थिवः । पार्थिवी । “देवस्य यजजौ” [वा०] । दैव्यम् । दैवम् । “बहिषष्टिर्षं यज्ज” [वा०] । बाह्यम् । “ईकण् च” [वा०] बाहीकः । भेर्ममात्रदिक्खमनित्यमारातीय इत्यादौ । स्थाम्नोऽकारः । अश्वत्थाम्नोऽपत्यम् अश्वत्थामः । “लोमनश्चापत्येण बहुषु” [वा०] उडुलोमाः । शरलोमाः । बहुष्विति किम् ? औडुलोमिः । शारलोमिः । “सर्वत्र गोरजादिप्रसङ्गे यः” [वा०] गव्यः । अजादिप्रसङ्ग इति किम् ? गोरुप्यम् । गोमयम् ।

१. प्रकृत्य चापवादविषयं...इति परिभाषेन्दुशेखरे । २ बन्धुपति अ०, व॥, स० ।

इह तर्हि न प्राप्नोति पञ्चानां कपालानां समाहारः पञ्चकपाली । पञ्चकपाल्यां संस्कृतः पञ्चकपालः । नैव दोषः । अव्यविकन्यायेन पञ्चकपालशब्दात् त्योत्पत्तिः । यथा अवेर्मासं आविक्रमिति अविकशब्दादेव त्यो नाविशब्दात् । अनपत्य इति किम् ? द्वयोर्देवदत्तयोरपत्यं द्वैदेवदत्तिः । अजग्रहणमनुवर्तते । तेनेह न भवति । पञ्चभ्यो गर्गेभ्य आगतं पञ्चगर्गुप्यम् । प्राग्द्रोरित्येव । द्वाभ्यामक्षाभ्यां दीव्यति द्वैयत्तिकः । त्रैयत्तिकः ।

यूनि ॥३१।७५॥ प्राग्द्रोरिति वर्तते अचीति च । यूनि यस्त्यस्तस्योब् भवति प्राग्द्रवीयेऽजादौ त्य उत्पत्त्यमाने । फाण्टाहृतस्यापत्यं फाण्टाहृतिः । तस्यापत्यं युवा “फाण्टाहृतेर्यः” [३१।१३८] इति णः । फाण्टाहृतः । तस्य यूनश्छात्रा बुद्धिस्य एवानुत्पन्नेऽजादौ त्ये णस्योपि कृते इजन्तमिदं जातम् । “इजः” [३१।८८] इत्यण् भवति । फाण्टाहृताः । भगवित्तस्यापत्यं भागवित्तिः । तस्यापत्यं युवा “दोषण् सौबरेषु प्रायः” [३१।१३६] इति ठण् । भागवित्तिकः । तस्य यूनश्छात्राः ठण् उपि कृते “इजः” [३१।८८] इत्यण् । भागवित्ताः । तिकस्यापत्यं तैकायनिः । तस्यापत्यं युवा “फेरङ्गः” [३१।१३७] इति छः । तैकायनीयः । तस्य यूनश्छात्राः छस्योपि कृते “दोश्ङ्गः” [३१।१३०] इति छः । तैकायनीयाः । ग्लुचुकस्यापत्यं “फिरदोः” [३१।१३७] इति फिः । ग्लुचुकायनिः । तस्यापत्यं युवा “प्राग्द्रोरण्” [३१।६८] ग्लौचुकायनः । तस्य यूनश्छात्रा अण् उपि तस्येदमित्यण् । ग्लौचुकायनाः । कपिञ्जलादस्यापत्यं कापिञ्जलादिः तस्यापत्यं युवा “कुवादेण्यः” [३१।१३६] इति ण्यः । कापिञ्जलाद्यः । तस्य यूनश्छात्रा ण्यस्योपि कृते “इजः” [३१।८८] इत्यण् कापिञ्जलादाः । अचीत्येव । फाण्टाहृतरूप्यम् । फाण्टाहृतमयम् । प्राग्द्रोरित्येव । भागवित्तिकाय हितं भागवित्तिकीयम् ।

फण्फिञ्चोर्वा ॥३१।७६॥ यूनीति वर्तते । यूनि यौ फण्फिञ्चौ तयोर्वा उभभवति प्राग्द्रवीयेऽजादौ त्ये विवद्विते । पूर्वेषु नित्ये उपि प्राप्ते विभाषेयम् । गार्ग्यस्यापत्यं युवा “यञ्चिञ्चोः” [३१।१३०] इति फण् । गार्ग्यायणः । तस्य यूनश्छात्राः गार्ग्याया गार्ग्या वा । फिञ्चः खल्वपि । यस्कस्यापत्यं “शिवादिभ्योऽण्” [३१।१०१] यास्कः । यास्कस्यापत्यं युवा “द्व्यचोऽण्” [३१।१३३] इति फिञ् । यास्कायनिः । तस्य यूनश्छात्राः यास्कीयाः । यास्कायनीयाः ।

तस्यापत्यम् ॥३१।७७॥ तस्येति तासमर्थात् अपत्यमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । हृदर्थनिर्देशे लिङ्गवचनादिकमविवक्षितमप्राधान्यात् । उपगोरपत्यं औपगवः । तान्तादण् । उक्त्तार्थस्यापत्यशब्दस्य निवृत्तिः । “सुपो धुमदोः” [१।४।१४२] इति सुप उप् । ऐप् । आश्वपतः । दैत्यः । सैनापत्यः । औत्सः । स्त्रैणः । पौंसः । वृत्तौ स्वभावत एकार्थिभावः । प्रकृत्यर्थो विशेषणभूतोऽप्रधानम् । त्यार्थस्य सामान्येन प्रवृत्तस्य विशेषेऽवस्थापनात्यार्थः प्रधानम् । गुणप्रधानभावेन प्रकृतिस्त्यश्च त्यार्थं सह ब्रूत इति । ननु च तस्येदं विशेषणं (सामान्यम्) एते अपत्यं समूहो निवासो विकार इति । तस्येदमित्येव सिद्धं किमर्थमिदमुच्यते ? बाधकबाधनार्थम् । भानोरपत्यं भानवः । श्यामगवः । दुलक्ष्णश्छो बाधितः । “तस्यापत्यम्” “अद्बाह्वादेरिञ्” [३१।८५] इत्येव वक्तव्ये इह करणं पूर्वैरुत्तरैश्च त्यैरभिसंबन्धो यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

पौत्रादि वृद्धम् ॥३१।७८॥ पुत्रस्यापत्यं पौत्रः । विदादित्वाद्बृ । प्रथमादिति वर्तमानमर्थवशात्तया विपरिणम्यते । प्रथमस्य पौत्रादि यदपत्यं तद् वृद्धसंज्ञं भवति । संज्ञाविषयस्य प्रथमस्य गर्गस्यापत्यं गार्ग्यः । वात्स्यः । “वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ङ्” [३१।८७] इति वर्तमाने “गर्गादिभ्यञ्” [३१।६४] इति यञ् । पौत्रादीति किम् ? गार्गिः । अनन्तरमपत्यं वृद्धं मा भूत् ।

एकः ॥३१।७९॥ वृद्धमिति वर्तते । वृद्धेऽपत्ये विवद्विते एक एव त्यो भवति । स्वस्याः स्वस्याः प्रकृतेरपत्यभेदविवक्षायामनेकं त्यं बुद्ध्या समुदायीकृत्य नियमः क्रियते । यदिदं गर्गादिपितृकमपत्यजातं वृद्धं

तस्मिन्नेक एव ल्यो भवति । स च परमप्रकृतेर्भवति । यदपि व्यवहितेन जनितमपत्यं तदपि परमप्रकृतेः सामान्येनापत्यं भवत्येव । यदपि सर्वेऽप्यपत्येन युज्यन्ते तथापि प्रथमादित्यनुवर्तनात् परमप्रकृतैरेव भविष्यति गर्गस्यापत्यं गार्ग्यः । तत्सुतोऽपि गार्ग्यः । एवं व्यवहितेऽपि वृद्धापत्ये विवक्षिते गर्गशब्दाद् यजेव भवति । अथवा प्रकृतिनियमोऽयं वृद्धापत्ये विवक्षिते एक एव शब्दः प्रथमा प्रकृतिः त्यसुत्पादयति नान्येति प्रकृतिर्नियम्यते । एवं नडस्यापत्यं नाडायनः ।

ततो यूनि ॥३१।८०॥ ततो वृद्धत्यान्ताद् यून्यपत्ये विवक्षिते एक एव ल्यो भवति । गार्ग्यस्यापत्यं युवा गार्ग्यायणः । दान्नायणः । औपगविः । नाडायनिः ।

जीवति तु वंश्ये युवाऽहो ॥३१।८१॥ वंशः पितृपितामहादिप्रबन्धः; तत्र भवो वंश्यः पित्रादिः । पौत्रादीति वर्तते । तच्चार्थवशात् तान्तं संबध्यते । पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादिकं तद्वंशे जीवति युवसंज्ञं भवति स्त्रियं वर्जयित्वा । गार्ग्यस्यापत्यं गार्ग्यायणः । दान्नेर्दान्नायणः । अस्त्रियामिति किम् ? गार्ग्यस्यापत्यं स्त्री गार्गी । दान्नी । तु शब्दो वृद्धसंज्ञासमावेशनिवृत्त्यर्थम् । इह दोषः स्यात् । सालङ्केरपत्यं युवा “यजिजोः” [३।१।१६०] इति फण् । पैलस्यापत्यं युवा “द्वयचोऽणः” [३।१।१४३] इति फिञ् । तयोर्युनि “पैलादेः” [१।४।१३१] इत्युच् भवति । वृद्धसंज्ञासमावेशे तु “वृद्धेऽच्यनुप्” [३।१।७३] इति प्राग्द्रवीये अजादावनुप् प्रसज्येत । अस्तु “यूनि” [३।१।७२] इति भविष्यति । इह तर्हि दोषः । “फण्फिजोर्वा” [३।१।७६] इति उन्विभाष्यते । उपप्लेऽपि वृद्धसंज्ञासमावेशे “वृद्धेऽच्यनुप्” [३।१।७३] इति अनुपप्ल्यात् । अथासमावेशे कथं वृद्धलक्ष्यो बुञ् गार्ग्यायणानां समूहः गार्ग्यायणकम् । वक्ष्यति “वृद्धोक्षोऽटो” [३।२।३४] आदिसूत्रे वृद्धग्रहणेनैव सिद्धे राजन्यमनुष्यग्रहणं ज्ञापकमपत्याधिकारादन्यत्र वृद्धग्रहणे लौकिकं गोत्रग्रहणम् । तेन वृद्धयूनोः समावेशः ।

भ्रातरि च ज्यायसि ॥३१।८२॥ पौत्रादिरपत्यमिति वर्तते । भ्रातरि च ज्यायसि जीवति कनीयान् भ्राता युवसंज्ञो भवति । मृतेऽपि वंश्ये यथा स्यादित्यारम्भः । भ्राता वंश्यो न भवति साक्षात् परम्परया वा । अकारणत्वाद्गार्ग्यस्य द्वौ पुत्रौ ज्यायसि जीवति कनीयान् गार्ग्यायणः । एवं दान्नायणः । ज्यायांस्तु भ्राता गार्ग्यो दाक्षिरिति ।

चान्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति ॥३१।८३॥ पौत्रादेरपत्यमिति वर्तते । येषां सप्तमः पुरुष एकस्ते सपिण्डाः परस्परम् । बसे यसे वा सपिण्डशब्दः । समानस्य सभाव इहैव निपातितः । प्रकृतं जीवतीति शत्रन्तं स्थविरतरस्य विशेषणम् । इदं तु जीवतीति पदं तिङन्तं संज्ञिनो विशेषणम् । आतुरन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति पौत्रादेरपत्यं यज्जीवति तद्वा युवसंज्ञं भवति । गार्ग्यायणो गार्ग्यः । दान्नायणो दाक्षिः । अन्यग्रहणं किम् ? भ्रातरि इति वर्तते । तस्मिन्नेव सपिण्डे पितृव्यपुत्रे जीवति स्यात् । सपिण्डग्रहणमसम्बन्धान्यसम्बन्धनिरासार्थम् । ज्यायसीति वर्तमाने स्थविरतरग्रहणं किम् ? स्थानवयोभ्यां ष्येष्टे सपिण्डे यथा स्यात् भ्रातृव्ये वयोष्येष्टे पितृव्यः कनीयान् युवसंज्ञो न भवति । जीवतीति किम् ? मृते गार्ग्य एव ।

पूजाकुत्सयोर्व्यत्ययः ॥३१।८४॥ वेति वर्तते । परस्परविषयगमनं व्यत्ययः । वृद्धस्य युवसंज्ञा यूनश्च वृद्धसंज्ञेत्यर्थः । पूजायां कुत्सायां च गम्यमानायां यथासंख्यं वृद्धयूनोर्वा व्यत्ययो भवति । पूजायाम्—तत्रभवान् गार्ग्यायणः, तत्रभवान् गार्ग्यो वा । युवसंज्ञासामर्थ्यात् वृद्धत्यस्य युवत्येन योगः । कुत्सायां गार्ग्यस्त्वं जाल्म । गार्ग्यायणस्त्वं जाल्म । वृद्धसंज्ञासामर्थ्यात् युवत्यस्य निवृत्तिः ।

अद्बाह्वादेरिञ् ॥३१।८५॥ तस्यापत्यमिति वर्तते । अकारान्तेभ्यो मृद्भ्यः बाहु इत्येवमादिभ्यश्च अनन्तरे वृद्धे युवसंज्ञके चाऽपत्ये इञ् भवत्यणोऽपवादः । आकम्पनिः । दाक्षिः । औपगविः । अनकारा-

न्तार्थं बाधकबाधनार्थं च बाह्यादिग्रहणम् । बाह्विः । औपवाकविः । बाहु उपवाकु निवाकु वराकु उपबिन्दु एभ्योऽण् प्रातः । वला “द्वयचः” [३।१।११०] इति ढण् प्रातः । वृकला बलाका मूषिका भगला लगहा ध्रुवका सुमित्रा दुर्मित्रा एभ्यः “स्त्रीभ्यो ढण्” [३।१।१०६] इति ढण् । मानुषीलक्षणो वा ढण् स्यात् । पुष्करसत् अनुरदत्^१ अनुशक्तिकादित्वादनयोः पदद्वयस्यैप् । देवशर्मन् अग्निशर्मन् इन्द्रशर्मन् कुनामन् पञ्चन् सप्तन् । “अमितौजसः सखं च” [वा०] सुधावत् उदञ्च अञ्चेर्निपातनात् नलाभावः । शिरस्-शिरोमात्र-स्यापत्यं नास्ति इति तदन्तविधिः । हातिशीर्षिः । पैलुशीर्षिः । शिरसः शीर्षादेशो वक्ष्यते । माषशराविन् क्षेमवृत्विन् शृङ्खलतोदिन् खरनादिन् निपातनादणत्वम् । नगरमर्दिन् प्राकारमर्दिन् लोमन् लोम्ना तदन्तविधिः इत उत्तरं प्रागुदङ्कशब्दात् “कुर्वन्धन्धक” [३।१।१०३] आदिनाऽण् प्रातः । अजीगर्तं कृष्ण युधिष्ठिर अर्जुन साम्ब गद प्रद्युम्न राम संकर्षण मध्यन्दिन सत्यक उदक । “संभूयोऽम्भसोः सखं च” [वा०] ख्याताख्या-तयोः ख्याते संप्रत्यय इति । तेन आदिभ्योऽण् येषां लौकिकगोत्रभावं प्रति प्रवर्तकत्वमस्ति तेभ्य एव इजादयः । इह माभूत् बाहुनाम कश्चित् तस्यापत्यं बाह्वः । आङ्कतिगणत्वात्स्याज्वन्धविः । आञ्जवेनविरिति ।

सुधातुरकङ् च ॥३।१।८६॥ सुधातृशब्दादिञ् भवति तत्सन्नियोगेन अकङ्कदेशश्च । सुधातुर-पत्यं सौधातकिः । “व्यासवरेडनिषादचण्डालबिम्बादीनामिति वक्तव्यम्” [वा०] । न वक्तव्यम् । अव्यविक-न्यायेन कान्तेभ्य एव त्यविधिः । वैयासकिः । वारुडकिः । नैषादकिः । चाण्डालकिः । वैम्बकिः । कामारकिः ।

वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ङफः ॥३।१।८७॥ वृद्धसंज्ञके अपत्ये विवक्षिते कुञ्ज इत्येवमादिभ्यो ङफो भवति । इञोऽपवादः । आदौ अकारः “व्रातन्फादस्त्रियाम्” [४।२।२] इति विशेषणार्थः । कुञ्जस्यापत्यं पौत्रादि कौञ्जायन्यः । कौञ्जायन्यौ । कौञ्जायनाः । “व्रातन्फादस्त्रियाम्” [४।२।२] इति स्वार्थे ङ्यो भवति द्विसंज्ञः । कुञ्ज ब्रध्न शङ्ख गण लोमन् लोमशब्देन तदन्तविधिरिति केचित् । भस्मन् शट । अयं गर्गादिष्वपि । शाक शौण्ड शुभ विपास् । अयं शिवादिष्वपि । स्कन्द स्कम्भ । वृद्ध इति किम् ? कुञ्जस्यापत्यमनन्तरं कौञ्जिः । वृद्ध इत्ययमधिकारश्च “शिवादिभ्योऽण्” [३।१।१०१] इत्यतः प्राक् ।

नडादेः फण् ॥३।१।८८॥ नड इत्येवमादिभ्यो वृद्धेऽपत्ये फण् भवति । नडस्यापत्यं वृद्धं नाडायनः । वृद्ध इत्येव । अनन्तरो नाडिः । नड चर वक मुञ्ज इतिक इतिश उपक लमक शलङ्कु शलङ्कञ्चदेशं लभते । शालङ्कायनः । कथं शालङ्कायनः ? कथं सालङ्किः पिता सालङ्किः पुत्रः [सलङ्क] शालङ्क इति प्रकृत्यन्तरमस्ति । अथवा पैलादिषु पाठसामर्थ्यात् इजपि भवति । पञ्चपूल वाजव्य तिक अग्निशर्मन् वृषगणे । गोत्रे आग्निशर्मायणो भवति वार्षगणश्चेत् । आग्निशर्मिन्यः । प्राण नर सायक दास मित्र द्वीप तगर पिङ्गल किङ्कर कथन कतर कतल काश्य काव्य सैव्य अजावाच्य स्तम्भ शिशपा अमुष्य निपातनात् साधुः । कृष्णरणौ ब्राह्मणवाशिष्ठयोः । यथाक्रमं ब्राह्मणवाशिष्ठेऽर्थे । अजमित्र लिगु चित्र कुमार । क्रोष्टु-रपत्यं क्रोष्टवं च । लोह दुर्ग अग्र तृण शकट सुमत मिमत ब्राह्मण चटक । ऐरोपीष्यते । घाटकैर बदर अश्वल अस्वर कामुक ब्रह्मदत्त उदम्बर अलोह दण्डथा । अन्ये इमानपि पठन्ति वक्ष्यमाणान् । क्व् जत् इत्त्व जनलत् हिंसक दण्डिन् हस्तिन् पञ्चाल चमसिन् । लौकिकगोत्रमात्र इत्येव । नडो नाम कश्चित्तस्यापत्यं नाडिः ।

हरिताद्यजः ॥३।१।८९॥ हरितादिर्विदाद्यन्तर्गणः । हरितादिभ्योऽजन्तेभ्यः फण् भवति । इञोऽ-पवादः । इह वृद्धग्रहणमनुवर्तमानमञो विशेषणम् । वृद्धे योऽण् विहितस्तदन्तात् फण् एक इति निय-माद्युनि द्रष्टव्यः । हरितस्यापत्यं युवा हरितायनः । कैन्दासायनः ।

यजिजोः ॥३।१।६०॥ अत्रापि वृद्धग्रहणं यजिजोर्विशेषणम् । वृद्धे विहितौ यौ यजिजौ तदन्ता-
त्फण् भवति । सामर्थ्याद्यनूतिं ज्ञातव्यम् । गार्ग्यायणः । दाक्षायणः । इह गार्ग्या अपत्यं गार्गेय इति लिङ्ग-
विशिष्टस्य ग्रहणेऽपि परत्वाद्दृग् भवति ।

शरद्वच्छुनकदर्भाद् भृगुवत्साग्रायणेषु ॥३।१।६१॥ वृद्ध इति वर्तते । शरद्वत् शुनक दर्भ
इत्येतेभ्यः फण् भवति यथासंख्यं भार्गवे वात्स्ये आग्रायणे चापत्येऽभिधेये । शारद्वतायनो भवति भार्गव-
श्चेत् । शारद्वतोऽन्यः । शौनकायनो भवति वात्स्यश्चेत् । शौनकोऽन्यः । दार्भायणो भवति आग्रायणश्चेत् ।
दार्भिरन्यः । शरद्वत्शुनकशब्दौ विदादिषु पठ्येते ।

द्रोणपर्वतजीवन्ताद्वा ॥३।१।६२॥ द्रोण पर्वत जीवन्त इत्येतेभ्यो वृद्धापत्ये फण् च भवति ।
द्रौणायणः । द्रौणिः । पार्वतायनः । पार्वतिः । जैवन्तायनः । जैवन्तिः । वृद्ध इत्येव । द्रौणिः ।

विदादिभ्योऽनृष्यानन्तर्येऽञ् ॥३।१।६३॥ वृद्ध इति वर्तते । विद इत्येवमादिभ्यः अनृषीणामान-
न्तर्ये अञ् भवति । विदस्यापत्यं वैदः । विद उर्वं कश्यप कुशिक भरद्वाज उपमन्यु किलात किन्दर्म विश्वानर
ऋषिषेण ऋतभाग हर्षश्च प्रियक आपस्तम्ब कूचवार शरद्वत् शुनक घेनु गोपवन शिशु विन्दु भाजन तामज
अश्रावतान श्यामाक श्यापर्ण गोपवनादिप्रतिषेधः प्राग्वरितादेः इत ऊर्ध्वं बहुत्वेऽञ् उवेव भवति । हरित
किन्दास वह्यस्क अकलूष वध्योग विष्णु वृद्ध प्रतिबोध रथन्तर गविष्ठिर निषाद निषादशब्दस्य “सुचातुरकञ् च”
[३।१।६६] इत्यत्र नैषादकिरुक्तोऽनन्तरे वृद्धे परत्वादयमञ् । मठर । अयं गोपवनादिष्वपि मठराद्यपि ।
एते हरितादश्च इत्याचार्यस्मृतिः । पृदाक सृदाक पुनर्भ्यादिष्वनन्तरेऽपत्ये पुनर्भू पुत्र दुहितृ ननान्द परस्त्री
परशुं च या तु सवर्णा परस्य स्त्री परस्त्री सा कल्याणयादिषु पठ्यते पारस्त्रियेणः । वृद्ध इत्येव । अनन्तरो
वैदः । बाह्यादेराकृतिगणत्वाद् ऋष्यण् न भवति लौकिकगोत्रमात्र इत्येव । वैदो नाम कश्चित् तस्य वैदः ।
अनृष्यानन्तर्यं इति किमर्थम् ? पुनर्भूप्रभृतीनामनृषीणामानन्तर्ये अनन्तरेऽपत्ये अन्वेदितव्यः । ये तु ऋष्य-
पत्यानां नैरन्तर्यं प्रतिषेधमाचक्षते । तेषां कौशिको विश्वामित्र इति न स्यात् । ऋष्यानन्तर्यं प्रतिषेधो नास्ति ।
इन्द्रभूः सप्तमः काश्यपानाम् । भारद्वाजानां कतमोऽसीति “तस्येदम्” [३।१।६८] इत्यया भविष्यतीति ।

गर्गादियञ् ॥३।१।६४॥ वृद्ध इति वर्तते । गर्ग इत्येवमादिभ्यः वृद्धापत्ये यञ् भवति । गर्गस्यापत्यं
पौत्रादि गार्ग्यः । गर्ग वत्स “वाजादसे” [सू० ग०] । अस इति किम् ? सौवाजिः । संकृति अञ् व्याघ्रपात्
विदभृत् पुलस्ति प्राचीनयोग पुलस्त्यशब्दात् ऋष्यणि पौलस्त्यः । स्त्रियामणि पौलस्त्यी । यजि पौलस्त्यायनीति
विशेषः । रेभ अग्निवेश शङ्ख शट धूम अवट मनस् धनञ्जय वृद्ध विश्वावसु जरमाण लोहित संशित बभ्रु
मण्डु मञ्जु सङ्कु शङ्कुलि गुगुलु जिगीषु मनु मन्तु तन्तु मनयी दण् प्रातः । “भस्य हत्यडे” [चा०]
इति पुंवद्भावः कस्मान्न भवति । कौडिन्यागस्ती इति निर्देशात् । यदि यजि पुंवद्भावः स्यात् , कुण्डनी-
शब्दस्य पुंवद्भावे टिखे च कृते कौण्डिन्य इति न स्यात् । स्रुत कथक रुद्ध तलुद्ध तणु वतण्ड कपि कत
सकल कुरुकत । अयमनुशक्तिकादौ । अनडुह कण्ठ गोकन्ध अगस्त्य कुण्डनी यज्ञवल्क अभयजात विरोहित
वृषगण रडूगण शशिडल मुद्गल मुसल पराशर जत्कर्ण मन्त्रित अश्रमरथ शर्कराद्ध पूतिमाष स्थूरा अरराक
वामरथ पिङ्गल कृष्ण गोलुन्द उलूक तितम्भ तितव मिषज तिलज भण्डित चैकित देवडू इन्द्रडू एकडू
एकलू पिप्लु बृहदग्नि सुलामिन् कुटीगु उक्थ । वृद्ध इत्येव । आनन्तरो गार्गिः । कथमनन्तरो जामदग्न्यो
रामः पाराशर्यो व्यास इति ? गोत्राध्यारोपेण । अनन्तरापत्ये ऋष्यणा भवितव्यम् । लौकिकगोत्रमात्र इत्येव ।
यो गोत्रस्याप्रवर्तको गर्गस्तस्यापत्यं वृद्धं गार्गिः ।

मधुबभ्रुवर्षाहाणकौशिकयोः ॥३।१।६५॥ वृद्ध इति वर्तते । मधु बभ्रु इत्येताभ्यां यञ् भवति
यथासंख्यं ब्राह्मणे कौशिकेऽत्राभिधेये । मन्त्रव्यो ब्राह्मणश्चेत् । माधवोऽन्यः । बाभ्रव्यः कौशिकश्चेत् । बाभ्र-

वोऽन्यः । बभ्रुशब्दो गर्गादिषु पठ्यते । तस्येह नियमार्थं वचनम् । कौशिक एव यथा स्यात् । गर्गादिषु पाठो लोहितादिकार्यार्थः । बाभ्रुव्यायणी । अथ गणो एव कौशिकप्रहणं कर्तव्यम् । इह करणं वृद्धार्थम् । ननु गणोऽपि वृद्धे यञ्चिहितः । इदमेव तर्हि शपकं गणपाठे क्वचिदनन्तरापत्येऽपि यञ् भवति । जामदग्न्यो रामः । पाराशर्यो व्यास इति ।

कपिबोधदाङ्गिरसे ॥३१।६६॥ वृद्ध इति वर्तते । कपिबोधशब्दाभ्यां यञ् भवति आङ्गिरसेऽपत्यविशेषे । काप्यः आङ्गिरसश्चेत् । अन्यत्र “इतोऽनिजः” [३।१।१११] इति ढगि कापेयः । बौध्य आङ्गिरसश्चेत् । बौधिरन्यः । इऽपि कपिशब्दस्य गर्गादिषु पाठः । तस्य नियमार्थं वचनम् । आङ्गिरस एव यञ् । गर्गादिषु पाठो लोहिताद्यर्थः । काप्यायनी । मधुबोधयोस्तु यत्स (यञि) तयोऽभयम् । माधवौ माधव्यायनी । बौबी बौध्यायनी ।

वतण्डात् ॥३१।६७॥ आङ्गिरस इति वर्तते । वतण्डशब्दादाङ्गिरसेऽपत्यविशेषे वृद्धे यञ् भवति । वातण्ड्यः । आङ्गिरस इत्येव । अनाङ्गिरसे शिवादिपाठादण् वातण्ड इति । गर्गादिषु पाठादनाङ्गिरसे यञ् लोहितादिकार्यार्थः । वातण्ड्यायनी ।

स्त्रियामुप ॥३१।६८॥ आङ्गिरस इति वर्तते । वतण्डशब्दादाङ्गिरस्यां स्त्रियां यञ् उभभवति । वतण्डस्यापत्यं वृद्धा स्त्री वतण्डी । यञ् उपि “जातेरयोः” [३।१।५३] इति ङीविधिः । आङ्गिरस इत्येव । वातण्ड्यायनी । शिवाद्यणि वातण्डा । वृद्धादन्यत्र वातण्डी ।

अश्वदेः फञ् ॥३१।६९॥ वृद्ध इति वर्तते । आङ्गिरस इति निवृत्तम् । अश्व इत्येवमादिभ्यो वृद्धे फञ् भवति । अश्वस्यापत्यं आश्वायनः । अश्व अश्मन् शङ्ख शूद्रक कुञ्जादिषु गर्गादिषु च पठ्यते । विद पुट रोहिण्य खद्वार खञ्जर खञ्जूर वटिल भण्डिल भटल भडित भण्डित प्रहृत रामोद क्षत्र ग्रीवा काश काण वात गोलाङ्क अर्क स्वन ध्वन पत पाद चक्र कुल अविष्ट पविन्द पवित्र गोमिन् श्याम धूम्रवाग्मिन् विश्वानर स्फुट कुट कुंठि शपादात्रेये । शापिरन्यः । जनक सनक खनक ग्रीष्म अर्ह वीज रीक्ष^२ विशम्प विशाल गिरि चपल चुप दासक । येऽत्र वृद्धत्यान्तास्तेभ्यः सामर्थ्यात् यूनि फञ् द्रष्टव्यः । वैश्य वैल्व वाद्य आनडुह्य धाप्य जात शब्दात् पुंसि । जातेयोऽन्यः । अर्जुन । अस्य बह्वादिषु पाठोऽनन्तरार्थः । शूद्रक सुमनस् दुर्मनस् । आत्रेयाद्भारद्वाजे । आत्रेयिरन्यः । भारद्वाजादात्रेये । विदाद्यणि भारद्वाजोऽन्यः । उत्स उत्सादिषु पाठोऽनन्तरार्थः । आतव कितव किष शिव खदिर वृद्ध इत्येव । आश्विः । लौकिक गोत्र इत्येव । गोत्रस्या प्रवर्तको योऽश्वः तस्यापत्यमेकान्तरितमाश्विः ।

भर्गात् त्रैगर्ते ॥३१।१००॥ वृद्ध इति वर्तते । भर्गशब्दात् फञ् भवति त्रैगर्तेऽपत्यविशेषे । भार्गायणो भवति त्रैगर्तश्चेद् । भार्गिरन्यः ।

शिवादिभ्योऽण् ॥३१।१०१॥ वृद्ध इति निवृत्तम् । इत उद्ध्वं सामान्येनापत्ये त्यविधानम् । शिव इत्येवमादिभ्योऽण् भवत्यपत्यमात्रे । इजादीनामपवादः । शिवस्यापत्यं शैवः । शिव प्रोष्ठ प्रोष्ठिक चण्ड बभ्रु भूरि । अस्मात् “इतोऽनिजः” [३।१।१११] इति ढण् प्राप्तः । कुठार अन^३ भिग्लान सन्धि मुनि ककुत्स्थ कोहड कहुय रोवाविरल (रोध विरल) वतण्ड । स्त्रियां वातण्ड्या । तृण कर्ण क्षीर हृदय परिषिक गोपिलका कपिलका जटिलका वधिरका मञ्जरीरक वृष्णिक खञ्जर खञ्जल रेभ आलोखन विश्रवण रवण । विश्रवोऽपत्यमिति विग्रह्य विश्रवणरवणादेशौ । प्रकृत्यन्तरे वा । अव्यविकन्यायेन ताभ्यामेवाण् । वर्तनात् विकट पिटक तृक्षक विभाग नभाक तटाक ऊर्यानाम जरत्कारु उत्क्रोयस्तु रोहितिका आर्यश्वेता । आभ्यां ‘स्त्रीभ्यो ढण्’

[३।१।१०३] प्रातः । सुपिष्ट मयूरकर्णं खलुरकर्णं तन्नन् । अत्र कारिलक्षणास्य इजो बाधा । ययस्त्विष्यत एव । तान्नायय इति । ऋष्टिषेण । विदादिष्वस्य पाठो वृद्धार्थः । गङ्गा । अत्र नदीलक्षणास्यास्यो “द्वयचः” [३।१।११०] इति ढष् बाधकः तमपि बाधित्वा “द्वयचो नद्याः” इत्यण् प्रातः । तस्यापि तिकादिषु पाठात् फिज् बाधकः स्यात् । अयं गङ्गाशब्दः शुभ्रादिषु च पठ्यते । तेन त्रैरूप्यम् । गाङ्गः । गाङ्गायनिः । गाङ्गेयः । विपाश । अत्रापि नदीमानुषीलक्षणास्याणः “द्वयचः” [३।१।११०] इति ढष् बाधकः । तमपि “द्वयचो नद्याः” इत्यण् बाधते । तमपि बाधित्वा कुञ्जादिलक्षणां ष्फ एव स्यात् । द्वैरूप्यं चेप्यते । वैपाशः वैपाशायन्य इति । यस्क लह्य दुह्य अयस्थूण भलन्दन विरूपाक्ष विरूपा भूमि ह्ला सपत्नी । “द्वयचो नद्याः” इति गणसूत्रम् । अन्यथा “द्वयचः” [३।१।११०] इति ढष् प्रसज्येत । त्रिवेणी त्रिवेणं च ।

नदीमानुषीभ्योऽदुभ्यस्तदाख्याभ्यः ॥३।१।१०२॥ नदीमानुषीभ्य इत्यर्थनिर्देशः । नदीमानु-
षीवाचिप्रकृतिभ्योऽदुसंज्ञाभ्यस्तदाख्याभ्योऽण् भवति । ढष्ोऽपवादः । यमुनाया अपत्यं यामुनः प्रणेता ।
हरावत्या अपत्यम् ऐरावतः । उद्वयः । वितस्तायाः पलालशिराः वैतस्तः । नर्मदाया नीतो नार्मदः । मानुषीभ्यः-
चिन्तितयाः चैन्तितः । सुदर्शनायाः सौदर्शनः । स्वयंप्रभायाः स्वायंप्रभः । नदीमानुषीभ्य इति किम् ?
सौपर्येयः । वैनतेयः । सुपर्णां विनता च देव्यौ । अन्येषां पक्षिरयौ । अदुभ्य इति किम् ? चान्द्रभागायाः
चान्द्रभागेयः । वायुवेगेयः । तदाख्याभ्य इति किम् ? या (भ्यः), काम्यः । प्रकृतिभ्योऽण् प्रार्थ्यते ता एवाख्या
नामधेयानि नदीमानुषीणां यदि भवति । तेनेह न भवति । शोभनाया अपत्यं शौभनेयः । पुरस्तादपवादोऽय-
मिति अनन्तरमणं बाधते न व्यवहितं ‘क्षुद्राभ्यो वा’ [३।१।१२०] इति ढष्णम् । पुलिकायाः पौलिकेरः ।

कुर्वृष्यन्धकवृष्णोः ॥३।१।१०३॥ कुरवः अन्धकाः वृष्णयश्च क्षत्रियवंशाख्याः । ऋषयश्चेह
ग्राम्या मठपतयो वशिष्ठाद्या गृह्यन्ते । महर्षीणामहिंसादिन्नतोपपन्नानामपत्यापत्यवत्सम्बन्धो नास्ति । कुर्वृषि-
अन्धकवृष्णिवाचिभ्यो मृद्भ्यः सामान्येनापत्येऽण् भवति । इजोऽपवादः । कुरुभ्यः-नाकुलः । साहदेवः ।
दौर्योधनः । ऋषिभ्यः-वाशिष्ठः । वैश्वामित्रः । अन्धकेभ्यः-श्वफल्कः । रान्धसः । श्वैत्रकः । वृष्णिभ्यः-
अदारः प्रातिवाहः । वासुदेवः । आनिरुद्धः । इह आत्रेयः इति परत्वाड्ढष्णम् । यद्यपि भीमसेनः कुरुः, जातसेन
ऋषिः । उग्रसेनोऽन्धकः, विष्वक्सेनो वृष्णिस्तथापि परत्वात्सेनान्तलक्षणां एय इच्च भवति । मध्येऽपवादोऽयं
पूर्वं जित्यं बाधते ।

मातृस्तसंख्यासंभद्रादेः ॥३।१।१०४॥ मातृशब्दस्य संख्यासंभद्रादेः उकारश्चान्तादेशो भवति
अण् चाधिकारात् । द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमातुरो भरतः । शातमातुरः । सांमातुरः । भाद्रमातुरः । अभिधान-
वशात् जननीपर्यायस्य मातृशब्दस्य ग्रहणम् । संख्यासंभद्रादेरिति किम् ? सौमात्रः । वैमात्रेयः । विमातृशब्दः
शुभ्रादिषु पठ्यते ।

कन्यायाः कनीन च ॥३।१।१०५॥ कन्यायाः कनीन इत्ययमादेशो भवति । अण् च तस्मात् ।
ढष्ोऽपवादः । कनीनः कर्णः । कनीनो हि नारकः ।

विकर्णशुक्लुगलाद्रत्सभरद्वाजात्रिषु ॥३।१।१०६॥ विकर्णं शुक्लं लुगल इत्येभ्यः अण् भवति
यथासंख्यं वात्स्ये भारद्वाज आत्रेये चापत्यविशेषे । वत्सभरद्वाजात्रिष्वित्यत्र वत्सादयः शब्दा उपचारात् वृद्धत्या-
न्तेषु वर्तमाना गृह्यन्ते । वैकर्णो भवति वात्स्यश्चेत् । वैकर्णिरन्यः । काश्यपे वैकर्ण्यः । शौङ्गो भवति भार-
द्वाजश्चेत् । शौङ्गिरन्यः । लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणे शुङ्गाया अपत्यं सौङ्गो भवति भारद्वाजश्चेत् । अन्यत्र सौङ्गेयः ।
छागलो भवति आत्रेयश्चेत् । छागलिरन्यः ।

पीलाया वा ॥३१११०७॥ पीला तदाख्या मानुषी । पीलाया अपत्ये वाऽण् भवति ।
पैलः । पैलेयः ।

ढण् च मण्डूकात् ॥३१११०८॥ मण्डूकशब्दाड्ढण् भवति चकारादण् च वा । तेन त्रैरूप्यम् ।
माण्डूकेयः । माण्डूकः । मण्डूकिः । स्त्रियां माण्डूकेयी । अणान्तस्य “कौरव्यासुरिमाण्डूकात्” [३१११२२]
इति फटि कृते माण्डूकायनी । ढणन्तस्य माण्डूक्या ।

स्त्रीभ्यो ढण् ॥३१११०९॥ इह स्त्रीग्रहणेन स्त्रियामित्येवं विहिताष्टाबादयः स्त्रीत्या गृह्यन्ते । स्त्र्यर्थ-
ग्रहणं तु न भवति । शुभ्रादिषु मातृशब्दस्य पाठाञ्जायते । स्त्रीत्यान्तेभ्यो ढण् भवत्यपत्ये । सौपर्येयः ।
वैनतेयः । वायुवेगेयः । स्त्रीत्यग्रहणमिति विशेषणं किम् ? स्त्र्यर्थे मा भूत् । इडबिडः स्त्रिया अपत्यम् ; दरदः
अपत्यम् ऐडबिडः, दारदः । “पीलाया वा” [३१११०७] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या वेति व्यवस्थितविभाषा वर्तते ।
तेन वडवायाः वृषे वान्ये ढण् भवति । वाडवेयो वृषः । अपत्ये वाडव इति । क्रुञ्चकौकिलाभ्यामण् भवति ।
क्रुञ्चाया अपत्यं क्रौञ्चः । कौकिलाया अपत्यं कौकिलः ।

द्व्यचः ॥३११११०॥ द्व्यचश्च स्त्रीत्यान्तादपत्ये ढण् भवति । मानुषीलक्षणस्याणोऽपवादः ।
दत्ताया दात्तेयः । गुप्ताया गौप्तेयः ।

इतोऽनिञः ॥३१११११॥ स्त्रीभ्य इति निवृत्तम् । अविशेषेण स्त्रियाश्च विधानाद् द्व्यच इति
वर्तते । इकारान्तान्मृदोऽनिञन्ताड्ढण् भवति । वलेरपत्यं वालेयः । नाभेयः । आत्रेयः । दौलेयः । इत इति
किम् ? दान्तिः । अनिञ इति किम् ? दात्तायणः । द्व्यच इत्येव । मरीचेरपत्यं मारीचः ।

शुभ्रादेः ॥३११११२॥ शुभ्र इत्येवमादिभ्यो ढण् भवति । इजादीनामपवादः । शुभ्रस्यापत्यं शौभ्रेयः ।
शुभ्र विष्टपुर पिष्टपुर ब्रह्मकृत शतद्वार शतहार शलाथल शलाकाभ्रू लेखाभ्रू विधवा कृकषा रोहिणी रुक्मिणी
विकचा विवसा इलिका दिशा शालूका अजवस्ति शकन्धि । लक्ष्मणश्यामयोर्वाशिष्टे । लाक्ष्मणिरन्यः ।
श्यामायनोऽन्यः । “अश्वदेः” [३११११६] इति फञ् । गोधा । कृकलास । प्राणि विकणाचि^१ प्रवाहण
भरत भागर^२ मष्ट्र मकुष्ट स्रकण्ड मृषण्डु कर्पूर इतर अन्यतर आलीढ सुदत्त सुदत्त सुनामन् सुदामन् कट्ट वृद
अकशाप कुमारिका कुवणिका (किशोरिका) जिह्वाशिन् परिधि वायुदत्त शलाका सवला खड्वर अम्बिका
अशोक गन्धपिङ्गला खरोन्मत्ता कुदत्ता कुसम्बा शुक्र वलीवर्दिन् विस्व वीजश्वन् अश्व अजिर विमातृ ।
आकृतिगणश्चायम् । तेन गाङ्गयेयः पाण्डवेय इत्यादि सिद्धम् ।

विकर्णकुषीतकात्काश्यपे ॥३११११३॥ विकर्णकुषीतकशब्दाभ्यां ढण् भवति काश्यपेऽपत्यवि-
शेषे । वैकर्ण्येयः काश्यपश्चेत् । वैकर्णिरन्यः । कौषीतकेयः काश्यपश्चेत् । कौषीतकिरन्यः ।

भ्रुवो वुक् ॥३११११४॥ भ्रुशब्दादपत्ये ढण् भवति वुक् चागमः । भ्रौवेयः ।

कल्याण्यादीनामिन्ड् ॥३११११५॥ कल्याणी इत्येवमादीनां ढण् भवति इनडादेशश्च । येऽत्र
स्त्रीत्यान्ताः शब्दास्तेषामादेशार्थं वचनम् । ढण् पूर्वैण सिद्धः । अन्येषामुभयार्थं वचनम् । कल्याण्या अपत्यं
कल्याणिनेयः । सौभागिनेयः । कल्याणी सुभगा दुर्भगा बन्धकी अनुकृष्टि जरती वलीवर्दी ज्येष्ठा कनिष्ठा
मध्यमा परस्त्री जारस्त्री ।

कुलटाया वा ॥३११११६॥ कुलान्यटतीति कुलटा । अत एव निपातनात् पररूपम् । कुलटाया
वा इनडादेशो भवति । ढण् स्त्रीभ्य इत्येव सिद्धः । कौलटिनेयः । कौलटेयः । अनियतपुंस्त्वविवक्षायां पर-
त्वात् लुद्रालक्षणे ढण् । कौलटेरः ।

चटकाणशैरः ॥३१११७॥ चटकशब्दाणशैरो भवति । चटकस्यापत्यं चाटकैरः । लिङ्गविशिष्ट-
स्यापि ग्रहणम् । चटकाया अपत्यं चाटकैरः । स्त्रीदणः परलात् शैरः । “स्त्रियामपत्ये उवक्तव्यः” [वा०]
चटकस्य चटकाया वा अपत्यं स्त्री चटका । “ढुडुयुप्” [१११६] इति स्त्रीत्यस्योप् । पुनश्चाप् ।

गोधाया शारः ॥३१११८॥ गोधाशब्दादपत्ये शारो भवति । गौधारः । रणा सिद्धे शारवचनं
ज्ञापकम्, अन्येभ्योऽपि भवतीति । जडस्यापत्यं जाडारः । पण्डस्यापत्यं पाण्डारः । पत्न्यस्य पात्नारः ।

दूण् ॥३१११९॥ दूण् च भवति गोधाशब्दात् । गौधेरः । शुभ्रादिषु पाठात् गौधेय इति
च भवति ।

क्षुद्राभ्यो वा ॥३११२०॥ अनियतपुंस्का अङ्गहीना वा क्षुद्राः । क्षुद्राभ्य इत्यर्थनिर्देशः । क्षुद्रा-
वाचिप्रकृतिभ्यः स्त्रीलिङ्गाभ्यः वा दूण् भवति । दास्या अपत्यं दासेरः । दासेयः । नट्या नाटेरः । नाटेयः ।
काणायाः काणेरः । काणेयः । “द्वयचः” [३१११०] इत्ययं ढण् मध्येऽपवादः पूर्वस्य नदीमानुषीलक्षण-
स्याणो बाधकः ।

ष्वसुश्छरुः ॥३११२१॥ ष्वसुशब्दाद् ऋकारान्तपूर्वान्तादपत्ये छर् भवति । अणोऽपवादः ।
मातृष्वस्त्रीयः । पैतृष्वस्त्रीयः । स्वसुरिति कृतषत्वग्रहणं किम् ? भ्रातृस्वसुरपत्यं भ्रातृस्वस्त्रः । उरिति किम् ?
मातुःस्वसुरपत्यं मातुःष्वश्रः । “वा स्वसुपत्योः” [३११२०] इत्यनुप् ।

ढणि खम् ॥३११२२॥ ढणि परतः ष्वसुर्ऋवर्णपूर्वस्य खं भवति । अनेनैव ढण्निपात्यते । मातृ-
ष्वस्त्रेयः । पैतृष्वस्त्रेयः ।

चतुष्पादभ्यो ढञ् ॥३११२३॥ चत्वारः पादाः यासां ताश्चतुष्पादः । चतुष्पाद्वाचिप्रकृतिभ्यः
स्त्रीलिङ्गाभ्यो ढञ् भवति । अणादीनामपवादः । कामण्डलेयः । सैतवाहेयः । माद्रवाहेयः । जाभ्येयः । ढञि
सति तस्मादुत्पन्नस्य युवत्यस्योन्भवति न ढणि ।

गृष्ट्यादेः ॥३११२४॥ गृष्टि इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्यो ढञ् भवति । अणादीणामपवादः । गृष्टेर-
पत्यं गार्ष्टेयः । अचतुष्पाद्चनमिह गृष्टिशब्दो गृह्यते । गृष्टि द्वष्टि हलि वालि विद्वक्रादि (विंश्र कुद्रि) अजवस्ति
मित्रयु मित्रयोरपत्यं मैत्रेयः । “औणहत्य” [३१११६६] आदिना यकारादेः खं निपात्यते । बहुषु “यस्का-
दिभ्यो वृद्धे” [११११३४] इति उप् । मित्रयवः ।

क्षत्राद् घः ॥३११२५॥ क्षत्रशब्दादपत्ये वा भवति । क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः । जातावभिधानम् ।
अन्यत्र क्षत्रिः ।

राजश्वशुराद्यः ॥३११२६॥ राजश्वशुरशब्दाभ्यामपत्ये यो भवति । राज्ञोऽपत्यं राजन्यः ।
इहापि जातावभिधानम् । राजनोऽन्यः । श्वशुरस्यापत्यं श्वशुर्यः । ख्यातस्य सम्बन्धवचनस्य प्रेक्षणात् संज्ञायां
श्वाशुरिः ।

कुलाङ्कञ्च ॥३११२७॥ कुलशब्दादपत्ये ढकञ् भवति यश्च । कुलस्यापत्यं कौलेयकः ।
कुल्यः । इहापि भवति ईषदसिद्धं कुलं बहुकुलं “वा सुपो बहुःप्राक्” [३१११२०] इति बहुल्यः । बहुकुल-
स्यापत्यं बाहुकुल्येयकः । बहुकुल्यः ।

खः ॥३११२८॥ कुलशब्दात् खश्च भवति । कुलीनः । उत्तरत्र खस्यानुवृत्तिर्यथा स्यादिति
योगविभागः ।

सादेः ॥३११२९॥ सह आदिना वर्तते इति सादिः । सादेः कुलशब्दात् खो भवति । आढ्य-
कुलीनः । राजकुलीनः । क्षत्रियकुलीनः । स-त्यविधौ न तदन्तविधिरिति पूर्वेषु न सिद्धयति ।

महतोऽमखजौ ॥३११३०॥ महच्छब्दपूर्वात् कुलशब्दात् अखजौ इत्येतौ भवतः । महतः आत्वविषये अभिधानं माहाकुलः । माहाकुलीनः । केचित्खस्यानुवृत्तिमिच्छन्ति । महाकुलीनः । आत्वविषये इति किम् ? महतां कुलं महत्कुलं तस्मात् “सादेः” [३११३१] इति खः । महत्कुलीनः ।

दुसो ढण् ॥३११३१॥ दुःशब्दपूर्वात् कुलादपत्ये ढण् भवति । पापं कुलं दुष्कुलम् “इहुदुङ्कोऽस्य-उम्सुङ्कः” [५१३१२] इति सलषत्वे । दुष्कुलस्यापत्यं दौष्कुलेयः । केचित् खमप्यनुवर्तयन्ति । दुष्कुलीनः ।

स्वसुश्च ॥३११३२॥ स्वसुशब्दादपत्ये छो भवति । अणोऽपवादः । स्वस्त्रीयः ।

भ्रातृव्यश्च ॥३११३३॥ भ्रातृशब्दादपत्ये व्यो भवति छश्च । अणोऽपवादः । भ्रातुरपत्यं भ्रातृव्यः । भ्रात्रीयः । कथं लोके भ्रातृव्यशब्देन सपत्नीऽभिधीयते ? उपचारात् । एकद्रव्याभिलाषश्च उपचारनिमित्तम् । सपत्नी इव सपत्नः शक्रः । पृषोदरादिपाठादकारो निपात्यते ।

रेवत्यादेष्टण् ॥३११३४॥ रेवती इत्येवमादिभ्योऽपत्ये ढण् भवति । अणोऽपवादः । रेवत्या अपत्यं रेवतिकः । रेवती अश्वपाली मण्णपाली द्वारपाली वृकवञ्चिन् वृकग्राह कर्णग्राह दण्डग्राह कुक्कुटाक्ष ।

वृद्धस्त्रियाः क्षेपे णश्च ॥३११३५॥ पौत्राद्यपत्यं वृद्धं क्षेपः कुत्सा । वृद्धस्त्रीवाचिशब्दादपत्ये णो भवति ढण् च क्षेपे गम्यमाने । गार्ग्या अपत्यं युवा गार्गो जाल्मः । गार्गिको जाल्मः । ग्लुचुकायन्या अपत्यं युवा ग्लौचुकायनो जाल्मः । ग्लौचुकायनिको जाल्मः । क्षेपश्चात्र प्रतिषिद्धाचरणेन पितुरज्ञानाद्वा गम्यते । वृद्ध इति किम् ? कारिकेयो जाल्मः । स्त्रिया इति किम् ? औपगविर्जाल्मः । क्षेप इति किम् ? गार्गेयो माणवकः ।

दोष्टण् सौवीरेषु प्रायः ॥३११३६॥ वृद्धग्रहणं चानुवर्तते । सौवीरेष्विति वृद्धविशेषणम् । सौवीरेषु यद्वृद्धवाचि दुसंज्ञं तस्मादपत्ये प्रायः ढण् भवति क्षेपे गम्यमाने । वेति वक्तव्ये प्रायोग्रहणं परिगणनार्थम् ।

“भागपूर्वपदो वित्तिद्वितीयस्वार्णविद्वः । तृतीयस्वार्णशापेयो वृद्धादृण् बहुलं ततः ।”

भागवित्तेरपत्यं युवा भागवित्तिकः । भागवित्तायनः । तार्णविद्वस्वस्यापत्यं युवा तार्णविद्वद्विकः । तार्णविद्विः । अकशाप इति शुभ्रादिषु । आकशापेयस्यापत्यं युवा आकशापेयिकः । आकशापेयिः । दुग्रहणं स्त्रीनिवृत्त्यर्थमविशेषेणोच्यते । सौवीरेष्विति किम् ? औपगविर्जाल्मः । क्षेप इत्येव । भागवित्तायनो माणवकः ।

फेरुञ्च ॥३११३७॥ वृद्धग्रहणं सौवीरेष्विति च वर्तते । फिजन्तात् सौवीरेषु वृद्धादपत्ये छो भवति ढण् च क्षेपे गम्यमाने । दोरित्यधिकारात् फेरित्यत्र फिज एव संप्रत्ययः । यमुन्द तिकादिः । यामुन्दायनीयः । यामुन्दायनिकः । प्राय इत्यनुवर्तनादपि भवति । तस्य फिजन्तात्परस्य “जिण्यराजार्णव्युब-ण्णोः” [११३१३०] इत्युप् । यामुन्दायनिर्जाल्मः । सुयामन्—सौयामायनिः । तस्यापत्यं युवा सौयामायनीयः । सौयामायनिकः । अणि । सौयामायनिः । वृषस्य वार्षायणिः । फिजः संनियोगे वृद्धयभावे वक्ष्यते वार्षायणेरपत्यं वार्षायणीयः । वार्षायणिकः । अणि वार्षायणिः । क्षेप इत्येव । यामुन्दायनिर्माणवकः । अणोव भवति । सौवीरेष्वित्येव । तैकायनेरपत्यं युवा अण् तस्योप् । तैकायनिर्जाल्मः ।

“यमुन्दश्च सुयामा च वार्षायणिः फिजः स्मृताः ।

सौवीरेषु च कुस्सार्था द्वौ योगौ शब्दवित्स्मरेत् ॥”

फोण्टाहतेर्णः ॥३११३८॥ क्षेप इति निवृत्तम् । वृद्धग्रहणं सौवीरेष्विति च “जिण्यराजार्णव्युब-ण्णोः” [११३१३०] इत्यत्र “अण्णोःरुप्यब्राह्मणगोत्रमात्राद्युबत्यस्थोपसंख्यानम्” [वा०] इति उम्मा भूदिति णित्करणम् । “फिजप्यत्र भवतीति वक्तव्यम् ।” [वा०] फाण्टाहतायनिर्माणवकः । सौवीरेष्वित्येव । फाण्टाहतायनः । “सौवीरेषु भिन्नतशब्दाण्यण्णो वक्तव्यौ” [वा०] मैमतः । मैमतायनिः । सौवीरेष्वित्येव । मैमतिः ।

कुर्वादिभ्यः ॥३१११३६॥ सौवीरेष्विति निवृत्तम् । कुरु इत्येवमादिभ्योऽपत्ये एयो भवति । आदौ णकारः “जिण्ण्यराजार्षात्” [१४१३०] इत्यत्र विशेषणार्थः । कुरोरपत्यं कौरव्यः । राजार्षात् कुरुशब्दाज्यो वक्ष्यते । तस्य द्विसंज्ञकत्वाद्वहुपूप । तिकादिषु कौरव्यायणिः । कुरु गर्ग संजय अतिमारक । रथकाराजातो च । पट्टक । सम्राजः क्षत्रिये । कवि पितृमत् । ऐन्द्रजालि धातुजि पेजि दामोष्णोषि । गणकारि कैसौरि कापिञ्जलादि ऐन्द्रजाल्यादिभ्यः ततो “यूनि” [३११७५] इति यूनि एयः । क्रोड कुट शलाका मुर खण्डाक एमुक शुद्धरसी केशिनी । स्त्रीलिङ्गनिर्देशसामर्थ्यात् पुंवद्भावो न भवति । शूर्पणाय श्यावनाय श्यावरथ श्यावपुत्र सत्यङ्कार वडभीकार पथिकारिन् मूढ सीक्ष भूहेतु शकशालीन इनपिण्डी वामरथ । वामरथस्य सकलादिकार्यं भवति । सकलादयो गर्गाद्यन्तःपातिनः । बहुत्वे उभभवति वामरथाः । स्त्री वामरथी । वामरथ्यायनी । वामरथ्यायनः । वामरथ्यस्य छात्राः वामरथाः “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३१२८०] इत्यण् भवतीति । वामरथानां संघः वामरथः । “संघाङ्क” [३१३६६] आदिनाऽण् ।

सेनान्तलक्षणकारिभ्य इञ् ॥३१११४०॥ कारिशब्दः कारवाचि । सेनान्तान्मृदो लक्षणशब्दात् कारिवाचिभ्यश्चापत्ये इञ् भवति एयश्च । हारिषेयः । हारिषेणिः । भैमसेन्यः । भैमसेनिः । जातसेन्यः । जातसेनिः । लाक्षयः । लाक्षणिः । कारिभ्यः-कौम्भकार्यः । कौम्भकारिः । तान्नुवाय्यः तान्नुवायिः । तन्नशब्दात् शिवादिलक्षणोऽण् । स इञो बाधको न तु एयस्य । तेन द्वैरूप्यम् । ताक्षणः । ताक्षयः ।

तिक्रादेः फिञ् ॥३१११४१॥ तिक इत्येवमादिभ्योऽपत्ये फिजित्ययं ल्यो भवति । तिकस्यापत्यं तैकायनिः । तिक कितव संज्ञा वाल शिखा उरस् शाब्द सैन्धव यमुन्द रूप्य नाडी^१ सुमित्रा कुरु देवर देवरथ तितिलिन् सिलालिन् उरस । कौरव्य । द्विसंज्ञस्येदं ग्रहणम् । औरसशब्देन राष्ट्रसमानशब्देन साहचर्यात् । कथं कौरव्यः पिता कौरव्यः पुत्रः ? अत्र (अत्र) एयान्तादिञ् तस्योप् । लाङ्कव गोकक्ष्य भौरिकि चौपयत चैत्यत सैक्यत दौञ्जयत त्वञ्जवत् चन्द्रमस् शुभ गङ्गा वरेण्य बन्ध आरद्ध बाह्यका खल्यका लोयका सुयामन् उदन्था यज्ञ । यदिहावृद्धं दुसंज्ञं पश्यते तस्य नित्यार्थं वचनम् ।

कौशल्येभ्यः ॥३१११४२॥ कौशल्यादिभ्योऽपत्ये फिञ् भवति । बहुवचनेन कर्मारङ्गावृषा गृह्यन्ते । कौशलस्यापत्यं कौशल्यायनिः । सर्वत्र मूलप्रकृतेः फिञ् । तस्यायनादेशे कृते कौशल्य इति । विकृचनिर्देशात् युट् निपात्यते । एवं दागव्यायनिः । कार्मार्यायणिः । छाग्यायनिः । वार्यायणिः । राष्ट्रसमानशब्दात् कौशलात् ज्यो वक्ष्यते । कर्मारशब्दात् कारिलक्षणो एयोऽपि भवति । इञः प्रयोगो नोपलभ्यते ।

द्व्यचोऽणः ॥३१११४३॥ अण्णत्वाद् द्व्यचो मृदोऽपत्ये फिञ् भवति । इञोऽपवादः । कर्तुरपत्यं कार्यायणिः । पोतुरपत्यं पौत्रः; तस्यापत्यं पौत्रायणिः । एवं शैवायनिः । द्व्यच इति किम् ? औपगविः । अण् इति किम् ? दाक्षिः ।

वा वृद्धाहोः ॥३१११४४॥ पौत्राद्यपत्यं वृद्धम् अत्रुद्धं यद्वृद्धं तस्मादपत्ये वा फिञ् भवति । वायुरथायनिः । वायुरथिः । आदित्यगतायनिः । आदित्यगतिः । कारिशब्दात्परत्वादानेन भवितव्यम् । नापितायनिः । एयोऽपि भवति । नापित्यः । इञोऽभिधानं नास्ति । अत्रुद्धादिति किम् ? आकम्पनायनः । औपगविः । दोरिति किम् ? आश्क्रीविः ।

वाकिनादेः कुक् ॥३१११४५॥ वेति वर्तते । वाकिन इत्येवमादिभ्योऽपत्ये वा फिञ् भवति । यदा फिञ् तदा कुगागमः । वाकिनस्यापत्यं वाकिनकायनिः । वाकिनिः । गारेवस्यापत्यं गारेवकायनिः ।

गारेविः । वाकिन गारेव कार्कच काक लङ्क । वर्म्मिचर्मिर्णोर्नखं च । यदिहावृद्धं द्रुसंशं तस्य कुगर्थं वचनम् । अन्यस्योभयार्थम् ।

पुत्रान्ताद्वा ॥३१११४६॥ वा वृद्धाद्दोरिति वर्तते । पुत्रान्तान्मृदो द्रुसंशकाद् वा कुगागमो भवति फिञि परतः । प्रकृतेन वाग्रहणेन फिञ् विकल्प्यते अनेन कुक् । तेन त्रैरूप्यम् । वासवदत्तापुत्रस्यापत्यं वासव-
दत्तापुत्रकायणिः । वासवदत्तापुत्रायणिः । वासवदत्तापुत्रिः । गार्गीपुत्रकायणिः । गार्गीपुत्रायणिः ।
गार्गीपुत्रिः ।

फिरदोः ॥३१११४७॥ त्यान्तरोपादानात् फिञि निवृत्ते तत्संबद्धः कुगपि निवृत्तः । वेति वर्तते ।
अदोर्मृदोऽपत्ये फिर्भवति वा । त्रिपृष्ठायनिः । त्रैपृष्ठि । श्रीविजयायनिः । श्रीविजयिः । ग्लुचुकायनिः । ग्लौचुकिः ।
म्लौचुकाचनिः । म्लौचुकिः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनेह न भवत्येव । दाक्षिः । प्लाक्षिः । अदोरिति
किम् ? रामदत्तिः ।

मनोज्ञातो शुक्चाऽप्यौ ॥३१११४८॥ मनुशब्दात् अञ् य इत्येतौ त्यौ भवतः शुक् चागमः समुदायेन
जातो गम्यमानायाम् । मानुषः । मनुष्यः । अपत्यापत्यवत्संबन्धद्वारेण व्युत्पत्तिमात्रं क्रियते । परमार्थतस्तु
रुद्रिशब्दावेतौ । अत एव “यजजोः” [११४१३५] इति बहुभूम्न भवति । मानुषा इति । जाताविति किम् ?
अपत्यमात्रेऽण् (श्रौत्सर्गिकोऽणोव) भवति । लोहितादिपाठात् पौत्रादौ यञि त्भवति । मानव्यः । मानव्यौ ।
मनवः । स्त्री मनव्यायनी । [जाताविति किम् ? अपत्यमात्रे श्रौत्सर्गिकोऽणोव भवति ।]

“पुरुदेवस्य पौत्रादा(श्रोऽसा)वर्ककीर्तिर्जिता हवः । पाळ्याभास लक्ष्मीवान् मानवो मानवोः प्रजाः॥”
बृद्धपत्यविवक्षायां तु गर्गादित्वाद्यञा भवितव्यम् ।

“अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः । नकारस्य च मूढंन्यस्तेन सिद्धयति मायाचः ॥”

नेदं ग्यार्थं बहु वक्तव्यम् । “माणवचरकात् खञ्” [३१११०] इति निपातनात् सिद्धम् ।

द्विः ॥३१११४९॥ यानित ऊर्ध्वमापादपरिसमाप्तेस्त्यान्वक्ष्यामो द्विसंज्ञास्ते वेदितव्याः । वक्ष्यति
“राष्ट्रशब्दाद्वाज्ञोऽञ्” [३१११५०] पाञ्चालः । पाञ्चालौ । पञ्चालाः । सत्यां द्विसंज्ञायां “द्वेर्बहुषु तेनैवा-
स्त्रियाम्” [११४१३३] इत्युप् सिद्धः ।

राष्ट्रशब्दाद्वाज्ञोऽञ् ॥३१११५०॥ राष्ट्रं जनपदः । राजशब्दश्चेह क्षत्रियपर्यायः । राष्ट्रशब्दाद्वाज्वा-
चिनोऽपत्येऽञ् भवति । स्वभावतः पञ्चालादिशब्देन राष्ट्रं राजा चाभिधीयते । अथवा पञ्चालानां निवासो
जनपद इति निवासार्थं आगतस्याणो “जनपद डस्” [३१२६१] इति उसि कृते अवरकालेनापि पञ्चालशब्देन
क्षत्रियशब्दो लक्ष्यते । यथा देवदत्तस्य पितेति । पञ्चालस्यापत्यं पाञ्चालः । पाञ्चालौ । पञ्चालाः । ऐक्ष्वाकः ।
ऐक्ष्वाकौ । इक्ष्वाकवः । इक्ष्वाकुशब्दस्य अञि “श्रौणहत्व्य” [४११६६] इत्यादिना उलं निपात्यते । राष्ट्र-
शब्दादिति किम् ? श्रीविजयिः । इह्योः द्रौह्यवः । राज इति किम् ? पञ्चालो नाम ब्राह्मणस्तस्यापत्यं पाञ्चालिः ।

साल्वेयंगान्धारिभ्याम् ॥३१११५१॥ साल्वा नाम क्षत्रिया तस्माद्द्वयञ् इति ढणि साल्वेयः ।
साल्वेय गान्धारि इत्येताभ्यां राजशब्दाभ्यामञ् भवति । अञोऽपवादे “द्विक्कुरुनाद्यजदकोशकाण्यः”
[३१११५३] इति ज्ये प्राप्ते वचनम् । साल्वेयस्यपत्यं साल्वेयः । गान्धारेरपत्यं गान्धारः । गान्धारौ ।
बहुभूपि गान्धारयः ।

द्वयञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण् ॥३१११५२॥ राष्ट्रशब्दाद्वाज्ञ इति वर्तते । द्वयञ्चो मृदः मगध
कलिङ्ग सूरमस इत्येतेभ्यश्च अण् भवति । अञोऽपवादः । आङ्गः । वाङ्गः । सौह्यः । पौरङ्गः । मागधः ।
कालिङ्गः । सौरमसः । सर्वत्र बहुभूप । अञैव सिद्धे किमर्थमण्य विधीयते ? “द्वयञ्चोऽणः” [३१११५३]

इति फिञ् यथा स्यात् । नास्त्यत्र विशेषः सर्वस्यैव युक्त्यस्य द्वेस्तरस्योविष्यते । इह तर्हि विशेषः राजसमान-
शब्दराष्ट्रात् तस्य राजन्यपत्यवदिति वक्ष्यते । अङ्गानां राजा आङ्ग इति अणि सति आङ्गस्यापत्यं आङ्गा-
यनिः । “द्वयचोऽणः” [३।१।१४३] इति फिञ् । युक्त्योऽयं न भवतीति उप नास्ति । अपि च अत्रि सति
संघाद्यर्थविवक्षायामाण् प्रसज्येत । अणि सति “वृद्धचरणाब्जित्” [३।३।१४४] इति वुन् भवति । आङ्गकः ।
वाङ्गकः । मागधकः । कालिङ्गकः । सौरमसकः ।

द्वित्कुरुनाद्यजादकोशलाञ्ज्यः ॥३।१।१५३॥ दुसंज्ञान्मृद इकारान्तात् कुरुशब्दात् नकारादेः
अजादकोशलशब्दाभ्यां च ङ्यो भवति । अजोपवादः । दोः—आम्बष्ठस्यापत्यं आम्बष्ठ्यः । सौवीरस्य सौवीर्यः ।
काम्बचस्य काम्बच्यः । दार्वस्य दार्व्यः । द्वयज्जलदण्डोऽपि फिञ् परत्वादेतेन बाध्यते । इकारान्तात् अवन्तेराव-
न्त्यः । कुन्तेः कौन्त्यः । वसन्तेर्वासन्त्यः । तपरकरणं किम् ? कुमारी नाम जनपदः क्षत्रियश्चास्ति । तस्यापत्यं
कौमारः । कुरोः—कौरव्यः । नादेः—निचकस्य नैचक्यः । निषधस्य नैषध्यः । नीपस्य नैप्यः । अजादस्य
आजाद्यः । कोशलस्य कौशल्यः । सर्वत्र बहुषूप् ।

साल्वावयवप्रत्यग्रथकलकूटाशमकादिञ् ॥३।१।१५४॥ साल्वा नाम मानुषी क्षत्रिया तस्या
अपत्यं “द्वयचः” [३।१।११०] इति ढणि साल्वेय इत्युपि कृते निपातनादपि भवति । साल्वः क्षत्रियः
तस्य निवासो जनपदः साल्वः । तदवयवाः ।

“उदुम्बरास्तिरुखला मद्रकारा युगन्धराः । मुलिङ्गाः शरदण्डारच साल्वावयवसंज्ञिताः ।”
साल्वावयवेभ्यो राजवाचिभ्यः प्रत्यग्रथिः । कालकूटिः । आशमकिः । सर्वत्र बहुषूप् योज्यः ।

पाण्डोर्ह्यण् ॥३।१।१५५॥ राष्ट्रशब्दाद्राञ् इति वर्तते । पाण्डुशब्दाड्ङ्यण् भवत्यपत्येऽर्थे । पाण्डो-
रपत्यं पाण्ड्यः । डकारो टिलार्थः । एकारः “णिण्दृष्टदरक्तविकारे” [४।३।१५१] इति पुंवद्भावप्रतिषेधार्थः ।
पाण्ड्या भार्या अस्य पाण्ड्यभार्यः । कथमयं प्रयोगः असिद्धितीयो न सवार पाण्डवः ? पाण्डवा यस्य दासाः
इति ? येन जनपदेन समानशब्दो राजा तस्य जनपदस्य स्वामी यदि विवक्षितस्तदायं विधिवेदितव्यः । अन्य-
त्रोत्सर्ग एव भवति । “इह प्रकरणे राजसमानशब्दात् राष्ट्रत् तस्य राजन्यपत्यवदिति वक्ष्यन्म” [वा०]
राजसमानशब्दात् राष्ट्रात् तस्येति तासमर्थात् राजन्यभिधेये अपत्य इव त्यविधिर्भवति । पञ्चालानां राजा
पाञ्चाल । साल्वेयानां राजा साल्वेयः । एवं आङ्गः । आम्बष्ठ्यः । औदुम्बरिः । पाण्डवानां राजा पाण्डवः ।
सर्वत्र बहुषूप् । अस्मादपत्यविवक्षायां “बृहद्वाहोः” [३।१।१४४] इति फिञ् । पाञ्चालायनिः ।

उप् चोलादेः ॥३।१।१५६॥ राष्ट्रशब्दाद्राञ् इति वर्तते । चोलादेः परस्योर्भवति । कस्य ? सम्भवा-
दण्योः । चोलस्यापत्यं चोलः । केरलः । कम्बोजः । शकः । यवनः । आदिशब्दः प्रकारवाची तस्य राबनीति
वर्तते । चोलानां राजा चोलः ।

कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः क्षियाम् ॥३।१।१५७॥ कुन्ति अवनति कुरु इत्येतेभ्यः उत्पन्नस्य द्वेस्व् भवति
क्षियामभिधेयायाम् । कुन्ती । अवन्ती । कुरुः । “द्वित्कुरुनाद्यजादकोशलाञ्ज्यः” [३।१।१५३] इत्यस्य उपि
कृते “इतो मनुष्यजातेः” [३।१।१५५] इति ङीविधिः । कुरुशब्दात् “ऊरुः” [३।१।५६] इति ऊत्यः ।
क्षियामिति किम् ? कौन्त्यः ।

अतोऽप्राच्यभर्गादेः ॥३।१।१५८॥ क्षियामिति वर्तते । अतस्तस्य उन्भवति क्षियामभिधेयायां
प्राच्यान् भर्गादीश्च वर्जयित्वा । कुन्यादिभ्य उन्वचनं ज्ञापकम् — इह अत इति तदन्तविधिर्न भवति । साम-
र्थ्यादण्योर्भवतीति वेदितव्यम् । अप्राच्यो नाम राष्ट्रसमानशब्दो राजा तस्यापत्यं स्त्री अप्राच्या अत्र उपि
टाप् । एवं सुरसेनी । मद्रस्यापत्यं स्त्री मद्री । अण्य उपि जातिलक्षणो ङीविधिः । दरदोऽपत्यं स्त्री दरद् ।
अत इति किम् ? औदुम्बरी । साल्वावयवत्वादिञ् । “इतो मनुष्यजातेः” [३।१।१५५] इति ङीविधिः । अप्राच्य-

भर्गादेरिति किम् ? प्राच्या ये राष्ट्राभिधाना राजानस्तेभ्य उप् प्रतिषिध्यते । पाञ्चाली । वैदेही । पैप्पली । आङ्गी । वाङ्गी । सौही । पौण्ड्री । मागधी । कालिङ्गी । भर्गादेरप्राच्यार्थ उप् प्रतिषेधः । भर्गास्यापत्यं स्त्री भार्गी । करुषस्य कारुषी । भर्गं करुष केकय कश्मीर सेत्व (सुल्वा) सुस्थाल उरस कौरव्य । वचनाद्यर्थेण उपि कुरुः । अनेनानुपि कौरव्येति । यौधेयः । शौक्रेय शौभ्रेय घातेय ग्रावाण्येय नृगर्त भरत । उशीनर । वस्य पुनरकारस्य यौधेयादिभ्यः द्रुसंज्ञकेभ्यः परस्योप् प्राप्तः प्रतिषिध्यते ? उच्यते । ‘परवादेरण्’ [४।२।६] इति द्विसंज्ञकोऽण् स्वार्थिको वक्ष्यते । तस्यायं प्रतिविधिः^१ न तु राष्ट्रसमानशब्दात् । आपत्यस्य उबुच्यमानः कथं स्वार्थिकस्य भिन्नप्रकरणस्य द्वेरुभवति । इदमेव यौधेयादिभ्यः प्रतिषेधवचनं ज्ञापकं भिन्नप्रकरणस्यापि द्वेरुभवति । अपत्यग्रहणेन गृह्यते इति किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । इह स्त्रियासुप् । पशुः रत्नः असुरी इति पशु रत्नसु असुर इति राष्ट्रशब्दा राजानः पृषामपत्यं संघः स्त्रीत्वविशिष्टो विवक्षित इति अणञोरगतयोः “उप् चोळादेः” [३।१।१५६] इति उपि कृते पुनः “परवादेरण्” [४।२।६] इति स्वार्थिकोऽण् । तस्यापि स्त्रिया-मनेनोप् सिद्धः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

तेन रक्तं रागात् ॥३।२।१॥ रज्यतेऽनेन शुक्लं वस्त्विति रागः; कुसुम्भादि द्रव्यम् । तेनेति भासमर्थात् रागविशेषवाचिनो मृदो रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम् । हारिद्रम् । कौसुम्भम् । माञ्जिष्टम् । रागादिति किम् ? देवदत्तेन रक्तम् । “पुंस्त्रौ घः प्रायेण” [२।३।१००] इत्येतद् भञ्जिधानेऽपेक्ष्यते । तेन वर्णविशेषस्य रागस्य ग्रहणादिह न भवति । पाणिना रक्तमिति । इहोप-मानान्भवति । काषायौ गर्दभस्य कर्णौ । हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादाविति ।

नीलपीतादकौ ॥३।२।२॥ नील पीत इत्येताभ्यां भान्ताभ्यां रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथासंख्यम् अ क इत्येतौ त्यौ भवतः । नीलेन रक्तं नीलम् । लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् । नील्या रक्तं नीलम् । पीतेन रक्तं पीतकम् ।

लान्छारोचनाशकलकर्ममाङ्गण ॥३।२।३॥ लान्छादिभ्यो भासमर्थेभ्यो रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । अणोऽपवादः । लान्छया रक्तं लान्छिकम् । शाकलिकम् । शकलकर्ममाभ्यामणपीध्यते ।

भाद्युक्तः कालः ॥३।२।४॥ तेनेति वर्तते । भविशेषवाचिनो मृदो भासमर्थाद् युक्त इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । योऽसौ युक्तः कालश्चेत् स भवति । नित्ययुक्तौ हि भकालौ न तयोः सन्निकर्षविप्रकर्षौ स्तः । तत्कथं पुष्यादिना ‘मेन युक्तः काल’ इत्युच्यते ? व्यभिचाराभावात् । नैष दोषः । इह पुष्यादिसमीपस्थे चन्द्रमसि पुष्यादयः शब्दाः वर्तमाना गृह्यन्ते । पुष्येण युक्तः कालः पुष्यसमीपगतेन चन्द्रमसा युक्त इत्यर्थः । पौषी रात्रिः । पौषमहः । “तिष्यपुष्ययोर्भाषि” [४।१।१३६] इति यकारस्य खम् । माषी रात्रिः । माषमहः । भादिति किम् ? चन्द्रमसा युक्ता रात्रिः । काल इति किम् ? पुष्येण युक्तरचन्द्रमाः ।

उसभेदे ॥३।२।५॥ अभेदो नामाविशेषः । पूर्वेण विहितस्योच् भवति न चन्द्रेण युक्तस्य कालस्य भेदो रात्र्यादिविशेषोऽभिधीयते । अद्य पुष्यः । अद्य कृत्तिकाः । अद्य रोहिण्यः । “युक्तवद्भुसि क्लृप्तसंख्ये” [१।१।६८] इति युक्तवद्भावः । अत्र यावान् कालः त्रिंशन्मुहूर्तमात्रो मेन युक्तो न तस्य भेदोऽभिधीयते । अभेद इति किम् ? पौषी रात्रिः । पौषमहः । अभेद इति प्रसज्यप्रतिषेधः । तेनेहापि न भवति । पौषोऽहोरात्रः ।

पौषः कालः इति । अयेह कथमुस् न भवति अद्य दिवा पुष्यः । अद्य रात्रौ पुष्य इति । पूर्वमष्टप्रहरात्मकस्य समुदायस्याभेद उरं विधाय पश्चाद्दिवा रात्रिशब्दयोः प्रयोगः कृतः ।

खौ श्रवणाश्रवत्याभ्याम् ॥३।२।६॥ खौ भेदेऽपि उस् यथा स्यादित्यारम्भः । श्रवणं श्रवस्थ इत्येताभ्यामुत्तरस्य त्यस्योस् भवति खुविषये । श्रवणेन युक्ता श्रवणा रात्रिः । श्रवस्थेन युक्ता श्रवत्या रात्रिः । श्रवत्यो सुहृतः । “कालगुनीश्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्यः” [३।२।१८] इति श्रवणाशब्दनिर्देशो ज्ञापक इह सूत्रे उरि युक्तवद्भावो न भवति । खान्विति किम् ? श्रवणी रात्रिः । आश्वत्थी रात्रिः ।

द्वन्द्वाच्छुः ॥३।२।७॥ भद्वन्द्वाद्भासमर्थात् युक्तः काल इत्येतस्मिन्नर्थे छौ भवति भेदे चाभेदे च । अणोऽपवादः । राधानुराधीयम् । राधानुराधीयं तिष्यपुनर्वसवीयमहः । अद्य तिष्यपुनर्वसीयम् । अयं परत्वादुवो बाधकः ।

परिवृतो रथः ॥३।२।८॥ तेनेति वर्तते । तेन परिवृत इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति; यः परिवृतो रथश्चेत् स भवति । वस्त्रेण परिवृतो रथो वाहनः । काम्बलः । चार्मणः । “अनः” [४।१।१२८] इति अणि टिलाभावः । रथ इति किम् ? वस्त्रेण परिवृता शय्या । स इह कस्मान्न भवति छात्रैः परिवृतो रथ इति ? अनभिधानात् । अथवा समन्ताद्वृतः परिवृत इत्याश्रयणात् । रथैकदेशस्यमुत्पादयति न छात्रादिः । इह कस्मादण् न भवति । पाण्डुकम्बलैः परिवृतो रथ इति ? अनभिधानात् । कथं पाण्डुकम्बली रथ इति पाण्डुकम्बला अस्य संवृह्य (सन्ति व्रीह्यादि) पाठात् यसे कृते इन्द्रष्टव्यः । ठस्याभिधानं नास्ति । “वीथान्तात् स्वार्थं वा ईकण् वक्तव्यः” [वा०] द्वैतीयिकम् । द्वितीयम् । तार्तीयिकम् । तृतीयम् । “विद्याया अभिधाने नेष्यते” [वा०] द्वितीया विद्या । तृतीया विद्या । इह कथमण् भवति ? न विद्यते पूर्वः पतिर्यस्याः सा अपूर्वा कुमारी । तादृशी कुमारीमुपपन्नः कौमारः पतिरिति “तन्न भवः” [३।३।२८] इत्यण् भविष्यति । कुमारी भवः पतिः कौमारः पतिः । पुंयोगात् कौमारी भार्या इत्यपि सिद्धम् ।

तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ॥३।२।९॥ उक्तावशिष्टमुद्धृतमुच्यते इति केचित् । तत्तु नातिश्लिष्टम् अन्यत्रापि प्रयोगात् । उद्धृतं ब्राह्मणेन लब्धमिति । तत्रेति ईप्समर्थादमत्रवाचिनो मृदः उद्धृतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । सरावेषु उद्धृत ओदनः सारावः । माल्लवः (माल्लिकः) । अमत्रेभ्य इति किम् ? पाण्डुद्धृत ओदनः ।

स्थण्डिलः ॥३।२।१०॥ स्थण्डिल इति निपात्यते । स्थण्डिलशब्दादीबन्ताच्छयितर्यभिधेयेऽण् निपात्यते समुदायेन व्रते गम्ये । स्थण्डिले शेते स्थण्डिलो ब्रह्मचारी । व्रतादन्यत्र स्थण्डिले शेते देवदत्त इति ।

संस्कृतं भक्षाः ॥३।२।११॥ सतो गुणान्तराधानं संस्कारः । खरविष (श) दमभ्यवहार्यं भक्षाः । तत्रेति ईप्समर्थात् संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तत् संस्कृतं भक्षाश्चेत्तद् भवति । भाष्ट्रे संस्कृताः भ्राष्ट्राः । एवं कैलासाः (कालशाः) पात्राः । भक्षा इति किम् ? फलके संस्कृतो मालागुणः ।

श्लोखाद्यः ॥३।२।१२॥ श्ल उखा इत्येताभ्यां ईप्समर्थाभ्यां संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे यो भवति । अणोऽपवादः । श्लो संस्कृतं श्ल्यम् । उखायां संस्कृतमुख्यम् । उपमानात् सिद्धम् । पिठरे श्लो इव संस्कृतं पिठरश्ल्यम् । मयूरव्यंसकादित्वात् सर्वाधः ।

दध्नष्टण् ॥३।२।१३॥ दधिशब्दादीप्समर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । दधिनि संस्कृतं दाधिकम् । तत्र यद्दधि संस्कृतं तद्दध्ना संस्कृतमित्यपि भवति । एवं च “तेन संस्कृतम्” इति वक्ष्यमाणेन ठणा सिद्धं नायौऽनेन ? नैष दोषः । यदन्यत्रोत्पन्नं दधिकृतमेवोत्कर्षमपेक्षते तदिहोदाहरणम् । यस्य वृ दध्ना लवणादिना च संस्कारस्तस्य वक्ष्यमाणमुदाहरणम् ।

उदश्वितः ॥३१२१४॥ उदश्वित्-शब्दादीपसमर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ठष् भवति । उदश्विति संस्कृत ओदनः औदश्विकः । औदश्वितः । अतोऽपि वाचचनाज्जायते तेन संस्कृतात्तत्र संस्कृत-स्यार्थभेदः । अन्यथेवन्तादृष्ण भान्तादण् इत्युभयं सिद्धं स्यात् ।

क्षीराड्ढण् ॥३१२१५॥ क्षीरशब्दादीपसमर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ढष् भवति । अणोऽपवादः । क्षीरे संस्कृता क्षैरेयी यवागूः ।

सास्मिन् पौर्णमासीति खौ ॥३१२१६॥ सेति वासमर्थादस्मिन्निति ईवर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तद्वानिर्दिष्टं पौर्णमासी सा चेद्भवति । इतिकरणाद्यदि लोके विवक्षा समुदायेन चेत् संज्ञा गम्यते । पूर्णमासा चन्द्रमसा युक्तः कालः पौर्णमासी । इदमेव ज्ञापकमत्राण् भवतीति । माघी पौर्णमास्यस्मिन् मासेऽर्द्धमासे संवत्सरे वा माघो मासोऽर्द्धमासः संवत्सरः । एवं पौषः । स्वाविति किम् ? माघी पौर्णमास्य-स्मिन् पञ्चदशरात्रे । इतिशब्दः किमर्थः ? विद्यमानेऽपि लक्षण्ये लौकिकप्रयोगानुसारणार्थः । इह मा भूत् । माघी पौर्णमासी अस्मिन् हि भवति संवत्सरपर्वणि ।

अश्वत्याग्रहायणीभ्यां ठञ् ॥३१२१७॥ सास्मिन् पौर्णमासीति वर्तते । अश्वत्या आग्रहायणी इत्येताभ्यां पौर्णमासीति वासमर्थाभ्यामस्मिन्निति ईवर्थे ठञ् भवति । अणोऽपवादः । अश्वत्येन युक्तः कालः अश्वत्या पौर्णमासी अस्मिन्मासे अर्द्धमासे संवत्सरे वाऽश्वत्यिकः । आग्रहायणेन युक्तः काल आग्रहायणी आग्रहायणिकः ।

फाल्गुनोन्नवणाकार्तिकीचैत्रीभ्यो वा ॥३१२१८॥ फाल्गुन्यादिभ्यो वा ठञ् भवति । सास्मिन् पौर्णमासीति वर्तते । फाल्गुनी पौर्णमासी अस्मिन् मासे संवत्सरे वा फाल्गुनिकः । फाल्गुनः । एवं श्रावणिकः । श्रावणः । कार्तिकिकः । कार्तिकः । चैत्रिकः । चैत्रः ।

सास्य देवता ॥ ३१२१९ ॥ सेत्यत्र लिङ्गवचने अप्रधानभूते । सेति वासमर्थादस्येति ताऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तद्वानिर्दिष्टं देवता चेत् भवति । अर्हन् देवता अस्य आर्हतः । भगवती देवता अस्य भागवतः । बार्हस्पत्यः । सेति वर्तमाने पुनः साग्रहणं संज्ञाविषयनिवृत्त्यर्थम् । तेन संज्ञायां वायं विधिः । देवतेति किम् ? कन्या देवदत्तस्य ।

कस्ये ॥३१२२०॥ कशब्देन प्रजापतिरभिधीयते । कस्य इकारोऽन्तादेशो भवत्यण् च सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये । को देवताऽस्य कायं हविः । अणि पूर्वेण सिद्धे इत्वार्थं वचनम् । आरम्भसामर्थ्यात् “यस्य ह्यां च” [४।४।१३२] इति खं न भवति ।

शुक्राद् घः ॥३१२२१॥ शुक्रशब्दाद् घो भवति । अणोऽपवादः । सास्य देवतेति वर्तते । शुक्रो देवतास्य शुक्रियः ।

अपोनप्त्रपान्नप्तभ्याम् ॥३१२२२॥ घ इति वर्तते । अपोनप्तु अपान्नप्तु इत्येताभ्यां घो भवति । अणोऽपवादः । साऽस्य देवतेति वर्तते । अपोनपाद्देवताऽस्य अपोनप्त्रियः । अपान्नपाद्देवता अस्य अपान्न-प्त्रियः । प्रत्यय (त्य) सन्नियोगेन प्रकृत्योः अपोनप्तुअपान्नप्तुभावो निपात्यते । संप्रथे अपोनपाते ब्रूहि अपान्नपाते ब्रूहि इति भवति ।

छः ॥३१२२३॥ अपोनप्तु अपान्नप्तु इत्येताभ्यां छश्च भवति सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये । अपोनप्त्रीयः । अपान्नपत्रीयः । योगविभाग उत्तरार्थः “गौङ्गीपुत्रादिभ्यश्छो वक्तव्यः” [वा०] पौङ्गी-पुत्रीयः । तार्णविन्दवीयः । “शतरुद्राद्घश्च” [वा०] शतरुद्रियः । शतरुद्रीयः ।

महेन्द्राद्घाऽणौ च ॥३१२२४॥ सास्य देवतेति वर्तते । महेन्द्रशब्दाद् घ अण् इत्येतौ भवत-
श्छश्च । महेन्द्रो देवता अस्य महेन्द्रियः । माहेन्द्रः । महेन्द्रियः ।

सोमाट्ठ्यण् ॥३१२२५॥ सोमशब्दाट्ठ्यण् भवति सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये । अणोऽपवादः ।
सोमो देवता अस्य सौम्यः । स्त्रियां सौमी । “हलो ह्रतो ङ्याम्” [४।४।१४०] इति यत्त्वम् ।

वाय्वृत्तुपिचुषसो यः ॥३१२२६॥ वायु ऋतु पितृ उषस् इत्येतेभ्यो यो भवति । अणोऽपवादः ।
साऽस्य देवता इति वर्तते । वायव्यः । ऋतव्यः । पिच्यः । “रीडृत्तः” [५।२।१३६] इति
रीडदेशः । उषस्यः ।

द्यावापृथिवीसुनाशोरमरुत्वदग्नीषोमवास्तोष्पतिगृहमेधाच्छ च ॥ ३१२२७ ॥ द्यावा-
पृथिवी इत्येवमादिभ्यश्छो भवति यश्च सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये । द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ देवते
अस्य द्यावापृथिवीयः । द्यावापृथिव्यः । सुनो वायुः शीर आदित्यः सुनश्च शीरश्च “देवताङ्गन्हे”
[४।३।१३६] इत्यानङ् । सुनाशीरौ देवते अस्य सुनाशीरीयः । सुनाशीर्यः । मरुत्वान् देवता अस्य मरुत्वतीयः ।
मरुत्वत्यः । अग्निश्च सोमश्च देवते अस्य अग्नीषोमीयः । अग्नीषोम्यः । “सोमवक्षणेऽग्नेरीः” [४।३।१४०]
इतीत्वम् । “स्तुत्सोमौ चाग्नेः” [५।४।६५] इति षत्वम् । वास्तोष्पतीयः । वास्तोष्पत्यः । पुल्लिङ्गत्वं ताया
अनुप षत्वं च निपातनात् । गृहमेधीयः । गृहमेध्यः ।

सर्वत्राग्निकलिभ्यां ङण् ॥३१२२८॥ साऽस्य देवतेति वर्तमाने सर्वत्रग्रहणं सर्वार्थसंग्रहार्थम् ।
अग्निकलिशब्दाभ्यां सर्वेष्वर्थेषु ङण् भवति प्राग्द्रोः । अग्निर्देवता अस्य अग्नौ भवः अग्नेरागतो आग्नेयः ।
एवं कालेयः ।

कालेभ्यो भववत् ॥३१२२९॥ कालविशेषवाचिभ्यो भव इव त्यविधिर्भवति । वत्करणं सर्वविशेष-
परिग्रहार्थम् । येभ्यः कालविशेषवाचिभ्यो मृद्भ्यो भवे ये त्या विहिताः सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये तेभ्य एव
मृद्भ्यस्त एव त्या अतिदिश्यन्ते । यथा मासे भवं मासिकं सांवत्सरिकं वासन्तं प्रावृषेयम् । “कालाट्ठण्”
[३।२।१३१] “असंध्याद्यृतुभ्यो वर्षाभ्योऽण्” [३।२।१३७] “प्रावृष एण्यः” [३।२।१३६] एते त्वा
भवन्ति । तथा मासो देवता अस्य वसन्तो देवता अस्य प्रावृड् देवता अस्येति अत्रापि भवन्ति ।

महाराजप्रोष्ठपदाभ्यां ठण् ॥३१२३०॥ महाराजो वैश्रवणः । महाराज प्रोष्ठपदा इत्येताभ्यां ठण्
भवति सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये । महाराजो देवताऽस्य माहाराजिकः । प्रोष्ठपदा देवताऽस्य प्रोष्ठपदिकः ।
“ठण्प्रकरणे तदस्मिन्वर्तते इति नवयज्ञादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] नवयज्ञोऽस्मिन् वर्तते नावयज्ञिकः ।
पाकयज्ञिकः । “पूर्वमासादण् वक्तव्यः” [वा०] पूर्वमासोऽस्यां वर्तते पौर्यामासी तिथिः ।

पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ॥३१२३१॥ पितृव्यादयः शब्दा निपात्यन्ते । समर्थविभक्ति-
स्त्योऽनुबन्धस्त्यार्थं इति सर्वमिदं निपात्यते । पितृमातृभ्यां तासमर्थाभ्यां भ्रातरि वाच्ये व्यङ्गुलौ निपात्येते पितृभ्राता
पितृव्यः । मातृभ्राता मातुलः । डिच्वाट्ठिस्त्वम् । “ताभ्यामेव पितरि ङामहः” [वा०] मातुः पिता मातामहः ।
“स एव ङामहो मातरि वाच्यायां टिच्च” [वा०] मातुर्माता मातामही । पितुर्माता पितामही ।
टिच्वान्ङीविधिः ।

तस्य समूहः ॥३१२३२॥ तस्येति तासमर्थात् समूह इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितस्त्यो भवति ।
चित्तवद्बुद्धं यस्य न चान्यत्र प्रतिपदं ग्रहणं तदिहोदाहरणम् । अचित्तवत्तद्वत्त्वम् । बुद्धाद्बुद्ध् । प्रति

पदसुद्धादिभ्योऽपि बुजादिः । काकानां समूहः काकम् । शौकम् । वार्कम् । इह पञ्चानां पूलानां समूहः पञ्चपूला इति प्राप्नोति । समूहार्येऽण् तस्य 'रस्थोबनपत्ये' [३।१।७४] इत्युप् 'परिमाणाद्बहुषु' [३।१।२६] इति नियमात् । असति डीविधौ टापा भवितव्यम् । नार्यं दोषः । समाहारलक्षण एवात्र रसः । ह्रदुत्पत्तिर्न भवत्यनभिधानात् ।

भिन्नादेः ॥३।२।३३॥ तस्य समूह इति वर्तते । भिन्ना इत्येवमादिभ्यः यथाविहितं ल्यो भवति । पुनर्विधानं ठणो बाधनार्थम् । भिन्नाणां समूहः भैदम् । भिन्ना गर्भिणी क्षेत्रे करीष अङ्गार चर्मन् सहस्र युवति पद्धति अथर्वन् दक्षिणा । इह पाठसामर्थ्यात् गर्भिणी-युवतिशब्दे न पुंवद्भावः ।

वृद्धोक्तोद्गोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद्वुब् ॥ ३।२।३४ ॥ वृद्धादिभ्यो बुञ् भवति । तस्य समूह इति वर्तते । औपगवानां समूह औपगवकम् । कापटवकम् । औत्तकम् । औष्ट्रकम् । औभ्रकम् । राजकम् । राजन्यकम् । राजपुत्रकम् । वात्सकम् । मानुष्यकम् । आजकम् । 'वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्' [वा०] वादकम् । 'प्रकृत्या अके राजन्यमनुष्ययुवानः' इति 'क्यच्यनाद्घृत्यापत्यस्य' [४।४।१३६] इति यत्वं न भवति । इह वृद्धग्रहणात् सिद्धे राजन्यमनुष्ययोः पृथग्ग्रहणं शापकम् । अपत्याधिकारादन्यत्र वृद्धग्रहणेन लौकिकं गोत्रमपत्यामात्रमुच्यते न तु पौत्राद्यपत्यं वृद्धमिति । तथाहि लोके किङ्गो भवान् इति पृष्टः वात्स्यायनोऽस्मीत्याह । राजन्यमनुष्ययोस्तु जातिशब्दत्वात् लौकिकगोत्रग्रहणम् ।

केदाराद्यञ्च ॥३।२।३५॥ केदारशब्दाद्यञ् भवति बुञ् च तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये । ठणोऽपवादः । केदाराणां समूहः कैदार्यम् । कैदारकम् । 'गणिकायाः यञ् चक्तव्यः' [वा०] गणिकायां समूहः गाणिक्यम् ।

ठञ् कवचिनश्च ॥३।२।३६॥ ठञ् भवति कवचिनश्च केदाराच्च तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये । कवचिनां समूहः कावचिकम् । कैदारिकम् ।

ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल् ॥३।२।३७॥ ग्रामादिभ्यस्तल् भवति तस्य समूह इति वर्तते । ग्रामाणां समूहो ग्रामता । जनता । बन्धुता । सहायता । 'गजाच्चेति वक्तव्यम्' [वा०] गजता ।

चरणेभ्यो धर्मवत् ॥३।२।३८॥ चरणवाचिशब्देभ्यः समूह इत्येतस्मिन्नर्थे धर्म इव त्या भवन्ति । इदमेव शापकम् । अस्येतत् 'चरणाद्घर्मांन्नाययोः' [वा०] इति 'वृद्धचरणाञ्जित्' [३।३।६४] इत्यारभ्य चरणाद्धर्मे त्वविधिवर्त्तयते, स इहातिदिश्यते । वक्तव्यं सर्वविशेषपरिग्रहार्थम् । यथा कठानां धर्मः काठकम् । कालापकम् । मौदकम् । पैपलादकम् । आर्वाभकम् । वाजसनेयकम् । छान्दोग्यम् । औक्थिक्यम् । आथर्वणः । 'वृद्धचरणाञ्जित्' इति बुञ् 'ञ्जन्दोगौक्थिक्याञ्जिकबहुचनटाञ्ज्यः' [३।३।६७] इति ज्यः । 'आथर्वणः' [३।३।१०१] इति च निपात्यते आथर्वणिकानां धर्म इत्यत्र वाक्ये । तथा कठानां समूहः काठकमित्येवमादि योज्यम् ।

अचित्तहस्तिघेनोष्ठण् ॥३।२।३९॥ अचित्तमचेतनम् । अचित्तार्थवाचिभ्यो हस्तिघेनुशब्दाभ्यां च ठण् भवति तस्य समूह इत्यस्मिन् विषये । अपूपानां समूहः आपूपिकम् । शङ्कुलीनां समूहः शाङ्कुलिकम् । हास्तिकम् । घैनुकम् । 'पर्शनां षञ् वक्तव्यः' [वा०] पर्शनां स्त्रीणां समूहः पार्श्वम् । सिन्वात्पदसंज्ञायां भल्लक्षणमोरोत्वं न भवति । खण्डिकादिभ्योऽञ् वक्तव्य इति चेत् न वक्तव्यः । नास्ति विशेषोऽपि वा सत्यपि वा । खण्डिकादिषु ये चित्तवतस्तेभ्य औत्सर्गिकोऽण् सिद्धः । ये त्वचित्तास्ते भिन्नादिषु पठनीयाः । खण्डिका अहन् वडवत्तुद्रकमालवाद्रिसंज्ञाताः क्षत्रिया इत्यर्थः । तेषां समूह वृद्धलक्षणो बुञ् प्राप्तः । ननु च यथा 'राष्ट्रावधयोः' [३।२।१०२] इत्यत्र राष्ट्रादुच्यमानो बुञ् न राष्ट्रसमुदायाद्भवति । काशिकौशलेषु भवा

काशिकोशलीया इति छु एव भवति । तथेह वृद्धादुच्यमानस्यः कथं वृद्धसमुदायादिति ? एवं तर्हि तदन्तविधिना भविष्यति । इदमेव ज्ञापकं सामूहिके त्वे तदन्तविधिर्भवति । क्षौद्रकमालवी सेना । क्षौद्रकमालवकमन्यत् । भिन्नुक शुक उलूक । अयं यजन्तः बहुत्वेऽणं प्रयोजयति । स्वन् (श्वन्) युग वरत्र हंस इति खण्डिकादिसामूहिके तदन्तविधिर्ज्ञापितः । तेन औपगवकापटवानां समूहः औपगवकापटवकम् । ब्राह्मणराजन्यकम् । दम्यहस्तिनां समूहः दाम्यहस्तिकम् । गौधेनुकम् । “धेनोर्नञ्पूर्वाया नेष्यते” [वा०] अधेनूनां समूहः आधेनवम् ।

केशाश्वभ्यां यञ्छो वा ॥३१२।४०॥ केश अश्व इत्येताभ्यां यथासंख्यं यञ्छु इत्येतौ त्वौ वा भवतः । केशानां समूहः कैश्यम् । कैशिकम् । अश्वानां समूह अश्वीयम् । आश्वम् ।

पाशादेर्यः ॥३१२।४१॥ पाश इत्येवमादिभ्यो यो भवति । तस्य समूह इति वर्तते । पाशानां समूहः पाश्या । तृण तृण्या । धूम्या । वात वात्या । लिङ्गं लोकतो ज्ञेयम् । पाश तृण धूम वात अङ्गार पालवाल पिटल पिटाक शकल हल नल वन पृख ।

ब्राह्मणमाणववाडवात् ॥३१२।४२॥ य इति वर्तते । ब्राह्मण माणव वाडव इत्येतेभ्यो यो भवति तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये । ब्राह्मणानां समूहो ब्राह्मण्यम् । माणव्यम् । वाडव्यम् ।

गोखलरथात् ॥३१२।४३॥ गो खल रथ इत्येतेभ्यस्तान्तेभ्यो यो भवति समूहे । गवां समूहः गव्या । खल्या । रथ्या । योगविभाग उत्तरार्थः ।

त्रेण्कट्याः ॥३१२।४४॥ गो खल रथ इत्येतेभ्यो यथासंख्यं त्र इन् कट्य इत्येते प्रत्यया (त्या) भवन्ति । तस्य समूह इति वर्तते । गवां समूहः गोत्रा । खलिनी । रथकट्या । “खलादिभ्य इन् वक्तव्यः” [वा०] डाकिनी । कुट्टुम्बिनी । लोकतो लिङ्गव्यवस्था ।

राष्ट्रे ॥३१२।४५॥ समूह इति निवृत्तम् ; अर्थान्तरापादानात् । तस्येति वर्तते । राष्ट्रं जनपदः । तस्येति तासमर्थात् राष्ट्रेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति । शिवानां राष्ट्रं शैवम् । जनपदपेक्षया पुंलिङ्गता प्रयोक्तव्या । शैवः । अयुष्टः (औष्टः) । आभिसारः । “राष्ट्राभिधाने बहुत्वे उस्वक्तव्यः” [वा०] अङ्गानां राष्ट्रम् अङ्गाः । वङ्गाः । सुहाः । “गान्धार्यादिभ्यो वेति वक्तव्यम्” [वा०] गान्धारीणां राष्ट्रं गान्धारयः । वासातः । वसातयः । शैवः । शिवाः । “राजन्यादिभ्यो वा वुञ् उस्वक्तव्यः” [वा०] राजन्यानां राष्ट्रं राजन्याः । राजन्यकः । दैवयातवः । दैवयातवकाः । “बिल्ववनादिभ्यो नित्यमुस् न भवतीति वक्तव्यम्” [वा०] वैल्ववनकः । आम्बरीषपुत्रकः । आत्मकामेयकः । नेदं बहु वक्तव्यम् । राष्ट्रविवक्षाया निवासविवक्षायाश्च प्रतिनियमात्सिद्धम् । बहुत्वविषये जनपदस्य निवासविवक्षयैव तत्र “जनपद उस्” [३१२।६१] इति उस् भवति । गान्धार्यादीनां राजन्यादीनां च उभयी विवक्षा बिल्ववनादीनां राष्ट्रविवक्षैव ।

राजन्यादेवुञ् ॥३१२।४६॥ राजन्य इत्येवमादिभ्यस्तासमर्थेभ्यो वुञ् भवति राष्ट्रे । राजन्यानां राष्ट्रं राजन्यकः । राजन्यः । आभृति वात्सक (बाभ्रव्य) शालङ्कायन दैवयातव जालन्धरायण कौन्तल आत्मकामेय आम्बरीषपुत्र वसाति बिल्वधन शैलूष उदुम्बर वैल्वल आर्जुनायन संप्रिय दाक्षि ऊर्णनाभ । आङ्गतिगणश्चायम् । मालवत्रिगर्तबिराटादीनां ग्रहणम् ।

भौरिक्याद्यै शुकार्यादिभ्यो विघभक्तौ ॥३१२।४७॥ आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । भौरिक्यादिभ्यः ऐशुकार्यादिभ्यश्च यथासंख्यं विघ भक्त इत्येतौ त्वौ भवति राष्ट्रेऽर्थे । भौरिकीणां राष्ट्रं भौरिकिविघः । भौरिकिविघः । भौरिकि भौरिकि चोपयत चैटयत सैकयत कास्ये (काण्येय) वाण्येक (वाण्येयक) वालिकाण्यक वैकयत् । ऐशुकारिभक्ता । सारसायनभक्ता । ऐशुकारि सारसायन चान्द्रायण द्वयाद्यायण त्रयाद्यायण

अलायन ताडायन खाडायन सौवीर (सौवीरगण) दासमित्रायण शौद्रायण स (श) यण्ड शौण्ड । वैश्व-
माणाव वैश्वधेनव तुण्डदेव सापिण्ड ।

तदस्मिन्युद्धे योद्धृप्रयोजनात् ॥३॥२॥४८॥ योद्धारश्च प्रयोजनं च योद्धृप्रयोजनम्, तदिति
वासमर्थाद् अस्मिन्निति ईबर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तद्वानिर्दिष्टं योद्धारश्चेत् तद्भवति । प्रयोजनं चेत्
तद्भवति । यत्तस्मिन्निति निर्दिष्टं युद्धं चेद्भवति । विद्याधराः योद्धारोऽस्मिन् युद्धे वैद्याधरं युद्धम् । कौरवम् ।
भारतम् । प्रयोजनात् खल्वपि । सुलोचना प्रयोजनमस्मिन् युद्धे सौलोचनम् । स्वायंप्रभम् । सौतारम् । संग्रामे
त्वभिधेये पुलिङ्गता । वैद्याधरः संग्रामः । सौलोचनः संग्रामः । युद्ध इति किम् ? सुभद्रा प्रयोजनमस्मिन्वैरे ।
योद्धृप्रयोजनादिति किम् ? रथा वाहनमस्मिन् युद्धे ।

प्रहरणमिति क्रीडायां णः ॥३॥२॥४९॥ तदस्मिन्निति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्मिन्निति ईबर्थे यो
भवति यत्तद्वासमर्थं प्रहरणं चेत्तद्भवति यत्तदस्मिन्निति निर्दिष्टं क्रीडा सा चेद्भवति । इतिकरणस्ततश्चेद्वि-
वक्षा । अद्रोहेण यत्र घातः सा क्रीडा । दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायां दाण्डा । मौष्टा । पादा । प्रहरणमिति
किम् ? गन्धोदकसेचनमस्यां क्रीडायाम् । क्रीडायामिति किम् ? असिः प्रहरणमस्मिन् युद्धे ।

श्यैनपातातैलपाता ॥३॥२॥५०॥ श्यैनपाता तैलपाता इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । श्येनानामिव पातः
श्येनपातोऽस्यां क्रीडायां वर्तते श्यैनपाता । तिलानामिव पातस्तिलपातोऽस्यां क्रीडायां तैलपाता । अस्मिन्नर्थे
यो निपात्यते पूर्वपदस्य च मुमागमः । कथं दण्डपातः क्रिया अस्यां तिथौ वर्तते दाण्डपाता तिथिः । मुश-
लपातोऽस्यां वर्तते मौशलपाता भूमिः । पूर्वसूत्रे इतिकरणादन्यत्रापि यो भवति ।

तद्वेत्स्यधीते ॥३॥२॥५१॥ तदिति इपसमर्थात् वेत्ति अधीते इत्येतयोरर्थयोर्वथाविहितं त्यो भवति ।
तदिति प्रत्येकं सम्बद्धयते । तद्वेत्ति तदधीते इति । यथा ‘तेन दीव्यति खनति जयति जितम्’ [३॥३॥१२७]
इत्यत्र तेनेति । मुहूर्तं वेत्ति मौहूर्तः । औत्पातः । व्याकरणमधीते वैयाकरणः । सैदान्तः ।

ऋतूकथादिसूत्रान्ताट्ठण् ॥३॥२॥५२॥ सपूपा यज्ञाः ऋतवः । ऋतुविशेषवाचिभ्यो मृदस्य उक्था-
दिभ्यः सूत्रान्ताच्च ठण् भवति । तद्वेत्स्यधीते इति वर्तते । अग्निष्टोमं वेत्स्यधीते वा आग्निष्टोमिकः । राजसूयिकः ।
वाजपेयिकः । उक्थादिभ्यः उक्थशब्दः केषुचिदेव सामसु रूढः । स च औक्थिक्ये वर्तमानस्यविधिं लभते ।
उक्थमधीते औक्थिकः । औक्थिक्यमधीते इत्यर्थः । औक्थिक्यशब्दात्तु न त्यागविधिर्भवत्यनभिधानात् । एवं
यज्ञशब्दोऽपि याज्ञिक्ये त्यविधिं लभते । याज्ञिकः । लोकायतमधीते लौकायतिकः । सूत्रान्तात् - वार्तिसूत्रिकः ।
सांग्रहसूत्रिकः । ‘सूत्रान्तादकल्पादेरिष्यते’ [वा०] । तेन काल्पसूत्र इत्यणोव भवति । सूत्रान्तग्रहणमुक्थादेः
प्रपञ्चः । उक्थ लोकायत न्याय न्यास पुनरुक्त संज्ञा चर्चा क्रमेतर श्लक्ष्ण संहिता पद क्रम संघात वृत्ति संग्रह
गण गुण आयुर्वेद वसन्त । सहचरितेऽध्ययने वसन्तात् । वर्षा शरद् । व्यस्तसमस्तात् । शिशिर हेमन्त
प्रथमगुण अनुगुण प्रथमगण । अनुगण इति केचित् । अथर्वन् । ‘वद्यालक्षणकाल्पसूत्रान्तादकल्पादेः’
[वा०] । वायसविद्यिकः । सार्पविद्यिकः । हारितरुक्ष्णिकः । आश्वलक्ष्णिकः । मातृकल्पिकः । पैतृकल्पिकः ।
वार्तिसूत्रिकः । अकल्पादेरिति किम् ? काल्पसूत्रः । ‘विद्यामाननक्षत्र (विद्या च नाङ्गक्षेत्र) अमोत्रिपूर्वा’
[वा०] इह विद्यान्ताट्ठण्कस्तस्यायं प्रतिषेधः । अङ्गविद्यामधीते अङ्गविद्यः । क्षात्रविद्यः । धार्मविद्यः ।
त्रैविद्यः । त्र्यवयवा विद्या इति यसेऽयं प्रतिषेधः । रसे तु ‘रस्योबनपत्ये’ [३॥१॥७४] इत्युपा भवितव्यम् ।
तत्र नास्ति विशेषः । ‘आख्यानाख्यायिकेतहासुराणेभ्यश्च’ [वा०] आख्यानाख्यायिकयोरर्थग्रहण-
मितिहासपुराणयोः स्वरूपग्रहणम् । आख्यानात्-यावक्रीतिकः । आधिभारिकः । आख्यायिकायाः-वासव-

दत्तिकः । ऐतिहासिकः । पौराणिकः । “सर्वसादेरसाच्चोप्” [वा०] सर्वादेः सादेरसाच्चोप् भवति । सर्ववेदः । सर्वतन्त्रः । सादेः-सवार्त्तिकः । संसंग्रहः । सर्वत्र ठण् उप् । रसात् । पञ्चकल्पः । त्रिजज्ञणः । त्रिसूत्रः । विद्यालक्षणकल्पसूत्राङ्गुक्तः । पदोत्तरपदादिकः । पूर्वपदिकः । उत्तरपदिकः । “शतषष्टिभ्यां पथष्टिकः” [वा०] शतपथिकः । शतपथिकी । षष्टिपथिकः । षष्टिपथिकी । “अनुसूक्तचयलक्षणेभ्यश्च ठण्” [वा०] अनुसूक्तम ग्रन्थः । अनुसूक्तधीते आनुसुकः । लाक्षिकः । लाक्षणिकः । द्विपद ज्योतिष अनुपद अनुकल्प । इतिकरणं प्रयोगार्थं वर्तते । ततोऽयं विभागो लभ्यते ।

क्रमदेवुन् ॥३।२।५३॥ तद्वेद्यधीते इति वर्तते । क्रम इत्येवमादिभ्यो वुन् भवति । क्रमं वेद्यधीते वा क्रमकः । क्रम पद शिद्धा मीमांसा सामन् । “अनुब्राह्मणादिन्वक्तव्यः” [वा०] ब्राह्मणसदृशो ग्रन्थो अनुब्राह्मणं तदधीते अनुब्राह्मणी । अनुब्राह्मणिनौ । अनुब्राह्मणिनः । मत्वर्थीयेन सिद्धेऽपि अण्वाधनार्थ-मिदं वक्तव्यम् ।

उप्प्रोक्तात् ॥३।२।५४॥ प्रोक्तेऽर्थे विहितः प्रोक्तः । प्रोक्त्यान्तादध्येतृवेदित्रोरुत्पन्नस्य त्यस्योब् भवति । गोतमेनं प्रोक्तं गौतमं तद्वेद्यधीते वा गौतमः । भद्रबाहुना प्रोक्तं भाद्रबाहुवं तद्वेद्यधीते वा भाद्र-बाहुवः । परस्याण उपि कृते योऽवस्थितः प्रोक्कार्थविषयोऽण तस्य न्यत्वात् “अनीचः” [३।१।१७] इत्यधि-कारात् “डिड्ढाण्” [३।१।१८] इति डीविधिर्न भवति अतश्चापि गोतमा । भाद्रबाहुवा स्त्री ।

सूत्रात्क्रोडः ॥३।२।५५॥ सूत्रवाचिनः ककारोडः अध्येतृवेदित्रोरुत्पन्नस्य त्यस्योब् भवति । अप्रोक्ता-र्थोऽयमारम्भः । पञ्चाध्यायाः परिमाणमस्य पञ्चकं सूत्रम् । एवमष्टकं द्वादशकम् । पञ्चकमधीयते विदन्ति व पञ्चका जैनेन्द्राः । अष्टकाः पाणिनीयाः । द्वादशका आर्हताः । “संख्याप्रकृतेरिति वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । तत्त्वार्थवार्तिकमधीते तात्त्वार्थवार्त्तिकः । कलापकमधीयते कालापकाः ।

छन्दोब्राह्मणानि चात्रैव ॥३।२।५६॥ प्रोक्तग्रहणमनुवर्तमानं छन्दोब्राह्मणानां विशेषणम् । अत्रेत्य-नेनाध्येतृवेदितृत्वविषयो गृह्यते । छन्दोवाचीनि ब्राह्मणवाचीनि च प्रोक्त्यान्तान्यत्रैवाध्येतृवेदितृत्वविषये वर्तन्ते । अध्येतृवेदितृत्वविषया वृत्तिरेव यथा स्यादित्यर्थः । उभयावधारणं चेदमेवकारोपादानाल्लभ्यते । अन्यथाऽरम्भसामर्थ्यात् विषयावधारणे सिद्ध एवकारोऽनर्थकः स्यात् । प्रोक्त्यान्तस्यात्रैव वृत्तिर्नान्यत्र । तथा वृत्तिरेव न केवलावस्थानमित्युभयथा नियमः । अन्यत्रानियमात् क्वचित् स्वातन्त्र्यं भवति । अर्हता प्रोक्तं शास्त्रं क्वचिदु-पान्यतरयोगः । आर्हतमर्हत्सु विहितमिति । क्वचिद्वाक्यमार्हतमधीते । क्वचिद्वृत्तिः आर्हत इति । इदं पुनर्नि-यमाद् युगपदेव विग्रहः । कठेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते कठाः । शौनकादिषु “वैशम्पायनान्तेवासिभ्यः” [ग० सू० ३।३।७७] इति वचनात् णिन् । तत्रैव “कठचरकाहुप्” [ग० सू० ३।३।७७] इति तस्योप् । ततः परस्याणः “उप्प्रोक्तात्” [३।२।५४] इत्युप् । नोदेन प्रोक्तमधीयते नोदाः । पैपलादाः । “कलापिनोऽण्” [३।३।७६] इत्यत्राण्ग्रहणसामर्थ्यात् अन्यत्राप्यण् । आर्चानिनः (आर्चायिनः) “वैशम्पायनान्तेवासिभ्यः” [३।३।७७] इति णिन् । वाजसनेयिनः । शौनकादित्वात् णिन् । ब्राह्मणानि खल्वपि । ताण्डिना प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते ताण्डिनः । शौनकादिषु “पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु” [ग० सू० ३।३।७७] इति णिन् । भल्लवेन प्रोक्तमधीते पूर्ववर्णिणान् । भाल्लविनः । एवं साध्यायनिनः । ऐतरेयिणः । छन्दोग्रहणेन सिद्धे पृथग् ब्राह्मणग्रहणं किम् ? पुराणप्रोक्तलविशिष्टब्राह्मणपरिग्रहार्थम् । इह मा भूत् । याज्ञवल्केन प्रोक्तानि याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि । “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३।२।८७] इत्यण् । यलम् । सुलभेन प्रोक्तानि सौलभानि “कलापिनोऽण्” [३।३।७६] इत्यन्यत्राप्यण् । याज्ञवल्क्यादयोऽवरकाला इति व्यवहारः । चकारः किमर्थः ? ब्राह्मणस-दृशब्राह्मणानां समुच्चयार्थः । काश्यपेन प्रोक्तं कल्पमधीयते काश्यपिनः । कौशिकेन प्रोक्तं कल्पमधीयते कौशि-किनः । शौनकादिषु “काश्यपकौशिकाभ्याम्” [ग० सू० ३।३।७७] इति णिन् । गुणभूतछन्दसां च समुच्च-

यार्थम् । पाराशर्येण प्रोक्तं सूत्रमधीयते पाराशरिणो भिन्नवः । शिलालिना प्रोक्तमधीयते शैलालिनो नटाः । शौनकादिषु “पाराशर्यशिलास्त्रिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः” [ग० सू० ३।३।७७] इति णिन् । कर्मन्देन प्रोक्तमधीयते कर्मन्दिनः । कृशाश्वेन प्रोक्तमधीयते कृशाश्विनः । शौनकादिष्वेव “कर्मन्दकृशाश्वभ्यामिन्” [ग० सू० ३।३।७७] इति भिन्ननटसूत्रयोरिति वर्तते ।

तदस्मिन्नस्तीति देशः खौ ॥३।२।५७॥ तदिति वासमर्यादस्मिन्नितीवर्थे यथाविहितं त्यो भवति । यत्तद्वासमर्यामस्ति चेत् तद्भवति । यत्तदस्मिन्निति निर्दिष्टं देशश्चेत्तद् भवति । समुदायेन खुविषये । इति-करणाद् भूमादिविषये विवक्षा । औदुम्बरः । वाल्वजः । पार्वतः । मत्वर्यायोऽनेन बाध्यते ।

तेन निर्वृत्तः ॥३।२।५८॥ देशः खाविति वर्तते । तेनेति भासमर्याद् निर्वृत्त इत्येतस्मिन्नर्थे यथा-विहितं त्यो भवति देशः खौ । ककन्देन निर्वृत्ता काकन्दी । मकन्देन निर्वृत्ता माकन्दी । कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी । सहस्रेण निर्वृत्ता साहस्री परिखा । खावित्येव । वनेन निर्वृत्तम् । इह यदाऽकर्मका अपि घवः सगयः सकर्मका भवन्तीति कर्मणि निर्वृत्तशब्दो व्युत्पाद्यते, तदा तेनेति कर्तरि करणे वा भा । यदा ल्वकर्म-कविवक्षया कर्तरि निर्वृत्तशब्दस्तदा हेतौ भा ।

तस्य निवासादूरभवौ ॥३।२।५९॥ देशः खाविति वर्तते । तस्येति तासमर्यात् निवास अदूरभव-इत्येतयोरर्थयोर्यथाविहितं त्यो भवति देशनामिन् गम्यमाने । निवसन्त्यस्मिन्निति निवासः “हळः” [२।३।१०२] इत्यधिकरणे घञ् । भवतीति भवः । पचाद्यच् । अदूरे भवः निपातनात्सविधिः । वसतेर्निवासः वासात् । औषुष्टम् । शलाकाया निवासः शालाकम् । वाराणस्या अदूरभवा वाराणसी । विदिशाया अदूरभवं वैदिशम् । ग्रीहीमत्या अदूरभवं ब्रैहिमतं नगरम् ।

बुद्धुण्कठेलेसन्नदराण्ययफरिफजिङ्कराणोऽरीहरकृशाश्वर्यकुमुदकाशतणप्रेक्षाश्मस-खिसंकाशबलपत्तकर्णसुतङ्गमवराहकुमुदादिभ्यः ॥३।२।६०॥ बुजादयः षोडश त्या यथासंख्यम-रीहणादिभ्यः षोडशभ्यो गणोभ्यो भवन्ति यथासंभवं प्रागुक्तेषु चतुरर्थेषु । अरीहणादिभ्यो बुज् । अरीहणेन निर्वृत्तं आरीहणकम् । अरीहण द्रुघण द्रवण खदिर भगल उलुन्द साम्परायण क्रौड्रायण चैत्रायण वैगर्तायन रायस्पोष विषाय विषाय उद्दण्ड उदञ्जन शालायन खाण्डायन खण्डवीरण काशकृत्तन जाम्बवत शिशापा किरण रैवत तैस्व वैमतायन सौमायन शाण्डिल्यायन सुयज्ञ विपाश वायस । कृशाश्वदिभ्यश्च भवति । कृशाश्वेन निर्वृत्तं काशाश्वीयम् । कृशाश्व अरिष्ट वेदमन् वेप्य विशाल रोमक लोमक ववर शवल रोमश वर्वर सूकर पूतर सदश सुख धूम अजिर विनत अवनत इरस अयस् विकुषास अनस् अवसाय मौद्गल्य । ऋश्यादिभ्यः क्को भवति । ऋश्या अस्मिन्देशे सन्ति ऋश्यकः । ऋश्य । न्यग्रोध । सर (शिरा) । निलीन । निवास^१ । निद्यास । वितान । विधान । निबद्ध । विबुद्ध । परिगूढ । उपगूढ । उपगूह । उच्चराशमन्^२ । स्थूलबाहु । स्थूलवाह । खदिर । शर्करा । अनडुह । परिवंश । वेणु । वीरण । कुमुदादिभ्यश्चो भवति । कुमुदान्यस्मिन् देशे सन्ति कुमुदिकम् । कुमुद । शर्करा । न्यग्रोध । कर्कट । संकट । इत्कट । मन्तु । बीज । अश्वत्थ । बल्वज । ग्रथक । गत्त^३ । वरिवाप^४ । अक्ष । पवाश । शिरीष । कूप । विकङ्कत । कासादिभ्य इळो भवति । काशा अस्मिन्देशे सन्ति काशिलम् । आश । वास^५ । अश्वत्थ । पलाश । पीलूष । विस । तृण । वर्धूल^६ । कर्दम । नड । वन । कर्पूर । कर्कट । गुहा । सा(शा)कटिक । तृणादिभ्यः सो भवति । तृणान्यस्यां सन्ति तृणसा । तृण । नड ।

१. निवात ब०, पू० । २. उत्तराशमन् पू० । ३. परिवाय ब०, पू० । ४. वाम पू० । ५. वर्धूल ब० ।

पर्यं । वर्षा । मूल । वराण^१ । अर्जुन । जनक^२ । फल । प्रेक्षादिभ्य इन् भवति । प्रेक्षाऽस्मिन्नस्ति प्रेक्षी । फलक । वन्द्युक् । ध्रुवक^३ । ध्रुवका । क्षिपका । न्यग्रोध । इत्कट । कण्टक^४ । संकट । कपि । अश्मादिभ्यो रो भवति । अश्मानोऽस्मिन् सन्ति, अश्मरम् । अश्मन् । यूथ । ऊथ । मीन । दर्भ । वृन्दा । गुडा । खण्ड । काण्ड । नग । शिखा । सख्यादिभ्यो ढण् भवति । सख्या निर्वृत्तं साख्यम् । दान्तेयम् । सखि । दन्त^५ । वासवदत्त । अग्निदत्त । वायुदत्त । गोपिल^६ । भल्ल । पाल । चक्रवाक । छगल । अशोक । सिनका । सरकापाल । संकाशादिभ्यो ण्यो भवति । संकाशेन निर्वृत्तं सांकाश्यम् । संकाश । कम्पिल । काश्मीर । शूरसेन । सुपथिन् । सुपथञ्च । मन्मथ । यूथ । अङ्गनाथ^७ । कुल । अश्मन् । कूटा । मलिन । तीर्थ । अगस्ति । सूर । विरत । विरह । विकर । नासिका । सादिन् । शादिन् । मगदिन् । कलिर । खदिर । गडिर । चूडार । मञ्जार । कोविदार । गोहल । चक्रवाक । अशोक । करवीरक । सीरक । सूक । मुसल । मुखर । बलादिभ्यो यो भवति । बलेन निर्वृत्तं बल्यम् । बल । पूल । मूल । ऊल । तल । नल । वच । क्रल । पक्षादिभ्यः ऋण् भवति । पक्षेण निर्वृत्तः पान्नायणः । पक्ष । तुष^८ । अण्डक । मुण्ड । कम्बलिक । यका । चित्रा । अस्तिश्वन् । पथिन् पन्थ च । कुम्भ । सीरक । सरक । सरस । पङ्गल । रोमन् । लोमन् । लोमक । हंसक । सकर्णक । हस्त । विल । कर्णादिभ्यः फिञ् भवति । कर्णेन निर्वृत्तः कार्णाथिनिः । कर्ण । वशिष्ठ । अर्क । लुस^९ । द्रुपद । आनडुह्य । पाञ्चजन्य । स्फिग् । कुलिश । कुम्भ । जित्वन् । जीवन्त । अण्डवीत् । सुतङ्गमादिभ्य इञ् भवति । सुतङ्गमेन निर्वृत्तः सौतङ्गमिः । सुतङ्गम् । मुतिचित्त । विप्रचित्त । महाचित्त । महापुत्र । श्वेत । अण्डिक । शुक्र । विप्र । बीजवापिन् । श्वन् । अर्जुन । अजिर । वराहादिभ्यः कण् भवति । वराहा अस्मिन्देशे सन्ति वाराहकम् । वराह । पलाश । शिरीष । विनद्ध । स्थल । निबद्ध । निदग्ध । विजग्ध । विभिन्न । विभग्न । बहु । खदिर । शर्कर । कुमुदादिभ्यः ढण् भवति । कुमुदानि अस्मिन्देशे सन्ति कौमुदिकम् । कुमुद । गोमथ^{१०} । रथकार । दशग्राम । अश्वत्थ । शाल्मली । मुनिस्थल । कूट । शुचुकर्ण । शुचिकर्ण । इति केचित् । श्रीह-
णादिषु कुमुदादिषु पटितस्य शिरीषशब्दस्य वरणादिषु दर्शनात् तस्य पक्षे उस् भवतीति वेदितव्यम् । उक्त्वञ्च
भाष्यकृता शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषः । तस्य वनं शिरीषवनम् ।

जनपद उस् ॥३१२॥६१॥ चतुर्वर्षेषु देशे खौ यस्यो विहितः तस्य जनपदे देशविशेषेऽभिषेये उस् भवति । पञ्चालस्यापत्यानि पञ्चालाः । पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः । कुरवः । अङ्गाः । उरन्तेन यत्र देशः खुविषयो भवति तत्रायमुस् । इह मा भूत् । उदुम्बरा अस्मिन्देशे सन्ति औदुम्बरो जनपदः ।

वराणादेः ॥३१२॥६२॥ वरण इत्येवमादिभ्यस्त्यस्योस् भवति चतुर्वर्षेषु उत्पन्नस्य । अजनपदार्थोऽयमारम्भः । वरणानामदूरभवं वरणा नगरम् । शृङ्गिशाल्मलयः । शिरीषा ग्रामः । गोदौ हृदौ तयोरदूरभवो गोदौ ग्रामः । एवम् आलिङ्ग्यायन । पर्णा । सपाटी^{११} । जालपदी^{१२} । मथुरा । उज्जयनी । गया । तन्नाशिला । उरस् । आकृतिगणोऽयम् । तेन वदरी । कटुवदरी । काञ्ची । समन्तपञ्चकस्यादूरभवं समन्तपञ्चकं कुरुक्षेत्रम् इत्येवमादीनां परिग्रहः ।

१. चरण इति काशिकायाम् । २. जन पू० । ३. ध्रुवका । ध्रुवका । पू० । ध्रुवक । ध्रुवका । वं० । ४. कंकट पू० । ५. सखि दन्त पू० । ६. पिळ । गहिल । भ-पू० । ७. कश्मीर पू० । ८. अङ्ग । कुङ्गनाथ पू० । ९. लुष पू० । १०. लुष स० । ११. गोमठ ब०, स० । १२. सफाटी ब० । सफाटी । १२. जालपदा ब० ।

शर्कराया वा ॥३१२६३॥ शर्कराशब्दादुत्पन्नस्य चातुरर्थिकस्य वा उस्भवति । शर्कराशब्दः । कुमुदादिषु वराहादिषु च पाठसामर्थ्यात् पक्षे ठण्कण्योः श्रवणं भवति । शर्कराग्रामः । शर्करिकः । शार्करिकः । “केऽणः” [५।२।१२५] इति प्रादेशः । अन्ते उत्सर्गस्येवं विकल्पमिच्छन्ति । तेषां शार्करेत्यपि भवति । अन्यथा विकल्पोऽनर्थकः स्यात् ।

ठण्छौ ॥३१२६४॥ ठण्छ इत्येतौ लौ भवतः शर्कराशब्दात् चतुर्ष्वर्थेषु । शार्करिकम् शर्करायम् ।

नद्यां मतुः ॥३१२६५॥ नद्यामभिधेयायां मृदो मतुर्भवति चतुर्ष्वर्थेषु देशे खौ । उदुम्बरा अस्यां सन्ति, उदुम्बरावती । वीरणावती । पुष्करावती । इक्षुमती । द्रुमती । कथं भागीरथी भैरथी जाह्नवी ? वेत्यनुवृत्तेर्व्यवस्था ।

मध्वादेः ॥३१२६६॥ मधु इत्येवमादिभ्यो मतुर्भवति चतुर्ष्वर्थेषु । अनद्यर्थोऽयमारम्भः । मधु अस्मिन्देशेऽस्ति, मधुमान् । मधु । विश । स्याणु । पृथि । इक्षु । वेणु । कर्कन्धु । शमी । करीर । हिम । किसरा । सार्यण^२ । उरुस् । वा^३र्दाकी । वल्मीक । इष्टका । शुक्ति । आसुति । आसन्दी । शालाका । वेयवेण ।

कुमुदनडवेतसाडित् ॥३१२६७॥ कुमुद नड वेतस इत्येतेभ्यश्चतुर्ष्वर्थेषु मतुर्भवति डित् । कुमु- दान्यस्मिन्देशे सन्ति, कुमुदवान् । वेतस्वान् । “महिषाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] । महिष्मान् ।

शिखाया वलः ॥३१२६८॥ शिखाशब्दाद् वलो भवति चातुरर्थिकः । शिखाया निर्वृत्तं शिखाया अदूरभवं वा शिखावलं नाम नगरम् ।

नडशादाडित् ॥३१२६९॥ नडशादाभ्यां वलो भवति डित्चतुर्ष्वर्थेषु । नडा अस्मिन्देशे सन्ति नड्वलः । शाडवलः ।

उत्करादेश्छः ॥३१२७०॥ उत्कर इत्येवमादिभ्यश्छो भवति चतुर्ष्वर्थेषु यथासम्भवम् । उत्करेण निर्वृत्तम्, उत्करीयम् । उत्कर । संकर । सम्फल । पिप्पल । मूल । अश्मन् । अर्क । पर्या^४ । खण्डाजिन^५ । अग्नि । तिक । कितव । आतप । अंशक^६ ।

नडादेः कुक् ॥३१२७१॥ नड शब्द आदिर्यस्य नडादिः, तस्मात्, नड इत्येवमादिभ्यो यथासम्भवं चातुरर्थिकश्छो भवति कुगागामश्च । नडा अस्मिन्देशे सन्ति नडकीयः । नड । लक्ष् । विल्व । वेणु । वेत्र । वेतस । तृण । इक्षु । वाष्ट । कपोत । क्रौञ्चः प्रादेशश्च । तक्षन् तखञ्च ।

शेषे ॥३१२७२॥ अपत्यादयश्चतुरर्थपर्यन्ता येऽर्था उक्तास्ततोऽन्यः शेषः, शेषेऽर्थविशेषे यथा- विहितं ल्यो भवति । चतुर्भिस्त्वहते चातुरं शकटम् । अश्वैस्त्वहते आश्वो रथः । चतुष्पा गृह्यते चानुषं रूपम् । आवणः शब्दः । दार्शनं स्पर्शनं च द्रव्यम् । दृषदि पिष्टाः दार्षदाः सक्रवः । उलूखले ल्लुण्णः, औलूखलो यावकः । चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः । अनुष्टुबादिरस्य प्रगाथस्य, आनुष्टुभः । पाङ्क्तः । जागतः । स्वार्थेऽनुष्टुबेव आनुष्टुभम् । पाङ्क्तम् । जागतम् । “तेन दृष्टं साम ।” क्रौञ्चेन दृष्टं साम, क्रौञ्चम् । वासिष्ठम् । वैश्रामित्रम् । मायूरम् । “वामदेवाद्यो वक्तव्यः” [वा०] । वामदेवेन दृष्टं वामदेव्यम् । “कचिद्दृष्टे सामनि जाते चार्थे योऽन्योऽण् दिधीयते स च डिद्भवतीति वक्तव्यम् ।” उशनसा दृष्टं साम औशनम् । औशनसम् । शतभिषजि जातः शतभिषः शतभिषजः । “काकाट्टिजि” [३१२।१३१] प्राप्ते

१. पृष्टि व०, पू० । २. सौर्यण व० । ३. वार्दाका पू० । ४. पर्या । सुपर्ण । ख-त्र०, पू० । ५. -जिन । वलाजिन । अग्नि व०, पू० । ६. अशंक पू० ।

“भसन्ध्याद्यृतुभ्योऽवर्षाभ्योऽण्” [३।२।१३७] इत्यण् । “दृष्टे सामनि वृद्धादङ्कवद् वक्तव्यम्” [वा०] ।
 औपगवेन दृष्टं साम, औपगवकम् । कापटवकम् । “वृद्धचरणाञ्जित्” [३।३।६४] इति वुञ् ।

“दृष्टे सामनि जाते च योऽन्योऽण् वा ङिद्विधीयते । तीयादीकण् च विद्यार्था वृद्धादङ्कवद्विध्यते ।”

शेष इति लक्षणमधिकारश्चायम् । शेषभूतेषु जातादिष्वर्थेषु घादयो वक्ष्यमाणा वेदितव्याः । तस्येदं
 विशेषेष्वर्थेषु अपत्यसमूहादिषु मा भूवन्निति ।

राष्ट्रावारपाराद्वखौ ॥३।२।७३॥ राष्ट्र अवारपार इत्येताभ्यां यथासंख्यं च ख इत्येतौ ल्यौ भवतः ।
 राष्ट्रे जातः राष्ट्रियः । अवारपारीणः । “विगृहीतादपीष्यते” । अवाररीणः । पारीणः । “विपरीतादपि”
 पारावारीणः । अवारस्य पारे (रम्) पारावारः समुद्रः, राजदन्तादित्वात् [१।३।६६] परानियम् ।

ग्रामाद्यखञौ ॥३।२।७४॥ ग्रामशब्दात् य खञ् इत्येतौ भवतः शेषार्थाऽभिधाने । ग्राम्यः ।
 ग्रामीणः । खञो ङित्करणं “ङ्गिद्विद्वरङ्गविकारे” [३।३।१५१] इत्यत्र पुं वद्भावप्रतिषेधार्थम् ।
 ग्रामीणभार्यः ।

कत्स्यादेर्ढकञ् ॥३।२।७५॥ कत्त्रि इत्येवमादिभ्यो ढकञ् भवति । कुत्सितान्नयो यस्या यस्य वा
 असौ कत्त्रिः, तत्र जातो भवो वा कात्त्रेयकः । कत्त्रि । उम्भि^१ । पुष्कर । पुष्कल । पौदन^२ । मौदन ।
 उम्बि । कुण्डिनी^३ । नगरी । माहिष्मती । चर्मण्वती । कुड्या । कुल्या । अनयोर्यत्नं च “ग्रामाच्चेति
 षक्यम्” [वा०] ग्रामेयकः । “कुलकुक्षिग्रीवाभ्यो यथासंख्यं श्वास्यङ्कारेष्विति वक्तव्यम्” [वा०]
 कौलेयको भवति श्वा चेत्, कौलोऽन्यः । कौलेयको भवत्यसिञ्चेत्, कौलोऽन्यः । ग्रैवेयको भवत्यलङ्का-
 रश्चेत्, ग्रैवोऽन्यः ।

नद्यादेर्ढण् ॥३।२।७६॥ नदी इत्येवमादिभ्यो ढण् भवति शेषे । नद्यां जातो भवो वा नादेयः ।
 नदी । मही । वाराणसी । श्रावस्ती । कौशाम्बी^४ । काशफरी^५ । खादिरी । पूर्वनगरी । पावा । मावा ।
 शील्वा^६ । दारवा । सैतव । वडवाया^७ नृषे इति । अत्र केचित् पूर्वनगरीशब्दस्थाने पूर्वनगिरिशब्दं पठन्ति ।
 छेदेन च त्यमुत्पादयन्ति । पुरि भवं पौरैयम् । वने भवं वानेयम् । गिरौ भवं गैरेयम् ।

दक्षिणापश्चात्पुरस्सत्यण् ॥३।२।७७॥ दक्षिणा पश्चात् पुरस् इत्येतेभ्यस्त्यण् भवति शेषे ।
 दक्षिणास्यां दिशि वसति “दक्षिणादा” [३।१।१००] इति आकारे कृते दक्षिणा, तत्र भवो दक्षिणात्यः ।
 पाश्चात्यः । पौरस्त्यः ।

ट्फण् कापिश्याः ॥३।२।७८॥ ट्फण् भवति कापिशीशब्दात् शेषे । कापिश्याम्भवं कापिशायनं
 मधु । कापिशायनी द्राक्षा । “बाह्व्युर्दिभ्यश्चेति वक्तव्यम्” बाह्वायनी । आर्दायनी ।

रङ्ककोः ॥३।२।७९॥ रङ्कुशब्दात् ट्फण् भवति शेषिकः । रङ्कुषु जातः रङ्कुवायणो गौः ।
 “प्राणिनीति वक्तव्यम्” । इह माभूत् । रङ्कुवः कम्बलः । कथं रङ्कुवो गौः ? शेषे कञ्छादिपाठात् अणपि
 भवति । मनुष्ये त्वभिधेये परत्वात् “नृतस्थयोर्बुञ्” [३।२।११३] इति वुञ् भवति । रङ्कुवको मनुष्यः ।

द्युप्रागपागुदकप्रतीचो यः ॥३।२।८०॥ दिव् प्राच् अपाच् उदच् प्रतीच् इत्येतेभ्यो यो भवति
 शेषे । दिव्यः । प्राच्यः । अपाच्यः । उदीच्यः । प्रतीच्यः । यदा प्रागादयः शब्दाः भिन्नशकाः कालवाचिनस्तादा
 परत्वात् “स्वार्यन्चिरम्प्राह्णे प्रगेक्लिभ्यस्तनट्” [३।३।१४०] इति तनट् । प्राक्कनः ।

१. उम्भि पू० । २. पौदन ब०, स० । ३. कण्डिनी अ०, ब०, पू० । ४. -म्बी । वनकौशाम्बी ।
 का-अ०, ब०, पू० । ५. कासफरी । सफरी पू० । कासपारी । सफरी अ० । कासपारी खा- ब० । ६.
 झाववा अ०, पू० । ७. वडवाया वषे इति काशि० ।

भेस्तुट् ॥३१२।८१॥ भिस्सञ्जाद्यो भवति तुडागमः शेषे । अत्र परिगणनम् । “अमेहकतसि-
त्रेभ्यः” इति । अमात्यः । इहयः । कत्यः । ततस्यः । तत्रत्यः । परिगणनं किम् ? उपरिष्ठात् जातः,
औपरिष्ठः । भेर्ममात्रे टिक्त् । परतो जातः पारतः । उत्तराहि जातः, औत्तराहः । “दोश्छः” [३१२।६०]
एव भवति । आरातीयः । “नेधुं व इति वक्त्र्यम्” [वा०] नियतं सर्वकालं भवं नित्यम् । “निसो गत इति
वक्त्र्यम्” [वा०] निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो निष्ट्यः श्वपचादिः ।

वैषमोहास्वसः ॥३१२।८२॥ ऐषमस् ह्यस् श्वस इत्येतेभ्यो वा यो भवति । यदा यस्तादा
तुट् । ऐषमस्त्यः । ऐषमस्तनः । ह्यस्त्यः । ह्यस्तनः । श्वस्त्यः । श्वस्तनः । “श्वसस्तुट् च” [३१२।१३५] इति
पात्तिके ठञि, शौवस्तिकः । “द्वारादेः” [५।२।६] इत्यौच् ।

रूप्यद्योर्ण्यः ॥३१२।८३॥ रूप्यशब्दो द्युयस्य तस्मात् णो भवति शौषिकः । वृकरूप्ये जातः
वार्करूप्यः । दुसंज्ञायां परत्वात् “धन्वयोढः” [३१२।६६] इति वुञ् भवति । माणिरूप्ये जातः,
माणिरूप्यकः ।

दिगादेरखौ ॥३१२।८४॥ दिग्विशेषादेर्मृदः अखौ वर्तमानात् णो भवति । व्यणोऽपवादः । शेषे ।
पूर्वस्यां शालायां भवः पौर्वशालः । “हृदर्थः” [१।३।४६] षसः । एवम् आपरशालः । दाक्षिणशालः ।
अखाविति किम् ? पूर्वेषुकामसम्यां जातः पूर्वेषुकामसमः । अपरैषुकामसमः । “दिक्संख्यं खौ” [१।३।४२]
इति सः । “प्राचां ग्रामाणाम्” [५।२।१६] इति चौरैप् ।

मद्रेभ्योऽण् ॥३१२। ५॥ दिगादेरिति वर्तते । दिगादेर्मृदशब्दात् अण् भवति शौषिकः । “बहु-
त्वेऽदोरपि” [३।२।१०३] इति वुञ् प्रातः । तदपवादे “वृजिमद्रात्कः” [३।२।१०६] इति के प्राप्ते
पुनरनेनाण् । पौर्वमद्रः । आपरमद्रः । “दिशोऽमद्राणाम्” [३।२।१०८] इति पर्युदासादादेरैप् । दिगादे-
रित्येव । मद्रकः । आरम्भसामर्थ्यादेवाणि सिद्धे अण्ग्रहणं राष्ट्रलक्षणस्यापि वुञो बाधनार्थम् ।

पलद्यादेः ॥३१२।८६॥ पलदी इत्येवमादिभ्योऽण् भवति शौषिकः । पलद्यां जातः, पालदः
पारिषदः । “वा नाम्नः” [१।१।७१] इति दुसंज्ञायां छुः प्रसज्येत । इह वाहीकशब्दश्छुवाधार्थमुपात्तः ।
गौष्टीनैकेतीशब्दाभ्यां छुः प्रातः । वाहीकशब्दलाच्च ठञिटौ प्रातौ । गोमतीशब्दात् “रोढीतोः प्राचाम्”
[३।२।१०१] इति वुञ् प्रातः । “ओर्देशे ठञ्” [३।२।६५] इत्यत्र (इत्यतो) देशग्रहणमनुवर्तते ।
गोमती च नदी । “भिन्नलिङ्गो नदीदेशः” [१।४।८३] इत्यत्र ज्ञापितं नदीदेशग्रहणेन न गृह्यते । गोमत्यां
भवा मत्स्या गौमता इति । तस्मादिह पाठोऽनर्थकः । एकीयमतमेतत् । अथवा इदमेव ज्ञापकम्, नद्यपि
देशग्रहणेन गृह्यते । “भिन्नलिङ्गो नदीदेशः” [१।४।८३] इत्यत्र नदीग्रहणं जलाशयनियमार्थमुक्तम् ।
श्रवदुदकानां द्व द्व एकवद् भवति (न) स्थिरोदकानां कूपसरस्तडागानाम् । वैश्वामित्रं च तडागं जरत्कूपश्च
वैश्वामित्रजरत्कूपौ । शूरसेनशब्दात् “बहुत्वेऽदोरपि” [३।२।१०३] इति वुञ् प्रातः । पलदी । परिषत् ।
यकृत् । लोमन् । नरुञ्च । पट्चर । वाहीक । कलकीक । बहुकीट । कमलभित् । गौष्टी । नैकेती । परिखा ।
उदपान । रोमक । शूरसेन । गोमती ।

शकलादिभ्यो वृद्धे ॥३१२।८७॥ शकल इत्येवमादिभ्यो वृद्धे यो विहितस्यस्तदन्तेभ्योऽण् भवति
शेषे । शाकल्यस्य छात्राः शाकलाः । “क्यच्च्यनाद्ध्यत्यापत्यस्य” [४।४।१४१] इति यत्नम् । काण्वस्य
छात्राः काण्वाः । गौक्यस्य गौक्यः । कौण्डिन्यस्य कौण्डिनः । वृद्ध इति किम् ? शकलो देवताऽस्य शाकलः।
शाकलस्येदम् शाकलीयम् । उत्तरार्थं च वृद्धग्रहणम् ।

इजः ॥३१२८८॥ वृद्धे यो विहितः इज् तदन्तादण् भवति शेषे । दाक्षेरिदं दान्त्तम् । प्लात्तम् । वृद्ध इत्येव । सौतङ्गमेरिदं सौतङ्गमीयम् ।

न द्वयच्चः प्राच्यभरतेषु ॥३१२८९॥ द्वयचो मृदः प्राच्यभरतात् वृद्धादिजन्तादण् न भवति । पूर्वेषु प्राप्तस्य प्रतिषेधः । प्राच्येषु चैदीयाः^१ । पौषीयाः । भरतेषु काशीयाः । वासीयाः । द्वयच्च इति किम् ? पानागारेऽङ्गात्राः पानागाराः । प्राच्यभरतेषु इति किम् ? दान्ताः । ज्ञान्ताः । “काश्यादेश्छञ्जिठौ” [३१२९२] इत्यत्र चेदिशब्देन साहचर्याद्देशवाचिनः काशिशाब्दस्य ग्रहणम् । इह वृद्धत्यान्ताच्छ उदाहृतः । ननु भरताः प्राच्या एव तेषां किमर्थं पृथगुपादानम् । अन्यत्र प्राच्यग्रहणेन भरतग्रहणं मा भूदित्येवमर्थम् ।

दोश्छः ॥३१२९०॥ वृद्ध इति निवृत्तम् । सामान्येनोपादानात् । दोर्मृदश्छो भवति शेषे । सौता-रीयम् । मालीयम् । “रूप्यद्योः” [३१२८३] छं (छणं) बाधित्वा परत्वात् “धन्वयोङः” [३१२९६] इति बुज् । माणिरूप्ये भवः माणिरूप्यकः । “उदीच्यग्रामात् प्रस्थद्योरण् वक्तव्यः” [वा०] माषी-प्रस्थम् । माहकीप्रस्थम् ।

भवतश्छण्छसौ ॥३१२९१॥ दोरिति वर्त्तते । भवच्छब्दात् ठण् छुस् इत्येतौ ल्यौ भवतः शेषे । सकारः “सिति” इति पद संज्ञार्थः । भावत्कम् । भवदीयम् । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य भवतीशब्दस्य ग्रहणे ठण्छसोः” [वा०] इति वक्ष्यमाणेनोपसंख्यातेन पुंवद्भावे तदेव रूपम् । यस्त्यदादिषु न पठ्यते शत्रन्तो भवच्छब्दः, तस्मादणि भावतमिति ।

काश्यादेश्छञ्जिठौ ॥३१२९२॥ काशि इत्येवमादिभ्यः ठञ् जिठ इत्येतौ ल्यौ भवतः शेषे । इकार उच्चारणार्थः । काशयो जनपदः तत्र जाता काशिकी, काशिका । वैदिकी, वैदिका । काशि । वेदि । सांयाति । संवाह । अच्युत । मोदमान । संकुलाद । हस्तिकर्ण । कुनामन् । हिरण्य । करण । गोवासन । भौरिङ्ग । भौलिङ्गि । अरिन्दम । शकमित्र । देवदत्त । दासमित्र । दासग्राम । गोवाहन । तरङ्ग । सौदावतामि^२ । युवराज । उपराज । सिन्धुमित्र । देवराज । “आपदादिपूर्वपदात् कालान्ताद् ठञ्जिठौ वक्तव्यौ” [वा०] । आपत्कालिकी । आपत्कालिका । और्ध्वकालिकी । और्ध्वकालिका । आपद् । ऊर्ध्व । कूप । अनु । पूर्व । इत्यापदादिः । दोरिति वर्त्तते । यत्रादुसंज्ञास्तेषां वचनाद् ग्रहणम् । दोरधिकारस्य तु प्रयोजनं देवदत्तस्य प्राग्देशे वर्त्तमानस्य दुसंज्ञा न वाहीकग्रामे । दोरेव ठञ्जिठौ । कथं भाष्ये प्रयोगः देवदत्तीयाः । देवदत्ताः इति । “वा नाम्नः” [१११७१] इत्यत्र वेति व्यवस्थितविभाषा छे कर्त्तव्ये दुसंज्ञा भवति ठञ्जिठयोर्न भवति ।

वाहीकग्रामेभ्यः ॥३१२९३॥ दोरिति वर्त्तते । वाहीकग्रामेभ्यश्छञ्जिठौ भवतः शेषे । सकलाज्जाता, साकलिकी, साकलिका । मान्यपिकी । मान्यपिका । कारतायिकी । कारतायिका ।

चोशीनरेषु ॥३१२९४॥ दोरिति वर्त्तते । उशीनरेषु ये ग्रामाः, तद्वाचिभ्यश्छञ्जिठौ वा भवतः । आहूजालिकी, आहूजालिका, आहूजालीया । सौदर्शनिकी, सौदर्शनिका, सौदर्शनीया ।

ओर्देशे ठञ् ॥३१२९५॥ इह दो रदोश्च विधिः । उत्तरसूत्रे पुनर्दुर्ग्रहणात् । उवर्णान्ताद्देश-वाचिनो मृदश्छञ् भवति देशे । निषादकर्ष्वा जातः, नैषादकर्षुकः । एदञ्चरजन्तुकः^३ । छस्य परत्वादयं ठञ् बाधकः । दान्तिकर्षुकः । दोष्ठञ्जिठयोरपि बाधकः । वाहीकग्रामे, नापितवास्तौ जातः नापितवास्तुकः । देश इति किम् ? पटोऽङ्गात्राः—पाटवाः ।

१. चैकीयाः अ०, ब०, पू०, । २. सौधावनानि अ० । सोधावतानि पू० । ३. एपञ्चरजन्तुकः अ०, पू० । एपञ्चरजन्तुकः ब० ।

दोः प्राचाम् ॥३।२।९६॥ उद्देश (ओदेशे) इति वर्त्तते । उवर्णान्ताद्दोः प्राग्देशवाचिनश्च भवति शेषे । दोरदोश्च पूर्वेषु सिद्धे नियमार्थमेतत् । दोरेव प्राचां नाप्यदोः । आढकजम्बुकः । नापितवास्तुकः । दोरिति किम् ? मल्लवास्तु माल्लवास्तवः ।

कन्थायाः ॥३।२।९७॥ कन्थाशब्दाद्भवति शेषे । कन्था प्रावरणम्, उपचाराद् देशोऽपि । कान्थिको गौः ।

वर्णौ वुञ् ॥३।२।९८॥ वर्णौ या कन्था तस्या वुञ् भवति शेषे । वर्णुर्नाम नदः, तस्य अदूरभवो जनपदो वर्णुः, तद्विषये या कन्थेत्यर्थः । कान्थिको गौः । कान्थिकोऽश्वः ।

धन्वयोः ॥३।२।९९॥ दोरिति देश इति च वर्त्तते । धन्व (धन्व) वाचिनो यकारोऽश्च देश-वाचिनो दोर्बुञ् भवति शेषे । प्राचामिति निवृत्तम् । पारेवन्ध (धन्व) नि जातः, पारेवन्ध (धन्व) कः । आपारेवन्ध (धन्व) कः । पारावतकः । योः । साङ्गास्यकः । काम्पिल्यकः । ठञ्जिठाम्यां योः वुञ् परत्वात् । वाहीकग्रामे । दासरूप्ये जातः, दासरूप्यकः । “ओदेशे” [३।२।९५] ठञः परत्वाच्चोऽवुञ् भवति । आब्रीतमायौ जातः, आब्रीतमायवकः ।

प्रस्थपुरवहान्तात् ॥३।२।१००॥ दोरिति देश इति च वर्त्तते । प्रस्थ पुर वह इत्येवमन्ताद्देश-वाचिनो दोर्बुञ् भवति । छुत्यापवादः । दोरित्यधिकारात्तदन्तत्वे लब्धे अन्तग्रहणमनर्थकमिति चेत् ; असत्यन्त-ग्रहणे तदर्थवाचि दुसंज्ञं गृह्यते । यथा पूर्वसूत्रे बन्धा (धन्वा) र्थवाचि दुसंज्ञं गृहीतम् । मालाप्रस्थे जातः । मालाप्रस्थकः । सौ (शौ) णाप्रस्थकः । क्षान्तिप्रस्थकः^१ । नान्दीपुरकः । कान्धीपुरकः । पैलुवहकः । फाल्गुनी-वहकः । पुरान्ताद् “रोङ्गीतोः प्राचाम्” [३।२।१०१] इति सिद्धेऽप्यप्रागर्थं वचनम् । प्रस्थाद्यन्तात् ठञ्जि-ठाम्यां परत्वेन वुञ् । पानप्रस्थकः । कौत्कु जीवहकः । एतेभ्यो वाहीकग्रामत्वात् ठञ्जिठौ प्रातौ ।

रोङ्गीतोः प्राचाम् ॥३।२।१०१॥ दोरिति देश इति च वर्त्तते । प्राग्ग्रहणं देशविशेषणम् । रेफोऽङ्कारान्ताच्च दोः प्राग्देशवाचिनो वुञ् भवति शेषे । छापवादः । पाटलिपुत्रकः । ऐकचक्रकः । ईतः खल्वपि । काकन्दी, काकन्दकः । माकन्दी, माकन्दकः । प्राचामिति किम् ? दात्तामित्रीय । तपरकरणमसन्देहार्थम् ।

राष्ट्रावधयोः ॥३।२।१०२॥ दोरिति देश इति च वर्त्तते । देशविशेषणं राष्ट्राऽवधी । राष्ट्रवाचिनस्तद-वधिवाचिनश्च दोर्बुञ् भवति शेषे । छापवादः । आभिसारे जातः, आभिसारकः । राष्ट्रावधेः, श्रौषुमकः । श्यामायनकः । अवधिग्रहणेनापि राष्ट्रं गृह्यते । किमर्थं तर्ह्युपादानम् ? बाधकनाघनार्थम् । “गर्त्तयोः” [३।२।१०४] राष्ट्रवधेः परमण्यं बाधित्वा वुजेव भवत्युत्तरसूत्रेण । त्रैगर्त्तकः । इदं च प्रयोजनम्-मौञ्जिर्नाम वाहीकानामवधिग्रामः, तत्र भवो मौञ्जीय । ग्रामे अवधौ वुञ् न भवति ।

बहुत्वेऽदोरपि ॥३।२।१०३॥ राष्ट्रवध्योरिति वर्त्तते । बहुत्वविषयान्मृदः अदोरपि दोरपि राष्ट्रवाचिन-स्तदवधिवाचिनश्च वुञ् भवति शेषे । अण्डयोरपवादः । अदो राष्ट्रात्-अङ्गे जातः आङ्गकः । वाङ्गकः । अदो राष्ट्रावधेः^२ । अजकुन्देषु जातः, आजकुन्दकः । दो राष्ट्रात्, दार्वेषु जातः, दार्वकः । काम्बधकः । दो राष्ट्रावधेः । कालञ्जरेषु जातः, कालञ्जरकः । वैकुलिशेषु जातः, वैकुलिशकः । जह्नुषु जातः, जाह्ववकः । बहुत्वग्रहणं किम् ? जनपदैकदेशवहुत्वेन विवक्षितं वुञ् मा भूत् वर्तनीषु भव इति । दोः पूर्वेषु सिद्धे अप्रि-ग्रहणं किमर्थम् ? उत्तरत्र द्वयोरनुवर्तनार्थम् वाधावाधि^३ ज्ञान्यायेत(न)तक्रदानेनैव दधिदानस्य, तस्मादपीत्युक्तम् “ओष्ठजः” [३।२।१०६] परत्वात् राष्ट्रलक्षणो वुञ् । जह्नुषु जातः, जाह्ववकः ।

१. क्षाञ्जिप्रस्थकः अ०, पू० । २. कौत्कुजीवहकः पू० । कौत्कुजीवहकः अ० । कौत्कुजीवहकः ब० । ३. तर्हि पृथगुपादानम् अ०, ब०, पू० । ४ धेः । अजमीदे (ढे) षु जातः, अजमोद (ढ) कः पू० । ५ चिञ्जायेत ब० ।

कच्छाग्निवक्रवत्^१(गर्त)द्योः ॥३।२।१०४॥ कच्छ अग्नि वक्र वत् (गर्त) इत्येवं द्योर्देश-
वाचिनो मृदो दोरदोश्च वुञ् भवति शेषे । छागोऽपवादः । भरुकच्छे जातः, भारुकच्छुकः । पैपलीयकच्छुकः ।
काण्डाग्नौ जातः काण्डाग्नकः । वैभुजाग्नकः । तैन्दुवक्रकः । सैन्दुवक्रकः । बाहुवर्तकः । चाक्रवर्तकः ।

धूमादेः ॥३।२।१०५॥ धूम इत्येवमादिभ्यो वुञ् भवति शेषे । अणादीनामपवादः । धूमे जातः,
धौमकः । धूम । षण्ड । शशादन । अर्जुनवा । दण्डायन । स्थली । माणवस्थली । घोषस्थली । पोषस्थली ।
माहकस्थली । राजग्रह । सत्रासाह । भन्नास्थली । समुद्रस्थली । मद्रस्थल । अञ्जलीकूल । द्याहाव । व्याहाव ।
संस्त्रीय । पर्वत । गर्भ । विदेह । आनत् । अनयोरराष्ट्राथं ग्रहणम् । पादूर । पाथेय । योङोऽप्यदेशार्थं
ग्रहणम् । घोष । सव्य^२ । पल्लि । अराज्ञी । आराज्ञकः । धार्तराज्ञी । धार्तराज्ञकः । इत्येवमादिग्रहणमप्रामर्थम् ।
अभय । तीर्था । तीरकूलात्सौवीरेषु । कौलमन्यत् । समुद्रान्नावि मनुष्ये च । सामुद्रमन्यत् । कुक्षि । अन्तरीप ।
अरुण । उजयिनी । दक्षिणापथ । साकेत ।

नगरात्कुत्सादाद्ययोः ॥३।२।१०६॥ कुत्सा निन्दा, दाद्यं नैपुण्यम् । एते त्थार्थस्य जातादे-
र्विशेषणम् । नगरशब्दाद् वुञ् भवति शैषिकः कुत्सदाद्ययोग्यमानयोः । तत्र कुत्सायां केनाऽयं मुषितः ।
इह नगरे मनुष्येण । सम्भाव्यत एतत्^३ । नागरकाश्चौरा हि जागरूका भवन्ति । केनेयं वीणा वादिता इह
नगरे मनुष्येण । उपपद्यत एतन्नागरको (कैः) निपुणा हि नागरका भवन्ति । कुत्सादाद्ययोरिति किम् ?
नागरः पुरुषः । कल्यादिषु नगरीशब्दः पठ्यते । तस्माद्दृक्किं नागरेयक इति भवति ।

मनुष्यादिष्वरण्यात् ॥३।२।१०७॥ अरण्यशब्दान्मनुष्याभिधेये शैषिको वुञ् भवति । “अरण्याण्यो
वक्तव्यः” [वा०] इत्युक्तम्, तस्यायमपवादः । आरण्यको मनुष्यो वा पन्था वा अध्यायो वा न्यायो वा विहारो
वा हस्ती वा । एते मनुष्यादयः । “वा गोमथेऽद्वि वक्तव्यम्” [वा०] आरण्यका आरण्या गोमथाः । मनुष्या-
दिष्विति किम् ? आरण्या ओषधयः ।

कुरुयुगन्धरेभ्यो वा ॥३।२।१०८॥ कुरु युगन्धर इत्येताभ्यां शैषिको वुञ् भवति । “राष्ट्रशब्दो
वा (राष्ट्रावध्योः)” [३।२।१०२] इति “बहुत्वेऽदोरपि” [३।२।१०३] इति नित्ये वुञि प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।
कुरुषु जातः कौरवकः । कच्छादिपाठादपि भवति । कौरवः । वाग्रहणं युगन्धरार्थमेव । युगन्धरेषु जातः
यौगन्धरकः । यौगन्धरः । नृतस्थयोरभिधेययोः कुरुशब्दान्नित्यो वुञ् भवति । कौरवको मानुष्यः । कौरव
कमस्य जल्पितम् ।

वृजिमद्रात् कः ॥३।२।१०९॥ वृजिमद्रशब्दाभ्यां को भवति शेषे । राष्ट्रलक्षणस्य “बहुत्वेऽदोरपि”
[३।२।१०३] इत्यस्य वुञोऽपवादः । वृजिकः । मद्रकः । यस्मिन्प्रकरणे जनपदास्तेषु “स-त्यविधौ (न)
तदन्तविधि”रिति प्रतिपेत्त्रे प्राप्ते “सुसर्वाङ्गदिकच्छब्देभ्यो जनपदस्य” [वा०] इति सर्वत्र तदन्तविधिः ।
सुमागधकः । सर्वमागधकः । अर्धमागधकः । पूर्वमागधकः । सुमद्रकः । सर्वमद्रकः । अर्धमद्रकः ।
दिकशब्दपूर्वकत्वे तु मद्रशब्दस्य “दिगर (गा) देरखौ” [३।२।८४] “मद्रेभ्योऽण्” [३।२।८५]
इत्यपि । पूर्वमद्रः ।

१. अत्र गतद्योरिति पाठः सुवचः । पूर्वत्र राष्ट्रवध्योरिति सूत्रवृत्तौ वुञेवोत्तरसूत्रेण त्रैगतकः ।
इत्युक्तेः । बाहुवर्तकः । चाक्रवर्तकः । इत्युदाहरणमप्यत्रोक्तं चिन्त्यम् । २. शष्प अ०, ब०, स० ।
३. -न्यत् एतन्नागरको (कैः) निपुणा भवन्ति । केने-ब० ।-त एतन्नागरके (कैः) चौरा हि नागरका
भवन्ति । केने-अ०, पू० ।

कोडोऽण् ॥३।२।११०॥ देश इति वर्त्तते । देशवाचिनो मृदः ककारोडोऽण् भवति । “बहुत्वेऽदोरपि” [३।२।१०३] इति वुजोऽपवादः । ऋषिकेपु जातः आर्षिकः । माहिपिकः । आशमकः । कथमिदवा-
कुपु जात ऐदवाक इति ? उच्यते, “ओर्देशे” [३।२।११५] इति ठञ् प्राप्तः, तं बाधित्वा परत्वाद् “बहुत्वेऽदोरपि” इति वुञ् प्राप्तः, तमपि परत्वादयमण् बाधते । “औषहस्य” [४।४।१६६] इत्यादिना उखं निपात्यते ।
देश इति वर्त्तते ।

कच्छादेः ॥३।२।१११॥ कच्छ इत्येवमादिभ्यो देशवाचिन्योऽण् भवति शेषे । वुजोऽपवादः ।
काच्छः । कच्छशब्दः दन्तकृत्स्नचिन्मनुत्तः एवाण् सिद्धः । तस्य नृत्स्थयोर्वुञ् यथा स्यादित्येवमर्थः
पाठः । कच्छ । सिन्धु । वर्षा । गन्धार । मधुर । मधुरात् । अस्याप्युत्तरत्र वुजर्थः पाठः ।
द्वीप । अनूप । अजावह । विशापक । अस्यापि कोडो वुजर्थः पाठः । कुलूत । रङ्गु ।

नृत्स्थयोर्वुञ् ॥३।२।११२॥ कच्छादेरिति वर्त्तते । नरि तस्थे चाभिधेये कच्छादेर्वुञ्
भवति । अणोऽपवादः । काच्छको ना । काच्छकमस्य हसितं जल्पितम् । काच्छिका चूला । सैन्धवको
मनुष्यः । सैन्धवकमस्य हसितं जल्पितम् । सैन्धविका चूला । नृत्स्थयोरिति किम् ? काच्छो गौः ।
सैन्धवोऽश्वः ।

गोयवाग्वपदातौ सत्वत् ॥३।२।११३॥ गवि यवाग्वामपदातौ च जातादौ सत्वशब्दाद्
“बहुत्वेऽदोरपि” [३।२।१०३] इत्येव वुञ् सिद्धः । नियमार्थमिदमुच्यते । एतस्मिन्नेव जातादिविशेषे
वुञ् यथा स्यात् । अन्यत्र उत्सर्गापवादोऽण् भवति । तद्विशेषणमपदातिग्रहणम् । कच्छादिष्वस्य पाठोऽ
नर्थकः । सत्वेषु जातः सत्वको गौः । सत्विका यवागूः । नृत्स्थयोरित्येतदत्र^१ वर्त्तमानमपदाति विशेषणम् ।
सत्वको मनुष्यः । सत्वकमस्य हसितं जल्पितम् । सत्विका चूला । एतेषु वुजो नियमादग्यत्र सत्वत् वक्ष्यम् ।
सत्वाः पदातयः ।

गर्त्तद्युगहादिभ्यश्छुः ॥३।२।११४॥ गर्त्त इत्येवं द्योर्देशवाचिनो गहादिभ्यश्च छो भवति ।
अणादेरपवादः । स्वाचिद्गर्त्तीयः । वाहीकग्रामेभ्य इति ठञ्ठयोः प्राप्तयोरनेन पुनश्छुः । वृकगर्त्तीयः ।
शृगालगर्त्तीयः । अण् प्राप्तः । देश इत्यधिकारोऽपि गहादीनां सम्भवापेक्षं विशेषणम् । गहे जातः, गहीयः ।
गह । अन्तस्थ । सम । मध्य मध्यम चाण् चरणेत्यस्यामर्थः । पृथिवीमध्यशब्दस्य मध्यमादेशः । पृथिवी-
मध्ये शब्दस्य वा मध्यमादेशो भवति । माध्यमीयः कठः । चरणसम्बन्धे निवासलक्षणो त्यार्थे अण् भवति ।
माध्यमा इति । उत्तम । अङ्ग । मगध । पूर्वपत्न । अपरपत्न । अवमसख । उत्तमसख । समानशील ।
एकग्राम । एकवृत्त । इक्षवप्र । इक्षवनीक । अवस्पन्द । कामप्रस्थ । अस्मात् “प्रस्थपुरवहान्तात्” [३।२।१००]
इति वुञ् प्राप्तः । खाडायनिः । काठोरणिः । लावोरणिः । शैशिरि । शौङ्गि । आसुरि । आहिंसि । आमिन्नि ।
व्याडि । भौजि । आस्वि । आग्नि । शर्मि । दैवशर्मि । यौगिकतराकि । वाल्मीकि । माल्लकि ।
सौमवृत्विन् । उत्तर । मुखपार्वतसोः खञ्च । पार्वतीयम् । मुखतीयम् । जनपरयोः कुक्च । जनकीयम् ।
परकीयम् । देवस्य च (वा) । देवकीयम् । वेणुकायाश्छुण् वक्तव्यः । आकृतिगणोऽयम् । वैणुकीयम् । औत्तर-
पदीयम् । प्रास्थीयम् । माध्यमकीयम् । मातृकीयम् । चैत्रकीयम् । कृकणवर्णाद् भारद्वाजे देशविशेषे ।
कृकणीयः । पर्णीयः ।

१. -दनुवर्त्त-पू० । -रित्येव तदनुवर्त्त-अ० । २. अन्तरपक्ष पू० । ३. लावेरणि अ०, पू० ।
४. आशिव अ० । ५. उद्योति अ० । श्रोति (श्रौति) पू० । ६. चाराकि पू० । वाटारकि अ० । ७.
क्षेमवृत्तिन् अ०, पू० । समवृत्तिन् व० ।

प्राचां कटादेः ॥३।२।११५॥ देश इति वर्तते । तद्विशेषणं प्राग्ग्रहणम् । कटादेः शब्दात्प्राग्देश-
वाचिनश्छो भवति शेषे । अणोऽपवादः । कटनगरीयः । कटग्रामीयः । कटघोषीयः । कटपल्वलीयः ।

राज्ञः क च ॥३।२।११६॥ असम्भवाद् देश इति नाभिसम्बध्यते । राजशब्दस्य ककारोऽन्तादेशो
भवति छश्च । आदेशार्थमिदम् । “दोश्छः” [३।२।११०] सिद्ध एव । राज इदम् राजकीयम् । एकदेशविकृत-
स्यानन्यत्वाद् “अनोऽखं” [४।४।१२०] नाशङ्कनीयम् । तानिर्दिष्टस्यानन्यवद् भाव उक्तः । न चेहाऽनस्ता-
निर्देशः; किं तर्हि राजशब्दस्य ।

दोः कखोः ॥३।२।११७॥ देश इति वर्तते । दोर्देशवाचिनः ककारोः खकारोऽश्छो भवति
शेषे । आरीहणकीयः । द्रौघणकीय । आश्वत्थिके जातः, आश्वत्थिकीयः । शाल्मलिके जातः शाल्मलिकीयः ।
कोऽ इत्यणि प्राप्ते कः । सौसुके जातः, सौसुकीयः । वाहीकग्रामलक्षणौ ठञ्जठौ बाधित्वा कोऽ इत्यण्
प्रातः (आष्टकं नाम बन्धः तत्र जातः) आष्टकीयः । बन्धलक्षणं वुजं बाधित्वा कोऽ इत्यण् प्रातः
ब्राह्मणको नाम राष्ट्रम्, तत्र जातः, ब्राह्मणकीयः । “राष्ट्र” [३।२।१०२] वुजोऽपवादः “कोऽः”
[३।२।११०] इत्यण् प्रातः । खोः खल्वपि । कौटिशिखीयः । माटिशिखीयः । कोटिशिखादयो वाहीकग्रामः ।

कन्थापलदनगरग्रामहृदयोः ॥३।२।११८॥ देश इति वर्तते दोश्छ इति च । द्युशब्दः
प्रत्येकमभिसम्बध्यते । कन्थादि द्योर्देशवाचिनो दोश्छो भवति शेषे । वाहीकग्रामादिलक्षणस्य त्यस्यापवादः ।
दान्ति कन्थायां जातः, दान्तिकन्थीयः । माहकिकन्थीयः । यदोशीनरेषु ग्रामस्तदा नपुंसकलिङ्गत्वम् ।
“वोशीनरेषु” [३।२।११४] ठञ्जठयोः प्राप्तिः । यदा तु वाहीकग्रामः, तदा स्त्रीलिङ्गत्वम् । “वाहीक-
ग्रामेभ्यः” [३।२।११३] इति प्राप्तिः । दान्तिपलदीयः । माहकिपलदीयः । दान्तिनगरीयः । माहकिनगरीयः ।
दान्तिग्रामीयः । माहकिग्रामीयः । दान्तिहृदीयः । गोमयहृदीयः ।

पर्वतात् ॥३।२।११९॥ पर्वतशब्दाच्छो भवति शेषे । अणोऽपवादः । उत्तरत्रामर्त्यविभाषा वक्ष्यते ।
मर्त्ये इहोदाहरणम् । पर्वतीयो मनुष्यः ।

वाऽमर्त्ये ॥३।२।१२०॥ मर्त्यादन्यस्मिन्नभिधेये पर्वताद् वा छो भवति । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते
विकल्पोऽयम् । पर्वतीर्यं फलम् । पर्वतीयनुदकम् । पार्वतमुदकम् । अमर्त्य इति किम् ? पर्वतीयो ना ।

युष्मदस्मदोऽकङ् खञ् ॥३।२।१२१॥ देश इति निवृत्तम् । वेति वर्तते । युष्मदस्मदभ्यां वा खञ्
भवति, यदा खञ् तदाऽकङ्देशः । यौष्माकीणः । आस्माकीनः । “ङिच्” [१।१।१५०] इति दकारस्या-
कङ्देशः, अकारोच्चारणसामर्थ्यात् “स्वेऽको दीत्वम्” [४।३।८८] । वेत्याधिकाराच्छो भवति । युष्मदीयः ।
अस्मदीयः ।

अणि ॥३।२।१२२॥ अणि च परतो युष्मदस्मदोरकङ्कादेशो भवति । इदमेव ज्ञापकम्, युष्मदस्मद्-
भ्यामपि भवति । यौष्माकः । आस्माकः ।

तवकममकावेकार्थे ॥३।२।१२३॥ अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति परिभाषेयम-
नित्या । अणि खञि च परतो युष्मदस्मदोरकार्थे वर्तमानयोस्तावक ममक इत्येतावादेशौ भवतः । स्थान्या-
देशयोर्यथासंख्यं न लादेशनिमित्तयोः । तावकीनो मामकीनः । तावको मामकः । युष्माकं युयवोर्वाऽयं
यौष्माकीणः । एवम् आस्माकीनः । यौष्माकः । आस्माकः । अर्थग्रहणं किम् ? तवकममकावेक इत्यु-
च्यमाने, एकवचने परत इति विज्ञायेत, तदाऽत्र को दोषः ? यौष्माकीण आस्माकीन इत्यत्राऽप्यादेशविधिः
स्यात् । तावकीना मामकीना इत्यत्र च न स्यात्, अतोऽर्थग्रहणं क्रियते । तेनैकार्थे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदो-
रेकवचने बहुवचने वा परत आदेशविधिः सिद्धो भवति ।

योऽर्द्धात् ॥३।२।१२४॥ वेति निवृत्तम् । अर्धशब्दाच्छैषिको यो भवति । अणोऽपवादः । अर्धे भवः, अर्धः ।

परावराधमोत्तमादेः ॥३।२।१२५॥ पर अवर अधम उत्तम इत्येवमादेरर्धशब्दाद्यो भवति शैषिकः । परार्धः । अवरार्धः । अधमार्धः । उत्तमार्धः । “हृदर्थं धु समाहारे” [१।३।४६] इति षसः । परमर्द्धम्पराद्धमिति “विशेषणं विशेष्येति” [१।३।५३] यसे कृते परार्धे जातः परार्धः । यदा पराऽवरादिशब्दो दिग्वाचिनौ तदोत्तरसूत्रेण यद्यौ प्रातौ । तदवाचित्वे त्वण् प्रातः । अधमोत्तमादेरण् प्रातः । प्रकृतिस्वमेतेषां मा विशाचीति आदिग्रहणम् ।

दिगादेष्टण च ॥३।२।१२६॥ अर्धादिति वर्त्तते । दिगादेरर्धाच्छैषिकष्टण् भवति चकाराद्यश्च । पूर्वाद्धे जातः, पौर्वाद्धिकः । पूर्वाद्धर्थः । दान्तिणाद्धिकः । दान्तिणाद्धर्थः । अपरमर्द्धं पश्चाद्धं “उपय्यु परिष्ठा-त्पश्चाद्” [४।१।६७] इत्यत्राद्धे परतोऽपरस्य पश्चभावो वक्ष्यते । पश्चाद्धे जातः, पाश्चाद्धिकः । पश्चाद्धर्थः । “अन्यादेष्टण् वक्तव्यः” [वा०] दिक्छब्दादन्यो यदाऽर्धस्यादिर्भवति तदा ठण् भवति । पौष्कराद्धिकः । वैज-याद्धिकः । वालैयाद्धिकः । क्षैत्राद्धिकः । पराऽवरादेस्तु पूर्वेण य एव भवति ।

ग्रामराष्ट्रयोरण्ठञौ ॥३।२।१२७॥ दिगादेरर्धादण् ठञ् इत्येतौ तौ भवतः शेषेऽर्थे ग्रामराष्ट्रयो-श्चेदद्धे भवति । ग्रामैकदेशवाची राष्ट्रैकदेशवाची चेदद्धशब्दो भवतीत्यर्थः । ग्रामस्य राष्ट्रस्य वा पूर्वाद्धे भवः, पौर्वाद्धः । पौर्वाद्धिकः । दान्तिणाद्धः । दान्तिणाद्धिकः । पाश्चाद्धः । पाश्चाद्धिकः ।

मध्यान्मः ॥३।२।१२८॥ मध्यशब्दाच्छैषिको म इत्यर्थं त्यो भवति । अणोऽपवादः । मध्यमः । “आदेशचेति वक्तव्यम्” [वा०] आदिमः । “अवाधयोः (अवोऽधसोः) सखं चेति वक्तव्यम्” । अवमः । अधमः ।

सम्प्रत्यः ॥३।२।१२९॥ सम्प्रत्यर्थे जातादौ मध्यशब्दाद् इत्यर्थं त्यो भवति । कः पुन इवार्थः स्वार्थः । सम्प्रतिकालो वर्त्तमानः, सोऽतीताऽनागतयोर्द्वयोरन्तराले वर्त्तते । एवमन्यदपि द्वयोरन्तराले वर्त्तमानं सम्प्रतीत्युच्यते । यजातिदीर्घं नातिह्रस्वं मध्यं काष्ठम् । नात्युक्त्वधो नाप्यपकृष्टो मध्यो वैयाकरणः । मध्या स्त्री ।

द्वीपादनुसमुद्रे यञ् ॥३।२।१३०॥ समुद्रसमीपे यो द्वीपशब्दस्तस्माच्छैषिको यञ् भवति । कच्छादिपाठादणो नृत्तस्थयोर्बुञ्श्चापवादः । द्वैप्यम् । द्वैप्या स्त्री । अनुसमुद्र इति किम् ? अनुनदि यो द्वीपः तस्माद्दयमुनादिसम्बन्धे द्वीपे भवम्, द्वैपं तृणम् । “कच्छादि” [३।२।११२] पाठादण् । द्वैपको व्यासः । “नृत्तस्थयोः” [३।२।११३] इति बुञ् ।

कालाट्ठञ् ॥३।२।१३१॥ कालविशेषवाचिनो मृदः शैषिकष्टञ् भवति । अणोऽपवादः । वृद्धत्वं^१ परत्वाद् बाधते । मासिकः । सांत्सरिकः । यथा (दा) कदम्बपुष्पयोगात्कालोऽपि कदम्बपुष्प-वाच्यः, तत्राऽनेन ठञ् । कदम्बपुष्पे देयमृणं कादम्बपुष्पिकम् । त्रैहिपालालिकम् । “तत्र जातः” [३।३।१] प्रागितः^२ कालोऽधिकारः ।

आद्धे शरदः ॥३।२।१३२॥ शरच्छब्दात्कालवाचिनः आद्धे ऽभिधेये शैषिकष्टञ् भवति । शरदिति हि ऋतुविशेषः । तत्र “असन्ध्याद्यनुसन्ध्याऽवर्षाभ्योऽण्” [३।२।१३८] प्रातः, तदपवादोऽयम् । शरदि जातः^३ शरदिकं आद्धम् । आद्ध इति किम् ? शारदं दधि । शारदं सस्यम् । अद्धाशब्देन चात्र रूढिवशा-त्पितृकार्यमेवोच्यते, न तु अद्धावान् । तेनेह न भवति शारदः आद्धः । अद्धावानित्यर्थः ।

१. वृद्धं अ०, ब०, पू० । २. गठः क-अ०, ब०, पू० । ३. भवं पू० ।

चा रोगातपयोः ॥३।२।१३३॥ रोगे आतपे चाभिधेये शरच्छब्दाच्छ्लैषिको वा ठञ् भवति । शार-
दिकः । शारदो रोग आतपो वा ।

निशाप्रदोषाभ्याम् ॥३।२।१३४॥ वेति वर्त्तते । निशाप्रदोषशब्दाभ्यां वा ठञ् भवति शेषे ।
नित्ये कालाह्नि प्राप्ते विकल्पोऽयम् । निशा सोढाऽस्य, नैशिकः । नैशः । प्रादोषिकः । प्रादोषः । निशाप्रदोष-
सहचरितमध्ययनमुपचारात्तथोच्यते ।

श्वस्तस्तुट् च ॥३।२।१३५॥ श्वस्तशब्दाद्भवति । तस्य च ठञ् इकादेशे कृते तुडागमः ।
ठञोऽपवादो भिल्लङ्गणस्तुट् प्राप्तः, तं बाधित्वा 'वैषमोहसूत्रवसः' [३।२।१३३] इति विभाषया ये प्राप्ते
अनेन ठञ् विभाष्यते । श्वो जातो भवो वा शौवस्तिकः, श्वस्त्यः । आभ्यां मुक्ते तनप् श्वस्तनः ।

प्रावृष एरयः ॥३।२।१३६॥ प्रावृष्^१शब्दात् एरयो भवति शेषे । ऋत्वणोऽपवादः । प्रावृषेय्यो
बलाहकः । एत्वं किमर्थम् ? प्रावृषेय्यमाचष्टे णिचि किपि अतः खे च कृते णकारस्य श्रवणार्थम् ।

भसन्ध्याद्युतभ्योऽवर्षाभ्योऽण् ॥३।२।१३७॥ कालादिति वर्त्तते । "भाद्युक्तः कालः" [३।२।४]
इत्यागतस्याणः "उसमेदे" [३।२।२] इत्युसि कृते कालवाचिभ्यो भेभ्यः सन्ध्यादिभ्य ऋतुभ्यो वर्षावर्जिते-
भ्योऽण् भवति शेषे । ठञोऽपवादः । भेभ्यः—तैषः । पौषः । "तिष्यपुष्ययोर्भाणि" [४।४।१३७] इति
यत्नम् । सन्ध्यादिभ्यः—सन्ध्यायां भवो जातो वा सन्ध्यः । सन्ध्या सविखला (सन्धिवेला) । अमावास्या ।
एकदेशविकृतस्य अमावस्याशब्दस्यापि ग्रहणम् । त्रयोदशी चतुर्दशी पञ्चदशी पौर्णमासी प्रतिपद् । "संवत्स-
शात्कलपर्वण्योः" [३० सू०] सांवत्सरं फलम् । सांवत्सरं पर्व । अन्यत्र सांवत्सरिको रोगः । ऋतुभ्यः—शरद्धेमन्त-
शिशिरवसन्त-श्रैष्मः । अवर्षाभ्य इति किम् ? वर्षासु साधु वार्षिकं वासः । अण्ग्रहणं छ्वाधनार्थम् ।
स्वातौ तदं (भवं) सौवातम् "पदे स्वोरैयौव्" [५।२।८] इत्यौव् ।

हेमन्तात्तखम् ॥३।२।१३८॥ हेमन्तशब्दादण्भवति तत्तन्नियोगेन चास्य तत्तम् । हेमन्ते साधुः
हैमनम् । हैमन्तः । (हैमनमनुलेपनम् । हैमनं वासः । ठञपीष्यते ।) हैमन्तिकमिति । हेमन्ततत्तमिति वक्तव्यम् ।
कानिर्देशः किमर्थः ? केवलेऽप्यऽण् (हेमन्ताद्) यथा स्यात् । तेन सिद्धम् । हैमन्ती पङ्क्तिः ।

सायञ्चिरम्प्राहरोप्रगोभिभ्यस्तनट् ॥३।२।१३९॥ कालादिति वर्त्तते । सायं चिरं प्राह्णे प्रगे
शब्देभ्यो भिभ्यः कालवाचिभ्यस्तनट् भवति शेषे । सायंचिरंशब्दयोरभिसंज्ञयोस्त्यसन्नियोगेन मकारा-
न्तता निपात्यते । सायन्तनम् । चिरन्तनम् । प्राह्णप्रगयोस्त्वेकारान्तता निपात्यते । प्राह्णः सोढोऽस्य,
प्राह्णे तनः । प्रगः सोढोऽस्य, प्रगेतनः । ईबन्तात्तनटि "ऋकालतनेकालेभ्यो वा" [४।३।१३३]
इत्यनुपा सिद्धम् । प्रातस्तनम् । दिवातनम् । दोषातनम् । "चिरपरस्परारिभ्यस्तनो वक्तव्यः" [वा०]
चिरलम् । परलम् । परारिलम् । "अन्तादिभो वक्तव्यः" [वा०] अन्तितम् ।

वा पूर्वापरदहात् ॥३।२।१४०॥ पूर्वं अपर इत्येवंपूर्वादहशब्दाद् वा तनट् भवति शेषे । नित्ये
कालाह्नि प्राप्ते विभाषेयम् । पूर्वाह्णे तनः । पूर्वाह्नतनः । अपराह्णे तनः । अपराह्नतनः । पौर्वाह्निकम् । आप-
राह्निकम् । यदा पूर्वाह्नः सोढोऽस्य तदा पूर्वाह्नतनः, अपराह्नतनः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयस्याऽध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

तत्र जातः ॥३।३।१॥ अग्रादयः परमोत्सर्गाद्यादयश्च शैषिकाः प्रकृताः, तेषामितः प्रभृति प्रकृत्यर्थाः समर्थविभक्त्युपादानं च वेदितव्यम् । तत्रेति ईप्समर्थाज्जात इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । खुच्ने जातः सौध्नः । औत्सः । राष्ट्रियः । शाकलिकी । शाकलिका । सौत्रेयकः ।

प्रावृषष्टः ॥३।३।२॥ प्रावृष्ट्वादीप्समर्थाज्जात इत्येतस्मिन्नर्थे ठो भवति । एण्यस्यापवादः । प्रावृषिकः । प्रावृषिका स्त्री ।

खौ शरदो बुञ् ॥३।३।३॥ शरच्छब्दाद् बुञ् भवति खुविषये । तत्र जात इति वर्त्तते । शारदिका सुद्गा । संज्ञाशब्दानां व्युत्पत्तिमात्रमिदम् । खार्विति किम् ? शारदं सस्यम्^१ ।

सिन्धुपकराद्ण् ॥३।३।४॥ सिन्धु अपकर इत्येताभ्यामण् भवति तत्र जात इत्यस्मिन्विषये । सिन्धुषु जातः सैन्धवः । आपकरः । सिन्धुशब्दात् “कच्छादेः” [३।२।११२] इत्यण् । “नृतस्थयोः” [३।२।११३] इति बुञ् च प्रातः । तयोरपवादे के अपकरशब्दादणोऽपवादे उत्तरसूत्रेण के प्राप्तेऽनेनाण्यपि विधीयते ।

पूर्वाह्नापराह्नाद्रामूलप्रदोषावस्कराच्च कः ॥३।३।५॥ पूर्वाह्न अपराह्न आर्द्रा मूल प्रदोष अवस्कर इत्येतेभ्यः सिन्धुपकराभ्याञ्च को भवति । तत्र जात इति वर्त्तते । पूर्वाह्ने जातः पूर्वाह्नकः । अपराह्नकः । “वा पूर्वापराह्नात्” [३।२।१४०] इत्यस्यापवादः । आर्द्रकः । “केऽण्यः” [५।२।१२५] इति प्रादेशः । मूलकः । कालवाचित्वे सति भलक्षणास्याऽणोऽपवादः । प्रदोषकः । “निशाप्रदोषाभ्याम्” [३।२।१३५] इत्यस्य बाधा । अवस्करकः । अणोऽपवादः । सिन्धुकः । अपकरकः । आभ्यां पूर्वैणाण्यपि भवति ।

पथः पन्थः ॥३।३।६॥ पथिशब्दात्को भवति तत्सन्नियोगेन पथिशब्दस्य पन्थ इत्ययं चादेशः । तत्र जात इति वर्त्तते । पथि जातः, पन्थकः । अणोऽपवादः ।

वाऽमावास्यायाः ॥३।३।७॥ अमावास्याशब्दाद् वा को भवति तत्र जात इत्यस्मिन् विषये । “भसन्ध्यादिना” [३।२।१३७] नित्येऽणि प्राप्ते को विभाष्यते । अमावास्यकः । एकदेशविकृतादमावस्याशब्दादपि । अमावस्यक । पन्थेऽण् । अमावास्यः । अमावस्यः ।

अषाढाच्च ॥३।३।८॥ अ इत्ययं त्यो भवति अषाढशब्दात् चकारादमावास्यायाश्च । तत्र जात इति वर्त्तते । अषाढाया इति प्रातं अषाढादिति सौत्रो निर्देशः । अषाढायां जातः, अषाढः । अषाढा स्त्री । अमावास्यः । अमावस्यः । “अविष्टाषाढाभ्यां क्वञिति^२ वक्तव्यम्” [वा०] । आविष्टीयः । अषाढीयः ।

फल्गुन्याष्टः ॥३।३।९॥ फल्गुनीशब्दाद्दो भवति तत्र जात इत्यस्मिन्विषये । नाणोऽपवादः । फल्गुन्यां जातः फल्गुनः । फल्गुनी स्त्री ।

स्थानान्ताडुप् ॥३।३।१०॥ स्थानान्ताडुत्तरस्य जातार्थं आगतस्याण्^३ उन्भवति । गोस्थाने जातः गोस्थानः । अश्वस्थानः ।

शालाद् गोखरात् ॥३।३।११॥ गो खर इत्येवम्पूर्वाञ्छालात्परस्य जातार्थं आगतस्य त्यस्योऽभवति । गवां शाला गोशालम् । खराणां शाला खरशालम् । “सनासुराञ्छालायाञ्छालान्ज्ञा वा” [१।४।१०१] इति नप् । गोशाले जातः, गोशालः । खरशालः । लिङ्गविशिष्टस्य स्त्रीलिङ्गस्याऽपि “ह्रदुप्युप” [१।१।६] इति टाप उपि सति तदेवादाहरणम् ।

वत्साद् वा ॥३।३।१२॥ वत्सपूर्वात् शालात्परस्य जातार्थं आगतस्य त्यस्योऽभवति वा । वत्सशाले जातः, वत्सशालः । वात्स्यशालः ।

१. धान्यम् अ०, ब०, पू० । २. कृणु चेति अ०, ब०, पू० । ३.-स्य त्यस्यो-अ०, ब०, पू० ।

भेष्यो बहुलम् ॥३।३।१३॥ भशब्देभ्यः परस्य जातार्थे आगतस्य त्यस्य बहुलमुब् भवति । “श्रविष्ठाऽनुराधास्वातिपुनर्वसुतिष्यहस्तविशाखाबहुलाभ्य उबेव भवति” । श्रविष्ठासु जातः श्रविष्ठः । भलक्षणास्याण उप् । “हृदुप्युप्” [१।१।६] इति स्त्रीत्यत्योम्भवति । अनुराधः । स्वातिः । पुनर्वसुः । तिष्यः । तिष्यग्रहणे पर्यायग्रहणम् । पुष्यः । हस्तः । विशाखः । बहुलः । तथा “चित्रारेवतीरोहिणीभ्यः स्त्रियासुबेव भवति” । चित्रायां जाता स्त्री अण उप् । हृदुप्युबिति उप् । पुनष्ठाप् । डीप् । चित्रा । रेवती । रोहिणी । पुंसि न भवत्येव । चैत्रः । रैवतः । रौहिण्यः । “अन्येभ्यो विभाषा” । अभिजित् । आभिजितः । अश्वयुक् । आश्वयुजः । (शतभिषक्) । शातभिषजः । कृत्तिकः । कार्तिकः । मृगशिरा । मार्गशीर्षः । शिरसः शीर्षादेशो वक्ष्यते । बहुलवचनादन्यदपि, अणो वा डिक्त्वम् । शातभिषः । शातभिषजः ।

कृतलब्धक्रीतसम्भूताः ॥३।३।१४॥ तत्रेति वर्त्तते । जात इति निवृत्तम् । अर्थान्तरोपादानात् । तत्रेतीप्समर्थात् कृत लब्ध क्रीत सम्भूत इत्येतेष्वर्थेषु यथाविहितं ल्यो भवति । स्रुच्ने कृतो वा लब्धो वा क्रीतो वा सम्भूतो वा स्रौचनः । राष्ट्रियः । जातस्यैव विशेषोऽपेक्षितपरव्यापारः स्वभावनिष्पत्तौ भावः कृत-शब्दस्यार्थः । सामान्येन प्राप्तं लब्धशब्दाऽर्थः । मूल्येन प्राप्तं क्रीतशब्दार्थः । विद्यमानस्य गुणान्तरयोगः सम्भूतशब्दार्थः । उपचारेणोदं स्वयमुत्पादः सम्भूतत्वं जन्मेति चेत्; एवं तर्हि ज्ञापकमिदम् जन्मोपचारे तत्र जात इत्येष विधिर्न भवति । “प्रावृष एण्यः” [३।२।१३६] इति एण्यो भवति । प्रावृषि सम्भूतं हिरण्यम् ; प्रावृषेण्यम् । “प्रावृषष्ठः” [३।३।२] इति ठोऽत्र न भवति । पथि सम्भूतं हिरण्यम् इत्यत्र “पथः पन्थः” [३।३।६] इत्येष विधिर्न भवति ।

कुशलः ॥३।३।१५॥ तत्रेतीप्समर्थात्कुशल इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । स्रुच्ने कुशलः स्रौचनः । राष्ट्रियः । उत्तरोऽपवादविधिः । कुशलेऽर्थे यथा स्यादिति योगविभागः ।

पथो वुञ् ॥३।३।१६॥ पथिशब्दाद् वुञ् भवति तत्र कुशल इत्यस्मिन्विषये । पथि कुशलः पथकः ।

आकर्षादेः कः ॥३।३।१७॥ तत्र कुशल इति वर्त्तते । आकर्ष इत्येवमादिभ्यः को भवति । आकर्षे कुशलः आकर्षकः । आकर्ष । त्सर । पिशाच । पिचण्ड । अशानि । अस्मन् । निचयः । ह्रादः ।

कालात्साधुपुण्यत्पच्यमाने ॥३।३।१८॥ कालविशेषवाचिभ्य ईप्समर्थेभ्यः साध्वादिष्वर्थेषु यथाविहितं ल्यो भवति । हेमन्ते साधु, हेमन्तं वल्गम् । शौशिरं भोज्यम् । वसन्ते पुण्यन्ति, वासन्त्यो लताः । ग्रैभ्यो लताः । शरदि पच्यन्ते शारदाः शालयः । ग्रैभ्या यवाः । ऋतुलक्षणोऽण् सर्वत्र ।

उत्ते ॥३।३।१९॥ तत्रेति ईप्समर्थात्कालविशेषवाचिन उत्तेऽर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । शरदि उप्यन्ते शारदा यवाः । ग्रैभ्याः शालयः । उत्तरार्थो योगविभागः ।

आश्वयुज्या वुञ् ॥३।३।२०॥ आश्वयुजीशब्दादोप्समर्थाद् वुञ् भवति उत्तेऽर्थे । आश्वयुज्यामुता आश्वयुजका मुद्गाः । जिकरणमुत्तरार्थम् ।

ग्रीष्मवसन्ताद् वा ॥३।३।२१॥ ग्रीष्मवसन्तशब्दाभ्यामीप्समर्थाभ्यां वुञ् भवत्युत्तेऽर्थे वा । नित्यम् ऋत्वणि प्राप्ते विकल्पः । ग्रीष्मे उताः ग्रीष्मका ग्रीष्मा वा शालयः । वासन्तका वासन्ता वा यवाः ।

देयमृण्णे ॥३।३।२२॥ तत्रेति वर्त्तते । कालादिति च । कालविशेषवाचिनः ईप्समर्थाद् देयमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति यत्तद्देयमृणं चेद्भवति । मासे देयमृणं मासिकम् । आर्धमासिकम् । सांवत्सरिकम् । ऋण्य इति किम् ? मासे देया भिन्ना ।

कलाप्यश्वत्थयववुसाद् बुञ् ॥३१३२३॥ कालाद् देयमृण इति च वर्त्तते । कलापिन् अश्वत्थ यववुस इत्येतेभ्य ईप्समर्थेभ्यो बुञ् भवति देयमृणमित्येतस्मिन्नर्थे । ठञोऽपवादः । यस्मिन्काले मयूरा इन्वो वा कलापिनो भवन्ति स कालः तत्साहचर्यात्कलापी । यस्मिन्नश्वत्थानां फलं सोऽश्वत्थः । यस्मिन्यववुसं भवति, सः यववुसम् (सः) । कलापिनि काले देयमृणम्, कलापकम् । अश्वत्थकम् । यववुसकम् ।

ग्रीष्मावरसमाद् बुञ् ॥३१३२४॥ ग्रीष्म अवरसम इत्येताभ्यां बुञ् भवति । तत्र देयमृणमिति वर्त्तते । ग्रीष्मे देयमृणम् ; ग्रीष्मकम् । श्रुत्वणोऽपवादः । आवरसमकम् । ठञोऽपवादः । अवरसमा, अवरसमम् । “तिष्ठद्गवादि” [१३११४] इति हस इत्येके ।

संवत्सराऽग्रहायणीभ्यां ठञ् च ॥३१३२५॥ संवत्सर-आग्रहायणीशब्दाभ्यां ठञ् भवति बुञ् च । तत्र देयमृणमिति वर्त्तते । संवत्सरे देयमृणं सांवत्सरिकम् । सांवत्सरकम् । आग्रहायणिकम् । आग्रहायणकम् । वेति वक्तव्ये ठञ्ग्रहणं सन्धादिषु “संवत्सरात्फलपर्वणोः” [ग० सू० ३।२।१३०] इत्यस्याणो बाधनार्थम् ।

रौति मृगः ॥३१३२६॥ तत्रेति वर्त्तते कालादिति च । कालविशेषवाचिन ईप्समर्थाद् रौति मृग इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । निशायां रौति मृगः, नैशिकः । नैशः । प्रादोषिकः । प्रादोषः । “निशाप्रदोषाभ्याम्” [३।२।१३४] इति ठञ्गणौ । मृग इति किम् ? निशायां रौति उल्लूकः ।

तदस्य सोढम् ॥३१३२७॥ सोढमभ्यस्तम् । कालादिति वर्त्तमानमर्थाद् वान्तं सम्पद्यते । तदिति वासमर्थात्कालविशेषवाचिनो मृदोऽस्येति तार्थे यथाविहितं ल्यो भवति । यत्तद्वासमर्थं सोढं चेत्तद् भवति । निशा सोढाऽस्य, नैशिकः । नैशः । प्रादोषिकः । प्रादोषः । साहचर्यानिशादिशब्देनाध्ययन-मन्त्रेषुम् ।

तत्र भवः ॥३१३२८॥ लब्धात्मलाभ उपलभ्यमानो भवः । तत्रेतीप्समर्थाद् भव इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । सौध्नः । राष्ट्रियः । अनुवर्तते तत्रग्रहणं कालसम्बन्धम् (सम्बद्धम्), पुनस्तत्रग्रहणं कालनिवृत्त्यर्थम् । इह प्रायभवग्रहणं च कर्त्तव्यम् । अनित्यभवः प्रायभवः । स्रुध्ने प्रायभवः सौध्नो मनुष्यः । नियतो भवस्तत्र भवः । यथा सौध्नः प्राकारः । न कर्त्तव्यम् । तत्र भव इति प्रकृत्य “जिह्वाभूला-ङ्गुलेः” [३।३।३२] छौ विधीयते । स यथैव तस्मिन्दृष्टापचारे अङ्गुलीयमित्यादौ भवति, एवं प्रायभवेऽपि भविष्यति ।

दिगादेर्यः ॥३१३२९॥ दिश् इत्येवमादिभ्यो यो भवति । तत्र भव इति वर्त्तते । अण्बद्धस्य चा-यमपवादः । दिशि भवो दिश्यः । दिश् । वर्ग । पूग । गण । पद्म । वाप । मित्र । मेघा । अन्तर । पथिन् । रहस् । अलीक । उला । साक्षिन् । आदि । अन्त । मुखजघनग्रहणमदेहाङ्गार्थम् । सेना-मुखम् । सेनाजघनमिति । मेघ । यूथ । “उदकात्संज्ञायाम्” [ग० सू०] उदक्या स्त्री । औदकोऽन्यः । न्याय । वंश । अनुवंश । वेश । आकाश ।

देहाङ्गात् ॥३१३३०॥ अङ्गमवयवः । देहाङ्गवाचिनो यो भवति तत्र भव इत्यस्मिन् विषये । अणोऽपवादः । तस्य तु परलादेव बाधकः । दन्तेषु भवः, दन्त्यः । ओष्ठ्यम् । मुख्यम् । तालव्यम् । इह तदन्तविधिर्वक्तव्यः । कण्ठतालव्यम् । दन्तोष्ठ्यम् ।

दृत्तिकुञ्चिकलसिबस्त्यस्त्रहेर्ढञ् ॥३१३३१॥ दृत्त्यादिभ्यो ढञ् भवति । तत्र भव इति वर्त्तते । दंतौ भवं दात्तैयम् । अणोऽपवादः । देहाङ्गत्वे यस्यापवादः । कलस्यां भवम् कालसेयम् । अणोऽपवादः ।

वास्तेयम् । यस्यापवादः । असृजस्यसन्नियोगेऽस्तिभावो निपात्यते । असृजि भवम्, आस्तेयम् । प्रकृत्यन्तरमस्तिशब्दः । आह्वयं विषम् । अणोऽपवादः ।

ग्रीवाभ्योऽण् च ॥३१३३॥ ग्रीवाः शिरोधमन्यः । ग्रीवाशब्दादण् भवति ढञ् च तत्र भव इत्यस्मिन् विषये । यस्यापवादः । ग्रीवासु भवं ग्रैवम् । ग्रैवेयम् ।

गम्भीराञ्ज्यः ॥३१३३॥ गम्भीरशब्दाञ्ज्यो भवति । गम्भीरे भवम्, गाम्भीर्यम् । अत्यल्पमिदम् । “गम्भीरबहिर्देवपञ्चजनेभ्य इति वक्तव्यम्” [वा०] बाह्यम् । देव्यम् । पाञ्चजन्यम् ।

हात् ॥३१३४॥ तत्र भव इति वर्तते । हसंश्चकान्मृदो ज्यो भवति । अणोऽपवादः । हसंश्चक्रेभ्यः परिमुखादिभ्य एवेभ्यते । परिमुखे भवम्, पारिमुख्यम् । परिमुख परिहन् पर्योष्ठ पर्युल्लखल परिशाल परिशील अनुसीर उपसीर उपस्थूण उपवाल उपकपाल अनुपथ अनुरथ परिरथ अनुगङ्ग अनुतिल अनुमाष अनुयव अनुयूथ अनुवंशो येषु परिपूर्वेषु वर्जनार्थप्रतीतिः, तेषां “पर्यपाद्बहिरञ्चवः कया” [११३१०] इति हसः । अन्यत्र “क्वि” [११३५] इति योगविभागात् । परिमुखादेरिति किम् ? औपकूलम् । हादिति किम् ? परिगतं मुखं षसे य एव भवति । परिमुख्यम् ।

अन्तरादेष्टञ् ॥३१३५॥ हादिति वर्तते । अन्तःशब्दादेर्हाडञ् भवति । अणोऽपवादः । अन्तःशब्दो क्लिप्तञ्चो विभक्त्यर्थः । अन्तर्गहे भवम्, अन्तर्गहिकम् । अन्तरगारिकम् । “पुरान्तात्प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] अन्तःपुरे भवम्, अन्तःपुरम् । अत्रेष्टयः ।

“समानाच्च, तदादेश च, अध्यात्मादिषु चेष्यते । ऊर्ध्वाद्दमाच्च देहाच्च लोकोत्तरपदादपि ॥” [वा०] समाने भवम्, सामानिकम् । “तदादेश च” सामानग्रामिकम् । सामानदेशिकम् । “अध्यात्मादिषु” । आध्यात्मिकम् । आधिदैविकम् । आध्यात्मादिराकृतिगणः । ऊर्ध्वदमात्, और्ध्वदमिकम् । केचिदूर्ध्वशब्देन समानार्थमूर्ध्वं शब्दं मान्तं पठन्ति । तेषाम् और्ध्वन्दमिकम् । और्ध्वन्देहिकम् । “लोकोत्तरपदादपि” । ऐहलौकिकम् । पारलौकिकम् ।

“मुखपार्श्वतसोरायः कुग्जनस्य परस्य च । इयः कार्योऽथ मध्यस्य मण्मीयौ च हतौ मतौ ॥” [वा०] मुखपार्श्वभ्यां तसन्ताभ्यामीयो वक्तव्यः । मुखतीयम् । पार्श्वतीयम् । भेर्भमात्रे टिखम् इति टिखम् । कुग्जनस्य परस्य च । जनर्कायम् । परर्कायम् । “मध्यादीयो वक्तव्यः” । मध्यीयः । “मण्मीयौ च हतौ मतौ मध्यादेश्च” । माध्यमः । मध्यमीयः ।

“मध्ये मध्यन्दिनश्चास्मादुप् स्थाम्नो ह्यजिनात्तथा” [वा०] । मध्यशब्दो मध्यं रूपमापद्यते । दिनश्चास्मात्स्यः । मध्ये भवम्, मध्यन्दिनम् । उप् स्थाम्नान्तादजिनास्ताच्च वक्तव्यः । अश्वस्थाम्नि भवः, अश्वस्थामा । वृकाजिने भवः, वृकाजिनः । अण उप् ।

उपाञ्जानुनीविकर्णात् ॥३१३६॥ उपपूर्वेभ्यो जानु नीवि कर्ण इत्येतेभ्यश्चञ् भवति । तत्र भव इति वर्तते हादिति च । उपजानु भवम्, औपजानुकम् । औपनीविकम् । औपकर्णिकम् । देहाङ्गलक्षणस्य यस्यापवादः । इह कस्मान्न भवति, अपजानु भवं गड्ङ्विति । अनभिधानात् ।

ग्रामात्पर्यन्वोः ॥३१३७॥ हादिति वर्तते । परि अनु इत्येवंपूर्वाद् ग्रामशब्दाङ् भवति तत्र भव इत्यस्मिन्विषये । पारिग्रामिकः । आनुग्रामिकः । अणोऽपवादः ।

जिह्वामूलङ्गुलेश्च ॥३१३८॥ हादिति निवृत्तम् । तत्र भव इति वर्तते । जिह्वामूल-अङ्गुलि-शब्दाभ्यां छो भवति । यस्यापवादः । जिह्वामूलीयः । अङ्गुलीयः ।

वर्गान्तात् ॥३१३९॥ वर्गशब्दान्ताच्च छो भवति तत्र भव इत्यस्मिन्विषये । अशब्देऽपवादो वक्तव्यते । शब्द इहोदाहरणम् । कवर्गायां वर्णः । चवर्गायः ।

यखौ वाऽशब्दे ॥३३१४०॥ तत्र भव इति वर्तते । वर्गान्तात् य ख इत्येतौ ल्यौ वा भवतः शब्दा-
दन्यस्मिन्स्त्यार्थे । पूर्वेण नित्ये छे प्राप्ते विभाषेयम् । भरतवर्गे भवः, भरतवर्ग्यः । भरतवर्गीणः । भरत-
वर्गीयः । बाहुवलिवर्ग्यः । बाहुवलिवर्गीणः । बाहुवलिवर्गीयः ।

कर्णललाटभूषणे कः ॥३३१४१॥ तत्र भव इत्यस्मिन्विषये कर्णललाटशब्दाभ्यां को भवति
समुदायेन भूषणेऽभिधेये । कर्णिका । ललाटिका । स्वभावतः स्त्रीलिङ्गः । भूषण इति किम् ? कर्यम् ।
ललाटभूषणम् ।

तस्य व्याख्यान इति च व्याख्येयाख्यायाः ॥३३१४२॥ व्याख्यायतेऽनेनेति व्याख्यानम् ।
व्याख्यातव्यं व्याख्येयम् । तस्याख्या नाम व्याख्येयाख्या । तस्येति तासमर्थाद् व्याख्येयाख्यात्वाद् मृदो
व्याख्यानेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति चकारात्तत्र भव इत्यस्मिंश्च वाक्यार्थे । इतिशब्दः पूर्ववाक्यपरि-
समाप्त्यर्थः । सुपां व्याख्यानं सुप्सु भवं वा सौपम् । मिङां व्याख्यानं मिङ्ङु भवं वा मैङम् । एवं
कार्तम् । हार्त्तम् । व्याख्येयाख्याया इति किम् ? पाठलिपुत्रस्य व्याख्यानं सुकौशला । पाठलिपुत्रं सुकौशलया
व्याख्यायते सन्निवेशद्वारेण । न पुनर्लोके तद्व्याख्येयस्य ग्रन्थस्याख्याभूतम् । ननु च तस्य व्याख्याने
अर्थे “तस्येदम्” [३३१४२] इत्यनेनैव त्वविधिः सिद्धः । चकारानुकृष्टेऽपि तत्र भवेऽर्थे पूर्वमेव
स्यविधिरुक्तः । तत्किमनयोर्गुणपदुपादानम् ? वक्ष्यमाणोऽपवादविधिः । व्याख्येयाख्याया अनयोरर्थयोर्यथा
स्यादित्येवमर्थम् ।

बहुचो बहुलं ठञ् ॥३३१४३॥ बहुचो व्याख्येयाख्याभूतान्मृदो बहुलं ठञ् भवति तस्य व्याख्याने
तत्र भवे चार्थे । अयादेरपवादः । बहुलग्रहणं बहुप्रपञ्चार्थम् । सविधौ ये बहुचः तेभ्यः ऋकारान्तब्राह्मण-
प्रथमाध्वरपुरश्चरणानामाख्यातपौरोडाशेभ्यः क्रतुभ्यश्च गौणमुख्येभ्यश्च भवति । सविधौ - षत्वणत्वस्य
व्याख्यानम्, षत्वणत्वे भवं षत्वणत्विकम् । ऋकारान्तात् - चातुर्हान्तकम् । पाञ्चहोतुकम् । ब्राह्मणिकम् ।
प्राथमिकम् । आध्वरिकम् । पौरश्चरणिकम् । नामाख्यातिकम् । विष्टहीतादपि । नामिकम् । आख्यातिकम् ।
पौरोडाशिकम् । मुख्येभ्यः क्रतुभ्यः - आग्निष्टोमिकम् । राजसूयिकम् । वाजपेयिकम् । पाकयज्ञिकम् । भाव-
यज्ञिकम् । गौणेभ्यः - पाञ्चौदनिकम् । दाशौदनिकम् । ऋषिभ्योऽध्यायैर्भवति । वाशिष्ठिकोऽध्यायः । वैश्व-
मित्रिकोऽध्यायः । अन्यत्र वाशिष्ठी ऋक् । तिसेषु न भवति । संहिताया व्याख्यानं तत्र भवं वा
सांहितम् । बहुवृच इति किम् ? कार्तम् । हार्त्तम् । व्याख्येयाख्याया इत्येव । मथुरायां भवः, माथुरः ।

द्वयञ्चः ॥३३१४४॥ द्वयञ्चो मृद ऋकृल्लुब्दाच्च ठञ् भवति तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे ।
अयादेरपवादः । अङ्गस्य व्याख्यानम्, अङ्गे भवं वा अङ्गिकम् । पौर्विकम् । तार्किकम् । नामिकम् । ऋचां
व्याख्यानं ऋच्छु भवं वा आर्चिकम् ।

पुरोडाशाद् ॥३३१४५॥ पुरोडाशाशब्दाद् भवति तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे । पुरो-
डाशाः पिष्टपिण्डा । साहचर्यात्तेषां संस्कारको मन्त्रोऽपि तथोक्तः । पौरोडाशिकी ।

छन्दसो यः ॥३३१४६॥ छन्दःशब्दाद्यो भवति तस्य व्याख्यान इत्येवास्मिन्विषये । द्वयञ्चलक्ष-
णोऽपवादः । छन्दसो व्याख्यानं छन्दसि भवं वा छन्दस्यम् ।

ऋगयनादेश्चाण् ॥३३१४७॥ ऋगयन इत्येवमादिभ्यो मृदभ्यश्छन्दःशब्दाच्चाण् भवति तस्य
व्याख्याने तत्र भवे चार्थे । ऋगयनस्य व्याख्यानः, ऋगयने भवो वा, आर्गायणः । अण्ण परत ऋगयनस्य

हेतुमनुष्याद् वा रूप्यः ॥३।३।५५॥ तत आगत इति वर्तते । हेतुभ्यो मनुष्येभ्यश्च वा रूप्य इत्ययं त्यो भवति । हेतुभ्यः कारणाद्, धेनोरागतं धेनुरूप्यम् । विश्वरूप्यम् । कररूप्यम् । पक्षे गेहादिलक्षणा-
श्लः । समीयम् । विषमीयम् । पापीयम् । मनुष्येभ्यः—देवदत्तादागतं देवदत्तरूप्यम् । जिनदत्तरूप्यम् । पक्षे
देवदत्तकम् । जिनदत्तकम् । देवदत्तकल्पकम् । हेतौ का भवतीति मनुष्येभ्योऽपादानलक्षणा का ।

मयट् ॥३।३।५६॥ हेतुभ्यो मनुष्येभ्यश्च मयट् भवति तत आगतेऽर्थे । समाद्धेतोरागतं सममयम् ।
पापमयम् । मनुष्येभ्यः—देवदत्तादागतम्, देवदत्तमयम् । जिनदत्तमयम् । जिनदत्तमयी । योगविभागो यथा-
संख्यनिवृत्त्यर्थः ।

प्रभवति ॥३।३।५७॥ तत इत्येव वर्तते । तत इति कासामर्थान्ङ्याम्भृदो यथाविहितं त्यो
भवति । प्रथमं भवति प्रभवति । भवतिरिहोपलब्धिक्रियः, अनेकार्थत्वाद् धूनाम् । खुघ्नात् प्रभवति, सौघ्नः ।
राष्ट्रियः । हिमवतः प्रभवति, हैमवती गङ्गा । दारदी सिन्धुः ।

विदूराञ्ज्यः ॥३।३।५८॥ ततः प्रभवतीति अनुवर्तते । विदूरशब्दाञ्ज्यो भवति । अणोऽपवादः ।
विदूरात्प्रभवति, वैदूर्यो मणिः । यदि प्रथमं भवति प्रभवतीत्युच्यते बालवायाद्गिरेरसौ प्रभवति न विदूरात्प्रग-
रात् । कथं ततस्त्योत्पत्तिः ? एवं तर्हि “बालवायो विदूरञ्च प्रकृत्यन्तरमेव वा । नैवं तत्रेति चेद्ब्रूयात् जित्वरी-
वदुपाचरेत् ॥” बालवायस्य लभते विदूरमादेशञ्च । यथा शिवादिषु विश्रवःशब्दो विश्रवणरवणादेशौ
अणं च लभते । प्रकृत्यन्तरमेव वा बालवायस्य विदूरशब्दः । अव्यविकन्यायेन विदूरादेव त्यः । नैवं तत्रेति
चेद्ब्रूयात् जित्वरीवदुपाचरेत् । यथा वाणिजाः वाराणसीं जित्वरीति मङ्गलार्थमुपाचरन्ति । एवं बालवायोऽप्यु-
पचाराद् विदूरशब्देनोक्तः । अथवा विदूरादेव मणित्वेन प्रभवति ।

तद्गच्छति पथिदूतयोः ॥३।३।५९॥ तदितिपसमर्थाद्गच्छतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति
योऽसौ गच्छति पन्था दूतो वा चेद् भवति । खुघ्नं गच्छति, सौघ्नः । राध्दियः । पन्था दूतो वा । पथिस्थेषु
गच्छत्सु पन्था गच्छतीत्युच्यते । पथिदूतयोरिति किम् ? खुघ्नं गच्छति सार्थः ।

अभिनिष्कामति द्वारम् ॥३।३।६०॥ तदिति वर्तते । तदितिपसमर्थादभिनिष्कामतीत्येतस्मिन्नर्थे
यथाविहितं त्यो भवति । अनभिनिष्कामणक्रियायां द्वारं करणं स्वातन्त्र्येण विवक्षितम् । यथा, अशिश्नन्ति ।
धनुर्विध्यति । द्वारस्थेषु च निष्कामत्सु द्वारं निष्कामतीत्युच्यते । खुघ्नमभिनिष्कामति पाटलिपुत्रस्य द्वारम्,
सौघ्नम् । राष्ट्रियम् । द्वारमिति किम् ? ‘मधुरामभिनिष्कामति वैदिस (श) स्य ग्रामः । खुघ्नमभि-
निष्कामति पुरुषः ।

अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ॥३।३।६१॥ तदितिपसमर्थादधिकृत्य कृतेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तत्कृतं
ग्रन्थश्चेत्स भवति । सुलोचनामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौलोचनः । औदयनः । ग्रन्थ इति किम् ? सुलोचनाम-
धिकृत्य कृतः प्रासादः । “उसाऽख्यायिकासु बहुलमिति वक्तव्यम्” [वा०] वासवदत्तामधिकृत्य कृताऽख्या-
यिका, वासवदत्ता । । दोस्थ (श्ल) स्योस् । उर्वशी । सुमनोत्तरा । अण उस् । न च भवति भैमरथी ।

शिशुकन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः ॥३।३।६२॥ तदधिकृत्य कृते ग्रन्थ इति वर्तते ।
शिशुकन्दयमसभ इत्येताभ्यां द्वन्द्वदिन्द्रजननादिभ्यश्च छो भवति । अणोऽपवादः । शिशुकन्दमधिकृत्य
कृतो ग्रन्थः, शिशुकन्दीयः । यमस्य सभा, यमसभम् । “सभाऽराजाऽमनुष्यात्” [१।४।१६] इति नप् ।
यमसमीयः । द्वन्द्वात्, त्रिपृष्ठविजयीयः । भरतबाहुबलीयः । वाक्यपदीयम् । “द्वन्द्वे देवाऽसुरादिभ्यः प्रति-
षेधो वक्तव्यः” [वा०] दैवासुरम् । राक्षोऽसुरम् । गौणमुख्यम् । इन्द्रजननादिभ्यः—इन्द्रजननीयम् ।

प्रद्युम्नोदयनीयम् । प्रद्युम्नागमनीयम् । शी (सी) तान्वेषणीयम् । इन्द्रजननादिराकृतिगणः । शिशुकृन्दादयोऽपि तत्रैव द्रष्टव्याः । देवासुरादिषु छत्यादर्शनात् प्रतिषेधश्च न वक्तव्यः । प्रपञ्चो बालावबोधनार्थः ।

सोऽस्य निवासः ॥३१३६३॥ स इति वासमर्थादस्येति ताऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तद् वासमर्थं निवासश्चेत्स भवति । निवसन्त्यस्मिन्निति निवासः । स्रुचं निवासोऽस्य स्रौचः । राष्ट्रियः ।

अभिजनः ॥३१३६४॥ अभिजनः पूर्वं बान्धवाः । साहचर्यात्तैरुषितो देशोऽपि तथोक्तः । निवासो यत्र साम्प्रतमुच्यते (प्य)ते । स इति वासमर्थादभिजन इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । स्रुचमभिजनोऽस्य, स्रौचः । राष्ट्रियः ।

गिरेश्छः शस्त्रजीविषु ॥३१३६५॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । गिरिवाचिनो वासमर्थादभिजनविशिष्टादस्येति ताऽर्थे छो भवति शस्त्रजीविष्वभिधेषु । हृद्गोलोऽभिजन एषां शस्त्रजीविनाम्, हृद्गोलीयाः । अत्रमर्म । अत्रमर्मायाः । वेल । वेलीयाः । रोहितगिरि । रोहितगिरीयाः । गिरेरिति किम् ? साङ्कास्योऽभिजन एषां शस्त्रजीविनां साङ्कास्यकाः शस्त्रजीविनः । “बन्ध (धन्व) योङः” [३१२।१६] इति बुञ् । शस्त्रजीविष्विति किम् ? ऋद्धोदो गिरिरभिजन एषां ब्राह्मणानामन्येषा वा, आर्क्षोदाः । पृथु । पार्थवाः ।

शण्डिकादेर्ज्यः ॥३१३६६॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । शण्डिक इत्येवमादिभ्यो ज्यो भवति । अण्वादेरपवादः । शण्डिकोऽभिजनोऽस्य, शण्डिक्यः [शण्डिकः] । सर्वसेन । सर्वकेश । शक । शट । चणक । शङ्ख । बोध । गोध । अत्र कोङ्भ्यः “कोङोऽण्” [३१२।११०] इत्यण् प्रातः । इतरेभ्यः “बहुत्वेऽदोरपि [३१२।१०३] इति बुञ् प्रातः ।

सिन्धवादेरण् ॥३१३६७॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । सिन्धु इत्येवमादिभ्योऽण् भवति । सिन्धुरभिजनोऽस्य, सैन्धवः । सिन्धु । वर्ण । मधुमत् । कम्बोज । कश्मीर । सल्व । एतेभ्यः कञ्छादित्वात् “नृत्तत्थयोः” [३१२।११२] इति बुञ् प्रातः । गन्धार । पञ्चाल । किष्किन्ध । गब्दिक । उरस् । दरद् । एतेभ्यः “बहुत्वेऽदोरपि” [३१२।१०२] इति बुञ् प्रातः । कैमेदुर । काण्डकार^१ । ग्रामणी । एतेभ्यश्छः प्रातः ।

तूदीवर्मतीभ्यां ढण् ॥३१३६८॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । तूदीवर्मतीशब्दाभ्यां ढण् भवति । अण्योऽपवादः । तूदी अभिजनोऽस्य, तोदेयः । वार्मतेयः ।

शालातुरकूचवाराञ्छुरण्यौ ॥ ३१३६९ ॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । शालातुरकूचवार-शब्दाभ्यां छण्ण्य इत्येतौ त्यौ भवतः । अण्योऽपवादः^२ । शालातुरोऽभिजनोऽस्य, शालातुरीयः । कौचवार्यः ।

भक्तिः ॥३१३७०॥ सोऽस्येति वर्तते । अभिजन इति निवृत्तं विशेषणान्तरोपादानात् । स इति वासमर्थादस्येति ताऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तद् वासमर्थं भक्तिश्चेत् सा भवति । भण्यत भक्तिः । स्रुचं भक्तिरस्य, स्रौचः । राष्ट्रियः ।

अदेशकालाहण् ॥३१३७१॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्तते । देशकालावचितौ । तत्पर्युदासादन्यस्याऽचित्तस्य ग्रहणम् । अचित्तवाचिनो मृदष्टणित्ययं त्यो भवति । अण्योऽपवादः । ढस्य परत्वाद् बाधकः । अप्रूपा भक्तिरस्य, आपूपिकः । शाब्कुलिकः । पायसिकः । अदेशादिति किम् ? स्रौचः । अकालादिति किम् ? शैशिरः ।

महाराजात् ॥३१३७२॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते । महाराजशब्दाद्भवति । महाराजो भक्तिरस्य, माहाराजिकः ।

अर्जुनाद् बुन् ॥३१३७३॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते । अर्जुनशब्दाद् बुन् भवति । अर्जुनो-भक्तिरस्य, अर्जुनिकः । उत्तरसूत्रेण राजाख्याद् बुन् प्राप्तः ।

वृद्धराजाख्येभ्यो बुन् प्रायः ॥३१३७४॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते । वृद्धाऽख्येभ्यो राजा ख्येभ्यश्च प्रायो बुन् भवति । अणोऽपवादः । छस्य तु परत्वाद्वाचकः । वृद्धराजाख्येभ्य इत्यत्र “भ्रे” [३१३७] इति नियमात्कर्मणि “आतः कः” [३१३३] न प्राप्नोति । मूलविभुजादित्वात् “सुपि” [३१३७] इति [वा] भविष्यति । वृद्धाख्येभ्यः, ग्लुचुकायनिर्भक्तिरस्य ग्लौचुकायनः । औपगवो भक्तिरस्य, औपगवकः । कापटवकः । राजाख्येभ्यः नकुलो भक्तिरस्य, नाकुलकः । साहदेवकः । वासुदेवो भक्तिरस्य, वासुदेवकः । आख्याग्रहणं किमर्थम् ? अङ्गवङ्गकलिङ्गादिग्रहणार्थम् । दुर्योधननकुलसहदेवग्रहणार्थं च । यत्र सामान्येन विशेषेण वा प्रसिद्धा राजसंज्ञाऽस्ति तस्य सर्वस्य सङ्ग्रहार्थमित्यर्थः । प्रायोग्रहणात्क-चिन्न भवति । पाणिनो भक्तिरस्य, पाणिनीयः । पौरवीयः ।

राष्ट्रवत्तद्वतां सर्वं बहुत्वे सारूपाणाम् ॥३१३७५॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते । राष्ट्रस्येव राष्ट्रवत् । बहुत्वे राष्ट्रेण समानशब्दानां तद्वतां राष्ट्रवत्सर्वं प्रकृतिस्त्यश्च भवति । “राष्ट्राऽवध्वोः” [३१३१०२] इत्यादिप्रकरणे विहितानामिहाऽतिदेशः । यथा, अङ्गा जनपदो भक्तिरस्य, आङ्गकः । वाङ्गकः । सौहकः । एवमङ्गाः क्षत्रिया भक्तिरस्य, आङ्गकः । सङ्गकः । तद्वतामिति किम् ? पञ्चाला ब्राह्मणा भक्तिरस्य पाञ्चालः । सर्वग्रहणं किम् ? प्रकृतेरप्यतिदेशो यथा स्यात् । स च द्व्येकयोः प्रकृत्यतिदेशः (शं) प्रयोजयति । यत्रैभिर्नामत्तभूतो हृदतिदेशो नास्ति । वृजेरपत्यं वाज्यः । “द्विक्कुरुनाद्यजादकुहकोशकाञ्च्यः” [३१३१५३] इति ज्यः । मद्रस्याऽपत्यं माद्रः । “द्वयत्सगघ” [३१३१५२] इत्यादिनाऽण् । वाज्यो भक्तिरस्य, माद्रो भक्तिरस्य, अत्र “वृजि [म] द्राक्कः” [३१३१०६] इति कोऽतिदिश्यते । प्रकृतिरप्यदुसंज्ञाऽ(रप्यत्रा) तिदिश्यते । वृजिकः । मद्रकः । वाज्यं (ज्यं)को माद्रक इति मा भूत् । सारूपाणामिति किम् ? अंसषण्डो जनपदः, तस्य पौरवो राजा; स भक्तिरस्य पौरवीयः । बहुत्वग्रहणं सारूप्योपलक्षणार्थम् । यद्यपि द्वित्वैकत्वयोः सारूप्यं नास्ति तथाप्यतिदेशः सिद्धः । वाङ्गो वाङ्गो वा भक्तिरस्य, वाङ्गकः ।

तेन प्रोक्तम् ॥३१३७६॥ तेनेति भासमर्थोक्तमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । व्याख्यादिना प्रकर्षेणोक्तं प्रोक्तमिति गृह्यते, न तु कृतं यदन्येन कृतम् । गोतमेन प्रोक्तम्, गौतमम् । श्रीदासीयम् । सामन्तभद्रम् । आपिशलम् । “इजः” [३१३१८८] इत्यण् ।

शौनकादिभ्यश्छन्दसि णिन् ॥३१३७७॥ शौनक इत्येवमादिभ्यश्छन्दस्यभिधेये णिन् भवति तेन प्रोक्तमित्यस्मिन्निवषये । दुभ्यश्छस्य इतरेभ्यश्चाणोऽपवादः । “छन्दोब्राह्मणानि चात्रैव” [३१३१६] इति नियमादेकवाक्यम् । शौनकेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते शौनकिनः । “तद्वेत्त्यधीते” [३१३१९] इत्यागतस्याण “उपप्रोक्तात्” [३१३१४] इत्युप् । शौनक । वाजसनेय । साङ्गरव । सापेय । सा(शा)ष्येय । श्यादायन । स्कम्भ । स्कभम् । स्तम्भ । देवदर्श । रज्जुमार । रज्जुकण्ठ । कठ । साठ । कौसायन । तल-वकाल (र) । ३पुरुषासक । “काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां कश्चपस्थाभ्यां प्रोक्तः स्मर्यते” । तस्योपचारा-

१. सादायन पू० । वोदायन अ० । २. स्कम्भ अ०, पू० । ३. पक्ष्वांसक इति गण्यरत्न-महोदधौ ।

छन्दस्त्वम् । तेन तद्विषयतानियमः । काश्यपेन प्रोक्तं कल्पं विदन्ति, काश्यपिनः । ऋषिभ्या-
मिति किम् ? इदानीन्तनेन काश्यपेन प्रोक्तम्, काश्यपीयम् । “कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यः” । कला-
प्यन्तेवासिनश्चत्वारः ।

“हरिद्रुर्षा प्रथमस्ततरङ्गगलितुम्बुरु । उरूपेन चतुर्थेन कालापकमिहोच्यते ।”

हरिद्रुणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, हरिद्रविणः । तौम्बुरविणः । औरूपिनः । छगलिनो दिनियां वक्ष्यति ।
वैशम्पायनान्तेवासिनो नव ।

“आलम्बिः प्रथमः प्राचां पलिङ्गकमलावुभौ । ऋचभागादृषी ताण्ड्यो मध्यमीयास्ततोऽपरे ॥
श्यामायन उद्दीच्येषु तथा कठकलापिनौ ।”

आलम्बिना प्रोक्तमधीयते, आलम्बिनः । पालिङ्गिनः । कामलिनः । आर्चभागिनः । आरुषिनः ।
ताण्डिनः । श्यामायनिनः । कठादत्रैवोपं वक्ष्यते । उत्तरत्र कलापिनोऽण्यं वक्ष्यति । अन्तेवासिग्रहणेन प्रत्यक्ष-
शिष्यग्रहणम् । न तु व्यवहितानां शिष्यशिष्याणां ग्रहणं व्याख्यानात् । “पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु” [ग०सू०]
यत्तद्विदितं (यत्प्रोक्तं तत्) पुराणप्रोक्ताश्चेद् ब्राह्मणकल्पा भवन्ति । पुराणेन पुरातनेन ऋषिणा प्रोक्ताः,
पुराणप्रोक्ताः, ब्राह्मणानि च कल्पाश्च ब्राह्मणकल्पाः । भाल्लवेन प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते भाल्लविनः ।
‘वासयनिनः । ऐतरेयिणः । पिङ्गेन प्रोक्तः कल्पः पैङ्गी । आरुणपराजी । कल्पस्य तद्विषयतानियमो
नास्ति । पुराणप्रोक्तेष्विति किम् ? याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि । आश्मरथः कल्पः । “शकलादिभ्यो वृद्धे”
[३।२।८७] इत्यण् । याज्ञवल्कादयोऽवरकाला इत्याख्यानेषु श्रुतिः । तद्विषयतानियमोऽपि प्रतिपदं ब्राह्मणेषु
भवति इति इह सोऽपि नास्ति । “कठचरकाहुप्” [ग०सू०] । कठेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, कठाः । वैशम्पायनान्ते-
वासित्वाशिण्यन्, तस्योप् । चरक इति वैशम्पायनस्याख्या । चरकादछन्दस्यैवेभ्यते । चरकेण प्रोक्ताश्चरकाः
रलोकाः । अण् उप् । सर्वप्रवचनाभिधाने “वृद्धचरणाञ्जित्” [३।२।१४] इति बुन् भवत्येव । शौनकिना-
मिदम्, शौनकम्, इत्येवमादि योज्यम् । “पाराशर्यशिकलादिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः” पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षु-
सूत्रमधीयते, पाराशरियो भिक्षुवः । शिलालिनो नटाः । गुणकल्पनया चात्र छन्दस्त्वम् तेन तद्विषयता
(भवति । भिक्षुनटसूत्रयोरिति किम् ? पारा) शरम् । शैलालम् । “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३।२।८७]
इत्यण् उत्सर्गश्च “कर्मन्दकृशाश्वाभ्यामिन्” । अत्रापि तद्विषयता, कर्मन्दिनो भिक्षुवः । कृशाश्विनो
नटाः । भिक्षुनटसूत्रयोरित्येव । कर्मन्दम् । कार्या (कार्शाश्वम्) । छन्दसीति किम् ? शौन-
कीया शिखा ।

तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छ्रण् ॥३।२।७८॥ छन्दसीति वर्तते, तेन प्रोक्तमिति (च) ।
तित्तिरि वरतन्तु खण्डिका उख इत्येतेभ्यश्छ्रण् भवति । अणोऽपवादः । तित्तिरिणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते
विदन्ति वा तैत्तिरीयाः । खण्डिकीयाः । औखीयाः । छन्दसीत्येव । तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोकाः, तैत्तिराः ।

कलापिनोऽण् ॥३।२।७९॥ छन्दसीति वर्तते । कलापिशब्दादण् भवति तेन प्रोक्तं इत्यस्मि-
न्विषये । वैशम्पायनान्तेवासित्वाशिण्यन् प्राप्तः । कलापिना प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, कालापाः । “नोऽपुंसो
इति” [३।१।१३०] इति टिङ्गं प्राप्तम्, “प्रायोऽनपत्येष्वािनः” [३।१।१२६] इति प्रतिषिद्धम्, “सब्रह्म-
चर्यादिः” [३।१।१३१] इति पुनष्टित्त्वम् । पुनरण्ग्रहणं किम् ? क्वचिच्छ्रविषयेऽपि यथा स्यात् । तेन
लौकभानि ब्राह्मणान्तेवमादि सिद्धम् ।

१. शाब्दमन्त्रिकः अ०, पृ० २, चरकादछन्दस्येव इत्यत्र अछन्दसीति, चरकाः रलोका इत्यत्रो-
क्तिर्भानं च चित्तम् । काशिकादौ छन्दसीत्येव । चरकाः रलोका इत्यत्रानुबन्धनात् ।

छगलिनो द्विनिष् ॥३३॥८०॥ छन्दसीति वर्त्तते, तेन प्रोक्तमिति च । छगलिनशब्दाद्विनिष् भवति । नेरिकार उच्चारणार्थः । छगलिना प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, छगलेयिनः । कलाप्यन्तेवासिलक्षणस्य णिनोऽपवादः ।

एकदिक् ॥३३॥८१॥ छन्दसीति निवृत्तम् । तेन प्रोक्तमिति च निवृत्तमर्थान्तरग्रहणात् । एका दिग् यस्य तदेकदिक्, त्य (स) मानदिगित्यर्थः । भासमर्थादेकदिगित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । सुदाम्ना पर्वतेन एकदिक्, सौदामनी विद्यत् । “अनः” [३१३१५८] इति टिप्पणाऽभावः । एवं हैमवती । त्रैककुदी ।

तस् ॥३३॥८२॥ तसित्यर्थं त्यो भवति मृदः । तेनैकदिगित्यनुवर्त्तते । पूर्वसूत्रेणाणादयो घादयश्च भवन्ति । अयं च वचनाद् भवति । न तु बाध्यबाधकभावः । सुदाम्ना एकदिक् सुदामतः । हिमवतः । त्रिककुत्तः । तस्यान्तस्य स्वभावतो भिन्नज्ञा ।

यश्चोरसः ॥३३॥८३॥ तेनैकदिगिति वर्त्तते । उरःशब्दात् य इत्यर्थं त्यो भवति तश्च । अणोऽपवादः । उरसा एक दिक्, उरस्यः, उरस्तः ।

उपज्ञाते ॥३३॥८४॥ तेनेति वर्त्तते । तेनेति भासमर्थादुपज्ञातेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति । विनोपदेशेन प्रथमं ज्ञातमुपज्ञातम् । स्वायम्भुवेनोपज्ञातं स्वायम्भुवीयमाकालिकाऽचाराऽध्ययनम् । दैवन्दिनमनेकशेषं व्याकरणम् ।

कृते ग्रन्थे ॥३३॥८५॥ तेनेति भासमर्थात्कृतेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्कृतं ग्रन्थश्चेद् भवति । बलदेवेन कृताः, बालदेवाः श्लोकाः । वाररुचाः । सिंहनदीयाः । ग्रन्थ इति किम् ? तच्छा कृतः प्रासादः ।

खौ ॥३३॥८६॥ तेनेति भासमर्थात्कृतेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति समुदायेन लुविषये । अग्रन्थेऽपि विधिरयम् । मन्त्रिकाभिः कृतं मान्त्रिक मधु । एवं गर्मुत्, गार्मुतम् । पुत्तिका, पौत्तिकम् । लुद्रा, चौद्रम् । सरवा, सारधम् । नर्मुक, नार्मुकम् । भ्रमर, भ्रामरम् । वटर, वाटरम् । वातप, वातपम् । छः कस्मान्न भवति । संज्ञाशब्दानां व्युत्पत्तिरियम् । न च छे कृते संज्ञा गम्यते ।

कुलालादेर्वुन् ॥३३॥८७॥ खाविति वर्त्तते । कुलाल इत्येवमादिभ्यो बुञ् भवति तेन कृतेऽर्थे । अणोऽपवादः । कुलालेन कृतम्, कौलालकम् । घटादिसमुदायस्येयं संज्ञा । कुलाल । वरुट । कर्मार । चण्डाल । निषाद । सेना । सिलिच्^१ । देवराज्ञी । परिषत् । वधू । रुद्र । अस्य स्थाने रुद्रशब्दं^२ केचित् पठन्ति । अनडुह् । ब्रह्मन् । कर्मार । कुलाल । कुम्भकार । श्वपाक ।

तस्येदम् ॥३३॥८८॥ तस्येति तासमर्थादिदमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । तस्येति सामान्येन ताऽर्थमात्र इदमिति ताऽर्थसम्बन्धिमात्रं विवक्षितम् । उभयत्र लिङ्गसंख्याप्रत्यक्षपरोक्षत्वादिकमविवक्षितम् । उपगोरिदम्, औपगवम् । औत्सम् । राष्ट्रियम् । आङ्गकम् । अनन्तरादिष्वभिधानं नास्ति । देवदत्तस्थानन्तरम्, देवदत्तस्य समीपम् । विशतेरवयव एकः, शतस्य द्वौ, सहस्रस्य पञ्चेति । “संबोद्धः संबहिर्भूभावश्च स्वे वक्तव्यः” [वा०] । संबोद्धः स्वं सांवहित्रम् । “अरनीधः शरणे वाच्ये रण्

१. सिलिम् अ० । मिळिवू पू० । सिरिध्र इति काशिकायाम् । २. केचित् काशिकाकारा इत्यर्थः ।

वक्तव्यो भसंज्ञा च” [वा०] अग्नीध इदम्, आग्नीध्रम् । “समिधामाधाने टेन्यण् वक्तव्यः” [वा०] ।
सामिधेनी ऋक् ।

रथाद्यः ॥३३।८६॥ तस्येदमिति वर्त्तते । रथशब्दाद्यो भवति । अयोरपवादः । रथाङ्ग एवेष्यते ।
रथस्येदं चक्रं युगं वा रथ्यम् । “रथसीताहलेभ्यो यविभौ तदन्तविधिरुपसंख्यातः” [वा०] । परमरथ्यम् ।
रथाङ्ग इति किम् ? रथस्य स्थानम् ।

पत्रादण् ॥३३।६०॥ पतन्ति तेनेति पत्रं वाहनम् । तत्पूर्वाद्रथशब्दादण् भवति । पूर्वस्य यस्याऽपवादः ।
अश्वरथस्येदं चक्रं युगं वाऽऽश्वरथम् । औष्ट्ररथम् । पुनरण्ग्रहणं छ्वाधनार्थम् । रासभरथम् । युगम् ।
रथाङ्ग इत्येव । अश्वरथस्य स्वामी ।

पत्रात् ॥३३।९१॥ पत्रं वाहनम् । तद्वाचिशब्दादण् भवति, तस्येदमित्यस्मिन्विषये । “पत्राद्
वाह्य एवेष्यते” [वा०] । अश्वस्येदं वाह्यम्, आश्वम् । उत्सर्गेण सिद्धमिति चेद्दुसंज्ञेषु न सिद्ध्यति ।
रासभस्येदं वहनीयम्, रासभम् ।

हलसीराट्टण् ॥३३।९२॥ तस्येदमिति वर्त्तते । हलसीरशब्दाभ्यां टण् भवत्यणि प्राप्ते । हलस्येदं
हालिकम् । सैरिकम् ।

द्वन्द्वाद्बुन् वैरमैथुनिकयोः ॥३३।९३॥ तस्येदमिति वर्त्तते । मैथुनिका विवाहनादिका क्रिया ।
द्वन्द्वाद् बुन् भवति वैरे मैथुनिकायां च । अणोऽपवादः । छस्य तु परत्वादेव बाधकः । अहिनकुलिका ।
काकौलुकिका । वद्रवशालङ्कायनिका । बुधन्तस्य स्वभावतः स्त्रीलिङ्गम् । मैथुनिकायां च । कुक्कासि(शि)का ।
कुक्कृष्णिका । अत्रिभरद्वाजिका । भरद्वाजशब्दादञ्, तस्य वृद्धे बहुत्वे “बज्जोः” [१।४।१३२] इत्युप्
कृतः । “वृद्धेऽच्यनुप्” [३।१।७३] इति अनुप् कस्मान्न भवति । प्रथमादित्यधिकाराद् द्वितीयस्य न
भवति । अथ प्रथमस्याऽत्रिशब्दस्य यो ढ्यप् तस्याऽनुप् कस्मान्न भवति । अजादावव्यवहिते अप्रु (नु) ब्
भवति । भरद्वाजशब्देन चाऽत्र व्यवधानम् । अत्रेष्टिः । गर्गभृगूष्णामियं मैथुनिका गर्गभार्गवका । अत्र
वोरकादेशो कृते भृगुशब्दाद् योऽण् तस्य बहुत्वे “भृग्वत्रिकृत्स” [१।४।१३६] इत्यनेनोप् प्राप्तेः । “प्रथमा
ऽधिकारे द्वितीयास्तथापि वृद्धेऽच्यनुव्वह्न्यः” [वा०] । “देवासुरादिभ्यो वुनः प्रतिषेधो वक्तव्यः”
[वा०] । दैवासुरम् । राक्षसुरम् ।

वृद्धचरणाञ्जित् ॥३३।६४॥ तस्येदमिति वर्त्तते । वृद्धवाचिनश्चरणावाचिनश्च त्रिदिव जिद्भवति
बुन् । अनेनैव वुनो विधानम् । अयमणोऽपवादः । छस्य तु परत्वाद् बाधकः । त्रिष्टयानेतिरिदम्, त्रैष्टयानकम् ।
औपगवानामिदम्, औपगवकम् । चरणानि वेदशाखाः । तद्योगादध्येतारोऽपि कठादयश्चरणाख्याः ।
“चरणाद् धर्माग्नाययोरेवेष्यते” [वा०] । कठानामयं धर्म आग्नायो वा काठकम् । कालापकम् ।
मौदकम् । पैपलादकम् । अध्वर्युशब्दस्य समुदायवाचित्वाच्चरणाशब्दत्वमिह नेष्टम्, तैनायोव भवति ।
आध्वर्यवम् ।

सङ्घाङ्कलक्षणघोषेऽच्यन्विवाग्मण् ॥३३।६५॥ तस्येदमिति वर्त्तते । सङ्घादिषु चतुर्षु इदमर्थ-
विशेषेषु अजन्ताद्यजन्तादिजन्ताच्चाण् भवति । पूर्वस्य वुनोऽपवादः । विदानां सङ्घः, अङ्कः, लक्षणं

१. वद्रवशाङ्कायनिका अ०, । वद्रवशाङ्कायनिका ए० । वाग्म्यशाङ्कायनिका इति
कामिकायाद् ।

घोषो वा, वैदम् । यञन्तात् । गर्गाणां सङ्घः, अङ्को लक्षणं घोषो वा, गर्गाम् । “क्यच्च्यनाद्घृत्यापत्यस्य” [४।४।१४१] इति यखम् । इञन्तात् । दाक्षम् । प्लादम् । अणो षित्करणं स्त्रियां ड्यर्थम् । “ङ्णिद्घृदर-
क्तविकारे” [४।३।१५१] इत्यत्र पुंवद्भावप्रतिषेधार्थं च । वैदी स्थूणा अस्य, वैदीस्थूणः । लक्ष्म्या (क्य) गतं-
चिह्नं लक्षणं यथोपशमो मुनीनाम् । बाह्यसम्बन्धि गतं चिह्नमङ्कः, यथा गवां रेखा ।

शाकलाद् वा ॥३।३।९६॥ शाकलशब्दात्सङ्घादिषु इदमर्थविशिष्टेषु वाऽण् भवति चरणलक्षणे
नित्ये बुनि प्राप्ते विभाषेयम् । कथं चरणत्वम् ? शाकल्येन प्रोक्तमधीयते शाकलाः । प्रोक्ताऽर्थे “शकलादिभ्यो
वृद्धे” [३।२।८७] इत्यण् । “क्यच्च्यनाद्घृत्यापत्यस्य” [४।४।१४१] इति यखम् । “तद्देत्यधीते”
[३।२।१५१] इत्यागतस्याण “उपप्रोक्तात्” [३।२।५४] इत्युप् । शाकलानां सङ्घः, अङ्कः, लक्षणं,
घोषो वा, शाकलम् ।

छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबहुचनटाञ्ज्यः ॥३।३।९७॥ सङ्घादयो निवृत्ताः । सामान्येन तस्ये-
दमिति वर्तते । छन्दोग औक्थिक याज्ञिक बहुच नट इत्येभ्यो जो भवति । बुनोऽपवादः । नटशब्दादणोऽ-
पवादः । छन्दोगानां धर्म आम्नायो वा छान्दोग्यम् । औक्थिकानां धर्म आम्नायो वा, औक्थिक्यम् ।
याज्ञिक्यम् । बह्विः ऋचोऽधीयते, बहुचाः । अः सान्तः । “तद्देत्यधीते” [४।२।१५१] इत्यागतस्याणो
“स्थोबनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् । तेषां धर्म आम्नायो वा, बाहुच्यम् । चरणसाहचर्यान्नटशब्दादपि
धर्माभाययोरेव लः । नाट्यम् ।

न दण्डमाणवान्तेवासिषु ॥३।३।९८॥ दण्डप्रधाना माणवाः दण्डमाणवाः । आश्रमिणां
रक्षापरिचर्याविधायिन इत्यर्थः । अन्तेवासिनो विनेयाः । वृद्धग्रहणमनुवर्तते । दण्डमाणवेषु अन्तेवासिषु
इदमर्थविशेषेषु तस्येदमित्यस्मिन्निषये वृद्धाद्यदुक्तं तन्न भवति । कायस्थस्येमे कायठाः । गौकक्ष्यस्येमे, गौकक्षाः ।
दण्डमाणवा अन्तेवासिनो वा । बुनि प्रतिषिद्धे “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३।२।८७] इत्यण् । दाक्षेरिमे
दाक्षाः । प्लाक्षाः । “इजः” [३।२।८८] इत्यण् ।

रैवतिकादेश्छुः ॥३।३।९९॥ तस्येदमिति वर्तते । वृद्धादिति च । रैवतिक इत्येवमादिभ्यो वृद्धेभ्यश्छो
भवति । बुनादेरपवादः । रैवतिकस्येदं रैवतिकीयम् । बुनः प्रकृते प्रतिषेधे कृते सामर्थ्याद् दोरछुः सिद्धः । नैवं
शक्यम् इजतात् “इजः” [३।२।८८] इति अण् प्राप्नोति सङ्घादिषु चाणः प्रतिषेधे बुन् प्रसज्यते ।
रैवतिक । गौरग्रीवि । स्वापिशि । क्षैमवृत्ति । क्षैमवृद्धि इति केचित्^१ । औदमेधि । औदवाहि । औद-
वापि । वैजवापि ।

कौपिञ्जलहास्तिपदादण् ॥३।३।१००॥ कौपिञ्जलहास्तिपदशब्दाभ्यामण् भवति तस्येदमित्य-
स्मिन्निषये । वृद्धलक्षणस्य बुनोऽपवादः । कुपिञ्जल हास्तिपादशब्दाभ्यामपत्येऽर्थे त एव निपातनादण् । पादस्य
पदभावश्च । कौपिञ्जलस्येदं कौपिञ्जलं शकटम् । हास्तिपदं शकटम् । आरम्भसामर्थ्यादेवाणि सिद्धे पुनरण्-
ग्रहणं “न दण्डमाणवान्तेवासिषु” [३।३।९८] इति बुनि प्रतिषिद्धे “दोः” [३।२।९०] इति छे प्राप्ते अण्
यथा स्यात् । कौपिञ्जला अन्तेवासिनो दण्डमाणवा अन्तेवासिनो वा ।

आथर्वणः ॥३।३।१०१॥ तस्येदमिति वर्तते । आथर्वण इति निपात्यते । आथर्वणिकशब्दादण्
निपात्यते इकस्य च खम् । चरणवाचि^२ शब्दादस्माद् बुञ् प्रातः । अथर्वणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते,
आथर्वणिकः । प्रोक्तार्थेऽण् “नोऽपुंसो हति” [४।४।१३०] इति टिक् प्रातम् ? “अनः”

[३।३।१५८] इति प्रतिषिद्धम् । आथर्वण इति स्थिते “छन्दोब्राह्मणानि चात्रैव” [३।२।६] इति नियमात् “तद्वेत्स्यधीते” [३।२।११] इत्यपि प्राप्ते उक्थादिष्वथर्वणशब्दस्य पाठात् ठण् । तत्र पाठसामर्थ्यादेव “उप्रोक्तात्” [३।२।१४] इत्युभन भवति । आथर्वणिकानां धर्म आम्नायो वा आथर्वणः । यस्तूक्थादिष्वथर्वणशब्दः पठ्यते स उपचाराच्छास्त्रवचनः अथर्वणं वेत्स्यधीते वा आथर्वणिकः । टिखाभावश्चात्र वक्तव्यः । अस्याप्याथर्वणिकशब्दस्येदं निपातनमिष्यते ।

तस्य विकारः ॥३।३।१०२॥ प्रकृतेरवस्थान्तरं विकारः । तस्येति तासमर्थाद् विकार इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । अदु यस्य च नाम्पत(न्यत्र) प्रतिपदं ग्रहणं तदिहोदाहरणम् । अश्मनो विकार आश्मः । “श्वारमचर्मणां सङ्कोचविकारकोशेषु” [३।३।१३२] इति टिखम् । भस्मनो विकारः, भास्मनः । मार्तिकः । तार्कवः । दैवदारवः । तैत्तिडीकः । वैत्वः । कापित्यः । पालाशः । प्रकृत्युपस- (म) देन यो विकारस्तत्रायं विधिः । तेनेह न भवति, आम्रं पकमिति । भवति पकमास्य फलस्य विकारे न तु प्रकृत्युपमार्दि । तस्येति वर्त्तमाने पुनस्तस्य ग्रहणं शैषिकाणां घादीनां निवृत्त्यर्थम् । अतः परमोत्सर्ग एव भवति । अत्र केषाञ्चिद्युक्तिः पूर्वसूत्रादणीति वर्त्तते स इह विधीयमानः परत्वेन शैषिकाणां बाधकः ।

प्राण्योषधिवृक्षेभ्योऽवयवे च ॥३।३।१०३॥ प्राणिनश्चेतनावन्तः । फलपाकान्ता ओषधयः । पुष्पवन्तः फलवन्तश्च वृक्षाः । वृक्षविशेषत्वाद्वनस्पतिवीरुधामपि वृक्षग्रहणेन ग्रहणम् । प्राण्योषधिवृक्षवा- चिभ्यस्तासमर्थेभ्योऽवयवे विकारे च यथाविहितं त्यो भवति । अवयव एकदेशः । प्राणिभ्य उत्तरत्र वक्ष्यते । ओषधिभ्यः, मूर्वाया अवयवो विकारो वा मौर्वी काण्डम् । मौर्वी भस्म । वृक्षेभ्य- कारीरं काण्डम् । कारीरं भस्म । पैपलं काण्डम् । शातपत्रिकं काण्डं भस्म च । इह ओषधिवृक्षग्रहणं ज्ञापकम् । “अणौ धेः प्राणिकर्तृकात्” [१।२।८५] इत्येवमादिषु प्राणिग्रहणे वृक्षादीनां प्राणित्वेऽपि ग्रहणं न भवति । तस्य विकारः प्राण्योषधि- वृक्षेभ्योऽवयवे चेति द्वयमधिक्रियते । अयं तु विभागः । प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः, अवयवविकारयोस्त्तोरे विधिः । अन्येभ्यस्तु विकारमात्र एष्टव्यः ।

जातरूपेभ्यः परिमाणे ॥३।३।१०४॥ इहाऽसम्भवादवयवार्थो न सम्बध्यते । जातरूपवाचिभ्य- स्तान्तेभ्यो विकारविशेषे परिमाणे यथाविहितं त्यो भवति । बहुत्वनिर्देशात्स्वरूपस्य तत्पर्यायवाचिनां च ग्रहणम् । इह यूनि (दुनि) प्रयोजयन्ति । “नित्यं हुञ्जरादेः” [३।३।१०६] इत्यनेन प्रातस्य मयटोऽपवादः । जातरूपस्य विकारो जातरूपो निष्कः । जातरूपं कार्षापणम् । हाटको निष्कः । हाटकं कार्षापणम् । परिमाण इति किम् ? हाटकमयी यष्टिः ।

प्राणितालादेः ॥३।३।१०५॥ तस्य विकारः प्राण्योषधिवृक्षेभ्योऽवयवे चेति वर्त्तते । प्राणिविभ्य- स्ताल इत्येवमादिभ्यश्च यथाविहितं त्यो भवति । “नित्यं हुञ्जरादेः” [३।३।१०६] इत्यस्य मयटोऽपवादः । सारसस्य विकारोऽवयवो वा सारसं मांसम् । सारसं सक्थि । काकं मांसम् । काकं सक्थि । अदवोऽपि ये प्राणिविभ्यः तेभ्यो “मयड्वैतयोरभक्ष्याच्छादनयोः” [३।३।१०८] इति पक्षे मयट् प्राप्नोति । तद्बाधना- र्थञ्चैदम् । कपोतस्य विकारोऽवयवो वा कपोतम् । मायूरम् । तैत्तिरम् । पुरस्तादपवादोऽयमनन्तरस्य मयड्विकल्पस्य बाधको युक्तो नोत्तरस्य “नित्यसुट् (-स्यं हुञ्ज-) शरादेः” [३।३।१०६] इत्यस्य । तत्कथं (-यमुः) मयोर्बाधा ? अनन्तरव्यवधानाभावात् । तालादिभ्यः, तालस्य विकारः तालं धनुः । “तालाद्घनुष्येवेत्येते” । अन्यत्र तालमयम् । तालाद्घनुषि । बर्हिण । इन्द्रासिंश । इन्द्रदिश । इन्द्रायुष । चाप । श्यामाक । पीयूषन् । रक्षत । हीस । लोह । उदुव (उव) र । निहुदार (नीच दार) ।

रोहीतक । विभीतक । पीतदारु । त्रिकण्टक । कण्टकार । काण्ड । गवेधुक^१ । पाटली । येऽत्रादवः, तेभ्यः
‘मयङ्वैतयोरभक्ष्याच्छादनयोः’ [३।३।१०८] इति विकल्पेन मयटि प्राप्तेऽपवादः ।

त्रपुजतुनोः शुक् ॥३।३।१०६॥ त्रपुजतुशब्दाभ्यां यथाविहितमण् भवति तत्सन्नियोगेन च षुगा-
गमः । त्रपुणो विकारः, त्रपुषम् । जातुषम् ।

शम्याः श्रुलज् ॥३।३।१०७॥ शमीशब्दाद्दृलज् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । अणोऽपवादः ।
शामीलं भस्म । शामीली स्तुक् ।

मयङ्वैतयोरभक्षाच्छादनयोः ॥३।३।१०८॥ भक्ष्यमभ्यवहार्यम् । आच्छादनं वसनम् । तासमर्थो-
न्मृदो वा मयङ् भवति भक्ष्याच्छादनवर्जितयोर्विकारावयवयोरर्थयोः । अन्नमनो विकारोऽश्ममयम् । आश्मम् ।
सिकतामयम् । सैकतम् । दूर्वामयम् । दौर्वम् । विकाराऽवयवौ प्रकृतावेव तत्किमर्थमेतयोरिति ग्रहणम् ? अनन्त-
रयोरपि योगयोरपवादबाधनार्थम् । त्रपुमयम् । जतुमयम् । शमीमयमिति । अन्ये^२ कपोतमयम्, रजतमयम्,
लोहमयमित्यादि इच्छन्ति । तत्तेषां “प्राणिरजतादिभ्योऽज्” [३।३।१३ पा० सू०] इत्यस्य सूत्रस्य
व्याख्यानेन विवक्ष्यते । तस्मात्कपोतमयमिति चिन्त्यम् । अभक्ष्याच्छादनयोरिति किम् ? मौद्गः सूः ।
कार्पासः प्रावारः ।

नित्यं दुशरादेः ॥३।३।१०९॥ अभक्ष्याच्छादनयोरिति वर्त्तते । दुभ्यः शरादिभ्यश्च तासमर्थेभ्यो
भक्ष्याच्छादनवर्जितयोर्विकारावयवयोर्नित्यं मयङ् भवति । दुभ्यः, आम्रस्य विकारोऽवयवो वा आम्रमयम् ।
शालामयम् । शरादिभ्यः, शरमयम् । शर । दर्भ । मृदु । कुटी । तृण । सोम । वल्बज् । आरम्भान्नित्यत्वे
लब्धे नित्यग्रहणं किम् ? एकाचो नित्यं मयट् यथा स्यात् । वाङ्मयम् । त्वङ्मयम् । त्वे नित्यं परङ्संज्ञादेशः ।
अथ विकारावयवयोर्यस्तदन्ताद्विकारावयवान्तरविवक्षायां मयट् कस्मान्न भवति । दैवदारवस्य विकारोऽवयवो
वा दैवदारवम् । दावित्थस्य, दावित्थम् । पालाशस्य पालाशम् । शामीलस्य, शामीलम् । कापोतस्य, कापो-
तम् । औष्ट्रकस्य, औष्ट्रकम् । ऐण्यस्य, ऐण्यम् । कांसस्य, कांस्यम् । पारशवस्य, पारशवमिति । नैष दोषः,
समुदायशब्दोऽवयवेऽपि दृष्टः । इति विकारान्तरे अवयवान्तरे च विवक्षिते मूलप्रकृतैरेव त्यः । तेन त्यान्तान्म-
यण भवति । अनभिधानाद्वा । यत्राभिधानमस्ति तत्र विकारान्तरेऽवयवान्तरे च त्यो भवत्येव । गोमयस्य
विकारः, गौमयं भस्म । द्रुवयस्य विकारः, द्रौवयम् । कपित्थस्य फलस्य विकारः, कापित्थम् । आमलकस्य
फलस्य विकारः, आमलकमयम् । सर्वमयं मयट् दुसंज्ञकेभ्यः शरादिभ्यश्च नित्यं भवति । अन्येभ्योऽभक्ष्याच्छा-
दनयोर्वा भवति । ज्ञातरूपेभ्यः, प्राणितालादिभ्यश्चाण् भवति ।

पिष्टात् ॥३।३।११०॥ पिष्टशब्दाद् विकारेऽर्थे नित्यं मयङ् भवति । पिष्टस्य विकारः, पिष्टमयम् ।
भक्ष्यत्वादयोव प्रातः, तदपवादोऽयम् ।

कः खौ ॥३।३।१११॥ पिष्टशब्दात्को भवति खुविषये । अनन्तरस्य मयटोऽपवादः । पिष्टस्य विकारः
पिष्टिका ।

१. गवेधुका अ०, पू० । २. अन्ये काशिकाकाराः । चिन्त्यमिदम्—कपोतमयम्, लोहमयमित्या-
दीनां प्राणिरजतादिसूत्रव्याख्यानविरोधाभावात् । रजतादिपठितस्यानुदात्तादिशब्दस्यैव मयङ्बाधकत्वम् ।
उदात्तादेस्तु अज्मयटोरुभयोरपि विधानस्य तत्रत्यन्यासग्रन्थे निष्ठात्त्वात् । रजतमयमिति काशिकायां
नास्त्येव । विस्तरस्तु काशिकान्यासे द्रष्टव्यः ।

तिलयवाद्स्रौ ॥३।३।११२॥ तिलयवशब्दाभ्यामखुविषये नित्यं मयङ् भवति विकारावयवयोर-
र्थयोः । तिलानामवयवो विकारो वा, तिलमयम् । यवमयम् । अखाविति किम् ? तैलम् । यावकः । “कोऽवि
यावादेः [३।२।३२] इति स्वार्थिकः कः ।

गोब्रीहेः शकृत्पुरोडाशे ॥३।३।११३॥ गोब्रीहिशब्दाभ्यां यथासंख्यं शकृत् पुरोडाशे च विका-
रेऽभिधेये नित्यं मयङ् भवति । गोमयं शकृत् । ब्रीहिमयः पुरोडाशः । शकृत्पुरोडाश इति किम् ? गव्यं
पयः । ब्रैह ओदनः ।

क्रीतवत्परिमाणात् ॥३।३।११४॥ क्रीत इव परिमाणावाचिनः ल्यविधिर्भवति विकारे । परिमीयतेऽ-
नेनेति परिमाणं परिच्छेदहेतुः न तु रुदिपरिमाणमेव । तेन संख्यायाः प्रस्थादीनां च ग्रहणम् । क्रीतार्थे ये त्या
यस्मात्परिमाणाद्विहिताः, ते विकारेऽप्यर्थे तस्मादेव परिमाणादितिदिश्यन्ते । यथा भवति “तेन क्रीतम्”
[३।३।३२] इत्यत्र । शतेन क्रीतः शतिकः, शत्यः । “ज्ञातादस्वार्थेऽसे ठयौ” [३।३।१८] इति । सहस्रेण
क्रीतं, साहस्रम् “शतमानविंशतिसहस्रवसनादण्” [३।३।२४] इति ठयाणः । एवमिहापि शतस्य विकारः
शत्यः, शतिकः, साहस्रः । यथा परिमाणात्क्रीतार्थे “आहार्दण्” [३।३।१७] भवति । प्रस्थेन क्रीतः,
प्रास्थिकः । क्रीडविकः । खार्या क्रीतः खारीकः । “खारीकाकणीभ्यां कप्” [३।३।३०] इति कप् । एवं प्रस्थ-
स्य विकारः प्रास्थिकः । क्रीडविकः । खारीकः ।

कोशैण्या ढञ् ॥३।३।११५॥ कोश एणी इत्येताभ्यां ढञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । कोशाद्-
वल्हे प्रयोगः । कोशस्य विकारः, कौशेयं वल्हम्, आच्छादनम् । मयट् नास्ति । अणोऽपवादः । एयया
विकारोऽवयवो वा, ऐशेयं मांसम् । ऐशेयं सक्थि । एणीति स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्पुंस्यणोव भवति । ऐणं मृगम्
(मांसम्) ।

उग्रद् वुञ् ॥३।३।११६॥ उग्रशब्दाद् वुञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । प्राणिलक्षणास्याऽणोऽ
पवादः । उग्रस्य विकारोऽवयवो वा, औग्रकम् ।

वोमोर्णात् ॥३।३।११७॥ उमा अतसी । उमाऊर्णाशब्दाभ्यां वा वुञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः ।
उमाया विकारोऽवयवो वा औमकम् । पदे अण्मयटौ । औमम् । उमामयम् । ऊर्णाया विकारः, और्णकम् ।
पदे पूर्ववदण्मयटौ । और्णम् । ऊर्णामयम् ।

गोपयसोर्यः ॥३।३।११८॥ गो पयस् इत्येताभ्यां य इत्ययं ल्यो भवति विकारावयवयोरर्थयोः । गोर्वि-
कारोऽवयवो वा गव्यम् । पयसो विकारः पयस्यम् ।

द्रोः ॥३।३।११९॥ द्रोः शब्दाद्यो भवति विकारावयवयोः । अण्मयटोरपवादः । द्रव्यम् “प्रागूद्रोः”
[३।१।६८] इत्यधिकार इत ऊर्ध्वं न प्रवर्तते ।

माने वयः ॥३।३।१२०॥ द्रु शब्दान्माने विकारविशेषे वय इत्ययं ल्यो भवति । पूर्वस्य यस्यापवादः ।
द्रुवयं मानम् ।

उपफले ॥३।३।१२१॥ फलमवयवविशेषो यथा पत्रम् । अवयवविशेषे फल उत्पन्नस्य ल्यस्योऽभवति ।
आमलक्या अवयवः फलम्, आमलकम् । मयट् उप । कुवल्या अवयवः फलम्, कुवलम् । वदरम् । अरम-
यटोऽपु । सर्वत्र “ह्रुप्युप्” [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्योप् ।

सुक्ष्मादिभ्योऽण् ॥३।३।१२२॥ स्रद्ध इत्येवमादिभ्योऽण् भवति फलेऽवयवे विवक्षिते । स्रद्धस्याऽ
वयवः फलं स्रद्धम् । अण्मयटौ प्रातौ, तयोश्च पूर्वेषोपप्रातः, तदपवादोऽयम् । न्यग्रोचस्याऽवयवः फलम्,

नैयग्रोधम् । “न्यग्रोधस्य केवलस्य” [५।२।१०] इत्यैप् । अक्ष । न्यग्रोध । अश्वत्थ । इक्षुदी । शिग्रु । किततन्तु^१ । बृहती ।

जम्बवा वोश्च ॥३।३।१२३॥ फल इति वर्त्तते । जम्बूशब्दादवयवविशेषे फलेऽभिधेये वा उस् भवति अण् च । पक्षे उन्भवति । जम्बवा अवयवः फलम्, मयट उप्ति, जम्बूः फलम् । अणो वचनादुस् न भवति । जाम्बवं फलम् । उपि जम्बु फलम् ।

हरीतक्यादेः ॥३।३।१२४॥ उचिति वर्त्तते फले इति च । हरीतक्यादिभ्यः फले अवयवे उस् भवति त्यस्य । हरीतक्या अवयवः फलम्, हरीतकी फलम् । हरीतकी । पिप्पली । कोशातकी । नखरजनी । चण्डी । दोडी । श्वेतपाकी । अर्जुनपाकी । शाला । काला । द्राक्षा । शृङ्गा । गङ्गाडिका । कण्टकारिका । शेफालिका । “येषां च पार्कानिमत्तः शोषः, तेभ्यश्च उस् फले” [वा०] त्रीहयः । यवाः । माषाः । मुद्गाः । “पुष्पमूलेषु बहुलम्” [वा०] । मल्लिकायाः पुष्पम्, अवयवः, मल्लिका । नवमल्लिकाः । जाती । बृहत्या मूलमवयवः, बृहती । विटरी । अंशुमती । न च भवति उस् उवेव भवति । पाटलानि पुष्पाणि । शाल्वानि मूलानि । कर्वीरं पुष्पम् । कदम्बम् । अशोकम् । क्वचिदुमयोरभावः । वैष्णवानि फलानि । “जम्बवा हरीतक्यादिषु च उप्ति लिङ्गमेव उक्तवद् भवति न वचनम्” [वा०] । जम्बूः फलम् । जम्बौ फले । जम्बुः फलानि । हरीतकी फलम् । हरीतक्यौ फले । हरीतक्यः फलानि ।

कांस्यपारशवौ ॥३।३।१२५॥ कांस्य पारशव इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । कंसीय-परशव्यशब्दयो र्यभिण्योः परतश्छययोरुस् निपात्येते विकारेऽर्थे । यजणोरणोरनेनैव विधानम् । कांस्यार्थम्, कंसीयम् । परश्वर्थं परशव्यम् । “तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ” [३।३।११] इत्यनेन प्राक्ठणशुः । “उगावादेर्यः” [३।३।२] इति छयौ भवतः । कंसीयस्य विकारः, कांस्यम् । परशव्यस्य विकारः, पारशवम् ।

प्राग्याहृण् ॥३।३।१२६॥ “तद्वहति रथयुगप्रासङ्गाद्यः” [३।३।१६१] इति यो वक्ष्यते । प्रागेतस्माद्यसंशब्दनान्नेऽग्रे वक्ष्यन्ते तेषु ठण्प्रिक्रियते । वक्ष्यति “तेन दीव्यति खनति जयति जितम्” [३।३।१२७] इति । अक्षैर्दीव्यति आक्षिकः । शालाक्षिकः । प्राग्वचनं किम् ? अर्थविशेषे त्वान्तरेण निवर्त्तितस्य उत्तरत्रोपस्थानं यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ॥३।३।१२७॥ तेनेति भासमर्थात् दीव्यति खनति जयति जितमित्येतेष्वर्थेषु ठण् भवति । अक्षैर्दीव्यति आक्षिकः । शालाक्षिकः । अभ्रया खनति, आक्षिकः । कौदालिकः । अक्षैर्जयति, आक्षिकः । शालाक्षिकः । अक्षैर्जितम्, आक्षिकम् । शालाक्षिकम् । सर्वत्र करणे भा द्रष्टव्या । तेनेह न भवति देवदत्तेन जितमिति । दीव्यत्यादिषु त्रिषु संख्याकालाविवक्षितौ । जितशब्दे कालो विवक्षितः । क्रियाप्रधानत्वेऽप्याख्यातस्य ह्रस्वभावादेव कारकाभिधायी । आक्षिको दीव्यतीत्यनुप्रयोगः सन्देहनिवृत्त्यर्थः ।

संस्कृतम् ॥३।३।१२८॥ तेनेति वर्त्तते । भासमर्थान्मृदः संस्कृतमित्येतास्मिन्नर्थे ठण् भवति । वक्ष्यमाणान्त्संस्कृतसंस्कृतस्य को भेदः । सतो गुणामिधानं संस्कारः । मिश्रणमात्रं संसर्गः । दध्ना संस्कृतं दाधिकम् । शाङ्गवेरिकम् । मारीचिकम् । “संस्कृतं भक्षाः” [३।२।११] इत्येतदाधारविवक्षायामुक्तम् ।

कुलत्थकोडोऽण् ॥३।३।१२९॥ तेनेति संस्कृतमिति च वर्त्तते । कुलत्थशब्दात्कारोडश्च मृदोऽण् भवति । ठणोऽपवादः । कुलत्थैः संस्कृतं कौलत्थम् । कोडः, तैत्तिडीकम् । दार्दरुकम् ।

तरति ॥ ३३।१३० ॥ तेनेति वर्तते । भासमर्थान्तरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । उडुपेन तरति औडुपिकः । काण्डह्विकः । सारह्विकः । गौपुच्छिकः ।

नौद्वयचष्टः ॥ ३३।१३१ ॥ तेनेति तरतीति च वर्तते । नौशब्दाद्द्वयचश्च मृदष्टो भवति । ठणोऽपवादः । नावा तरति नाविकः । नाविका स्त्री । द्वयचः, घटेन तरति घटिकः । ह्विकः । बाहुकः ।

चरति ॥ ३३।१३२ ॥ तेनेति वर्तते । चरतिरिह भन्नणार्थो गत्यर्थश्चेष्टः । तेनेति भासमर्थान् चरति इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । इह तु करणे भा । शकटेन चरति, शाकटिकः । हारितकः ।

पर्पादेष्टट् ॥ ३३।१३३ ॥ तेनेति चरतीति च वर्तते । पर्प इत्येवमादिभ्यष्टट् भवति । ठणोऽपवादः । पर्पेण चरति, पर्पिकः । पर्पिकी । अश्विकः । अश्विकी । पर्प । अश्व । ऊषर । अश्वत्थ इति केचित् । रथ । जाल । व्यास । पादः पच्च । पदिकः । पदिकी ।

श्वगणाद्वा ॥ ३३।१३४ ॥ तेनेति चरतीति वर्तते । श्वगणशब्दाद् वा ठड् भवति । पत्ने ठण् । श्वगणेन चरति, श्वगणिकः । श्वगणिकी । श्वागणिकः । श्वागणिकी । ठणि श्वशब्दस्य द्वारादित्वादौवादेशः प्राप्तः “शवादेशावत्” [१।२।१३] इति प्रतिषेधः ।

वेतनादेर्जीवति ॥ ३३।१३५ ॥ तेनेति वर्तते । वेतनादिभ्यो भान्तेभ्यो जीवतीत्यस्मिन्नर्थे यथा विहितं ल्यो भवति । वेतनेन जीवति, वैतनिकः । वेतन । बाहु । अर्द्धबाहु । उस् । दण्ड । घनुर्दण्ड । घनुर्दण्डग्रहणं सङ्घातविग्रहीतार्थम् । वेश । उपवेश । प्रेषण । भृति । जाल । उपस्थ । सुख । शष्प । शक्ति । उपनिषत् । भिक् (हक्) । पाठ । उपस्थान ।

वस्नक्रयविक्रयाद् ॥ ३३।१३६ ॥ तेनेति जीवतीति च वर्तते । वस्न-क्रयविक्रयशब्दाभ्यां ठो भवति । वस्नं मूल्यम्, वस्नेन जीवति, वस्निकः । क्रयविक्रयेण जीवति, क्रयविक्रयिकः । उभयथा वाक्याश्रयणात् क्रयविक्रयेण जीवति, क्रयिकः । विक्रयिकः ।

छुश्चायुधात् ॥ ३३।१३७ ॥ आयुष्यतेऽनेनेत्यायुधम् । प्यञ्चर्थे (घञर्थे) कविज्ञाने स्थास्नापा-
व्यञ्चिनियुध्यर्थमिति । आयुधशब्दाद् भासमर्थान्छुश्च भवति ठश्च जीवतीत्यर्थे । आयुधेन जीवति आयुधीयः । आयुधिकः । आयुधिका स्त्री ।

हरत्युत्सङ्गादेः ॥ ३३।१३८ ॥ तेनेति वर्तते । उत्सङ्ग इत्येवमादिभ्यो भासमर्थेभ्यो हरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । उत्सङ्गेन हरति, औत्सङ्गिकः । उत्सङ्ग । उडुप । उत्तुप । उत्पुत (उत्पुत) । पिटक । पियाक ।

ठड्भस्त्रादेः ॥ ३३।१३९ ॥ भस्त्रा इत्येवमादिभ्यो भासमर्थेभ्यष्टड् भवति । भस्त्रया हरति, भस्त्रिकः । भस्त्रिकी । भस्त्रा । भरट । भरण । शीर्षभार । अंसभार । अंसभार ।

वा विवधवीवधात् ॥ ३३।१४० ॥ तेनेति हरतीति वर्तते । विवधवीवधशब्दाभ्यां वा ठड् भवति, तेन मुक्ते ठण् भवति । विवधेन हरति, विवधिकः । वीवधिकः । ठणि । वैवधिकः । स्वदेशान्वाधति^१ (विवा-
धते)वीवधः पर्याहार इत्यर्थः । तद्योगात्पत्या अपि तथोच्यते । विवधशब्दस्य पृषोदरादित्वाद्वा दीत्वम् ।

अण् कुटिलिकायाः ॥ ३३।१४१ ॥ कर्मारणामङ्गारापकर्षणी, मृद्गतां (त) पलालोत्क्षेपयो
दपडः, परित्राजकानां त्रिदण्डधारणम् । कुटिलिका । कुटिलिकाशब्दाद् भासमर्थान्दण् भवति हरत्यस्मिन्नर्थे ।
कुटिलिकया हरति, कौटिलिकः कर्मारः कर्षकः, परित्राजको वा । अन्यत्राऽपि प्रयोगोऽभ्यूहः ।

निर्वृत्तेऽच्छ्रुतादेः ॥३३१४२॥ इतीति निर्वृत्तम् । तेनेति वर्त्तते । अक्षर्युतादिभ्यो भासमर्थेभ्यो निर्वृत्तेऽर्थे ङण् भवति अक्षर्युतेन निर्वृत्तम्, आक्षर्युतिकम् । अक्षर्युत । जङ्घाप्रहत । जङ्घाप्रहत । पादस्वेदन । कण्टकमर्दन । शर्करामर्दन । गतागत । यातोपयात । अनुगत ।

भावादिसः ॥३३१४३॥ तेनेति निर्वृत्त इति च वर्त्तते । भाववाचिनो मृदो भासमर्थानिर्वृत्तेऽर्थे इम इत्ययं ल्यो भवति । कुट्टेन निर्वृत्ता, कुट्टिमा भूमिः । मेकिमोऽसिः । पाकिम ओदनः ।

त्रेः ॥३३१४४॥ व्यन्ताच्च इमो भवति तेनेति निर्वृत्तेऽर्थे । पूर्वेण सिद्धे पुनरारम्भो वाक्यनिवृत्त्यर्थः । अस्वपदेनार्थः प्रदर्शयते । पाकेन निर्वृत्तम्, पक्त्रिमम् । वापेन निर्वृत्तम्, उप्त्रिमम् । करणेन निर्वृत्तम्, कृत्रिमम् । भावे “ड्वित्तः क्विन्नः” [२।३।७०] इति क्विन्नः ।

नित्यम् ॥ ३।३।१४५ ॥ व्यन्तं नित्यमिमविषयं वेदितव्यम् । यथाऽन्ये भाववाचिनो निर्वृत्तार्थादन्यत्रापि प्रयुज्यन्ते । पाको वर्त्तते । सेको वर्त्तते, इति निर्वृत्तार्थे वाक्यं वृत्तिश्च भवति, तथा व्यन्तस्य त्रैलोक्यं मा भूत् इत्येवमर्थमिदमुच्यते । पूर्वेण वाक्यनिवृत्तिः कृताऽनेनेमविषयादन्यत्र प्रयोगो निषिध्यते ।

याचिताऽपमित्यात्करण ॥३३१४६॥ तेनेति निवृत्तमिति च वर्त्तते । याचित-अपमित्यशब्दान्यां कण् भवति । याचितेन निर्वृत्तं याचितकम् । आपमित्यकम् । “माङ्गो व्यतिहारे” [२।३।५] इति त्वात्यः । “वेमेङ्कः” [३।३।६६] इत्यम् । अभान्तादपि वचनात्यः । अपमित्य इत्यनेन निर्वृत्तम् इत्येवं विग्रहे शब्दान्तरेण करणत्वं व्यज्यते ।

संसृष्टे ॥३३१४७॥ तेनेति वर्त्तते । भासमर्थान्मृदः संसृष्टेऽर्थे ङण् भवति । संसृष्टं मिश्रितम् । दध्ना संसृष्टम्, दाधिकम् । मारीचिकम् । “चूर्णादिन् वक्तव्यः” [वा०] । चूर्णेन संसृष्टाः, चूर्णिनो धानाः । चूर्णिनोऽपूपाः । इह कस्मान्न भवति । लवणेन सैन्धवादिना संसृष्टमिति ? अनभिधानात् । कथं लवणः सूपः, लवणं शाकम्, लवणा यवागूरिति ? गुणवाचिनो लवणशब्दस्य तद्योगात् द्रव्ये वृत्तिरियम् । यथा कषायमुदकम् । कटुकमुदकमिति ।

मुद्गादण् ॥३३१४८॥ मुद्गाशब्दाद् भान्तादण् भवति संसृष्टेऽर्थे । ङणोऽपवादः । मौद्ग ओदनः ।

व्यञ्जनैरुपसिक्ते ॥३३१४९॥ तेनेति वर्त्तते । समर्थविभक्त्युपादानं तस्यैव व्यक्तये । व्यञ्जन-वाचिभ्यो भासमर्थेभ्य उपसिक्तेऽर्थे ङण् भवति । दध्ना उपसिक्तं दाधिकं भक्तम् । वार्तिकः सूपः । व्यञ्जनैरिति किम् ? उदकेन उपसिक्त ओदनः । बहुत्वनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः ।

ओजः सहोऽम्भसा वर्त्तते ॥३३१५०॥ तेनेति वर्त्तते । निर्देशाद् वासमर्थविभक्त्युपादानम् । ओजःप्रभृतिभ्यो भासमर्थेभ्यो वर्त्तते इत्यस्मिन्नर्थे ङण् भवति । ओजसा वर्त्तते, औजसिकः । साहसिकः । आम्भसिकः ।

तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलात् ॥३३१५१॥ तदिति इप्समर्थेभ्यः प्रति अनु इत्येवंपूर्वेभ्यः ईपलोमकूलशब्देभ्यो वर्त्तते इत्यस्मिन्नर्थे ङण् भवति । वृत्तिः क्रियासामान्ये वर्तमानः सकर्मकः । वर्त्तते आचरतीत्यर्थः । अपः प्रति, प्रतीपम् । “वीप्सेत्थंभूतलक्षणेऽभिनेप्” [१।३।११] । “भागे चानुप्रति-परिणा” [१।३।१२] इति लक्षणेऽर्थे ईप् । “लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती [१।३।११] इति हसः । “द्वयन-गेरीदपः” [३।३।२०२] इति ईत्वम् । भावप्रधाना चेयं वृत्तिः । समुदायात्कर्मणीप् । प्रतीप वर्त्तते प्राती-पिकः । अनुर्यथार्थे वर्त्तमानः अप्शब्देन सह हलो भवति । आन्वीपिकः । प्रतिलोम वर्त्तते, प्रातिलोमिकः ।

आनुलोमिकः । हसे कृते “प्रत्यन्ववात्सामडोमनः” [४।२।७१] इति अः सान्तः । प्रातिकूलिकः । आनुकूलिकः । अथवा प्रतिगता आपोऽस्मिन्निति प्रतीपम् इति । एवं सर्वत्र वसः कर्तव्यः ।

परिमुखम् ॥३।३।१५२॥ तदिति वर्तते । परिमुखशब्दात् इप्समर्थाद् वर्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । मुत्वात्परि परिमुखम् । “वर्जनेऽपपरिभ्याम्” [१।४।२१] इति का । “पर्यपाङ्बहिरञ्चवः कया” [१।३।१०] इति हसः । परिमुखं वर्तते पारिमुखिकश्चौरः । सर्वतो मुखं वा परिमुखम् । प्रादिलङ्घनः सः । पारिमुखिकः । “परिपाश्र्वाञ्चेति वक्तव्यम्” [वा०] । पारिपार्श्विकः ।

प्रयच्छति गर्हाम् ॥३।३।१५३॥ तदिति वर्तते । तदिति इप्समर्थात्प्रयच्छति इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति यत्तदिप्समर्थं चेत्तद् भवति । द्विगुणं प्रयच्छति, द्वैगुणिकः । त्रैगुणिकः । “(वृ) द्वेष्टणि वृष्टुषि-भावो वक्तव्यः” [वा०] । वृद्धिं प्रयच्छति वार्धुषिकः । यदि प्रकृत्यन्तरमस्ति, अन्वयिकन्यायेन तस्मादेव त्यः । गर्हामिति किम् ? द्विगुणं प्रयच्छत्यधमर्थाः ।

कुसीददशैकादशादृष्टौ ॥३।३।१५४॥ तत्प्रयच्छति गर्हाम् इति च वर्तते । कुसीद-दशैकादश-शब्दाभ्यां प्रयच्छतीत्यस्मिन्नर्थे यथासंख्यं ठट् ठ इत्येतौ ल्यौ भवतः ठणोऽपवादौ । कुसीदम् ऋणं वृद्धिर्वा । कुसीदं प्रयच्छति, कुसीदिका । कुसीदिकी । एकादशार्थां दश दशैकादश निपातनात्सः । तान् प्रयच्छति, दशैकादशिकी । दशैकादशिका ।

रक्षत्युच्छति ॥३।३।१५५॥ तदिति इप्समर्थाद् रक्षति उच्छति इत्येतयोरर्थयोश्च ठण् भवति । समाजं रक्षति, सामाजिकः । नागरिकः । वदराण्युच्छति वादरिक । नैवारिकः ।

शब्ददुर्करं करोति ॥३।३।१५६॥ इप्समर्थाभ्यां शब्ददुर्करशब्दाभ्यां करोत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । शब्दं करोति, शाब्दिकः । वैयाकरण इत्यर्थः । दार्दुरिकः कुम्भकारः । तदित्यधिकारे पुनः समर्थविभक्त्युपादानं लौकिकप्रयोगाऽनुसरणार्थम् । तेनेह न भवति । शब्दं करोति वायसः । “अस्मिन्प्रकरणे तदाहेतिःमाशब्दा-दिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] माशब्द इत्याह माशब्दिकः । नैत्यशब्दिकः । कार्यशब्दिकः । वाक्यादिदं विधानम् । “प्रभूतादिभ्यश्च” [वा०] तदाहेति वर्तते । प्रभूतमाह प्रामूतिकः । पार्थ्यातिकः । “पृच्छतौ सुस्नातादिभ्य इप्समर्थेभ्यः” [वा०] । सुस्नातं पृच्छति, सौस्नातिकः । सौखरात्रिकः । सौखशायनिकः । “गच्छतौ परदाशदिभ्य इप्समर्थेभ्यः” [वा०] । परदारं गच्छति, पारदारिकः । गौरुतल्पिकः ।

पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति ॥३।३।१५७॥ तदिति इप्समर्थेभ्यः पक्षिमत्स्यमृगेभ्यो हन्तीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । स्वरूपस्य पर्यायाणां तद्विशेषाणाञ्च ग्रहणम् । पक्षिणो हन्ति, पक्षिकः । नारुयस्याभिधानमित्येके । पर्यायशब्दस्य शकुनेरेव ग्रहणम् । शाकुनिकः । तैत्तिरिकः । मायूरिकः । मत्स्य, मात्स्यिकः । पर्यायस्य मीन-शब्दस्यैव अनिमिषादिषु न भवति । शाफरिकः । रौहितिकः । मृग, मार्गिकः । हारिणिकः । सौकरिकः । सारङ्गिकः ।

परिपन्थं तिष्ठति ॥३।३।१५८॥ परिपन्थशब्दादिप्समर्थात् तिष्ठतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति “काङ्-भावाऽध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकमेणाम्” [वा०] इति कर्मभावादिप् । परिपन्थं तिष्ठति पारिपन्थिकश्चौरः । पन्थानं वर्जयित्वा व्याप्य वा तिष्ठतीत्यर्थः । “हन्तीत्यपि वक्तव्यम्” [वा०] । परिपन्थं हन्ति, पारिपन्थिकः । परिपथपर्यायः परिपन्थशब्दोऽस्ति तस्यायं प्रयोगः ।

माथद्युपद्व्यनुपदाक्रन्दं धावति ॥३।३।१५९॥ तदिति वर्तते । माथद्यु पदवी अनुपद आक्रन्द इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्यो धावतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । माथशब्दो मार्गपर्यायः । दण्डमाथं धावति, दण्ड-

माथिकः । मौलमाथिकः^१ । पदस्य वी पदवी । “वेजो ङित्” इति इकारो ङित् । “सर्वतोऽन्त्यर्थादित्येके” [३।१।३१ ग० सू०] इति ङीविधिः । तां धावति, पादविकः । पदस्य पश्चाद्धावतीति, अनुपदिकः । आक्रन्दिकः ।

पदद्योगृह्णाति ॥३।३।१६०॥ तदिति वर्तते । पदद्युशब्दाद् इप्समर्थाद् गृह्णातीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । आदिपदं गृह्णाति, आदिपदिकः । पौर्वपदिकः । औत्तरपदिकः ।

प्रतिकण्ठललामार्थात् ॥३।३।१६१॥ तदिति गृह्णातीति च वर्तते । प्रतिकण्ठ ललाम अर्थं इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्यो गृह्णातीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । कण्ठं प्रति, प्रतिकण्ठम् । “लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती” [१।३।११] इति हसः । प्रतिकण्ठं गृह्णाति, प्रातिकण्ठिकः । प्रतिगतः कण्ठः, प्रतिकण्ठः इत्यत्राभिधानं नास्ति । “पुरुषध्वजशृङ्गेषु हविर्भूषणलक्ष्मसु । वामश्रेष्ठावनीन्द्रेषु ललाभं नवसु स्मृतम् ॥” लालामिकः । आर्थिकः ।

धर्मं चरति ॥३।३।१६२॥ धर्मशब्दादिप्समर्थाच्चरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । तदिति वर्तमाने पुनः समर्थविभक्त्युपादानं किम् ? आसेवायां यथा स्यात् । सुहुसुहुधर्मं चरति, धार्मिकः । “अधर्माश्चेति वक्तव्यम्” [वा०] । आधार्मिकः ।

प्रतिपथमेति ठञ्च ॥३।३।१६३॥ प्रतिपथशब्दादिप्समर्थादेतीत्यस्मिन्नर्थे ठो भवति ठण् च । प्रतिपथमेति, प्रतिपथिकः । प्रातिपथिकः ।

समवायात्समवैति ॥३।३।१६४॥ समवायवाचिभ्य इप्समर्थेभ्यः समवैतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । बहुलनिर्देशात्तस्य तत्पर्यायाणां च ग्रहणम् । समवायं समवैति, सामवायिकः । सामूहिकः । सामाजिकः । सांसदिकः ।

परिषदो ण्यः ॥३।३।१६५॥ तदिति वर्तते । परिषच्छब्दादिप्समर्थात् समवैतीत्यस्मिन्नर्थे ण्यो भवति । ठण्योऽपवादः । परिषदं समवैति, पारिषद्यः ।

सेनाया वा ॥३।३।१६६॥ सेनाशब्दादिप्समर्थाद्वा ण्यो भवति समवैतीत्यस्मिन्नर्थे । पद्मे ठण् भवति । सेनां समवैति सैन्यः । सैनिकः ।

लालाटिककौक्कुटिकौ ॥३।३।१६७॥ लालाटिककौक्कुटिकशब्दौ निपात्येते । ललाटकुकुट्टीशब्दाभ्यामिप्समर्थ्यां पश्यतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् निपात्येते । ललाटं पश्यति, लालाटिकः सेवकः । कुक्कुटीशब्देन कुक्कुटीपातमात्रो देशो लक्ष्यते । कुक्कुटीं पश्यति, कौक्कुटिको भिक्षुः । पुरो युगमात्रदेशप्रेक्षीत्यर्थः ।

तस्य धर्म्यम् ॥३।३।१६८॥ धर्म्यं न्याय्यम् । तस्येति तासमर्थाद् धर्म्यमित्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । शुल्कशालायां धर्म्यम्, शौल्कशालिकम् । आतरिकम् । आपणिकम् ।

ऋन्महिष्यादेरण् ॥३।३।१६९॥ तस्य धर्म्यमिति वर्तते । ऋकारान्तान्मृदः महिषी इत्येवमादिभ्यश्चाण् भवति । ठण्योऽपवादः । मातुर्धर्म्यं मात्रम् । पैत्रम् । हौत्रम् । शास्त्रम् । महिष्यादिभ्यः । महिष्या धर्म्यम्, माहिषम् । महिषी । प्रजावती । केषाञ्चित् प्रजापतीति पाठः । प्रलोपिका । विलोपिका । अनुलोपिका । वर्णकपेषिका । ‘मस्य हृत्ये’ [३।३।१४७ वा०] इति पुंवद्भावः प्राप्तः “न बुद्धत्कोळः” [३।३।१४६] इति प्रतिषिध्यते । “विभक्तिसुतरिः खं च” [वा०] । विशसितुर्धर्म्यं वैशसम् । “विभाजयितुर्धर्म्यं वैभाजितम्” [वा०] । विभाजयितुर्धर्म्यं वैभाजितम् ।

अवक्रयः ॥ ३।३।१७० ॥ तस्येति वर्तते । तस्येति वासमर्थान्मृदोऽवक्रय इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । अवक्रयैतेऽनेनेत्यवक्रयः । अन्याय्यमपि स्वेच्छया परिकल्पितपरिमाणम् । द्रव्यमेकत्र पिण्डितमित्यर्थः । शुल्कशालायामवक्रयः शौल्कशालिकः । आतरिकः । आपणिकः । गौल्मिकः ।

तदस्य पण्यम् ॥ ३।३।१७१ ॥ तदिति वासमर्थान् पण्यविशिष्टादस्येति तार्थे ठण् भवति । अपूपाः पण्यमस्य, आपूपिकः । शाष्कुलिकः ।

किसरादेष्टट् ॥ ३।३।१७२ ॥ तदस्य पण्यमिति वर्तते । किसर इत्येवमादिभ्यष्टट् भवति । ठणोऽपवादः । किसरं पण्यमस्य, किसरिको गन्धिकः । किसर । नलद । स्थगर । तगर । उसी(शी)र । गुग्गुलु । हरिद्रा । हरिद्रुपर्णी ।

शलालुनो वा ॥ ३।३।१७३ ॥ तदस्य पण्यमिति वर्तते । शलालुशब्दाद्वा ठट् भवति । पन्ने ठण् भवति । शलालु पण्यमस्य, शलालुकः । शलालुकः ।

शिल्पम् ॥ ३।३।१७४ ॥ तदस्येति वर्तते । शिल्प क्रियाविशेषे नैपुण्यम् । तदिति वासमर्थान्दस्येति तार्थे ठण् भवति, यत्तद्वानिर्दिष्टं शिल्पं चेत्तद् भवति । (मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य, मार्दङ्गिकः ।) मृदङ्गवादनं मृदङ्गशब्द उपचर्यते, तस्मादेव त्यः । एवं पाणविकः । वैणविकः ।

मडुकभर्भरद् वाऽण् ॥ ३।३।१७५ ॥ तदस्य शिल्पमिति वर्तते । मडुकभर्भरशब्दाभ्यां वाऽण् भवति । अणाऽनुक्ते ठण् भवति । मडुकवादनं शिल्पमस्य, माडुकः । माडुकिकः । भार्भरः । भार्भरिकः ।

प्रहरणम् ॥ ३।३।१७६ ॥ तदस्येति वर्तते । वासमर्थान्प्रहरणोपाधिविशिष्टान्मृदः अस्येति तार्थे ठण् भवति । असिः प्रहरणमस्य, आसिकः । त्साहकः । धानुष्कः ।

शक्त्रियष्टेष्टोकण् ॥ ३।३।१७७ ॥ शक्त्रियष्टिशब्दाभ्यां टीकरणं भवति तदस्य प्रहरणमित्यस्मिन्निषये । ठणोऽपवादः । शक्त्रिः प्रहरणमस्य, शाक्त्रीकः । याष्टीकः । इकारोच्चारणसामर्थ्यात् 'यस्य ङ्याञ्च' [४।३।१३६] इति खं न भविष्यति (इति) दीलोच्चारणं किम् ? अन्यत्रापि यथा स्यात् । अन्तः (अम्भः) प्रहरणमस्य, आन्तसीकः (आम्भसीकः) । इषं प्रहरणमस्य ऐषीकः । बहिर्भवः बाहीक इति ।

नास्तिकास्तिकद्वैष्टिकाः ॥ ३।३।१७८ ॥ नास्तिकादयः शब्दा निपात्यन्ते । नास्ति अस्ति दिष्ट इत्येतेभ्यः शब्देभ्यो मतिविशिष्टेभ्योऽस्येति तार्थे ठण् निपात्यते । परलोको नास्तीति मतिरस्य, नास्तिकः । परलोकोऽस्तीति मतिरस्य, आस्तिकः । दिष्टं दैवतं तत्प्रमाणमस्य, द्वैष्टिकः । निपातनाद्वाक्यादपि त्वविधानम् ।

शीलम् ॥ ३।३।१७९ ॥ तदस्येति वर्तते । वासमर्थान्दस्येति तार्थे ठण् भवति वासमर्थं शीलं चेद् भवति । अपूपमन्वर्णं शीलमस्य, आपूपिकः । तात्स्थ्यात्ताच्छब्दमिति अपूपशब्दान्त्यः । एवं शाष्कुलिकः । मौदकिकः ।

छत्रादेर्गाः ॥ ३।३।१८० ॥ तस्य शीलमिति वर्तते । छत्र इत्येवमादिभ्यो णो भवति । ठणोऽपवादः । छत्रमावरणं तद्वद्गुरुकार्यैश्वरहितत्वम् । छत्रं शीलमस्य, छत्रः । शिष्यः शीलमस्य^१ शैष्यः । छत्र शिष्य^२ । मुन्ना^३ । भिन्ना । तितित्ना । जुरा । उदस्थान । कृषि । कर्मन् । तपस् । पुरोड । आस्था । संस्था । अवस्था । विश्वधा । सत्य । अमृत । पिसिक (शिविका) ।

१. शिक्षा (क्षा) शीलमस्य शैष्यः अ०, पू० । २. शिक्ष (क्षा) अ०, पू० । ३. सुक्षा (उसुक्षा) अ०, पू० ।

कर्माध्ययने वृत्तम् ॥३३१८१॥ तदस्येति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्येति तार्थे ठण् भवति यत्तद् वासमर्थं कर्म चेद्वृत्तमध्ययनविषयं तद्भवति । एकमन्यदध्ययने कर्म वृत्तमस्य, ऐकान्यिकः । किम्पु-नस्तदेकमन्यदध्ययने कर्म ? ऋपगठः । एवं द्वैयन्यिकः । त्रैयन्यिकः । सर्वत्र हृदर्थे रसः । ततष्टण् ।

बह्वजादेष्टः ॥३३१८२॥ बह्वच् पदमादिर्यस्य तस्मान्मृदष्टो भवति । ठणोऽपवादः । तदस्य कर्माध्ययने वृत्तमिति वर्तते । द्वादश अन्यानि अपपाठलक्षणानि अध्ययने कर्माणि दत्तान्यस्य, द्वादशान्यिकः ।

हितमस्मै भक्ष्यः (जाः ॥३३१८३॥ तदिति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्मै इत्येतदर्थे ठण् भवति यत्तद् वासमर्थं हितं भक्षाश्चेत्तद् भवन्ति । अप्पभक्ष्यां हितमस्मै, आपूपिकः । शाष्कुलिकः । इदमेव ज्ञापकं हितयोगेऽप भवति ।

तद्दीयते नियुक्तम् ॥३३१८४॥ अस्मै इति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्मै इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति यत्तद् वासमर्थं तच्चेद्वदीयते । नियुक्तं नियमेन युक्तं नियुक्तमित्यर्थः । अग्रभोजनमस्मै दीयते नियुक्तम्, आग्रभोजनिकः । आपूपिकः । आणाऽस्मै दीयते नियुक्तम्, आणिकः । शाणौ (कौ) दनिकः । “ओदनशब्दाद् वक्तव्यः” [ध०] ओदनिकः । ओदनिकी ।

भक्ताद् वाऽण् ॥३३१८५॥ तदस्मै दीयते नियुक्तमिति वर्तते । भक्तशब्दाद् वाऽण् भवति । पठे ठण् भवति । भक्तमस्मै दीयते नियुक्तम्, भाक्तः । भाक्तिकः ।

तत्र नियुक्तः ॥३३१८६॥ अधिकृतो नियुक्तः । तत्रेतीप्समर्थाद् नियुक्त इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । शुल्कशालायां नियुक्तः, शौल्कशालिकः । आन्तपटलिकः । दौवारिकः ।

ठोऽगारान्तात् ॥३३१८७॥ तत्र नियुक्त इति वर्तते । अगारान्तान्मृदष्टो भवति । ठणोऽपवादः । भाण्डागारे नियुक्तः, भाण्डागारिकः । कोष्ठागारे नियुक्तः, कोष्ठागारिकः ।

अध्यायिन्यदेशकालात् ॥३३१८८॥ अध्येतुं शीलमस्येति, अध्यायी । ईप्समर्थाद्देशवाचिनो-ऽकालवाचिनश्च मृदोऽध्यायिन्यभिधेये ठण् भवति । अध्यायिनीत्युक्त्वात्, तत्सम्बन्धात् अध्ययनस्य देशकालौ पर्युदस्येते । अशुभावधीते, आशुचिकः । सान्ध्यावेलिकः । आनध्यायिकः । अदेशकालाविति किम् ? चैत्यालयेऽधीते । पूर्वाह्णेऽधीते ।

कठिनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु व्यवहरति ॥३३१८९॥ व्यवहरति, अनुतिष्ठति । तत्रेत्यनुवृत्तेर्निर्देशाद् वासमर्थविभक्त्युपादानम् । कठिनशब्दान्तान्मृदः प्रस्तार-संस्थानशब्दाभ्यां च व्यवहरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । वंशकठिने व्यवहरति, वांशकठिनिकः । वार्द्धकठिनिकः । प्रास्तारिकः । संस्थानिकः । अन्तग्रहणं मध्ये कृतमपि केचिदुत्तरयोः सम्बन्धन्ति ।

निकटावसथे वसति ॥३३१९०॥ तत्रेति वर्तते । निकट-अवसथशब्दान्यामीप्समर्थाभ्यां वसतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । निकटमविदूरम् । निकटे वसति, नैकटिकः । आवसथिकः ।

तद् वहति रथयुगप्रसङ्गाद्यः ॥३३१९१॥ दम्यानां स्कन्धकाष्ठं प्रसङ्गः । तद्वितीप्समर्थेभ्यो रथयुग-प्रसङ्गशब्देभ्यो वहतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति । य इत्ययं चाऽधिकार आपादपरिसमाप्तेर्वैदितव्यः ।

रथं वहति, रथ्यः । युग्यः । प्रासङ्ग्यः । इहानभिधानान्न भवति । कालसंज्ञिनं युगं वहति राजा । युगं वहति मनुष्यः । “शकटादण् वक्तव्यः” [वा०] शकटं वहति शाकटो गौः । “हलसीराट्ठण् वक्तव्यः” [वा०] हलं वहति हालिकः । सैरिकः । नेदं वक्तव्यम्; शकटस्य वोढा हलस्य वोढा इत्येवं विग्रहे शेषि-केषाणां “हलसीराट्ठण्” [३।३।१२] इति ठणा च सिद्धम् । तर्हि रथग्रहणमप्यनर्थकम् । “रथाद्यः” [३।३।२६] इत्यनेन सिद्धत्वात् । तदन्तार्थमिह रथग्रहणम् । द्वौ रथौ वहति, द्विरथः । अत्र प्राग्द्रवीयस्य ‘रस्योबनपत्ये’ [३।१।७४] इत्युप् प्रसज्यते ।

धुरो ढण् वा ॥३।३।१६२॥ धूःशब्दाद् वहतीत्यस्मिन्नर्थे ढण् भवति यश्च । प्रकृतिविशेषादण्वा विधीयमानेन यस्य बाधने प्राप्तेऽनेन समुच्चयः क्रियते । न त्वनुकर्षः । उत्तरत्राऽप्यनुवृत्तेः । धुरं वहति, धुरैर्यः । धुर्यः ।

सर्वैकाभ्यां खः ॥३।३।१९३॥ तद्वहतीति वर्तते । सर्व-एकशब्दाभ्यां परस्या धुरः खो भवति । सर्वा धूः, सर्वधुरा । “पूर्वकालौकसर्वे” [१।३।४४] इत्यादिना षसः । सर्वधुरां वहति, सर्वधुरीणः । एक धुरीणः । “एकधुराशब्दात्खस्योस् वक्तव्यः” [वा०] एकधुरं वहति, एकधुरः । न वक्तव्यः । एकस्या धुरो वोढेभ्या (त्या) गतस्याणः “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्युपा सिद्धम् । इष्टसङ्ग्रहार्थश्चकारोऽनुकर्त्यः । उत्तरधुरीणः ।

विध्यत्यकरणेन ॥३।३।१९४॥ तदिति वर्तते । इप्समर्थान्मृदः विध्यतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति न चेत्करणेन विध्यति तदिति । पादं विध्यति पद्याः शर्कराः । “पद्ये” [४।३।१६४] इति पादस्य पदादेशः । ऊरव्याः कण्टकाः । अकरणेनेति किम् ? पादं विध्यति धनुषा । प्रतीयमानेऽपि धनुषः करणत्वेनानभिधानान्न भवति । शकं विध्यति । चोरं विध्यति राजा ।

जन्यघेनुष्यान्नवश्यवन्थगण्यपद्यमूल्यहृद्यसतीर्थ्यगार्हपत्याः ॥३।३।१९५॥ जन्यादयः शब्दा निपात्यन्ते । जनी वधूः, तां वहतीत्यत्रार्थे यः । जन्याः परिणेतुसहायानामिव संज्ञा । “घेनुष्येति संज्ञायाम् घेनुशब्दाद्यः शुक्चागमः” प्रकृष्टा घेनुर्धेनुष्या । या गोपालाय दोहार्थं दीयते । अन्यत्र घेनुतरेति भवति । अन्नं लब्धेत्यस्मिन्वाक्ये अन्नाण्यो निपात्यते । आन्नः । वशं गत इत्यस्मिन्वाक्ये वशशब्दाद्यः । वश्यः । विनेय इत्यर्थः । अनगण्यशब्दाभ्यामिबन्ताभ्यां लब्धरि यः । वनं लब्धा वन्यः । गणं लब्धा गण्यः । पदमस्मिन् दृश्यते अस्मिन्वाक्ये पादशब्दाद्यः । पद्यं हिमम् । पद्यः कर्दमः । पदमस्मिन्द्रष्टुं शक्यमित्यर्थः । ‘मूलमस्यावर्हि’ इत्यस्मिन्वाक्ये मूलशब्दाद्यः । मूल्या मुद्गाः । मूल्या माषाः । मूलोत्पादेन सङ्ग्राह्या इत्यर्थः । अथवा मूलेन समं मूल्यं वन्नम् । मूलेनानम्यं वा मूल्यम् । हृदयस्थ प्रिय इत्यस्मिन् वाक्ये हृदयशब्दाद्यः । “हृदयस्य हृत्लेखयाण्लासेषु” [४।३।१६१] इति हृदादेशः । हृद्यो देशः । हृद्यमन्नम् । हृदयस्य बन्धन-मृषिः हृद्यः । वशीकरणमृत इत्यर्थः । समाने तीर्थे वसतीत्यस्मिन्वाक्ये समानतीर्थशब्दाद्यः । समानस्य च समावः । सतीर्थ्यः । गृहपतिना संयुक्त इत्यस्मिन्वाक्ये गृहपतिशब्दात् संज्ञायाम् व्यो निपात्यते । गार्ह-पत्योऽग्निः ।

वयस्तुलाभ्यां सम्मिते ॥३।३।१९६॥ निर्देशादेव भाया उपादानम् । वयस्तुला इत्येताभ्यां भा-समर्थाभ्यां सम्मितेऽर्थे यो भवति । वयसा सम्मितः, वयस्यः । संज्ञायामभिधानम् । अन्यत्र वयसा सम्मितः शत्रु-रित्येव । तुलया सम्मितं तुल्यम् । सदृशमित्यर्थः ।

नौधर्मविषसीताभ्यस्तार्थप्राप्तबध्यसमितेषु ॥३।३।१९७॥ त्थार्थवसाद्भासमर्थादिति लभ्यते । नावादिभ्यश्चतुर्थ्यो भासमर्थेभ्यो यथासंख्यं तार्थादिषु यो भवति । नावा तार्थं नाव्यमुदकम् । “यि त्ये” [४।३।६७] इत्यावादेशः । प्राक्नेन धर्मेण प्राप्तं धर्मम् । वद्वनार्थं तु धर्मादानपेतं धर्मं न्याय्यमुच्यते ।

विषेण वध्यः, विष्यः। वध इति प्रकृत्यन्तरम् । वधमर्हति, वध्यः । सीतया समितं सङ्गतं सीत्यं क्षेत्रम् । “रथसीता-
हलेभ्यो यविधौ तदन्तविधिरपीष्यते” [वा०] परमसीत्यन् । द्विसीत्यम् ।

धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते ॥३१३१६८॥ निर्देशादेव समर्थविभक्त्युपादानम् । धर्मं पथिन् अर्थं
न्याय इत्येतेभ्यः कासमर्थेभ्योऽनपेतेऽर्थे यो भवति । धर्मादनपेतं धर्म्यम् । पथ्यम् । अर्थ्यम् । न्याय्यम् ।

छन्दसा निर्मिते ॥३१३१६९॥ छन्द इच्छा । निर्मितमुत्पादितम् । निर्देशादेव भासमर्थाच्छन्दःशब्दात्
निर्मितेऽर्थे यो भवति । छन्दसा निर्मितः, छन्दस्यः ।

उरसाऽण् च ॥३१३२००॥ निर्देशाद् भाया उपादानम् । उरःशब्दाद् भासमर्थाच्चिर्मितेऽर्थेऽण्
भवति यश्च । उरसा निर्मितः, औरसः । उरस्यः ।

मदजनहलात्करणजल्पकर्षेषु ॥३१३२०१॥ मद जन हल इत्येतेभ्यो यथासंख्यं करण जल्प कर्ष
इत्येतेष्वर्थेषु यो भवति । करणादयः शब्दा भावे करणे वा व्युत्पादयितव्याः । तेन सामर्थ्यात्चोत्पत्तिः । मदकस्य
करणं मद्यम् । मदस्थाने केचिन्मतशब्दं पठन्ति, तेषां मत्यमिति भवति । जनस्य जल्पः, जन्यः । हलस्य कर्षः,
हल्यः । द्विहल्यः । परमहल्यः ।

तत्र साधुः ॥३१३२०२॥ तत्रेतीप्समर्थात्साधुरित्येतस्मिन्नर्थे यो भवति । सामनि साधुः,
सामन्यः । कर्मण्यः । सम्यः । शरण्यः । साधुरिह योग्यो निपुणो वा न तु हितः, तत्र हि प्राकृष्टणीय
एव त्यः ।

प्रतिजनादेः खञ् ॥३१३२०३॥ तत्र साधुरिह वर्तते । प्रतिजन इत्येवमादिभ्यः खञ् भवति ।
यस्याऽपवादः । जनं जनं प्रति, प्रतिजनम् । यथार्थे हसः । प्रतिजने साधुः, प्रातिजनीनः । प्रतिजन । इदंयुग ।
संयुग । परयुग । परकुल । परस्यकुल । अमुष्यकुल । निपातनात्ताया अनुप् । सर्वजन । विश्वजन । पञ्चजन ।
महाजन । योऽत्र हितार्थः साध्वर्थः, तत्र वचनात्प्राकृष्टणीयस्य बाधा ।

भक्ताणः ॥३१३२०४॥ तत्र साधुरिह वर्तते । भक्तशब्दात्पणो भवति । यस्याऽपवादः । भक्ते
साधुर्भाक्तस्तन्दुलः ।

परिषदो रयः ॥३१३२०५॥ तत्र साधुरिति वर्तते । परिषच्छब्दात्पणो भवति । यस्याऽपवादः ।
परिषदि साधुः, पारिषद्यः । योऽप्यत्राऽनुवृत्तिरिष्यते । परिषदि साधुः, पारिषदः ।

कथादेष्टण् ॥३१३२०६॥ तत्र साधुरिति^१ वर्तते । कथा इत्येवमादिभ्यष्टण् भवति । यस्याऽपवादः ।
कथायां साधुः, काथिकः । कथा । विकथा । विश्वकथा । संकथा । वितन्त्रा । कुष्टिदा (कुष्टचित्) । जनवाद ।
जनेवाद । चित्र । वृत्ति । सङ्ग्रह । गण । गुण । आयुर्वेद । गुड । कुल्यास (कुल्माष) । सक्तु ।
अपूप । मांसौदन । इक्षु । वेणु । संग्राम । संघात । प्रवास । निवास । उपवास ।

पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ह्व ॥३१३२०७॥ तत्र साधुरिति वर्तते । पथ्यादिभ्यो ढञ् भवति ।
यस्यापवादः । पथि साधु पाथेयम् । आतिथेयम् । वासतेयम् । स्वापतेयम् ।

समानोदरे शयितः ॥३१३२०८॥ तत्रेति वर्तते । निर्देशाद् वा (ईप्समर्थात्) समानोदरशब्दात्
शयित इत्यस्मिन्नर्थे यो भवति । समानोदर्यः । सोन्दर्यः । “चोदर्ये” [४३११६४] इति समानस्य
सदेशः । कथं तर्हि सोदरशब्दस्य सिद्धिः ? “समानस्य” [४३११६२] इति योगविभागात् ।

इत्यभयनन्दिचरितायां जैनेन्द्रमहावृत्तां तृतीयस्याऽध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

प्राकठशब्दः ॥३।४।१॥ वक्ष्यन्ति (ति) “आर्हाट्टयू” [३।४।१७] प्रागेतस्माद्गण संशब्दनाद्वयेऽर्था वक्ष्यते (न्ते) तेषु छोऽधिकृतो वेदितव्यः । वक्ष्यति “तस्मै हितम्” [३।४।४] । वत्सेभ्यो हितः, वत्सीयः । अत्र-त्सीयः । करभीयः । प्राग्वचनं किम् ? अर्थविशेषेऽपवादेन निवर्त्त (ति) ते पुनरर्थान्तर उपस्थानं यथा स्यात् । नन्ववि (धि) क्रागादेवापत्तः त्विष्यदेऽपुपस्वः प्राप्नोति । नैतदेवम् । तत्र तत्र वाग्रहणाच्चकारकरणाच्चापवादा-विषयपरिहारो गम्यते ।

उगवादेर्यः ॥३।४।२॥ प्राकठण इति वर्तते । उवर्णान्तान्मृदो गवादिभ्यश्च यो भवति प्राकठणोऽ-र्थेषु । छ्वाऽपवादः । शङ्क्यं दारु । परशव्यमयः । पिचव्यः कर्पासः । गवादिभ्यः । गव्यम् । हविष्यम् । गो । हविष् । इह हविरिति स्वरूपग्रहणम् । अष्टका । वर्हिष् । युग । मेघा । लुव् (लुक्) । नाभि नभं वा । नभ्यो-ऽन्तः । नभ्यम् । नम् । “सु (शु) नोजिर्वाचदीत्वम्” [वा०] सू (शू) न्यम् । सु (शु) न्यम् । ऊधसो नश्च । ऊधन्यः । कूप । अक्षर । दर । खर । दवद । त्व (स्व) द । विष ।

हविरपूपादेर्वा ॥३।४।३॥ हविःशब्दो गवादिषु पठितः । तद्विशेषाणामिह ग्रहणम् । हविर्विशेष-वाचिन्योऽपवादि-नश्च प्राकठणोऽर्थेषु वा यो भवति । नित्ये ठे प्राप्ते विभाषेयम् । आमीक्ष्यम् । आमीक्षीयं दधि । पुरोडाश्याः । पुरोडाश्यास्तन्दुलाः । अपूपादिभ्यः, अपूप्यम् । अपूपीयम् । अपूप । तन्दुल । पृथुक । अभ्योष । अणोष । क्रिण्व । सुसल । कटक । कण्णचेष्टक । द्रुर्गल (अर्गल) । स्थूणा । यूप । सूप । दीप । प्रदीप । अरवपत्र । “विगृहीतादपीष्यते ।” “अन्नविकारेभ्यश्च ।” उदन्याः । उदनीयाः । सूर्याः, सूरीयास्त-न्दुलाः । अन्नविकारत्वादेव सिद्धे अपूपाऽभ्योषादीनां प्रपञ्चार्थं पृथग्ग्रहणम् । अतो विकल्पात्पूर्वनिर्वायेन उवर्णान्तलक्षणो नित्यो विधिर्भवति । चररिति हविर्विशेषः । चरव्यास्तन्दुलाः । शक्नुन्नविकारः, शक्नुव्या धानाः । “कम्बलाश्चौप्रा कृणोर्थे (कम्बलाच्च प्राकठणोऽर्थे) नित्यं यो वक्तव्यः” [वा०] । कम्बल्य-मूर्णांशतम् । खुविषयादन्यत्र । कम्बलीया ऊर्णा । नेदं वक्तव्यम् । “न विस्ताचितकम्बल्यात्” [३।१।२७] इति निपातनात्सिद्धम् ।

तस्मै हितम् ॥३।४।४॥ तस्मै इति अप्समर्थाद् हितमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । वत्सेभ्यो हितः, वत्सीयः । करभीयः । पटव्यम् । गव्यम् । हविष्यम् ।

प्राणयङ्ग रथखलयवमाषवृषब्रह्मतिलाद्यः ॥३।४।५॥ प्राणयङ्गं शरीरावयवः, देहदेहिनोः कथञ्चिदभेदात् । प्राणयङ्गवाचिभ्यो रथ खल यव माष वृष ब्राह्मण तिल इत्येतेभ्यश्च यो भवति तस्मै हित-मित्यस्मिन्नर्थे । छ्र्याऽपवादः । दन्तेभ्यो हितं दन्त्यम् । कर्ण्यम् । चक्षुष्यम् । नाभये हितं नाभ्यं तैलम् । “नाभि नभश्च” [वा०] इति नभभावः । गवादिलक्षणो यो विहितः स इह न भवति । गवादिलक्षणो य इह कस्मान्न भवति ? प्राणयङ्गलक्षणो यस्तस्य परत्वाद् बाधकः । रथाय हिता भूमिः, रथ्या । खलाय हितम्, खल्यम् । यव्यम् । माष्यम् । वृषाय हितम्, वृष्यम् । ब्रह्मणे हितम्, ब्रह्मण्यम् । तिल्यम् । वृष्णे हितं ब्राह्मणाय हितमित्यत्रानभिधानाच्छो न भवति ।

अज्जाविभ्यां थ्यः ॥३।४।६॥ अज-अञ्जिराच्चा-यां थ्यो भवति तस्मै हितमित्यस्मिन्नर्थे । छ्र्याऽपवादः । अजे (जाय) हितम्, अजथ्यम् । अविथ्यम् । लिङ्गविशिष्टस्यानाशब्दस्य ग्रहणेऽपि “तसादौ” [४।३।१४७] इति पुंवद्भावे कृते तदेव रूपम् ।

विश्वंजनात्मभोगान्तरंखः ॥३।४।७॥ तस्मै हितमिति वर्तते । विश्वजन आत्मन् इत्येताभ्यां भोगान्ताच्च मृदः खो भवति । छ्र्याऽपवादः । विश्वजनाय हितः, विश्वजनीनः जिनः । अत्र यसादेवेत्यते ।

तासाद (द्व) साच्च छ एव भवति । विश्वजनीयम् । ‘पञ्चजनशब्दाहुपसंख्यानम्’ [वा०] पञ्चजनीयम् । अत्र “दिकसंख्यं खौ” [१।३।४५] इत्यनेन विहितान्त्समानाधिकरणाद् वसादेवेष्यते । पञ्चजनीयमन्यत् । ‘सर्वजनाट्टण् खश्च वक्तव्यः’ [वा०] सार्वजनिकः । सर्वजनीनः । अत्रापि यसादेवेष्यते । सर्वजनीयमन्यत् । ‘महाजनाट्टण् वक्तव्यः’ [वा०] महाजनिकम् । षसादयं विधिः । वसाच्च एव भवति । महाजनीयम् । ईनादेशे कृते “नोऽपुंसो हृति” [४।४।१३०] इति टिल्नं प्राप्तम्, सूत्रे नकारान्तनिपातनान्न भवति । भोगः शरीरम् । तदसा(दन्ता)त् मातृभोगीणः । पितृभोगीणः । मात्रादिभ्यः केवलेभ्यश्छु एव भवति । मात्रीयः । पित्रीयः । ‘राजाऽचार्याभ्यां भोगान्ताभ्यां नित्यमिति वक्तव्यम्’ [वा०] राजभोगीनम् । आचार्यभोगीनम् । आर्यभोगान् (गीन) शब्दस्य “क्षुभ्नादित्वात्” [२।४।११७] णत्वं (न) भवति । नित्यग्रहणं किम् ? केवलाभ्यां न भवति । राज्ञे हितम् । आचार्याय हितमिति ।

सर्वाण्यो वा ॥३।४।८॥ तस्मै हितमिति वर्तते । सर्वशब्दाद् वा णो भवति पक्षे छो भवति । सर्वस्मै हितम्, सार्वम् । सर्वायम् ।

पुरुषाद्दण् ॥३।४।९॥ पुरुषशब्दाद्दण् भवति तस्मै हितमित्यस्मिन्विषये । छुस्याऽपवादः । पुरुषाय हितं पौरुषेयम् । अल्प (त्य) ल्पमिदम् । “पुरुषाद् वधविकारसमूहेतेनकृतेष्विति वक्तव्यम्” । पौरुषेयो वधः । “तस्येदम्” [३।३।८८] इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेयो विकारः । “प्राणित्वात्तादेः” [३।३।१०५] इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेयं स्वमागतं (यः समूहः) ‘तस्य समूहः’ इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेयः प्रासादः । पौरुषेयो ग्रन्थः । तेन कृते “नि ग्रन्थे (कृते ग्रन्थे) [३।३।८२] “खौ” [३।३।८६] इत्यण् प्राप्तः ।

माणवचरकात्खञ् ॥३।४।१०॥ तस्मै हितमिति वर्तते । माणव-चरक-शब्दाभ्यां खञ् भवति । छुस्याऽपवादः । माणवाय हितं माणवीनम् । चारकीणम् ।

तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ ॥३।४।११॥ हितमिति निवृत्तम् । तस्मै इति वर्तते । तस्मै इदं तदर्थं समानजातीयमभिन्नसन्तानवर्ति कारणम्, प्रकृतिः । तस्या एवाऽवस्थान्तरं विकृतिः । तदर्थमित्येतत्प्रकृतेर्विशेषणम् । तदर्थ्यां प्रकृताविति । यद्येवं स्त्रीलिङ्गमीप् च प्रानोति । “सूत्रेऽस्मिन् सुबिधिशिष्टः” [५।२।११४] इने पा (इतीपो) वाया एकेन च निर्देशः । विकृतिवाचि-ोऽवन्तान्मृदस्तदर्थ्यां प्रकृतावनि(भि)धेयायां यथाविहितं ल्यो भवति । विकृत्यर्थायां प्रकृतौ ल्यो भवतीत्यर्थः । अङ्गारेभ्यः, अङ्गारीयाणि काष्ठानि । प्राकारीया इष्टकाः । शङ्कव्यं दारु । पिचव्यः कर्पासः । अपूप्याः । अपूपीयास्तन्दुलाः । विग्रहे तादर्थ्यलक्षणाऽपु द्रष्टव्या । तदर्थमिति किम् ? मूत्राय यवागुः । उच्चाराय यवान् । पादरोगाय नड्व-लोदकं कल्पते । योग्यतामात्रेण विकृतिप्रकृत्यभिसम्बन्धो मा भूत् । अत्र केचित्तस्मै ग्रहणं नानुवर्त्तयति । तादर्थ्यं तथाऽपि व्यज्यते । यथा गुरोरिदम्, सुर्वर्थम् इति । विकृतिवाचिनस्तान्तात्तदर्थ्यां प्रकृतावभिधेयायां त्यमुत्पादयति । एवमङ्गाराणामिमानि अङ्गारार्थानि काष्ठानि, अङ्गारीयाणि । तदर्थमिति किम् ? यवानां धानाः धानानां शङ्कवः । नात्र प्रकृतेरनन्यार्थ्या गम्यते । अपि तु प्रकृत्यन्तरनिवृत्तिमात्रम् । नान्येषां धाना नान्येषां शङ्कवः । अत एव विकारप्रकृतिसम्बन्धमात्रेऽपि ल्यो न भवति । धानानां यवाः, शकृन्नां धानाः इति । विकृतेरिति किम् ? उदकार्थः कूपः । नात्र पार्थिवस्य कूपस्य विकृतिरुदकम् । प्रकृताविति किम् ? अस्यर्था कोशी । असिरयसो विकृतिर्भवति । तत्र कोशी तस्य प्रकृतिः ।

छुदिरुपधिवलेढञ् ॥३।४।१२॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृताविति वर्तते । छुदिष् उपधि वलि इत्ये-तेभ्यो ढञ् भवति । छुदिरर्थानि छुदिवेयाणि तृणानि । इह छुदिरर्थं चर्मेति परखात् “चर्मणोऽञ्”

[३।४।१४] इति अत्रि प्राप्ते पूर्वनिर्णयेन ढञ् भवति । छ्वादिषेयं चर्मम् । उपधीयत इत्युपधिः, रथाङ्गं गुणान्तरयोगाद् विकृतिरियम् । उपध्यर्थम्, औपधेयं दाह । बालेथास्तन्दुलाः ।

ऋषभोपानहो ज्यः ॥३।४।१३॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृताविति वर्तते । ऋषभ उपानह इत्येताभ्यां ज्यो भवति । ठस्यापवादः । गुणान्तरयोगादपि विकारो भवति । तद्यथा वैभीतकोऽपूपः इति । ऋषभार्थेभ्यो वत्सः (आर्षेभ्यो वत्सः) । औपानहो मुञ्जः । “चर्मणोऽञ्” [३।४।१४] इत्यतः पूर्वनिर्णयेनायमेवेष्यते । औपानहं चर्म ।

चर्मणोऽञ् ॥३।४।१४॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृताविति वर्तते । चर्मण इति विकारसम्बन्धे ता । चर्मणो या विकृतिस्तद्वाचिनोऽञ् भवति । छ्वाऽपवादः । वद्घ्र्थर्थं वाद्घ्र्मम् । वर्ना (वरत्रा) र्थं वार्त्र (वारत्रं) चर्म । सनङ्कुर्नाम चर्मविकारः, ततः पूर्वनिर्णयेन उवर्णान्तलक्षणो यो भवति । सनङ्गव्यं चर्म ।

तदस्यास्मिन्निति ॥३।४।१५॥ प्रकृतिविकृतिभावस्तादर्थ्यं वेह न विवक्षितं योग्यतामात्रं विवक्षितम् । तदिति वासमर्थादस्य अस्मिन्नित्येतयोरर्थयोर्थथाविहितं त्यो भवति । इतिकरणस्तत्तश्चेद् विवक्षा । अस्य सम्भावनेऽभिधानम् । तेन मल्लर्थायाद् भेदः । प्रासादोऽस्य स्यात् प्रासादीयं दाह । प्राकारीया इष्टकाः । प्रासादोऽस्मिन् देशे स्यात् प्रासादीयो देशः । प्राकारीयो देशः । इह कस्मान्न भवति, प्रासादो देवदत्तस्य स्यात् ? इति करणादविवक्षाऽत्र ।

परिखाया ढञ् ॥३।४।१६॥ तदस्याऽस्मिन्निति वर्तते । परिखाशब्दादढञ् भवति । छ्वापवादः । परिखाऽस्मिन्देशे सम्भाव्यते पारिखेयो देशः । पारिखेयी भूमिः । इत ऊर्ध्वं छ्यौ नानुवर्तते ।

आर्हाट्टण् ॥३।४।१७॥ तदहंतीति निवृत्तम् । प्रागेतस्मादहं संशब्दानाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः, तेषु ठण्विकृतो वेदितव्यः । प्रागिति वर्त्तमाने अभिविध्यर्थमाद्ग्रहणम् । अर्हतीत्यस्मिन्नप्यर्थे ठण् भवति । वक्ष्यति “तेन क्रीतम्” [३।४।३५] । वक्ष्येण क्रीतं वास्त्रिकम् । गौपुच्छिकम् ।

शतादस्वार्थेऽसेठयो ॥३।४।१८॥ आर्हादिति वर्तते । स्वार्थे शतमेव । शतशब्दादस्वार्थेऽसेठय इत्येतौ त्यौ भवत आर्हाथेष्वर्थेषु । कस्यापवादः । शतेन क्रीतम्, शतिकम् । शत्यम् । अस्वार्थ इति किम् ? शतं परिमाणमस्य शतकं स्तोत्रम् । नात्र प्रकृत्यर्थादर्थान्तरभूतस्यार्थः समुदायः किन्तु शतमेव । यत्र लर्थान्तरभावस्तत्र विधिरेव न प्रतिषेधः । शतेन क्रीतं शतिकं पटशतम् । शत्यं पटशतम् । वाक्येन ह्यत्र लर्थस्य शतत्वं गम्यते न श्रुत्या । अस इति किम् ? द्वौ च शतं च द्विशतम् । तेन क्रीतं द्विशतकम् । द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीतमिति रसे “शदुबखौ” [३।४।२६] इत्युपि नास्ति विशेषः । ननु स-त्यविधौ तदन्तविधिर्नास्तीति असग्रहणमनर्थकम् ? नाप्युत्तरत्र तदन्तविधेर्ज्ञापकम् । “प्राग्गतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपीति लुप-संख्यानमवश्यं कर्तव्यम् ।” पारायणं वर्तयति पारायणिकः । द्विपारायणिकः । असंख्यापूर्वपदस्य न भवति । सहस्रेण क्रीतम्, साहस्रम् । सुवर्णसहस्रेण क्रीतमित्यत्राण् न भवति । तथा उबन्तायाः प्रकृतेर्नैष्यते । द्वाभ्यां सूर्पाभ्यां क्रीतम्, द्विसूर्पेण क्रीतम् तदन्तविधेरभावात् “सूर्पाद्वा” [३।४।२६] इत्यय विधिर्न भवति । सामान्येन ठण्, द्विसौर्पिकम् । “परिमाणमस्याखुज्ञायै” [३।२।२२] इति छोरैपि । एवं तर्हि पूर्वत्र तदन्तविधिरपि भवतीति ज्ञाप्यते । गम्यम् । अगम्यम् । हविष्यम् । प्रसूरहविष्यम् । अपूप्यम् । यवापूप्यम् । अष्टक्यम् । एकाष्टक्यम् । राजदन्त्यम् । माध्यम् । तिलथम् । कृष्णतिल्यम् ।

संख्यायाः कोऽतिशतः ॥३।४।१९॥ आर्हादिति वर्तते । संख्याया अतिशदन्तायाः को भवति । आर्हादर्थेषु ठणोऽपवादः । संख्याशब्दः “कतिः संख्या” [१।१।३३] इति कतिशब्दं प्रत्याययति । तत्र

चाऽन्वर्थसंज्ञाग्रहणाद् यैरेकत्वादिभिः संख्यायते तेषां च ग्रहणे प्राप्तेऽतिशत इति प्रतिषेधः । त्यन्तां शदन्तां च संख्यां वर्जयित्वात्यर्थः । पञ्चभिः क्रीतः पञ्चकः । सप्तकः । “संख्या बाडडोऽबहुगणात्” [४।२।३६] इति पय्युदासाद्बहुगणयोः संख्यात्वम् । बहुकः । गणकः । अतिशत इति किम् ? षाष्टिकः । साप्ततिकः । चत्वारिंशत्कः । पञ्चाशत्कः । अर्थवत्तिशब्दस्येह ग्रहणाद्डडतेर [ति] प्रतिषेधः । कतिभिः क्रीतः, कतिकः ।

वतोर्वेत् ॥३।४।२०॥ वतुरिति त्यः पञ्चप्रकृतिः । “यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुः” [३।४।१६०] “इदमो वो घः” [३।४।१६१] “किमः” [३।४।१६२] इति वतोः परस्य कस्य च इड् भवति । ननु च अज्ञाते यत्तेषु कतिशब्दस्यैव संख्यात्वमुक्तम् । तत्कथं वलन्तात्संख्यालक्षणः कः ? इदमेव वलन्तात्परस्य कस्य वेड्वचनं ज्ञापकं भवति वलन्तस्य संख्या संज्ञेति । यावता क्रीतः, यावतिकः, यावत्कः । तावतिकः । तावत्कः ।

विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुरखौ ॥३।४।२१॥ विंशतित्रिंशच्छब्दाभ्यां ड्वुर्भवत्यखुविषये । विंशत्या क्रीतः, विशकः । तेः खे कृते “असिद्धवद्नामात्” [४।४।२१] इति टिखे प्रतिषिद्धे “एष्यतोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपम् । त्रिंशता क्रीतः, त्रिंशकः । अस्वाविति किम् ? विंशतिः परिमाणमस्य, “परिमाणात्संख्यायाः सङ्घसूत्राऽध्ययने” [३।४।५६] “खौ” [३।४।५७] इति कः । विंशतिकं परिमाणनामधेयम् । अनर्थकत्वात्स्य तिशब्दस्य त्यन्तलक्षणः प्रतिषेधो न भवति । द्वयोर्दशतोर्वि (न्) भावः शतिश्चात्र त्यो निपातयिष्यते । त्रिंशत्परिमाणमेषां त्रिंशत्काः । शदन्तान्तेति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति ? विंशति त्रिंशद्भ्यामिति योगविभागात्को भवति ।

कंसाट्टन् ॥३।४।२२॥ कंसशब्दाट्टन् भवति आर्हादर्थेषु । टणोऽपवादः । कंसेन क्रान्तः (क्रीतः) कंसिकः । कंसिकी । “अर्धाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] आर्द्धिकी ।

कार्षापणाद्वा प्रातश्च ॥३।४।२३॥ आर्हादिति वर्तते । कार्षापणशब्दात् ठड् भवति तस्य प्रतिरर्थं वादेशो वा भवति । कार्षापणेन क्रीतः, कार्षापणिकः । कार्षापणिकी । प्रतिकः । प्रतिकी ।

शतमानविंशति (क) सहस्रवसनादण् ॥३।४।२४॥ शतमानादिभ्योऽण् भवति । आर्हादर्थे । ठणोऽपवादः । शतमानेन क्रीतम्, शतमानम् । वैशतिकम् । साहस्रम् । वासनम् ।

सूर्पाद्वा ॥३।४।२५॥ आर्हादिति वर्तते । सूर्पशब्दाद्वाऽण् भवति । नित्ये ठण् प्राप्ते विकल्पोऽयम् । सूर्पं परिमाणनाम । सूर्पेण क्रीतम्, सौर्पम् । सौर्पिकः ।

रादुबखौ ॥३।४।२६॥ आर्हादिति वर्तते । रादुत्तरस्य आर्हादिस्य त्यस्योव्भवत्यखौ । द्वाभ्यां कंसाभ्यां क्रीतम्, द्विकंसम् । त्रिकंसम् । हृदर्थे रसे कृते संख्यापूर्वपदानां तदन्तविधिना कंसाट्टत्, तस्योप् । अधिकमर्धमसिन्नित्यध्यर्धम्, संख्यासंज्ञाविधानेऽध्यर्धग्रहणं सकविध्यर्थमित्युपसंख्यात्संज्ञा । अध्यर्धेन कंसेन क्रीतं ठट् उपि अध्यर्धकंसम् । द्वाभ्यां कंसाभ्यां क्रीतम् इत्यागतयोरठणोऽपवादो भवति । द्विसूर्पम् । त्रिसूर्पम् । अध्यर्धसूर्पम् । रादिति हेत्वर्थे का । रस्य हेतुनिमित्तं यो हृत् तस्योग्न भवति । द्विसूर्पेण पटेन क्रीतम्, द्विसौर्पिकम् । “अतस्त्रिमितादापि समाहारलक्षणाद्द्रादुबख्यः” [वा०] । द्वयोः सूर्पयोः समाहारः द्विसूर्पी । द्विसूर्पात् क्रीतम् द्विसूर्पमिति । न वक्तव्यः । अभिधानवशात् समाहारे वाक्यमेव भवति । न त्योत्पत्तिः । अस्वाविति किम् ? पाञ्चलोर्हितकम् । पाञ्चकलापिकम् । परिमाणनामधेये इमे । पञ्च लोहितानि परिमाणमस्य पञ्चकपालाः परिमाणमस्येति “परिमाणात्संख्यायाः सङ्घसूत्राऽध्ययने” [३।४।५६] “खौ” [३।४।५७] । इति ठण् । परिमाणस्य द्योरादेरैपि प्राप्ते “अखुज्ञाणे” इति प्रतिषिद्धे आदेरैपि । अन्ये पञ्चलोहित्यः परिमाणमस्येति विग्रह्य “तस्य हृत्ये” [वा०] इति पुंवद्भावं विदधाति ।

कार्षापणसहस्रसुवर्णशतमानाद्वा ॥३।४।२७॥ कार्षापण सहस्र सुवर्ण शतमान इत्येवमन्ता-
त्परस्यार्हायस्य त्यस्य वोष् भवति । पूर्वेण नित्य उपि प्राप्ते विभाषेयम् । द्वाभ्यां कार्षापणाभ्यां क्रीतं
द्विकार्षापणं द्विकार्षापणिकम् । त्रिकार्षापणं त्रिकार्षापणिकम् । अर्धकार्षापणम् । अर्धकार्षापणिकम् ।
“प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपीति कार्षापणाद्वा प्रतिश्च” [३।४।२३] इति ठट् । अनुपपन्ने
च प्रतिरादेशो विकल्पितः । द्विप्रतिकम् । त्रिप्रतिकम् । अर्धप्रतिकम् । द्वाभ्यां सहस्राभ्यां क्रीतं द्विसहस्रम् ।
द्विसाहस्रम् । त्रिसहस्रम् । त्रिसाहस्रम् । अर्धसहस्रम् । अर्धसहस्रम् । “संख्यायाः संख्यासंवत्सरस्य”
[१।२।२७] इति झोरैप् । द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं द्विसुवर्णम् । द्विसौवर्णिकम् । त्रिसुवर्णम् , त्रिसौवर्णिकम् ।
अर्धसुवर्णम् , अर्धसौवर्णिकम् । “परिमाणस्याखुशाये” [१।२।२२] इति झोरैप् । सुवर्णमुन्मानं
कथं परिमाणम् ? अशाण इति प्रतिषेधात् । उन्मानस्यापि झोरैर्भवति द्वाभ्यां शतमानाभ्यां क्रीतं द्विशत-
मानम् । द्विशतमानम् । त्रिशतमानम् । त्रिशतमानम् । अर्धशतमानम् ।

द्वित्रिवहोनिष्कविस्तात् ॥३।४।२८॥ द्वि त्रि बहु इत्येतेभ्यः परौ यौ निष्कविस्तशब्दौ तदन्ताद्वा-
त्परस्यार्हायस्य त्यस्य वोष्भवति । द्विनिष्कम् । द्विनैष्किकम् । त्रिनिष्कम् । त्रिनैष्किकम् । बहुनिष्कम् । बहु-
नैष्किकम् । द्विबिस्ताम् । द्विवैस्तिकम् । त्रिबिस्ताम् । त्रिवैस्तिकम् । बहुबिस्ताम् । बहुवैस्तिकम् ।

विंशतिकात्खः ॥३।४।२९॥ वेति निवृत्तम् । रादिति वर्तते । विंशतिकशब्दान्तात् रात् आर्हाद-
र्थेषु खो भवति । द्वाभ्यां विंशतिकाभ्यां क्रीतम् , द्विविंशतिकीनम् । त्रिविंशतिकीनम् । अर्धविंशतिकीनम् ।
वचनात्खस्योन् भवति ।

खारीकाकणीभ्यां कप् ॥३।४।३०॥ रादिति वर्तते । खारी-काकणीशब्दान्तात् आर्हादर्थेषु कब्
भवति । द्वाभ्यां खारीभ्यां क्रीतम् , द्विखारीकम् । त्रिखारीकम् । अर्धखारीकम् । द्विकाकणीकम् । त्रिकाक-
णीकम् । अर्धकाकणीकम् । “केवलाभ्यां चेति वक्तव्यम्” [वा०] । खार्यां क्रीतं , खारीकम् ।
काकणीकम् ।

पणपादमाषाद्यः ॥३।४।३१॥ रादिति वर्तते । पण-पाद-माषशब्दान्ताद् रादार्हादर्थेषु यो भवति ।
द्वाभ्यां पणाभ्यां क्रीतम् , द्विपण्यम् । त्रिपण्यम् । अर्धपण्यम् । द्विपाद्यम् । त्रिपाद्यम् । अर्धपाद्यम् ।
“असिद्धवदत्राऽभात् [४।४।२१] इत्यलस्याऽसिद्धत्वात्पञ्चदस्य पद्भावो न भवति । “पद्ये” [४।३।१६४]
इति पदादेशोऽपि पादस्य केवलस्योक्तम् (क्तः) । द्विमाध्यम् । त्रिमाध्यम् । अर्धमाध्यम् ।

शताद् वा ॥३।४।३२॥ रादिति वर्तते । शतशब्दान्ताद् रादार्हादर्थेषु वा यो भवति । द्वाभ्यां शताभ्यां
क्रीतं द्विशत्यम् । त्रिशत्यम् । अर्धशत्यम् । पन्ने ठण् । तस्य “राहुबखौ” [३।४।२६] इत्युप् । द्विशतं
त्रिशतम् । अर्धशतम् ।

शाणात् ॥३।४।३३॥ रादिति वर्तते वेति च । शाणशब्दान्तादार्हादर्थेषु वा यो भवति । पन्ने ठण् ।
तस्य चोप् । पञ्चमिः शाणैः क्रीतं पञ्चशाण्यम् । पञ्चशाण्यम् । अर्धशाण्यम् । अर्धशाण्यम् । योग-
विभाग उत्तरार्थः ।

द्वित्रिभ्यामण्य च ॥३।४।३४॥ शाणादिति वर्तते । द्वित्रिशब्दाभ्यां परो यः शाणशब्दस्तदन्ताद्
रादार्हादर्थेषु भवति यश्च वा । तेन त्रैरुण्यम् । द्वाभ्यां शाणाभ्यां क्रीतम् , द्वैशाण्यम् । त्रैशाण्यम् ।
त्रिशाण्यम् । त्रिशाण्यम् । अण्यि परतः “अखुशाण्य” इति प्रतिषेधादादरैप् ।

तेन क्रीतम् ॥३१४३५॥ तेनेति भासमर्थात् क्रीतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ठणादयो भवन्ति । निष्केण क्रीतम्, नैष्किकम् । शतिकम् । शत्यम् । साहस्रम् । द्विकम् । त्रिकम् । इह करणादिति वक्तव्यम् । कर्त्तरि माभूत् । देवदत्तेन क्रीतम् । “मूल्यादिति च वक्तव्यम्” [वा०] । इह मा भूत् पाणिना क्रीतमिति । “द्विवहन्ताच्च करणात्प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] । द्रोणाभ्यां क्रीतम् । द्रोणैः क्रीतम् इति । नेदं बहु वक्तव्यम् । अभिधानतो व्यवस्था भविष्यति । यत्र प्रकृत्यर्थस्य संख्याभेदावगतिरस्ति तत्र द्विवहुत्वविषयेऽपि भवति । द्वाभ्यां क्रीतम्, द्विकम् । मुद्गैः क्रीतम्, मौद्गिकम् ।

तस्य वापः ॥३१४३६॥ उप्यतेऽस्मिन्निति वापः क्षेत्रम् । तस्येति तासमर्थात् वाप इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । प्रस्थस्य वापः, प्रास्थिकः । कौद्रविकः । खारीकः । “यस्य प्रकरणे दातपित्तद्वलेष्म-सन्निपातेभ्यः शमनकोपनयोरुपसंख्यानम्” [वा०] वातस्य शमनं कोपनं वातिकं द्रव्यम् । एवं पैत्तिकम् । श्लैष्मिकम् । सन्निपातिकम् ।

निमित्तं संयोगोत्पादौ ॥३१४३७॥ बुद्धिपूर्विका व्याप्तिः संयोगः । शुभाशुभयोः सूचकः उत्पादः । उत्पात इत्यर्थः । तस्येति तासमर्थान्निमित्तमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति यत्तन्निमित्तं संयोग उत्पादो वा स चेद् भवति । शतस्य निमित्तमीश्वरेण संयोगः शतिकः, शत्यः । साहस्रः । शतस्य निमित्तं दक्षिणाक्षिसन्दनमुत्पादः शतिकः । शत्यः । साहस्रः । सोमग्रहणस्य निमित्तमुत्पादो भूमिकम्पः । सोमग्रहणिकः ।

योऽसंख्यापरिमाणाश्वादेः ॥३१४३८॥ तस्येति तासमर्थाद्यो भवति संख्यापरिमाणाश्वादीन् वर्जयित्वा निमित्तं संयोगोत्पादावित्यस्मिन् विषये । ठणादीनामपवादः । वनं निमित्तं संयोग उत्पादो वा वन्यः । यशस्यः । स्वर्ग्यः । आयुष्यः । असंख्यापरिमाणाश्वादेरिति किम् ? पञ्चानां निमित्तं संयोग उत्पादो वा, पञ्चकः । सप्तकः । परिमाणात् । प्रस्थस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा प्रास्थिकः । द्रौणिकः । खारीकः । अश्वदिर्गणः । अश्वस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा आश्विकः । अश्व । अश्मन् । गण्य । ऊर्णा । उमा । भङ्गा । वर्षा । वस्त्र । वसु । संख्यापरिमाणयोरर्थभेदोऽस्ति । “ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः । आयामं तु प्रमाणं स्यात् संख्या तु गुणनात्मिका ।”

गोब्रह्मवर्चसात् ॥३१४३९॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते । गोब्रह्मवर्चसशब्दाभ्या यो भवति । गोर्निमित्तं संयोग उत्पादो वा गव्यः ! ब्रह्मणो वर्चः, ब्रह्मवर्चसम्, अत एव निपातनात्सान्तः । ब्रह्मवर्चसस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा ब्रह्मवर्चस्यः । पूर्वेण ये सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय । एकाचो गोशब्दा-देव बह्वचो ब्रह्मवर्चसशब्दादेव यः । इह न भवति । नावो निमित्तं संयोगः नाविकः । वास्तुयुगिकः । द्रूयञ्च एव पूर्वेण ये वेदितव्यः ।

पुत्राच्छ वा ॥३१४४०॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते । पुत्रशब्दाच्छो यश्च । पुत्रस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा पुत्रीयः । पुत्र्यः ।

सर्वभूमिपृथिवीभ्यामण् ॥३१४४१॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते । सर्वभूमि-पृथिवी-शब्दाभ्यामण् भवति । ठणोऽपवादः । सर्वभूमेर्निमित्तं संयोग उत्पादो वा, सर्वभूमिः । अनुशक्तिकादित्वा-दुभयत्रैप् । पृथिव्यः निमित्तं संयोग उत्पादो वा, पार्थिवः ।

ईश्वरः ॥३१४४२॥ तस्येति वर्तते । तासमर्थाभ्यां सर्वभूमिपृथिवीशब्दाभ्यामीश्वर इत्यस्मिन्नर्थे-ऽण् भवति । ठणोऽपवादः । सर्वभूमेरीश्वरः, सर्वभूमिः । पार्थिवः ।

तत्र विदितः ॥३१४४३॥ तत्रेतीप्समर्थाभ्यां सर्वभूमिपृथिवीशब्दाभ्यां विदित इत्यस्मिन्नर्थेऽण् भवति । सर्वभूमौ विदितः सर्वभूमिः । पार्थिवः ।

लोकात् ॥३।४।४४॥ तत्र विदित इति वर्तते । लोकशब्दादीप्समर्थाद्विदित इत्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । लोके विदितः, लौकिकः ।

सर्वात् ॥३।४।४५॥ सर्वशब्दात्परो यो लोकशब्दः, तदन्तान्मृदध्ठण् भवति तत्र विदित इत्यस्मिन्नर्थे । सर्वलोके विदितः, सर्वलौकिकः । अनुशतिकादित्वाद्भयत्रैप् ।

तदस्मिन्वृद्धयायलाभशुल्कोपदा दीयते ॥३।४।४६॥ तदिति वासमर्थाद् वृद्ध्यादिविशिष्टा-दस्मिन्नतीवर्थे यथाविहितं त्यो भवति । यत्तद्वासमर्थं वृद्ध्यादिविशिष्टं दीयते चेत्तद् भवति । वृद्धिः कालान्तरादिका । नित्यनिबद्धा प्राप्तिरायः । पटादीनां मूल्यातिरेको लाभः । वा (व) णिजां रक्षाकारितो राजभागः शुल्कः । उक्तोटः उपदा । दीयते इत्येकवचनान्तं वृद्ध्यादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । पञ्चास्मिन्वृद्धिर्वा आयो वा लाभो वा शुल्को वा उपदा वा दीयते, पञ्चकः । प्रास्थिकः । कौडविकः । “इह तदस्मै दीयते इति वक्तव्यम्” [वा०] पञ्चाऽस्मै वृद्ध्यादि दीयते, पञ्चकः । सतकः । न वक्तव्यम् । सम्प्रदानस्याधिकरणविवक्षया सिद्धम् ।

डडर्धाट्टः ॥३।४।४७॥ डडिति प्रत्याहारग्रहणम् । “तस्य पूरणे डट्” [४।१।१] इत्यारभ्य आ तमऽष्टकारात् । डडन्तान्मृदः अर्धशब्दाच्च ठो भवति तदस्मिन्वृद्धयायलाभशुल्कोपदा दीयते इत्यस्मिन्नर्थे । ठण् : “अर्धाच्च” [४।२।१०३ (वा०)] इत्यौपसंख्यानिकस्य च ठटोऽपवादः । पञ्चमः दीयते वृद्धिर्वा आयो वा लाभो वा शुल्को वा उपदा वा, पञ्चमिकः । द्वितीयकः । अर्थिकः । स्त्रियाम्—अर्थिका ।

भागाद्यश्च ॥३।४।४८॥ भागशब्दोऽर्धवाची । तदस्मिन्वृद्धयायलाभशुल्कोपदा दीयते इति च वर्तते । भागशब्दाद्यो भवति ठश्च । भागो वृद्ध्यादिरस्मिन्दीयते भाग्यं शतम् । भागिकं शतम् ।

तद्धरति वहत्यावहति भाराद् वंशादेः ॥३।४।४९॥ वंशादिभ्यः परो यो भारशब्दः तदन्तान्मृदः ईं (इ) प्समर्थाद् हरत्यादिष्वर्थेषु यथाविहितं त्यो भवति । हरति नयतीत्यर्थः । वहति उत्तिपतीत्यर्थः । आवहति उपादयतीत्यर्थः । वंशभारं हरति वहति आवहति वा, वांशभारिकः । वाल्वजभारिकः । भारादिति किम् ? वत्सं हरति । वंशादेरिति किम् ? भारं हरति । केवलान्न भवति । अन्ये पुनरन्यथा सूत्रार्थं प्राहिताः । वत्सा (वंशा) दिभ्यो भारभूतेभ्यस्त्यो भवति । अर्थद्वारेण भारो वंशादेर्विशेषणम् । भारभूतात् (न्) हरति, वांशिकः । वाल्वजिकः । भारादिति किम् ? एकं वंशं हरति । वत्सा (वंशा) देरिति किम् ? भारभूतान् यवान् हरति । सूत्रार्थद्वयमपि प्रमाणम् । वंश । वल्बज । कूट । मूल । स्थूल । खट्वा । अश्व । इक्षु ।

वस्नद्रव्याभ्यां ठकौ ॥३।४।५०॥ वस्नद्रव्यशब्दाभ्यामिप्समर्थाभ्यां हरत्यादिष्वर्थेषु यथासंख्यं ठ क इत्येतौ त्यौ भवतः । वस्नं हरति वहति आवहति वा, वस्निकः । द्रव्यकः ।

सम्भवस्यवहरति पचति ॥३।४।५१॥ तदिति वर्तते । इप्समर्थान्मृदः सम्भवत्यादिष्वर्थेषु यथा-विहितं त्यो भवति । सम्भवति गृह्णातीत्यर्थः । अवहरति क्षयं नयतीत्यर्थः । पचति विक्रोदनं करोतीत्यर्थः । प्रस्थं सम्भवत्यवहरति पचति वा, प्रास्थिकी स्थाली । एवं कौडविकी । खारीकी । ननु या प्रस्थं सम्भवति सा पचत्यपि, तत्कथं भेदः ? इदं तर्हि पचतेरुदाहरणम् । प्रस्थं पचति ब्राह्मणी, प्रास्थिकी । “तल्पचतीति द्रोणादणू च वक्तव्यः” [वा०] । द्रोणं पचति द्रौणी, द्रौणिकी ।

आऽऽढकाचितपात्रात्खः ॥३।४।५२॥ आढक-आचितपात्रशब्देभ्य इप्समर्थेभ्यः सम्भवत्यादि-ष्वर्थेषु वा खो भवति । पूर्वेण नित्ये ठणि प्राप्ते विभाषेयम् । आढकं सम्भवति अवहरति पचति वा, आढ-कीना, आढकीकी । आचिताना, आचितिकी । पात्रोणा, पात्रिकी । आढकादीनि परिमाण्यानि ।

राट्ट् च ॥३।४।५३॥ आढकाचितपात्रान्तात् राट् इप्समर्थात्सम्भवत्यादिष्वर्थेषु ठट् भवति खश्च वा । तेन त्रैरूप्यं भवति । द्वे आढके सम्भवति अग्रहरति पचति वा द्वयाढकिकी । द्वयाढकीना । आभ्यां मुक्ते ठण् तस्य “शदुबखौ” [३।४।२६] इत्युप् । द्वयाढकी । “परिमाणाद्घट्टपि” [३।४।२६] इति ङी-विधिः । ठट्खयोर्वचनाद्वम् (दुम्न) भवति । द्वयाचितीना, द्वयाचिता । “न विस्ताचितकम्बल्यात्” [३।४।२७] इति ङीप्रतिषेधः । द्विपात्रिकी । द्विपात्रीणा । द्विपात्री ।

कुलिजाच्च ॥३।४।५४॥ चकारत्रिकाऽनुकर्षणार्थः । रादिति वर्तते । कुलिजशब्दान्तात् राट् इप्सम-
र्थात् सम्भवत्यादिष्वर्थेषु ठट् भवति खश्च वा । तेन त्रैरूप्यम् । कुलिजं पश्चिमाख्यविशेषः । द्वे कुलिजे सम्भ-
वत्यग्रहरति पचति वा द्विकुलिजिकी, द्विकुलिजीना, द्विकुलिजी । केचिदुपोऽपि विकल्पमिच्छन्ति । पक्षे ठणः
श्रवणम् । द्वैकुलिजिकीति । त एव “अहुशाणे” [५।२।२२] इत्यत्र कुलिजस्यापि प्रतिषेधमिच्छन्ति ।

तदस्यांशवस्नभृतयः ॥३।४।५५॥ तदिति वासमर्थात् अस्येति तार्थं यथाविहितं ल्यो भवति यत्तद्वा-
समर्थम् अंश वस्न भृतयश्चेत्तद् भवन्ति । पञ्च अंशा वा वस्नो वा भृतवर्षाऽस्य, पञ्चकः । सप्तकः । शतिकः,
शत्यः । साहस्रः । खारीकः ।

परिमाणत्सङ्ख्यायाः सङ्घसूत्राऽध्ययने ॥३।४।५६॥ तदस्येति वर्तते । परिमीयते परिच्छिद्यते-
ऽनेन परिमाणम् । परिच्छेदकमिह तत् पारिभाषिकम् । तदिति वासमर्थात् संख्यावाचिनः परिमाणे वाधिका-
दस्येति तार्थं यथाविहितं ल्यो भवति । यत्तदस्येति सङ्घसूत्राऽध्ययनानि चेद् भवन्ति । सङ्घे-पञ्च परिमा-
णस्य सङ्घस्य पञ्चकः । सप्तकः । सूत्रे ग्रन्थ इत्यर्थः । पञ्चाऽध्यायाः परिमाणमस्य, पञ्चकं जैनेन्द्रम् । अष्टकं
पाणिनीयम् । शतकं स्तोत्रम् । अधीतिरध्ययनं तस्मिन् । पञ्च रूपाण्यस्याध्ययनस्य पञ्चकम् । सप्तकम् ।
कर्मणि यद्यध्ययनशब्दो व्युत्पाद्येत सूत्रान्न भेदः स्यात् । “स्तोमे ङो वक्तव्यः” [वा०] पञ्चदशार्थः
पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्य स्तोमस्य पञ्चदशः स्तोमः । एवं सप्तदशः । एकविंशः । परिमाणादिति योग-
विभागः कर्तव्यः । तदस्येति वर्तते । पञ्चकलापः परिमाणमस्य, पञ्चकलापिकम् । पाञ्चलोहितिकम् ।
प्रस्थः परिमाणमस्य प्रास्थिको राशिः । कौतिकः । खारीशतिकः । वर्षशतं परिमाणमस्य वर्षशतिकः ।
“जीवितपरिणाम इति च वक्तव्यम्” [वा०] षष्टिः संवत्सरा जीवितपरिमाणमस्य, षष्टिकः । साप्ततिकः ।
आशीतिकः । नेदं वक्तव्यम् । “तमवी(षी)ष्टो भू (भृ , तो भूतो भावी” [३।४।७६] इत्येव
सिद्धम् । षष्टि भूतो (तः) षष्टिकः । एवञ्चानुबपि सिद्धः । द्वे षष्टी भूतो द्विषष्टिकः । इह विधानो(ने)
“शदुबखौ” [३।४।२६] इत्युप् प्रसज्येत ।

खौ ॥३।४।५७॥ खुविषये च परिमाणविशिष्टायाः संख्याया यथाविहितं ल्यो भवति । विंशतिः
परिमाणमस्य विंशतिकं परिमाणनामधेयम् । स्वार्थे चाऽत्र ल्यो द्रष्टव्यः । पञ्चैव पञ्चकाः शकुनयः । त्रय एव
त्रिकाः सा(शा)लङ्कायनाः ।

पङ्क्तिविंशतिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम् ॥३।४।५८॥ पङ्क्त्यादयः
शब्दा निपात्यन्ते । यदत्र लक्षणेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात्सिद्धम् । तदस्य परिमाणमिति वर्तते । पञ्चपादा-
परिमाणमस्य पङ्क्तिस्तच्छब्दः; क्रमसन्निवेशोऽपि । पञ्चशब्दात्तिरित्यर्थं त्यष्टिर्लं च निपात्यते । द्वौ दश तौ
परिमाणमस्य वर्गस्य विंशतिः । द्वौ विंभावः त्रिंशत् त्वः । त्रिंशत्तुःपञ्चानाम् इमारिमाश्रान्तादेशाः शच्च
त्वः । त्रयो दशतः परिमाणमस्य वर्गस्य त्रिंशत् । चत्वारो दशतः परिमाणमस्य चत्वारिंशत् । पञ्च दशतः
परिमाणमस्य, पञ्चाशत् । षट् दशतः परिमाणमस्य षष्टिः । षष्टिस्तिरित्यर्थं ल्योऽपदत्वं च । सप्त दशतः
परिमाणमस्य सप्ततिः । सप्तनस्तिरित्यर्थं त्वः । अष्टौ दशतः परिमाणमस्य अशीतिः । अष्टनः अष्टौभावः तिस्र

त्यः । नव दशतः परिमाणमस्य नवतिः । नवशब्दात्तिः । दश दशतः परिमाणमस्य शतम् । दशानां शभावः तश्च त्यः । विशत्यादीनां अन्तिरस्थान्प्रधानत्वम्, कचित्संख्येयप्रधानत्वम् । लिङ्गवचनं च स्वाभाविकत्वादेव सिद्धम् । इह यथाशब्दद्वयुत्पत्तिः क्रियते । सहस्रादयोऽप्यनयैव दिशाऽनुगन्तव्याः । दशशतानि परिमाणमस्य, सहस्रम् । दशसहस्राणि परिमाणमस्य, अयुतम् ।

पञ्चदशत्वे वर्गे वा ॥३१४।५९॥ पञ्चन् दशन् इत्येतौ शब्दौ वर्गेऽभिधेये वा निपात्येते । तदस्य परिमाणमित्यस्मिन्विषये नित्ये के प्राप्ते पक्षे ङदित्यं त्यो निपात्येते । पञ्च परिमाणमस्य पञ्चद्वर्गः । दशद्वर्गः । दशको वर्गः ।

तदर्हति ॥३१४।६०॥ तदितीप्समर्थादर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । श्वेतच्छत्रमर्हति श्वैतच्छत्रिकः । आभिषेचनिकः । वास्त्रयुगिकः । दाध्योदनिकः । शतिक । शत्यः । इह भोजनमर्हतीत्यनभिधानान्न भवति । “स्त्रीपुंसानुक्त्वात्” [३१४।७२] इत्येषोऽपि विधिरनभिधानान्नावतरति । ठणादय इमं योगं प्राप्य निवृत्ताः ।

प्राग्वत्छत्रम् ॥३१४।६१॥ तदर्हं वदिति वक्ष्यते । प्रागेतस्माद्भवत्संशब्दान्नायानि ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः तेषु ठञ्चिकृतो वेदितव्यः । वक्ष्यति “पारायणतुरायण चान्द्रायणं वतंयति” [३१४।६८] पारायणिकः । “प्राग्वत्: संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपि” इति द्वैपारायणिकः । इह (ठणि) प्रकृते तस्योप् प्रसज्येत तेन ठञ्चिकृतः ।

छेदादेर्नित्यम् ॥३१४।६२॥ नित्यग्रहणमर्हतीत्यस्य विशेषणम् । छेदादिभ्यो नित्यमर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । छेदं नित्यमर्हति छेदिकः । छेद । भेद । होह । द्रोह । तस्कर । नर्त । कर्ष । विकर्ष । विप्रकर्ष । प्रयोग । संप्रयोग । विप्रयोग । सम्प्रश्न । प्रेषण । विरागः विरङ्गं च ।

शीर्षच्छेदाद्यश्च ॥३१४।६३॥ नित्यमिति वर्तते । शीर्षच्छेदशब्दात् इप्समर्थात् नित्यमर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति ठञ् च । शीर्षच्छेदं नित्यमर्हति शीर्षच्छेदिकः । अन्ये शिरश्छेदं नित्यमर्हतीति त्यसन्नियोगे शिरसः शीर्षभावं वर्णयन्ति । तदयुक्तं यत्नाभावात् । तस्मान्नियतविषय शिरःपर्यायः शीर्षशब्दोऽस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

दण्डादेः ॥३१४।६४॥ नित्यमिति निवृत्तम् । दण्ड इत्येवमादिभ्योऽर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति । ठञोऽपवादः । दण्डमर्हति दण्ड्यः । दण्ड । मुशल । मधुपर्क । कशा । अर्ध । मेघा । मेघ । वध । उदक । युग । इरु (भ) ।

पात्रादृश्च ॥३१४।६५॥ तदर्हतीति वर्तते । पात्रशब्दाद्घो भवति चकाराद्यश्च । ठञोऽपवादः । पात्रमिति परिमाणं च गृह्यते । पात्रमर्हति पात्रियः । पात्र्यः ।

कडङ्गरदक्षिणास्थालीविलाच्छुश्च ॥३१४।६६॥ तदर्हतीति वर्तते । कडङ्गर दक्षिणा स्थाली-विला इत्येतेभ्यश्छो भवति यश्च । ठञोऽपवादः । मुद्गादि काष्ठं कडङ्गरम् । कडङ्गरमर्हति कडङ्गरीयो गौः । दक्षिणामर्हति दक्षिणीयः । दक्षिण्यः । स्थालीविलमर्हति स्थालीविलीयाः स्थालीविल्यास्तण्डुलाः । पाकाहा इत्यर्थः ।

यज्ञत्विग्भ्यां घलञ्चौ ॥३१४।६७॥ तदर्हतीति वर्तते । यज्ञ-ऋत्विक्शब्दाभ्यां यथासंख्यं घलञ्चित्येते तौ भवतः । ठञोऽपवादः । यज्ञमर्हति यज्ञियः । आर्त्विजीनः । उपचारत्तर्कमापि तथोक्तम् । यज्ञकर्मा-र्हति, अज्ञियो देशः । ऋत्विक्कर्मा-र्हति, आर्त्विजीनं कुलम् ।

पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति ॥३१४६८॥ तदिति वर्त्तते । पारायणतुरायणचान्द्रायणशब्देभ्य इप्समर्थेभ्यो वर्तयतीत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । पारायण वर्तयति पारायणिकः । शिष्य एवाभिधानं नाध्यापके । तुरायणं यज्ञं वर्तयति तौरायणिकः । यजमान एव न याजके । चान्द्रायणिकः ।

संशयमापन्नः ॥३१४६९॥ संशयशब्दादिप्समर्थादापन्न इत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । सशीतिः संशयः, तमापन्ने कर्तृकर्मणी भवतः । तत्र कर्त्तरि पुरुषेऽभिधानं नास्ति । संशयं विषयभावेनापन्नः सांशयिकः । स्यात्वादि ।

योजनं याति ॥३१४७०॥ योजनशब्दादिप्समर्थाद्यातीत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । योजनं याति योजनिकः । संख्यापूर्वपदादपि । द्वैयोजनिकः । ‘क्रोशशतयोजनशतयोरुपसंख्यानम्’ [वा०] । क्रोशशतं याति क्रौशशतिकः । यौजनशतिकः । ‘ततोऽभिगमनमर्हति च वक्तव्यम्’ [वा०] क्रोशशताद्भिगमनमर्हति क्रौशशतिकः । यौजनशतिको गुरुः ।

पथः कट् ॥३१४७१॥ तदिति वर्त्तते । पथिशब्दादिप्समर्थाद्यातीत्यस्मिन्नर्थे कट् इत्ययं ल्यो भवति । पन्थानं याति पथिकः, पथिकी । द्वौ पन्थानौ याति, द्विपथिकः, द्विपथिकी । हृदर्थे रसे कृते सान्तात्पूर्वनिर्णये-नायमिष्यते ।

पन्थो ण नित्यम् ॥३१४७२॥ नित्यग्रहणं यातीत्यस्य विशेषणम् । पथिशब्दादिप्समर्थान्नित्यं यातीत्यस्मिन्नर्थे णो भवति तस्त्रियोगे पन्थ इत्ययञ्चादेशः । पन्थानं याति पान्थः । नित्यमिति किम् ? पथिकः ।

उत्तरपथेनाहृतं च ॥३१४७३॥ निर्देशादेव भावा उपादानम् । उत्तरपथशब्दाद् भासमर्थादाहृतं यातीति चानयोरर्थयोश्चञ् भवति । उत्तरपथेनाहृतं, औत्तरपथिकम् । उत्तरपथेन याति, औत्तरपथिकः । ‘वारिजङ्गलस्थलकान्ताराजशङ्कुपूर्वपदादिति वक्तव्यम्’ [वा०] वारिपथेनाहृतं वारिपथिकः वारिपथेन याति वारिपथिकः । एवमर्थद्वयोऽपि । जाङ्गलपथिकः । स्थालपथिकः । कान्तारपथिकः । आजपथिकः । शाङ्कुपथिकः । ‘मधुकमरिचयोः स्थलपूर्वाद्दण् वक्तव्यः’ । स्थलपथेनाहृतं स्थालपथं मधुकं मरिचं वा ।

कालेभ्यः ॥३१४७४॥ बहुत्वनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः । अधिकारोऽयम् । यदित ऊर्ध्वमनु-क्रमिष्यामः कालवाचिभ्य इत्येव तद्वेदितव्यम् । वक्ष्यति ‘तेन निवृत्तः’ [३१४७५] । मासेन निवृत्तम् मासिकम् । आर्द्धमासिकम् ।

तेन निवृत्तः ॥३१४७५॥ तेनेति भासमर्थेभ्यः कालवाचिभ्यो निवृत्त इत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । मासेन निवृत्तः, मासिकः । साँवत्सरिकः प्रासादः ।

तमवो(घो)ष्टो भृतो भूतो भार्वा ॥३१४७६॥ तमितीप्समर्थात् कालवाचिशब्दात् अवी-(घी)ष्टो भृतो भूता भावीति एतेष्वर्थेषु ठञ् भवति । सङ्कृत्य नियुक्ताऽवां(घी)ष्टः । वेतनेन क्रीता भू (भृ)तः । मासमवो (घी)ष्टा भृता भूतो भार्वा वा मासिकः । आर्द्धमासिकः । साँवत्सरिकः । ‘कालाध्वन्यविच्छेदे’ [११४७६] इतोप् । अवां(घी)ष्टभू (भृ) तयोरर्थयोर्मासिकदेशो सुहृते मासशब्दो वर्तते । तस्याऽध्वेषणभरणक्रियाम्यां व्याप्तेरविच्छेदः । भूतभावाम्यां तु खुसन्तया (स्वसन्तया) कालस्य व्याप्तेरविच्छेदः सिद्ध एव । इह षष्ठं भूतः षाष्टिकः । साप्ततिकः । इति कथं कालवाचित्वम् ? कालस्य संख्येयत्वात् कालविषयत्वाद्वा । रमणीय काल भूत इत्यत्राऽनभिधानान्न भवति ।

मासाद् वयसि खञ् ॥३१४७७॥ तमवी(धी)ष्टो भूतो भूतो भावीति वर्तते । मासशब्दाद् वयस्यभिधेये खञ् भवति । ठञोऽपवादः । वयसीति वचनात् । अवी(धी)ष्टभृतग्रहणं नाभिसम्बध्ते । मासं भूतो भावी वा, मासीनः । कथं भावि वयो विगमः इति चेत् अग्रिष्टदर्शनात् । अकारः “अद्दृद्वरक-विकारे” [४।३।१५१] इत्यत्र पुंवद्भावप्रतिषेधार्थः । मासीनो दुहितृकः । वयसीति किम् ? मासिकः ।

यः ॥३१४७८॥ मासशब्दाद् वयस्यभिधेये यश्च भवति । मासं भूतो भावी वा मास्यः । योग-विभाग उत्तरार्थः ।

रात् ॥३१४७९॥ मासाद् वयसीति वर्तते । मासान्ताद् राद् वयस्यभिधेये यो भवति । द्वौ मासौ भूतो भावी वा द्विमास्यः । प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानामनुपीति ठञपवादयोर्थेखञोः प्रातयोरनेन यो विधीयते ।

षण्मासाण्यश्च ॥३१४८०॥ षण्मासशब्दाद् वयस्यभिधेये षण्यो भवति यश्च । षण्मासाद् भूतो भावी वा षण्मास्यः । अन्ये चशब्देन ठञं समुच्चिन्वन्ति । यस्त्वनुवर्तनादेव भवति तेषां षण्मासिक इत्यपि ।

ठञ्चावयसि ॥३१४८१॥ षण्मासशब्दादवयस्यभिधेये ठो भवति एयश्चानन्तरः । षण्मासिको नायकः । षण्मास्यः ।

समायाः खः ॥३१४८२॥ अवी(धी)ष्टादयश्चत्वारोऽर्था अनुवर्तन्ते । समाशब्दादिप्समर्थादधीष्टादिष्वर्थेषु खो भवति । ठञोऽपवादः । समामवी(धी)ष्टो भूतो भावी वा समीनः ।

राद् भूतबलेः ॥३१४८३॥ समाशब्दान्ताद् निर्वृत्तादिषु पञ्चस्वर्थेषु खो भवति भूतबलेराचार्यस्य मतेन । नान्येषाम् । प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपीति पूर्वेण नित्ये खे प्राप्ते विभाषेयम् । द्वे समे भूते भूतो भावी वा द्विसमीनः । द्वैसमिकः । त्रिसमीनः । त्रैसमिकः । कालः परिमाणग्रहणेन न गृह्यते । तेन “परिमाणस्याखुशाणे” [१।२।२२] इति द्यौरैम्न भवति ।

राज्यहः संवत्सरात् ॥३१४८४॥ रादिति वर्तते । अहन् संवत्सर इत्येवमन्ताद्रान्निर्वृत्तादिष्वर्थेषु भूतबलेराचार्यस्य मतेन खो भवति । अहन् । द्वयहीनः । द्वैयहिकः । अत्रापि अहरन्तादिति वचनात् “राजाहःसखिभ्यश्चः” [४।२।१३] इति सान्तो न भवति । अन्यथा “एभ्योऽहोऽहः” [४।२।१०] इत्यह्लादेशे सति द्वयहीन इत्यनिष्टं रूपं स्यात् । द्वैयहिक इति चेष्यते । तत्कथं सिद्ध्यति ? द्वयोरहोः समाहारः टे सान्ते “न समाहारे” [४।२।११] इत्यह्लादेशप्रतिषेधे च सति सिद्ध्यति । संवत्सर, द्विसंवत्सरीयः । द्विसंवत्सरिकः । “संख्यायाः (संख्या) संवत्सरस्य” [१।२।२०] इति द्यौरादेरैप् ।

वर्षादुप् च ॥३१४८५॥ रादिति वर्तते । वर्षशब्दान्ताद्रान्निर्वृत्तादिष्वर्थेषु भूतबलेराचार्यस्य मतेन ठञ उभभवति खश्च । अन्येषां ठञेव । तेन त्रैरूप्यम् । द्वे वर्षे भूतः, द्विवर्षः, द्विवर्षीणः, द्विवार्षिकः । “वर्ष-स्याभाविनि” [५।२।२१] इति द्यौरादेरैप् । भाविनि द्वैवार्षिक इति भवति ।

प्राणिन्युप् ॥३१४८६॥ पुनरुत्पन्नं नित्यार्थम् । वर्षशब्दान्ताद्प्राणिनि त्थार्थेऽभिधेये नित्यं त्य-स्योभभवति । पूर्वेण विकल्पेन पक्षे ठञः श्रवणं खश्च न भवति । द्वे वर्षे भूतो भावी वा द्विवर्षो दारकः । भूतभाविनोरेवार्थयोरेयं नित्यमुच्चिष्यते नान्यत्र । द्वे वर्षे अधीष्टो भू (भृ)तो वा कर्म करिष्यति, द्विवार्षिको मनुष्यः ।

तदस्य ब्रह्मचर्यम् ॥३१४८७॥ तदितीप्समर्थात्कालवाचिनो मृदोऽस्येति तार्थे ठञ् भवति यत्त-दिप्समर्थं तस्य व्यापकं त्वार्थस्य च स्वं ब्रह्मचर्यं चेद् भवति । मासं ब्रह्मचर्यमस्य मासिको ब्रह्मचारी । सम्बन्धो वृत्तावन्तभूत इति पुरुषोऽभिधेयः । एवम्, आर्धमासिकः । सांवत्सरिकः । “संख्यापूर्वपदाच्च”

द्वादशवार्षिकः । “ब्रह्मचर्यमित्यस्मिन्नर्थे महानाम्नादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] । महानाम्न्यो नाम ऋचः । महानाम्नीनां ब्रह्मचर्यम् , माहानाम्निकम् । आदित्यव्रतिकम् । गौदानिकम् । “तच्चरतीति च महानाम्न्या-
दिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] । महानाम्नीश्ररति माहानाम्निकः । महानाम्नीसहचरितं व्रतं चरतीत्यर्थः । एवम्,
आदित्यव्रतिकः । गौदानिकः । “अवान्तरदीक्षादिभ्यो ङिन् वक्तव्यः” [वा०] । अवान्तरदीक्षां चरति अवान्तर-
दीक्षी । देवव्रती । तिलव्रती । “अष्टाचत्वारिंशतो ङुडिनौ च वक्तव्यो” [वा०] । अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि व्रतं
चरति, अष्टाचत्वारिंशत्कः । अष्टाचत्वारिंशी । “चातुर्मास्यानां यत्नं च ङुडिनौ च वक्तव्यौ” [वा०] ।
चातुर्मास्यानि चरति चातुर्मासिकः । चातुर्मासी । अथ किमिदं चातुर्मास्यानीति ? “वतुर्मासाण्यो यज्ञे
तत्रभवे वक्तव्यः” [वा०] । चतुर्षु मासेषु भवन्ति चातुर्मास्यानि । “सञ्ज्ञायाम्ण् वक्तव्यः” [वा०] ।
चतुर्षु मासेषु भवा पौर्णमासी चातुर्मासी । कार्तिकी । फाल्गुनी । आषाढी चेति । अथ मासेऽस्य ब्रह्मचर्यस्य
मासिकं ब्रह्मचर्यम् । आर्धमासिकम् । सांवत्सरिकमित्यस्य सिद्धये यत्नः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । मासं भूतं
भावि वा ब्रह्मचर्यं मासिकमिति भविष्यति ।

तस्य दक्षिणा यज्ञाख्यात् ॥३१४८८॥ तस्येति तासमर्थात् यज्ञाख्यान्मृदो दक्षिणैत्यस्मिन्नर्थे
ठञ् भवति । यज्ञमाचष्टे यज्ञाऽख्यः । कप्रकरणे उर्षीति (सुपि [२।२।७] इति) योगविभागे
“मूलविमुजादिभ्यः” [वा०] इति (वा) कः । अग्निष्टोमस्य दक्षिणा आग्निष्टोमिकी । “तस्येदम्”
[३।३।८८] इत्यस्याऽणोऽपवादः । एवं राजसूयिकी । दासौदनिकी । अकालार्थं चाऽख्यग्रहणम् । अन्यथा
कालाधिकारात् एकाहद्वादशाहप्रभृतिभ्य एव यज्ञेभ्यः स्यात् । प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहण-
मनुपीति कालावि (धि) कारेऽपि द्वादशाहादिष्वस्ति प्रातिः ।

तत्र दीयते भववत् ॥३१४८९॥ तत्रेतीपसमर्थात् कालवाचिनो मृदो दीयते इत्यस्मिन्नर्थे भव इव
त्वविधिवेदितव्यः । यथा मासे भवं मासिकम् । आर्धमासिकम् । “कालाद्दृज्” [३।२।१३१] इत्येवमादि-
विधिः । एवं मासे दीयते मासिकम् । आर्धमासिकम् । प्रावृषेण्यम् । हैमनम् । शैशिरम् । वद्ग्रहणं सर्व-
सादृशार्थम् । इह कार्यग्रहणमपि कर्त्तव्यम् । मासिकम् । वासन्तम् । हैमनम् । कर्त्तव्यम्, यन्मासे कार्यं
तन्मासे भवमित्यपि भवति । ततः “तत्र भवः” [३।३।२८] इत्येव सिद्धम् । रादनुवर्थं तर्हाह कार्यग्रहणं
सार्थकम् । द्वयोर्मासयोः कार्यं द्वैमासिकम् । भवार्थलक्षणस्य ठञः “रस्योवनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप्
प्रसज्येत । नेदं युक्तम् । उबेवात्रेभ्यते । यदन्यैरप्युक्तम् । कार्यग्रहणमप्यन्वर्थकम् । तत्र भवेन कृतत्वादिति ।
अथापि कार्यमनुपः प्रयोगो दृश्यते । एवं तर्हि “तेन कार्यं” मित्यत्र स द्रष्टव्यः । द्वाभ्यां मासाभ्यां कार्यं
द्वैमासिकम् । “जय्यलभ्यकार्यसुकरम्” [३।४।१२] इति ठञ् । तत्र दीयते इति योगविभागः कर्त्तव्यः ।
यज्ञाख्यादित्यनुवर्त्तते । अग्निष्टोमे दीयते अग्निष्टोमिकम् । राजसूयिकम् । वाजपेयिकम् । द्वयोर्वाजपेय-
योर्दीयते द्वैवाजपेयिकम् ।

व्युष्टादेरण् ॥३१४९०॥ इह कलिभ्य इति नापेक्ष्यते । सामान्येन विधानात् । तत्रेति वर्तते । व्युष्ट
इत्येवमादिभ्य ईप्समर्थे-यो दीयते इत्यस्मिन्नर्थेऽण् भवति । उल्ली विवास इत्यस्य क्ले व्युष्टमिति कालवाचि ।
व्युष्टे दीयते वैयुष्टम् । नित्यशब्दादीबन्तादपि वचनाद् भवति । तीर्थं । निष्क्रमणं । उपसंक्रमणं । प्रवेशनं ।
संग्रामं । संघातं । प्रवासं । उपवासं । अग्निपदी । पोलुमूलं । “अण्प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसंख्यानम्”
[वा०] न कर्त्तव्यमिह पाठात् ।

तेन यथाकथाचहस्ताभ्यां ण्यौ ॥३१४९१॥ अत्रापि कालेभ्य इति नापेक्ष्यते (च्य) ते । दीयते
इति वर्तते । तेनेति भासमर्थाभ्यां यथाकथाच-हस्तशब्दाभ्यां दीयत इत्यस्मिन्नर्थे यथासख्यं ण्यौ भवतः । यथा-
कथाच दीयते यथाकथाचम् । अनादरदत्तमित्यर्थः । हस्तेन दीयते इत्यम् ।

जय्यलभ्यकार्यसुकरम् ॥३१४।६२॥ कालेभ्य इति वर्तते । तेनेति वासमर्थात् कालवाचिनो मृदो जय्य लभ्य कार्यं सुकर इत्येतेष्वर्थेषु ठञ् भवति । मासेन जय्यो मासिको हस्ती । मासेन शक्यते जेतुमित्यर्थः । मासेन लभ्यो मासिकः पटः । मासेन कार्यं मासिकं गृहम् । मासेन सुकरो मासिकः प्रासादः ।

सम्पादिनि ॥३१४।६३॥ कालेभ्य इति निवृत्तम् । वासमर्थान्मृदः सम्पादिन्यर्थे ठञ् भवति । कर्ण-वेष्टाभ्यां सम्पादि शोभते कार्णवेष्टिकं सुखम् । वल्लयुगेन सम्पद्यते वल्लयुगिकं शरीरम् ।

कर्मवेषाद्यः ॥३१४।६४॥ तेन सम्पादिनीति च वर्तते । कर्मवेषशब्दाभ्यां यो भवति । ठञोऽपवादः । कर्मणा सम्पद्यते कर्मण्यं शौर्यम् । वेषेण सम्पद्यते वेष्या नर्तकी । नेपथ्येन शोभते इत्यर्थः ।

तस्मै प्रभवति सन्तापादेः ॥३१४।६५॥ तस्मै इति अप्समर्थेभ्यः सन्तापादिभ्यः प्रभवतीत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । अलमर्थेऽप् । सन्तापाय प्रभवति सान्तापिकः । सन्ताप । सन्ताह । संयोग । संग्राम । सम्पराय । सम्पेष । निष्पेष । निसर्ग । उपसर्ग । विसर्ग । प्रवास । उपवास । संघात । संमोहन । शक्तुमांसौदनाद् विग्रहीतादपि । शाक्तुमांसौदनिकम् । शाक्तुकम् । मासिकम् । श्रौदनिकम् ।

योगाद्यश्च ॥३१४।९६॥ तस्मै प्रभवतीति वर्तते । योगशब्दाद्यो भवति ठञ् च । योगाय प्रभवति, योग्यः । शौगिकः ।

कर्मण उक्कञ् ॥३१४।९७॥ तस्मै प्रभवतीति वर्तते । कर्मशब्दादुक्कञ् भवति । कर्मणे प्रभवति कार्मुकं धनुः ।

समयस्तदस्य प्राप्तम् ॥३१४।९८॥ तदिति वासमर्थात्समयादस्येति ताऽर्थे ठञ् भवति यत्तद्वासमर्थं प्रातं चेत्तद्भवति । समयः प्रातोऽस्य सामयिकम् । प्राप्तकालमित्यर्थः ।

ऋतोरण् ॥३१४।९९॥ ऋतुशब्दात् वासमर्थात्प्रातोपाधिकादस्येति ताऽर्थेऽण् भवति । ऋतुः प्रातोऽस्य, आर्त्तवं पुष्पम् । “उपवस्त्रादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] । उपवस्ता प्रातोऽस्य औपवस्त्रम् । प्राशिता प्रातोऽस्य प्राशितम् । कर्मनामधेयम् ।

कालाद्यः ॥३१४।१००॥ तदस्य प्राप्तमिति वर्तते । कालशब्दाद्यो भवति । कालः प्रातोऽस्य, काल्यं शीतम् । रात्रावुषितायामहरादिः कालोऽपि काल्यः ।

प्रकृष्टे ठः ॥३१४।१०१॥ तदस्येति वर्तते कालादिति च । प्रकृष्टे प्रकृष्टे वर्तमानादस्येति ताऽर्थे ठो भवति । प्रकृष्टः दीर्घः कालोऽस्य कालिकम् ऋणम् । कालिकं सख्यम् । अन्ये प्रकृष्टे ठञिति पठन्ति । कालिका मैत्री ।

प्रयोजनम् ॥३१४।१०२॥ कालादिति निवृत्तम् । तदस्येति वर्तते । प्रयोजयतीति प्रयोजनम् । नन्धादिपाठाल्ल्युः । बहुलवचनाद्वा कर्त्तरि युट् । तदिति वासमर्थात्प्रयोजनोपाधिकादस्येति ताऽर्थे ठञ् भवति । अर्हत्पूजाप्रयोजनमस्य अर्हत्पूजिकः । ऐन्द्रमहिकः ।

वैशाखाषाढषाष्टिकैकागारिकडाकालिकट् ॥३१४।१०३॥ वैशाखादयः शब्दा निपात्यन्ते । यदत्र लङ्घ्येणानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात्सिद्धं तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन्निषये । “विशाखाषाढाभ्यां यथासंख्यं मन्थ-दृण्डयोरपिनिपात्यते ।” विशाखा प्रयोजनमस्य वैशाखो मन्थः । आषाढो दण्डः । “षष्टिरात्रेण पच्यन्ते इत्यस्मिन्वाक्ये कः । रात्रिशब्दस्य च खम् ।” षष्टिका नाम ब्रीहयः । अस्त्रं वाक्यमेव भवति । षष्टिरात्रेण पच्यन्ते मुद्गा इति । “एकागारशब्दात्तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन्नर्थे चौरैऽभिधेये ठञ् ।” एकागारं प्रयोजनमस्य ऐकागारिकश्चौरः । चौरादन्यत्र वाक्यमेव । एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोरिति । अथवा “एकः समर्थः अगारमोषि-

तुमिति वाक्ये एक इन्द्राण्यनागारिकद्वित्ययं त्यो निपात्यते । ऐकागारिकश्चौरः । ऐकागारिकी चौरौ । समानकालशब्दाद्यन्तोपाधिविशिष्टादस्येति ताऽर्थे इकङ्निपात्यते समानकालस्य च आकाल आदेशः । समानकालावाद्यन्तावस्य आकालिकः स्तनयित्नुः । आकालिकी विद्युत् । यस्तु प्रादिलक्षणे से आकाल इष्टः । आवृत्तः काल ईषत्कालो वा आकाल इति । तस्मात् ठञ् च ठश्चेष्यते । आकालिकी आकालिका विद्युत् ।

छोऽनुप्रवचनादेः ॥३॥४॥१०४॥ तदस्य प्रयोजनमिति वर्तते । अनुप्रवचनादिभ्यश्छो भवति । ठञोऽपवादः । अनुप्रवचनं प्रयोजनमस्य, अनुप्रवचनीयम् । अनुप्रवचन । उत्थापन । उपस्थान । संवेशन । प्रवेशन । अनुवाचन । अनुवचन । अनुपान । अनुवादन । अनुवासन । अन्वारोहण । प्रारोहण । आरोहण । आभरण । “विज्ञिप्तिरिपादिहृदिप्रकृतेरनात्सपूर्वपदाद्दुपसंख्यानम्” [वा०] । गृहप्रवेशनीयम् । प्रपापूरणीयम् । अश्वप्रपदनीयम् । प्रासादरोहणीयम् । एतस्मिंश्च वक्तव्ये सति यानि गण्ये विश्यादिप्रवृत्ती-त्यनान्तानि पठ्यन्ते तेषां पाठोऽनर्थकः प्रपञ्चाऽर्थो वा ।

समापनात्सादेः ॥३॥४॥१०५॥ तदस्य प्रयोजनमिति वर्तते । समापनशब्दात्सादेशश्छो भवति । ठञोऽपवादः । जैनेन्द्रसमापनं प्रयोजनमस्य जैनेन्द्रसमापनीयम् । तर्कसमापनीयम् । “स्वर्गादिभ्यो यो वक्तव्यः” [वा०] । स्वर्गः प्रयोजनमस्य स्वर्ग्यम् । वन्यम् । यशस्यम् । आयुष्यम् । काम्यम् । “पुण्याह-वाचनादिभ्य इञ्चकव्यः” [वा०] । पुण्याहवाचनं प्रयोजनमस्य पुण्याहवाचनम् । शान्तिवाचनम् । स्वस्ति-वाचनम् । अक्षतपात्रम् । नेदं वक्तव्यम् । तादर्थ्यात्ताच्छब्दं भविष्यति । अनभिधानाट्टञ् भवति । “अद्वा-दिभ्योऽण् वक्तव्यः” [वा०] । अद्वा प्रयोजनमस्य अद्दम् । चूडा प्रयोजनमस्य चौडम् ।

तद्दहं वत् ॥३॥४॥१०६॥ अर्हतीत्यर्हः, तदितीप्समर्थाद् अर्हतीत्यर्थे वद् भवति । राजानमर्हति राजानं (राजवद्) वृत्तम् । कुलीनवत् । इह कस्मान्न भवति शतमर्हति देवदत्तः । राजानमर्हति मणियः । उत्तरत्र क्रियाग्रहणं गुणभूतमपि सिंहावलोकनेन सम्बन्धयते तेन क्रिया यत्रार्हतेः कर्तृत्वेन विवक्षिता तत्राऽयं विधिः ।

तेन क्रिया तुल्ये ॥३॥४॥१०७॥ वदिति वर्तते । क्रिया तुल्या अस्य क्रियातुल्यम् । इच्छातो विशेष-ण्यविशेष्यभाव इति क्रियाशब्दस्य पूर्वनिपातः । तेनेति भासमर्थात्क्रियातुल्येऽर्थे वद् भवति । क्षत्रियेण तुल्यं युज्यते क्षत्रियवयुज्यते । “भाऽनुलोपमाभ्यां तुल्यार्थैः” [१।४।७६] इति मा । शिष्येण तुल्यं वर्तते, शिष्यवद् वर्तते । अश्ववद्धावति । सायुवद् ब्रूते । इह कस्मान्न भवति । तैलपाकेन तुल्योऽष्टत पाक इति ? इह सूत्रे बर्थः (द्वयार्था) क्रिया सा च साध्या पूर्वापरीभूताऽवयवा, असाध्यभूता^१ च । घञाद्यन्तेन पुनर्व- (द्वय) र्थस व (घ) र्मः सिद्धतालक्षणो द्रव्यभूत उच्यते इति नास्ति प्राप्तिः । यदि घञाद्यन्तेन क्रिया नाभिधीयते कथं भोक्तुं पाकः भोजकस्य पाकः इति ? नैष दोषः ? “व्रतु^२ यादि (वृणुमादि)” [२।३।८] सूत्रे घञाद्यन्तायाः प्रकृतेरर्थः क्रियाऽऽश्रीयते । क्रियाग्रहणं किमर्थम् ? ब्राह्मणेन तुल्यः पिङ्गलः । गुण-तुल्ये मा भूत् ।

तत्रैव ॥३॥४॥१०८॥ तत्रेतीप्समर्थात् इवार्थे वद् भवति । मथुरायामिव मथुरावत् स्रुध्ने प्रासादाः । मथुरावद् रमणीयता । मथुरावद् वर्षति ।

तस्य ॥३॥४॥१०९॥ इवशब्दोऽनुवर्तते । तस्येति तासमर्थादिवार्थे वद् भवति । देवदत्तस्य इव देवदत्तस्य वनम् । राज इव राजवद् देवदत्तस्याश्वाः । वत्प्रकरणे “स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात्” [३।१।७२]

१. “असत्त्वभूताश्च” इत्यपि पाठः । २. व्रतुमादि पू० ।

इत्येष विधिर्न भवति । “भादौ वोक्त्सुंस्त्वं पुंस्त्वं” [३११५३] इति निर्देशात् । योगापेक्षं चेदं ज्ञापकम् । तेन स्त्रीवदित्यपि सिद्धम् । योगविभाग उत्तरार्थः ।

भावे त्वन्तलौ ॥३१४११०॥ तस्येति वर्तते । तासमर्थाद् भावेऽर्थे त्वन् तल इत्येतौ तौ भवतः । नकारः “स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात्” [३११७२] इत्यत्राऽस्यावधिरूपेण ग्रहणं मा भूत् इत्येवमर्थः । लकारस्तन्तः द्वित्रयामिति विशेषणार्थः । भावः शब्दप्रत्ययप्रवृत्तिकारणम् । तद्यथा भवतोऽस्मान्छब्दप्रत्ययाविति भावः । उक्तं च “यस्य गुणस्य हि भाषाद्द्रव्ये शब्दविनिवेशः, तदभिधाने त्वन्तलौ” [पा० महा० ५।१११९] इति । इह गुण इति विशेषणमात्रम्, द्रव्यमिति विशेष्यमात्रम् इष्टम् । अश्वस्य भावः, अश्वत्वम् । अश्वता । शुक्लत्वम् । शुक्लता । अत्र जातिगुणयोरभिधाने त्वन्तलौ सम्बन्धस्तु गम्यो नाभिधेयः । इह पाचकत्वमिति क्रियाऽभिधाने । अथवा सम्बन्धप्रधानाः । सम्बन्धे चाभिधेये त्वन्तलौ कारकत्वम् । श्रौपगत्वम् । राजपुरुषत्वमिति । एतेऽपि ये जातिगुणशब्दाः, तैभ्यो जातिगुणस्य चाभिधाने । कुम्भकारत्वम् । हस्तित्वम् । राजवृद्धत्वम् । ये गुणमात्रवचना रूपं रसो गन्ध इति, तैभ्यः सामान्याभिधाने रूपत्वम्, -रसत्वम् । उपचारशब्देषूपचारनिमित्तेऽभिधेये गोत्वं वाहीकस्य । अग्नित्वं माणवकस्य । पृथक्त्वं नानात्वमित्येवमादौ असत्त्वभूतत्वेऽपि शब्दान्तरेण तासमर्थता पृथगित्यस्य भाव इति । यदृच्छा-शब्देषु द्वित्यादिषु संज्ञासम्बन्धाभिधाने सर्वावस्थान्याप्याकृतिसामान्याभिधाने च द्वित्यत्वम् । उक्ते-पणादिषु सामान्येऽभिधेये उक्तेपणात्वम् ।

आ च त्वात् ॥३१४१११॥ वक्ष्यति “ब्रह्मणस्त्वः” [३१४१२६] इति । आ एतस्यात् त्व संशब्दनाद्यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्त्वन्तलौ तत्राऽधिष्कृतौ वेदितव्यौ । अपवादविषये समावेशार्थं कर्मणि च विधानार्थमेव तावधिक्रियेते । वक्ष्यति “पृथ्वादेर्वेमन्” [३१४११२] प्रथिमा । पृथुता । ननु वावचनात् त्वन्तलौ स्वयमेव भविष्यतः ? नैतदेवम्, “व्यादेरिकः” [३१४१२१] इत्येवमादिसमावेशार्थं तद् वावचनम् । चकारकरणं किमर्थम् ? “स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात्” [३११७२] - इत्यस्मिन्नापि विषये प्रापणार्थम् । स्त्रीत्वम् । स्त्रीता । पुंस्त्वम् । पुंस्ता । प्राक्त्वादिति मर्यादाकरणसामर्थ्यादत्रपि सिद्धः । स्त्रिया भावः स्वैरणम् । पौंसनम् ।

पृथ्वादेर्वेमन् ॥३१४११२॥ पृथु इत्येवमादिभ्यो वा इमन् भवति तस्य भाव इत्यस्मिन्विषये । वावचनं “व्यादेरिकः” [३१४१२१] इत्यस्याणः, गुणावचनेभ्यश्च्यणः, वयोवाचिभ्यस्त्वजः समावेशार्थम् । पृथोर्भावः, प्रथिमा, पार्थवम्, पृथुत्वम्, पृथुता । पृथु । मृदु । महि । पटु । तनु । लघु । बहु । आसु । ऊरु । बहुल । दण्ड । खण्ड । चण्ड । अक्लिञ्चन । बाल । होड । पाक । वत्स । मन्द । स्वाडु । श्रुजु । वृष । ह्रस्व । दीर्घ । क्षिप्र । लुद्र । प्रिय ।

वर्णदृढादेष्ट्यण च ॥३१४११३॥ वर्णशब्देन वर्णविशेषा गुणोपसर्जने द्रव्ये ये वर्तन्ते, तेषामिह ग्रहणम् । तादृशैरेव दृढादिभिर्गुणावचनैः साहचर्याद् वर्णविशेषवाचिभ्यो दृढादिष्ट्यण भवति इमंश्च वा तस्य भाव इत्यस्मिन्विषये । शुक्लस्य भावः शौक्ल्यम्, शुक्लिमा, शुक्लत्वम्, शुक्लता । काष्यर्थम् । कृष्णिमा । शैत्यम्, शितिमा, शितित्वम् । विभाषाऽनुकर्षणादान(ण)पि भवति । शैतम् । दृढादिभ्यः । दृढस्य भावः, दाढ्यम्, द्रदिमा, दृढत्वम्, दृढता । दृढशब्दस्य लुब्धादिषु अनिट्त्वं दृढं च निपात्यते । दृढ । वृढ । परिवृढ । कृश । भृश । चुक्र । अम्ल । लवण । “वेर्यात्कारतरसमतिमनःशारदानाम्”

१. त्वत्तलौ अ०, पू० । २. त्वत् अ०, पू० । ३. -ब्दविनिवेशः पा० महा० । ४. त्वत्तलौ पा० महा० । त्वत्तलौ अ०, पू० । ५. त्वत्तलौ अ०, पू० ।

[ग० सू०] वैशाल्यम् । वैलात्यम् । वैरस्यम् । वैशारद्यम् । “समो मतिमनसोः” [ग० सू०] । साम्मत्यम् । साम्मनस्यम् । शीत । उष्ण । जड । बधिर । मूक । मूर्ख । पण्डित । मधुर इति । किमर्थमिदमुच्यते ? एषां गुणोक्तित्वादेव “गुणोक्तिब्राह्मणदिभ्यः” [३।४।११४] इत्येव व्यण् सिद्धः इमप्रापणार्थम् । एतत् व्यण्ग्रहणमुत्तरत्राऽवयवकर्त्तव्यमिहैव कृतम् ।

गुणोक्तिब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ॥३।४।११४॥ गुणोक्तिभ्यः शब्देभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च तासमर्थेभ्यष्ट्यण् भवति कर्मणि भावे चाभिधेये । उच्यते इत्युक्तिः, गुण उक्तिर्यस्य स गुणोक्तिः । प्राग्गुणमुक्त्वा गुणद्वारेण द्रव्ये यो वर्तते इत्यर्थः । जडस्य कर्म भावो जाड्यम् । मौढ्यम् । ब्राह्मणादिराकृतिगणः । आदिशब्दस्य प्रकारवाचिन्त्वात् । एवं च गुणोक्तिग्रहणं गणे च ब्राह्मणादीनामनुक्रमणं स्वार्थेऽपि भवतीति प्रपञ्चार्थम्, बाधकबाधनार्थं च । ब्राह्मणस्य कर्म भावो वा ब्राह्मण्यम् । वाडव्यम् । ब्राह्मणात् प्राणिजातिलक्षणोऽञ् प्रातः । माणव वाडव वृद्धलक्षणो बुञ् प्रातः । “अहंतो नुञ्च” [वा०] नुमर्थः पाठः । चोर । धूर्त्त । मनोज्ञादित्वाद् बुञ् प्रातः । आराव(ध)य । विराव(ध)य । उपराव(ध)य । अपराव(ध)य । एते “उपचोळादेः” [३।१।११६] इत्युबन्ताः । ततो वृद्धलक्षणो बुञ् प्रातः । प्राणिजातिलक्षणो वाऽञ् । एकभाव । द्विभाव । त्रिभाव । अन्यभाव । एतेभ्यः स्वार्थे । अद्देशजनञ् पूर्वार्थे ग्रहणम् । संवादिन् । संवेशिन् । संभाषिन् । बहुभाषिन् । शीर्षघातिन् । समस्थ । परस्थ । प्रस्थ । आव्यस्थ । विषमस्थ । विशाल । एवं नञ्पूर्वार्थं ग्रहणम् । अनीश्वर नञ्पूर्वार्थपाठः । कुशल । चपल । निपुण । पिशुन । एभ्यो युवादिवादाण्यु प्रातः । बालिस (श) बालवयोवाचि (चि)त्वाद्ञ् प्रातः । अलस । बसोऽयम् । इष । रुष । कापुरुष । अनयोर्नञ्पूर्वार्थम् । राजन्पुरोहितादिस्त्रायण्यः प्रातः । गणपति । अधिपति । पत्यन्तलक्षणो गयः प्रातः । गयड्डल । दयाद । विशक्ति । विशाप । विधान । निघात । एभ्यस्त्वत्तलोर्निवृत्त्यर्थम् । “सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे” [वा०] । सार्ववैद्यम् । सार्वलौक्यम् । धानुर्वैद्यम् । अनुशतिकादिवाडुभयत्रैप । त्रैलोक्यम् । चातुर्वैद्यम् । “वीरात्तेजसि यः” [वा०] । वीरस्य तेजः वीर्यम् । “विरोधेऽण् वक्तव्यः” [वा०] । वैरम् । ट्यणष्टिकरणं ड्यर्थम् । आचिती । समग्री । “हृत्तो हृतो ड्याम्” [३।४।१४०] इति यत्नम् ।

नञ्स्त्रेचतुरसंगतलक्ष (व) णवड्डबुधकतरसलसेभ्यः ॥३।४।११५॥ प्रतिपदोक्ते नञ्स्त्रे कृते चतुर संगत लक्षण (लवण) वड्ड बुध कत रस लस इत्येतेभ्य एव भावकर्माभिधायिनस्त्या भवन्ति । ननु ग्रहणवद्भ्यो विहिताः कथं तदन्तेभ्यः प्राप्नुवन्ति ? येनायं नियम उच्यते । ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वात्तान्पूर्वादापि यण् (ट्यण्) प्राप्नोति । पत्यन्ताद्विहितो एयः, हायनान्तादण्, योडो बुञ्पूर्वादापि प्राप्नोति । न चतुरः अचतुरः, तस्य भावः कर्म वा आचतुर्यम् । आसंगत्यम् । आलवण्यम् । आवड्ड्यम् । आबुध्यम् । आकृत्यम् । आरस्यम् । आलस्यम् । एतेभ्य एव नञ्स्त्रे कृते यथा स्युर्नान्येभ्य इति । अपटुत्वम् । अपटुता । अपतिलम् । अपतिता । (अ) हायनत्वम् । (ल) तलोर्नियमान्निवृत्तिर्न भवति, आ चलादिति वचनात् । प्रतिपदग्रहणं किमर्थम् ? नञ्पूर्वाद् बसात् भाववचनो यः प्राप्नोति स भवत्येव । न विद्यते पटुरस्य, अपटुः, अपटोर्भावः आपटवम् । अपतेर्भावः आपत्यम् । आहायनम् । आरमणीयकम् । अथ यत्र नञ्स्त्रस्य हृद्वृत्तेश्चैकमेव वाक्यं तत्र कथं भवितव्यम् न पटोर्भाव इति ? हृद्वृत्त्या प्राग्भवितव्यं पश्चान्नञ्स्त्रः । अपाटवमिति । न कर्णवेष्टाभ्यासपादिमुखम् अकारणवेष्टिकम् । चतुरादिष्वभिधानवशात्तान्स्त्रः । पश्चाद् भावे ल्यः । न चतुरस्य भाव आचतुर्यम् ।

स्तेयसख्ये ॥३।४।११६॥ स्तेय सख्य इत्येते शब्दरूपे निपात्येते, स्तेनशब्दान्तासमर्थात् भाव-
कर्मणोर्यः, नशब्दस्य च खं निपात्यते । स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम् । यण् (ट्यण्) चात्रेष्यते ।
स्तैन्यम् । सखिशब्दाद् भावकर्मणोर्यः । सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् । “दूतवणिगभ्यां यो वक्तव्यः” [वा०]
दूतस्य भावः कर्म वा दूत्या । वणिष्या ।

कपिज्ञातेर्दञ् ॥३।४।११७॥ कपि-ज्ञातिशब्दाभ्यां तासमर्थाभ्यां दञ् भवति भावे कर्मणि
चाभिधेये । कपेर्भावः कर्म वा कापेयम् । इगन्तत्वाद्दण् प्राप्तः । ज्ञातेर्भावः कर्म वा ज्ञातेयम् । प्राणि-
जातित्वाद्दञ् प्राप्तः । लत्वलावपि भवतः । कपित्वम् । कपिता । ज्ञातित्वम् । ज्ञातिता ।

पत्यन्तपुरोहितादेर्यः ॥३।४।११८॥ पत्यन्तपुरोहितादेश्च एयो भवति । तस्य भावे कर्मणि
चेति वर्तते । बृहस्पतेर्भावः कर्म वा, बार्हस्पत्यम् । सैनापत्यम् । इगन्तत्वाद्दण् प्राप्तः । पुरोहितादिभ्यः ।
पुरोहितस्य भावः कर्म वा पौरुहित्यम् । राज्यम् । पुरोहित । “राजन्नसे” [ग० सू०] । अस इति किम् ?
सौराज्यम् । ब्राह्मणादित्वाट्ट्यण् । ग्रामिक । खण्डिक । दण्डिक । कर्मिक । वास्तक^१ । शिल्पिक । सूचिक ।
अञ्जलिक । छत्रिक । वर्षिक । प्रतिक । सारथिक । सांजनिक । आजनिक । सारात्तसूचक । ब्राह्मणादे-
राकृतिगणत्वाट्ट्यण् सिद्धे स्त्रियां टावर्थं वचनम् ।

वयोवाकप्राणिजात्युद्गात्रादिभ्योऽञ् ॥ ३।४।११९ ॥ वयसो वाग्न्यः प्राणिजातिवाचिभ्य
उद्गात्रादिभ्यश्चाञ् भवति । तस्य भावे कर्मणि चेति वर्तते । कुमारस्य भावः कर्म वा, कौमारम् । कैशारम् ।
कालभम् । प्राणिजातिभ्यः । आश्वम् । औष्ट्रम् । माहिषम् । उद्गातुर्भावः कर्म वा, औद्गात्रम् । उद्गातु ।
उन्नेतु । प्रतिहन्तु । प्रशास्तु^२ । होतु । भर्तु । रथगणक । पङ्क्तिगणक । सुष्ठु । दुष्ठु । अध्वयु^३ ।
वधु ।

हायनान्तयुवादिभ्योऽण् ॥३।४।१२०॥ हायनान्तेभ्यो युवादिभ्यश्चाण् भवति । तस्य भावे
कर्मणि चेति वर्तते । अत्रयोवाचित्वे हायनान्ताः प्रयोजयन्ति । द्विहायनस्य युवादेर्भावः कर्म वा, द्वैहायनम् ।
त्रैहायनम् । युवादिभ्यः—यूनो भावः कर्म वा यौवनम् । मनोज्ञादित्वाद् बुञ् प्राप्तः; अनेनाण् । “अन^३
अणि” [३।४।११८] इति टिलप्रतिषेधः । पूर्वे सूत्रे यद्यण्ग्रहणं क्रियेत हस्तिनो भावः कर्म वा हास्त-
मित्यत्र “प्रायोऽनपत्येऽणीनः” [३।४।१५५] इति टिलप्रतिषेधः प्रसज्येत । मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि,
युवतेर्भावः “मस्य हृत्ये” [वा०] इति पुंवद्भावे कृते यौवनम् । युवन् । यजमान । “पुरुषादसे” [ग०सू०]
अस इति किम् ? रात्रौष्यम् । अपुरुषत्वम् । कर्तृ । ऋत्विक् । कन्दुक । श्रवण । कुस्त्री । दुःस्त्री ।
सुस्त्री । सुहृदय । सुहृत् । दुहृत् । सुभ्रातृ । दुर्भ्रातृ । वृधल । परिव्राजक । सन्नस्यचारिन् । अश्वशंस ।
“हृदयादसे” [ग०सू०] अस इति किम् ? अहृदयत्वम् । चपल । निपुण । पिशुन । कुतूहल । क्षेत्रज्ञ । भो-
त्रियस्य भावः कर्म वा औत्रम् । उद्गात्रादिरत्रैव पठितव्य इति चेत् ; न; अस्याऽनित्यत्वात् । तेनाश्वशंसमिति
सिद्धम् ।

व्यादेरिकः ॥३।४।१२१॥ व्यादिग्रहणमिको विशेषणम् । धि आदिर्यस्येकः स व्यादिः, व्यादिर्यं
इक् तदन्तान्मृदोऽण् भवति । तस्य भावकर्मणोरिति वर्तते । शुचेर्भावः कर्म वा शौचम् । नखरजनि ।
नाखरजनम् । हरीतकी । हरीतकम् । पृथु । पार्थवम् । वधु । वाधवम् । पितृ । पैत्रम् । व्यादिग्रहणं
मृत्समुदायस्य विशेषणमित्यन्थे । व्यादेर्मुद इगन्तात् । कृशानु । कार्शानवम् । प्रतिहृत् । प्रातिहार्यम् ।

१. वक्तिक अ०, पू० । २. प्रमातृ अ० । ३. सूत्रम् “अनः” इत्येव । अणित्यनुवृत्त्यभिप्रायेण
“अनः अणि” इति ।

इह (विश्च) ना च विनरौ । चित्रे (विनु) भावः कर्म वा परत्वाद्द्वन्द्वलक्षणो बुञ् । चैत्र (वैत्र)-
कमिति । कथं काव्यम् ? कविशब्दो ब्राह्मणादिषु पठनीयः । व्यादेरिति किम् ? पायडुत्वम् । पायडुता । इह
इति किम् ? वकुलत्वम् ।

योडो रूपोत्तमाद् बुञ् ॥३१४१२२॥ त्रिप्रभृतीनामन्त्यम् उत्तमम्, उत्तमस्य समीपप्रभृत्तमम्,
रूपोत्तमं यस्य मृदः, तद्रूपोत्तमम् । योडो मृदो रूपोत्तमाद् बुञ् भवति । तस्य भावकर्मणोरिति वर्तते ।
रमणीयस्य भावः कर्म वा, रमणीयकर्म । औपाध्यायकर्म । योड इति किम् ? कापोत्तम् । रूपोत्तमादिति
किम् ? क्षात्रियम् । कुवलयत्वम् । रूपान्त्यादिति वक्तव्ये उत्तमग्रहणं त्रिप्रभृतिनामचां परिग्रहार्थम् ।
तेनेह न भवति । कायत्वम्, कायता । कथं ज्ञायते तमशब्दोऽयमातिशयिकः । अयमेतेषामतिशयेन
उद्गाततम इति, “सन्महत्परमोत्तमोऽकृष्टम्” [१३१५६] इति निपातनात् । “किमेभिड्किम्मादामद्रव्ये”
[४१२१०] इति आम्न भवति । अव्युत्पन्नं वा मृद्रूपम् । त्रिप्रभृत्यन्तवाचि बुपोत्तमादिति सिद्धे
रग्रहणंमनेकहलत्व्यवधानेऽपि प्रापणार्थम् । आचार्यकर्म इति । “सहायाद्वेति वक्तव्यम्” [वा०] । साहाय-
कम् । साहाय्यम् ।

द्वन्द्वमनोज्ञादेः ॥३१४१२३॥ द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च बुञ् भवति । तस्य भावकर्मणोरिति वर्तते ।
कुरुकाशीनां भावः कर्म वा कौरुकाशिका । भारतवाहुबलिका । श्रीपालवसुपालिका । मनोज्ञादिभ्यः । मनोज्ञस्य
भावः कर्म वा, मानोज्ञः । प्रियरूप । आदो (अभि) रूप । कल्याण । मेधाविन् । आद्य (त्व्य) । सुकुमार ।
कुलपुत्र । छान्दस । छात्र । श्रोत्रिय । चौर । धूर्त । वैश्वदेव । युवन् । यौवनिका । “प्रकृत्याऽके राजन्य-
मनुष्ययुवानः” [वा०] इति प्रकृतिभावः । ग्रामपुत्र । ग्रामखण्ड । ग्रामकुमार । अमुष्यपुत्र । अमुष्यकुल ।
शरपुत्र । गोत्र ।

बुद्धचरणाच्छ्लाघाऽत्याकारावेते ॥३१४१२४॥ बुद्धवाचिनश्चरणावाचिनश्च मृदो बुञ् भवति
भावकर्मणोरर्थयोः श्लाघादिषु विषयभूतेषु द्योत्येषु वा । श्लाघो विकत्यनं स्मय इत्यर्थः । अत्याकारः परावि-
(चि) क्षेपः । अवेतः अवगतः । गार्गिकया श्लाघते । गार्गिकया अत्याकुरुते । गार्गिकामवेतः । चरणात् ।
काठिकया श्लाघते । काठिकया अत्याकुरुते । काठिकामवेतः । श्लाघादिष्विति किम् ? काष्ठेन प्रसिद्धः ।
प्राणिजातिलक्षणोऽञ् ।

होत्राभ्यश्छुः ॥३१४१२५॥ होत्राशब्द ऋत्विजां वाचकः । बहुलनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः । होत्राभ्य
ऋत्विग्विशेषवाचिभ्यः शब्देभ्यश्छो भवति भावकर्मणोरर्थयोः । अच्छावाकस्य भावः कर्म वा, आच्छावाकीयम् ।
मैत्रावरुणीयम् । ब्राह्मणाच्छंसीयम् । अच्छावाकत्वम् । अच्छावाकता । अथवा होत्रा कठः । अच्छावाकशब्द-
सहचरिता ऋक् अच्छावाक् । मैत्रावरुणीशब्दसाहचर्याद् मैत्रावरुणी । ब्राह्मणाच्छंसिशब्दसहचरिता ऋक्
ब्राह्मणाच्छंसी । “होत्राभाः स्वार्थे को (छो) वक्तव्यः” [वा०] । होत्रैव होत्रीयः ।

ब्रह्मणस्त्वः ॥३१४१२६॥ ब्रह्मशब्दात् होत्रावाचिनस्त्वो भवति भावकर्मणोरर्थयोः । ब्रह्मणो भावः
कर्म वा ब्रह्मत्वम् । पुनरारम्भः तलादिनिवृत्त्यर्थः । यस्तु जातिवाची ब्रह्मशब्दः ब्राह्मणपर्यायः, ततस्त्वतलो
भवतः । ब्रह्मत्वम् । ब्रह्मता ।

धान्यप्ररोहणो खञ् ॥३१४१२७॥ भावकर्मग्रहणं निवृत्तम् । तस्येति वर्तते । प्रकर्षेण रोहन्ति
धान्यान्यस्मिन् प्ररोहणं क्षेत्रमित्यर्थः । धान्यविशेषवाचिभ्यः प्ररोहणोऽभिधेये खञ् भवति । प्रियङ्गुणां प्ररो-
हणं क्षेत्रं प्रैयङ्गवीणम् । मौद्गीनम् । गौधूमीनम् । धान्यानामिति किम् ? तृणानां प्ररोहणं चत्वरम् । प्रग्रहणं

परोवरपरम्परपुत्रपौत्रमनुभवति ॥३१४१३५॥ निर्देशादेव समर्थविभक्त्युपादानम् । परोवर परम्पर पुत्रपौत्र इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्योऽनुभवतीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । पराँश्च अवरारँश्च अनुभवति परोवरीणः । त्यसस्त्रियोगे परोवरभावो निपात्यते । पराँश्च परतराँश्च अनुभवति परम्परीणः । त्यसन्नियोगे पर-परतरयोः परम्परभावः । कथं मन्त्रिपरम्परा मन्त्रं भिनत्तीति प्रयोगः ? शब्दान्तरमप्यस्ति । पुत्रपौत्राननुभवति पुत्रपौत्रीणः ।

अवारपारात्यन्तानुकामंगामी ॥३१४१३६॥ अवारपारं अत्यन्त अनुकाम इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्यो गामीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । गमिष्यतीति गामी । “आवरयकाऽधमर्णयोषिन्” [२१३११४६] इति आव-रयकार्थे षिन् । वक्तृकालभावस्य “गम्यादिवर्त्त्यति” [२१३११] इति वचनात् । अवारपारं गामी अवारपारीणः पोतः । विगृहीतादपि भवति । अवाररीणः । पारीणः । “विपरीताच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] पारावारीणः । अतएव निपातनात्पारस्य वा पूर्वनिपातः । अन्तस्याभावोऽत्यन्तम् । “कि” [११३१५] इति अर्थ्याभवे हसः । अथवा अन्तमतिक्रान्तः अत्यन्तः । “तिक्रमादयः” [११३१६१] इति षसः । हसपक्षे वान्तादपि वचनात्क्षः । अत्यन्तं गामी अत्यन्तीनः । कामस्याऽनुरूपमनुकामम् । यथार्थे हसः अनुगतो वा कामः, अनुकामः । अनुकामं गामी अनुकामीनः ।

समां समां विजायते ॥३१४१३७॥ समा संवत्सरः । तदेकदेशे समाशब्द उपचरितः । विजनन-क्रियायाऽवश्याविच्छेदात् “काळाध्वन्यविच्छेदे” [११४१३] इतीप् । वीप्सायां द्वित्वम् । समां समां शब्दा-द्विजायते इत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । मृदवि (घि) कारेऽपि सुबन्तसमुदायाद् वचनात्क्षः । समां समां विजायते समांसमीना गौः । समांसमीना वडवा । त्ये कृते “सुपो डुमृदोः” [११४१४२] इति सुप उप् । पूर्वपदे सुपोऽनुबन्धव्यः । यदा संवत्सरे समाशब्दः प्रवर्तते तदा समायां समायामिति विग्रहेऽपि समांसमीना गौः । त्यविषये पूर्वपदस्य समां भावो निपात्यते, उत्तरपदस्य च पादः खम् । परिशिष्टस्य तु सुपः “सुपो डुमृदोः” [११४१४२] इत्युप् ।

अनुग्वलंगामी ॥३१४१३८॥ अनुग्विति क्रियाविशेषणम् । अनुगुशब्दात् अलङ्गामी इत्येतस्मि-न्नर्थे खो भवति । गवां पश्चात् अनुगु । पश्चादर्थे हसः । अनुगु अलङ्गच्छति अनुगवीनः ।

यखावध्वनः ॥३१४१३९॥ इवत्र समर्था संभवति अध्वशब्दादिप्समर्थ्यादलङ्गामीत्यस्मिन्नर्थे यखौ त्यौ भवतः । अध्वानमलङ्गच्छति अध्वन्यः, अध्वनीनः यदा यस्तदा “येऽखौ” [११४१३९] इति टिखप्रति-षेधः । अन्यत्र “खेऽध्वनः” [११४१६०] इति टिखाभावः ।

छुआऽभ्यमित्रात् ॥३१४१४०॥ अभ्यमित्रमभि अभ्यमित्रम् । “वीप्सेत्थंभूतलक्षणेऽभ्यमित्रे” [११४११] इतीप् “लक्षणेनाभिसुख्येऽभ्यमित्री” [११३११] इति हसः । क्रियाविशेषणमेतत् । अभ्यमित्र-शब्दाद् वासमर्थ्यादलङ्गामीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति यखौ च । अभ्यमित्रमलङ्गच्छति, अभ्यमित्रनीयः, अभ्य-मित्र्यः, अभ्यमित्रिणीः ।

गौष्ठोनाश्वीनकौपीनशालीनब्रातीनसामपदीनहैयङ्गवीनम् ॥३१४१४१॥ गौष्ठीनादयः शब्दा निपात्यन्ते । गावस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति गोष्ठः । “सुपि” [२१२१७] “स्थः कः” [२१२१८] इति कः । गोष्ठ-शब्दाद् भूतपूर्वोपाधिकार स्वार्थे खञ् निपात्यते । गोष्ठो भूतपूर्वो गौष्ठीनो देशः । चरयोऽपवादः । अरव-

१. “स्थः” इत्येव सूत्रम् । अनुवृत्त्यभिप्रायेण “स्थः कः” इति वृत्तौ ।

शब्दात् तासमर्थादेकाहगम इत्यस्मिन्नर्थे खञ् । गम्यते गमः । एकमहः, एकाहः । एकाहेन गमः, एकाह-
गमः । “साधनं कृता” [१।३।२६] इति सः । अश्वस्य एकाहगम आश्वीनोऽध्वा । आश्वीनानि पञ्चदश-
योजनानि । कूपावतरणशब्दादिप्समर्थाद्दृहतीत्यस्मिन्नर्थे खञ्, घुखं च निपात्यतेऽकार्येऽभिधेये । कूपावतरण-
मर्हति कौपीनं पापम् । करोतिः क्रियासामान्येन वर्तते । तेनाऽद्रष्टव्यमप्यकार्यम् । कौपीनमिन्द्रियम् । तात्स्थ्याद्
वल्गमपि । शालाप्रवेशशब्दादिप्समर्थाद्दृहतीत्यस्मिन्नर्थे खञ् निपात्यते घुखं चाष्टष्टेऽभिधेये । शालाप्रवेश-
मर्हति शालीनः । अप्रगल्भ इत्यर्थः । व्रातकर्मशब्दाद् भासमर्थाद्जीवतीत्यस्मिन्नर्थे खञ्, घुखं च । नाना-
जातीया अनियतवृत्तय उल्लेखजीविनः संघा व्राताः । उल्लेखः शरीरम्, तदायसेन ये जीवन्ति ते उल्लेख-
जीविनः । व्रातकर्मणा जीवति व्रातीनः । तेषामेव व्रातानामन्यतमो यस्त्वन्यो व्रातकर्मणा भारोद्वहनेन
जीवति स व्रातीन इति नेष्यते । सप्तपदशब्दाद् भासमर्थाद्वाप्यते इत्यस्मिन्नर्थे खञ् निपात्यते सख्येऽभिधेये ।
सप्तभिः पदैरवाप्यते सातपदीनं सख्यम् । कथं सातपदीनं मित्रमिति सामानाधिकरण्यात् ? अर्शआदिपाठाद-
कारो मत्वर्थयो द्रष्टव्यः । ह्योगोदोहशब्दान्तासमर्थाद्विकार इत्यस्मिन्नर्थे खञ् निपात्यते प्रकृतेश्च हियङ्कु-
भावः । संज्ञायां ह्योगोदोहस्य विकारः हैयङ्गवीनम् । अभिनवघृतस्य संज्ञा । अन्यत्र ह्योगोदोहस्य विकारः,
अग्नि, ह्योगोदोहं तक्रम् ।

भूतपूर्वे चरट् ॥३।४।१४२॥ पूर्व भूतो भूतपूर्वः । “काळाः” [१।३।२५] इति क्लान्तेन षसः ।
अतएव निपातनादेवंजातीयेषु पूर्वशब्दस्य परनिपातो द्रष्टव्यः । भूतपूर्वे यन्ङ्याम्मृद्रूपं वर्तते तस्मात्स्वार्थे चरड्
भवति । आढ्यो भूतपूर्व आढ्यचरः । आढ्या भूतपूर्वा आढ्यचरी । “तसादौ” [४।३।१४७] इति पुंवद्-
भावः । यद्यपि भूतशब्दः पूर्वशब्दश्च अतीतकालवाचिनौ तथापि विशेषणविशेष्यभाव उपपद्यते । किञ्चित्कालं
भूतवेनावस्थाय दर्शनविषयतां नेदानीमस्तौत्ययं विशेषः पूर्वशब्दविशेषणात्प्रतीयते ।

ताया रूप्यश्च ॥३।४।१४३॥ भूतपूर्व इति वर्तते । तान्ताण्ड्याम्मृदो भूतपूर्वेऽर्थे रूप्यो भवति चरट्
च । देवदत्तस्य भूतपूर्वो गौः, देवदत्तरूप्यः, देवदत्तचरः । इहासामर्थ्यान्न भवति । कम्बलो देवदत्तस्य गौर्भूत-
पूर्वो जिनदत्तस्येति । इह ऋद्धस्य देवदत्तस्य भूतपूर्वो गौरिति समुदायस्यातान्तत्वादवयवस्य चासाम-
र्थ्यान्न भवति ।

पाकमूले पीलुकर्णादिभ्यः कुण्जाहौ ॥३।४।१४४॥ ताया इति वर्तते । तासमर्थेभ्यः पीलवादिभ्यः
कर्णादिभ्यश्च यथासंख्यं पाकमूलयोरर्थयोः कुण् जाह इत्येतौ भवतः । पीलूनां पाकः पीलुकुणः । पीलु । कर्कन्धु ।
शमी । करीर । बदर । कुवत् । अश्वत्थ । खदिर । कर्णादिभ्यो जाह । कर्णस्य मूलं कर्णजाहम् । कर्णं ।
अद्भि । मुख । नख । पाद । गुल्फ । भ्रू । दन्त । ओष्ठ । केश । शृङ्ग । पुष्प ।

पक्षात्तिः ॥३।४।१४५॥ ताया इति वर्तते । पक्षशब्दान्तान्तामूलेऽर्थे तिर्भवति । द्वयोः पीलुपाकयो-
रनुवर्तनेऽपि पाकस्याऽसम्भवान्मूलग्रहणमेवाभिसम्बध्यते । पक्षस्य मूलं पक्षात्तिः ।

तेन वित्तश्चुञ्चुचणौ ॥३।४।१४६॥ वित्तः प्रतीत इत्यर्थः । तेनेति भासमर्थाद्वित्त इत्येत-
स्मिन्नर्थे चुञ्चु चण इत्येतौ त्वौ भवतः । न्यायेन वित्तो न्यायचुञ्चुः । न्यायचणः । केशैर्वित्तः केशचुञ्चुः ।
केशचणः ।

विनङ्गमं नान्ताञ्चो न सह ॥३।४।१४७॥ न सहेति प्रकृतिविशेषणम् । कर्मादियोगाऽ-
सम्भवाद् वाविभक्तयत्र समर्था । असहार्थे वर्तमानाभ्यां विनङ्ग्यां यथासंख्यं नानाजो भवतः । स्वार्थे । न सह,
विना । न सह, नाना ।

वेः शालशङ्कटौ ॥३१४१४८॥ प्रादयः पुनरेवमात्मका यत्र क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषमाहुः । यत्र न प्रयुज्यते तत्र ससाधनां क्रियामाहुरिति । वेः ससाधनक्रियावचनाच्छालशङ्कट इत्येतौ त्रौ भवतः स्वार्थे । विसृषे (विगते) शृङ्गे विशाले । विशङ्कटे । तद्योगात्ताच्छब्दो (च्छब्दयम्) विशालो गौः । विशङ्कटो गौरिति । अथवा विशालादयः परमार्थतो गुणशब्दाः, ते यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्यन्ते । तेन विशालः पटः, विशालं यशः इत्येवमादि सिद्धम् ।

सम्प्रौदश्च कटः ॥३१४१४९॥ सम् प्र उद् इत्येतेभ्यो वेश्च कट इत्ययं त्रौ भवति । अत्रापि ससाव(घ)नक्रियावचनेभ्यस्त्यो वेदितव्यः । सङ्कष्टं सङ्कटम् । प्रकटम् । उक्तम् । विकटम् । विकट-दन्तयोगाद् विकटो हस्ती । “अलाबूतिकोमाभङ्गाभ्यो रजस्युपसंख्यानम्” [वा०] अलाबूनां रजः अलाबूकटम् । तिलकटम् । उमाकटम् । भङ्गाकटम् ।

कुटारश्चावात् ॥३१४१५०॥ अवात् ससाव(घ)नक्रियावचनात् कुटार इत्ययं त्रौ भवति कटश्च स्वार्थे । अवकृष्टः, अवकुटारः । अवकटः । “गोष्ठादयस्त्याः स्थानादिषु पशूनामिति वक्तव्यम्” [वा०] गवां स्थानं गोगोष्ठम् । महिषीगोष्ठम् । अजागोष्ठम् । “समूहो कटः” [वा०] अवीनां समूहः, अविकटः । पशुकटः । “विस्तारे पटः” [वा०] अवीनां विस्तारः, अविपटः । “द्वित्वे गीयुगः” [वा०] उग्रगीयुगम् । अश्व-गीयुगम् । महिषगीयुगम् । “प्रकृत्यर्थस्य षट्त्वे षड्गवः” [वा०] हस्तिनां षट्त्वं हस्तिषड्गवम् । “संस्कृते शस्यः” [वा०] पिठरे संस्कृतं पिठरशस्यम् । “विकारे स्नेहे तैलः” [वा०] इङ्गुदीनां स्नेहः इङ्गुदीतैलम् । “प्ररोहणे झाकटझाकिनौ” [वा०] इक्षूणां प्ररोहणं क्षेत्रम्, इक्षुशाकटम् । मूलशाकटम् । इक्षुशाकिनम् । मूलशाकिनम् ।

नते नासिकायाः खौ टीटनाटभ्रटाः ॥३१४१५१॥ अवादिति वर्तते । नमनं नतम् । नासिका नतवाचिनोऽवशब्दाद्दोष्ट नाट भ्रट इत्येते त्र्याः स्वार्थे भवन्ति खुविषये । नासिकाया इति सम्बन्धसामान्ये वा । तत्र यदा नासिकायाः कर्तृत्वविवक्षा, तदा सामानाधिकरण्येन विग्रहः । अवनता नासिका अवटीटा । अवनटा । अवभ्रटा । यदा सम्बन्धित्वविवक्षा तदा वैयधिकरण्येन, नासिकाया अवनतम्, अवटीटम् । अवनटम् । अवभ्रटम् । एवमुत्तरत्रापि विग्रहद्वयं ज्ञातव्यम् । तद्योगात्पुरुषेऽपि तथोच्यते । अवटीटः पुरुषः ।

नेविडबिरीसौ ॥३१४१५२॥ नते नासिकायाः खाविति वर्तते । निशब्दान्नासिकानतार्थवचनाद् विड बिरीस इत्येतौ त्रौ भवतः । निनता नासिका निविडा । निबिरीसा । निविडम् निबिरीसमिति वा । तद्यो-गात्पुरुषोऽपि निविडः । निबिरीसः । कथं निविडं वस्त्रं निविडाः केशा इति । उपमानात्सिद्धम् ।

केनौ वि(चि)क् ॥३१४१५३॥ नते नासिकायाः खाविति वर्तते निरिति च । नासिकानतार्थ-वाचिनो नेः क इन इत्येतौ त्रौ भवतः वि(चि)क् इत्ययञ्चादेशः प्रकृतैः । निनता नासिका वि(चि)क्ता । वि(चि) किना । तद्योगाद् वि(चि)क्को देवदत्तः । वि(चि)किनः ।

पिटे चिः ॥३१४१५४॥ नासिकानतार्थवाचिनो नेः पिटे त्र्ये परतश्चित्ययमादेशो भवति । अनेनैव पिटस्य विधानम् । निनता नासिका चिपिटा । तद्योगाच्चिपिटो देवदत्तः । “क्लिन्नस्य चिपिपटौ लर-क्षुषीति वक्तव्यम्” [वा०] क्लिन्नं चक्षुः चिल्लम्, पिल्लम् । तद्योगाद्देवदत्तोऽपि चिल्लः । “चुलादेशश्च वक्तव्यः” [वा०] क्लिन्नं चक्षुः चुल्लम् । तद्योगाद्देवदत्तोऽपि चुल्लः ।

उपत्यकाऽवित्यके ॥३१४१५५॥ उपत्यका अवित्यका इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । उपशब्दात्परवता-सन्ने देशे वर्तमानात्स्वार्थे त्यक इत्ययं त्रौ निपात्यते इत्वाभावश्च स्त्रीलिङ्गे खुविषये । परवतमुपासन्नो देश

उपत्यका । अर्थात्वेतस्मात्पर्वतमारूढे देशे वर्तमानात्यक इत्वाभावश्च औलिङ्गे खुविषये । पर्वतमध्यारूढो देशोऽधित्यका ।

कर्मठः ॥३१४१५६॥ कर्मठ इति निपात्यते । कर्मशब्दादीप्समर्थाद्घटते इत्यस्मिन्नर्थेऽठो निपात्यते । कर्मणि घटते कर्मठः ।

तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतः ॥३१४१५७॥ तदिति वासमर्थेभ्यः सञ्जातोपादि (धि)-भ्यस्तारकादिभ्योऽस्येति ताऽर्थे इतो भवति । तारकः सञ्जाता अस्य तारकितं नमः । पुष्पिता लता । तारका । पुष्प । कर्णक । ऋजीष । सूत्र । निष्कमण । पुरीष । उच्चार । प्रचार । कुड्मल । मुकुल । कुसुम । स्तवक । किसलय । वेग । वेश । निद्रा । बुसुन्ना । पिपासा । श्रद्धा । स्वप्न (श्वप्न) । अन्न । रोग । अङ्गारक । वर्षक । द्रोह । सुख । दुःख । उक्कण्ठा । भर । व्याधि । “गर्भाद्प्राणिनि” [ग० सू०] गर्भिताः शालयः । अप्राणिनीति किम् ? गर्भिणी गौः ।

प्रमाणे द्वयसङ्घट्टनमात्रतः ॥३१४१५८॥ तदस्येति वर्तते । तदिति वासमर्थात्प्रमाणेऽर्थे वर्तमानादस्येति ताऽर्थे द्वयसङ्घट्टनमात्रतः इत्येते त्या भवन्ति । प्रमाणस्य प्रमेयापेक्षत्वात्प्रमेयस्यार्थः । ऊहः प्रमाणमस्य ऊहद्वयसम् । ऊहमात्रम् । यद्यप्यायामः प्रमाणत्वेन प्रसिद्धस्तथाप्यभिधानवशाद् द्वयसङ्घट्टनवृद्धमाने, मात्रतः पुनरविशेषण । कर्षमात्रं घृतम् । प्रस्थमात्रं धान्यम् । धनुर्मात्रं भूमिः । “प्रमाणशब्दा ये प्रसिद्धास्तेभ्यो द्वयसङ्घट्टनीनां ध्वंसनं वक्तव्यम्” [वा०] समः प्रमाणमस्य समः । दिष्टिः प्रमाणमस्य दिष्टिः । वितस्तिः । “राच्च ध्वंसनं वक्तव्यम्” [वा०] द्वौ समे प्रमाणमस्य द्विसमम् । त्रिसमम् । द्विदिष्टिः । द्विवितस्तिः । तदन्तविध्यभावात्पूर्वेणाप्राप्तिः । चकारः किमर्थः ? संशये स्थायिनं मात्रतं वक्ष्यति । तत्राऽपि राद्ध्वंसनमेव यथा स्यात् । “डट् स्तोमे वक्तव्यः” [वा०] पञ्चदशाहानि परिमाणमस्य यज्ञस्य पञ्चदशः स्तोमः । सप्तदशः । पञ्चदशी रात्रिः । छन्दसि पूर्वमेव सिद्धमङ्गदोषयार्थमेतत् । “शत्रुशतोर्दिनि-वक्तव्यः” [वा०] पञ्चदशाहोरात्राः परिमाणमेषां पञ्चदशानाऽर्द्धमात्राः । त्रिंशिनो मासाः । द्वात्रिंशिनो देवेन्द्राः । त्रयस्त्रिंश इत्यपीष्यते । “विंशतेरचेति वक्तव्यम्” [वा०] विंशिनो भवनेन्द्राः । विंशिनोऽङ्गिरसः । “प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये मात्रतः वक्तव्यः” [वा०] समः प्रमाणमस्य स्यात् सममात्रम् । वितस्ति-मात्रम् । प्रस्थः परिमाणमस्य स्यात् प्रस्थमात्रम् । कुडवमात्रम् । पञ्च संख्याः पथां स्यात् पञ्चमात्राः । पुरुषाः दशमात्राः । उक्तं च -

“प्रमाणध्वंसनं राच्च डट्स्तोमे शत्रुशतोर्दिनिः । प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये ॥”

“स्वार्थे द्वयसम्पन्नात्रटौ बहुलं वक्तव्यौ” [वा०] तावदेव तावद्द्वयसम् । तावन्मात्रम् । यावदेव यावद्द्वयसम्, यावन्मात्रम् ।

पुरुषहस्तिनोऽण् च ॥३१४१५९॥ तदस्येति वर्तते प्रमाण इति च । पुरुष-हस्तिशब्दाभ्यामण् च भवति, द्वयसङ्घट्टनश्च भवन्ति । पुरुषः प्रमाणमस्य पौरुषम् । पुरुषद्वयसम् । पुरुषद्वन्म् । पुरुषमात्रम् । हस्ती प्रमाणमस्य हास्तिनम् । “प्राचोऽनपत्येऽण्निः” [३१४१५५] इति टिखप्रतिषेधः । हस्तिद्वयसम् । हस्तिद्वन्म् । हस्तिमात्रम् । प्रमाणशब्दाच्च प्रसिद्धौ “प्रमाणाद्ध्वंसनमिति” च भवति । पुरुषः प्रमाणमस्य पुरुषः । “अणादीनां ध्वंसनवचनाच्छ्रवणोच्चारश्चेति ध्वंसनं द्वयसङ्घट्टनीनामेव द्रष्टव्यम् ।” अण् तदन्तान् सम्भवति । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्य द्विपुरुषं जलम् । द्विपुरुषी द्विपुरुषा वा खाता । द्विहस्ति जलम् । द्विहस्तिनी नदी । नान्तलान्जीविधिः ।

यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुः ॥३।४।१६०॥ तदस्येति वर्तते । यद् तद् एतद् एतेभ्यः परिमाणो-
पाचिभ्योऽस्येति ताऽर्थे वतुर्भवति । यत्परिमाणमस्य यावान् । तावान् । एतावान् । “आ सर्वनाम्नः”
[४।३।१६७] इति दकारस्यात्वम् । प्रमाणे ग्रहणोऽनुवर्तमाने परिमाणग्रहणं किम् ? प्रमाणे द्वयसडादीनां
बाधा मा भूत् । यद्द्वयसम् । प्रमाणपरिमाणयोर्भेदाद्वत्त्वं तदपि (क्वन्तादपि) द्वयसडादयः सिद्धाः ।
यावन्मात्रम् ।

इदमो वो घः ॥३।४।१६१॥ इदमित्येतस्मादुत्तरस्य वतोर्वकारस्य घकार आदेशो भवति । इदमेव
शापकम् । इदमो वतुर्भवतीति । इदम्परिमाणमस्य इयान् । घस्य इयादेशः । “किमिदमोः कीश्” [४।३।१६६]
इति इदमः ईशादेशः । “यस्य ड्याञ्च” [४।४।१३६] इति खः । त्यमात्रमेवावशिष्टम् । तस्य व्यपदेशिवद्-
भावात् मृत्संज्ञा “परस्यादेः” [१।१।५१] इत्येव सिद्धे व इति स्थानिनिर्देशः किमर्थः ? घस्य त्यान्त-
रत्वं मा भूत् ।

किमः ॥३।४।१६२॥ किम इत्येतस्मात्परस्य वतोर्वकारस्य घकार आदेशो भवति । अनेनैव वतो-
र्विधानम् । किम्परिमाणमस्य कियान् ।

सङ्ख्यापरिमाणे डतिश्च ॥३।४।१६३॥ किम इति वर्तते तदस्येति च । परिमितिः परिमाणम् ।
सङ्ख्यायाः परिमाणं परिच्छित्तिः । सङ्ख्यापरिमाणे वर्तमानात् किमो वासमर्थादस्येति ताऽर्थे डतीत्यर्थं ल्यो
भवति वतुश्च । वतोर्वकारस्य च वकारादेशः । का संख्या एषां कृतीमे पुरुषाः । द्वित्वैकत्वयोः सम्परिप्रश्नस्या-
भावात् । बहन्तमेवोदाहरणम् । अथवा परिमीयतेऽनेनेति परिमाणम् । सङ्ख्यैव परिमाणं सङ्ख्यापरिमाण-
मिति यसः । अस्मिन्पक्षे परिमाणग्रहणं सङ्ख्याविशेषणं किमर्थम् ? तथाहि का संख्या एषाम्, किम्परिमाण-
मेषामिति एक एवार्थः । एवं तर्हि यत्र सङ्ख्याऽन्वेषविषया तत्र मा भूत् । केयमेषां संख्या पञ्चानामिति ।
परिमाणग्रहणोऽत्र वर्तमाने पुनः परिमाणग्रहणं विस्पष्टार्थम् ।

सङ्ख्याया अत्रयवे तयट् ॥३।४।१६४॥ तदस्येति वर्तते । तदिति वासमर्थायाः सङ्ख्यायाः अत्र-
यवोपाधिकाया अस्येति तार्थे तयट् भवति । सामर्थ्यादवयविनि तयट् वेदितव्यः । पञ्च अत्रयवा यस्य पञ्चतयो
यमः । दशतयो घर्मः । सप्ततयो नयष्टतिः ।

उभात्खम् ॥३।४।१६५॥ उभशब्दादुत्तरस्य तयटः खं भवति । इदमेव शापकं भवत्युभशब्दात्तयटि ।
उभाववयवावस्य उभयो मणिः । उभये देवमनुष्याः । उभयशब्दः सर्वादिषु पठ्यते ।

द्वित्रिभ्यां वा ॥३।४।१६६॥ द्वित्रिभ्यामुत्तरस्य तयटो वा खं भवति । “परस्यादेः” [१।१।५१]
इति तकारस्य खम् । द्वयम्, द्वितयम् । त्रयम्, त्रितयम् । द्वये, द्वयाः । खेपनेष्याः (त्रये । त्रयाः)
एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् “प्रथमचरम्” [१।१।४१] इत्यादिना जसि वा सर्वनामसंज्ञा ।

तदस्मिन्नधिकमिति शदशान्ताड्डः ॥३।४।१६७॥ तदिति वासमर्थात्शदशान्तान्मृदोऽधिकोपाधि-
विशिष्टादस्मिन्नितीवर्थे डो भवति । इतिकरणस्तत्तत्केद् विवक्षा । सङ्ख्या इति वर्तते । त्रिंशदधिका
अस्मिन् शते त्रिंशं शतम् । चत्वारिंशं शतम् । ननु शदिति त्यग्रहणे “त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणमित्यन्त-
ग्रहणमनर्थकम् । एवं तर्ह्यन्तग्रहणसामर्थ्यादेकत्रिंशदादीनामपि सङ्ख्याशब्दानां ग्रहणम् । एकत्रिंशदधिका
अस्मिन् शते एकत्रिंशं शतम् । द्वात्रिंशम् । त्रयस्त्रिंशम् । दशार्थं वाऽन्तग्रहणम् । एकादश
अधिका अस्मिन् शते एकादशं शतम् । एवं द्वादशम्, त्रयोदशम् । इह कस्मान्न भवति । एकादश
माषा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते इति ? यज्जातीयत्यार्थस्तज्जातीय एव प्रकृत्यर्थे सति

त्य इष्यते । इह तर्हि प्राप्नोति । एकादश कार्षापणा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते, गोत्रिश-
दधिका अस्मिन् गोशत इति सङ्ख्याया इत्यनुवृत्तेर्न भवति । इतिकरणः किमर्थः ? शतसहस्रयोरेवाभि-
धानमिति ज्ञापनार्थः । तेनेह न भवति । एकादश अधिका अस्यां त्रिशति, एकत्रिंशदधिका अस्यां षष्टा-
विति । कथम् एकादशं शतसहस्रमिति ? अत्रापि शतसहस्रयोरन्यतरप्राधान्यमस्ति । उक्तञ्च—

“अधिके समानजाताविष्टः शतसहस्रयोः । यस्य सङ्ख्या तदाधिक्ये ङः कर्तव्यो मतो मम ॥”
[पा० म० ५।२।४४] ।

विंशतेश्च ॥३।४।१६८॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । विंशतिशब्दाद् वासमर्थादधिकोपाधिविशिष्टा-
दस्मिन्नितिबर्थे ङो भवति । चशब्दात् विंशत्यन्तादपि भवति । विशतिरधिका अस्मिन् शते विंशं शतं
सहस्रम् । तदन्तात् । एकविंशं शतम् । इकविंशं सहस्रम् । “ते विंशतेर्ङिति” [३।४।१२८] इति खे
कृते “एष्यतोऽपदे” [३।३।८४] इति पररूपत्वम् । संख्याया इत्येव । गोविंशतिरधिका अस्मिन्
गोशते इति ।

सङ्ख्याया गुणस्य निमाने मयङ् ॥ ३।४।१६९ ॥ “तदस्य सञ्जातम्” [३।३।१५७]
इत्यतः तदस्येत्यनुवर्तते । गुणो भाग इत्यर्थः । गुणो निमीयते परिवर्त्यते विक्रीयते वा येन तन्निमानं
मूल्यमित्यर्थः । तदपि सामर्थ्याद् भाग एव । यतो गुणैरेव गुणो निमीयते । तदिति वा-
समर्थायाः संख्याया गुणस्य निमाने वर्तमानाया अस्येति ताऽर्थे निमेयेऽभिधेये मयङ् भवति ।
गुणस्येति कर्मणि ता । यवानां द्वौ भागौ निमानमस्योदश्विद्ग्रहणस्य द्विमयमुदश्वित् यवानाम् । द्विगुणं
मूल्यमित्यर्थः । एवं त्रिमयं चतुर्मयम् । यथा अणादयः शब्दशक्तिस्वाभाव्यादपत्यापत्यवत्सम्बन्धे विधीयमाना
अपि प्राधान्येन सम्बन्धमाचक्षते । अपगवोदरन्नि(औपगवोदात्ति)रिति । तथा मयङ्भागो विधीयमानो
भागवन्तमाचष्टे तेन द्विमयमुदश्वित् इति सामानाधिकरस्यन् । टिकरणं द्वौ गुडस्य एकं शर्करायाः द्विमयी
शर्करा । गुणनिमान इति वक्तव्ये गुणस्येत्येकत्वं विवक्षितम् । तेनेह न भवति । यवानां त्रयो भागा निमानमु-
दश्वितः । द्वयोर्भागयोरिति अधिकायाश्च संख्यायास्य इष्यते । तेनेह न भवति । एको भागो निमानमस्यो-
दश्विद्भागस्येति । इह तर्हि प्राप्नोति द्वौ यवानामध्यर्ध उदश्वित इति । अत्रापि गुणस्येति समर्थनिर्देशादेव
न भवति । तदपेक्षया प्रकृतेरपि निरंशसंख्यानं द्रष्टव्यम् । तेनेह न भवति अध्यर्धो यवानाम् एकस्योदश्वित
इति । न च सकविधेरन्यत्र अध्यर्धशब्दस्य संख्यात्वमिष्टम् । गुणस्येति किम् ? द्वौ ब्रीहियवौ निमान-
मस्योदश्वितः । अत्र भागस्येति न प्रयुक्तम् । निमान इति किम् ? द्वौ गुणौ चारस्य एकस्तैलस्य द्विगुणं
क्षीरेण तैलपक्कम् । नात्र वासमर्थं गुणं निमाने वर्तते । अन्ये अन्यथा सूत्रार्थं वर्णयन्ति । निमीयते इति
निमानं निमातव्यम् । बहुलवचनात्कर्मणि युट् । गुणस्येति कर्तरि ता । करणस्यापि कर्तृत्वेन विवक्षितत्वात् ।
“वासमर्थायाः संख्याया गुणस्य निमेये वर्तमानयोः” [वा०] निमानेऽभिधेये मयङ् भवति । उदश्वितो द्वौ
भागौ निमेयस्य यवभागस्य द्विमया यवा उदश्वितः । त्रिमयाः । चतुर्मया यवाः । अत्र व्याख्याने समर्थमुदश्वित्,
यवास्तु त्वार्थः । पूर्वत्र महार्धमुदश्वित् , तदेव च त्वार्थः । मतद्वयमपि प्रमाणात् ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः

पादः । समाप्तश्च तृतीयोऽध्यायः ।

चतुर्थोऽध्यायः

तस्य पूरणे डट् ॥४११॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । पूर्यतेऽनेनेति पूरणः । तस्येति तासमर्थात्सङ्ख्या-
वाचिनः पूरण इत्येतस्मिन्नर्थे डट् भवति । एकादशानां पूरण एकादशः । द्वादशः । द्वादशी । द्वितीयमपि
सङ्ख्याग्रहणमनुवर्तते । तत्सङ्ख्यानप्रधानं सत् त्वार्थविशेषणम् । सङ्ख्याया डट् भवति सङ्ख्यानपूरण
इति न सङ्ख्येयपूरणे डट् भवति । एकादशानामुष्टिकाणां (मुष्टिकानां) पूरणो घट इति । ननु नात्र एका-
दशम्यः प्रकृत्यर्थभूतेभ्योऽन्यः पूरण इत्यर्थ उपलभ्यते । अतो वृत्तिर्न प्राप्नोति । नैष दोषः । समुदायस्य चाव-
यवानां च कथञ्चिद् भेद इति । यथा वृत्तान्तभृताऽपि शाखा वृत्त्येति व्यवहियते । उक्तञ्च—

“बहूनां वाचिका (वाचिका) सङ्ख्या पूरणं त्वैक इष्यते । अन्यत्वाद्बभूवोर्बृत्तिर्वाक्षीं शास्त्रानिदर्शनम् ॥”
[पा० म० १।१।४८] ।

नोऽसे मट् ॥४१२॥ न इति वर्णनिर्देशः । वर्णग्रहणं सर्वत्र तदन्तविधिं प्रयोजयति ।
नकारान्तात्सङ्ख्यावाचिनो मृदो मड् भवत्यसे तस्य पूरण इत्यस्मिन्विषये । डटोऽपवादः । पञ्चानां पूरणः
पञ्चमः । सप्तमः । सप्तमी । अस इति किम् ? एकादशानां पूरण एकादशः ।

षट्कतिकतिपयचतुरां शुक् ॥४१३॥ मूलसूत्रे विहितो यो डट् तस्येहानुवर्तमानस्यार्थवशादी-
बन्तात्षट् कति कतिपय चतुर इत्येतेषां डटि परतस्थुगागमो भवति । इदमेव डटि शुग्वचनं ज्ञापकं भवति ।
कतिपयशब्दादपि डट् । षण्णां पूरणः षष्ठः । कतिथः । कतिपयथः । चतुर्थः । शुग्वचनसामर्थ्याद्विखं न
भवति । पूर्वान्तकरणं पदकार्यनिवृत्त्यर्थम् । इह कतिपयानां स्त्रीणां पूरणी कतिपयथी । “तस्य हृत्यडे” [वा०]
इति विषयनिर्देशात्प्रागेव शुक्ः पुंवद्भावः । “चतुररक्षुयावाद्यक्षरशु (स्य) खं चेति वक्तव्यम्” चतुर्णां
पूरणः, तुरीयः, तुर्यः ।

बहुपूगगणसङ्ख्यस्य तिथुक् ॥३१४॥ डडिति वर्तते । बहु पूग गणः ङ्ङ इत्येतेषां डटि परतस्ति-
थुगागमो भवति । डडि (टि) ति शुग्वचनं ज्ञापकं भवति पूगसङ्ख्याभ्यां डट् । बहूनां पूरणः बहुतिथः । पूग-
तिथः । सङ्ख्यतिथः । गणतिथः । इह बहूनां पूरणी बहुतिथी । “तस्य हृत्यडे” [वा०] पुंवद्भावे कृते
तिथुगेदितव्यः ।

वतोरिथुक् ॥४१५॥ डडिति वर्तते । वत्वन्तस्य डटि परत इथुगागमो भवति । “वतोर्वेड्”
[३।१।२०] इत्यत्र वत्वन्तस्य संख्यासंज्ञा प्रतिपादिता । यावतां पूरणः यावतिथः । तावतिथः । एतावतिथः ।
इयतिथः । क्रियतिथः ।

द्वेस्तीयः ॥४१६॥ तस्य पूरण इति वर्तते । द्विशब्दात्तीय इत्ययं त्यो भवति । डटोऽपवादः । द्वयोः
पूरणः द्वितीयः ।

त्रेस्तु च ॥४१७॥ तस्य पूरण इति वर्तते । त्रिशब्दात्तीयो भवति तृ इत्यर्थं चादेशः । अयमपि
डटोऽपवादः । त्रयाणां पूरणः तृतीयः ।

शतादिमासार्धमाससंवत्सरात्तमट् ॥४१८॥ शतादिभ्यो मासार्धमास संवत्सर इत्येतेभ्यश्च
तमड् भवति तस्य पूरण इत्यस्मिन्विषये । डटोऽपवादः । शतस्य पूरणः शततमः । सहस्रतमः । लक्षतमः ।
“विंशत्यादेर्वा” [४।१।१०] इत्येषा विभाषा शतात् पूर्वां सङ्ख्यामवगाहते । मासार्धमाससंवत्सराणाम-
सङ्ख्याशब्दत्वात् डटाऽप्राप्ते तमट् । मासस्य पूरणो मासतमो दिवसः । अर्धमासतमः । संवत्सरतमः ।
संवत्सरतमी तिथिः ।

तेरसङ्ख्यादेः ॥४११९॥ तस्य पूरण इति वर्तते । “षड्ङ्ख्यादि” [३।४।५८] सूत्रे तिरिति ल्यो निपातितः । ल्यन्तात्सङ्ख्यावाचिनो मृदोऽसङ्ख्यापूर्वात्तमङ् भवति । “विंशत्यादेर्वा” [४।१।१०] इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थोऽयमारम्भः । षष्ठेः पूरणः षष्ठितमः । सप्ततितमः । अशीतितमः । नवतितमः । असङ्ख्यादेरिति प्रतिषेधः किमर्थः ? यावता तिरिति ल्यः, त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणमिति षष्ठ्यादीनामेव ग्रहणम्, तदन्तानां ग्रहणं नास्तीत्यसङ्ख्यादेरिति प्रतिषेधोऽनर्थकः । इदमेव ज्ञापकं भवति । इह सङ्ख्यापूर्वपदानामपि ग्रहणम् । तेन एकषष्ठेः पूरणः एकषष्ठः एकषष्ठितमः इत्येवमादिषु “विंशत्यादेर्वा” [४।१।१०] इति वा तमङ् भवति । पूर्वसूत्रेऽपि शतादेरुच्यमानस्तमङ् तदन्तादपि भवति । एकशततमः । एकसहस्रतमः । शतसहस्रतमः ।

विंशत्यादेर्वा ॥४१।१०॥ तस्य पूरण इति वर्तते । विंशत्यादिभ्यो वा तमङ् भवति । तमटा मुक्ते ड् भवति । विंशतेः पूरणः विंशतितमः, विंशः । एकविंशतितमः, एकविंशः । त्रिंशत्तमः, त्रिंशः । सङ्ख्या-पूर्वपदादपि भवतीति ज्ञापितम् । अथवा व्याप्तैर्न्यायात् । विंशत्यादयो लोकप्रसिद्धाः सङ्ख्याशब्दा गृह्यान्ते न “षड्ङ्ख्यादि” [३।४।५८] सूत्रे व्यवस्थिताः ।

डटौ ग्रहणे कः ॥४१।११॥ डडिति प्रत्याहारः । गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणम् । डडन्तान्मृदो ग्रहणोपाधि-विशिष्टात्स्वार्थे क इत्ययं ल्यो भवति । द्वितीयं ग्रहणं द्वितीयकम् । तृतीयकम् । व्याकरणस्य ग्रन्थ एवाऽभिधानम् । अन्यत्र द्वितीयं ग्रहणं धान्यस्येति वाक्यमेव भवति । “डटो वा उवक्तव्यः” [वा०] द्विको द्वितीयकम् । तुकम् । तृतीयकम् व्याकरणस्य । तेन “गृह्याल्युप्चेति वक्तव्यम्” [वा०] । डडन्ताद् भासमर्थाद् गृह्णाति इत्यस्मिन्नर्थे को भवति डटश्च नित्यमुप् । द्वितीयेन रूपेण गृह्णाति । कः । तीयस्य च उप् । द्विको देवदत्तः । एवं त्रिकः । “सञ्चियोगाशिष्ठानामन्यतरायाये उभयोरप्यभावः” इति तीये निवृत्ते प्रकृत्यादेशोऽपि निवर्तते । चतुर्थेन गृह्णाति चतुष्कः । डटि निवृत्ते शुभापि निवर्तते । “इदुदुङोऽस्यमसुदुसः” [५।४।२८] इति रेफस्य सत्वम् । “हृणः षः” (५।४।२७) इति षत्वम् । षष्ठेन गृह्णाति षट्कः । ग्रन्थ एवाभिधानम् । इह न भवति । द्वितीयेन गृह्णाति पुस्तकम् ।

स एषां ग्रामणीः ॥४१।१२॥ ग्रामणीमुख्य इत्यर्थः । स इति वासमर्थान्मुद एषामिति चतुर्थे को भवति । यत्तद् वासमर्थं ग्रामणीश्चेत्स भवति । देवदत्तो ग्रामणीरेषां देवदत्तकाः । जिनदत्तकाः । सङ्घेऽपीष्यते । देवदत्तो ग्रामणीरस्य सङ्घस्य देवदत्तकः ।

स्वाङ्गेषु प्रसिते ॥४१।१३॥ अद्रवं मूर्त्तिमत्स्वाङ्गमित्यादिना परिभाषितमिह स्वाङ्गम् । निर्देशादेव समर्थविभक्त्युपादानम् । स्वाङ्गवाचिभ्य ईप्समर्थेभ्यः प्रसित इत्यस्मिन्नर्थे को भवति । प्रसितः प्रसक्तः । केशेषु प्रसितः केशकः । “प्रसितोत्सुकार्थ्या भा च” [१।४।२२] इतीप् । एवं दन्तकः । नलकः । केशादिसंस्कारे केशादिशब्दा वर्तन्ते । बहुत्वनिर्देशः किमर्थः ? स्वाङ्गसमुदायादपि यथा स्यात् । नलकेशकः । मुखदन्तकः ।

तदस्मिन्नन्नं प्राये खौ ॥४१।१४॥ तदिति वासमर्थादस्मिन्नित्यर्थे को भवति । यत्तद् वासमर्थमन्नं चेत्यायविषयं तद् भवति । त्यान्तं चेत्यंज्ञायां वर्तते । नृपुटाः प्रायेणान्नमस्यां नृपुटिका पौर्यामासी । प्राय इति सूत्रे उपाधिलक्षणो वा विषयत्वलक्षणो वा ईभिर्निर्देशः । विग्रहे तु करणत्वविवक्षायां भा । अन्नविशेषणत्व-विवक्षायां वाऽपि भवति । नृपुटाः प्रायोऽन्नमस्यामिति । एवं गुडापूपाः प्रायेणान्नमस्यां गुडापूपिका । तिला-पूपिका । कृतशरिका । “वटकेभ्य इन्वक्तव्यः” [वा०] वटकिनी । खाविति किम् ? अ्रपूपाः प्रायेणाच(म) वन्तिषु ।

कुल्माषावण् ॥४१।१५॥ कुल्माषशब्दावण् भवति तदस्मिन्नन्नं प्रायेण खावित्यस्मिन्विषये । कस्यापवादः । कुल्माषाः प्रायेणान्नमस्यां कौल्माषी पौर्यामासी ।

कालप्रयोजनाद्रोगस्य ॥४११६॥ तदिति वर्तते खाविति च । तदिति वासमर्थान्मृदः काल-
प्रयोजनोपाधिकाद् रोगस्येति ताऽर्थे को भवति संज्ञायां गम्यमानायाम् । सततं कालोऽस्य सततकः । द्वितीयं
कालोऽस्य द्वितीयको ज्वरः । तृतीयकः । चतुर्थकः । प्रयोजनाद्—विषपुष्पप्रयोजनमस्य विषपुष्पको ज्वरः ।
काशपुष्पकः । पर्वतकः । कालनिमित्ताद्रोगस्येति च वक्तव्ये प्रयोजनग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम् । फलेऽपि
प्रयोजने यथा स्यात् । उष्णकार्यमस्य उष्णकः । शीतको ज्वरः ।

शृङ्खलकौदरिकसस्यकांशकतन्त्रकत्राहणकोष्णकोष्मकशीतकाऽधिकाऽनुकाऽभिकाऽ
भीकाऽनुपदिपार्श्वकायःशूलिकादःएडाजिनिकोत्कश्रोत्रियसाक्षीन्द्रियक्षेत्रियाः ॥४११७॥शृङ्ख-
लक इत्येवमादयः शब्दा निपात्यन्ते । शृङ्खलशब्दाद् वासमर्थाद् बन्धनोपाधिकादस्येति ताऽर्थे को
निपात्यते करभे । शृङ्खलं बन्धनमस्य गोरिति वाक्यमेव भवति । उदरशब्दादीप्समर्थात् प्रसित
इत्यस्मिन्नर्थे ठण् निपात्यते आद्यूने गम्यमाने । आद्यून उदरे अविजिगीषुरुच्यते । उदरे प्रसित औदरिकः ।
आद्यून इत्यर्थः । उक्तं च—

“मिताञ्जनं षट् सुगुणा क्जन्ते (भजन्ते) आरोग्यमायुश्च वपुर्वलञ्च ।

अनाविलम्बास्य भवत्यपत्यं न चैनमाद्यूनमिति क्षिपन्ति ॥”

अन्यत्र उदरे प्रसित उदरकः । स्वाङ्गेषु प्रसित इति कः । सस्यशब्दाद् भासमर्थात्परिजात इत्येत-
स्मिन्नर्थे कः । मस्येन परिजातः सस्यकः शालिः । सस्यको देशः । सस्यको वत्सः । वैगुण्यरहित इत्यर्थः ।
सस्यमिव सस्यम्, तेन परिजातः सस्यको मणिः । आका(क)रशुद्ध इत्यर्थः । ‘विग्रहे (अंश) शब्दादाप्सम-
र्थात् हरतीत्यस्मिन्नर्थे कः ।’ अंशं हरति अंशको दायदः । ‘तन्त्रशब्दात्कासमर्थादचिरापहत इत्यस्मिन्नर्थे
कः । तन्त्रादचिरापहतः तन्त्रकः पटः । ‘ब्राह्मणक उष्णक इत्येतौ शब्दौ खुद्विषये कस्यान्तौ निपात्येते ।’
ब्राह्मणको देशः । यत्रायुधजीविनो ब्राह्मणास्तस्य देशस्येयं संज्ञा । उष्णादल्पान्ने । उष्णका अल्पान्ना यवा-
गुरुच्यते । ‘उष्णशीतशब्दाभ्यां क्रियाविशेषणाभ्यां वासमर्थाभ्यां करोतीत्यस्मिन्नर्थे कः ।’ उष्णं करोतीति
उष्णकः । शीघ्रकारीत्यर्थः । शीतं करोति शीतकः । जड इत्यर्थः । ‘अधिकमित्यत्र अध्यारूढशब्दात्स्वार्थे के
द्यु खं च निपात्यते ।’ ‘श्लेषशब्दात्स्थान’ [२।४।५७] इत्यादिना यदाऽध्यारूढशब्दः कर्त्तरि व्युत्पाद्यते
तदाऽधिको द्रोणः खार्यामित्युदाहरणम् । यदा कर्मणि व्युत्पाद्यते तदा अधिका खारी द्रोणेनेत्युदाहरणम् ।
“अनुक अभिक अभीक इत्येते शब्दाः कस्यान्ताः क्मिता इत्यस्मिन्नर्थे निपात्यन्ते” । अनुकामयतेऽनुकः ।
अभिकामयतेऽभिकः । अभेर्वा दीत्वं निपात्यते । “अनुपदशब्दादन्वेष्टरि इन्निसास्यते ।” पदस्य पश्चादनुपदम् ।
(प) श्वादर्थे हसो भावप्रधानः । अनुपदमन्वेश अनुपदी गवाम् । “पार्श्वशब्दाद् भासमर्थादन्विच्छतीत्य-
स्मिन्नर्थे कः ।” अन्तुुरुपायः पार्श्वं पार्श्वेनान्विच्छति पार्श्वकः । ‘अयःशूलदण्डाजिनशब्दाभ्यां भासम-
र्थाभ्यामन्विच्छतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् ।’ तीक्ष्ण उपायोऽयःशूलम्, अयःशूलेनान्विच्छति आयःशूलिकः ।
दण्डाजिनेनान्विच्छति दाण्डाजिनिकः । दम्भप्रधान इत्यर्थः । “उत्क उन्मनास को निपात्यते ।” उत्कः प्रवासी ।
उत्कृष्टित इत्यर्थः । “कुन्दःशब्दादिप्समर्थादधीते इत्येतस्मिन्नर्थे घो निपात्यते प्रकृतेश्च श्रोत्रभावः ।”
कुन्दोऽधीते श्रोत्रियः । मनोज्ञादिपाठाच्छान्दस इत्यपि भवति । “साक्षात्शब्दाद् द्रष्टरि इन् खुद्विषये ।”
साक्षाद्द्रष्टा साक्षी । दातृप्रतिग्रहीतृभ्यां योऽन्य उपद्रष्टा तस्येयं संज्ञा । “इन्द्रशब्दात्तासमर्थाद्विष्णु इत्यस्मिन्नर्थे
घः ।” इन्द्रस्य लिङ्गम् इन्द्रियम् । इन्द्र आत्मा । अथवा इन्द्रं कर्म । इन्द्रेण जुष्टं सृष्टं दष्टं दत्तं वा इन्द्र-
यम् । तान्ताद् घः । “परश्वेशशब्दादीप्समर्थाच्चिकित्स्य इत्यस्मिन्नर्थे ण्यः परशब्दस्य च ऋम् ।” परश्वे-
चिकित्स्यः क्षेत्रियो व्याधिः । परश्वेत्त्रं जन्मान्तरशरीरमुच्यते ।

श्राद्धं भुक्तं ठोऽनेन ॥४११८॥ तदिति वर्तते । श्राद्धशब्दाद् वासमर्थाद् भुक्तोपाधिकादनेनेति

कर्तरि ठो भवति । श्राद्धं कर्मनामधेयम् । श्रद्धा प्रयोजनमस्य श्राद्धम् । “अणुप्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसंख्या-
नम्” [वा०] इत्यण् । “प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चा” [४।१।२८] आदिना मत्वर्थीयो वाण् । श्राद्धं भुक्तमनेन
श्राद्धिको देवदत्तः ।

इन् ॥४।१।१९॥ श्राद्धं भुक्तमनेनेति वर्तते । इन् भवति श्राद्धशब्दात् । श्राद्धं भुक्तमनेनेति श्राद्धी
देवदत्तः । योगविभाग उत्तरार्थः । “ठेनोः समानकाकग्रहणं वक्रव्यम्” । यस्मिन्नहनि श्राद्धमनेन भुक्तं
तस्मिन्नेव श्राद्धिकः श्राद्धी वा ऽभिधीयते । अद्य भुक्ते श्राद्धे श्रः श्राद्धिकः श्राद्धीति च न भवति ।

पूर्वात् ॥४।१।२०॥ तदिति वर्तते अनेनेति च । पूर्वशब्दाद् वासमर्थात् अनेनेति कर्तरि इन् भवति ।
कर्ता क्रियामन्तरेण न भवतीति पाकादिक्रिया व्याहर्तव्या । पूर्वशब्दः क्रियाविशेषणमिह गृह्यते । पूर्वमनेन
भुक्तं पीतं गतं वा पूर्वी । प्रतीयमानस्य कर्मणोऽनुप्रयोगः । ओदनं सुरां ग्रामं वा ।

सपूर्वात् ॥४।१।२१॥ सपूर्वाच्च मृदः पूर्वशब्दान्ताद् वासमर्थादनेनेत्यस्मिन्नर्थे इन् भवति । पूर्व-
सूत्रे यत् -क्रियापदमव्याहृतं तत्पूर्वात् पूर्वशब्दादिह त्यः । पूर्वं कृतमनेन कृतपूर्वी कटम् । भुक्तपूर्वी
ओदनम् । पीतपूर्वी सुराम् । त्योत्पत्तेः प्राक् मयूरव्यंसकादित्वात् [१।३।६६] सविधिः । “भूतपूर्वं
चरत्” [३।४।१४२] इति ज्ञापकात्पूर्वशब्दस्य परनिपातः । क्लान्तं भावे व्युत्पादनीयम् । अथापि कर्मणि
व्युत्पाद्यते । इत्युत्पन्ने क्रियाकर्म सम्बन्धं त्यक्त्वा कर्ता सह वर्तते । इति कर्मण्यनुक्ते इवेव भवति । कर्मसम्ब-
न्धाभावादेव टपो निवृत्तिः । ननु “पूर्वात्” [४।१।२०] इत्युक्तं तत्र तदन्तविधिना संपूर्वाद् भविष्यति,
व्यपदेशिवद्भावेन केवलाच्च भविष्यति, किमर्थं योगान्तरम् ? एवं तर्हीदमेव योगद्वयं ज्ञापकम् । अस्तीदं
परिभाषाद्वयम्, मृदुग्रहणे न तदन्तविधिः, व्यपदेशिवद्भावो न मृद्वेति ।

इष्टादेः ॥४।१।२२॥ तदिति अनेनेति च वर्तते । इष्ट इत्येवमादिः यो मृदुः यो वासमर्थेभ्योऽनेने-
त्यस्मिन्नर्थे इन् भवति । इष्टमनेन इष्टी यज्ञे । क्तस्येन्विषयस्य कर्मणां वक्तव्येति ईप् । इष्ट । पूर्त । उप-
पादित । निगदित । परिविदित । निकथित । निपतित । सङ्कुलित । परिकलित । संरक्षित । परिरक्षित ।
गणित । अवकीर्ण । आयुक्त । निगृहीत । आभूत । श्रुत । आसेवित । अवधारित । अवकम्पित । निराकृत ।
उपाकृत । अनुयुक्त । अनुगणित । अनुपठित । व्याकुलित ।

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मनुः ॥४।१।२३॥ तदिति वासमर्थादस्य अस्मिन्नित्येतयोरर्थयोर्मनु-
र्भवति । यत्तद् वासमर्थमस्त्युपाधिकं चेत्तद् भवति । इति करणसूत (णस्तत्) श्चेद्विबक्षा । प्रायो
भूमादिषु विवक्षा ।

“भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगोऽतिशायने । संसर्गोऽस्तिविवक्षार्था मत्वादिविधिरिष्यते ।”

भूमि-गावोऽस्य सन्ति गोमान् । निन्दायाम्-शङ्कादकोऽस्याऽस्ति शङ्कादकी । ककुदावर्ती । प्रशं-
सायाम्-रूपमस्यास्ति रूपवान् । नित्ययोगे-क्षीरमेषां सन्ति क्षीरिणो वृक्षाः । अतिशायने-उदरिणी कन्या ।
संसर्गो-दण्डी । भूमाद्यभावेऽपि विवक्षा । व्याघ्रवान् पर्वतः । स्पर्शवान् वायुः । इस्तिमती शाला ।

“मत्वर्थान्छैषिकाच्चापि मत्वर्थेः शैषिकस्तथा । सरूपस्यविधिर्नेष्टः सन्नन्ताश्च सनिष्यते ॥”

“गुणवचनेभ्यो मत्वर्थीयस्योच्चक्रव्यः” [वा०] । शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति शुक्लः पटः । कृष्णः ।
“रसादिभ्यो मतुर्वक्रव्यः” [वा०] । रसवान् । रस । रूप । वर्ण । गन्ध । स्पर्श । शब्द । स्नेह । एते
गुणशब्दाः । “एकाचः” खवान् । स्ववान् । अन्यनिवृत्त्यर्थमिदं वक्रव्यम् । कथं रूपिणी कन्या । रूपिको दारकः ।
रसिको नटः । इति ? इति करणाद् भवति, अगुणार्थत्वाद् वा । अस्यास्मिन्निति द्वयोः पादानं किम् ? नानयो-

नियतः समावेशः । देशान्तरे राज्ञो हस्तिनः । न वैतै राशि भवन्ति । कूपे गर्गाः । न च तूते तस्य भवन्ति । अस्तिग्रहणां वर्तमानकालसत्ताप्रतिपत्त्यर्थम् । इह मा भूत् । गावोऽस्याऽसन् । गावोऽस्य भवितारः इति । कथं गोमानासीत्, गोमान् भविता इति ? “बुयोगे त्याः” [२।४।१] इत्यत्रोपपत्तिर्वक्तव्या ।

प्राण्यङ्गादातो वा लः ॥४।१।२४॥ प्राण्यङ्गवाचिन आकारान्ताद्वा ल इत्ययं त्यो भवति मत्वर्थे । चूडालः । चूडवान् । घायलः । घाटवान् । कथं तर्हि कर्णिकालः । कर्णिकावान् ? प्राणिनि अङ्गं प्राण्यङ्गमिति विग्रहाह्नयते । अथवा कर्णिका प्राण्यङ्गमप्यस्ति नाभरणविशेष एव । प्राणिग्रहणां (किम्) ? शिखावान् प्रदीपः । अङ्गग्रहणं किम् ? चर्मान्मा भूत् । चिकीर्षवान् । आत इति किम् ? हस्तवान् ।

सिध्मादेः ॥४।१।२५॥ सिध्म इत्येवमादिभ्यश्च वा लो भवति मत्वर्थे । वाग्रहणमिह मतोः समुच्चयार्थम् । न विकल्पार्थम् । उत्तरत्र वाग्रहणात् । तेन येऽन्नाकारान्तास्तेभ्यष्टेनौ न भवतः । सिध्मान्यस्य सन्ति सिध्मलम् । सिध्म । वर्म । गडु । तुण्ड । मणि । नाभि । बीज । निष्पाव । सुयात । दूत् । सक्तु । पशुं । पांशु । मांस । पार्थिवमन्योर्दीप्तं च । “वा तदन्तवाक्कल्लाटानामूळ्च” [वा०] “जटाघटाकालेभ्यः क्षेपे” । [वा०] पर्ण । उदक । प्रज्ञा । “क्षुद्रजन्तूपतापार्थ्या चेष्यते” [वा०] यूकालः । मत्तिकाः । उपतापात्-विचर्चिकालः । विपादिकालः । मूर्च्छालः ।

फेनादिलश्च ॥४।१।२६॥ फेनशब्दादिलो भवति लश्च मत्वर्थे । वाग्रहणां मतुसमुच्चयार्थमनुवर्तते । फेनिलम् । फेनलम् । फेनवदुदकम् । “पिच्छादेरचेत्ति वक्तव्यम्” [वा०] पिच्छिलः । पिच्छलः । पिच्छवान् । पिच्छ । उरस् । ध्रुवक^१ । ध्रूवक । “जटा घटा काला त्रिभ्यः क्षेपे” [वा०] पर्ण । उदक । प्रज्ञा ।

लोमपामादिभ्यां शनौ ॥४।१।२७॥ लोमादिभ्यः पामादिभ्यश्च यथासंख्यं श न इत्येतौ ल्यौ भवतो मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः । लोमान्यस्य सन्ति लोमशः । लोमवान् । लोमन् । रोमन् । बभ्रु । बल्लु (बल्लु) । हरि । कपि । मुनि । तरु^२ । पामादिभ्यः । पामनः । पामवान् । पामन् । दामन् । हेमन् । श्लेषमन् । बलि । सामन् । अङ्गः कल्याणे । अङ्गानि कल्याणान्यस्याः सन्ति अङ्गना । अङ्गवती अन्यत्र । लक्ष्म्या अच्च । लक्ष्मणः । दद्रुशाकी पलाळी प्रश्न । दद्रुणः । शाकिनः । पलालिनः । “विष्वगिति घुखं चाकृतसन्धेः” । विष्वच्चोऽस्य सन्ति विषुणः । विषुशब्दो निःसंज्ञः ।

प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चावृत्तिभ्यो णः ॥ ४।१।२८ ॥ प्रज्ञा श्रद्धा अर्चा वृत्ति इत्येतेभ्यो णो भवति मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः । प्रज्ञाऽस्यास्तीति प्राज्ञः । प्रज्ञवान् । श्रद्धः । श्रद्धवान् । आर्चः । अर्चवान् । वार्त्तः । वृत्तिमान् ।

तपःसहस्राभ्यां विनिनौ ॥४।१।२९॥ तपस् सहस्र इत्येताभ्यां यथासंख्यं विन् इन् इत्येतौ ल्यौ भवतो मत्वर्थे । तपस्वी । सहस्री । वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि । तपस्वान्, सहस्रवान् । तपसोऽसन्तत्वादेव विनि विद्धे वक्ष्यमाणेनाया वाधा माभूदिति पुनर्वचनम् ।

अण् ॥४।१।३०॥ अण् च भवति तपःसहस्राभ्यां मत्वर्थे । तापसः । साहस्रः । “अण्प्रकरणे ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] । ज्योत्स्ना अस्मिन्नस्ति ज्योत्स्नः पद्मः । तमिस्रा । तामिस्रः । कुरण्डल । कौरण्डलः । कुरण्डलार्ह इत्यर्थः । कुतप । कौतुपः । विसर्प । वैसर्प्यः । विपादिका । वैपादिकः ।

१. ध्रुवका । ध्रूवका अ० । ध्रुवका ध्रूवका पू० । ध्रुवका । क्षुवका इति काशिकायाम् ।

२. भरु अ०, पू० ।

सिकताशर्कराभ्याम् ॥४११३१॥ सिकता शर्करा इत्येताभ्यामण् भवति मत्वर्थे । सैकतः । शर्करः । अदेशार्थं आरम्भः ।

उसिलौ च देशे ॥४११३२॥ सिकताशर्कराभ्यामुस् इल् इत्येतौ त्यौ भवतः, चकारादण् मत्तुश्च देशोऽभिधेये । तदस्यास्त्यस्मिन्निति वर्तते । कस्योस् ? मतोः । तेन चत्वारः शब्दाः । सिकता देशः । सिकतिलः । सैकतः । सिकतावान् । शर्करा देशः । शर्करिलः । शार्करः । शर्करावान् । देश इति किम् ? सैकतो घटः । शार्करो घटः ।

मधुषशुषिमुष्काद्रः ॥४११३३॥ मधु ऊष शुषि मुष्क इत्येतैभ्यो रो भवति मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मत्तुरपि भवति । इह मधुशब्दो रसवाची गृह्यते न द्रव्यवाची । मधु अस्मिन्नास्ति मधुरो गुडः । रसवाचिनि मधुशब्दे कथं मधुरो रसः ? इति चेत्, उपचारात् । रसवाचिनो मधुशब्दान्मतोरभिधानं नास्ति । ऊषरं क्षेत्रम् । शुषिरो वंशः । मुष्करः पशुः । “रप्रकरणे खमुखकुब्जेभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] खं मद्-कन्-उत्ति-रन्-ल्-त्ति खरः । मुखमस्यास्ति मुखरः । कुब्जोऽस्यास्ति कुब्जरः । “श्विधिर्नगर्पाशुभ्याम्” [वा०] । (नगरः । पांशुरः) ।

द्युद्रभ्यां मः ॥४११३४॥ द्युद्रशब्दाभ्यां मो भवति मत्वर्थे । द्यौरस्यास्तीति द्युमः । “द्विच उत्” [४३।१०८] इति उत् । द्युशब्दो वा प्रकृत्यन्तरम् । द्रूयस्य सन्ति द्युमः । रुद्रिशब्दावेतौ । यदा रुदिर्नास्ति तदा मत्तुरेव भवति । द्युमान् । द्युमान् ।

केशाद्वा वा ॥४११३५॥ केशशब्दाद् व इत्यर्थं त्यो भवति वा मत्वर्थे । प्रकृतं वाग्रहणं मत्तुसमुच्चयार्थम् । इदं तु सर्वविकल्पार्थम् । तेन ठेनावपि भवतः । केशवः । केशवान् । केशिकः । केशी । “मणिप्रभृतिभ्य इति वक्तव्यम्” [वा०] । मणिवः । हिरण्यवः । कुरारवम् । इष्टकावम् । राजीवम् । “अर्णसः खं च” [वा०] । अर्णवः ।

गाण्ड्यज्जमात्खौ ॥४११३६॥ गाण्डी अजग इत्येताभ्यां वो भवति मत्वर्थंखुविषये । गाण्डीवं धनुः । अजगवं धनुः । प्रादपि भवति । गाण्डिवं धनुः । मत्वन्तेन संज्ञा न गम्यते इति मत्तुर्न भवति । खाविति किम् ? गाण्डीमान् दण्डः ।

काण्डासडादोरः ॥४११३७॥ काण्ड-अण्डशब्दाभ्यामीर इत्यर्थं त्यो भवति मत्वर्थे । ठेनोरपवादः । काण्डीरः । अण्डीरः । वेति मत्तुसमुच्चयार्थं वर्तते । काण्डवान् । अण्डवान् ।

रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलः ॥४११३८॥ रजः कृषि आसुति परिषद् इत्येतैभ्यो वलो भवति मत्वर्थे । रजसो विनि प्राप्ते इतरेभ्यो मतौ वचनम् । रजस्वला नारी । कृषीवलः कुटुम्बी । आसुतीवलः कल्पपालः । “बले” [४३।२२१] इति दीत्वम् । परिषद्वलो नृपः । इतिशब्दः प्रयोगनियमार्थमनुवर्तते । परिषदः सामान्येन । इतरेभ्यः संज्ञायां प्रयोगः । तेनेह वलो न भवति । रजोऽस्मिन् ग्रामेऽस्ति, आसुति-रस्मिन् भाण्डेऽस्ति । “वलप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि इत्यते इति वक्तव्यम्” [वा०] । पुत्रवलः । आतृवलः । उत्सङ्गवलः । “बले” [४३।२२१] इत्यत्र खवित्यनुवर्तनादखौ दीत्वं न भवति ।

दन्तशिखात्खौ ॥४११३९॥ दन्त-शिखाशब्दाद् वलो भवति मत्वर्थे खुविषये । दन्तवलो नाम कश्चित् । शिखावलं नाम नगरम् । यत्र तदन्तेन संज्ञा गम्यते तत्र मत्तुरपि भवति । शिखावाजाम् श्लेषः । ननु देशः स्त्राकियुत्तमाने “शिखायाः बलः” [३।२।६८] इत्यनेन चातुरर्थिकेन सिद्धे किमर्थमिदं वक्तव्यम् ? अदेशार्थमिदं वक्तव्यम् । तदपि निर्वृत्ताद्यर्थं वक्तव्यम् ।

ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलवत्सलांशलदन्तुरहस्तिनगोमिन्स्वामिन्वशिन्
मलिनमलीमसाः ॥४११४०॥ ज्योत्स्नादयः शब्दा निपात्यन्ते मत्वर्थे । “ज्योतिष उङः खं नश्च
खुविषये निपात्यते ।” ज्योत्स्नेति चन्द्रप्रकाशस्याख्या । अन्यत्र ज्योतिष्मती रात्रिः । “तमसः खं च
उङश्च इत्वं निपात्यते ।” तमिस्रा रात्रिः । स्त्रीत्वमन्त्रम् । तेन तमिखं नभः । मरुरपि भवति ।
तमस्वती रात्रिः । “शृङ्गादिनो निपात्यते ।” शृङ्गिणः । शृङ्गवान् । “ऊर्जस्विन् ऊर्जस्वल इत्येतौ
निपात्यते ।” ऊर्जस्वी, ऊर्जस्वलः, ऊर्जस्वान् । “वत्सांशब्दाभ्यां यथासङ्घर्षं कामवति बलवति च लो
निपात्यते ।” वत्सलः साधुः । स्नेहवान् इत्यर्थः । अंशलः पुरुषः । बलवानित्यर्थः । रुदिशब्दावेतौ । रुदिश्च
मत्वन्तेन न गम्यते इति रुटेरन्यत्र मत्वुर्वेदितव्यः । “दन्तशब्दादुन्नतोषाधिकादुरः ।” दन्ता उन्नता अस्य
सन्ति दन्तुरः । उन्नतविशेषणादन्यत्र दन्तवान् । “हस्तशब्दाज्जातावभिधेयायामिन्” । हस्ती । अन्यत्र
हस्तवान् पुरुषः । “गोशब्दान्मिन्” । गावोऽस्य सन्ति गोमी । गोमानिति भवति । “स्वशब्दान्मिन् इत्वं च
निपात्यत ऐश्वर्यं गम्ये” । स्वमस्यास्ति स्वामी । अन्यत्र स्ववान् । “वर्णादिन् ब्रह्मचारिण” । वर्णा । ब्रह्म-
चारीत्यर्थः । “मलशब्दादिन ईमस इत्येतौ निपात्यते” । मलिनः । मलीमसः ।

डेनावतः ॥४११४१॥ अकारान्तान्मृदष्ट इन् इत्येतौ ल्यौ भवतो मत्वर्थे । दरिडकः । दरडी ।
छत्रिकः । छत्री । वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः । दरडवान् । अत इति किम् ? खट्वावान् । अत्रेष्टिः ।

“एकाक्षरात् कृतो जातेरीबर्थे^१ च न तौ स्मृतौ” [पा. म. १।२।१।५] । एकाक्षरात्-खवान् ।
खवान् । कृदन्तात् । कारकवान् । हारकवान् । जातेः । व्याघ्रवान् । सिंहवान् । ईबर्थे । दरडा अस्या
सन्ति दरडवती शाला । नेदं बह्वव्यम् । अनभिधानादेवात्र ठेनौ न भवतः । यत्राभिधानं तत्र भवत एव ।
कार्यी । हार्यी । तन्दुलिकः । तन्दुली । ईबर्थे । खलिनी भूमिः । सा(शा)द्वलिनी भूमिः ।

ब्रीह्यादेः ॥४११४२॥ ब्रीहि इत्येवमादिभ्यष्टेनौ भवतो मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मरुरपि भवति । ब्रीहयोऽस्य
सन्ति ब्रीहिकः, ब्रीही, ब्रीहिमान् । मायिकः, मायी, मायावान् । इतिशब्दः प्रयोगनियमार्थोऽनुवर्तते । न
ब्रीह्यादिषु ये शिखादयः पठ्यन्ते तेभ्य इन् भवति । यवखडादिभ्यष्टो भवति । परिशिष्टेभ्य उभयं भवति ।
सर्वत्र आदिशब्दः प्रकारवाची । शिखाऽस्यास्ति शिखी । शिखावान् । शिखा । माला । मेलला । शाखा ।
कौशा । संज्ञा । बडवा । अष्टका । बलाका । पताका । कर्मन् । धर्मन् । चर्मन् । यव । खड । नौ । कुमारी ।
एतेभ्य इन्नेष्यते । परिशिष्टेभ्यो द्वावपि भवतः । “शीर्षाब्जः” [वा०] अशीर्षिकः । अशीर्षी । अशीर्ष-
वान् । शीर्षशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति ।

तुन्दादेरिलः ॥४११४३॥ तुन्द इत्येवमादिभ्य इलो भवति ठेनौ च मत्वर्थे । उत्तरान्तियग्रह-
णादिह ठेनोः समावेशो लभ्यते । मतोस्तु वेत्यनुवृत्तेरेव समुच्चयः । तुन्दमस्यास्ति तुन्दिलः । तुन्दिकः । तुन्दी ।
तुन्दवान् । तुन्द । उदर । पिचण्ड । चय । ब्रीहिशब्दं सरूपार्थम्, अर्थनिर्देशार्थं च । ब्रीहिलः, ब्रीहिकः,
ब्रीहिमान् । शालिलः, शालिकः, शालिमान् । स्वाङ्गविवृद्धौ । कर्णौ विवृद्धावस्य कर्णिलः, कर्णिकः,
कर्णौ, कर्णवान् । पिच्छादयोऽपि पठनीयाः । तेभ्यष्टेनोरभिधानं नास्ति । पिच्छा । उरस् । ध्रुवका । जटा-
घटा काला त्रिभ्यः श्लेषे । पर्ण । उदक । प्रज्ञा ।

एकगोपूर्वाट्टञ्जित्यम् ॥४११४४॥ एकपूर्वाद् गोपूर्वाच्च नित्यं ठञ् भवति मत्वर्थे । एक-
पूर्वात्समानाधिकरणाद्बसादेव विधिः । एकहलमस्यास्ति ऐकहलिकः । “हृदर्थे” [१।२।४६] इति रसे कृते
ठञ् । ननु लघुत्वात् परत्वाच्च बसे कृते बसेनोक्तत्वान्मत्वर्थीयो न प्राप्नोति यथा चित्रगुरिति । सत्यम् ।

१. -ते सप्तभ्यां च इति महाभाष्ये ।

इह तु वचनाद् भवति । एकस्य हलम्, एकहलम्, इत्यत्रानभिधानान्नेष्यते । एवम् ऐकशतिकः । ऐकसह-
स्रिकः । गवां शतं गोशतं तदस्यास्ति गौशतिकः । गौसहस्रिकः । यदि अत इति वर्तते इह न भवति ।
एकविंशतिरस्यास्ति, गोविंशतिरस्यास्ति । इदं तु न सिद्ध्यति । ऐकगविक इति सन्ते कृते भविष्यति ।
कथमेका शकटिरस्यास्ति, ऐकशकटिकः । गौशकटिक इति ? अव्यविकन्यायेन शकटान्ता इत्यन्ति
(न्तादुत्पत्तिः) । नित्यग्रहणं ठेनोर्मतोश्च बाधनार्थम् । कथमेकद्रव्यत्वादिति ? चिन्त्यमेतत् ।

निष्काच्छतसहस्रान्तात् ॥४११४५॥ निष्कात्परौ यौ शत-सहस्रशब्दौ तदन्तान्मृदो नित्यं ठञ्
भवति मत्वर्थे । निष्काणां शतम्, निष्कशतम्, तदस्यास्ति नैष्कशतिकः । नैष्कसहस्रिकः । सुवर्णनिष्कशत-
मस्यास्तीत्येवमादिष्वनभिधानान्न भविष्यति ।

रूप्यहिम्यगुण्याः ॥४११४६॥ रूप्य हिम्य गुण्य इत्येते शब्दाः निपात्यन्ते मत्वर्थे । रूपशब्दादाहत-
विशिष्टान्च यत्नो निपात्यते । आहतं रूपमस्यास्ति रूप्यः कार्षापणः । प्रशस्तं रूपमस्यास्ति रूप्यो गौः । रूप्या
कन्या । आहतप्रशंसाभ्यामन्यत्र रूपवान् । हिममस्यास्तीति हिम्यः पर्वतः । गुण्या अस्त्र्य सन्ति गुण्यस्तपस्वी ।
नित्यग्रहणं ठञा सह निवृत्तम् । वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति । रूपवान् । हिमवान् । गुणवान् ।

विघ्नस्मायामेधास्रजः ॥४११४७॥ असन्तान्मृदो माया मेधा स्रज् इत्येतेभ्यश्च विन् भवति ।
मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति । ओजस्वी । तेजस्वी । मायावी । मेधावी । स्रज्वी । तेजस्वान् । मेधावान् ।
स्रज्वान् । मायाशब्दस्य ब्रीह्यादिपाठान्मृदोभेनो भवन्ति ।

वाचो गिमन् ॥४११४८॥ वाक्शब्दाद्गिमन् भवति मत्वर्थे । वाग्मी । “स्वादावधे” [१२।१०६]
इति पदत्वात् पूर्वस्य कुत्वज्स्त्वे । वाग्वान् । “ऋयः” [५।३।३१] इति मतोर्वत्वम् ।

बहुलापिन्यालाटौ ॥४११४९॥ वाच आल आट इत्येतौ लौ भवतो मत्वर्थे बहुलापिन्यभिधेये ।
वाचालः । वाचाटः । “कुत्सायामयं योगो वक्तव्यः ।” यो हि समीचीनं बहु संलपति वाग्मीति भवति ।

अर्शाआदेरः ॥४११५०॥ अर्शस् इत्येवमादिभ्यः, अ इत्ययं ल्यो भवति मत्वर्थे । आदिशब्दः
प्रकारवाची । अर्शास्यस्य सन्ति, अर्शरः । अर्शस् । उरस् । तुन्द । मुण्ड । चतुर । पलित । जटा । घाटा ।
आभ्यां सिध्मादित्वात् लमत् अपि भवतः । तुन्दादित्वादिलोऽपि भवति । अन्न । अस्ल । लवण । स्वाङ्गा-
दृचीनात् । खड्गः पादोऽस्याऽस्तीति खड्गः । कायं चक्षुरस्य काणः । कथं कुण्ठिः पुरुषः कुण्ठिर्हस्तः ?
तद्योगात्तथोक्तः । यथा पङ्कः । वर्णात् । शुक्लं हरितम् । ननु शुक्लादीनां भेदोपचारादेव भविष्यति । एवं
तर्हि द्रव्यवाचिभ्यो भविष्यति । शुक्लगुणयुक्ताः प्रासादाः शुक्ला अस्मिन् सन्ति शुक्लं नगरम् । “ज्योत्स्ना-
वमिस्राभ्यां णिद् भवति पक्षे” [वा०] ज्योत्स्नः पक्षः । तामिस्रः पक्षः । नेदं वक्तव्यम् । “अण्यप्रकरणे
ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानमिति” सिद्धम् । एवं च ज्योत्स्नी रात्रिः, तामिस्री रात्रिरिति ङीविधेरपि लाभः ।

इन्द्रोपतापगर्ह्यात्प्राणिनीन् ॥४११५१॥ उपतापो व्याधिः, गर्ह्यं कुत्स्यम् । अत इति वर्तते ।
इन्द्रशब्दादुपतापवाचिनो गर्ह्यवाचिनश्च मृदः प्राणिनि वर्तमानादिन् भवति मत्वर्थे । शङ्खनूपुरिणी । कटक-
केयूरिणी । “अप्राण्यङ्गादिति वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । पाणिपादवती । उपतापात् । कुष्ठी ।
कित्तासी । गर्ह्यात् । ककुदावती । काकतालकी । प्राणिनीति किम् ? पुष्पफलवान् वृक्षः । अत इत्येव ।
कटुकपिठकावती । ठमत्वोर्वचनार्थं (बाधनार्थं) सूत्रम् ।

वातातीसारभ्यां कुक् ॥४११५२॥ वात-अतीसारशब्दाभ्यां मत्वर्थे इन् भवति, तत्सन्नियोगेन
कुगागमः । उपतापत्वात्पूर्वेष्वेति सिद्धे कुगर्थं आरम्भः । वातकी । अतीसारकी । “पिशाचाच्चेति वक्तव्यम्”
[वा०] पिशाचकी ।

ढटो वयसि ॥४१॥५३॥ इन्निति वर्तते । ङङन्तान्मृद इन्नेव भवति वयसि गम्यमाने । पञ्चमोऽस्यास्ति संवत्सरो माघे वा पञ्चमी उष्ट्रः । एवं नवमी । दशमी ।

सुखादेः ॥४१॥५४॥ सुख इत्येवमादिभ्य इन्नेव भवति मत्वर्थे । सुखमस्यास्ति सुखी । सुख । दुःख । तृप् । कृच्छ्र । अन्न । आस । अलीक । करण । कृपण । सोढ । सोफ । प्रतीप । शील । हल । फल । माला क्षेपे । माली । अन्यत्र मालावान् माली च । व्रीह्यादिषु शिखादिमालाशब्दाः पठ्यन्ते, क्षेपे मतुवाध-नार्थस्तस्येह पाठः ।

धर्मशीलवर्णान्तात् ॥४१॥५५॥ धर्मान्तात् शीलान्तात् वर्णान्ताच्च मृद इन्नेव भवति मत्वर्थे । तपस्विनां धर्मः तपस्विधर्मः, सोऽस्यास्तीति तपस्विधर्मी । तपस्विशीली । क्षत्रियवर्णा ।

पुष्करादेर्देशे ॥४१॥५६॥ पुष्कर इत्येवमादिभ्य इन्नेव भवति मत्वर्थे देशेऽभिधेये । पुष्पकरिणी । पद्मिनी । देश इति किम् ? पुष्करवान् हस्ती । पुष्कर । पद्म । उत्पल । कुमुद । तमाल । नड । कपित्थ । कर्दम । बिस । मृगाल । साल्वक । विगर्ह । करीष । शिरीष । यवास । हिरण्य । अत्रेष्टयः—“इन्पुष्करयो बलाद् बाहूरु-पूर्वाहुपसंख्यानम्” [वा०] । बाहुबली । ऊरुबली । “सर्वादिश्चेति वक्तव्यम्” [वा०] । सर्ववनी । सर्ववाजी । सर्वकेशी । “अर्थाद्वाऽसन्नहिते वर्तमानादिन् वक्तव्यः” [वा०] । असन्नहितस्यास्तित्वेन विरोध इति चेद्, एवं तर्हि तद्विषयाऽभिलाषस्याविरोधः । अर्थो । अर्थाभिलाषवानित्यर्थः । असन्नहित इति किम् ? अर्थवान् । “तदन्ताद्वेति वक्तव्यम्” [वा०] । धान्यार्थी । हिरण्यार्थी । “शृङ्गवृन्दाभ्यामारको वक्तव्यः” [वा०] शृङ्गे अस्य स्तः शृङ्गारकः । वृन्दारकः । “फलबर्हाभ्यामिनः” [वा०] फलिनो वृक्षः । बर्हिणो मयूरः । “हृदयाच्चाणुर्वा वक्तव्यः” [वा०] । हृदयाणुः । हृदयिकः । हृदयी । हृदयवान् । “शीतोष्णवृत्तेभ्यस्तन्न सहत इत्याणुर्वक्तव्यः” [वा०] । शीतं न सहते शीताणुः । उष्णाणुः । तृसाणुः । “हिमाच्चैलुः” [वा०] । हिमं न सहते हिमेणुः । “बलाद्बलः” [वा०] । बलं न सहते बलूलः । “वातास्समूहे तन्न सहते इति च” [वा०] । वातसमूहो वातूलः । वातं न सहते वातूलः । “तः पर्वमरुद्भ्यां मत्वर्थे” [वा०] । पर्वण्यस्य सन्ति पर्वतः । मरुतः ।

बलादेमतुर्वा ॥४१॥५७॥ बल इत्येवमादिभ्यो मतुर्भवति । वावचनेन पक्षे इन् प्रकृतः समुच्चयते । ओऽत्र न भवति । बलमस्यास्ति बलवान् । बली । इदमेव मतुवचनं ज्ञापकम्, इन्विषये मतुर्न भवतीति । बल ! उत्साह । उद्दास । उद्भास । बुल । दुष । पुल । दल । कुल । आयाभ । व्यायाम । प्रयाम । उपयाम । आरोह । अवरोह । परिगाह । शिखादेराकृतिगणत्वात्सिद्धे प्रपञ्चार्थमिदम् ।

मन्माभ्यां हौ ॥४१॥५८॥ मन्मन्तान्मशब्दान्ताच्च मृद इन् भवति मत्वर्थे खुविषये । धर्मिणी । चर्मिणी । चर्मवतीति निपातनं वक्ष्यति । तत एव मतुः । मान्तात् । भामिनी । कामिनी ।

तुरिडवटिवलेर्भः ॥४१॥५९॥ तुरिड वटि वलि इत्येतेभ्यो भ इत्यर्थं ल्यो भवति मत्वर्थे । विवृद्धा नामिस्तुरिडः, सोऽस्यास्ति तुरिडभः । तुन्दादिषु स्वाङ्गविवृद्धाविति इलमतुठेनः प्राप्ताः । वटिभः । मतुः प्रातः । वलिभः । अस्मात्प्राप्तदिषु पाठात् नमतु च भवतः । वलिनः । वलिमान् ।

कंशम्भ्याम् ॥४१॥६०॥ कंशंशब्दौ मकारान्तौ जलपुखयोर्वाचकौ । कं शं शब्दाभ्यां भल्यो भवति मत्वर्थे । कम्भः । शम्भः ।

वयस्तिनुताः ॥४१॥६१॥ कंशम्भ्यां व यस् ति तु ता इत्येते ल्या भवन्ति मत्वर्थे । कम्भः, शम्भः, कंयः, शंयः । सकारः “स्ति” [१।२।१०५] इति पदसंज्ञाऽर्थः । पदस्येत्यधिकृत्य यकारस्यानुस्वारपरस्वत्वे सिद्धे

भर्तृज्ञायां हि कभ्यः शम्यः इत्यनिष्टं प्रसज्येत । कन्तिः, शन्तिः, कन्तुः, शन्तुः, कन्तः, शन्तः, सर्वत्र पूर्वस्य पदत्वात् “मोऽनुस्वारः” [१।४।७] इत्यनुस्वारः । तस्य “वा पदान्तस्य” [१।४।१३३] इति परस्वत्वम् ।

ऊर्णाऽहंशुभंभ्यश्च युस् ॥४१।६२॥ ऊर्णा, अहम्, शुभम्, इत्येतेभ्यः कंशभ्यां च युस् इत्ययं ल्यो भवति मत्वर्थे । सकारः “सिति” [१।२।१०५] इति पदसंज्ञार्थः । ऊर्णायुः । अहमित्यहङ्कारवाचि शब्दान्तरम् । अहंयुः । शुभमिति मकारान्तः शुभपर्यायः । शुभंयुः । कंयुः । शंयुः । नासिक्वस्य योरनादेशो वक्ष्यते इत्यस्य न भवति ।

सूक्तसान्नोश्छुः ॥४१।६३॥ मृदश्छो भवति मत्वर्थे सूक्ते साम्नि चाभिधेये । वेदे वाक्यसमूहः सूक्तम्, सामेति च संज्ञा । मृतेनामपवादः । अच्छावाकशब्दोऽस्मिन्नस्ति अच्छावाकीयं सूक्तम् । मैत्रावक्ष्णीयं सूक्तम् । यज्ञशब्दोऽस्मिन्नस्ति यज्ञीयं साम । वारतन्तवीयं साम । अनुकरणशब्दा एतेऽनुकार्यशब्दैरर्थवन्त इति मृत्संज्ञा सिद्धा । तेऽन्यपदसङ्घातादपि अनुकरणान्यो न भवति । अस्यवामशब्दोऽस्मिन्नस्त्यस्यवामीयम् । कयाशुभशब्दोऽस्मिन्नस्ति कयाशुभीयम् ।

अध्यायाऽनुवाकयोर्वोप् ॥४१।६४॥ अध्यायाऽनुवाकयोरभिधेययोर्मृदश्छो भवति मत्वर्थे तस्य च वा उभभवति । गर्दभाण्डशब्दोऽस्मिन्नस्ति गर्दभाण्डीयः । गर्दभाण्डः । कूर्चमुल्लः । उच्छिष्टीयः । उच्छिष्टः । दीर्घजीवितोयः । दीर्घजीवितः । पदसमुदायात्यः । वलितस्कम्भीयः । वलितस्कम्भः ।

विमुक्तादिभ्योऽण् ॥४१।६५॥ विमुक्त इत्येवमादिभ्योऽण् भवति मत्वर्थेऽध्यायानुवाकयो-रभिधेयोः । विमुक्तशब्दोऽस्मिन्नस्ति वैमुक्तोऽध्यायोऽनुवाको वा । विमुक्त । देवासुर । रक्षोऽसुर । उपसत् । परिसारक । वसु । मरुत् । सलन्तु (त्) । पत्नीवन्तु (त्) । दशार्ह । वयस् । हविर्घाता । महित्री । सोमा-पूषन् । ईडा । आन्नाविष्णु (अग्नाविष्णू) । वृत्र । हर्तु ।

घोषदादेर्वुन् ॥४१।६६॥ अध्यायानुवाकयोरिति वर्तते । घोषदादिभ्यो मृद्भ्यो वुन् भवति मत्वर्थे । घोषच्छब्दोऽस्मिन्नर्थे (स्मिन्नस्तीत्यर्थे) वुन् भवति । घोषदकोऽध्यायोऽनुवाको वा । घोषदिति केषाञ्चित्पाठः । घोषद् । ईषेत्वा । मातरिश्वन् । देवस्य त्वा । देवीराया (रापः) । देवीस्या । कुष्णो स्याखरेत्वा (खरेष्ट) । देवीन्विया (देवीं धियम्) । रक्षोहण्य । अर्चत । प्रतूर्त्त । दृशान । अघार । अम्बन । प्रभृता (प्रभृत) । कृशानु ।

वनहिरण्ये कामे ॥४१।६७॥ वनहिरण्यशब्दाभ्यामीप्समर्थाभ्यां काम इत्येतस्मिन्नर्थे वुन् भवति । कामोऽभिलाषः । वने कामः, वनको देवदत्तस्य । हिरण्यको देवदत्तस्य ।

किंबहुसर्वान्नोऽध्यादेः ॥४१।६८॥ किमः, बहुशब्दात्, सर्वान्नश्च द्र्यादिवाचिताद् वक्ष्यमाणास्त्या भवन्तीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । “ते विभक्त्यः” [४।१।६१] इति वक्ष्यति । प्रागेतस्सा-दयमधिकारः । द्र्यादिपदुदासेन प्रतिषेधे प्राप्ते किमः पृथग्रहणम् । वक्ष्यमाणास्तसादयः स्वार्थिकाः । तेषुः समर्थग्रहणं प्रथमग्रहणं च प्रतियोगिनो द्वितीयस्याऽभावात् सम्भवति । वाग्रहणं त्वनुवर्तत एव । क्लृप्तः । कस्मात् । बहुतः । बहुभ्यः । बहुशब्दश्चेह सङ्ख्यावाची गृह्यते, न वैपुल्यवाची । तेनेह (न) भवति बहोः सप्तात् । यतः । यस्मात् । ततः । तस्मात् ।

इवम् इश् ॥४१।६९॥ इदम् इश् भवति वक्ष्यमाणेषु तसादिषु परतः । शकारः सर्वादेशार्थः । इतः । इह । इहानीम् ।

एतेतौ थोः ॥४११७०॥ इदम एत इत् इत्येतावादेशौ भवतो यथासङ्ख्यं रेफथकारादौ तसादौ परतः । इयोऽपवादः । अस्मिन् काले एतार्हि । अनेन प्रकारेण इत्थम् । “इदमो हि” [४११८२] “किमिदंभ्यां थम्” [४११६०] इति हिंथमौ ।

एतदः ॥४११७१॥ एतदश्च एत इत् इत्येतावादेशौ भवतो यथासङ्ख्यं रेफथकारादौ परतः । एतस्मिन्काले, एतार्हि । “वाऽनघतने हि” [४११८६] इति हिः । इदमो यो रेफथकाश्चिदः, तस्मिन्परत इतीदं विशेषणम् । एतदोऽपि प्रकारे थं भवति । एतेन प्रकारेण इत्थम् ।

अश् ॥४११७२॥ एतदोऽशित्ययमादेशो भवति वक्ष्यमाणेषु तसादिषु परतः । शकारः सर्वदेशार्थः । अतः । अत्र ।

कायास्तस् ॥४११७३॥ किंबहुसर्वनाम्नोऽद्वयादेरिति वर्तते । कान्तात्तस् भवति । कस्मात् कुतः । बहुभ्यो बहुतः । यस्माद् यतः । तसि कृते पूर्वस्य सुपः ‘सुपो धुसृदोः’ [११४१४२] इत्युप् । अद्वयादेरित्येव । द्वाभ्याम् । युष्मत् । अस्तत् ।

तसेः ॥४११७४॥ ‘प्रतियोगे कायास्तसिः’ । [४१२१४६] “अपादानेऽहीयरुहोः” [४१२१५०] इत्येवमादिना विहितस्य तसेरिह ग्रहणम् । एतदर्थमेव च तत्रेकारत्करणम् । किंबहुसर्वनाम्नः परस्य तसेस्तसादेशो भवति । कुत आगतः । बहुत आगतः । यत आगत । विभक्तीसंज्ञार्थं तसेस्तसादेशः । पूर्वेष्वैव तसा सिद्धमिति चेत्, नैवं शक्यम्, हीयरुहोः प्रयोगे कुतो हीनः यतो हीन इत्यत्र तसं पूर्व सावकाशं बाधित्वा हीयरुहोरप्रयोगे (?) अपादाने किंबहुसर्वनामभ्यः परत्वात्तसिर्भवति ।

पर्यभिभ्याम् ॥४११७५॥ परि अभि इत्येताभ्यां तस् भवति । परितः । अभितः । यथासङ्ख्यं सर्वोभयार्थं वर्तमानाभ्यामिभ्यते । इह मा भूत् । परिभवति । अभ्येति ।

ईपङ्गः ॥४११७६॥ किंबहुसर्वनामभ्यो द्वयादिवाञ्छितेभ्य ईबन्तेभ्यश्च इत्ययं ल्यो भवति स्वार्थे । बहुषु बहुत्र । अस्मिन् यत्र । किमिदंभ्यामपवादो वक्ष्यति ।

इदमो हः ॥४११७७॥ इदम ईबन्तात् ह इत्ययं ल्यो भवति । त्रस्यापवादः । अस्मिन्, इह ।

किमोऽः ॥४११७८॥ किम ईबन्तात् अ इत्ययं ल्यो भवति । त्रस्यापवादः । कस्मिन् कः । “कुक्षो तयोः (कुक्षौ तयोः)” [११११६३] इति किमः कशब्दादेशः । कथं कुत्रचित् इति ? चिन्त्यमेतत् ।

दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि ॥४११७९॥ कामीपं च विहाय अन्यविभक्तयन्तेभ्योऽपि दृश्यन्ते तसादयः । किंबहुसर्वनाम्नोऽद्वयादेरिति वर्तते । क पुनर्दृश्यन्ते ? भवदादिशब्दस्य प्रयोगे । के पुनर्भवदादयः ? भवान् दीर्घायुर्देवानां प्रियः । आयुष्मन्निति । स भवान् । ततो भवान् । तत्र भवान् । तं भवन्तम् । ततो भवन्तम् । तत्र भवन्तम् । तेन भवता । ततो भवता । तत्र भवता । तस्मै भवते । ततो भवते । तत्र भवते । तस्माद् भवतः । तत्र भवतः । तत्र भवतः । तस्य भवतः । ततो भवतः । तत्र भवतः । तस्मिन् भवति । तत्र भवति । ततो भवति । एवमन्यत्राप्युदाहरणानि योज्यानि । भवदादिभ्योऽन्यत्रापि प्रयोगवशात्तसादयो वेदितव्याः । इतो गतः । अनेन गतः । इत आस्यताम् । इह आस्यताम् ।

द्वैकान्यकिञ्चित्तदः काले ॥४११८०॥ ईप् इति वर्तते । एक अन्य किं यत्तद् इत्येतेभ्य ईप्समर्थेभ्यः काले वर्तमानेभ्यो दा इत्ययं ल्यो भवति । चादेरपवादः । एकस्मिन् काले एकदा । अन्यदा । कदा । तदा । यदा । काल इति किम् ? एकस्मिन् देशे एकत्र ।

सर्वस्य सो वा हि ॥४१॥८१॥ सर्वशब्दस्य स इत्ययमादेशो भवति वा दा इत्येतस्मिन्परतः । ईप् इति वर्तते । काल इति च । बृद्धकुमारीवरवाक्यन्यायेन इदमेव लक्षणं दाविधानस्य । सर्वस्मिन् काले सदा । सर्वदा ।

इदमो हि ॥४१॥८२॥ इदम ईवन्तात् काले वर्तमानात् हित्यो भवति । हस्याऽपवादः । अस्मिन् काले एतर्हि । काल इत्येव । इह देशे ।

अधुना ॥४१॥८३॥ अधुनेति निपात्यते । अस्मिन्काले अधुना । इदमः अशुभावो धुना त्यः । अथवा अधुना इति त्यो निपात्यते । इदम इशादेशः । “यस्य ङ याञ्च” [४१॥१३६] इति तस्य खम् ।

दानीम् ॥४१॥८४॥ इदम ईप्समर्थात्काले दानीमित्ययं त्यो भवति । अस्मिन्काले इदानीम् ।

तदः ॥४१॥८५॥ तद ईवन्तात्काले दानीं भवति । तस्मिन्काले तदानीम् । तदः पूर्वं दाविहितः सोऽपि भवति । तदा ।

वाऽनद्यतने हि ॥४१॥८६॥ किंबहुसर्वनामभ्योऽद्वयादिभ्य ईवन्तेभ्योऽनद्यतने काले हित्यो वा भवति । पदे यो यतो विहितः स च भवति । कर्हि, कदा । यर्हि, यदा । तर्हि, तदा । अमुर्हि, अमुत्र ।

पूर्वान्यान्येत्तरेतरापराचरोभयोत्तरेभ्योऽहन्येद्युस् ॥४१॥८७॥ पूर्वोदिभ्य ईप्समर्थेभ्योऽहनि वर्तमानेभ्य पद्युस् भवति । पूर्वस्मिन्नहनि पूर्वेषुः । अन्येषुः । अन्यतरेषुः । इतरेषुः । अपरेषुः । अवरेषुः । उभयस्मिन्नहनि उभयेषुः । उत्तरेषुः । “द्यु श्वोभयाद् वक्तव्यः” [वा०] । उभयद्युः ।

सद्योऽद्यैषमः परेष्विपरस्वरारि ॥४१॥८८॥ सद्य इत्येवमादयः शब्दा निपात्यन्ते । ईप् इति वर्तते काल इति च । समानस्य सभावो यश्चाहनि निपात्यते । समानेऽहनि सद्यः प्राणकरं जलपानम् । इदमोऽमू(श)भावोऽहनि य इत्ययं च त्यः । अस्मिन्नहनि अद्य । इदमः समसण संवत्सरे । अस्मिन् संवत्सरे ऐषमः । अकार उच्चारणार्थः । इदम इशादेशः । आदे रैप् । “स्यादेऽज्ञयोः” [११॥३६] इति षत्वम् । परशब्दादहनि एद्यवि । परस्मिन्नहनि परेष्वि । पूर्वपूर्वतरयोः परभावः उदारी च त्यौ संवत्सरे । पूर्वस्मिन् संवत्सरे परत् । पूर्वतरे संवत्सरे परारि । कथं परद्दास्यामि, परारि दास्यामि इति ? एवं तर्हि परपरतरयोरपि प्रकृत्योः परिग्रहः कर्तव्यः ।

प्रकारे था ॥४१॥८९॥ ईप् इति निवृत्तं काल इति च । किंबहुसर्वनामभ्योऽद्वयादिभ्यो यथा सम्भवं सर्वविभक्तयन्तेभ्यः प्रकारे वर्तमानेभ्यस्था इत्ययं त्यो भवति स्वार्थे । सामान्यस्य भेदको विशेषनिर्देशः प्रकारः । गच्छतीति सामान्यम् । तस्य विशेषनिर्देशः रथेन अश्वेन पादाभ्यामित्यादिः । पुरुष इति सामान्यम् । तस्य विशेषनिर्देशः बुद्धिमान् दक्षः शूर इत्यादि । वर्तते इति सामान्यम् । तस्य विशेषा अध्यापनादयः । सर्वेषां प्रकारेण सर्वथा । यथा । तथा । अद्वयादेरिति किम् ? द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां गच्छति । अयं प्रकारमात्रे भवति । जातीयः पुनः प्रकारवति । यजातीयः । तजातीयः ।

किमिदंभ्या थम् ॥४१॥९०॥ किम् इदम् इत्येताभ्यां प्रकारे वर्तमानाभ्यां थमित्ययं त्यो भवति । था इत्यस्याऽपवादः । केन प्रकारेण कथम् । अनेन प्रकारेण इत्यम् ।

ते विभक्तयः ॥४१॥९१॥ ते तसादयस्त्या विभक्तीसंज्ञा वेदितव्याः । विभक्तीकार्यं कृत्वोदाहरणा-नि दत्तानि । “तसादिषूभञ्चब्दस्य उभयादेशो वक्तव्यः” [वा०] । उभयाम्भुभयतः उभयोदभयत्र । उभयभ्यां प्रकाराम्भुभयया । नेदं वक्तव्यम् । उभयशब्दस्य तसादिविषयेऽभिधानं नास्ति । यथा उभय-पुत्र इत्येवमादौ ।

दिक्लब्धेभ्यो वाकेभ्योऽस्तादिग्देशयोः ॥४।१।६२॥ दिशां शब्देभ्यः वा का ईप् इत्येवमन्तेभ्यो दिग्देशयोर्वर्तमानेभ्योऽस्तादित्ययं त्यो भवति स्वार्थे । पूर्वा दिग् रमणीया । पूर्वा दिशो रमणीयाः । पुरस्ताद् रमणीयम् । “अस्ताति” [४।१।१०४] इति पूर्वावराधराणां पुरवध आदेशाः । अस्ताद्यन्ताः शब्दा अलिङ्ग-सङ्ख्या अनुप्रयोगाणां नपुंसलिङ्गहेतुर्भवति । पूर्वस्या दिश आगतः पूर्वस्माद्देशादागतः, पुरस्तादागतः । पूर्वस्यां दिशि वसति, पूर्वस्मिन्देशे वसति, पुरस्ताद् वसति । एवमवस्ताद्रमणीयम् । अवस्तादागतः । अवस्ताद् वसति । दिक्लब्धेभ्य इति किम् ? ऐन्द्री दिग् रमणीया । ऐन्द्रीशब्द इन्द्रसम्बन्धिनः स्त्रीलिङ्गस्य वस्तुनो वाचको न तु दिक्लब्धः । वाकेभ्य इति किम् ? पूर्वं दिशां गतः । दिग्देश इति किम् ? पूर्वस्मिन् गुरौ वसति । अत्र दिगाद्युपलक्षिते गुरौ पूर्वशब्दः प्रयुक्तः ।

काले ॥ ४।१।६३ ॥ काले वर्तमानेभ्यो दिग्शब्देभ्यो वाकेवन्तेभ्योऽस्ताद् भवति । विभक्तीनां दिगादिभिर्व्यथासङ्ख्यं मा भूदित्येवमर्थं पृथक् सूत्रकरणम् । पूर्वकाले रमणीयः । पुरस्ताद् रमणीयः । पुरस्तादागतः । पुरस्ताद् वसति ।

दक्षिणोत्तराभ्यामतस् ॥४।१।६४॥ दक्षिणोत्तरशब्दाभ्यां दिग्देशकालेषु वर्तमानाभ्यां वाकेवन्ताभ्यामतस् भवति । अस्तातोऽपवादः । दक्षिणशब्दस्य काले वृत्तिर्न सम्भवति । दक्षिणतो रमणीयम् । दक्षिणत आगतः । दक्षिणतो वसति । उत्तरतो रमणीयम् । उत्तरत आगतः । उत्तरतो वसति । किमर्थमतस्यकारः क्रियते ? स्त्रीलिङ्गेऽपि नास्ति विशेषः । “सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः” इति पुंवद्भावो भविष्यति । एवं तर्हि “ऽस्तसर्थे त्येन” [१।४।३६] इति विशेषणार्थः ।

वा परावराभ्याम् ॥४।१।९५॥ पर-अवरशब्दाभ्यामतस् वा भवति अस्तादर्थे । परतो रमणीयम् । परस्ताद्रमणीयम् । परत आगतः । परस्तादागतः । परतो वसति । परस्ताद्वसति । अवरतो रमणीयम् । अवरस्ताद्रमणीयम् । अवरत आगतः । अवरस्तादागतः । अवरतो वसति । अवरस्ताद्वसति । अवरशब्दो वाचनं न प्रयोजयति । “पूर्वावराधराणां पुरवधोऽसि” [४।१।१०३] “अस्ताति” [४।१।१०४] इति च वचनादस्तावपि भवतः ।

अञ्चेरूप ॥४।१।६६॥ अञ्च्यन्तेभ्यो दिक्लब्धेभ्यः परस्यास्तात उभभवति । प्राची दिग् रमणीया । प्राग्रमणीयम् । प्रागागतः । प्राग्वसति । अस्तात अपि “हृदुष्युप्” [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्योप् । एवं प्रत्यग्रमणीयम् । प्रत्यगागतः । प्रत्यग्वसति । देशकालयोरप्युदाहरणानि नेयानि ।

उपर्युपरिष्ठात्पश्चात् ॥४।१।९७॥ उपरि उपरिष्ठात् पश्चात् इत्येते शब्दा निपात्यन्ते अस्तादर्थे । ऊर्ध्वशब्दस्य उपभावो निरस्तातौ च त्यौ निपात्येते । ऊर्ध्वा दिग् रमणीया । उपरि रमणीयम् । उपरिष्ठाद्रमणीयम् । उपर्युगतः । उपरिष्ठादागतः । उपरि वसति । उपरिष्ठाद् वसति । अपरशब्दस्य पश्चभाव आश्च त्यः । अपरो देशो रमणीयः । पश्चाद्रमणीयम् । पश्चादागतः । पश्चाद्वसति । केचित्परशब्दस्येदं निपातनमिच्छन्ति । “दिक्पूर्वपदस्य चापरस्य पश्चभावो वक्तव्यः” [वा०] । आञ्च त्यः । दक्षिणा परा दिग् रमणीया । दक्षिणा-पश्चाद्रमणीयम् । उत्तरपश्चाद्रमणीयम् । “अधोत्तरपदस्य च दिक्लब्धस्य पश्चभावो वक्तव्यः” [वा०] । दक्षिणापरमर्द्धम् । दक्षिणपश्चाद्वर्द्धम् । उत्तरापरमर्द्धम्, उत्तरपश्चाद्वर्द्धम् । “अधो चोत्तरपदे केवलस्यार्धस्य पश्च-भावो वक्तव्यः” [वा०] । अपरमर्द्धं पश्चार्धम् ।

दक्षिणोत्तराऽव(घ)रादात् ॥४।१।६८॥ दक्षिण, उत्तर, अवर (अधर) इत्येतेभ्य आदित्ययं त्यो भवति अस्तादर्थे । दक्षिणाद्रमणीयम् । दक्षिणादागतः । दक्षिणाद् वसति । उत्तराद्रमणीयम् । उत्तरादागतः । उत्तराद्वसति । अव(घ)राद्रमणीयम् । अव(घ)रादागतः । अव(घ)राद् वसति । दक्षिणोत्तराभ्यामतसपि वचनाद् भवति । अस्तातः पुनरपवादोऽयम् । अवर (अधर) शब्दाद् वक्ष्यमाणावस्तातावपि भवतः ।

वैनोऽदूरेऽकायाः ॥४११६९॥ दक्षिण, उत्तर, अवर (अधर) शब्देभ्यो वा एनो भवति अस्तादर्धेऽदूरे गम्येऽकायाः । कायाः पर्युदात्तेन वेपौ गृह्येते । दक्षिणेन रमणीयम् । दक्षिणेन वसति ग्रामम् । उत्तरेण रमणीयम् । उत्तरेण वसति । अवरेण (अधरेण) रमणीयम् । अवरेण (अधरेण) वसति । वावचनाद्यो यतो विहितः स च भवति । अदूर इति किम् ? हिमवतो दक्षिणाद् वसति । अत्रावरे रवविमादूरे (अत्रावधिष्वधिमान् दूरे) विवक्षितः । अकाया इति किम् ? दक्षिणादागतः । “दिक्छब्दमात्रादयमेनो वक्तव्यः” [वा०] दक्षिणोत्तरावर (धर) ग्रहणं नानुवर्तनीयमिति केचित् । अच्यन्ता दिक्छब्दादनभिधानान्न भवति ।

दक्षिणादा ॥४११००॥ अकाया इति वर्तते । दक्षिणशब्दादा इत्ययं ल्यो भवति अस्तादर्धे । दक्षिणा रमणीयम् । दक्षिणा वसति । सामान्येन दूरादूरयोरिहोदाहरणम् । उत्तरत्र दूरग्रहणात् । अकाया इत्येव । दक्षिणत आगतः ।

आहि च दूरे ॥४११०१॥ अकाया इति वर्तते । दक्षिणशब्दादाहित्यो भवति आभा (चादा) अस्तादर्धे दूरे गम्यमाने । दक्षिणाहि रमणीयम् । दक्षिणाहि वसति । दक्षिणा वसति काञ्चीपुरात् । अकाया इत्येव । दक्षिणत आगतः ।

उत्तराच्च ॥४११०२॥ अकाया इति वर्तते दूर इति च । उत्तरशब्दादाहि आ इत्येतौ ल्यौ भवतो अस्तादर्धे । आ इत्यनुकर्षणार्थश्चकारः । उत्तराहि रमणीयम् । उत्तरा रमणीयम् । उत्तराहि वसति । उत्तरा वसति । अकाया इत्येव । उत्तरत आगतः । दूर इत्येव । मार्गमुत्तरेण प्रया (पा) ।

पूर्वाविराधराणां पुरवधोऽस्ति ॥४११०३॥ अकाया इति निवृत्तम् दूर इति च । पूर्वं, अवर, अधर, इत्येतेषां यथासङ्ख्यं पुर अच् अच् इत्येते आदेशा भवन्ति अस्तादर्धे अस्ति परतः । अनेनैवासा विधानम् । पुरो रमणीयम् । पुर आगतः । पुरो वसति । अवो रमणीयम् । अव आगतः । अवो वसति । अधो रमणीयम् । अध आगतः । अधो वसति ।

अस्ताति ॥४११०४॥ अस्ताति च परतः पूर्वादीनां पुरादयः आदेशा भवन्ति । इदमेव ज्ञापकम् । अस्तादपि भवतीति । अन्यथा विशेषविहितेनासा बाधा स्यात् । पुरस्ताद्रमणीयम् । पुरस्तादागतः । पुरस्ताद् वसति । अधस्ताद् रमणीयम् । अधस्तादागतः । अधस्ताद् वसति ।

वाऽवरस्य ॥४११०५॥ अस्ताति परतोऽवरस्यावादेशः । अवस्ताद्रमणीयम् । अवस्तादागतः । अवस्ताद् वसति ।

सङ्ख्याया विधाऽर्थे धा ॥४११०६॥ यथासम्भवं विभक्तीयोगः । सङ्ख्याशब्देभ्यो विधाऽर्थे वर्तमानेभ्यो धा इत्ययं ल्यो भवति स्वार्थे । अर्थग्रहणसामर्थ्याद् विधाशब्द इह प्रकारवाची गृह्यते । स च प्रकारः द्रव्यगुणक्रियाविषयः । षड्भिः प्रकारैः षोढा द्रव्यम् । बहुधा गुणाः । पञ्चधा करोति रक्तम् । द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्विधा करोति । त्रिधा । चतुर्धा । “अधिकरणविचाले चेति वक्तव्यम्” [वा०] । अधिकरणं द्रव्यम् । तस्य विचालः सङ्ख्यान्तरापादनम् । एकस्य नानालापादनम् । अनेकस्य वा एकलापादनमित्यर्थः । तस्मिन् गम्यमाने सङ्ख्याया धात्यो वक्तव्यः । एकं राशिं पञ्चधा कुरु । सप्तधा । नवधा । अनेकमेकधा कुरु । न वक्तव्यः । द्रव्यगुणक्रियाभेदेन त्रिविधो विधार्थ इत्युक्तम् । तत्र वान्तर्भावात् । “प्रकारोक्तौ जातीयः” [४११२२] इत्यस्यापवादः ।

वैकाद्व्यमुञ् ॥४११०७॥ एकशब्दाद्व्यमुञ् भवति । पदे धा भवति । एकं राशिं कुरु, ऐक्यं कुरु । ऐक्यं मुङ्क्ते । एकधा मुङ्क्ते ।

द्वित्रैर्धमुच् ॥४११२०८॥ वेति वर्तते । द्वित्रिभ्यां वा धमुञ् भवति विधायै । द्वैधं द्विधा । त्रैधं त्रिधा । “धमुजन्तात् स्वार्थे ङो वक्तव्यः” [वा०] । मतिद्वैधानि । पथिद्वैधानि ।

एधा ॥४११२०९॥ द्वित्रिभ्यामेधा भवति विधायै । द्वेधा । त्रेधा । यथासंख्यनिवृत्त्यर्थो योगविभागः ।

याप्ये पाशः ॥४११२१०॥ याप्य इह कृत्स्नोऽभिप्रेतः । याप्यन्ते अपनीयन्तेऽस्माद् गुणा इति याप्यः । बहुलवचनादपादाने व्यसंज्ञः । याप्येऽर्थे वर्तमानान्मृदः पाश इत्यर्थं त्यो भवति स्वार्थे । वैयाकरणो याप्यः, वैयाकरणपाशः । यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दत्रिनिवेशः, तत्कुत्सने भवति । इह मा भूत् । चौ वे (रो) वैयाकरणः । इह याप्या कुमारी, कुमारपाशा । “तसादा” [४११२१०] इति पुंवद्भावः । “वयस्यनन्त्ये” [२।१।२४] इत्यस्य ङाविधेः कृतत्वात्पाशान्ताद्वाप् भवति । उक्तं च—

“स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम् ।

समवेतस्य तु वचने लिङ्गं संख्यां विभक्तोरिव ।।

अभिधाय तान्विशेषानपेक्षमाणस्तु कृत्स्नमात्मानम् ।

प्रियकुत्सनादिषु पुनः प्रवर्ततेऽसौ विभक्त्यन्तः” ॥ [४।३।७४ पातं० भा०]

षष्ठाऽष्टमाद् भागे च ॥४११२११॥ षष्ठ-अष्टमशब्दाभ्यां भागे वर्तमानाभ्यां अ इत्यर्थं त्यो भवति स्वार्थे । षष्ठो भागः, षाष्ठः । आष्टमः । विकल्पाधिकारादनुत्पत्तिरपि भवति । षष्ठः । अष्टमः । भाग इति किम् ? षष्ठः पुरुषः ।

मानपश्वङ्गयोः कोपौ च ॥४११२१२॥ भाग इति वर्तते । षष्ठाष्टमशब्दाभ्यां मानपश्वङ्गयो-र्भागविशेषयोरभिधेययोः क उप इत्येतौ भवतः । पूर्वेषु विहितस्य अस्य उप द्रष्टव्यः । षष्ठशब्दान्माने भागविशेषे को भवति । अष्टमशब्दात्पश्वङ्गभागविशेषे अस्य उन्भवति । षष्ठको भागो मानं चेत्तद् भवति । अष्टमो भागः पश्वङ्गं चेत्तद् भवति । विहितस्य अस्योऽन्वधानसामर्थ्याद् वा जोऽपि भवति । षाष्ठः । षष्ठः । आष्टमः । अष्टमः ।

एकादाकिंश्चासहाये ॥४११२१३॥ एकशब्दादसहायवाचिन आकित्तित्यर्थं त्यो भवति कोपौ च स्वार्थे । कस्योप् ? काकिनोः । एकाकी । एककः । एकः । असहाय इति किम् ? यदैकशब्दः सङ्ख्याया-मन्यार्थे वा वर्तते तदा मा भूत् । अत एव द्विवहू अपि भवतः । एकाकिनो । एकाकिनः । सख्यावाचते (त्वे) एकवचनमेव स्यात् । अन्यार्थत्वे बहुवचनमेव स्यात् ।

तमेष्ठावतिशायने ॥४११२१४॥ अतिशायनं प्रकर्षः । “अन्यस्यापि” [४।३।२३२] इति दीत्वम् । इदं च प्रकृत्यर्थविशेषणं सर्वेषां स्वार्थिकानां द्योत्यम् । अतिशायनविशिष्टेऽर्थे वर्तमानान्मृदः स्वार्थे तम इष्ट इत्येतौ त्यौ भवतः अतिशायने द्योत्ये । वान्तात्प्योत्पत्तिः । सर्व इमे आद्याः, अयमेषामाद्य-तमः । सुकुमारतमः । सर्व इमे पटवः, अयमेषां पटुतमः । कथं गोतमः । कारकतमः इति ? अत्रापि क्रियागुणद्वारेण प्रकर्षापकर्षयोगोऽस्ति । “शेषौ गुणवचनादेव” [४।१।११८] इति नियमो वक्ष्यते । सर्व इमे पटवः, अयमेषा पटिष्टः । यदा प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षविवक्षा, तदा अतिशायिकान्तादपरः अतिशायिकः । श्रेष्ठतमः । अदूरविप्रकर्षिणां समानकक्षाणां स्पर्द्धा । तेनेह न भवति । सर्वपाणां महतामतिशायने महान् हिमवान् इति ।

मिडः ॥४११११२॥ यद्यपि मिडन्ते साधनप्रधाने अभिधानरूपेण गुणीभूता क्रिया, तथापि तस्याः साध्यमानत्वात्प्राधान्यम् । तदपेक्षायां साधनप्रकर्षेऽयं विधिवेदितव्यः । मिडन्तादतिशायने तम इत्ययं लो भवति । ड्याम्मृदधिकारात् पूर्वेण प्राप्तिर्नास्ति । सर्वे इमे पचन्ति, अयमेषां पचतितमाम् । पठतितमाम् । ‘किमेन्मिड्क्किम्नादामद्रव्ये’ [४१२२०] इत्याम् । इष्टो “गुणवचनादेव” [४११११८] इति नियमादिह न सम्भवति ।

द्विविभज्येतरस्य ॥४११११६॥ द्वौ च विभज्यं च, द्विविभज्यम् । द्विग्रहणमर्थनिर्देशपरम् । विभक्त्यं विभज्यं पृथक्कर्तव्यमित्यर्थः । इदमेव निपातनं यविधेः । द्व्यर्थे विभज्ये च प्रयुक्ते सति ड्याम्मृदो मिडश्च अतिशायने द्योत्ये तर इयसु इत्येतौ लौ भवतः । तमेष्टयोरपवादः । यथासङ्ख्यमस्वरितत्वादिह नेष्यते । उभाविभावाद्यौ, अयमनयोराव्यतरः । कारकतरः । द्वाविमौ पचतः । अयमनयोः पचतितराम् । ईयसुगुणवचनादेव । द्वाविमौ पट्ट, अयमनयोः पटीयान् । सूत्रे द्विशब्देन यद्यर्थग्रहणं द्वयोरर्थयोरेकतर-स्यातिशायने इति तदा सिद्धमिदम् । अस्माकं देवदत्तस्य च देवदत्तोऽभिरूपतर इति द्व्यर्थत्वादस्य । इदं तु न सिद्धयति । दन्तौष्ठस्य दन्ताः स्निग्धतराः । पाणिपादस्य पाणी सुकुमारतराविति । अत्रापि जात्यपेक्षयाऽर्थद्विलोपपत्तेः । विभज्ये । सांकाश्यका माथुरेभ्य आद्यतराः । पटीयांसः । अत्र जात्यभावाद्व्यर्थता नास्ति । तथापि नासौ शब्दोपात्ता । अत एव बह्वन्तगुदाहरणम् ।

तादी भः ॥४११११७॥ अतिशायने चत्वारस्तथा विहितास्तेषु तकारादी भसंज्ञौ भवतः । कुमारितरा । कुमारितमा । “भ्रूपकक्षपचेळ्द्रुवगोत्रमतहते प्रोऽनेकाचः” [४१११५५] इति पूर्वस्य प्रादेशः । भन्तादतष्टाप् ।

शेषो गुणवचनादेव ॥४११११८॥ तादी सुक्त्वा इष्टेयसू शेषौ । शेषौ गुणवचनादेव भवतो नान्य-स्मादिति नियमोऽयम् । सर्वे इमे पटवः अयमेषां पटिष्ठः । द्वाविमौ पट्ट, अयमनयोः पटीयान् । अयमस्मात्पटी-यान् । शेषग्रहणं प्रकृतमिति नित्यम् । गुणवचनादिति किम् ? गीतमः । एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः । मैवं विज्ञायि, शेषावेव गुणवचनादिति । एवं द्विपटुतम इति न स्यात् ।

प्रशस्यस्य अः ॥४११११९॥ शेषग्रहणं प्रकृतम् । तदर्थवशादीपा विपरिणम्यते । प्रशस्यशब्दस्य अ इत्ययमादेशो भवति शेषयोः परतः । प्रशंसनीयः, प्रशस्यः । “शसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्” [२१११६१ वा०] इत्युपसङ्ख्यानान्तरम् । इदमेव ज्ञापकम् । इह शेषौ गुणवचनादेवेति नियमो न प्रवर्तते । सर्वे इमे प्रशस्याः । अयमेषां श्रेष्ठः । द्वाविमौ प्रशस्यौ अयमनयोः श्रेयान् । “नैकाचः” [४१११५४] इति शेषे टिखं न । तरतमौ भवत एव । प्रशस्यतमः । प्रशस्यतरः ।

ज्यः ॥४१११२०॥ प्रशस्यशब्दस्य ज्य इत्ययमादेशो भवति शेषयोः परतः । सर्वे इमे प्रशस्याः, अयमेषां ज्येष्ठः । द्वाविमौ प्रशस्यौ, अयमनयोर्ज्यायान् । अयमस्मात् ज्यायान् । “ज्यादेयसः” [४१११६२] इति परस्वादेशकारः यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थं योगान्तरम् ।

वृद्धस्य ॥४१११२१॥ वृद्धशब्दस्य च ज्य इत्ययमादेशो भवति शेषयोः परतः । सर्वे इमे वृद्धाः, अयमेषां ज्येष्ठः । द्वाविमौ वृद्धौ अयमनयोर्ज्यायान् । अयमस्मात् ज्यायान् । आदेशार्थं वचनम् । तरतमौ सिद्धावेव । वृद्धतरः । वृद्धतमः । “बहुल्यगुरुवृद्धादि” [४१११४६] सूत्रेण वृद्धशब्दस्य वर्षादेशोऽपि भवति । वर्षिष्ठः । वर्षीयान् ।

वादान्तिकयोः साधनेदौ ॥४१११२२॥ वादान्तिकशब्दयोः यथासङ्ख्यं साध नेद इत्येतावादेशौ भवतः शेषयोः परतः । निमित्ततो यथासङ्ख्यं नेष्यते, भिन्नयोगनिर्दिष्टत्वात् । सर्वे इमे वादं जल्पन्ति, अयमेषां

साधिष्टं जल्पति । अयमनयोः साधीयो जल्पति । यदि वादशब्दां द्रव्यवचनः साधीयानिति । सर्वाणीमानि अन्तिकानि, इदमेषां नेदिष्टम् । इदमेनयोर्नेदीयः । इदमस्मान्नेदीयः । तरतमौ भवत एव । वादतरम् । वादतमम् ।

युवाऽल्पयोः कन्वा ॥४।१।१२३॥ युव अल्प इत्येतयोः कन्नित्ययमादेशो भवति वा शेषयोः परतः । शेषयोर्विधानं पूर्ववद्व्याख्येयम् । सर्व इमे युवानः, अयमेषां कनिष्ठः । कनीयान् । यदा युवशब्दस्य कन्नादेशो न भवति तदा “स्थूलदूरेत्यादिना” [४।३।१३७] यणः खनिक एप् । यविष्टः । यवीयान् । सर्व इमेऽल्पा अयमेषां कनिष्ठः । कनीयान् । अल्पिष्टः । अल्पीयान् । तरतमौ भवत एव ।

विन्मत्तोरूप ॥४।१।१२४॥ विन् मत्त इत्येतयोरेवभवति शेषयो परतः । इदमेव ज्ञापकम् । शेषयोर्विधानस्य यथासङ्ख्यमत्र नेष्यते । सर्व इमे सग्विणः, अयमेषां सजिष्टः । सजीयान् । सर्व इमे ल्ग्वन्तः, अयमेषां ल्वचिष्टः, ल्वचीयान् ।

प्रशंसायां रूपः ॥४।१।१२५॥ ड्याम्मृद इति वर्तते मिड इति च । प्रशंसायां वर्तमानान्ड्याम्मृदो मिडश्च रूप इत्ययं ल्यो भवति प्रशंसायां द्योत्यायाम् । स्वार्थिकानां प्रकृत्यर्थविशेषणं द्योत्यं भवति । वाच्यं पुनस्तत्प्रकृतेरेव । वैयाकरणः प्रशस्तः, वैयाकरणरूपः । पटुरूपः । प्रशस्ता कुमारी कुमारिरूपा । “तसादौ” [४।३।१४७] इति पुंवद्भावे प्राप्ते “ऋरूपेत्यादिना” [४।३।१५५] प्रादेशः । वयोलक्ष्णञीविधेः कृतत्वाद्रूपान्ताद्वाप् । कथं निन्दायां प्रयोगः ? वृषलरूपोऽयं यो मांसेन सुरां पिबेत् । चौररूपोऽयं योऽज्ञिस्थमञ्जनमपि हरेत् । अत्रापि प्रकृत्यर्थस्य वैस्पष्ट्यम् । प्रशंसायां मिडः खल्वपि । पचति रूपम् । पचतो रूपम् । पचन्ति रूपम् । लोकाश्रयमिह नपुंसकलिङ्गम् । क्रियाप्रधानमाख्यातम् । एका च क्रियेति रूपान्तादेकवचनमेव भवति ।

आसिद्धौ देश्यदेशीयकल्पाः ॥४।१।१२६॥ सिद्धिः परिपूर्णाता, न सिद्धिरसिद्धिः । ईषदसिद्धि-रासिद्धिः । तद्विशिष्टेऽर्थे वर्तमानान्ड्याम्मृदो मिडन्ताच्च देश्य देशीय कल्प इत्येते त्या भवन्ति स्वार्थे । ईषदसिद्धः पटुः, पटुदेश्यः । पटुदेशीयः । पटुकल्पः । स्त्रियां पटुविदेश्या तसादिष्वपरिगणानात् पुंवद्भावे नास्ति । पटुदेशीया । “पुंवद्यजातीय” [४।३।१२४] इति पुंवद्भावः । पटुविकल्पा कल्पस्य तस्यातसादित्वात् “तसादौ” [४।३।१४७] इति पुंवद्भावे प्राप्ते “ऋरूप” [४।३।१५५] इत्यादिनेकारान्तस्य प्रः । “जात् स्त्रियाम्” [४।२।२२] इत्यत्र वक्ष्यते । अतिवर्तते च स्वार्थिकाः प्रकृति लिङ्गसङ्ख्ये इति । तेन गुडकल्पा द्राक्षा । तैलकल्पा प्रसन्ना । पयस्कल्पा यवागुः । मिडः । ईषदसिद्धं पचति, पचतिदेशीयम् । पचतिकल्पम् । पचतःकल्पम् । पचन्तिकल्पम् ।

वा सुपो बहुःप्राक्तु ॥४।१।१२७॥ आसिद्धाविति वर्तते । ईषदसिद्धिविशिष्टेऽर्थे वर्तमानान्मृदः सुन्ताद् बहुल्यो वा भवति । स तु प्राग्भवति । विभाषया ल्योत्पत्तिर्यथा स्यात् प्राग्भावास्तु नित्यः । इत्यस्य व्यतिरेकस्य दर्शनार्थस्तुशब्दः । ईषदसिद्धं कृतं बहुकृतम् । त्ये कृते मृत्संज्ञायां पुनः सुप् । “ऋदृष्टसाः” [१।१।१४] इत्ययं नियमस्तुल्यजातीयस्य सुवन्तसमुदायस्यान्यत्यान्तस्य च मृत्संज्ञां निवर्तयति । तेन बहुकृतशब्दात्सुबुत्पत्तिः । एवं बहुपटुः । बहुगुडः । यदा द्राक्षाविशेषणं भवति तदा टाप् । बहुगुडा द्राक्षा । वाग्रहणं देश्यादिसमावेशार्थम् । अन्यथा मिडन्ते सावकाशान् देश्यादीनयं बाधेत । सुप इति किमर्थं यावता “प्रियकुत्सनादिषु पुनः प्रवर्ततेऽसौ विभक्त्यन्त” इत्युक्तं पुनः सुबग्रहणं मिडन्निवृत्त्यर्थम् । परत्वाद्देश्यादिषु कृतेषु तमादयः । पटुदेश्यतमः । बहुपटुतमः । ईषदसिद्धेः प्रकषो नास्तीति प्रकृत्यर्थप्रकषे तमादयः ।

प्रकारोक्तौ जातीयः ॥४११२८॥ प्रकारोक्तौ सुबन्ताजातीय इत्ययं त्यो भवति स्वार्थे । पटुप्रकारः पटुजातीयः । परिखटजातीयः । यजातीयः । तजातीयः । प्रकारवति चायं वेदितव्यः । प्रकारमात्रे याथमौ । तेन तदन्तादपि । यथाजातीयः । कथंजातीयः । एवमर्थं वेहोक्तिग्रहणम् ।

एवात्कः ॥४११२९॥ “इवे प्रतिकृतौ कः” [४११२९०] इति वक्ष्यति । आ एतस्मादिव संशब्दनात् यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिध्यामः, तत्र क इत्ययमधिकृतो वेदितव्यः । आङ्घ्रिह मर्यादावचनः । वक्ष्यति “कुत्साऽज्ञातयोः” [४११२९१] । कुत्सितोऽश्वोऽश्वकः । गर्दभकः । इह सुप इत्यनुवर्तनान्मिडन्तात्को नेष्यते ।

भिसर्वनाम्नोऽकप्राक्टेः को दः ॥४११३०॥ मिड इति च वर्तते । भेः सर्वनाम्नश्च अगित्ययं त्यः टेः प्राग्भवात् ककारस्य च दकारः एवादर्थेषु । कस्यापवादः । मृदः सुप इति च वर्तते । तत्राभिधानवशाद् व्यवस्था । भिसंज्ञके नास्ति विशेषः । उच्चकैः । नीचकैः । यदि ककारोऽस्ति तस्य दकारः । हिरक, हिस्कुत् । पृथक् पृथक् । सर्वनाम्नो मृदवस्थायामक् । सर्वके । विश्वके । उभकौ । उभयके । युष्मकाभिः । अस्मकाभिः । युष्मकासु । अस्मकासु । युष्मकयोः । आवकयोः । इह सुबन्तादेव । त्वयका । त्वयकि । मयकि । सुप इत्यादिसम्बन्धादेव “सुपो धुमृदोः” [११४१४२] इत्युन्नेष्यते । मिडः खल्वपि । पचकति । पठकति । “तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते” इति मिडन्तमेवैतत् । “अक्प्रकरणे तूष्णीमः काम् वक्तव्यः” [वा०] मकारः “परोऽचो मिद्” [११४१४५] विशेषणार्थः । तूष्णीकामास्ते । “शीले को मखं च” [वा०] तूष्णी शीलस्तूष्णीकः ।

कुत्साऽज्ञातयोः ॥४११३१॥ कुत्साऽज्ञातत्वोपाधिकेऽर्थे वर्तमानान्मृदः स्वार्थे यथाविहितं त्यो भवति । कुत्सितोऽश्वः कस्यायमश्व इति वाऽश्वकः । उष्ट्रकः । उच्चकैः । सर्वके । पचतकि । इह कुत्सितक इत्यज्ञातार्थे । अज्ञातक इति कुत्सितेऽर्थे कः । अतः कविधेस्तमादयो भवन्ति । पूर्वनिर्णयेन, पश्चात्कादिविधिः । पटुतरकः । मृदुतरकः । पचतितरकाम् । छिन्नकादिषु के कृते तमादयः । छिन्नकतरः । भिन्नकतरः ।

अनुकम्पायाम् ॥४११३२॥ सौहृदेन कारुण्येन वा परस्यानुग्रहोऽनुकम्पा तत्र वर्तमानान्मृदः सुबन्तान्मिडश्च यथाविहितं त्यो भवति । अनुकम्पितो माणवो माणवकः । बुभुक्षितक । नीचकैः । याचतके ।

नीतौ च तद्युक्तात् ॥४११३३॥ अनुकम्पाविषयायां नीतौ गम्यमानायां तद्युक्तादनुकम्पायुक्ताद्यथाविहितं त्यो भवति । चकारोऽनुकम्पाऽनुकर्षणार्थः । तेन सामोपप्रदानलक्षणा नीतिरिह गृह्यते, न भेदः दण्डलक्षणा । पूर्वसूत्रेणानुकम्प्यमानवाचिनस्त्यो विहितोऽनेन पुनस्तद्युक्ताद्विधीयते । पुत्रक उत्संगक । उपविश कर्दमकेनासि दिग्भकः । हन्त ते तिलकाः । हन्त ते गुडकाः । एहकि । अद्वकि । उपविश, असि, ते, हन्त इत्येवमादिषु अनभिधानान्न भवति ।

बह्वृचो नृखोर्वा ठः ॥४११३४॥ अनुकम्पायां नीतौ च तद्युक्तादिति सर्वमनुवर्तते । बह्वृचो मृदो नृनामधेयाद् वा ठ इत्ययं त्यो भवति । अनुकम्पायां “नीवौ च तद्युक्तात्” [४११३३] इति नित्ये के प्राप्ते वा ठः । अनुकम्पितो देवदत्तो देविकः । देवदत्तकः । जिनिक् । जिन्दत्तकः । “ठाऽचि द्वितीयाऽपरोऽचः” [४११३३] इति दत्तशब्दस्य खं ठस्येकादेशश्च । बह्वृच इति किम् ? रामकः । दत्तकः । नृग्रहणं किम् ? देवदत्तको हस्ती । खुग्रहणं किम् ? माणवकः ।

धेलौ ॥४११३५॥ अनुकम्पायां नीतौ च तद्युक्तादिति वर्तते । बह्वृचो नृखोर्ध इल इत्येतौ त्यौ भक्तः । अनुकम्पितो देवदत्ता देवियः, देविजः । पूर्वेण वा ठाऽपि भवति देविकः, देवदत्तकः ।

अडबू वोपादेः ॥४११३६॥ अनुकम्पायां नीतौ च तद्युक्तादिति वर्तते । उपशब्दादेर्मृदो बहुचो नृखोः अड बु इत्येतौ त्यौ भवतो वेलो च वा । अनुकम्पितो उपेन्द्रदत्तः उपडः, उपकः, उपियः, उपिलः, उपिकः, उपेन्द्रदत्तकः । यादित्शब्दो यकारस्य खं कृत्वा निर्दिष्ट । तेन वोरकादेशः सिद्धः ।

जातिनाम्नः कः ॥४११३७॥ जातेनाम जातिनाम जातिशब्द इत्यर्थः । बहुवृत्तेऽवह्वृचश्च सायान्येनायं विधिः । जातिशब्दानृखोः अनुकम्पाया नीतौ च गम्यमानायां क इत्ययं त्यो भवति । अनुकम्पितो महिषो महिषकः । वराहकः । शरभकः । व्याघ्रकः । सिंहकः । इह केचिद्ग्राह्यमनुवर्त्य व्याघ्रिजः, सिंहिलः इत्युदाहरन्ति तत्तु नातिश्लिष्टम्, अस्य सूत्रस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तस्माद् प्रादीनां वाधैव युक्ता ।

द्योः खं चाऽजिनस्य ॥४११३८॥ नृखोरिति वर्तते । अजिनशब्दान्तामृदो नृखोः अनुकम्पायां नीतौ च गम्यमानायां क इत्ययं त्यो भवति तस्य च द्योः खं भवति । अनुकम्पितस्तुलाजिनस्तुलकः । व्याघ्रकः । मृगकः । द्युग्रहणं किमर्थम् ? अजिनशब्दान्तस्य द्योः खं यथा स्यात् । अनुकम्पितो व्याघ्रमष्टाजिनो व्याघ्रकः ।

ठाऽचि द्वितीयात्परोऽचः ॥४११३९॥ खमिति वर्तते । प्रकृते ठेऽजादौ च परतः । प्रकृते-द्वितीयादचः परशब्दो नाश्रयते । परग्रहणं सर्वनाशार्थम् । अनुकम्पितो देवदत्तो देविकः, देवियः, देविलः । अनुकम्पित उपेन्द्रदत्त उपडः, उपकः । अथाजातिवादेव सिद्धे पृथक् ठग्रहणं किमर्थम् ? खे कृते इकादेशो यथा स्यादित्येवमर्थः । अन्यथा अनुकम्पितो भानुदत्तः भानुकः । पितृकः इत्येवमदि न सिद्ध्यत् । इकस्य स्थानिवद्भावाद्ग्रहणेन ग्रहणत्कादेशो भविष्यतीति चेन्न; “सञ्ज्ञपातल्लय्यो विधिरनिमित्तं तद्विद्यतस्य” अजादिसञ्ज्ञपातकृतमुगन्तत्वम् । “चतुर्थादचः परस्य खं वक्तव्यम्” [वा०] वृहस्पतिदत्तः । बृहस्पतियः । बृहस्पतिलः । बृहस्पतिकः । “अनजादौ द्वितीयादचः परस्य वा खं वक्तव्यम्” [वा०] देवदत्तकः । देवकः । जिनदत्तकः । जिनकः । “पूर्वपद-य च ठाजादौ अनजादौ च खं वक्तव्यम्” [वा०] दत्तिकः । दत्तियः । दत्तिलः । दत्तकः । “विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्” [वा०] । सत्यमामा । मामा । सत्या वा । विष्णुगुप्तः । गुप्तः । विष्णुर्वा । “उवर्णादिलस्य च खं वक्तव्यम्” [वा०] । परस्यादे-रितीकारस्य । भानुदत्तः, भानुलः । वसुलः । उक्त्वञ्च-

“चतुर्थादनजादौ च नाशः पूर्वपदस्य च । अनिमित्ते तथैवेष्टः उवर्णान्तादिलस्य च ॥”

“उगन्तादियेलयोः खं वक्तव्यम्” [वा०] । प्रकृते ठाचि द्वितीयात्परस्य खे कृते इयेलयोश्च परस्यादेः खे कृते भ्लादोकारो ये दीत्वं रीड्भावः इत्येते विषयो न भवन्ति । भानुयः । मानुयः । भानुलः । “एचो द्वितीयत्वे तदादेः खं वक्तव्यम्” [वा०] । लहोडः । लहिकः । कहोडः । कहिकः । कपोतरोम । कपिकः । कपिलः । अमोवजिह्वः । अमिकः । अमिलः । “एकाक्षरपूर्वपदानां द्योः खं वक्तव्यमषषः” [वा०] अनुकम्पितो वागाशी(दत्तः) वचिकः । त्वचिकः । श्रुचिकः । पूर्वस्य पदकार्य-निवृत्त्यर्थमेतत् । अषष इति किम् । षडङ्गुलिः षडिकः ।

शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादेस्तृतीयात् ॥४११४०॥ शेवल सुपरि विशाल वरुण अर्थमन् इत्येवमादेर्नृखोर्मृदस्तृतीयादचः परो नाश्रयते ठाचि परतः । द्वितीयादचः परस्य खे प्राप्ते वचनम् । अनुकम्पितः शेवलदत्तः शेवलिकः । शेवलयः । शेवलिलः । सुपरिकः । सुपरियः । सुपरिलः । विशालिकः । विशालियः । विशालिलः । वरुणिकः । वरुणियः । वरुणिलः । अर्थमिकः । अर्थमियः । अर्थमिलः । “अकृतसन्धीनां शेवलादीनामिति वक्तव्यम्” [वा०] । शेवलेन्द्रदत्तः शेवलिकः । सुपर्याशीर्दत्तः सुपरिकः । शेवलियिकः सुपरियिक इति च माभूत् । नेदं वक्तव्यम् । अकृतवद्व्यूहेन सिद्धम् । अकृतवद्व्यूहो नाम अन्तरङ्गपरिभाषाया अव्यापारः ।

अल्पे ॥४१११४१॥ समन्ततो हीनं महत्प्रतिपक्षभूतमल्पम् । अल्पत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद् यथाविहितं ल्यो भवति । सुप इति वर्तते । ङ्याम्मुदो भि । सर्वनाम्नो मिङ् इति च । अल्पमन्नमन्नकम् । घृतकम् । उच्चकैः । सर्वकैः । पचतकि । द्रव्यद्वारेण क्रियाया अल्पत्वमहत्त्वे ।

ह्रस्वे ॥४१११४२॥ आयामतो हीनं दीर्घप्रतिपक्षभूतम् (ह्रस्वम्) । ह्रस्वत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद् यथाविहितं ल्यो भवति । ह्रस्वः पटः पटक । वृद्धकः । उच्चकैः । सर्वकैः । पचतकि ।

कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः ॥४१११४३॥ ह्रस्व इति वर्तते । कुटी शमी शुण्डा इत्येतेभ्यो र इत्यर्थं ल्यो भवति । कस्यापवादः । ह्रस्वा कुटी कुटीरः । शमीरः । शुण्डारः । लोकाश्रयत्वात्लिङ्गस्येति पुंलिङ्गता ।

कुत्वा डुपः ॥४१११४४॥ कुतूः आवपनम् । कुतूशब्दाद्डुप इत्यर्थं ल्यो भवति । कस्यापवादः । ह्रस्वा कुतूः कुतूपः स्नेहभाजनविशेषश्चर्ममयः ।

कासूगोणीभ्यां तरट् ॥४१११४५॥ कासूः शक्तिः आयुधविशेष इत्यर्थः । गोणीत्यावपनमुच्यते । कासूगोणीशब्दाभ्यां तरट् भवति । कस्यापवादः । ह्रस्वा कासूः कासूतरी । ह्रस्वा गोणी गोणीतरी ।

वत्सोच्चाऽश्वर्षभेभ्यस्तनुत्वे ॥४१११४६॥ ह्रस्व इति निवृत्तं विशेषणान्तरोपादानात् । वत्स, उद्धन्, अश्व, ऋषभ इत्येतेभ्यस्तनुत्वोपाधिकेऽर्थे वर्तमानेभ्यस्तरड् भवति स्वार्थे । यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दविनिवेशस्तस्य तनुत्वे तरट् । तनुर्वत्सो वत्सतरः । उद्धतरः । अश्वतरः । ऋषभतरः । वत्सस्य तनुत्वं यौवनप्राप्तिः । यौवन उपचीयमाने वत्सत्वं तनुर्भवति । उच्चा तरुण उच्यते तस्य तनुत्वं तस्मात्परस्य वयसः प्राप्तिः । अश्वेनाश्वयायामुत्पन्नोऽश्वः । तस्य तनुत्वं विनातीयादुत्पत्तिः । ऋषभो भारवहस्तस्य तनुत्वमसमर्थता ।

क्रियत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरः ॥४१११४७॥ किं यत् तद् इत्येतेभ्यो द्वयोरेकस्य निर्धारणे गम्यमाने डतर इत्यर्थं ल्यो भवति । सामर्थ्यान्निर्धार्यमाणवाचिभ्यः किमादिभ्यस्तस्यः । समुदायाजातिगुणक्रिया-संज्ञाभिरेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम् । को भवतोः कठः । कतरो भवतोः पटुः । कतरो भवतोः कारकः । कतरो भवतोर्देवदत्तः । एवं यतरः । ततरः । महाविकल्पाधिकाराद्वाक्यमपि साधु । निर्धारणे इति किम् ? द्वयोर्ग्रामयोः कः स्वामी । द्वयोरेकस्य स्वामित्वे मा भूत् । द्वयोरिति किम् ? यस्मिन् कुले यः प्रधानं च (स) आगच्छत् । एकस्येति किम् ? एकग्रहणेऽक्रियमाणे बहुषु एकत्र वा द्वयोर्निर्धारणं सम्भाव्येत । तेनेहापि प्रसज्येत । कौ भवतां काञ्चीपुरकौ । कौ एतस्मिन् ग्रामे देवदत्तगुरुदत्ताविति ।

वा बहूनां जातिप्रश्ने डतमः ॥४१११४८॥ एकस्य निर्धारण इति वर्तते । जातिश्च प्रश्नश्च जाति-प्रश्नम् । बहूनामेकस्य निर्धारणे गम्यमाने किमादिभ्यो वा डतम इत्यर्थं ल्यो भवति जातिप्रश्नविषये । किमो जातिविषये प्रश्नविषये च ल्यः । इतरेभ्यो जातिविषये । वावचनमुत्सर्गस्याकः प्रापणार्थम् । को भवतां कठः । कतमो भवतां कठः । अकि साकः किमः कादेशो को भवतां कठः । यतमो भवतां कठः । यको भवतां कठः । कतमो भवतां कठः । अत्र वृत्त्यन्तरे पाठः । वा बहूनां परिप्रश्न इति । तेन को भवतां वैयाकरणस्ताकिंको नैयायिको वा । कतम इति भवति । बहूनामिति किम् ? द्वयोरेकस्य निर्धारणे जातिप्रश्ने पूर्वेण डतर एव भवति । कतरो भवतोः कठ इति । जातिप्रश्न इति किम् ? को भवतां देवदत्तः । किमोऽस्मिन् विषये डतरमपीच्छन्ति केचित् । कतरो भवतां कठः । कतमो भवतां कलाप इति ।

एकाच्च ॥४१११४९॥ एकशब्दाद्डतरडतमौ यथोपाधिविशिष्टौ भवतः । चकारो डतरानुकर्षणार्थः ।

जातिप्रश्न इति नानुवर्तते । सामान्येन विधानम् । एकतरो भवतोर्देवदत्तः । एकतमो भवतां देवदत्तः । किमा-
दिष्वेकग्रहणं कर्तव्यमिति केचित् । न जातिप्रश्न एव इतमः स्यात् । उत्सर्गस्याको निवृत्त्यर्थं च योगविभागः ।
महाविकल्पोऽनुवर्तत एव ।

इवे प्रतिकृतौ कः ॥४१११५०॥ इवार्थः सादृश्यम् । प्रतिकृतिः प्रतिबिम्बम् । विषयद्वारेण इवार्थ-
विशेषणमेतत् । प्रतिकृतिविषये य इवार्थस्तिन् वर्तमानान्मृदः को भवति स्वार्थे । अथ इवायम् अश्वकः । अश्व-
प्रतिकृतिरित्यर्थः । एवम् उद्भूकः । गर्दभकः । प्रतिकृताविति किम् ? गौरिव गवयः । अश्व इवायं शीघ्रो गौः ।

खौ ॥४१११५१॥ इवार्थमात्रे गन्धमाने मृदः को भवति खुविषये । अप्रतिकृत्यर्थोऽयमारम्भः ।
अश्व इवायमश्वकः । उद्भूकः । गर्दभकः । संज्ञाशब्दा एते । संज्ञाशब्देषु च इवार्थो न गम्यते । केवलं
वस्तुधर्मेण सादृश्येनान्वाख्यानं क्रियते, तेनेदमपि सिद्धम् । वंशकः । वेणुकः । नडकः । ह्रस्वत्वो-
पाधिका एताः संज्ञाः । कथं शूद्रकः । रावकः । पूर्वकः । एता अपि कुत्सितत्वोपाधिकाः संज्ञाः ।

उस्मनुष्ये उपमेये ॥४१११५२॥ मनुष्य उपमेयत्वेनाभिधेये खौ वाऽखौ च विहितस्य कस्योस्
भवति । कुक्कुट इव कुक्कुटो मनुष्यः । चञ्चेव चञ्चा । वर्दिका । खरकुटी । दासी । “युक्तवदुसि लिङ्ग-
संख्ये” [११११६८] इति युक्तवद्भावः । मनुष्य इति किम् ? अश्वकः पाषाणः । देवपथादेराकृति-
गणस्यायं प्रपञ्चः ।

जीविकार्थेऽपरस्ये ॥४१११५३॥ विक्रीयते यत्तत्परस्यम् । न परस्यमपरस्यम् । जीविकार्थं यदपरस्यं
तस्मिन्नुपमेयत्वेनाभिधेये कस्यास्भवति । वासुदेव इवाय देवलकानां वासुदेवः । “इवे प्रतिकृतौ”
[४१११५०] इत्यनेनागतस्य कस्योत् । शिवः । स्कन्दः । विशालः । जीविकार्थादेव प्रतिकृतय एवमुच्यन्ते ।
जीविकार्थे इति किम् ? क्रीडार्थे हस्तीव हस्तिकः । अपरस्य इति किम् ? यत्कं विक्रीयते । हस्तिकं विक्रीयते ।
एषोऽपि देवपथादेः प्रपञ्चः ।

देवपथादिभ्यः ॥४१११५४॥ “इवे प्रतिकृतौ” [४१११५०] “खौ” [४१११५१] इति
जागतस्य कस्योस् भवति देवपथादिभ्यः परस्य । देवपथ इव देवपथः । हंसपथः । वारिपथः । अजापथः ।
राजपथः । शतपथः । सिद्धगतिः । उद्भूगीवः । वाम । रज्जु । हस्त । इन्द्र । दण्ड । पुष्प । मत्स्य । आकृति-
गणोऽयम् । “अर्चास्तु पूजनार्थास्तु चित्रकर्मध्वजेषु च । इवे प्रतिकृतौ नाज्ञः कृतो देवपथादिषु ॥”
अर्चास्तु—अर्हन् । शिवः । स्कन्दः । विष्णुः । चित्रकर्मणि—दुर्योधनः । भीमसेनः । अर्जुनः । ध्वजेषु च—
ताल इवायं ध्वजतालः । कपिः । गरुडः । आकृतिगणत्वादेवेदमपि सिद्धम् ।

“मत्स्याश्वपुष्पाणि च तारकाश्च चण्डार्धचन्द्राश्च पतत्रिण्यश्च ।

तस्मिन्नर्थो स्मममयारचरेजः (छिवार्थे ङसमाचरेजः) प्रसार(प्रासाद)गुरुमार्कमया मृगारश्च ॥
इह दुर्योधन इवायं नटो दुर्योधनः । “उस्मनुष्ये” [४१११५२] “जीविकार्थेऽपरस्ये” [४१११५३]
इति वा उस् ।

वस्तेर्दञ् ॥४१११५५॥ इव इत्यनुवर्तते । वस्तिशब्दादिवार्थे दञ् भवति । यस्मिन् प्रदेशे मल-
मुपसम्प्राप्तं बहिर्निष्कर्मति स प्रदेशो वस्तिः । वस्तिविवार्यं वास्तेयः वास्तेयी प्रणालिका । इत ऊर्ध्वं सामान्येन
विधानमिवार्थमात्रे । देवप्रतिकृतौ खौ च के प्राप्तेऽन्यत्राप्राप्ते दञ् ।

शिलाया ढः ॥४१११५६॥ शिलाशब्दादिवार्थे ढो भवति । शिलेव शिलेयं दधि । शिलाया
इति योगविभागाङ्गमपि केचिदिच्छन्ति । शैलेयम् ।

शाखादेयः ॥४१।१५७॥ शाखा इत्येवमादिभ्य इवार्थे यो भवति । शाखेव शाख्यः । मुखमिव मुख्यः । शाखा । मुख । जघन । स्कन्ध । मेघ । चरण । शृंग । उरस् । अग्र । शरण ।

द्रव्यं भव्ये ॥४१।१५८॥ द्रव्यमिति निपात्यते भव्येऽर्थे । भव्यविशेषे इवार्थे वर्तमानाद् द्रुशब्दाद् य इत्ययं ल्यो निपात्यते । द्रुशिव द्रव्यम् कार्षापणम् । इष्टार्थक्रियाहेतुरित्यर्थः । द्रव्यमयं राजा आत्मवानित्यर्थः । भव्य इति किम् ? द्रुशिवयं न चेतयते पुरुषः ।

कुशाग्राच्छुः ॥४१।१५९॥ कुशाग्रशब्दादिवार्थे छो भवति । सूक्ष्मत्वेन कुशाग्रमिव कुशाग्रीया बुद्धिः । कुशाग्रीयं शास्त्रम् ।

सात्तद्विषयात् ॥४१।१६०॥ इवशब्दः सादृश्यार्थस्तच्छब्देन परामृश्यते । इवार्थविषयात् सात् छो भवति । इवार्थविषयस्य च मस्येदमेव ज्ञापकम् । यदृच्छ्या अतर्कितोपनते चित्रीकरणे इवार्थविषये सो भवति । सुप्सुपेति सविधानमेवंविषयमेव द्रष्टव्यम् । काकतालीयम् । तालशाखाग्रे काकः प्राप्तः, तालं च पतितं तेन चपतता तालेन स काको हतः । इदं चित्रीकरणम् । तथा देवदत्तश्च वृद्धं श्रितः । तत्राशनिश्च पतितः । तत्र देवदत्तस्याशनेश्च समागमः काकतालसमागमसदृशः । काकवधसदृशश्च देवदत्तवधः इति समागमसादृश्ये सविधानम् । वध सादृश्ये त्यविधिः । एवमन्धकवर्तकीयम् । अजाकृपाणीयम् । इह शस्त्रीश्यामा । पुरुषव्याघ्र इति समुदाय इवार्थविषयो न भवति । किन्तु पूर्वपदमुत्तरपदं वा । तेन छो न भवति ।

शर्करादिभ्योऽण् ॥४१।१६१॥ शर्करा इत्येवमादिभ्यो इवार्थेऽण् भवति । शर्करेव शर्करम् । कपालिकेव कपालिकम् । “भस्य हृत्यदे” [४।३।१४७ वा०] इति पुंवद्भावे प्राप्ते “न बुहृत्कोः” [४।३।१४६] इति प्रतिषेधः । शर्करा । कपालिका । कपिष्ठिका । गोमत् । गोपुच्छ । पुरडरीक । शतपत्र । नराची । नकुल । सिकता ।

अङ्गुल्यादेष्टण् ॥४१।१६२॥ अङ्गुली इत्येवमादिभ्य इवार्थे ठण् भवति । अङ्गुलीव अङ्गुलिकम् । अङ्गुलि । भञ्ज । वभ्रु । वल्गु । रुष् । खल । उदशिवत् । गोष्णी । उरस् । मण्डर । मण्डल । शङ्कुल । कुलिश । हरि । कपि । मुनि ।

चैकशालायाष्टः ॥४१।१६३॥ एकशालाशब्दादिवार्थे वा ठो भवति । वाचनेनानन्तरस्य ठणः समुच्चयः । एकशालेव एकशालिकः । ऐकशालिकः ।

कर्कलोहिताट्टीकण् ॥४१।१६४॥ कर्कलोहितशब्दाभ्यामिवार्थे ट्टीकण् भवति । कर्कः शुक्लाश्वः । कर्क इव कार्कीकः । लौहितीकः । टकारः स्त्रियां ड्यर्थः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां महावृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

पूगाञ्च्योऽग्रामणीपूर्वात् ॥४।२।१॥ इव इति निवृत्तम् । पूगाञ्चिनो मृदोऽग्रामणीपूर्वात् स्वार्थे ज्यो भवति । नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽधर्म(ऽर्थ)कामपराः संघाः पूगाः । पूगाशब्दः समुदायवचनस्तस्यैकत्वेन निर्देशः । यथा यूथं वनमिति । ये त्वस्य विशेषवाचिनः शब्दास्तेषां भेदवाचित्वात् एकद्विवहवो भवन्ति । लोहध्वजा इति पूगः । लोहध्वज्यः । लोहध्वज्यौ । लोहध्वजाः । शौव्यः । शौव्यौ । शिवयः । वातक्यः । वातक्यौ । वातकाः । “द्वेर्बहुषु तेनैवास्त्रियाम्” [१।४।१३५] इति बहुषूप् । ग्रामणीरित्यर्थनिर्देशः । पूर्वशब्दोऽवयववाची । ग्रामण्यर्थः पूर्वोऽवयवो यस्य स ग्रामणीपूर्वः । अथवा ग्रामण्यर्थविषयो यस्य स साहचर्याद् ग्रामणीरित्युच्यते । स पूर्वमुत्पन्नो यस्य पूगस्य स ग्रामणीपूर्वः । न ग्रामणीपूर्वोऽग्रामणीपूर्वः । ग्रामणीपूर्वोऽग्रामणीपूर्वो न भवति । देवदत्तो ग्रामणीरेषां देवदत्तकाः । “स एषां ग्रामणीः” [४।१।१३] इति कः ।

व्रातःफादस्त्रियाम् ॥४२२॥ नानाजातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविनः संघाः व्राताः । फफ इति “वृद्धे कुञ्जादिभ्यो फफः” [३।१।८७] इत्यापत्यस्त्यो गृह्यते । व्रातविशेषवाचिभ्यो फफान्तेभ्यश्च स्वार्थे यो भवत्यस्त्रियाम् । कापोतपाक्यः । कापोतपाक्यौ । कपोतपाकाः । ब्रैहिमत्यः । ब्रैहिमत्यौ । ब्रैहिमताः । फफान्तात् कुञ्जस्यापत्य कौञ्जायन्य । कौञ्जायन्यौ । कुञ्जायनाः । ब्राध्नायन्यः । ब्राध्नायन्यौ । ब्राध्नायनाः । अस्त्रिया-मिति किम् ? कपोतपाका । ब्रैहिमता । कौञ्जायनी । “वृद्धं च चरस्यैः सह” इति फफान्तस्य जातिवाचि-त्वान्डीविधिः ।

शस्त्रजीविषुः शस्त्राज्ज्यङ् वाहीकेष्वदिप्रराजन्त्यात् ॥४२३॥ वाहीकेषु यः शस्त्रजीविसङ्घस्तद्वा-चिनो मृदो विप्रराजन्त्यवजितात् स्वार्थे ज्यङ् भवति । टिकरणं स्त्रियां ङ्यर्थम् । कौण्डीवृष्यः । कौण्डीवृष्यौ । कौण्डीवृषा । कौण्डक्यः । कौण्डक्यौ । कुण्डकाः । मालव्यः । मालव्यौ । मालवाः । कौण्डीवृषी । कौण्डकी । मालवी स्त्री । “हलो हतो ङ्यम्” [४।१।१३८] इति यकारस्य खम् । शस्त्रजीविप्रहणं किम् ? मल्लाः । सङ्घप्रहणं किम् ? वागुरः । सम्राट् । वाहीकेष्विति किम् ? शबराः । पुलिन्दाः । अविप्रराजन्त्यादिति किम् ? गौपालयः (ब्राह्मणः) । शालङ्कायनाः राजन्याः । विप्रप्रतिषेधे विप्रविशेषप्रतिषेधः । नहि विप्रशब्दवाच्यो वाहीकेषु शस्त्रजीविनां सङ्घोऽस्ति । राजन्यप्रतिषेधे तु स्वरूप इति प्रतिषेधः । राजन्यविशेषस्यापि प्रतिषेधं केचि-दिच्छन्ति । कावच्यः । कावच्यौ । कावच्याः । ज्यटि सति स्त्रियां ङी प्रसज्येत । शस्त्रजीविसङ्घादिति योगविभागा-दन्यत्रापि केचिदिच्छन्ति । शाबर्यः । शाबर्यौ । शबराः । पौलिन्यः । पौलिन्यौ । पुलिन्दाः । योगविभाग-कृतमनित्यम् ? तेन शबरः पुलिन्द इत्यपि भवति ।

वृकाट्टेयण ॥४२४॥ शस्त्रजीविसङ्घवाचिनो वृकशब्दात् स्वार्थे ट्टेयण् भवति । वार्केयः । वार्केयौ । वृकाः । स्त्रियां वार्केयी । “हलो हतो ङ्यम्” [४।१।१४०] इति यखम् । हल् उत्तरस्य यकारस्य खं भवति स चेद्यकारो गोरव्यवभूत इति । वाहीकेषु ज्यटि प्राप्ते, अन्यत्राप्राप्ते विधानम् । शस्त्रजीविसङ्घ-विशेषणं किम् ? मति (जाति) शब्दान्माभूत् ।

“कामक्रोधौ मनुष्याणां खादितारौ वृकाविव । तस्मात्क्रोधं च कामं च परित्यक्तुं बुधोऽर्हति ॥”

दामन्यादेश्छुः ॥४२५॥ शस्त्रजीविसङ्घादिति वर्तते । दामनि इत्येवमादिभ्यः शस्त्रजीविसङ्घ-वाचिभ्यश्छु भवति स्वार्थे । दामनीयः । दामनीयो । दामनयः । दामनि । ओलाप । वेजवापि । ओदकि । आच्युतन्ति । शाकुन्तिकि । सार्वसेनि । विन्दु । तुलभ । माञ्जायन । सावत्रीपुत्र । त्रिगर्तषष्ठाः दामन्यादौ पठ्यन्ते । शस्त्रजीविनां षड्वर्गाः । तत्र त्रिगर्तवर्गः षष्ठो येषां तं त्रिगर्तषष्ठाः । कौण्डोपरथीयः । कौण्डो-परथीयौ । कौण्डोपरथाः । दारुडकिः । क्रौष्टुकिः । जालमाली । ब्रह्मगुप्तः । जानकिः । उक्तं च-

“ज्ञेयास्त्रिगर्तषष्ठाः षट् कौण्डोपरथदाण्डकी । क्रौष्टुकिर्जालमाली च ब्रह्मगुप्तोऽथ जानकिः ॥”

पश्वर्षादेरण् ॥४२६॥ शस्त्रजीविसङ्घादिति वर्तते । पशुं इत्येवमादिभ्यः शस्त्रजीविसङ्घवाचिभ्योऽ-ण् भवति स्वार्थे । पाशवः । पाशवौ । पश्वः । पशुं । रक्ष् । असुर । वाहीक । वयस् । वसु । मयत् । सवत् । दशार्ह । पिशाच । अशनि । कार्षापण । यौधेय । शोभ्रेय । धार्तेय । ज्यावाण्येय । त्रिगर्त । भरत । उशीनर । भर्गादिषु यौधेयादिभ्यः प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम् आपत्यस्वार्थिकाः आपत्यप्रहणन गृह्यन्त इति । तेनास्याण उप् प्राप्ते प्रतिषेधार्थं वचनं तत्र सार्थम् । पश्वर्षादिभ्यः पुनस्तत्पन्नस्याणः स्वार्थिकस्य स्त्रीविवक्षायां “कुन्त्यवन्तिकुहभ्यः स्त्रियाम्” [३।१।१५७] इत्यधिकृत्य “अतोऽप्राच्यभर्गादेः” [३।१।१५८] इत्युप् । “ऊरुतः” [३।१।५६] इत्युकारः । पश्वः । असुरः (री) । रक्षः ।

अभिजिद्विदभृतोऽणो यञ् ॥४।२।७॥ शञ्ज जीविसङ्घादिति निवृत्तम् । अभिजित् विदभृत् इत्येताः यामगणन्ताभ्यां स्वार्थे यञ् भवति । “वृद्धाद् वृद्धवदिति वक्तव्यम्” [वा०] वृद्धापत्ये योऽण् विहितः तदन्तादयं यञ् वृद्धवच्च भवति । अभिजितोऽपत्यमण् । अभिजितः । तदन्ताद्यञ् अभिजित्यः । अभिजित्यौ । अभिजिताः । वैदभृत्यः । वैदभृत्यौ । वैदभृताः । वृद्धादिति किम् ? अभिजिद् देवताऽस्य अभिजितः । विदभृत् इदं वैदभृत्तम् । वृद्धवदिति किम् ? अभिजित्यस्यापत्यं युवाऽऽभिजित्यायनः । “यज्जिजोः” [३।१।१०] इति फण् सिद्धः ।

शिखाशालाशम्यूर्णाश्रियां मतोः ॥४।२।८॥ शिखा, शाला, शमी, उर्णा, श्री, इत्येतेषां शब्दानां मतोऽण् तदन्तात्स्वार्थे यञ् भवति । शिखावतोऽपत्यमित्यण् । तदन्तादयं यञ् । शैखावत्यः । शैखावत्यौ । शैखावताः । शालावत्यः । शालावत्यौ । शालावताः । शामीवत्यः । शामीवत्यौ । शामीवताः । और्णावत्यः । और्णावत्यौ । और्णावताः । श्रैमत्यः । श्रैमत्यौ । श्रैमताः । वृद्धादित्यत्र शिखावत् इदं शैखावत्तम् । “वृद्धवदिति वक्तव्यम्” [वा०] शैखावत्यायनः । नेदं वक्तव्यम् । आपत्यस्वार्थिकाः आपत्यग्रहणेन गृह्यन्त इत्येव सिद्धम् ।

ते द्वयः ॥४।२।९॥ ते व्यादयो द्विसंज्ञका भवन्ति । तथैवोदाहृतम् । ते ग्रहणम् अनुक्रान्तसंज्ञि-प्रतिपत्त्यर्थम् ।

संख्यायाः पादशतेभ्यो वीप्सादण्डत्यागे वुन् ॥४।२।१०॥ संख्यादेः पादशतान्तान्मृदः वीप्सा-त्यागेषु गम्यमानेषु वुन् भवति । तासन्नघानेऽन्त्यस्यालः खं च । “यस्य ड-र्यां च” । [४।१।१३६] इति यदि खं क्रियते, तस्य परनिमित्तत्वात् “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।२७] इति स्थानिवद्भावात् “पादः पत्” [३।४।११३] इति पद्भावो न स्यात् । इदं पुनः खमनिमित्तमिति न स्थानिवद्भावः । द्वौ द्वौ पादौ भुङ्क्ते द्विपदिकां भुङ्क्ते । त्रिपदिकां भुङ्क्ते । हृदर्थे रसः । वुनैव वीप्सार्थस्य द्योतित्वात् वीप्सालक्षणं द्वित्वं निवर्तते । द्वे द्वे शते भुङ्क्ते द्विशतिकां भुङ्क्ते । त्रिशतिकां भुङ्क्ते । दण्डे—द्वौ पादौ दण्डितः द्विपदिकां दण्डितः । त्रिपदिकां दण्डितः । त्यागे—द्वौ पादौ व्यवसृजति द्विपदिकां व्यवसृजति । त्रिपदिकां व्यवसृजति । त्रिशतिकां व्यवसृजति । वुन्नन्तं स्वभावतः स्त्रियां वर्तते । संख्याया इति किम् ? पादं पादं ददाति । पादशतेभ्य इति किम् ? द्वौ द्वौ प्रस्थौ ददाति । बहुत्वनिर्देशादन्यत्रापि भवति । द्वौ द्वौ मोदकौ ददाति द्विमोदकिकां ददाति । द्विहलिकां ददाति । वीप्सादिग्रहणं किम् ? द्वौ पादौ भुङ्क्ते ।

स्थूलादिभ्यः प्रकारोक्तौ कः ॥४।२।११॥ स्थूल इत्येवमादिभ्यः प्रकारोक्तौ गम्यमानायां को भवति । जातीयस्यापवादः । अत्रापि प्रकारवति त्यः स्थूलाणुमाषेषु । स्थूलप्रकारः स्थूलकः । अणुकः । माषकः । इषुकः । अपरेषां व्याख्या । माषेभित्युपाधिः । स्थूलका माषाः । अणुका माषाः । स्थूलाणुमाषेषु । कृष्णतिलेषु । पद्मकाम्नावदात्मः सुरायाम् । गोमूत्र आञ्छादने । सुराया अहौ । जीर्णशालिषु । पत्रमूले समस्तव्यस्ते । यवव्रीहिषु । कुमारीपुत्र । कुमारी । श्वसुरः । मणि इक्षु तिल । चञ्चद्बृहत्तोरप्यत्र पाठः कर्त्तव्यः ।

क्लादनत्यन्ते ॥४।२।१२॥ अनत्यन्तमकास्त्वर्यम् । अनत्यन्ते वर्तमानात् क्लान्तान्मृदः को भवति । अनत्यन्ते भिन्नं भिन्नकम् । छिन्नकम् । अनत्यन्त इति किम् ? भिन्नम् । अत्र भेदनक्रियायाः कास्त्वर्येन संबन्धः ।

न स्तोमेः ॥४।२।१३॥ सामिशब्दात्परं वक्तव्यं तस्मात् को न भवति । सामिकृतम् । सामिभुक्तम् । सामिपर्यायाणामपि ग्रहणमिति केचित् । अर्धकृतम् । नेमकृतम् । नन् चात्र पदान्तरेणानत्यन्तगतेरभिहित-

तत्त्वात्को न प्राप्नोतीति प्रतिषेधवचनमनर्थकम् । एवं तर्हीदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकं स्वार्थेऽप्ययं को भवति । तेन सिद्धम् । भिन्नतरकम् । बहुतरकम् । अर्थच्छिन्नकम् । अर्थभिन्नकम् ।

बृहतिका ॥४२।१४॥ बृहतिकेति निपात्यते । बृहतेशब्दादाच्छादने वर्तमानात्स्वार्थे नित्यं को निपात्यते । बृहतिका साटी । आच्छादनादन्यत्र को न भवति । बृहती ओषधिः ।

खोऽलङ्कर्मपुरुषात् ॥४२।१५॥ अलङ्कर्मन् अलम्पुरुष इत्येताभ्यां स्वार्थे खो भवति । अलङ्कर्मणेऽलङ्कर्मणः । अलम्पुरुषायालम्पुरुषीणः । “नमस्वस्ति” [१।४।२६] इत्यादिनाऽपि । “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इत्यत्र “पर्यादयो रक्षानाद्यर्थे अपा” [वा०] इति षसः ।

अषडक्षा सतङ्ग्वधिद्योः ४।२।१६॥ अषडक्ष, आसितङ्ग, अषिद्यु इत्येतेभ्यः स्वार्थे खो भवति । अविद्यमानानि षडक्षीण्यस्मिन्निति अषडक्षीणो देवदत्तः । पितृपितामहपुत्रायामक्षीणि न पश्यतीत्यर्थः । मन्त्रोऽपि द्वाभ्यां यः क्रियते, येन वा कन्दुकेन द्वौ क्रीडतः सोऽप्येवमुक्तः । अथवाऽत्रशब्द इन्द्रियपर्यायोऽस्ति । अविद्यमानानि षडक्षीण्यस्य अषडक्षीणो मत्स्यः । गुणदोषविचारक्षमं षष्ठमक्षमस्य-नास्तीत्यर्थः । आसिता गात्रेऽस्तिभिल्यासिताङ्गधीनमरुत् । अतएव निपातनात्कर्तरि क्तः । पूर्वपदस्य च सुगागमः । राशि अधि राजाधीनम् । पुण्येऽधि पुण्याधीनम् । “ईश्वरेऽक्षिना” [१।४।१८] इति अक्षिना योगे ईप् गिति-संज्ञाप्रतिषेधश्च । अधिशब्दः शौचडादिषु पठ्यते, तेन षसः । नित्यश्चेह ख इष्यते, उत्तरसूत्रे वाग्रहणात् ।

वाऽञ्चेरदिक् स्त्रियाम् ॥४।२।१७॥ अञ्च्यन्तान्मृदोऽदिक् स्त्रियां वर्तमानात् खो भवति स्वार्थे वा । अदिक्स्त्रियामिति प्रसज्यप्रतिषेधादिह तदन्तविधिर्लभ्यते । प्राञ्चतीति प्राङ् (प्राक्) प्राचीनम् । उदक् उदीचीनम् । अवाङ् (क्) अवाचीनम् । अदिक्स्त्रियामिति किम् ? प्राची दिक् । प्रतीची । दिग्ग्रहणं किम् ? प्राचीना शाला । तिरश्चीना स्थूणा । स्त्रीग्रहणं किम् ? प्राचीनं दिग्मणीयम् । प्राची दिग्मणीयेति विग्रह्य “दिक्छब्द” [४।१।१२] इत्यादिना अस्तात् । “अञ्चेरप्” [४।१।१६] इति तस्योप् । स्वभावत उप्यस्तातेर्नपुंसकलिङ्गम् । वाचनान्त् स्वार्थिकेषु निवृत्तो महाविकल्पाधिकार इति गम्यते । तेन पाशतमादयः प्राक् [छदेवा देशात्] कल्पदेशीयात् । व्यादयः प्राग्नुनः । आमामदयः प्राङ्मघटः नित्या वेदितव्याः । याप्यो वैयाकरणः । अयमेषामतिशयेन पटुरित्येवमादौ वाक्येन प्रकृतिर्याप्येऽतिशयाने वा वर्तते किन्तु पदान्तरमतस्यो न भवति ।

जातेश्छो बन्धुनि ॥४।२।१८॥ बध्यतेऽस्मिन् जातिरिति बन्धुद्रव्यमिह जात्यधिकरणभूतं गृह्यते नपा निर्देशात् । जातिशब्दाद्बन्धुनि वर्तमानात् छो भवति । केवलजातिशब्दस्य बन्धुनि वृत्त्यसम्भवात्तदन्तविधिः । क्षत्रियो जातिरस्य क्षत्रियजातीयः । क्षत्रिय एवोच्यते । शोभना जातिरस्य शोभनजातीयः । दुष्टा जातिरस्य दुर्जातीयः । का जातिर्भवतः, किंजातीयो भवान् । द्वयोर्विकल्पथोर्मध्ये नित्योऽयं विधिः । “प्रकारोक्तौ जातीयः” [४।१।१२८] इत्येव सिद्धे किमर्थमिदं जात्यन्तस्य वसस्य केवलस्य च प्रयोगो माभूत् इत्येवमर्थम् । कथं दुर्जातेः सूतपुत्रस्येति प्रयोगः । चिन्त्यमेतत् । बन्धुनीति किम् ? ब्राह्मणजातिरदृश्यपापा ।

वेवे स्थानान्तात् ॥४।२।१९॥ स्थानान्तान्मृद इवार्थे वा छो भवति । पितुः स्थानमिव स्थानमस्य पितृस्थानः । “इवोपमानपूर्वस्य छुल्लं वा” [वा०] इति । उपमानपूर्वस्य वसो भवति द्योश्च खम् । यथा उद्गुमुख इति । अयं स्थानान्तो वस इवार्थे वर्तते । अस्माद्वा छो भवति । पितृस्थानीयः । पितृस्थानः । गुरुस्थानीयः । गुरुस्थानः । पुनर्वाग्रहणमनन्तरस्य नित्यतां ख्यापयति । इव इति किम् ? गवां स्थानम् गोस्थानम् । “मृद्ग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति” इति अन्तग्रहणं कृतम् । इह कस्मान्न भवति । गोः स्थानमिति । नैष दोषः । इवग्रहणं

स्थानविशेषणम् । इवार्थे यः स्थानशब्दो वर्तते, तदन्तादिति । बसे च स्थानशब्द इवार्थे वर्तते । बसे तु पद-
सङ्घात इवार्थे वर्तते इति न भवति ।

किमेमिङ्भिक्तादामद्द्रव्ये ॥४।२।२०॥ किम् एकारान्तस्य मिङः भिक्संज्ञकस्य च अनन्तरो यो
भक्तदन्तान्मद् आमित्ययं ल्यो भवत्यद्रव्ये । लिङ्गसंख्यायुक्तप्रत्ययकारणं द्रव्यम् । द्वाविमौ किम्पचतः,
अयमनयोः कितरां पचति । कितमाम् पचति । एतौ द्वाविमौ पूर्वाह्णे भुञ्जाते । अयमनयोः पूर्वाह्णेतरां भुङ्क्ते ।
एतद्ग्रहणसामर्थ्याद् द्रव्येऽपि काले विधिरयम् । इह कस्मान्न भवति । जयतेर्विचि तरे च कृते जेतर इति ।
अनभिधानादत्र विजेव नास्ति । मिङ्—पचतितराम् । पचतितमाम् । द्वाविमौ उच्चैर्हंसतः । अयमनयो-
रुच्चैस्तरां हसति । अद्रव्य इति किम् ? उच्चैस्तरौ वृद्धः । उच्चैस्तमो वृद्धः ।

जिनोऽण् ॥४।२।२१॥ ‘जिन्नभिविधौ’ [२।३।१६] इति भावे जिन् विहितः । जिन्नन्तादण्
भवति स्वार्थे । “कृद्ग्रहणे विकारकपूर्वस्थापि ग्रहणस्य” [५] संकोटिनम् । साराविणम् । सांमार्जिनम् ।
“प्रायोऽनपल्लेखीनः” [४।४।१५५] इति टिखप्रतिषेधः ।

वास्त्रियाम् ॥४।२।२२॥ स्त्रियामित्यधिकृत्य ‘कर्मव्यतिहारे जः’ [२।३।७६] इति जो विहित-
स्तदन्तात्स्वार्थेऽण् भवति स्त्रियाम् । व्यावक्रोशी । व्यत्युद्धी । व्यावचर्ची वर्तते । “पदे र्वोरैयौव्” [५।२।२८]
इति तस्य विधेः “न जे” [५।२।११] इति प्रतिषेधे कृते । आटेरैप् । स्त्रीग्रहणं किम् ? स्त्रियामेव हि जो
विहितस्तस्मादयं स्वार्थिकः । स्वार्थिकाश्च प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अनुवर्तन्त इति ; एवं तर्हि इदमेव शापकम् ।
कचिस्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अतिवर्तन्तेऽपि । कुटीरः । देवता । गुडकल्पा द्राक्षा इत्येव-
मादि सिद्धम् ।

विसारिणो मत्स्ये ॥४।२।२३॥ विसारिन्शब्दात्स्वार्थेऽण् भवति मत्स्येऽभिधेये । विसारीति
वैसारिणो मत्स्यः । ग्रहादिपाठाणिणन् । मत्स्य इति किम् ? विसारी तैलबिन्दुरिवाम्भसि ।

संख्याया ध्वभ्यावृत्तौ कृत्वस् ॥४।२।२४॥ ध्वर्थः क्रियारूपः साहचर्याद्भुशब्देनोक्तः ।
ध्वभ्यावृत्तिः अभिन्नकर्तृकायाः क्रियायाः पौनःपुन्यम् । ध्वभ्यावृत्तौ वर्तमानेभ्यः संख्याशब्देभ्यः स्वार्थे
कृत्वसित्ययं ल्यो भवति । अस्वपदेनात्र विग्रहः । पञ्चवारान् भुङ्क्ते पञ्चकृत्वोऽहो भुङ्क्ते । शतं वारान्
भुङ्क्ते शतं वा वाराणां भुङ्क्ते शतकृत्वः । बहुकृत्वः । तावत्कृत्वः । कतिकृत्वः । संख्याया इति किम् ?
मुहुर्मुहुर्भुङ्क्ते । प्रभूतान् वारान् भुङ्क्ते । धुग्रहणं किम् ? द्रव्यस्य गुणस्य वा अभ्यावृत्तौ माभूत् । पञ्चसु
कालेषु दण्डी । षट्सु कालेषु शुक्लः । अभ्यावृत्तिग्रहणं किम् ? पञ्च पाकाः । नात्राभिन्नस्य पाकस्य पौनः-
पुन्यं किन्त्वोदनमुद्गादीनां पाकाः ।

द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ॥४।२।२५॥ द्वि त्रि चतुर् इत्येतेभ्यो ध्वभ्यावृत्तौ सुच् भवति । कृत्वोऽ-
पवादः । चकारः “कालेऽधिकरणे सुजर्थे” [१।४।६७] इत्यत्र विशेषणार्थः । उकार उच्चारणार्थः । द्वि-
र्भुङ्क्ते । त्रिर्भुङ्क्ते । भुजिक्रिया सामान्येनैका । सा कालभेदाद्भिद्यते ।

एकस्य सकृत् ॥४।२।२६॥ एकशब्दस्य सकृदित्ययमादेशो भवति सुच्यः । ध्वभ्यावृत्तिरत्र व्यपदे
शिवद्भावेनाभिसंन्यते । एकवारं भुङ्क्ते सकृद् भुङ्क्ते । एकः पाक इत्यत्राभिधानान्नास्ति ।

बहोर्धा वाऽऽसत्तौ ॥४।२।२७॥ आसत्तिरविप्रकृष्टकालता । विषयद्वारेण ध्वभ्यावृत्तिविशेषणमेतत् ।
आसत्तौ या क्रियाया अभ्यावृत्तिस्तस्यां वर्तमानाद्बहुशब्दाद्वा इत्ययं ल्यो भवति वा । बहुधा भुङ्क्ते । बहुकृत्वो
भुङ्क्ते । आसत्ताविति किम् ? बहुकृत्वो भुङ्क्ते मासस्य ।

तत्प्रकृतोक्तौ मयट् ॥४२।२८॥ प्रकर्षेण कृतं प्रकृतं प्रचुरमित्यर्थः । तदिति वासमर्थात् प्रकृतोक्तौ वर्तमानात् स्वार्थे मयड् भवति । अन्नं प्रकृतम् अन्नमयं पूजायाम् । दधिमयं पूजायाम् । यवागूः प्रकृता यवागूमयी । पेयामयी । स्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अनुवर्तन्तेऽपि । अथवा नायं स्वार्थिकः । अधिकरणार्थेऽयं विधीयते । कथं ज्ञायते । उक्तिर्वचनम् । प्रकृतस्योक्तिः प्रकृतोक्तिः । तदिति वासमर्थात् प्रकृतोक्तवार्थे मयड् भवति । घृतं प्रकृतमुच्यतेऽस्मिन् घृतमय उत्सवः । घृतमयी पूजा । पुष्पमय उत्सवः । पुष्पमयी पूजा । उक्तिग्रहणसामर्थ्यात् उभयोऽपि सूत्रार्थः प्रमाणम् ।

समूहवच्च बहुषु ॥४२।२९॥ तत्प्रकृतोक्तविति वर्तते । समूहवत् त्यविधिर्भवति मयट् च बहुषु प्रकृतेषु । यथेह भवति । अपूपानां समूहः आपूपिकम् । ‘अचित्तहस्तिधेनोऽण्यु’ [३।२।३६] इति ठण् । एवम् अपूपाः प्रकृता आपूपिकम् । पक्षे अपूपमयम् । एवं मौदकिकम् । मोदकमयम् । शाष्कुलिकम् । शष्कुलीमयम् । प्रकृतिलिङ्गसंख्यातिवर्तनम् । द्वितीयसूत्रार्थे अपूपाः प्रकृता अस्मिन्नुच्यन्ते आपूपिक उत्सवः । अपूपमयः । आपूपिकी अपूपमयी पूजा । शाष्कुलिकः शष्कुलीमय उत्सवः । शाष्कुलिकी शष्कुलीमयी पूजा ।

भेषजानन्तावसथेतिहाञ्ज्यः ॥४२।३०॥ भेषजादिभ्यः स्वार्थे ज्यो भवति । कण्डवादिषु भिषजिति पठ्यते औषधस्य करणम् । तस्य कर्तृत्वविवक्षायां भिषज्यतीति भेषजम् । पचादित्वाद्च् । ‘हल्लो यः’ [३।४।२१] इति यल्म् । अत एव निपातनादेप् । भेषजमेव भेषज्यम् । अनन्तमेवानन्त्यम् । आवासथ एवावसथ्यम् । इतिहेत्यैतिह्यम् । विभाषेह सम्बद्धथते ।

देवतान्तात्तादर्थ्ये यः ॥४२।३१॥ तस्मै इति तदर्थम् । तदेव तादर्थ्यम् । देवताशब्दान्तात्तादर्थ्ये वाच्ये यो भवति । गुरुदेवतायै इदम् गुरुदेवत्यम् । पितृदेवत्यम् ।

पाद्यार्घ्ये ॥४२।३२॥ पाद्यार्घ्यशब्दो निपात्येते । पादशब्दात्तादर्थ्ये यः पाच्छब्दस्य पदादेशाभावश्च निपात्यते । पादार्थमुदकम् पाद्यम् । अर्घशब्दात्तादर्थ्ये यः । अर्घार्थमर्घ्यम् ।

एयोऽतिथेः ॥४२।३३॥ तादर्थ्ये इति वर्तते । अतिथिशब्दात्तादर्थ्येऽभिधेये एयो भवति । अतिथ्यर्थमिदमातिथ्यम् ।

देवात्तल् ॥४२।३४॥ तादर्थ्ये इति निवृत्तम् । देवशब्दात् स्वार्थे तल् भवति । देव एव देवता ।

कोऽब्धियावादेः ॥४२।३५॥ अविशब्दाद् याव इत्येवमादिभ्यश्च मृद्भ्यः स्वार्थे को भवति । अविरेव अविकः । यावादिष्वेव अविशब्दः पठितव्यः । पृथग्रहणं किमर्थम् ? अवेर्विकार आविकमित्येवमादौ के कृतेऽण्यथा स्यात् । यवानां विकारो यावः । याव एव यावकः । यान । मणि । अस्थि । लान्द्र । मड्ड । पीत । स्तम्ब । श्रुतावुष्णशीते । पशौ लूनविपाते । अणु निपुणे । पुत्रात् कृत्रिमे । पुण्य । ज्ञात । अज्ञात । स्नात वेदसमाप्तौ । शून्य रिक्ते । तनु सूत्रे । ईयसश्च । भूयस्कम् । श्रेयस्कम् । कुमार क्रीडकानि च । उत्कण्ठकः । कन्दुकः । वेत्यनुवर्तते ।

लोहितान्मणौ ॥४२।३६॥ लोहितशब्दान्मणौ वर्तमानात् स्वार्थे को भवति । लोहित एव लोहितको मणिः । ‘लोहितशब्दात् स्त्रीत्यस्य परत्वात् अनेन केन बाधनं वक्तव्यम्’ [वा०] । परत्वात् के कृते सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एवेति नल्लङ्घिबाधवसति, अतएवापि कृते लोहितका मणिरिति । यदाखबाधनं तदा नल्लङ्घिबाधौ कृते पश्चात्कः । ‘केऽण्यः’ [२।२।१२५] इति प्रादेशः । लोहितिका मणिः । मणाविति किम् ? लोहितः खदिरः ।

वर्योऽनित्ये ॥४१२।३७॥ अनित्ये वर्ये वर्तमानात्लोहितशब्दात्को भवति । कोपेन लोहितकं चक्षुः । स्त्रियां पूर्ववदुभयं भवति । लोहितिका कन्या कोपेन लोहिनि का वा । अनित्य इति किम् ? लोहित इन्द्रगोपकः । लोहितं रधिरम् ।

रक्ते ॥४१२।३८॥ लान्नाकृमिरागादिना रक्ते वस्त्रादिके वर्तमानात् लोहितशब्दात्को भवति । लोहितकः पट्टसाटिकः । लोहितकः कम्बलः । अत्र योगवशात् यावद् द्रव्यभावि लोहितत्वमिति पूर्वेषां प्राप्तिः । स्त्रियां पूर्ववदुभयम् । लोहितिका पट्टसाटिका लोहिनि का वा ।

कालाच्च ॥४१२।३९॥ वर्ये नित्ये रक्ते इति द्वयस्यानुकर्षणार्थश्चकारः । अनित्ये वर्ये रक्ते च वर्तमानात् कालशब्दात् को भवति । कोपेन कालकं वस्त्रम् । कालिका साटी । अनुक्रान्तेषु चतुर्ष्वपि चेति वर्तते ।

विनयादेष्टण् ॥४१२।४०॥ विनय इत्येवमादिभ्यः स्वार्थे ठण् भवति । विनय एव वैनयिकम् । विनयः । समय । उपायात्प्रश्नश्च । सङ्गति । कथञ्चित् । अकस्मात् । उपचार । समाचार । व्यवहार । सम्प्रदान । समुत्कर्ष । समूह । विशेष । अत्यय । वेत्यनुवर्तत एव । अनुगादिशब्दोऽपीह पठनीयः ।

वाचस्तदर्थायाः ॥४१२।४१॥ सा वाक् अर्थोऽभिधेयोऽस्या इति तदर्था । तदर्थाया वाचः स्वार्थे ठण् भवति । देवदत्तेन सन्दिष्टा वाग् जिनदत्ते । सा यया वाचा जिनदत्तेन परस्य प्रकाशयते सा वाक्तदर्था वागर्थे-त्यर्थः । वागेव वाचिकम् । तदर्थाया इति किम् ? स्निग्धवाक् सुजनस्य च व्यवहियते ।

तद्युक्ताः कर्मणोऽण् ॥४१२।४२॥ तथा वाचा युक्तं यत्कर्म तदभिधायिनः स्वार्थेऽण् भवति । यदेव वाचा व्यवहियते इदं कर्म कुर्वति, तदेव क्रियमाणं कर्म वाग्युक्तमुच्यते । कर्मैव कार्मणाम् । तद्युक्तादिति किम् ? स्वयमेव देवदत्तेन कर्मकृतम् ।

ओषधेरजातौ ॥४१२।४३॥ ओषधिशब्दादजातौ वर्तमानादण् भवति । ओषधिरिव ओषधं पीयते । अजाताविति किम् ? स्थिरोऽयमस्त्वोषधिः क्षेत्रे ।

प्रज्ञादेः ॥४१२।४४॥ प्रज्ञ इत्येवमादिभ्यः स्वार्थेऽण् भवति । प्रजानातीति प्रज्ञः । प्रज्ञ एव प्राज्ञः । “प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चावृत्तिभ्यो णः” [४।१।२८] इति मत्वर्थीयेन सिद्धेऽपि स्त्रियां विशेषः । अणि प्राज्ञी । णे प्राज्ञा । प्रज्ञ । वणिञ् । उशिक् । उष्णिञ् । प्रत्यन् । विद्वस् । विदन् । वशिकृ । द्विदश । षोडन् । विद्या । मनस् । श्रोत्र शरीरे । जुह्वत् । कृष्ण मृगे । चिकीर्षत् । वसु । मस्त । सत्वन्तु । दशार्ह । वयस् । कुट् । रक्षस् । असुर । शत्रु । चोर । योध । चक्षुष् । पिशाच । अशनि । कार्पाणम् । देवता । बन्धु । आकृति-गणोऽयम् । विकृतिरेव वैकृतम् ।

मृदस्तिकः ॥४१२।४५॥ मृत्-शब्दात्स्वार्थे तिको भवति । मृदेव मृत्तिका । स्त्रीविषयत्वाद्वापि कृते “त्यस्थे क्वापीद” [१।२।५०] इत्यादिना इत्वेन सिद्धे इकारोच्चारणं किम् ? द्वाभ्यां मृत्तिकाभ्यां क्रीतं द्विमृत्तिकम् । “इदुप्युप्” [१।१।१] इति स्त्रीत्यस्योपि श्रवणार्थम् ।

सस्ना प्रशंसे ॥४१२।४६॥ प्रशंसे वर्तमानान्मृच्छन्दान्नित्यं स स्न इत्येतौ त्वौ भवतः । रूपापवादः । प्रशंस इति प्रकृत्यर्थविशेषणमेतत् । मृत्सा । मृत्स्ना । उत्तरत्र वाग्रहणादिह नित्यो विधिः । यदा मृच्छदेन प्रशंसो नाभिधीयते किन्तु शब्दान्तरेण गृह्यते तदा वाक्यतिक्रौ भवतः । मृत्प्रशस्ता । मृत्तिका प्रशस्ता ।

बह्वल्यार्थान्छुस्कारकाद्वा ॥४१२।४७॥ बह्वर्थादल्पार्थान्च कारकविशेषणात् शस् भवति वा । इह बहुशब्दो नानाधिकरणवाची न वैपुल्यवाची । अल्पशब्दोऽपि नानाधिकरणवाची नत्वोपसर्गवाची गृह्यते ।

बहुभ्य आगतः । बहुश आगतः । भूरिश आगतः । बहुभ्यो देहि । भूरिशो देहि । बहुभिर्लुनाति । बहुशो लुनाति । भूरिशो लुनाति । बहुषु वसति । बहुशो वसति । भूरिशो वसति । बहून् देहि । बहुशो देहि । भूरिशो देहि । बहुभिर्भुक्तम् । बहुशो भुक्तम् । भूरिशो भुङ्क्ते । अल्पेभ्य आगतः । अल्पश आगतः । स्तोकश आगतः । इत्येवमादि ज्ञेयम् । बह्वल्पार्थादिति किम् ? ग्रामादागच्छति । कारकादिति किम् ? बहुभिः सह भुङ्क्ते । वाग्रहणेऽनुवर्तमाने पुनर्वाग्रहणं पूर्वस्य विधेर्नित्यार्थम् । प्रशंस इति वर्तते तदिह बह्वल्पार्थान्मङ्गले गम्यमाने शस् भवतीत्यर्थः । बहुशो ददाति आभ्युदयिकेषु कर्मसु । अल्पशो ददाति अनिष्टेषु कर्मसु ।

संख्यैकाद्वीप्सायाम् ॥४१२॥४८॥ कारकादिति वर्तते । संख्यावाचिनः एकान्ताच्च कारकाद्वीप्सायां वर्तमानाद्वा शस् भवति । वीप्साद्विलस्यापवादः । अथवा शसैवोक्तत्वाद् द्वित्वं निवर्तते । एकशो देहि । वाक्यपदे वीप्सायां द्वित्वम् । “एको बवत्” [५३१७] इति बवद्भावात् “सुपो शुभृदोः” [१४११४२] इति सुप उपि कृते समुदायादम् । एकैकं देहि । द्वौ द्वौ देहि द्विशो देहि । त्रिशो देहि । एकान्तात् । माषं माषं देहि माषशो देहि । कार्षापणशो देहि । प्रस्थशो देहि । संख्यैकादिति किम् ? माषौ माषौ देहि । वीप्सायामिति किम् ? द्वौ ददाति । माषं ददाति । कारकादित्येव । द्वाभ्यां द्वाभ्यां सह भुङ्क्ते । प्रस्थस्य प्रस्थस्य स्वामो ल-कथमेकैकशो मन्त्रिणः पृच्छेदिति ? चिन्त्यमेतत् । यथा वा स्त्रीत्यान्तात् स्वार्थिके उत्पन्ने पुनः स्त्रीत्यः कुमारीतरिति । एवं द्वित्वे कृते पुनः शस् ।

प्रतियोगे कायास्तसिः ॥४१२॥४९॥ वेति वर्तते । “यतः प्रतिदाप्रतिनिधी प्रतिना” [१४१२२] इति प्रतिना योगे का विहिता । तदन्तात्तसिर्भवति वा । इकारः “कायास्तस्” [४११७३] “तसेः” [४११७४] इति विशेषणार्थः । अभयकुमारः श्रेणिकतः प्रति । श्रेणिकात् प्रति । प्रद्योतनो वृत्तिषेणातः प्रति । वृत्तिषेणात् प्रति । “तसिप्रकरणे आद्याद्विभ्यः उपसंख्यानम्” [वा०] । आदौ । आदितः । मध्यतः । अन्ततः । पृष्ठतः । आकृतिगणोऽयम् ।

अपादानेऽहीयरुद्धोः ॥४१२॥५०॥ “काऽपादाने” [१४१३७] इति अपादाने का विहिता । तदन्तात्तसिर्वा भवति हीयरुहसंबन्धि न चेदपादानम् । लुघ्नादागतः । लुघ्न आगतः । चौरैभ्यो विभेति चौरतो विभेति । अपादान इति किम् ? अन्यो देवदत्तात् । अहीयरुहोरिति किम् ? सार्थाद्वीनः । कर्मण्यथं क्तः । पर्वतादवरोहति । हीय इति जहातेः कर्मणि यक् तस्यानुकरणम् । किमर्थम् ? जिहीतेः प्रतिषेधो माभूत् । उदधेः उज्जिहीते । उदधित उज्जिहीते । “मन्त्रो वर्णतो हीनः” इत्यत्र आद्यादित्वात् भान्तात्तसिः ।

क्षेपाव्यथाऽतिग्रहेष्वकर्तृभायाः ॥४१२॥५१॥ क्षेप, अव्यथा, अतिग्रह, इत्येतेषु विषयभूतेषु या कर्तुरन्यत्र विहिता भा तदन्ताद्वा तसिर्भवति । क्षेपे-वृत्तेन क्षिप्तः वृत्ततः क्षिप्तो निन्दित इत्यर्थः । अव्यथा-याम्-वृत्तेन न व्यथते वृत्ततो न व्यथते न चलतीत्यर्थः । अतिग्रहे-वृत्तेनातिग्रह्यते वृत्ततोऽतिग्रह्यते । अतिमात्रं गृह्यत इत्यर्थः । सर्वत्र करणे हेतौ वा भा । क्षेपादिष्विति किम् ? दात्रेण लुनाति । अकर्तृग्रहणं किम् ? देवदत्तेन क्षिप्तः । भाया इति किम् ? वृत्तमस्य क्षिप्यते ।

हीयमानपापयोगात् ॥४१२॥५२॥ अकर्तृभाया इति वर्तते । हीयमानपापाम्यां योगो यस्य तस्मादकर्तृरि भान्ताद्वा तसिर्भवति । हीयमानयोगात् वृत्तेन हीयते । वृत्ततो हीयते । चारित्रेण हीयते । पाप-योगात् वृत्तेन पापः । अत्रापि करणे हेतौ वा भा द्रष्टव्या । नन्वत्रापि क्षेपोऽस्तीति पूर्वेष्वैव तसिः सिद्धः । नैष दोषः । पूजाप्यत्र गम्यते । नीचवृत्ततो हीयते । पापवृत्ततो हीयते । यदि वा तस्वाख्यानमत्र सूत्रे विवक्षितम् न निन्दा । अकर्तृरीत्येव । देवदत्तेन हीयते ।

ताया व्याश्रये ॥४१२॥५३॥ नानापक्षाश्रयो व्याश्रयः । तान्ताद्वा तसिर्भवति व्याश्रये गम्यमाने ।

नमिरर्कक्षीर्तितोऽभवत् । अर्कक्षीर्तैरभवत् । मेघप्रभो मेघेश्वरतोऽभवत् । गम्यमानपक्षापेक्षा ता । व्याश्रय इति किम् ? देवदत्तस्य हस्तः ।

रोगादपनये ॥४२।५४॥ अपनयः चिकित्सेत्यर्थः । ताया इति वर्तते । रोगवाचिनस्तान्तात् वा तसिर्भवति अपनये गम्यमाने । प्रवाहिकायाः कुरु । प्रवाहिकातः अपनयमस्याः कुर्वित्यर्थः । अपनय इति किम् ? प्रवाहिकायाः करोति प्रकोपमित्यर्थः ।

कृभ्वस्तियोगेऽतत्तत्त्वसम्पत्तिरि च्विः ॥४२।५५॥ वेतीहानुवर्तते । न सः असः कारणमित्यर्थः । अतस्य तत्त्वम् विकाररूपापत्तिः अतत्तत्त्वम् । सम्पद्यते इति सम्पत्ता सम्पद्यतेः कर्तेत्यर्थः । अतत्तत्त्वे गम्यमाने सम्पद्यतेः कर्ता वर्तमानात् सुबन्तात् उत्तरावस्थामिधायिनश्चिर्भवति कृभ्वस्तिभियोगे । अल्पान्तरार्थेन शब्देन विग्रहः क्रियते । अशुक्लं शुक्लं करोति शुक्लीकरोति प्रासादम् । अत्र करोतेः कर्मभावमापन्नोऽपि प्रासादः सम्पद्यतेः कर्ता भवति अत एव विग्रहः । अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति शुक्लीकरोति । शुक्लीभवति । शुक्लीस्यात् । शुक्लशब्दाच्चिः । इकारः “च्वौ” [१२।१३५] इति विशेषणार्थः । चकारोऽपि तत्रैव विशेषणार्थः । तत्र विरित्युच्यमाने दार्विः, जागृविरित्यत्र “रीङ् ऋतः” [५।२।१३६] इति रीङ्भावः प्राप्नोति । वकारः “च्विहाजूर्थादिः” [१।२।१३२] इति विशेषणार्थः । तत्र हि विग्रहयोऽक्रियमाणे चिनोतेस्तद्विकाराणां वा ग्रहणं प्रसज्येत । पूर्वस्य सुपः “सुपो धुमृदोः” [१।४।१४२] इत्युप् । “अस्य च्वौ” [५।२।१४१] इतीत्वम् । परस्य सुपः “सुपो क्तेः” [१।४।१५०] इत्युप् । कर्मभावाभिधायिन्यपि कृजादौ च्विर्भवति । शुक्लीक्रियते । अशुक्लस्य शुक्लस्य क्रिया शुक्लीभवनमिति द्रव्यस्य गुणक्रियाद्रव्यसमूहविकारयोगेऽतत्तत्त्वमुदाहार्यं क्रियायोगे-कारकीभवति । कारकीकरोति । कारकीस्यात् । द्रव्ययोगे-दण्डीकरोति । दण्डीभवति । दण्डीस्यात् । “दीरकृद्गे” [१।२।१३४] “च्वौ” [१।२।१३५] इति दीत्वम् । समूहे-गा असङ्घं सङ्घं करोति सङ्घीकरोति । सङ्घीभवन्ति गावः । सङ्घीस्युः । विकारे-पटीकरोति तन्तून् । पटीभवन्ति । पटीस्युः । घटीकरोति मृदः । घटीस्यात् । अत्रायमर्थः । यत्र कारणाद्विकारस्याभेदो विवक्ष्यते तत्रायं च्विः । न तु यत्र कारणात्कार्यस्य भेदः । यथा वीरणेभ्यः कटं करोति । मृदो घटं करोति । कृभ्वस्तियोगे इति किम् ? अशुक्लः शुक्लो जायते । अतत्तत्त्वे इति किम् ? शुक्लं करोति । घटं करोति । अत्र विकारस्यैव विवक्षा कारणस्याविवक्षितत्वात् । सम्पत्प्रग्रहणं किम् ? कर्तृरन्यस्मिन् कारके मा भूत् । अशुक्ले सत् शुक्ले सम्पद्यते । अदेवग्रहे सत् देवग्रहे सम्पद्यते । कथं समीपीभवति । दूरीभवति । अत्राप्युपचारात् । तत्स्थे द्रव्ये वर्तमानस्य कर्तृत्वम् ।

मनोऽरुश्चक्षुरचेतोरहोरजसः खम् ॥४२।५६॥ मनःप्रभृतीनां शब्दानामलोऽन्त्यस्य खं भवति च्वौ परतः । अविशेषेण पूर्वैश्वैव च्विः सिद्धः । खमनेन विधीयते । न च खविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधः । सत्यविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधात् । तदन्तानां केवलानां चेह ग्रहणम् । अनुन्मनसम् उन्मनसं करोति उन्मनीकरोति । उन्मनीभवति । उन्मनीस्यात् । अरुक्रोति । अरुभवति । अरुस्यात् । “दीरकृद्गे” [१।२।१३४] “च्वौ” [५।२।१३५] इति दीत्वम् । उच्चक्षुक्रोति । उच्चक्षुभवति । उच्चक्षुस्यात् । विचेतीकरोति । विचेतीभवति । विचेतीस्यात् । विरहीकरोति । विरहीभवति । विरहीस्यात् । विरजीकरोति । विरजीभवति । विरजीस्यात् ।

साद्वा कात्स्न्ये ॥४२।५७॥ कृभ्वस्तियोगेऽतत्तत्त्वे सम्पत्तरीति वर्तते । अतत्तत्त्वविषये कात्स्न्ये गम्यमाने सादित्यं त्यो भवति वा । अग्निम् कृत्स्नमक्षम् अग्निं करोति अग्निं सात्करोति । अग्निं साद्भवति । अग्निं सात्स्यात् । उदकसात्करोति । उदकसाद्भवति । उदकसात्स्यात् । वाचचनान्चिवरपि समुच्चयीते । अग्नीकरोति । उदकीकरोति । कात्स्न्यादन्यत्र च्विरेव भवति ।

सम्पदा चाभिविधौ ॥४२।५८॥ नानाद्रव्याणां सर्वात्मना एकदेशेन वा विकाररूपापत्तिरभिविधिः । एकद्रव्यस्य सर्वात्मना विकाररूपापत्तिः कात्स्न्यमिति भेदः । अभिविधौ गम्यमाने च्विर्विषये साद्भवति सम्पदा

कृभ्वस्तिभिश्च योगे । वर्षासु सर्वं लवणमनुदकमुदकं सम्पद्यते उदकसात्सम्पद्यते । उदकसात्करोति । उदकसाद्भवति । उदकसात्स्यात् । अस्मिन् कटके उत्पातेन सर्वं शस्त्रमग्निः सम्पद्यते अग्निसात्सम्पद्यते । अग्निसात्करोति । अग्निसाद्भवति । अग्निसात्स्यात् । वेत्यनुवृत्तेः कृभ्वस्तिभिर्योगे च्चिपरि भवति । उदकीकरोति । उदकीभवति । उदकीस्यात् ।

तदधीनोक्तौ ॥४१२।१९॥ अतत्त्वे इति निवृत्तम् अर्थान्तरोपादानात् । तदधीनेऽभिधेये साद्भवति । कृभ्वस्तिभिः सम्पदा च योगे । उक्लिग्रहणसामर्थ्यात् यत्र तदायत्तं प्रतीयते, तस्मात्त्वामिविशेषवाचिनस्यः । राज्ञ आयत्तं राजाधीनं करोति । राजसात्करोति । राजसात्स्यात् । राजसात्सम्पद्यते । आचार्यसात्करोति । आचार्यसाद्भवति । आचार्यसात्स्यात् । आचार्यसात्सम्पद्यते । वेत्यनुवृत्तेर्वाक्यमपि साधु ।

देये त्रा च ॥४१२।६०॥ तदधीनोक्ताविति वर्तते । देयं दातव्यमित्यर्थः । तदधीने देयेऽभिधेये त्रा इत्ययं त्यो भवति साच्च कृभ्वस्तिभिः सम्पदा च योगे । आचार्याधीनं देयं करोति आचार्यत्रा करोति । आचार्यसात्करोति । आचार्यसात्स्यात् । आचार्यत्रा सम्पद्यते । आचार्यसात्सम्पद्यते । वेत्यनुवृत्तेर्वाक्यमपि । देय इति किम् ? राजसाद्भवति राष्ट्रम् ।

अव्यक्तानुकरणादनेकाचोऽनितौ डाच् ॥४१२।६१॥ शब्द इति सामान्येन व्यक्तोऽव्यक्तोऽकारादिवर्णविशेषेणाव्यक्तः । तस्यानुकरणं यत्तस्मादव्यक्तानुकरणादनेकाचोऽनितौ डाजित्ययं त्यो भवति कृभ्वस्तिभिर्योगे । पटत्करोति । पटपटाकरोति । पटद्भवति । पटपटाभवति । पटत्स्यात् । पटपटास्यात् । पटदिति क्रियाविशेषणम् । एतत् प्रादिवत् करोत्यर्थं विशिनष्टि न पुनः कारकत्वेनाभिसम्बन्धते । डकारः टिखार्थं । चकारो “डाचि” इति विशेषणार्थः । डाचीति विशेष्यनिर्देशात् प्रागेव टिखाद् द्वित्वम् “त्रौ डाचि” [४।३।८७] इति पूर्वस्य तकारस्य पररूपम् । डाजन्तस्य “चिडाज्ज्यादिः” [१।२।१३२] इति तिसंज्ञा । एवं दमदमाकरोति । दमदमाभवति । दमदमास्यात् । अव्यक्तानुकरणादिति किम् ? इषत् करोति । अनेकाच इति किम् ? खात् करोति । अनिताविति किम् ? पठिति करोति । “डाजहृस्येतावसः” [४।३।८५] इत्यच्छब्दस्य पररूपम् । अनिताविति प्रतिषेधार्थकः । कथमिति चेत् ? डाजन्तस्य तिसंज्ञा । तस्य “प्राग्घोस्ते” [१।२।१३६] इति कृभ्वस्तिभ्यः प्राक्प्रयोगेऽनिति परतैव भवति । एवं तर्हि इतौ प्रतिषेधवचनम् अनिष्टशब्दनिवृत्त्यर्थम् । पटच्छब्दादिति शब्दप्रयोगे डाचि कृते इति पटपटाकरोतीत्यनिष्टः शब्दो मा भूत् ।

कृजो द्वितीयतृतीयशंवीजात्कृषौ ॥४१२।६२॥ कृजो ग्रहणं भ्वस्त्योर्निवृत्त्यर्थम् । कृजो योगे द्वितीय तृतीय शंवीज इत्येतेभ्यः शब्देभ्यो डाज्भवति कृषिविषये । द्वितीयं विलेपनं करोति क्षेत्रस्य द्वितीयाकरोति क्षेत्रम् । डााच द्वित्वमनित्यमिति वक्ष्यते । योऽसौ करोतेः कर्मणश्च विग्रहे संबन्धः, स उत्पन्ने डाचि निवर्तते । द्वितीयादयस्तु शब्दाः प्रादिवत् क्रियाविशेषणभूताः । क्षेत्रं कर्म भावमुपयाति । एवं तृतीयाकरोति क्षेत्रम् । शंवीं करोति कुलिजस्य शंवाकरोति कुलिजम् । अन्ये तु शंवाकरोतीत्येव सार्थं दर्शयन्ति । अनुलोमविलोमाभ्यां कर्षतीत्यर्थः । बीजं करोति क्षेत्रस्य बीजाकरोति क्षेत्रम् । वपतीत्यर्थः । सह बीजेन विलेखनं करोतीत्यर्थः । कृषाविति किम् ? द्वितीयं विवरणं करोति सूत्राणाम् ।

गुणात्संख्यादेः ॥४१२।६३॥ कृज इति वर्तते । कृषाविति च । गुणशब्दान्तात्संख्यादेर्मृदो डाज्भवति कृजो योगे । द्विगुणं विलेखनं करोति क्षेत्रस्य द्विगुणाकरोति क्षेत्रम् । अथवा द्वौ गुणौ विग्रह्य हृदयं रसः । तस्मात्तयः । गुणादिति किम् ? द्वे परिवर्तने करोति क्षेत्रस्य । संख्यादेरिति किम् ? समगुणं करोति क्षेत्रम् । कृषावित्येव । द्विगुणं करोति वज्रम् ।

समयात्सपत्रानिष्पत्रानिष्कुलासुखाप्रियादुःखाश्रुतासत्याभद्रामद्राः ॥४१२।६४॥ समया-

संख्याबाहुोऽबहुगणात् ॥४१२।६१॥ “संख्येये संख्यया भ्यासन्ना” [१।३।८७] इत्यादिना प्रतिपदोक्तो यः संख्याया वसस्तस्मादबहुगणान्ताहुः सान्तो भवति । समीपे दशानामिमे उपदशाः । आसन्ना विंशतेरिमे आसन्नविंशाः । अदूरे त्रिंशतोऽदूरत्रिंशाः । द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः । पञ्चषाः । संख्याग्रहणं किम् ? चित्रगुः । संख्यावस्य प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणादिह न भवति । द्विगुः । दशगुः । अबहुगणादिति किम् ? उपबहवः । इदमेव ज्ञापकं बहुगणयोः संख्या संज्ञा भवति । गणशब्दस्य डे सत्यसति च नास्ति विशेषस्तस्य प्रतिषेधोऽन्यसंख्याकार्यलाभार्थः । गणकृत्वः । गणघा । “इप्रकरणे संख्याया ष्यस्योपसंख्यानं निस्त्रिंशद्यर्थम्” । निर्गतानि त्रिंशतो निस्त्रिंशानि । निश्चत्वारिंशानि । निरशीतानि वर्षाणि वर्तन्ते । निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खङ्गः । आदिशब्दः प्रकारवाची तेन व्यदेर्न भवति ।

ऋक्पूरब्धुःपथोऽनन्ते ॥४१२।७०॥ ऋच, पुर, अप्, धूः, पथिन् इत्येवमन्तेभ्यः अ इत्ययं सान्तो भवति अक्षसंबन्धी चेद्भूःशब्दो न भवति । बादिति निवृत्तं सामान्येन विधानम् । सान्ताधिकारसामर्थ्यात्तदन्तग्रहणम् । अकारस्थानक्षशब्दे परतः स्वेऽको दीत्वं कस्मान्न कृतम् ? शकन्नादित्वात्पररूपं द्रष्टव्यम् । सौत्रो वा निर्देशः । अर्धचर्म । अनृचो माणवकः । अबह्वृचम् । ललाटस्य पूर्ललाटपुरम् । द्विर्गता आपोऽस्मिन् द्वीपः । समीपः । राज्यस्य धू राज्यधुरा । महाधुरा । मोक्षपथः । राजपथः । अनन्त इति किम् ? अक्षस्य धूः अक्षधूः । दृढधूरक्षः । अत्र केषाञ्चिदस्ति । “अनृचो माणवो ज्ञेयो बह्वृचश्चरणे स्मृतः” तेनेह न भवति । अनृचकं साम । बह्वृचकं सूक्तम् ।

प्रत्यन्ववात्सामलोमनः ॥ ४१२।७१ ॥ प्रति अनु अव इत्येवपूर्वात्सामान्ताल्लोमान्ताच्च अः सान्तो भवति । प्रतिगतं साम प्रतिसामम् । अनुसामम् । अवसामम् । प्रतिलोमम् । अनुलोमम् । अवलोमम् । “तिकुमादयः” [१।३।८१] इति षसः । अन्यपदार्थे बसो वा कर्तव्यः । यदा तु हसः, तदा “अनः” [४।२।११०] “नपो वा” [४।२।१११] इति परत्वाद्विकल्पः । प्रतिसामम् । प्रतिसाम । प्रतिलोमम् । प्रतिलोम ।

“कृष्योद्वक्पाण्डुपूर्वाया भूमेरत्योऽयमिष्यते । गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदि ॥” [वा०] कृष्याभूमः । पाण्डुभूमः । बसो यसो वा । द्वे गोदावर्यौ समाहृते द्विगोदावरम् । पञ्चनदम् । “नदीभिरश्च” [१।३।१७] इति हसः । चकाराद्भूमिरपि भवति । द्विभूमः । सप्तभूमः प्रासादः । क्वचिदन्यत्रापीष्यते । पद्मनाभः । ऊर्णनाभः । वर्षरात्रः ।

अजीवेऽक्ष्णः ॥४१२।७२॥ अजीवे वर्तते योऽक्षिणशब्दस्तदन्तात्सात् अ इत्ययं त्यो भवति । कमलस्याक्षि कमलाक्षम् । अथवा कमलमक्षीव कमलाक्षम् । एवं लक्षणाक्षम्^१ । पुष्कराक्षम् । कवरस्याक्षि कवरक्षम् । अश्वानां मुखाच्छादनं बहुच्छिद्रकमित्यर्थः । अजीव इति किम् ? अजाक्षि । कथं प्रासादस्य गवाक्षम् । कटाक्ष इति । एवमादयोऽपि रूढिशब्दा इति न जीवेऽक्षिणशब्दस्य वृत्तिः ।

स्त्रीधेनुवाग्दारात्पुंसनडुन्मनोगोभ्यः^२ ॥४१२।७३॥ स्त्री, धेनु, वाक्, दार इत्येवपूर्वेष्वभ्यो यथासंख्यं पुंस, अनडुह्, मनस्, गो इत्येभ्यः अः सान्तो भवति । स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ । क्वचिद्यसेऽपि भवति । पूर्वं स्त्री पश्चात्पुमान् स्त्रीपुंसं विद्धि राक्षसम् । स्त्रीपुंसः शिखण्डी । द्वन्द्वयसाम्यामन्यत्र न भवति । स्त्रियाः पुमान् । परिशिष्टेभ्यो द्वन्द्व एव त्यो भवति । धेनुश्च अनड्वाँश्च धेन्वनडुहो । वाक्च मनश्च वाङ्मनसम् ? दाराश्च गावश्च दारगवम् ।

१. कवणाक्षम् पू० । २. ‘गोभ्यः’ इति बहुवचनान्तः पाठचित्यः, ग्रन्थे सर्वत्रैकवचनस्यैव प्रयोगदर्शनात् ।

ऋचः सामयजुर्भ्याम् ॥४।२।७४॥ ऋचः पराभ्यां सामयजुर्भ्याम् अः सान्तो भवति द्वन्द्व-
एवाभिधानम् । ऋक्च साम च ऋक्सामे । ऋक्च यजुश्च ऋग्यजुषम् ।

नञ्विसूपत्रिभ्यश्चतुरः ॥४।२।७५॥ नञ्, वि, सु, उप, त्रि इत्येतेभ्यः परश्चतुरशब्दोऽत्यान्तो
निपात्यते । अदृश्यानि चत्वारि अनेन अचतुरः । विगतानि चत्वार्यस्य विचतुरः । शोभनानि चत्वार्यस्य
सुचतुरः । समीपे चतुर्णामयमुपचतुरः । त्रयो वा चत्वारो वा त्रिचतुराः । बस एवेदं निपातनम्, नान्यत्र । न
चत्वारोऽचत्वार इति ।

नक्तं रात्रिमहोभ्यो दिवम् ॥४।२।७६॥ नक्तम्, रात्रिम्, अहन् इत्येतेभ्यः परो दिवशब्दो
निपात्यते द्वन्द्वे । नक्तञ्च दिवा च नक्तन्दिवम् । अः सान्तो निपात्यते । रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवम् । सूत्रे
निपातनादेव रात्रिशब्दस्य मुम् । अहश्च दिवा च अहर्दिवम् । अहःशब्दसन्निधाने दिवाशब्दो रात्रिपर्यायः
शक्तिस्वाभाव्यात् ।

द्वित्रिपुरुषादायुषः ॥४।२।७७॥ द्वि, त्रि, पुरुषशब्देभ्यः पर आयुषशब्दो निपात्यते । द्वे आयुषी
समाहृते द्वयायुषम् । त्र्यायुषम् । अस्सान्तो निपात्यते । रसादन्यत्र न भवति । द्वयोरायुद्वर्थायुः । त्र्यायुः ।
पुरुषस्यायुर्वर्षाणि पुरुषायुषम् । तास एवेदं निपातनम्, द्वन्द्वे न भवति । पुरुषश्च आयुश्च पुरुषायुषी ।

जातमहद्वृद्धादुच्चाः ॥४।२।७८॥ जात, महत्, वृद्ध इत्येतेभ्यो पर उच्चा इति निपात्यते । सर्वत्र
यसेऽकारः सान्तो निपात्यते । जातश्च सा उच्चा च जातोच्चाः । महोच्चाः । वृद्धोच्चाः । यसादन्यत्र न भवति ।
जातस्य उच्चा जातोच्चा । मद्दुच्चा । वृद्धोच्चा ।

सरजसोर्वष्टोवपदष्टोवात्तिभ्रुवो(व दारगवो^१) पशुनगोष्ठश्वाः ॥४।२।७९॥ सरजसादयः
शब्दा अत्यान्ता निपात्यन्ते । सह रजसा सरजसमभ्यवहरति । साकल्ये हसः । हसादन्यत्र न भवति । सरजः
सलिलम् । उरु च अष्टीवन्तौ च उर्वष्टोवम् । अकारस्त्यष्टिखं च निपात्यते । अष्टीवन्तौ गुलकावुच्येते ।
प्राण्यङ्गलादेकवद्भावः । पादौ च अष्टीवन्तौ च पदष्टीवम् । द्वन्द्वेऽकारः सान्तष्टिखं पूर्वपदस्य पद्भावो निपात्यते ।
अत्तिणी च भ्रुवौ च अत्तिभ्रुवम् । द्वन्द्वे शुवल्लिङ्गम् । दारगवमित्यवादेशश्च निपात्यते । शुनः समीपम् उप-
शुनम् । हसे अः सान्तष्टिखाभावो जिश्च निपात्यते । गाष्ठेश्वा गोष्ठश्वाः । अः सान्तः ।

पल्यराजहस्तिभ्यो वर्चसः ॥४।२।८०॥ पल्य, राजन्, हस्तिन् इत्येतेभ्यः परो यो वर्चःशब्दस्त-
न्तादः सान्तो भवति । अत्र तासः सम्भवति । पल्यस्य वर्चः पल्यवर्चसम् । राजवर्चसम् । हस्तिवर्चसम् ।
“ब्रह्मवर्चसादिभ्योऽपि वक्तव्यम्” [वा०] । तेनात् (नाल्ये) ब्रह्मवर्चसमिति भवति ।

तमसोऽवसमन्धात् ॥४।२।८१॥ अव, सम्, अन्ध इत्येतेभ्यः परात्तमःशब्दादः सान्तो भवति ।
अवहीनं तमः, अवहीनं तमोऽस्मिन्वाऽवतमसम् । सन्तमसम् । अन्धतमसम् । षसो बसो वा ।

निसः श्रेयसः ॥४।२।८२॥ निःशब्दात् परो यः श्रेयःशब्दस्तदन्तदस्यो भवति । निश्चितं श्रेयः
निःश्रेयसम् । अत्र (यस एव) विधानं न बस इति केचित् । निश्चितं श्रेयोऽनेन निःश्रेयस्कः ।

श्वसो वसीयसश्च ॥४।२।८३॥ श्वसः परात् वसीयसः श्रेयसश्च अः सान्तो भवति । वसुमच्छब्दात्
“विन्मतोरूप” [४।१।१२४] इति ईयसो मतोश्चोपि कृते वर्सीय इति भवति । श्वोवसीयसं कुलम् । श्वः
श्रेयसमस्तु ते । उभयत्र मयूरव्यंसकादिवात्सः ।

१. वृत्त्युपोधाद्दारगवशब्द सूत्रे सन्निवेशश्च एव ।

तप्तान्ववाद्रहसः ॥४१२।८॥ प्रच्छन्न उर्पांशुप्रयोगो वा रहः । तप्त अनु अत्र इत्येतेभ्यः परो यो रहःशब्दस्तदन्तादस्त्यो भवति । सम्भवतः सस्य ग्रहणम् । तप्तं रहः तत्तरहसम् । अनुगतं रहः अनुरहसम् । अनुगतं रहोऽस्मिन्वाऽनुरहसम् । अवरहसम् ।

प्रतेरुरस ईपः ॥४१२।८५॥ प्रतेः परात् उरःशब्दादीवर्थे वृत्ते अस्सान्तो भवति । उरसि वर्तते प्रत्युरसम् । विभक्त्यर्थे हसः । अथवा विग्रहवाक्ये ईवन्तादुरःशब्दादस्त्यो भवति । प्रतिष्ठितमुरसि प्रत्युरसम् । “**विष्णुप्रादयः**” [१।३।८१] इति षसः । ईप इति किम् ? प्रतिगतमुरः प्रत्युरः ।

द्विस्तावात्रिस्तावाऽनुगवम् ॥४१२।८६॥ द्विस्तावा त्रिस्तावा, अनुगव इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । द्विस्तावतीति विगृह्य द्विस्तावा वेदिः । काचिदभिधीयते । मयूरव्यंसकादित्वात्सः । अः सान्तः पुंवद्भावविष्टिखं च निपात्यते । एवं त्रिस्तावती त्रिस्तावा वेदिः । वेद्यभिधानादन्यत्र न भवति द्विस्तावती त्रिस्तावती परिखा । अत्रापि अध्याहृतक्रियापेक्षया क्रियाभ्यावृत्तिरस्ति । द्विस्तावती मीयते परिच्छिद्यते वा । तेन सुप् सिद्धः । अनुग [वेऽभिधेये] वमिति [अस्सान्तो] अत्यान्तो निपात्यते आयामिन्यभिधेये । गामन्वायतम् अनुगवं यानम् । “**आयामिना**” [१।३।१३] इति हसः । यथा गौरायतस्तथा यानमप्यायतमित्यर्थः । आयाम्यभिधानादन्यत्र न भवति । गवां पश्चादनुगु ।

गेरध्वनः ॥४१२।८७॥ गिसंज्ञोपलक्षितैभ्यः परादध्वशब्दादस्त्यो भवति । सम्भवतः सस्य (षसस्य) ग्रहणम् । प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः । प्राध्वं शकटम् ।

षेऽङ्गुलेभिःसंख्यादेः ॥४१२।८८॥ भिसंख्यादेरङ्गुलिशब्दादस्सान्तो भवति । अतिक्रान्तमङ्गुलीरत्यङ्गुलम् । निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम् । संख्यादेः—द्वयोरङ्गुल्योः समाहारो द्वयङ्गुलम् । त्र्यङ्गुलम् । चतुरङ्गुलम् । तथा द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्वयङ्गुलम् । “**हृदर्थ**” [१।३।४६] इति रसः । प्रमाणेऽर्थे आगतस्य मात्रतः “**रादुबलौ**” [३।४।२६] इत्युप् । बस इति किम् ? पञ्चाङ्गुलीर्हस्तः ।

अहस्सर्वैकदेशसंख्यातपुरयाञ्च रात्रेः ॥४१२।८९॥ षे इति वर्तते । अहन्, सर्व, एकदेश, संख्यात, पुण्य इत्येतेभ्यः पराद्रात्रिशब्दाद् भिसंख्यादेश्च अस्त्यो भवति षसे । अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः । षस्यासम्भवात् अत्र द्वन्द्वो वेदितव्यः । “**अहो रिविञ्चौ रात्रिरूपरथन्तरेषु**” [वा०] इति रित्वम् । सर्वा रात्रिः सर्वरात्रः । “**पूर्वकालैक**” [१।३।४४] इत्यादिना षसः । एकदेशात्—पूर्वा रात्रिः पूर्वरात्रः । अपरा रात्रिः अपररात्रः । उत्तरा रात्रिः उत्तररात्रः । रात्र्येकदेशे रात्रिशब्दो वर्तते । ततः सामानाधिकरण्यम् । “**विशेषणं विशेष्येणेति**” [१।३।५२] इति षसः । संख्यातरात्रः । पुण्यरात्रः । भयादेः—अतिक्रान्तो रात्रिमातरात्रः । नीरात्रः । संख्यादेः—द्वयो रात्र्योः समाहारो द्विरात्रम् । त्रिरात्रम् ।

एभ्योऽहोऽहः ॥४१२।९०॥ राजाऽहःसखिभ्यष्टो विधास्यते, तस्मिन् सति अहन्नित्येतस्य अह्लादेशो भवति एभ्यः सर्वादिभ्यः परस्य । एभ्य इति निर्देशो भिसंख्यादेरपि ग्रहणार्थः । तत्संभवादहःशब्दपूर्वत्वं नाश्रयते । सर्वमहः सर्वाहः । “**दृखोरेवाहः**” [४।४।१३३] इति टिले प्राप्तेऽनेनाह्लादेशः । “**अतोऽहः**” [५।४।६१] इति णत्वम् । पूर्वाहः । अपराहः । संख्याताहः । पुण्यशब्दात्प्रतिषेधं वक्ष्यति । भिसंख्यादेः—निष्क्रान्ताऽहो निरहो कथा । द्वयोरहोर्भवा द्वयहो पूजा । त्र्यहो पूजा । हृदर्थे रसे कृते भवार्थे आगतस्याणः “**रस्योबनपत्ने**” [३।१।७४] इत्युप् । यौ रसे संख्यादिः प्रयोच्यति । द्वेऽहनी जातस्य द्वयहजातः । त्र्यहजातः । “**काळा मेयैः**” [१।३।६७] इति त्रिपदः षसः । एकशब्दात्प्रतिषेधं वक्ष्यति ।

न समाहारे ॥४१२।९१॥ समाहारलक्षणं षसे अहन्नित्येतस्याह्लादेशो न भवति । पूर्वसूत्रेण संख्यादेरिति प्राप्तः प्रतिषिध्यते । द्वयोरहोः समाहारो द्वयह । त्र्यह । “**दृखोरेवाहः**” [४।४।१३३] इति टिलम् ।

अत्र संख्यादेरिति वक्तव्यम् । इह मा भूत् । सङ्गतानि समाहृतान्यहानि समहा इति नैष दोषः । प्रतिपदं “हृदर्थेषु समाहारे” [१३।४६] इति समाहारे विहितस्य षस्येह ग्रहणं न प्रादिलक्षणस्य । समाहार इति किम् ? द्वयोरहोर्भवो द्वयहः उत्सवः । हृदर्थे रसे कृतेऽण्य आगतस्य ‘रस्योबनपत्ये’ [३।१।७३] इत्युप् ।

पुरयैकाभ्याम् ॥४।२।६२॥ पुरयैकशब्दाभ्यां परस्य अहन्नित्येतस्य अह्लादेशो न भवति । पुरयमहः पुरयाहः । एकमहः एकाहः । “पूर्वकालैक” [१३।४३] इत्यादिना षसः ।

राजाऽद्वःसखिभ्यश्च ॥४।२।६३ राजन्, अहन्, सखि, इत्येतदन्तादौ भवति । देवराजः । द्वयो-
रहोः समाहारे द्वयहः । परमाहः । राजसखः । स्त्रियाः पूर्वपदार्थप्राधान्येऽतिक्रान्ता राजानम् अतिराजी ।
नकारान्तलक्षणशीविधेः परत्वादनेन टः । “सृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्” [५०] इतीह कस्माच्च भवति ?
मद्राणां राज्ञी मद्रराज्ञी । मद्रसखी । अनित्येषा परिभाषेति न भवति ।

गोरहृदुपि ॥ ४।२।९४ ॥ गोशब्दादौ भवति अहृदुन्विषये । पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम् ।
महागवः । राजगवी । अतिगवी । पञ्चगवधनः । अहृदुपीति किम् ? पञ्चभिः क्रीतः पञ्चगुः । दशगुः । हृदर्थे
“संख्यादी रश्च” [१३।४७] इति रसे कृते क्रीतार्थे आगतस्य आर्हीयस्य ठयो “शदुबलौ” [३।१।२६]
इत्युप् । अत्रान्तरङ्गलात्प्रागेव सान्तो भविष्यतीति प्रतिषेधोऽनर्थकः । नैवं शङ्क्यम् अनुपीति विषयनिर्दे-
शादुन्विषये प्रतिषेधः । हृद्ग्रहणं किम् ? सुबुन्विषये प्रतिषेधो मा भूत् । पञ्चगवमिच्छति पञ्चगवीयति ।
उब्रहणं किम् ? हृतः श्रवणविषये प्रतिषेधो मा भूत् । पञ्चभ्यो गोभ्य आगतं पञ्चगवरूप्यम् । पञ्चगवमयम् ।
हृदर्थे रसे कृते टः सान्तः । “हेतुमनुष्याद्वा रूप्यः” । [३।३।५५] “मयट्” [३।३।६६] इति
रूप्यमयौ ।

उरसोऽग्रे ॥४।२।९५॥ अग्रं प्रधानम् । अग्रे वर्तते य उरःशब्दस्तदन्तात्पादौ भवति । हस्तिनागुरः
हस्त्युरसम् । अश्वोरसम् । रथोरसम् । समानाधिकरणे वा षसः । हस्तिन इवोरसः हस्त्युरसम् । यथा देहाव-
यवानाम् उरोऽग्रम् प्रधानम् एवमिहाप्युरःशब्देन प्रधानभूतं विवक्षितम् । अग्रे इति किम् ? पुरुष-
स्योरः पुरुषोरः ।

सरुोऽज्ञोऽश्मायसः खुजात्योः ॥४।२।९६॥ सरस्, अरस्, अश्मन्, अयस्, इत्येवमन्तात्पा-
दौ भवति खुविषये जातौ च । जलसरसमिति संज्ञा । मयङ्कसरसमिति जातिः संज्ञा वा । महानसमिति
संज्ञा । उपानसमिति जातिः संज्ञा वा । स्थूलाश्मः । अमृताश्म इति जातिः । पिण्डाश्म इति संज्ञा
जातिर्वा । कनकाश्म इति जातिः । लोहितायस इति संज्ञा जातिर्वा । कालायसमिति जातिः । खुजात्योरिति
किम् ? परमसरः ।

ग्रामकौटाभ्यां तद्वणः ॥४।२।९७॥ ग्राम कौट इत्येताभ्यां यस्तद्वणशब्दस्तदन्तात्पादौ भवति ।
ग्रामस्य तद्वा ग्रामतद्वः । कुट्यां भवः कौटः, कौटश्चासौ तद्वा कौटतद्वः । स्वायत्तकर्मजीवीत्यर्थः । ग्राम-
कौटाभ्यामिति किम् ? राजस्तद्वा राजतद्वः ।

शुनोऽन्ते ॥४।२।९८॥ अतिशब्दात्परो यः श्वन्शब्दस्तदन्तात्पादौ भवति । अतिक्रान्तः श्वान-
मतिश्वो वराहः । अतिश्वो नीचजनः ।

उपमानात् ॥ ४।२।९९॥ उपमीयतेऽनेनेत्युपमानम् । उपमानात्परो यः श्वन्शब्दस्तदन्तात्पादौ भवति ।
व्याघ्र इव श्वा व्याघ्रश्च । सिंहश्च । मयूरव्यंसकादिलात्वसः ।

अजीवे ॥४।२।१००॥ पूर्वसूत्रे उपमानग्रहणं पूर्वपदविशेषणम् । इह शुनो विशेषणम् । अजीवे
वर्तते यः श्वशब्द उपमानवाचो तदन्तात्पादौ भवति । आकर्षः श्वा इव आकर्षश्च । फलकश्च । “श्यात्रैरुप-
मेयोऽतद्योगे” [१।३।५१] इति सः । अजीव इति किम् ? वानरोऽयं श्वा इव वानरश्वा ।

मृगोत्तरपूर्वात्सकथनः ॥४१२१०१॥ मृग, उत्तर, पूर्व इत्येतेभ्यः परो यः सक्थिभ्यः सक्थम् । मृगस्य सक्थि मृगसकथम् । उत्तरसकथम् । पूर्वसकथम् । उपमानादिति वर्तते । फलकमिव सक्थि फलकसकथम् । “विशेषणम्” [११३१५२] इत्यादिना पसः ।

नावो रात् ॥४१२१०२॥ नौशब्दान्ताद्वाट्टो भवति । द्वयोर्नावोः समाहारो द्विनावम् । पञ्चनावम् । पञ्चनावप्रियः । द्वाभ्यां नौभ्यामागतं द्विनावरूप्यम् । द्विनावमयम् । अह्दुपीत्यनुवर्तते । पञ्चभिर्नौभिः क्रीतः पञ्चनौः । आर्हीयस्य ठणः “रादुबखौ” [३१४१२६] इत्युप् । रादिति किम् ? परमनौः ।

अर्द्धाच्च ॥४१२१०३॥ अर्द्धाच्च परो यो नौशब्दस्तदन्तात्वाट्टो भवति । अर्द्धं च सा नौश्च अर्द्धनावी । “विशेषणम्” [११३१५२] इत्यादिना सः । लोकाश्रयं नपुंसकलिङ्गमपि दृश्यते । अर्द्धनावमिति ।

खार्या वा ॥ ४१२१०४॥ खारीशब्दान्ताद्वाट्टो भवति । द्वे खार्यौ समाहृते द्विखारम् । यदा टो न भवति तदा “प्रो नपि” [१११७] इति प्रादेशः । द्विखारि । केचिःपुंलिङ्गं पठन्ति । तेषां “स्त्रीगोर्नीचः” [११११८] इति प्रादेशे द्विखारिरिति । पञ्चखारप्रियः । पञ्चखाररूप्यम् । पञ्चखारीरूप्यम् । पञ्चखारमयम् । पञ्चखारीमयम् । पञ्चसु खारीषु भवः पञ्चखारी । टपन्ते ङी सिद्ध एव । इहार्द्धादिति वर्तते । अर्द्धशब्दात्परो यः खारीशब्दस्तदन्तात्वाट्टो भवति । अर्द्धखारम् । अर्द्धखारी ।

द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ॥४१२१०५॥ द्वित्रिभ्यां परो योऽञ्जलिशब्दस्तदन्ताट्टो भवति । द्वयोरञ्जल्योः समाहारो द्वयञ्जलम् । त्र्यञ्जलम् । द्वयञ्जलं वनम् । त्र्यञ्जलरूप्यम् । द्वयञ्जलमयम् । केचिद् वेत्यनुवर्तयन्ति । तेन द्वयञ्जलिः । त्र्यञ्जलप्रियः । इहाह्दुपीति वर्तते । ह्दुपि न भवति । द्वाभ्यामञ्जलिभ्यां क्रीतो द्वयञ्जलिः । रादित्येव । द्वयोरञ्जलिः द्वयञ्जलिः ।

ब्रह्मणो राष्ट्रेभ्यः ॥४१२१०६॥ राष्ट्रेभ्यः परो यो ब्रह्मन्शब्दस्तदन्तात्वाट्टो भवति । रादिति निवृत्तम् । अवनित्तु ब्रह्मा अवनित्ब्रह्मः । सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः । ईविति योगविभागात्सः । राष्ट्रेभ्यः किम् ? देव-ब्रह्मा नारदः ।

कुमहद्भ्यां वा ॥४१२१०७॥ कुमहद्भ्यां परो यो ब्रह्मस्तदन्तात्वाट्टो भवति । कुब्रह्मः । कुब्रह्मा । महाब्रह्मः । महाब्रह्मा ।

द्वन्द्वाच्चुदहषो रार्थे ॥४१२१०८॥ रार्थः समाहारः । द्वन्द्वाद्दार्थे वर्तमानाच्चवर्गदकारहकार-षकारान्ताट्टो भवति । वाक्च त्वक्च वाक्त्वक्चम् । श्रीस्त्रजम् । वाग्बदम् । छत्रोपानहम् । वाग्विपुषम् । द्वन्द्वादिति किम् ? पञ्चानां त्वचां समाहारः पञ्चत्वक् । चुदहष इति किम् ? वाक्चरित् । रार्थे इति किम् ? छत्रोपानहौ ।

हे शरदादेः ॥४१२१०९॥ शरदाद्यन्ताट्टो भवति हसे । शरदादिषु ये ऋयन्तास्तेषां “गिरिनदी-पौर्णमास्याग्रहायणीऋयः” [४१२११२] इति वा टः प्रातो नित्यार्थमिदं ग्रहणम् । हाधिकारः प्राग्दगाधि-कारात् । शरदः समीपनुपशरदम् । प्रतिशरदम् । “लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती” [११३१११] इति हसः । शरद् । विपाश् । अनस् । मनस् । उपानह् । उपासद् । दिश् । दिव् । हिक् । कियत् । चतुर । हिमवत् । अनहुह् । तद् । यद् । जराया जरस् च । हश् च । प्रतिपरसमनुभ्योऽङ्गः । पथिन् ।

अनः ॥४१२११०॥ अन्नन्ताट्टो भवति । अन्त्यात्मम् । प्रत्यात्मम् । उपराजम् । परिराजम् ।

नपो वा ॥४१२१११॥ अन इति वर्तते । अन्नन्तं यन्नप् तदन्ताट्टो भवति । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । उपचर्मम् । उपचर्म । उपकर्मम् । उपकर्म ।

गिरिनदीपौरुमास्याग्रहायणीभ्यः ॥४१२।११२॥ वेति वर्तते । गिरि नदी पौरुमासी आग्रहायणी भ्य इत्येवमन्ताद्वा टो भवति । गिरेरन्तरन्तगिरम् । अन्तर्गिरि । तिष्ठद्वादिवात्सविधिः । अथवा विभक्त्यर्थे हसः । बहिर्गिरम् । बहिर्गिरि । “पर्यपाङ् बहिरञ्चवः” [१३।१०] । उपनदम् । उपनदि । नपि प्रः । उप-पौरुमासम् । उपपौरुमासि । उपाग्रहायणम् । उपाग्रहायणि । भ्यः-उपसमिवम् । उपसमित् । उपदृषदम् । उपदृषत् ।

स्वाङ्गाद्वेऽक्षिसक्थनः ॥४१२।११३॥ स्वाङ्गशब्दाद् यौ अक्षिसक्थिशब्दौ तदन्तात् वाटो भवति । ह इति वेति च निवृत्तम् । कल्याणेऽक्षिणी अस्य कल्याणान्तः । विशालाक्षी । गौरे सक्थिनी अस्य गौरसक्थः । स्वन्नः इत्यत्र “न स्वतिक्रिम्” [४।२।६६] इति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति ? षस्य ग्रहणं तत्र व्याख्यात-मित्यदोषः । स्वाङ्गादिति किम् ? स्थूलाक्षिरिक्तुः । दीर्घउक्थि शक्यम् । अप्राणिस्थस्य स्वाङ्गत्य न भवति । व इति किम् ? उत्तमाक्षि । अपादपरिसमाप्तेर्ब्रह्माधिकारः प्रत्येतव्यः ।

दुर्यङ्गुलेः ॥४१२।११४॥ डु दारु । अङ्गुलिशब्दान्ताद्वाटो भवति दारुण्यभिधेये । द्वे अङ्गुली अस्य द्यङ्गुलं दारु । अङ्गुलम् । चतुरङ्गुलम् । धान्यानां विक्षेपणम् अङ्गुलिः काष्ठं दारु तदिह गृह्यते । यत्तु द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलं दारु । तत्र हृदये बसे कृते “अङ्गुलेर्फिसंख्यादेः” [४।२।६६] इत्यः सान्तः । मात्रश्रुत्वात् । इणीति किम् ? पञ्चाङ्गुलिर्हस्तः ।

द्वित्रिभ्यां मूर्ध्नः ॥४१२।११५॥ द्वित्रिभ्यां परो यो मूर्धन्शब्दस्तदन्ताद्वाटो भवति । द्विमूर्धः । त्रिमूर्धः । सान्तो विधिरनित्य इति तैत्रि द्विमूर्धा । त्रिमूर्धा ।

डत्स्त्रीप्रमाणयोः ॥४१२।११६॥ ट इति निवृत्तम् , त्यान्तरोपादानात् । डन्ता येऽस्त्रीशब्दाः प्रमाणी-शब्दश्च तदन्ताद्वा अस्त्यो भवति । कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । कल्याणीदशमा भार्या । स्त्री प्रमाणी येषां स्त्रीप्रमाणाः । कल्याणी प्रमाणी आसां कल्याणप्रमाणा भार्याः । डत्स्त्रीग्रहाणस्याव-काशः कल्याणीद्वितीया । कल्याणीतृतीया । कल्याणीपञ्चमा रात्रय इति । डत्स्त्रियां प्रधानस्त्रीग्रहणं कर्त-व्यम् । अन्यपदार्थत्राचानां डन्ता स्त्री प्रधानं यदि भवति तदायं सान्तो भवतीत्यर्थः । अडत् प्रियादाविति पुंवद्भावप्रतिषेधोऽप्यस्मिन्नेव विषये वक्ष्यते । तेनेह सान्तः पुंवद्भावप्रतिषेधश्च न भवति । कल्याणी पञ्चमी अस्मिन् पदे कल्याणपञ्चमीकः पद इति । “नेनुर्नक्षत्रे उपसंख्यानम्” [वा०] । मृगो नेता आशां रात्रीणां मृग-नेत्राः । पुष्यनेत्राः । नक्षत्रादन्यत्र न भवति । देवदत्तनेतृकं सैन्यम् ।

लोमोऽन्तर्बहिर्भ्याम् ॥४१२।११७॥ अन्तर् बहिष् इत्येताभ्यां परो यो लोमशब्दस्तदन्ताद्वाटस्यो भवति । अन्तर्गतानि लोमान्यस्य अन्तर्लोमः । बहिर्लोमः । “मासाद्भृतित्यान्तपूर्वपदात् टो वक्तव्यः” [वा०] पञ्च कार्षापणा भृतिरस्य मासस्य “तदस्यांशवस्नभृतयः” [३।४।५५] इत्यत्र “संख्यायाः कोऽतिशतः” [३।४।१६] इति कः । पञ्चको मासोऽस्येति बसे कृते टः । पञ्चकमासिकः । दशकमासिकः ।

नासिकाया नश्चास्थूलात् खौ ॥४१२।११८॥ नासिकाशब्दान्ताद्वाटस्यो भवति नश्चादेशो नासिकायाः खुविषये न चेत्स्थूलशब्दात्परो नासिकाशब्दः । डुरिव नासिकाऽस्य-द्वृणसः । गौरिव नासिका अस्य गोनसः । वद्धं भवा वाद्धीं नासिका अस्य वाद्धीणसः । “ञिण्दृष्टदरक्तविकारे” [४।३।१५१] इति पुंवद्भावप्रतिषेधः । सर्वत्र “पूर्वपदात्खावमः” [५।४।८७] इति णत्वम् । स्थूलादिति किम् ? स्थूलनासिकः । खाविति किम् ? तुङ्गनासिकः । “खुरखराभ्यां वा नस् वक्तव्यः [वा०] खरस्येव नासिकाऽस्या अर्चनायाः खरणाः । खुरणाः । पदे अस्त्यो भवति खरणसः । कथं शिति नासिकाऽस्य शितिनाः । अहिरिव नासिकाऽस्य अहिनाः । अर्चाया इव नासिकाऽस्य अर्चनाः । “खे ङ्यायोः क्वचित् खौ च” [४।३।१७३] इति प्रः । पद्यङ्गान्दा एते शब्दास्तदत्रापि नस् वक्तव्यः ।

गेः ॥४१२११६॥ गेः परो यो नासिकाशब्दस्तदन्ताद्वादस्यो भवति । नश्चादेशः अयमखुविषये विधिः । उन्नता नासिकाऽस्य उन्नसः । प्रवृद्धा नासिकाऽस्य प्रणसः । “णत्वविधौ गेर्नस उपसंख्यानम्” [वा०] इति णत्वम् अत्र्ये । “वेः ख्वादेशो वक्तव्यः” [वा०] विगता नासिकाऽस्य विखुः ।

सोः प्रातर्दिवाश्वसः ॥४१२१२०॥ सोः परे ये प्रातर्, दिवा, श्वम् शब्दास्तदन्ताद्वादस्यो भवति । शोभनं प्रातरस्य सुप्रातः । “क्केर्ममात्रे टिखम्” [वा०] इति टिखम् । विग्रहवाक्ये शोभनमिति नपुसकत्वं गम्यमानकर्मापेक्षम् । शोभनं प्रातःकाले कर्मास्येत्यर्थः । एवं शोभनं दिवा अस्येति सुदिवः । शोभनं श्वोऽस्य सुश्वः ।

प्रोष्ठैर्यजात्पदः ॥४१२१२१॥ प्रोष्ठ, एणो, अज इत्येतेभ्यः परः पदशब्दो वसे निपात्यते । प्रवृद्धौष्ठः प्रोष्ठो गौरित्यर्थः । प्रोष्ठस्येव पादावस्य प्रोष्ठपदः । अस्सान्तः पादशब्दस्य च पद्भावो निपात्यते । एण्या इव पादावस्य एणीपदः । अजपदः ।

चतुश्शारेरस्त्रिकुक्षेः ॥४१२१२२॥ चतुश्शारिशब्दाभ्यां परौ यौ अस्त्रिकुक्षिशब्दौ तदन्ताद्वादस्यो भवति । चतस्रोऽस्त्रयोऽस्य चतुरस्रः । शारेरेव कुक्षिरस्य शारिकुक्षः ।

नञ्दुस्सोः सक्थिहलेर्वा ॥४१२१२३॥ नञ्, दुम्, सु इत्येतेभ्यः परौ यौ सक्थिहलिशब्दौ तदन्ताद्वादस्यो वा भवति । अविद्यमानं सक्थि अस्य असक्थः । असक्थिः । दुस्सक्थः । दुस्सक्थिः । सुसक्थः । सुसक्थिः । महद्वलं हलिः । अविद्यमानो हलिरस्य अइलः । अइलिः । दुहलः । दुहलिः । सुइलः । सुहलिः । सक्थि शब्दस्थाने सक्तिशब्दं केचित्पठन्ति । सञ्जनं सक्तिः ।

प्रजामेधाद्स् ॥४१२१२४॥ वेति नाधिकृतम् । नञ्, दुम्, सु इत्येतेभ्यः परौ यौ प्रजामेधाशब्दौ तदन्ताद्वादसित्यर्थं त्यो भवति । न विद्यते प्रजा अस्य अप्रजाः । दुष्प्रजाः । सुप्रजाः । न विद्यते मेधा अस्य अमेधाः । दुर्मेधाः । “अल्पाच्च मेधाया इति वक्तव्यम्” [वा०] अल्पमेधाः । अल्पमेधसौ । अल्पमेधसः ।

धर्मात्केवलाद् ॥४१२१२५॥ केवलो धर्मशब्द एव यत्रोत्तरपदम् अन्यसा (म)व्यपदं नास्ति तदन्ताद्वादसित्यर्थं त्यो भवति । साधूनामिव धर्मोऽस्य साधुधर्मा । प्रियधर्मा । केवलादिति किम् ? परमः स्वो धर्मोऽस्य परमस्वधर्मः । सन्दिग्धसाध्यधर्मः ।

सुहरिततृणसोमाज्जम्मात् ॥४१२१२६॥ जम्भशब्दो दन्तविशेषवाची अभ्यवहार्यवाची च । सु, हरित, तृण, सोम इत्येतेभ्यः परो यो जम्भशब्दस्तदन्तादनित्यर्थं त्यो भवति । शोभनो जम्भोऽस्य सुजम्भा शोभनदंष्ट्रः शोभनाहारो वा । हरितमिव जम्भोऽस्य हरितानि वा जम्भान्यस्य वा हरितजम्भा । तृणमिव जम्भोऽस्य तृणानि जम्भोऽस्य वा तृणजम्भा । एवं सोमजम्भा । स्वादिभ्य इति किम् ? स्थूलजम्भः ।

दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे ॥४१२१२७॥ ईर्ममिति बहुनामधेयं त्रणनामधेयं वा । दक्षिणेर्मिति वसोऽन्नन्तो निपात्यते लुब्धयोगे । दक्षिणैर्मर्ममस्य दक्षिणेर्मा मृगः । व्याधस्य हन्तुकामस्य दक्षिणमङ्गं बहुकृत्वा स्थितः । अथवा दक्षिणमङ्गं त्रणतमस्य व्याधेनेत्यर्थः । लुब्धयोग इति किम् ? दक्षिणेर्मः पशुः ।

ज इच् ॥४१२१२८॥ जशब्देन आर्थः कर्मव्यतिहारो ग्रहणप्रतिग्रहणादिलक्षणो गृह्यते । आर्थं यो वस-स्तस्मादित्यर्थं त्यो भवति । चकारः तिष्ठद्गवादिषु इजिति पठ्यते तत्र विशेषणार्थः । “तत्रेदमिति सख्ये” [११३।८६] “तेनेदम्” [११३।६०] इति च अयं वसः कर्मव्यतिहारे वर्तते । केशेषु च केशेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं केशकेशि । कचाकचि । इचस्तिष्ठद्गवादिषु पाठात् हसंशा । “अन्यस्यापि” [११३।२३२] इति पूर्वपदस्य दीत्वम् । दण्डैश्च दण्डैश्च इदं युद्धं दण्डादण्डि । मुसला मुसलि युद्धं वर्तते ।

द्विदण्ड्यादिः ॥४१२१२६॥ द्विदण्ड्यादयः शब्दा इजन्ता निपात्यन्ते । यथा गणो पठितास्तथैव साधवो वसेऽन्यत्र च भवन्तीत्यर्थः । द्वौ दण्डौ अस्मिन् प्रहरणे द्विदण्डि प्रहरति । द्विमुखलि प्रहरति । क्रियाविशेषणा-दन्यत्र न भवति । द्विदण्डा शालेति । पसेऽपि भवति । निकुच्य कर्णौ निकुच्यकर्णि धावति । आकुच्यपादौ आकुच्यपदि शेते । मयूरव्यंसकादित्वात्प्रसः । पादस्य च पद्मावो निपातनात् । प्रोह्य पादौ प्रोह्यपदि हस्तिनं वाहयति । द्विदण्डि । द्विमुखलि । उभाञ्जलि । उभयाञ्जलि । उभाकर्णि । उभयाकर्णि । उभाहस्ति । उभया-हस्ति । उभापाणि । उभयापाणि । उभात्राहु । उभयात्राहु । निपातनादिचः खम् । एकपदि । प्रोह्यपदि । आकुच्यपदि । निकुच्यकर्णि । संहतपुच्छि ।

सम्प्राजानुनो ज्ञः ॥४१२१३०॥ सम् प्र इत्येताभ्यां परस्य जानुशब्दस्य ज्ञ इत्ययमादेशो भवति बसे । सङ्गते जानुनी अस्य संज्ञः । प्रकृते जानुनी अस्य प्रज्ञः । ज्ञ इत्युकारान्तः केषांचिदादेशः । मतद्वयमपि प्रमाणम् ।

वोऽर्ध्वात् ॥४१२१३१॥ ऊर्ध्वशब्दात्परस्य जानुशब्दस्य वा ज्ञ इत्यादेशो भवति बसे । ऊर्ध्वे जानुनी अस्य ऊर्ध्वज्ञः, ऊर्ध्वजानुः, ऊर्ध्वजानुको वा ।

ऊधसोऽनङ् ॥४१२१३२॥ ऊधःशब्दान्तस्य बस्य अनङादेशो भवति सान्तः । कुण्डमिव ऊधोऽस्याः कुण्डोऽध्नी । परत्वात्सकारस्य अनङादेशे कृते पश्चात् “ऊधसः” [३।१।१३] इति डीविधिः । एवं घट इव ऊधोऽस्या घटोऽध्नी । इह मा भूत् । महोधाः पर्जन्यः । अनङथकार उत्तरत्र सार्थकः । इह नङादेशोऽपि न दोषः ।

धनुषः ॥४१२१३३॥ धनुःशब्दान्तस्य बसस्य अनङादेशो भवति । गाण्डीवं धनुरस्य गाण्डीवधन्वा । अजगवधन्वा । शाङ्गधन्वा ।

वा खौ ॥४१२१३४॥ धनुःशब्दान्तस्य बसस्य वा अनङादेशो भवति सान्तः खुविषये । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विभाषेयम् । दृढं धनुरस्य दृढधन्वा । दृढधनुः । पुष्पधन्वा । पुष्पधनुः ।

जायाया निङ् ॥४१२१३५॥ जायाशब्दान्तस्य बसस्य निङादेशो भवति । युवतिर्जाया यस्य युवजानिः । वधूजानिः । आकारस्य निङादेशः । “बलि न्योः खम्” [४।३।५५] इति यकारस्य खम् ।

गन्धस्येहत्पू तिसुसुरभिभ्यः ॥४१२१३६॥ उत्, पूति, सु, सुरभि इत्येतेभ्यः परस्य गन्धशब्दस्य इकार आदेशो भवति सान्तो बसे । उद्गतो गन्धोऽस्य उद्गन्धिः । पूतिर्गन्धोऽस्य पूतिगन्धिः । सुगन्धिः । सुरभि-गन्धिः । अयं गन्धशब्दोऽस्त्वैव गुणवचनः । तद्यथा उत्पलगन्धः । चन्दनगन्ध इति । अस्ति द्रव्यवचनः । तद्यथा गन्धान् पिनष्ठीति । तद्यो मुख्यो गुणवचनस्तस्य ग्रहणम् । तेनेह न भवति । शोभनो गन्धोऽस्य सुगन्ध आपणिकः ।

अल्पाख्यायाम् ॥४१२१३७॥ अल्पपर्यायो यो गन्धशब्दस्तदन्तस्य बसस्य वा इकारादेशो भवति सान्तः । अभिधानवशाद् व्यधिकरणोऽत्र बसः । अन्नस्य गन्धोऽस्मिन् अन्नगन्धिः । अन्नगन्धम् । घृतगन्धि । घृतगन्धम् । भोजनम् । अथवा अन्नं गन्धोऽल्पमस्मिन्निति समानानिकरणो बसः ।

उपमानात् ॥४१२१३८॥ उपमानात्परो यो गन्धशब्दस्तदन्तस्य बस्येकारादेशो भवति । पद्मस्य गन्ध इव गन्धोऽस्य पद्मगन्धिः । पद्मगन्धः । उत्पलगन्धः । उत्पलगन्धिः ।

खं पादस्याहस्त्यादेः ॥४१२१३९॥ वेति निवृत्तम् । उपमानादिति वर्तते । हस्त्यादिर्जिनः दुन्नागा-त्परस्य पादशब्दस्य खं भवति । बसे सान्त इ-दन्तुवर्तन न् इह “परस्यादेः” [१।१।५१] इति एषा परिभाषा नोपतिष्ठते । व्याघ्रस्येवं पादावस्य व्याघ्रपाद् । सिंहपाद् । अहस्त्यादेरिति किम् ? हस्तिन इव पादावस्य हस्तिपादः । कपोत(लक) पादः । हस्तिन् । कपोलक । गण्डोलक । गण्डयक । महिला । दासी । गणिका । कुसूल ।

सुसंख्यादेः ॥४१२१४०॥ सुश्च संख्या च सुसंख्ये ते आदी यस्य तस्य स्वादेः संख्यादेश्च पाद-
शब्दस्य खं भवति बसे ! शोभनौ पादावस्य सुपाद् । द्वौ पादावस्य द्विपाद् । त्रिपाद् । चतुष्पाद् ।

कुम्भपद्यादिः ॥४१२१४१॥ कुम्भपदीप्रभृतयः शब्दा निपात्यन्ते । क्वचिद्वेऽपि खे कृते “पादो वा”
[३।१।१५] इति ङीविकल्पे प्राप्ते नित्यो ङीविधिर्निपात्यते । कुम्भ इव पादावस्या कुम्भपदी । एकः पादोऽस्या
एकपदी । शितिपदी । सूत्रपदी । सूत्रसितपदी । सितसूत्रपदी । गोधापदी । जालपदी । जलपदी । कलशपदी ।
विपदी । सुपदी । निष्पदी । आर्द्रपदी । द्रोणपदी । कुटीपदी । कृष्णपदी । सूकरपदी । मुनिपदी । शकृत्पदी ।
अष्टपदी ।

वयसि दन्तस्य दत् ॥४१२१४२॥ सुसंख्यादेरिति वर्तते । स्वादेः संख्यादेश्च दन्तशब्दस्य दत्
इत्ययमादेशो भवति बसे वयसि गम्यमाने । शोभना दन्ता अस्य सुजाता वा सुदन् कुमारकः । द्वौ दन्तावस्य
बालकस्य द्विदन् । त्रिदन् । चतुर्दन् । वयसीति किम् ? सुदन्तो दाहिणात्यः । चतुर्दन्त एरावतः ।

स्त्रियां खौ ॥४१२१४३॥ स्त्रीलिङ्गेऽन्यपदार्थे दन्तशब्दस्य दत् इत्ययमादेशो भवति सान्तः खुविषये ।
अय इव दन्ता अस्या अयोदती । फालदती । स्त्रियामिति किम् ? नागस्येव दन्ता अस्य नागदन्तको नाम
कश्चित् । खाविति किम् ? समदन्ती । “नासिकोद्गोष्ठ” [३।१।४०] इत्यादिना ङीविधिः ।

वा श्यावारोकात् ॥४१२१४४॥ स्त्रियामिति निवृत्तम् । खाविति वर्तते । श्याव अरोक इत्येताभ्यां
परस्य दन्तशब्दस्य वा दत् इत्ययमादेशो भवति सान्तो बसे । श्यावा दन्ता अस्य श्यावदन् । श्यावदन्तः । अरोका
निश्छिद्राः निर्दीप्तयो वा दन्ता अस्य अरोकदन् अरोकदन्तः ।

शुद्धाग्रान्तशुभ्रवृषवराहात् ॥४१२१४५॥ खाविति निवृत्तम् । वेति वर्तते । शुद्ध, अग्रान्त, शुभ्र,
वृष, वराह इत्येतेभ्यः परस्य दन्तशब्दस्य दत् इत्ययमादेशो भवति बसे सान्तः । शुद्धा दन्ता अस्य शुद्धदन्,
शुद्धदन्तः । कुङ्कुमाग्रान्त दन्ता अस्य कुङ्कुमाग्रदन् । कुङ्कुमाग्रदन्तः । शिखराग्रदन् । शिखराग्रदन्तः ।
शुभ्रदन् । शुभ्रदन्तः । वृषदन् । वृषदन्तः । वराहदन् । वराहदन्तः । “अन्येभ्योऽपि भवतीति षक्यम्”
[वा०] अहिदन् । अहिदन्तः । मूषिकादन् । मूषिकादन्तः ।

ककुदस्यावस्थायां खम् ॥४१२१४६॥ कालादिकृतो बालादिभावोऽवस्था । ककुदशब्दान्तस्य खं
भवति सान्तः अवस्थायां गम्यमानायाम् । असञ्जातं ककुदमस्य असञ्जातककुन् । पूर्णककुद् । वृद्ध इत्यर्थः ।
यष्टिककुद् । मध्यशरीर इत्यर्थः । अवस्थायामिति किम् ? श्वेतककुदः । कथं ककुच्चानिति ? यावादिषु हलन्ता-
न्निपातनात्सिद्धम् ।

अद्रौ त्रिककुद् ॥४१२१४७॥ अद्रावन्यपदार्थे खं निपात्यते । त्रीणि ककुदान्यस्य त्रिककुद् । अद्रे-
रियं संज्ञा । अन्यत्र त्रिककुद् इति भवति ।

व्युदः काकुदान्तात् ॥४१२१४८॥ वि उद् इत्येताभ्यां परस्य काकुदशब्दस्य खं भवति सान्तं बसे । विशिष्टं
काकुदमस्य विककुद् । उत्कृष्टं काकुदमस्य उत्काकुत् ।

पूर्णाद्वा ॥४१२१४९॥ पूर्णाशब्दात्परस्य काकुदस्य वा खं भवति सान्तं बसे । पूर्णकाकुत् । पूर्णकाकुदः ।

सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः ॥४१२१५०॥ सुहृद् दुर्हृद् इत्येतौ शब्दौ निपात्येते यथासंख्यं मित्रामित्र-
योरभिधेययोः । सुदुस्शब्दाभ्यां परस्य हृदयशब्दस्य बसे हृदादेशो निपात्यते । शोभनं हृदयमस्य सुहृद् मित्रम् ।
दुष्टं हृदयमस्य दुर्हृदमित्रम् । मित्रामित्रयोरिति किम् ? सुहृदयः साधुः । दुर्हृदयः खलः ।

उरःप्रभृतिभ्यः कप् ॥४१२१५१॥ उरःप्रभृत्यन्ताद् वात्कवित्ययं ल्यो भवति सान्तः । व्यूढसुरोऽस्य
व्यूढोरस्कः । “कुष्पोस्त्ये” [५।४।२६] इति रेफस्य सत्वम् । प्रभूतसर्पिष्कः । “इणः षः” [५।४।२७] इति षत्वम् ।

चित्रोपानत्कः । उरस् । सर्पिण् । उपानह् । पुमान् । अनड्वान् । पुमानित्येवमादयः पञ्चशब्दा विभक्त्यन्ताः पठ्यन्ते । एकवचनान्तानामेव यथा स्यात् । द्विवचनबहुवचनान्तानां मा भूत् । तत्र “शेषाद्वा” [४१२।१५४] इति विकल्प एव भवति । द्विपुंस्कः । द्विपुमान् । बहुपुंस्कः । बहुपुमान् । दरी । “ऋन्मोः” [४१२।१५३] इत्येव सिद्धः किमर्थं दरीशब्दः पठ्यते ? “सहेति तुल्ययोगे” [१३।६१] इतीदं सूत्रं कवभावार्थमित्यस्मिन् पक्षे कप्रहणार्थमिदं वचनम् । दधि । मधु । शालि । अर्थान्नजः । कथमयं प्रयोगः । “अन्यथैवंकथमित्थं-स्वनर्थात्” [२।४।१३] इति सौत्रोऽयम् ।

इनः स्त्रियाम् ॥४१२।१५२॥ इनन्ताद् वात् कवित्ययं त्यो भवति स्त्रियामन्यपदार्थे । बहवो दण्ड-नोऽस्यां बहुदण्डिका । एवं बहुस्वामिका । बहुवागिका । स्त्रियामिति किम् ? बहुदण्डी ग्रामः । बहुदण्डिको वा । **ऋन्मोः ॥४१२।१५३॥** ऋकारान्तान्मुसंज्ञान्ताच्च वात्कव् भवति सान्तः । बहुकर्तृकः । तकार उच्चारणार्थः । बहुकुमारिकः । बहुब्रह्मवन्धूकः ।

शेषाद् वा ॥४१२।१५४॥ यस्माद्वात्सान्तो न विहितः स शेषः । शेषाद्वात् वा कव् भवति सान्तः । बह्व्यः खट्वा यस्य सः । बहुखट्वाकः । बहुखट्वः । “ऋक्पूर्वभ्यः” [४१२।७०] इत्यादिना सूत्रेण विशेषो व्याख्यातः । “अनृचो माणवो ज्ञेयो बह्वृचश्चरणे स्मृतः” ततोऽन्यत्रायं विकल्पः । अनृक्कम् साम । अनृक् साम । बह्वृक्कं सूक्तम् । बह्वृक्सूक्तम् । शेषादिति किम् ? प्रियपुरः । प्रियपथः ।

न खौ ॥४१२।१५५॥ खुविषये वात् कप् न भवति । येन केनचित्प्राप्तस्य कपोऽयं निषेधः नामग्र(ग्रा)-मः ? . . . । विश्वदेवः । विश्वयशाः । श्वेता अश्वतयो यस्य श्वेताश्वतिः ।

ईयस्त्स्व ॥४१२।१५६॥ ईयसन्ताद्वात्कव् न भवति । येन केनचित्प्राप्तस्य प्रतिषेधः । बहवः श्रेयांसोऽस्मिन् बहुश्रेयान् । विद्यमानश्रेयान् । “शेषाद्वा” [४१२।५४] इति प्राप्तस्य प्रतिषेधः । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्ट-स्यापि ग्रहणम्” [वा०] बह्व्यः श्रेयस्योऽस्य बहुश्रेयसी पुरुषः । “ऋन्मोः” [४१२।५३] इति प्राप्तस्य प्रतिषेधः । अत्र “स्त्रोगोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रादेशोऽपि न भवति । उक्तं हि तत्र—“ईयसो बसे पुंवद्भाववचनम्” [वा०] । नात्र पुंवद्वाचनेन स्त्रीत्यस्य निवृत्तिरिष्टा किं तर्हि यथा पुंसि ईकारस्य प्रादेशो न भवति । ग्रामणी देवदत्त इति । एवमीयसः परस्यापि स्त्रीत्यस्य । अथवा प्रश्लेषनिर्देशात् ईकारः सिद्धः । ई ईयसः ईयस इति । चकारः स्त्रियान्तिष्ठन्तान्तर्यः । तेन स्त्रियामीकारो भवति । न प्रादेश इति ।

स्तुते भ्रातुः ॥४१२।१५७॥ स्तुतं पूजितमित्यर्थः । स्तुतेऽर्थे यो भ्रातृशब्दस्तदन्ताद्वात्कव् न भवति । शोभनो भ्राता यस्य सुभ्राता । दर्शनीयभ्राता । स्तुत इति किम् ? दुर्भ्रातृकः । मूर्खभ्रातृकः ।

नाडीतन्व्योः स्वाङ्गे ॥४१२।१५८॥ स्वाङ्गमिह पारिभाषिकम् । स्वाङ्गे यौ नाडीतन्वीशब्दौ वर्तते तदन्ताद्वात्कव् न भवति । बह्व्यः नाड्योऽस्मिन् बहुनाडिर्दहः । बहुनाडिर्जङ्घा । बह्व्यः तन्व्यो धमन्व्योऽस्या बहुतन्वी-र्गावा । स्त्रीत्यो न भवतीति प्रादेशो नास्ति । स्वाङ्ग इति किम् ? बहुनाडीकः स्तम्भः । बहुतन्वीका वीणा ।

निष्प्रवाणिः ॥४१२।१५९॥ प्रकषेण ऊयतेऽस्यामिति प्रवाणीति निपात्यते । निर्गता प्रवाणी अस्य निष्प्र-वाणिः कम्बलः । प्रत्यग्र इत्यर्थः । “ऋन्मोः” [३।२।५३] इत्यस्य प्रतिषेधः । ये तु प्रवाणीशब्दमिकारान्तं पठन्ति तेषां “शेषाद्वा” [४१२।५४] इत्यस्य प्रतिषेधः । “ल्यः” [२।१।१] “परः” [२।१।२] “ङ्घाम्मृदः” [३।१।१] इत्येषामधिकाराणामिदमवसानम् ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां महावृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

आदेरेकाचो द्वे ॥४१३१॥ आदेरेकाचो द्वे भवत इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् । यदित ऊर्ध्वं वक्ष्याम आदेरेकाचो द्वे भवत इत्येवं तद्वेदितव्यम् । वक्ष्यति “लिङ्गुक्चिधौः” [४१३७] धोगदेरवयवस्यैकाचो द्वे भवतः । पपाच । जुहोति । अपीपठत् । एकोऽच् अत्रयवोऽस्य सोऽयमेकाच् । अत्रयवेन विग्रहः, समुदायो वृत्त्यर्थः । तद्गुगुर्विज्ञाने वसे समुदायान्तभूतोऽत्रयत्र इति साचकस्य द्वित्वम् । परत्वादपि कृते पाच्छब्दस्य शब्दतोऽर्थतश्चान्तरतमौ द्वौ पाच्छब्दौ । द्विःप्रयोगश्च द्वित्वम् । स्थाने हि द्वित्वे जिघांसतीत्यत्र शब्दान्तरत्वाद्दन्तेः कुत्वं न स्यात् । आदेरिति किम् ? जजागार । इत्यनाद्यस्य माभूत् । एकाच् इति किम् ? इत्मात्रस्य माभूत् । पपाचेत्यत्रादित्वं व्यपदेशिवद्भावेन यथा प्रथमगर्भेण हता नारी । इयाय आरेत्यत्र एकाच्चमपि उपचारात् । यथा स्थूलशिरा राहुरिति ।

अचः ॥४१३२॥ इहादेरित्यचो विशेषणम् । आदेः परस्यैकाचो द्वे भवत इत्यधिक्रियते । अटितिषति । अटाटयते । आटिटत् । सत्यपि सम्भवे आदेर्द्वित्वस्य बाधकमिदम् । दधिदानस्येव तक्रदानम् । शास्त्रेऽपि द्वीप इत्यत्र “द्वयनगैरीदपः” [४१३२०२] इत्ययमादिविकारोऽन्त्यविकारस्य बाधकः । यथाऽयस्याचो द्वित्वं न भवति तथा व्यञ्जनस्यापीति न दोषः ।

न स्फादौ न्द्रोऽयि ॥४१३३॥ इहादेरच इति वर्तते । आदेरचः परे स्फादौ वर्तमाना नकारदकाररेफा न द्विरुच्यन्ते अयकारे । इन्दिदिषति । उन्दिदिषति । आङ्घ्रिङिषति । अर्चिचिषति । उब्जिजिषति । इत्यत्र दकारोऽपने चुना योगे च “उद्वेः” इति वक्तव्यम् । तस्यासिद्धत्वात्प्रतिषेधः । अभ्युद्ग इत्यत्र कुत्वस्य सिद्धत्वाद्द्वत्वं न भवति । “ईर्ष्यतेऽस्तृतीयस्य द्वे भवत इति वक्तव्यम्” [वा०] केचिदाहुस्तृतीयस्यैकाच् इति । तेन सनो द्वित्वे ईर्ष्यिषति । अपर अद्गुः इत्यत्र हल इति । ईर्ष्यिषति । “कण्डवादीनां तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवतिः” [वा०] कण्डवादीनां तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवतिः । “सुब्धनां च तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवतिः” [वा०] अश्रिविषति । अपर आहुः । “अथेष्टं सुब्धुषु वक्तव्यम्” [वा०] पुपुत्रीषति । पुतित्रीषति । पुत्रीषति ।

थः ॥४१३४॥ द्वे इति वर्तते । तस्य संज्ञित्वम् । ते द्विरुक्ते समुदिते थसंज्ञे भवतः । ददति । ददतु । अददुः । दधति । दधतु । अदधुः । थसंज्ञायां सत्याम् भ्रस्य “अथात्” [५११४] इत्यदादेशः । “थस्नोरातः” [४१३१००] इत्याकारस्य खम् । लडो भेः “थवित्सेः” [२१३१८८] इति भ्रस्योऽत् । समुदायस्य थसंज्ञायां किं प्रयोजनम् ? चस्य खे मा भूत् । ईप्सन्ति । ऐप्सन् । प्रत्येकं पर्यायेण चःमाभूत् । थप्रदेशाः । “थवित्सेः” [२१३१८८] इत्येवमादयः ।

जक्षित्यादयः ॥४१३५॥ जक्षित्यादयश्च पञ्च थसंज्ञका भवन्ति । जक्षति । जक्षतु । अजक्षुः । जाग्रति । दरिद्रति । चकासति । शासति । जक्षितेस्तिपीटं कृत्वा गुरुनिर्देशः किम् ? “रुदादेशः” [५१११३५] इत्यत्र पञ्चग्रहणमनुवर्तते इति ज्ञापनार्थः ।

पूर्वश्चः ॥४१३६॥ द्विरुक्तयोः पूर्वोऽवयवश्चसंज्ञो भवति । पपाच । पिपक्षति । पापच्यते । अपीपचत् । चसंज्ञायां सत्यां प्रादेशः । “सन्यतः” [५१२१७६] इत्वम् । “हलोऽनादेः” [५१२१६१] खम् । “दीरकितः” [५१२१८०] इति “धेदीः” [५१२१६०] प्रकृतिचरां प्रकृतिचर इत्यादि कार्यम् । चप्रदेशाः “चस्यात्र खघ्” [५१२१६०] इत्येवमादयः ।

लिङ्गुक्चि धोः ॥४१३७॥ लिटि, उचि, कचि च परतः धोरादेरवयवस्यैकाचोऽचः परस्य च द्वे भवतः । पपाच । प्रोणुं नाव । उचि—जुहोति ! विभेति । उचि बुद्धिकृतं पौर्वापर्यम् । उक्तं च—

“सर्वाश्चेष्टा बुद्धौ कृत्वा वक्ता धीरस्तन्वञ्जीतिः ।

शुब्देनार्थान्वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात्पौर्वापर्यम् ॥”

कचि—अपीपचत् । पचेरिषिचि लुङि कचि च कृते णिखमुङः प्रादेशो द्वित्वम् । एवं हि योऽनादिष्ठादचः पूर्वस्तं

प्रति स्थानिवद्भाव इति धौ कच्यनक्खे सन्वदिति धौ परतः सन्वद्भावो विधीयमानः प्रस्य स्थानिव [द्भावार्त्तं प्रतिपिच्यते ।

सन्वडोः ॥४३१८॥ ये प्यस्य पुत्रपत्योर्जिः ॥४३१९॥ बन्धौ वे ॥४३१९०॥ वचिस्वपियजादीनां किति ॥४३१९१॥ ग्रह्ज्यावयिव्यधिवशिव्यचित्रश्चिप्रच्छिभ्रजां डिति च ॥४३१९२॥
नर्थकः । यङुबन्तस्य प्रकृतिवद्भावो यङोऽन्यस्मिन्नेति तिपा निवर्त्तो यथास्तिभवत्योर्मिडीति यङु बन्तस्य भिङ्येत्प्रतिदेशो म् भूत् । बोभवीति । इह तु यङुपि त्यखे त्याश्रयमिति प्राग् द्वित्वाजिर्भवत्येव । वेवेक्ति । वर्भर्षि । वर्भर्षीति ।

चस्यैषां लिटि ॥४३१९३॥ एषां वच्यादीनां लिटि परतश्चस्य जिर्भवति । उवाच । उवचिथ । इयाज । इयजिथ । उवाप । उवपिथ । सुवाप । सुवपिथ । जिज्यौ । जिज्याथ । वेजः स्थानिवद्भावेन उवाय । उवयिथ । उवास । उवसिथ । विव्याध । विव्यधिथ । विव्याच । विव्यचिथ । ग्रह्जस्यप्रच्छामविशेषः । ब्रश्चेस्तु वब्रश्च वब्रश्चिथ “न जौ जिः [४३१९१] इति वकारस्य न भवति । पिदर्थमिदम् । किन्तु परतः परत्वाज्जौ कृते द्वित्वम् । ऊचतुः । ऊचुः । अनन्तरपरिभाषा ह्यनित्या । अर्धः नानेन ग्रहणे सिद्धे एषां ग्रहणं चखनिवृत्त्यर्थम् ।

कचि स्वापेः ॥४३१९४॥ कचि परतः स्वापेर्जिर्भवति । असुषुपत् । असुषुपताम् । असुषुपन् । स्वपेरिञ्चि लुङि कचि च कृते द्वित्वात्परत्वादानेन जिः । “द्युङः” [५२१८३] एप् । “खौ कच्युङः” [५२१९१५] इति प्रादेशो द्वित्वम् । घेर्दीत्वम् । कचीति किम् ? स्वापितः । स्वाप्यते । स्वापेरिति किम् ? स्वपेरित्युच्यमाने वचनात्केवलादपि कच् स्यात् । स्वापं करोतीत्यत्रापि केचिदिच्छन्ति । केवलमकितः (क्वतः) सन्वद्भावाभावात् घेर्दीत्वं न भवति । असुषुपत् ।

स्वपिस्यमिवेजां यङि ॥४३१९५॥ स्वपि स्यमि व्येञ् इत्येतेषां यङि जिर्भवति । सोसुप्यते । सेसिम्यते । वेवीयते । स्वपिव्येजोः किति जिर्विहितः । यङि सर्वेषामप्राप्ते विधिः । “वशेयङि प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] वावश्यते । “ग्रह्ज्यावशि” [४३१९२] इति पाठे प्राप्तिः । यङीति किम् ? स्वप्नः ।

चायः कीः ॥४३१९६॥ चायः की इत्ययमादेशो भवति यङिः परतः । चेकीयते । चेकीयेते । चेकीयन्ते । दीत्वोच्चारणं किम् ? “दीरकृद्गो” [५२१९३४] इति यत्र दीत्वं नास्ति तत्र यङुपि श्रवणार्थम् । चेकीतः । चेकीयः ।

स्फायः स्फीस्ते ॥४३१९७॥ स्फायः स्फी इत्ययमादेशो भवति तमंज्ञे परतः । स्फीतः । स्फीतवान् । त इति किम् ? स्फाय्यते । स्फातिः । स्फीतीभवतीति च्यन्तस्य रूपम् ।

प्रपूर्वस्य स्यः ॥४३१९८॥ ते इति वर्तते । प्रपूर्वस्य स्यायतेर्जिर्भवति ते परतः । प्रस्तीतः । प्रस्तीतवान् । “स्फादेः” [५३१६०] इत्यादिना नत्वस्यासिद्धत्वात्प्रागेव जिः, पुनर्विहतनिमित्तत्वात् न भवति । “प्रस्यो वा” [५३१६६] इति मत्वपक्षे प्रस्तीमः प्रस्तीमवान् । प्रपूर्वस्येति किम् ? संस्त्यानः । प्रहत्य इति सिद्धे पूर्वग्रहणं नियमार्थम् । अन्यपूर्वस्यापि मा भूत् । संप्रस्त्यानः । अथवा प्रपूर्वो यत्मादिगसन्तुद्रायात्स प्रपूर्वः, तदवयवस्यापि स्यायतेर्षथा स्यादित्येवमर्थम् । प्रसंस्तीतः । प्रसंस्तीतवान् । इहान्ये ष्ट्यै स्यै इत्यनयोः सामान्येन निर्देशः ।

द्रवघनस्पर्शयोः श्यः ॥४३१९९॥ द्रवघने स्पर्शो च वर्तमानस्य श्यायतेर्जिर्भवति ते परतः । शीनं घृतम् । शीनं मेदः । “श्याञ्चिदिवः” [५३१६५] इत्यादिना नत्वम् । द्रवावस्थायाम् घनभावमाप्तमित्यर्थः । स्पर्शो शीतं वर्तते । गुणवत्पि स्पर्शोऽस्ति शीतमुदकम् । शीतो वायुः । द्रवघनस्पर्शयोः किम् ? संश्यानो वृश्चकः । ‘स्फादेरातः’ [५३१६०] इत्यादिना नत्वम् ।

१. प्रतिष्टु [] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिस्तुटिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्यायीमनुसृत्यात्र निर्दिष्टानि ।

प्रतेः ॥४१३२०॥ प्रतिपूर्वस्य श्यायतेर्जिर्भवति ते परतः । प्रतिशीनः । प्रतिशीनवान् । अद्रव-
घनस्पर्शार्थोऽयमारम्भः ।

वाऽभ्यवात् ॥४१३२१॥ अभि अव इत्येवंपूर्वस्य श्यायतेर्वा जिर्भवति ते परतः । अभिशीनः ।
अभिश्यानः । अवशीनः । अवश्यानः । अभ्यवशीनः । अभ्यवश्यानः । विपर्यासे प्रयोगो नास्ति ।
द्रवघनस्पर्शविवक्षायां प्राग्नेऽन्यन्नापान इत्युभयत्र विकल्पः । अन्यगियोगे केचिन्नेच्छन्ति । समभिश्यानम् ।
समवश्यानम् । अन्ये तु पूर्वमात्रेऽन्यगियोगेऽपि विकल्पमिच्छन्ति । अभिमंशीनम् । *अभिसंश्यानम् ।
अवसंशीनम् । अवसंश्यानम् ।

क्षीरहविषोः शृतम् ॥४१३२२॥ शृतमिति निपात्यते क्षीरहविषोः पाके । शृतं क्षीरम् । शृतं हविः
स्वयमेव देवदत्तेन वा । श्रै पाके इति कृतात्वस्य भौवादिकस्य आ पाके इत्यादादिकस्य च ग्रहणम् । तथा आ पाके इति
चौरादिकस्य णिचि पुकि च कृते आ पाक इति मित्सु पाठात्प्रादेशेऽपि । अनयोः आश्रयोः के परतः श्रुभावो
निपात्यते । क्षीरहविषोरिति किम् ? आश्राणा यवाणूः । वेति इत्येवमिति ननु कृतेऽपि णिचि नेष्यते ।
श्रपितं हविर्देवदत्तेन जिनदत्तेन ।

प्यायः पी ॥४१३२३॥ प्यायः पी इत्ययमादेशो भवति ते परतः । पीनौ स्तनौ । पीनावंसौ । “ओदितः”
[५१३१६३] इति नत्वम् । प्रकृतो जिहत्तरस्य यस्य प्रसज्येत । लिङ्गडोरवलादौ च यत्नं नास्ति ।
तदर्थश्चादेशः ।

आङ् ॥४१३२४॥ आङ् परस्य प्यायः पी इत्ययमादेशो भवति ते परतः । आपीनः । आपीनवान् ।
आङ् एव प्यायः पी भवति नान्यस्माद् । प्रप्यानश्चन्द्रमाः ।

अन्धूधसोः ॥४१३२५॥ अन्धूधसोरर्थयोः आङ् परस्य प्यायः पी भवति ते परतः । आपीनोऽन्धुः ।
आपीनमूधः । अन्धुर्ब्रह्मम् । ऊधः सनपर्यायः । अयमपि नियमः । आङ् पूर्वास्यान्धूधसोरेव । नान्य-
स्मिन्नर्थे । आप्यानश्चन्द्रमाः ।

लिङ्ग्यङोः ॥४१३२६॥ त इति निवृत्तम् निमित्तान्तरोपादानात् । लिटि यङि च परतः प्यायः पी
इत्ययमादेशो भवति । आपिष्ये । आपिष्याते । आपिष्यिरे । परत्वात्पीभावे कृते पुनः प्रसङ्गाद् द्वित्वम् ।
“एगिवाक्चाडुङोऽसुधियः” [४१३१७८] इति यणादेशः । यङि-आपेपीयते । आपेपीयते । आपेपीयन्ते । यङुपि
“त्यखे त्याश्रयम्” [११३१६३] इति आपेपेति । आपेपीतः । आपेप्यति ।

न वा श्वेः ॥४१३२७॥ जिरिति वर्तते । श्वयतेर्न वा जिर्भवति लिङ्ग्यङोः परतः । शुशाव । शिशवाय ।
शुशुवतुः । शिशिवतुः । शोशयते । शोशवीयते । लिटि किति यजादिप्राप्तिर्नेति प्रतिषिध्यते । ततः समीकृते
विषये विकल्पः । पिति किति च लिटि यङि च प्रवर्तते । ननु शिशवायेत्यत्र जिना मुक्ते पक्षे “चस्यै-
षां लिटि” [४१३१९३] इति चस्य प्राप्नोति नायं दोषो नेत्यनेन श्वयतेर्भावती प्राप्तिः सा सर्वा प्रतिषिध्यते । ततो
विकल्पः । यदि चस्य क्रियेत प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् ।

सन्कचोर्णौ ॥४१३२८॥ सन्परे कचपरे च णौ परतः श्वयतेर्न वा जिर्भवति । शुशावयिषति । अन्तरङ्ग-
परिभाषा ह्यनित्या । पूर्वविप्रतिषिद्धेन जौ कृते ऐपि “ओ पुयण्ज्ये” [५१२१७८] इति शापकात्
स्थानिवद्भावेन द्वित्वम् । पक्षे शिशवाययिषति । कचि अशूशवत् । अशिशिवत् ।

ह्यो जिः ॥४१३२९॥ ह्यतेर्जिर्भवति सन्परे कचपरे च णौ परतः । जुहावयिषति । जुहावयिषतः । जुहावयि-
षन्ति । कचि-अजूहवत् । अजूहवताम् । अजूहवन् । अनवकाशत्वाजिना सावकाशः “शाच्छासाह्लादि” [५१२१४२]
सूत्रेण यक् वाध्यते । पुनर्जिग्रहणं नित्यार्थम् । ननु थस्येति वक्ष्यते तैनैवार्यं जिः सिद्धः । ह्यतेरेवार्यं थ

आदेरेकाच इत्यनुवर्तनात् । एवं तर्हीदमेव ज्ञापकम् । थस्य निमित्तेऽन्येन व्यवहिते जिर्न भवति । तेन सिद्धम् । जिह्वायक्रीयिपति । ह्यायकमिच्छति । ह्यायक्रीयतेः सन् ।

थस्य ॥४१३०॥ ह्यतेस्थस्य जिर्भवति । जुहूप्रति । जोहूयते । जुहाव । सामर्थ्यात्थनिमित्ते परतो जिर्वेदि-
तव्यः । अत्रोपचारात्थार्थो ह्यतिस्थः तस्य जौ कृते द्वित्वम् ।

न जौ जिः ॥४१३१॥ जौ परतः पूर्वस्य जिर्न भवति । विद्धः । विचितः । संवीतः । वचेर्जिबन्धनं ज्ञापकम् । “अन्तेऽलः” [१११४६] इति नाश्रीयते । “अनन्त्यविकारेऽन्यसदेशस्य” [प०] इत्यनित्या । तत एकेनापि योगेन-
यावन्तो यणस्तेषां सर्वेषां जौ प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । ननु तथाप्येकयोगेन युगपज्जेः पूर्वस्य परस्य च निर्वृत्त-
त्वात्सिद्धस्य कथं प्रतिषेधः ? अत्रोच्यते—न जौ जिरिति स्वाश्रयकार्यस्य जेः परपूर्वत्वस्य प्रतिषेधः । ततो यणा-
देशे सति सिध्यति रूपम् । पुनर्जिग्रहणं प्रकरणात्तरविहितस्यापि जेः प्रतिषेधार्थम् । यूना । यूने । “श्वयुव-
मवो नोऽहति” [४१३१२१] इति जिः । अत्र स्वेऽको दीत्वस्य स्थानिवद्भावाद्कारणे व्यवधानं न चिन्तनीयम् ।
“प्रपूर्वस्य स्यः” [४१३१२८] इत्यत्र पूर्वस्येति वर्तते । तेन पूर्वमात्रस्य प्रतिषेधः । उपोषुषा । उपोषुषे इत्यत्र
भिन्ननिमित्तत्वान्न प्रतिषेधः । जावित्यत्रेकारोऽपि प्रशिलप्यते ततः श्वयतेः कचि न जिः । अशिशिवयत् ।

लिटि वेजो यः ॥४१३२२॥ न जिरिति वर्तते । लिटि परतो वेजो यकारस्य जिर्न भवति । वेजो
यकारस्याभावात् वयेर्यकारस्य प्रतिषेधः । वेजुः । वेजुः । प्रयोजनम् । ऊयतुः । ऊयुः । स्थानिवद्भावेन
यजादित्वात् किति जिः प्राप्तः । लिटि वेजो यः ।

वो वा किति ॥४१३३३॥ लिटि किति परतो वेजो यकारस्य जिर्न भवति । ऊवतुः । ऊवुः । यजा-
दित्वाजिः प्राप्तः “प्ये च” [४१३३४] इति वक्ष्यमाणेन प्रतिषेधोऽनेन विकल्प्यते । परत्वाज्जौ कृते द्वित्वम् ।
“वायाद् गावं बलीयः” [परि०] इत्युवादेशे कृते स्वेऽको दीत्वम् । पद्ये—ववतुः । ववुः । वेजग्रहणानुवृत्तेः
स्थानिवद्भावेन वयि वकारस्य न प्रतिषेधः । कितीति किम् ? वविथ ।

प्ये च ॥४१३३४॥ प्ये लिटि च वेजो जिर्न भवति । प्रवाय । उपवाय । ववौ । ववतुः । ववुः । वविथ ।
किद्ग्रहणं वाग्रहणं चानधिकृतम् । “चस्यैषां लिटि” [४१३३३] इति यजादित्वाच्च जौ प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् ।
अस्मिन्नेव नित्ये प्राप्ते कित्सु ‘वो वा किति’ [४१३३३] इति विकल्पः । वेजग्रहणानुवृत्तेरिह स्थानिवद्भावाभावाद्
वयेरप्रतिषेधः । उवाय । ऊयतुः । ऊयुः । स्थानिवद्भावे हि “लिटि वेजो यः” [४१३३२] इत्यनर्थकं स्यात् ।
अनेनैव यकारस्यापि प्रतिषेधः स्यात् ।

ज्यः ॥४१३३५॥ ज्या इत्येतस्य प्ये जिर्न भवति । प्रज्याय । उपज्याय । चानुकृष्टत्वाल्लिटीति निवृत्तः ।

व्यः ॥४१३३६॥ व्या इत्येतस्य च प्ये जिर्न भवति । प्रव्याय । उपव्याय । सूत्रान्तरमुत्तरार्थम् ।

परेर्वा ॥४१३३७॥ परेरुत्तरस्य व्या इत्येतस्य प्ये वा जिर्भवति । परिवीय । परिव्याय । परत्वाद्दीत्वे
कृते तुगभावः ।

एचोऽशित्याः ॥४१३३८॥ धोरिति वर्तते । एजन्तस्य धोरशित्यात्वं भवति । ग्लै । ग्लाता । ग्लातुम् ।
शो—निशाता । निशातुम् । “अन्तेऽलः” [१११४६] इत्येच आकारः । एच इति किम् ? कर्ता । कर्तुम् ।
अशित्तीति किम् ? ग्लायति । म्लायति । अशित्तीति प्रसज्यप्रतिषेधः शिति नेति । अनैमित्तिकमात्वम् ।
ग्लानीयम् । तेन आयाद्यभावः । सुत्रः । सुम्लः । “आतो गौ” [२१११०६] इति कः । सुग्लानम् । “युजातः”
[२१११०६] इति युञ्ज सिद्धः । “मिष्मीन्दीळां प्ये च” [४१३३३] इति चकारादेजिग्रहणे चात्ववचनं ज्ञापकम् ।
परनिमित्तस्यैच आत्वं न भवति । चेता । स्तोता । प्रतिपदोक्तपरिभाषा त्वनित्या तेन क्रापयतीत्यादौ पुक्
सिद्धः । शकार इद्यस्य सोऽयं शित् तदादौ न भवति । न तु तदन्ते । जग्ले मम्ले इति । धोरित्येव । गोभिः ।
नौभिः ।

न व्यो लिटि ॥४३३३॥ व्ययतेर्लिट्यात्वं न भवति । संविध्याय । संविध्ययिथ । णलि “चस्यैपां लिटि” [४३३३३] इति जिः । “ङित्यचः” [५२३३] इत्यैप् । आयादेशः । थे “वोपदेशे” [५१११०८] इति सूत्रे “अव्याद्” इति प्रतिषेधात्क्रादिनियमादिट् ।

स्फुरिस्फुल्योर्घञि ॥४३३४०॥ स्फुरि स्फुलि इत्येतयोरेच आत्वं भवति घञि परतः । विस्फारः । विस्फालः । “भावे” [२३३१७] “अकर्तरि” [२३३१८] “हलः” [२३३१०२] इति “करणाधिकरणयोः” [२३३१६६] वा घञ् । “स्फुरिस्फुशोर्निर्निघेः” [५४३५८] इति वा पत्वम् ।

क्रीडजेर्णौ ॥४३३४१॥ क्री ड्ज् इत्येतेपामेच आत्वं भवति णौ परतः । क्रापयति । अध्यापयति । जापयति । परनिमित्तस्याप्येच आत्वमनेन विधीयते ।

सिध्यतेरज्ञाने ॥४३३४२॥ णाविति वर्तते । सिध्यतेरेच आत्वं भवति ज्ञानादन्यत्र णौ परतः । अन्नं साधयति । अर्थं साधयति । अज्ञानं इति किम् ? आचारः कुलं सेधयति । क्षमा धर्मं सेधयति । ज्ञापयतीत्यर्थः । श्यविकरणनिर्देशात्प्रिध गतावित्यस्य भौवादिकस्याग्रहणम् ।

मिन्मीड्दीड्वां प्ये च ॥४३३४३॥ मिञ् मीञ् दीड् इत्येतेपां प्ये च एचश्चात्वं भवति । प्ये प्रमाय । एद्विषये प्रमाता । प्रमातुम् । प्रमापयति । मिञो निमाय । निमाता । निमातुम् । निमापयति । दीडः-अवदाय । अवदाता । अवदातुम् । अवदापयति । चकारो ज्ञापकः । परनिमित्तस्यैच आत्वं न भवति । तेन चेतादिष्वात्वाभावः । एच इत्यर्थवशाद्विशेषणलक्षणात्ता । एचो या प्रकृतिस्तस्याः प्राक्त्योत्पत्तेरात्वं भवति । एवं चाकाराण्युचः सिद्धाः । अवदायः “श्याद्ब्यध” [२११११४] आदीति णः । अवदायो वर्तते । सुदानम् । “निमिमीलियां खाचोरात्वप्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] सुनिमयः । निमोनाति निमानं वा निमयः । “अकर्तरि वाऽचि प्रतिषेधः” । एवं मिनोतेरपि । लियो “विभाषा लियोः” [४३३४४] इति व्यवस्थितविभाषा ज्ञापनादेव खाचोः प्रतिषेधः सिद्धः ।

विभाषा लियोः ॥४३३४४॥ लिनान्ते लीयतेश्च विभाषयाऽऽत्वं भवति प्ये एज्विषये च । विलाय विलीय । एज्विषये विलाता । विलेता । विभाषेति व्यवस्थितविभाषा । तेन धाष्टर्यसम्माननयोरात्वम् । श्येनो वर्तिकामपलापयते ।

णस्यपगुरो वा ॥४३३४५॥ एच इति वर्तते । णमि परतः अपगुर एच आत्वं भवति वा । अपगारम् । अपगोरम् । अस्यपगारं युध्यन्ते । अस्यपगोरं युध्यन्ते । “प्रमाणासत्योः” [२३३३६] इति णम् । “वा भादि” [१३३८४] इति षसः । पुनर्वाग्रहणं पूर्वस्य व्यवस्थितविभाषाज्ञापनार्थम् ।

चिस्फुरोर्णौ ॥४३३४६॥ चिञ् स्फुर इत्येतयोर्णौ परत एचो वाऽऽत्वं भवति । धर्मं चापयति । धर्मं चपयति । नयनं स्फारयति । नयनं स्फोरयति ।

प्रजने वातेः ॥४३३४७॥ प्रजनेऽर्थे वातेर्णौ परतो वाऽऽत्वं भवति । पुरो वातो गाः प्रवापयति । पुरो वातो गाः प्रवपयति । लवणं गाः प्रवपयति । लवणं गाः प्रवापयति । प्रजनो गर्भाधानम् । वातेः प्रजने ऽर्थे वृत्तिर्नास्ति तेनारम्भः ।

विभेतेर्हेतुभये ॥४३३४८॥ विभेतेर्हेतुभयेऽर्थे णौ परतो वाऽऽत्वं भवति । मुण्डो भापयते । जटिलो भापयते । मुण्डो भीषयते । जटिलो भीषयते । हेतुः स्वतन्त्रस्य कर्तुः प्रयोजकः । ततः साक्षाद्भयमत्र प्रतीयते । भयशब्दो भावसाधनोऽपादानसाधनो वा । नपुंसकलिङ्गे भावे “अज्विधौ भयादीनामुपसंख्यानम्” [वा०] कादि-निवृत्त्यर्थम् । भावे-हेतोर्भयं हेतुभयम् । त्रः-त्राने-हेतुरेव भयं हेतुभयमिति ज्ञेयम् । “शेभीस्मेर्हेतुभये” [१३३६४] इति द्विधिः । आत्वाभावपक्षे “ईतः षुङ्-नित्यम्” [४३३४६] इति षुक् । हेतुभय इति किम् ? कुञ्चिकयैर्न भीषयति । नात्र प्रयोजकाद्धेतोर्भयं किन्तर्हि कुञ्चिकारूपात्कारणात् । तिपा निर्देशो यङुबन्तनिवृत्त्यर्थः विभेति तमन्यः प्रयुङ्क्ते (भाययति पुनः पुनरतिशयेन भाययति,) विभाषयति ।

ईतः षुड् नित्यम् ॥४३१४६॥ विभेतेरीकारान्तस्य हेतुभयेऽर्थं नित्यं षुगागमो भवति णौ परतः । मुण्डो भीषयते । जटिलो भीषयते । ईत इति निर्देशादैपः प्रागेव षुक् । हेतुभय इत्येव । कुञ्चिकयैर्न भाययति । नात्र साक्षात्प्रयोजको भयकारणम्; किन्तर्हि ? करणात् । दविधिश्च न भवति ।

स्मिडः ॥४३१५०॥ हेतुभय इति वर्तते णाविति च । स्मिड् इत्येतस्य णौ परत आत्वं भवति हेतु-भयेऽर्थं । मुण्डो विस्मापयते । जटिलो विस्मापयते “शेभीस्मेर्हेतुभये” [१२।६४] इति दः । हेतुभय इति किम् ? कुञ्चिकयैर्न विस्माययति । स्मयत्यर्थ एव भयमित्युपचर्यते । नहि मुख्यवृत्त्या भये स्मयतेर्वाच्यः ।

भ्रूयकिति सृज्दशोऽम् ॥४३१५१॥ भ्रूलादावकिति परतः सृज्दशोरमागमो भवति । स्रष्टा । स्रष्टुम् । स्रष्टव्यम् । द्रष्टा । द्रष्टुम् । द्रष्टव्यम् । “व्युङ्” [५।२।८३] एपो बाधकोऽयम् अस्मादात् इत्यत्र पूर्वमभि कृते “ब्रजवद” [५।१।७६] इत्यादिनैप् । भ्रूलीति किम् ? सर्जनम् । दर्शनम् । अक्रीतिति प्रसज्यप्रतिषेधादिह न भवति रज्जुसृज्भ्याम् । देवदग्भ्याम् । धोः स्वरूपग्रहणे तत्त्वविज्ञानाद्वा ।

वाऽनदात्तस्य दुः ॥४३१५२॥ अनुदात्तस्य धोः ऋदुङः वा अमागमो भवति भ्रूलादावकिति परतः । वता । तर्ता । द्रता । दर्ता । तृपिहपीरधादौ विकल्पितेद्यौ तत्रानुदात्तपाठोऽमागमार्थः । अनुदात्तस्येति किम् ? वर्ता तर्ता । वृढः । तृढः । उदित्वात्पक्षेऽनित्यौ । ऋदुङः इति किम् ? मेत्ता । मेत्तुम् । भ्रूलीत्येव । तर्पणम् । दर्पणम् । अक्रीतीत्येव । दृढः ।

ध्वादेः वस्सः ॥४३१५३॥ धोरादेः प्रकारस्य सकारादेशो भवति । अज्दन्त्यपरा सादयः शोपदेशाः । नृदिस्मिड् इत्येव ध्वोः कृत् । त्वदिस्मिड् इत्येव ध्वोः कृत् । मूर्धन्यादिपाठाः । उदाहरणम् । पह सहते । पिच सिञ्चति । जिष्वप् सुमः । “ध्वादेशयोः” [५।४।३६] इति प्रथमार्थ आदेशः । धोरिति किम् ? षोडन् । पडिकः । आदेरिति किम् ? लपति । धोरिति वर्तमाने पुनर्धुप्रहणं ध्रुवे यो धुः तदादेः प्रकारस्य सत्वार्थम् । सुधोर्मा भूदिति । षोडीयति । षड्डीयति । “ध्वीवतिष्वकतिष्व्यायतीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] । ध्रिच् थकारपरः ठकारपरश्चेत्यते । तेन चविकारे तेष्ठीव्यते । टेष्ठीव्यते ।

णो नः ॥४३१५४॥ धोरादेर्णकारस्य नकार आदेशो भवति । सर्वे नादयो शोपदेशाः । नृतिनन्दिनक-नन्दिनटिनाधृनाश्रुवर्जम् । णम्-नमति । णी-नयति । णह-नहति । “गेरसेऽपि विकृतेः” [५।४।६८] इति णत्वार्थ-मादेशः । पुनर्धुप्रहणात्सुधोर्णकारस्य नत्वं न भवति । णकारीयति । ध्वादेरित्येव । चणति । योगविभागः सत्वस्य ध्वीवत्यादावनित्यत्वज्ञापनार्थः ।

वलि व्योः खम् ॥४३१५५॥ वलि परतो वकारयकारयोः खं भवति । धोरधोर्वा । देदिवः, सेसिवः । यडुवन्ताद्वसि वकारस्य खम् । जीवेरदानुक् । जीरदानुः । यकारस्य, ऊपी-ऊत्तम् । क्यूयी-क्यूतम् । “असिद्धं वाहिरङ्गमन्तरङ्गे” [प०] इत्यनित्या तेन बहिरङ्गे इयादेशे एयादेशे च सत्यन्तरङ्गं यखम् । पचेत् । दासेरः । किञ्चि कएङ्गयतेः बोभूयतेश्च कण्डूः । बोभूः । अतः खे कृते “वलि व्योः खम्” नित्यत्वात्किञ्चपः स्तेऽपि नन्दिन-ध्वोः त्याश्रयमिति त्यखे त्याश्रयाद्वालादित्वम् । वलीति किम् ? दीव्यते । ताप्यते ।

हल्ङ्यपो यः सुसिप्त्यनच् ॥४३१५६॥ हलन्तात् डी च आप् च या दीः तदन्ताच्च परेषां सुसिप्तीनां खम् । व्यर्थं स्फान्तखेन सिद्धमिति चेत्, न सिध्यति । उखाश्रदित्यत्र स्फान्तखस्यासिद्धत्वे पदान्तत्वाभावा-दत्वं न स्यात् । स्फादिसिखे वा विभक्तिसकारस्य रित्वविसर्जनीयौ स्याताम् । अभिनोऽत्रेति स्फान्तखस्या-सिद्धत्वाद्देरुत्वं न स्यात् । अत्रिभर्भवानित्यत्र “रास्सः” [५।३।४२] इति नियमात्तपि खं न स्यात् ।

कैरेङ् ॥४३१५७॥ केः खं भवति एङन्तादुत्तरस्य । हे अने । हे वायो । प्रादिति खात्परत्वेन ‘प्रस्यैप्’ [५।२।१०३] इति एप् ।

प्रात् ॥४१३५८॥ प्रान्तात्परस्य केः खं भवति । हे देवदत्त । हे जिनदत्त । षसपत्नेऽनजिति वर्तते तच्च प्रादिति कानिर्देशात् तान्तं सम्पद्यते । ततः केरवयवस्यानचः खं भवति । एवं हे कुण्डेल्यत्र हलो मकारस्य खं भवति । हे कतरदित्यत्र स्वमोः परतः किकृते “नपः स्वमोः” [५१३२०] इत्युप् ।

पिति कृति तुक् ॥४१३५९॥ प्रादित्यस्य ताप्रक्लृप्तिः । पिति कृति तुगागमो भवति प्रान्तस्य । प्रवृत्त्य । प्रस्तुत्य । अग्निचित् । सोमसुत् । कृतीति वचनाद्भोरयं तुक् । पितीति किम् ? चितम् । स्तुतम् । कृतीति किम् ? बहुकर्तृकः । प्रस्येति किम् ? प्रलूय । ग्रामणीः । ग्रामणीकुलमित्यत्र ब्रह्माश्रयस्य प्रादेशस्यासिद्धत्वान्नान्तरङ्गस्तुक् ।

सन्धौ ॥४१३६०॥ सन्धावित्यधिकारो वेदितव्यः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः सन्धिविषये तद्वेदितव्यम् । लोकेत एव संश्लेषः सन्निकर्षो वा सन्धिरिति ज्ञातव्यम् । यथा “एष्यतोऽपदे” [४१३५८] अत्रेकारादिः । वक्ष्यति ‘अचीको यण्’ [४१३६५] । दध्यशान । सन्धाविति किम् ? दधि अशान ।

छे ॥४१३६१॥ छकारे परतः सन्धौ प्रस्य तुग्भवति । गच्छति । इच्छति । पृच्छति । प्रस्यात्र तुङ्गन तदन्तस्य । यदि प्रान्तस्य स्याच्चिच्छिदुरित्यत्र “हलोऽनादेः” [५२१६९] खं प्रसज्येत । नन्ववयवावयवोऽपि समुदायावयव इति खं प्राप्नोति । एवं तर्हि पूर्वान्तकरणाधिकारात्खं न भवति ।

आङ्माडोः ॥४१३६२॥ आङ् माङ् इत्येतयोश्छे परतस्तुग् भवति ।

“ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः । एतमातं छित्तं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित् ॥”

ईषच्छाया आच्छाया । क्रियायोगे—आच्छिनन्ति । मर्यादाऽभिविध्योः । आच्छायायाः । माङः । माच्छिदत् । माच्छासीत् । “वा पदस्य” [४१३६४] इति विकल्पः प्रातः । अनूत्व (नुबन्ध) करणं किम् ? आच्छात्रमानय । आच्छात्रमानय । स्मरणे छित्तं नास्ति । उपमा छत्रमानयति । “गामादाग्रहणेष्वविशेषः” [५०] इति प्राप्तिः । अथवा नेदं प्रत्युदाहरणम् । आङ्मा सहचरितस्य माङो निसंज्ञकस्य ग्रहणाद्भोरप्राप्तिः ।

द्यः ॥४१३६३॥ दीसंज्ञस्य छे तुग्भवति । ह्रीच्छति । स्लेच्छति । अपचाच्छाद्यते ।

वा पदस्य ॥४१३६४॥ द्यन्तस्य पदस्य छे वा तुग्भवति । कुवलीच्छाया । कुवलीछाया । शमीच्छाया । शमीछाया । दीसंज्ञकस्य तुग्भवति स चेत्पदस्येति । तेनासामर्थ्येऽपि तुग्विकल्पः सिद्धः । तिष्ठतु कुमारी छत्रं हर देवदत्त ।

अचीको यण् ॥४१३६५॥ अचि परत इको यणादेशो भवति । दध्यशान । मद्धवपनय । “अनचि” [५१३२७] इति द्वित्वम् । भर्त्रर्थः । लाकृतिः । “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गं” [५०] इति यादीनां न सफान्तखम् । अचीति किम् ? दधि करोति । मधु कृतम् । इक इति किम् ? भवानन्त । हलो मा भूत् । स्वेऽचि दीत्वं वक्ष्यति । पारिशेष्यादन्यत्र यण् ।

एचोऽयघायावः ॥४१३६६॥ एचः स्थाने अय् अय् आय् आव् इत्येते आदेशा भवन्ति अचि परतः । चयनम् । लवनम् । चायकः । लावकः । कथेते । पटविह ।

यि त्ये ॥४१३६७॥ यकारादौ त्ये अयादय आदेशा भवन्ति । बाभ्रव्यः । माण्डव्यः । गव्यः । नाव्यो हृदः । यीति किम् ? गोभ्याम् । नौभ्याम् । त्य इति किम् ? गोयानम् । नौयानम् । यीति योगविभागः । तेन गोर्युतावध्वपरिमाणे अनादेशो भवति । गव्यूतिः । अयायादेशयोः केचित्प्रतिषेधमिच्छन्ति । तेन रायमिच्छति रैयति ।

क्षिज्योः ॥४१३६८॥ क्षि जि इत्येतयोरेचो यि त्येऽयादेशो भवति । क्षेतुं शक्यं क्षय्यम् पापम् । जेतुं शक्यो जय्यः शत्रुः । “शकि लिङ् च” [२१३१४८] इति व्या भवन्ति । नियमार्थोऽयमारम्भः । धुषु क्षिज्योरेव नान्यस्य धोः । चेषम् । नेयम् । तत्रापि तुल्यजातीययोरेकारैकारयोर्निवृत्तिः । धोरोकारौकारयोः पूर्वेणावावादेशौ भवतः । लव्यम् । पव्यम् । अवश्यलाव्यम् । अवश्यपव्यम् । मयूरव्यंसकादित्वात्सः । व्यान्ते ह्यवश्यमोनाश इति ।

शक्नो ॥४१३।६९॥ अयमपि नियमः । शक्तावेव क्षिज्योरयादेशो नान्यस्मिन्नर्थे । क्षेयम् ।

धोस्तस्मिन्नेव ॥४१३।७०॥ धोस्तस्मिन्नेव यित्ये य एच् तस्यायादयो भवन्ति । लव्यम् । अवश्यलाव्यम् । धोरिति किम् ? मृदो नियमो मा भूत् । माण्डव्यः । गव्यम् । तन्निमित्तस्यातन्निमित्तस्य च “यित्ये” [४१३।६७] इत्यादेशः । तन्निमित्तस्येति किम् ? उपोयते । औयत । लौयमानिश्चैत्रः । कर्मणि लट् । यक् जित्वम् । गिधोर्य-त्कार्यं तदन्तरङ्गमिति “आदेप्” [४१३।७५] । लटि लावस्थायामडागमोऽन्तरङ्ग इति “अटश्च” [४१३।७८] इत्यैप् । अन्तरङ्गत्वेन ह्यनित्या तेन बहिरङ्गत्वेऽप्येप् । लौयमानिरिति प्रत्युदाहरणम् । एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः । धोरेव तस्मिन्निति नियमो मा भूत् । एवं हि बाभ्रव्य इत्यत्र न स्यात् ।

क्रय्यः स्वार्थे ॥४१३।७१॥ क्रय्य इति निपात्यते स्वार्थे गभ्ये । स्वार्थो द्रव्यविनिमयः । क्रय्यः कम्बलः । क्रय्या गौः । क्रयार्थे प्रसारितः । अन्वयन्तुसंज्ञार्थमिति यावत् । क्षिज्योरिति नियमादप्रातोऽयादेशो निपात्यते । स्वार्थ इति किम् ? क्रयं धान्यं न चास्ति क्रय्यं स्वीकर्तव्यं धान्यं किं तर्हि परकीयम् । क्रयार्थं प्रसारितं नास्तीत्यर्थः ।

द्वयोरेकः ॥४१३।७२॥ “ख्यत्यादतः” [४१३।६६] इति वक्ष्यति । प्रागेतस्माद् द्वयोः पूर्वपरयोरेको भवतीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । वक्ष्यति आदेप् । देवेन्द्रः । द्वयोर्ग्रहणं किम् ? पूर्वपरयोर्युगपदादेशप्रतिपत्त्यर्थम् । इतरथा हि यत्र कानिर्देशः सावकाशास्तत्र पूर्वस्य निर्देशः । यत्रेभिर्निर्देशः सावकाशास्तत्र परस्य । ततश्च पर्यायेण कार्यं स्याद् यथा “सचस्योभौ” [५।४।१०५] इत्यत्र णकारद्वयम् । एवमिहापि कार्यद्वयं माभूदित्येकग्रहणं क्रियते ।

तद्वत् ॥४१३।७३॥ द्वयोरेक इति वर्तते । तयोरिव तद्वत् । तयोर्विद्यमानयोर्यत्कार्यं तत्कृतेऽप्येकादेशे यथा स्यात् । यः पूर्ववचनवमाश्रित्य कार्यं क्रियते, यच्च परं तत् कृतेऽप्येकादेशो भवति । असति सूत्रेऽवयवग्रहणेन न गृह्येत । क्षीरोदकवत् । पूर्वावयवे प्रयोजनम् । वामोरुरिति मृद ऊरित्यमृदो मृदमृदोरेकादेशो मृद्वद्भवति । यथा शक्येत कर्तुं मृद इति स्वादिविधिः । अन्यथा वृद्धः प्लक्ष इत्यादावेव स्यात् । परावयवे प्रयोजनम्-देवावित्यत्रौकारः सुप् । असुबकारः । सुबसुपोरेकादेशः सुबवद् भवति । यथा शक्येत कर्तुम् “सुम्मिडन्तं पदम्” [१।२।१०३] इति । अन्यथा सायुः पूज्य इत्यादावेव स्यात् । अधीत्येत्यत्र द्वयोरेकादेशोऽपि प्राश्रयस्तुक् सिद्धः । “उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः” [वा०] । तेन उपोह्यते । प्रोह्यते इत्यत्र “गेरूहः प्रः” [५।२।१३२] इति उभयाश्रयः प्रादेशो न भवति । इह कार्यातिदेशोऽभिप्रेतो न रूपातिदेशः । तेन वर्णाश्रये विधौ तद्वद्भावो न भवति । मालाभिरित्यत्र पूर्वान्तत्वमाश्रित्य “भिसोऽत ऐस्” [५।१।८८] इति न भवति । जुहावेत्यत्र “यस्य” [४।३।३०] इति ह्यतेजौ कृते “जेः” [४।३।६५] परपूर्वत्वे च तस्य परवद्भावात् “जातो गलः औ” [५।२।३७] इति न भवति । अस्यै अङ्कः परवद्भावाभावात् । “एङोऽति पदान्तात्” [४।३।६६] इति न भवति । अस्या अङ्क इति सिद्धम् । वत्कणात् स्वाश्रयमपि । तेन ङीटोस्तुक् प्रति परादित्वाभावे “वा पदस्य” [४।३।६४] इति विकल्पः सिद्धः । वृद्धेच्छत्रम् । वृद्धेच्छत्रम् । अपचेच्छत्रम् । अपचेच्छत्रम् । संवेजः कौ जिः । जेः पूर्वत्वम् । तस्य परादित्वाभावे प्राश्रयस्तुक् सिद्धः । समुत् ।

षत्वेऽसद्वत् ॥४१३।७४॥ षत्वे कर्तव्ये एकादेशोऽसद्वद्भवति । त्यादेशलक्षणे प्राप्ते प्रतिषेधार्थमिदम् । कोऽय । योऽस्य । कोऽस्मै । कोऽसिचत् । योऽसिचत् । “ह्यालिप्सिचः” [२।१।४६] इत्यद् । “एङोऽति पदान्तात्” [४।३।६६] इत्येकादेशस्यासिद्धत्वादिण उत्तरस्य त्यादेशसकारस्य षत्वं प्रसक्तं न भवति । “नाद्यन्ते” [५।४।७६] इति षत्वप्रतिषेधो न सिध्यति तद्वद्भावेन परादित्वादेकादेशस्य । ननु चैकपदाश्रये षत्वेऽन्तरङ्गे एकादेशस्यासिद्धत्वम् । अनित्यैषा परिभाषा । ततोऽङ्गधूरित्यत्र बहिरङ्ग ऊट् यणादेशो नासिद्धः । षेऽसद्वदिति सिद्धे षत्वे इति गुरुनिर्देशः किमर्थः ? पादान्तपदाद्योरेकादेशः षत्वेऽसद्वद्भवति । नान्यत्रेति

ज्ञापनार्थः । तेन उपसेदुषः पश्य । अनुषुषः पश्य । “वसोजिः” [४१११२०] “जेः [४१११५] पूर्वत्वम् । उकाराकारयोरेकादेशः षत्वेऽसद्वन्न भवति ।

आदेप् ॥४१३७५॥ अवर्यान्तादेचि परत एब् भवति । देवेन्द्रः । गन्धोदकम् । महर्षिः । द्वयोः स्थाने एको भवति । “एङि पररूपम्” [४१३८९] इत्यत्र परग्रहणं पूर्वापेक्षं तेन परस्यान्तरतमो एब् ऋवर्णं परतः प्रसज्यमान एव परस्यान्तरतमोऽकारः “रन्तोऽणुः” [११११४८] इति रन्तो भवति ।

एच्यैप् ॥४१३७६॥ अवर्यान्तादेचि परतो द्वयोरेक ऐब् भवति ।

“प्रसिद्धैकसुरैश्वरस्य सर्वज्ञस्य महौजसः । व्यतीतौपम्यधर्मार्थं वचः पायान्महौषधम् ॥”

“अन्नादूहिन्यामैववक्तव्यः” [वा०] अन्नौहिणी । “प्रादूहोढोढ्ये चैष्ये” [वा०] प्रौढः । प्रौढिः । प्रेषः । प्रेष्यः । “स्वादीरेरिणोः” [वा०] स्वैरं । स्वैरी । लिङ्गविशिष्टस्य स्वैरिणी । “ऋते भासे” [वा०] दुःखार्तः । ऋत इति किम् ? सुखेतः । भास इति किम् ? परमर्तः । स इति किम् ? सुखेनर्तः । “ऋण-दशप्रवत्सतरकम्बलवसनानामृणे” [वा०] ऋणार्णम् । दशार्णम् । प्रार्णम् । वत्सतरार्णम् । कम्बलार्णम् । वसनार्णम् ।

इत्येधत्पूट् सु ॥४१३७७॥ एति एधति ऊट् इत्येतेषु परतोऽवर्णान्तादैर् भवति । एचीति वर्तमानमेते-र्विशेषणम् । एधतेर्व्यभिचारभावात् । ऊट्स्वरूपेण गृह्यते । उपैमि । उपैषि । उपैति । उपैधते । प्रैधते । एङि-पररूपापवादः । पुरस्तादपवादोऽनन्तरस्य एङि पररूपस्य बाधकः नोत्तरस्य “ओमाङोः” [४१३८२] इति आङ पर-रूपस्य । तेन आ इतः । एतः । उपेतः । ऊट्-धौतः । धौतवान् । एचीत्येव । उपेतः । प्रेतः ।

अटश्च ॥४१३७८॥ एचीति निवृत्तमचीति वर्तते । अटश्च अचि द्वयोरेक ऐब् भवति । ऐद्दिष्ट । ऐद्दिष्ट । औञ्जीत् । औम्भीत् । ऐत्त । ऐहत । आध्नोत् । ऐन्धिष्यत् । औम्भिष्यत् । चशब्दोऽवधारणार्थः । अट एवैचि यथा स्यात् । यदन्यः प्राप्नोति तन्मा भूत् । औङ्कारमैच्छत् । औङ्कारीयत् । “एण्यतोऽपदे” [४१३४४] “ओमाङोः” [४१३८२] इति पररूपं प्राप्तम् । आ उट ओटः ओटमैच्छत् औटीयत् । “ओमाङोः” [४१३८२] इति पररूपं प्राप्तम् । उलामैच्छत् औलौयत् । “उसि” [४१३८३] इति पररूपं प्राप्तम् ।

धावृत्ति गेः ॥४१३७९॥ आदिति वर्तते । अवर्यान्ताद्देः ऋकारादौ धौ द्वयोरेक ऐब् भवति । उपाच्छति । प्राच्छति । उपाध्नोति । प्राध्नोति । प्रसज्यमान एवैप् “रन्तोऽणुः” [११११४८] इति रन्तो भवति । गेरिति किम् ? इहच्छति । प्रगता ऋच्छका अस्मिन् देशे प्रच्छको देशः । ऋतीति किम् ? प्रेच्छते । तपरकरणं किम् ? उप ऋकारीयति उपकरीयति । “वा सुपि” [४१३८०] इति विकल्पः प्रसज्येत । गेरिति निर्देशाद् धुग्रहणे लब्धे धाविति किम् ? धावेव यथा स्यात् “ऋत्यकः” [४१३९०५] इति प्रकृतिभावो धोर्मा भूत् ।

वा सुपि ॥४१३८०॥ ऋकारादौ सुब्धौ गेरिवर्णान्तस्य वा ऐब् भवति । उपार्षभीयति । उपर्षभीयति । प्रार्षभीयति । प्रर्षभीयति । “गेरध्वनः” [४१३८७] इत्यत्र यथा गिसंज्ञोपलक्षितानां ग्रहणं तथेह मा भूदिति धुग्रहण-मनुवर्तते । प्रर्षभं वनम् इत्यत्र न भवति ।

एङि पररूपम् ॥४१३८१॥ आदिति वर्तते । गेर्धाविति च । अवर्यान्ताद्देः एङादौ धौ पररूपमेकादेशो भवति । उपेलयति । प्रेलयति । उपोषति । ऐपि प्राप्ते “वा सुपि” [४१३८०] इत्यपि वर्तते । उपेलक्रीयते । उपैलक्रीयते । उपोदनीयति । उपौदनीयति । एङि परमिति सिद्धे रूपग्रहणादिष्टं लभ्यते । “एवे चानियोगे पररूपम्” [वा०] इहेव । अत्रेव । अनियोग इति किम् ? इहैव भव माऽय गाः । “शकन्ध्वादिषु पररूपम्” [वा०] शक-अन्धुः शकन्धुः । कर्क अन्धुः कर्कन्धुः । कुलटा । सीमन्तः केशेषु । सीमान्तोऽन्यत्र । “ओत्वोष्ठयोः से वा पररूपम्” [वा०] स्थूलोतुः । स्थूलौतुः । विम्बोष्ठी । त्रिम्बोष्ठी । “नासिकोदरौष्ठ” [१११४८] इत्यादिना ङी । स इति किम् ? वाक्ये मा भूत् । पश्योष्ठं देवदत्त ।

श्रोमाङ्गोः ॥४१३८२॥ गेरिति निवृत्तम् । आदिति वर्तते । श्रोम् आङ् इत्येतयोः परतोऽवर्णान्तात्पर-
रूपं भवति । का श्रोभिन्द्योच्चन् कोमित्यवोच्चत् । योमित्यवोच्चत् । सोमित्यवोच्चत् स्त्री । आङ्गि आ ऊढा
श्रोढा । अघोढा । कदोढा । सोढा स्त्री । आ उता श्रोता । कदोता । आङ्गनाङ्गोरेकादेशः । तद्वदित्याङ्ग्रहणेन
गृह्यते । गिध्वोर्यत्कार्यं तदन्तरङ्गमिति पूर्वमाङ्गः परेण योगः । मर्यादाभिविध्योश्च परेण योगे सति पूर्वेण सह
एच्यैप् प्रसज्येत । आ ऋणात् अर्णात् । अद्यर्णात् । आङ्गीति पररूपम् । ननु मध्येऽपवादोऽयमेच्यैपो बाधकः
कथमुत्तरस्य स्वेऽको दीत्वस्य स्वेऽको दीत्वेऽपीदमनुवर्तत इति तस्यापि बाधा ।

उसि ॥४१३८३॥ उसि परतोऽवर्णान्तात्पररूपं भवति । भिन्द्युः । छिन्द्युः । अपुः । अबुः । “आतः”
[२।४।६०] “लडो वा” [२।४।६१] इति जुस् । लिङ्गादेशे उसि प्रयोजनं नास्तीति जुवो ग्रहणम् । कोष्ठा ।
कोषिता इत्यत्र अनर्थकत्वात्क्षणात्क्षणात्क्षणात्क्षणात्क्षणात् । आदित्येव । अविभयुः ।

एप्यतोऽपदे ॥४१३८४॥ अकारस्य पररूपं भवति एप्यपदे परतः । पचन्ति । पचे । एपीति किम् ?
अपचे । आदिति वर्तमाने अत इति तपरकरणं किम् ? यान्ति । वान्ति । अपद इति किम् ? दण्डाग्रम् ।
पदादिरयमेप् ।

डाजर्हस्येतावतः ॥४१३८५॥ डाजर्हस्य योऽच्छब्दस्तस्येतौ पररूपं भवति । पटत् इति पटिति । छुपत्
इति छुपिति “नानर्थक्येऽन्तेऽज्ञोऽस्यविधिः” [प०] । इति सर्गस्यातः परत्वम् । डाजर्हस्येति किम् ? श्रदित्याह
श्रदिति । अव्यक्तानुकरणौकाचौ डाजमुत्पादयतः । इताविति किम् ? पटदत्र । अत इति किम् ? छुपिदिति

न छ्रेस्तो वा ॥४१३८६॥ म्रिवञ्जकस्य योऽच्छब्दस्तस्येतौ पररूपं न भवति तकारस्य तु वा भवति । पटत्
इति पटत्पटिति । पटत्-पटदिति । छुपच्छुपेति । छुपच्छुपदिति । “वीप्सा” [५।३।३] आदि सूत्रेण द्वित्वम् ।
समुदायानुकरणे भवत्येवातः पररूपम् । पटत्पटिति ।

श्रौ डाचि नित्यम् ॥४१३८७॥ डाजन्ते श्रौ परतो डाजर्हस्यातस्तकारस्य नित्यं पररूपं भवति । पट-
पटाकरोति । इदमेव ज्ञापकम् । टिखात्पूर्वं “डाचि” इति द्वित्वम् ।

स्वेऽको दीः ॥४१३८८॥ अकः स्वेऽचि परतो दीर्भवति । द्वयोरेक इति वर्तते । लोकाग्रम् । विद्यान्तः ।
कवीन्द्रः । मधुदकम् । पितृप्रभः । स्वे इति किम् ? दध्यत्र । अक इति किम् ? एप्यतोऽपदे इत्यनुवृत्तौ अग्रनये ।
नावावित्यत्रैकारौकारयोर्दीत्वे द्वयोरैक्यं प्रसज्येत । यथा सागता । अचीत्येव । दीध शीतम् । दीत्ववचनं त्रिमात्रा-
द्यादेशप्रतिषेधार्थम् ।

सुटि पूर्वस्वम् ॥४१३८९॥ अको दीरचीति वर्तते । अचि सुटि परतः पूर्वस्वं दीर्द्वयोरेको भवति । अग्नी ।
वायू । “एप्यतोऽपदे” [४।३।८४] इत्यनेन अकारे परतः पररूपविधिः स्वेऽको दीत्वमनन्तरं बाधते नोत्तरं सुटि
पूर्वस्वदीत्वम् । पूर्वग्रहणम् अग्नीत्यादिषु परस्वदीत्वनिवृत्त्यर्थम् । अक इत्येव । रायौ । रायः । द्वयोरेकत्वं स्यात् ।
अचीत्येव । देवः ।

शसि ॥४१३९०॥ शसि परतः पूर्वस्वं दीर्भवति । मालाः । बुद्धीः । कुमारीः । धेनुः पश्य ।

नश्च पुंसि ॥४१३९१॥ शसि परतः पूर्वस्वं दीर्भवति नकारश्चान्तादेशः पुंसि गम्यमाने । देवान् ।
कवीन् । पटून् । कर्तून् । पुंसीति लिङ्गनिर्देशः । लिङ्गं च प्रत्ययधर्मः । वस्तुधर्मे सत्यसति वा यत्र शब्दः
पुंलिङ्गाकारं प्रत्ययं जनयति तस्मिन् प्रत्ययधर्मे पुंसि गम्ये नकारो भवति । वस्तुनि नपुंसकेऽपि षष्ठान्
पश्य । स्त्रीरूपेऽपि वस्तुनि दारान् पश्य । स्थूरान् पश्य । अररकान् पश्य । स्थूराया अररकाया अपत्यानि
गर्गादित्वाद्यञ्, तस्य बहुत्वे “यज्जोः” [१।४।१३५] इत्युप् । “हृदुप्युप्” [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्य टापो-
निवृत्तौ शस्न (शवो नः) । इह च पुंलिङ्गाकारप्रत्ययाभावात् सत्यपि प्राणिधर्मे पुंस्वे न भवति । चञ्चाः
पश्य । वर्धिकाः पश्य । चञ्चा इव चञ्चाः चञ्चासदृशान् पुरुषान् पश्येत्यर्थः । स्त्रीवस्तुन्यपि भवति अकुंसान्
पश्य । असत्यपि वस्तुधर्मे नत्वं वृत्तान् पश्य ।

नेच्यात् ॥४३।६२॥ इच्चि सुटि परतोऽवर्णान्तापूर्वस्वं दीर्न भवति । इन्द्रौ । चन्द्रौ । विद्ये । श्रद्धे । इत्यत्र परत्वादुत्तरसूत्रेण प्रतिषेधो न्याय्यः । इचीति किम् ? देवाः । आदिति किम् ? अग्नी ।

द्यो जसि च ॥४३।६३॥ आदिति नाधिकृतम् । यन्ताज्जसिचि च परतः पूर्वस्वं दीर्न भवति । कुमार्यौ । कुमार्यः । वामोर्वौ । वामोर्वः । विद्ये । शुद्धे । माला इत्यत्र “स्वेको दीः” [४३।६३] इति दीत्वं द्रष्टव्यम् । द्य इति स्पष्टार्थं वचनम् । इच्चि प्रसंज्ञयाऽपि अवर्णस्य यद्यनेन प्रतिषेधः स्यान्नेच्यादिति सूत्रमनर्थकं स्यात् । कवयः । पटत्र इत्यत्र जसि परत्वादेया भवितव्यम् । देवाः । अग्नी । वायू इत्यत्र “सुटि पूर्वस्वम्” [४३।६६] इति सुङ्ग्रहणसामर्थ्यादीत्वम् ।

पूर्वोऽमि ॥४३।६४॥ अकोऽमि परतो द्वयोरेकः पूर्वो भवति । देवम् । कविम् । मालाम् । भानुम् । पूर्वग्रहणं पूर्वस्य दीत्वप्रतिषेधार्थम् । पूर्वरूपं यथा स्यात् । यदि पूर्वः प्रो द्वयोरेकादेशः प्रो भवति अथ दीसंज्ञो दीर्भवति । अचीत्यनुवर्तनान्मकारस्य पूर्वस्वं न भवति । अक इत्येव । रायम् । नावम् । सुटीत्येव । अचिनवम् । असुनवम् ।

जेः ॥४३।६५॥ जेरचि परतः परः पूर्वो भवति । इष्टः । उतः । गृहीतः । जिविधानसामर्थ्याद्यणादेशो न स्यात् । पूर्वत्वं पुनर्लभ्येत । इदं शकहे शकह्वर्थमिति वोरधः (ओरचः) प्रत्यासन्नस्य पूर्वत्वे कृते पुनः पूर्वत्वं न भवति ।

एङोऽति पदान्तात् ॥४३।६६॥ एङः पदान्तादति परतो द्वयोरेकः पूर्वो भवति । मुनेऽनघ । साधोऽनघ । एङ इति किम् ? दध्यत्र । अतीति किम् ? पटविद् । तपरकरणं किम् ? पटवायाहि । पदान्तादिति किम् ? नयनम् । मुनयः ।

डसिङसोः ॥४३।६७॥ एङोऽति वर्तते । एङो डसिङसोरति परतो द्वयोरेकः पूर्वो भवति । अपदान्तोऽयमारम्भः । कत्रेरागच्छति । कत्रेः स्वम् । पटोरागच्छति । पटोः स्वम् । डसिङसोरेङश्च यथासंख्यं न भवति । “ओरावश्यके” [१।१।१०२] “ओः पुयख्ये” [५।२।१७८] इति डसिना डसा च निर्देशात् ।

ऋत उत् ॥४३।६८॥ डसिङसोरति परत ऋत उद्भवति द्वयोरेक इत्येव । कर्तुरागच्छति । कर्तुः स्वम् । द्वयोः स्थान आदेशोऽन्यतरेण व्यपदेशं लभते इति “रन्तोऽखुः” [१।१।४८] इति रन्तत्वम् । “रात्सः” [५।३।४२] इति सखम् । डसिङसोः सकारस्य वा रिखविसर्जनीयौ रन्तत्वं दुर्लभपादं चेत् । ऋत इति तपरकरणं किमर्थम् ? “ओऽवात्” [१।२।४७] इत्यादावनुकरणस्य द्विमात्रस्य माभूत् । उदिति तपरकरणं स्वग्रहणनिवृत्त्यर्थम् ।

ख्यत्यादतः ॥४३।६९॥ ख्यत्यात्परयोर्डसिङसोरत उद्भवति । ख्यत्यादिति खीखिशब्दयोस्तीति-शब्दयोश्च यणादेशे कृते अन्तःकरणानुकरणनिर्देशः । सख्युरागच्छति । सख्युः स्वम् । पत्युरागच्छति । पत्युः स्वम् । अतीत्यनुवर्तमानेऽत इति स्थाननिर्देशो द्वयोरेकस्य निवृत्त्यर्थः । ख्यत्यादिति विकृतनिर्देशः किम् ? यणादेशाभावे मा भूत् । अतिसखेरागच्छति । अतिसखेः स्वम् । अतिपतेरागच्छति । अतिपतेः स्वम् । “स्वसखि” [१।२।६७] इत्यत्र पर्युदास आश्रितः सखिशब्दादन्यः समुदायः सुसंज्ञो भवति । इदं च विकृतनिर्देशस्य प्रयोजनम् । सह खेन वर्तते इति सखः सखमिच्छतीति सखीयति सखीयतेः क्विप् । अतः खम् । “बलि व्योः खम्” [४।३।५५] इति यकारस्य खम् । यत्नविधिं प्रत्यखस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । ननु “वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्” [५०] इति त्यखे त्याश्रयन्यायेनापि क्विपो नष्टस्य बलादित्त्वं नास्ति क्वात्पसंख्यानमित्यदोषः । डसिङसोः परतो यणादेशे सख्युरिति भवति । तथा लून्युः । पून्युः । लूनमिच्छति पूनमिच्छति । लूनीयतेः क्विबन्तस्य डसिङसोर्यणादेशः । नत्वस्यासिद्धत्वादुत्त्वं भवति ।

रेरुद्धसोः ॥४३१००॥ अत इत्यस्यार्थात्कान्तता । अतः परस्य रेरुत्वं भवति अकारे हसि च परतः । इन्द्रोऽत्र । यशोऽत्र । इन्द्रो भवति । यशो भाति । रेराश्रयात्सिद्धत्वम् । “ससञ्जुषो रिः” [५३१७६] इति रेरनुबन्धकरणादिह सक्तस्य (सकारस्य) रेरुत्वं न भवति । अरिनाशः । सानुबन्धकनिर्देशः किमर्थः ? स्वरत्र । प्रातर्भवति । अद्धसोरिति किम् ? इन्द्र इह । यशः शोभते । अदिति तपरकरणं किम् ? दीपयोः परतो मा भूत् । इन्द्र आयाति । तिष्ठतु पय-आ३ स्वदत् । “अनृतोऽनन्तस्य” [५३१६४] इत्यादिना पः । “प्रकृत्याऽचि दिपाः” [४३११०३] इति प्रकृतिवचनं ज्ञापकं सन्धिकार्ये पः सिद्ध इति प्रग्रहणेनाग्रहणम् । अत इत्येव । मुनिरसौ । अनुवर्तमानस्यातः तपरकरणं किम् ? स्वग्रहणं माभूत् । देवा अत्र । आगच्छ स्थूलशिरा अत्र ।

गोरिन्द्रेऽवङ् ॥४३१०१॥ अचीति वर्तते । गोः इन्द्रस्थेऽचि परतोऽवङादेशो भवति । गवामिन्द्रः गवेन्द्रः । डित्करणमन्यादेशार्थम् । अचीत्वप्राधान्यात्तदादावपि भवति । गवेन्द्रकुलम् ।

विभाषाऽन्यत्र ॥४३१०२॥ इन्द्रशब्दादन्यत्र शब्दे योऽच् तस्मिन् विभाषया गोरवङादेशो भवति । गवाग्रम् । गोऽग्रम् । गवाजिनम् । गोऽजिनम् । विभाषाग्रहणादिह नित्यं भवति । गवाद्वाः ।

प्रकृत्याऽचि दिपाः ॥४३१०३॥ दिसंज्ञाः पसंज्ञाश्च अचि परतः प्रकृत्या भवन्ति । मुनी इमौ । पटू इह । अधीयेते आगमम् । अमी अत्र । “ईदूदेद्दिद्विः” [१११२०] “झः” [१११२१] इति च दिसंज्ञाः । पः खल्वपि देवदत्त ३ अत्र त्वमसि । जिनदत्त ३ इदमानय । पविधिराश्रयात्सिद्धः । नेति कर्तव्ये प्रकृतिग्रहणं कृत्स्नस्य स्वरसन्धेः प्रतिषेधार्थम् । पुनरुज्ग्रहणं किम् ? परमचमाश्रित्य यत्कार्यं क्रियते तत्र प्रकृतिभावे यथा स्यात् । पूर्वमचमाश्रित्य यत्क्रियते तत्र माभूदित्येवमर्थम् । जानु उ अस्य रुजति । जानू अस्य रुजति । जान्वस्य रुजति । “निरेकाजनाङ्” [१११२२] इत्युकारस्य दिसंज्ञा । पूर्वेण सह स्वेऽको दीत्वे कृते । एकादेशो दिग्रहणेन गृह्यते । इति यणादेशस्य प्रकृतिभावः प्राप्तः । “मयो वो” [५३१५५] इति वकारादेशः ।

विभाषेकोऽस्वे प्रश्च ॥४३१०४॥ इकोऽस्वेऽचि परतो विभाषया प्रकृत्या भवन्ति प्रादेशश्च प्रकृतिभावे । दधि अत्र । दध्यत्र । कुमारि अत्र । कुमार्यत्र । विभाषाग्रहणं व्यवस्थितविभाषार्थम् । तेन दिपानामस्वेऽचि अनेन प्रकृतिभावविकल्पः प्रादेशश्च न भवति । पटू अत्र । देवदत्ता ३ इहान्वभि । सविधौ च न भवति । व्याकरणम् । न्याय्यः । न्यासः । कुमार्यर्थः । अस्व इति किम् ? दधीदम् । कुमारीयम् ।

ऋत्यकः ॥४३१०५॥ ऋकारे परतोऽको विभाषया प्रकृत्या भवन्ति पश्च भवति यदा प्रकृतिभावः । खट्व ऋश्यः । खट्वश्यः । माल ऋश्यः । मालश्यः । स्वेऽपि भवति । पितृ ऋश्यः । अन्यत्र पूर्वैरैव सिद्धम् । व्यवस्थितविभाषानुवर्तनादिह न भवति उपाध्नोति । प्राध्नोति । ऋतीति किम् ? दण्डाग्रम् । मालाग्रम् । तपरकरणं किम् ? देवदत्ताया ऋकारः देवदत्तकारः । दीपयोः परतो मा भूत् ।

चाऽपवदितौ ॥४३१०६॥ अपवत्कार्यं पसंज्ञकस्य वा भवति इतौ परतः । देवदत्त ३ इति देवदत्तेति । सुमंगल ३ इति सुमङ्गलेति । “दूराद्धूते” [५३१६२] इति पः । “प्रकृत्याऽचि दिपाः” [४३११०३] इति नित्यं प्रकृतिभावः प्रातो व्यवस्थितविभाषानुवर्तनाद्वाक्यादवच्छिद्य पदं येन शब्दपदार्थतया स्वरूपे व्यवस्थाप्यते तस्मिन्नितौ विकल्पोऽयम् । क्वचिदनितावपि । वशा३इयम् वशेयम् । वत्करणं पकार्यप्रतिषेधार्थम् । अप इत्युच्यमाने पस्यैव प्रतिषेधः स्यात् । ततश्च अग्नी३इति । वायू ३ इति । अत्र दिसंज्ञाश्रये प्रकृतिभावे सति त्रिमात्रतायाः श्रवणं न स्यात् । पसंज्ञाश्रयकार्यप्रतिषेधे हि दिसंज्ञाऽश्रयकार्यप्रतिषेधे हि प्रकृतिभावे सति “अनृतोऽनन्तस्य” [५३१६४] इत्यादिकृतायास्त्रिमात्रतायाः श्रवणं सिद्धम् ।

ई इत् ॥४३१०७॥ ईदन्तस्य इद् वा भवति । अनितिपराथोऽयमारम्भः । लुनीहि३इदम् । लुनीहीदम् । पुनीहि ३इदम् । पुनीहीदम् । “चि वाशीःप्रैषेबु मिळाकांचम्” [५३११०२] इति पः ।

द्विष उत् ॥४३१२०८॥ “एङोऽति पदान्तात्” [४३१६६] इत्यतः पद्ग्रहणमनुवर्तते । दिव्येतस्य पदस्योकारादेशो भवति । द्युभ्याम् । द्युभिः । पदस्येति किम् ? दिवा । दिवे । “निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य” [प०] इति मृद एव दिवेर्दिव्यत्यनेन सिद्धस्य ग्रहणं न धोरकारानुबन्धकस्य । अन्त्युभ्याम् । अन्त्युभिः । दिव्यतेः क्विप् । “च्छोः श्च” [४३११७इ] इति ऊट् । उदिति तपरकरणं किम् ? यावताऽर्धमात्रस्य हलः स्थाने भानन्तर्यान्मात्रिक एव भविष्यति । “च्छोः श्च” इत्यत्र द्वितीयनुवर्तनादूटोऽपि निवृत्त्यर्थं नोपपद्यते । इहाद्यौर्गौ भवतीति च्वावागते निवृत्ते ऋ (ऋ)संज्ञकस्य दिव उक्ते कृते द्यु भवतीति “च्छौ” [५२११३५] इति दीत्व निवृत्त्यर्थम् ।

हल्येतत्तदोऽरनञ्सेऽकोः सुखम् ॥४३१२०९॥ सन्वाविति वर्तते । एतत्तदोरककारयोर्हलि परतः सुखं भवत्यनञ्से । एष ददाति । स ददाति । हलीति किम् ? एषोऽत्र । सोऽत्र । एतत्तदोरिति किम् ? को दाता । यो धन्यः । अनञ्स इति किम् ? अनेषो ददाति । असो ददाति । अनञ्स इति प्रसज्यप्रतिषेधः । पर्युदासे हि उत्तर-
नञ्सेऽकोः एव सुखं स्यात् । परमैष ददाति । परमस ददाति । केवलयोरनञ्स इति किम् ? वाक्ये भवत्येव । नैष ददाति । नस ददाति । अकोरिति किम् ? एषको ददाति । सको ददाति । “तन्मध्यपत्तित-
स्तद्ग्रहणेन गृह्यते” [प०] इति प्राप्तिः । सग्रहणं किम् ? एतौ तौ चरतः । एतत्तदोरिति द्वित्वनिर्देशाद् वाया एकः सुगृह्यते । ईपो बहुल्वे हि एतत्तेषामिति ब्रूयात् । सुखमिति गमकत्वात्सः ।

सस्पर्युपात्कृजः सुड्भूषे ॥४३१२१०॥ सम्, परि, उप इत्येतैभ्यः परस्य कृजः सुडागमो भवति भूषेऽर्थे । संस्करोति । समस्करोत् । संस्कारः । अन्तरङ्गत्वेन द्वित्वाडागमाभ्यां प्राक्सुट् । परिष्करोति । “सिबु-
सहसुट्स्तुस्वञ्जाम्” [५१४५२] इति षत्वम् । पर्यस्करोत् । परिचस्कार । उपस्करोति । उपास्करोत् । उपचस्कार । भूष इति किम् ? उपस्करोति ।

समवाये ॥४३१२११॥ संसर्गः समुदायो वा समवायः । तस्मिन् समादिभ्यः कृजः सुड् भवति । तत्र न संस्कृतमनित्यम् अत्रापि कारणसमवायो गम्यते ।

उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारे ॥४३१२१२॥ उपात्परस्य कृजः प्रतियत्न वैकृत वाक्याध्याहार इत्येतेष्वर्थेषु सुड् भवति । विद्यमानस्य गुणाभिननपूर्वाजनं वा प्रतियत्नः । तत्र एधोदकस्योपस्कुस्ते । काण्डं शरस्योपस्कुस्ते । “प्रतियत्ने कृजः” [११४६०] इति कर्मणि ता । विकृतत्वं वैकृतम् । तत्र उपस्कृतं मुड्क्ते । उपस्कृतं गच्छति । वाक्यैकदेशो वाक्यगम्यमानार्थस्य वाक्यस्य वाक्यावयवस्य स्वरूपेणोपादानं वाक्याध्याहारः । तस्मिन् उपस्कृतं जल्पति । उपस्कृतमधीते । सोपस्कारं व्याचष्टे । पदान्तराण्यध्याहृतानि कथयतीत्यर्थः । एतेष्विति किम् ? उपकरोति ।

किरतेर्लव्णे ॥४३१२१३॥ उपादिति वर्तते । उपात्परस्य किरतेर्लवविषये सुड् भवति । उपस्कीर्य मद्रका लुनन्ति । उपस्कारं मद्रा लुनन्ति । “शब्दाभीक्ष्ण्ये” [२१४८] इति णम् । “वा चेष्टिवेष्टयोः” [५२११६३] इत्यतो विकल्पानुवृत्तेराभीक्ष्ण्येऽपि द्वित्वाभावः “युड्व्या बहुलम्” [२३१६४] इति बहुलवचनादानाभीक्ष्ण्ये वा णम् । लव इति किम् ? उपकिरति देवदत्तः ।

वधे प्रतेश्च ॥४३१२१४॥ प्रतेरुपाच्च परस्य किरतेः सुड् भवति वधेऽर्थे । प्रतिस्कीर्णं हि ते वृषल ब्रूयात् । उपस्कीर्णं हि ते वृषल भूयात् । अत्र वधः किरतेरभिधेयत्वेन विवक्षितो न विषयतया । तदुक्तम्—

सटाच्छ्टाभिन्नधनेन बिभ्रता नृसिंह सैहीमतनुं तनुं त्वया ।

स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैरुविदारं प्रतिचस्करे नखैः ॥ [शिशु० ११४७]

हतः इत्यर्थः । वध इति किम् ? प्रतिकीर्णं बीजम् । “हनश्च वधः” [२३१६३] इति हन्तेरचि वध इति भवति ।

चतुष्पाच्छकुनिष्वपाद्धर्षादौ ॥४३॥११५॥ अपात्परस्य किरतेश्चतुष्पात्सु शकुनिषु च यो हर्षादि-
त्तस्मिन् विषये सुङ् भवति । द्विविधिप्रकरणे “किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणे” [१२१३३] इत्यत्र स्थितो
हर्षादिर्गणो गृह्यते । हर्षं-अपस्किरते वृषभो हृष्टः । जीविकायाम्-अपस्किरते कुकुरो भक्षार्थी । कुलायकरणे-
अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी । चतुष्पाच्छकुनिष्विति किम् ? अपस्किरति देवदत्तो हृष्टः । हर्षादाविति किम् ? अप-
स्किरति धान्यं काकश्चापलेन ।

कुस्तुम्बुरुगोष्पदास्पदाश्चर्यावस्करापस्करापरस्परविष्किरमस्करमस्करिप्रतिष्कशप्र-
स्करवहरिश्चन्द्रपारस्करप्रभृतीनि च ॥४३॥११६॥ कुस्तुम्बुरुगप्रभृतीनि पारस्करप्रभृतीनि
च शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । कुस्तुम्बुरुशब्दो जातौ निपात्यते । कुस्तुम्बुरुर्धान्यकं तृणजातिः ।
तत्कलान्यपि कुस्तुम्बुरुणि । जातेरन्यत्र कुत्सितानि तुम्बुरुणि । कुत्सितानि तिन्दुकीफलानीत्यर्थः ।
गोष्पदशब्दे सुडागमः षत्वं च निपात्यते सेविते । गवां पदमस्मिन् देशे । गावः पद्यन्ते वाऽस्मिन्निति
गोष्पदो देशः । गोष्पदमरण्यम् । असेविते नञ्पूर्वस्य निपात्यते । न विद्यते गवां पदमस्याम् अगोष्पदा
अरण्यानी । सेवित्वप्रतिप्रेत्रे हि यत्र सेवित्वसम्भवस्तत्रैव स्यादन्यत्रासम्भवे न स्यादिति पृथगसेवित-
ग्रहणम् । न विद्यतेऽस्मिन्निति विग्रहात् । प्रमाणे गोष्पदमात्रं क्षेत्रम् । गोष्पदपूरं वृष्टो देवः । एतेष्विति किम् ?
गोष्पदम् । आस्पदमिति प्रतिष्ठायाम् । आस्पदमनेन लब्धम् । अन्यत्र आपदापदम् । आश्चर्यमित्यद्भुतेऽर्थे ।
आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत । आश्चर्यमाकाशेऽनिबन्धनानि नक्षत्राणि न पतन्ति । आचर्यं व्रतमन्यत्र । “चरे-
राडि चागुरौ” [वा०२१११८७] इति यः । अवस्कर इति वर्चस्के । अवपूर्वात्किरतेः कर्मणि “व्यग्रहवृहगमोऽञ्”
[२१३५२] इति अच् । कुत्सितं वर्चो वर्चस्कम् अन्नमलम् । तत्सम्बन्धाद्देशोऽपि तथोक्तः । अवकरोऽन्यत्र ।
अपस्कर इति रथाङ्गे । अपकीर्यतेऽसावित्यपस्करो रथावयवः । अपस्कर इत्यन्यत्र । अपरस्पर इति क्रिया-
सातत्ये । अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति । सततं गच्छन्तीत्यर्थः । अपरे परे चेति द्वन्द्वः ।

व्यान्तेऽह्वयशयमोनाशस्तुमः कामे मनस्यपि । हिते तते समो वा खं मांसस्य पचि युङ्घजोः ॥

इति समो मकारस्य खे । सतत शब्दाद्ध्यणि सातत्यम् । अपरपराः सार्थाः गच्छन्तीत्यन्यत्र । “विष्किर इति शकुनी
सुडागमो वा निपात्यते । विष्किरतीति विष्किरः विष्करो वा शकुनिः । “ज्ञाकृमी” [४१११०८] इत्यादिना कः ।
सुट् पक्षे “सिबुसहसुट्स्त्वञ्जाम्” [५१४५२] इति षत्वम् । मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः । मस्करो
वेणुः दण्डो वा हस्तिदमनः । मस्करी भिन्दुः । मकरो ग्राहः मकरी समुद्रः इत्यत्र । अथवा “शमस्य करे शख-
माडः करिशब्दे प्रादेशश्च निपात्यते वेणुपरिव्राजकयोः । प्रतिष्कश इति निपात्यते सहायश्चेत् ।” कश गति-
शासनयोरित्यस्य प्रतिपूर्वस्य पचाद्यचि सुडागमः षत्वं च निपात्यते । देशान्तरमहं व्रजामि भवने त्वं प्रतिष्कशः ।
प्रतिकशोऽन्यः । प्रस्करवहरिश्चन्द्रौ भवत ऋषी चेत् । प्रकण्वो देशः । हरिचन्द्रो माणवक इत्यन्यत्र ।
पारस्करप्रभृतीनां च खौ सुडागमो निपात्यते । पारस्करो देशः । कारस्करो वृद्धः । वनस्पतिश्चैत्ररथं पातीति ।
रथस्या नदी । किष्कुः प्रमाणम् । किष्किन्धा गुहा । तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तखं च ।
तस्करः । बृहस्पतिः । तत्करो बृहस्पतिरित्यन्यत्र । अजस्तुदम् । कास्तीरं च नगरम् । अजतुदम् कातीरमित्यन्यत्र ।
प्राप्तुम्पतौ गवि कर्त्तरि । प्रस्तुम्पति गौः । अन्यत्र प्रतुम्पति स्त्री । पारस्करप्रभृतिराकृतिगणः ।

प्रायाच्चित्तिचित्तयोः ॥४३॥११७॥ प्रायात्परयोः चित्तिचित्तयोः सुङ् भवति । प्रायस्य चित्तम् प्राय-
श्चित्तम् । प्रायश्चित्तिः । “स्तो रचुना श्चुः” [५१४११६] इति सुटः श्चुत्वम् ।

भादाविदमोऽन्वादेशोऽञ् ॥४३॥११८॥ भादौ परत इदमोऽशादेशो भवत्यन्वादेशो । यस्य पूर्वं
क्रियानुगुणद्रव्यैः संबन्धः कृतस्तस्यैव पश्चात्क्रियानुगुणद्रव्यान्तरेण संबन्धे क्रियमाणोऽन्वादेशोऽनुकथनं भवति ।
क्रियासंबन्धे इमकाम्यां छात्राभ्यां रात्रिरुषिता । अथो आभ्यां हिंसा च कृता । कुत्साऽज्ञातयोः “मिसर्वनाम्नोऽकूप्राक्तेः

को दः” [४।१।१३०] इत्यकि कृते साकइदमो हलि खं न भवति । “अनाप्यकः” [५।१।१७०] इत्यत्र अककारस्येत्यनुवर्तनात् तेनादेशः । गुणसंज्ञे इमकस्य छात्रस्य कुलमशोभनम् अथो अस्य शीलमपि । द्रव्यसंज्ञे इमकस्य राज्ञो जनपदो दुर्विहितः अथो अस्य भृत्याश्चावश्याः ।

टौसिप्येनदेतदश्च ॥४।३।११६॥ या ओस् इप् इत्येतेषु परत एतद् इदमश्च एनदित्ययमादेशो भवति अन्वादेशो । एतेन छात्रेण रात्रिरधीता अथो एनेन निपुणमधीता । एनदादेशे कृते त्यदाद्यत्वम् । दकारान्तत्वं नपुंसके प्रयोजयति । एतयोश्छात्रयोश्शोभनं शीलम् अथो एनयो रूपमपि । एतं छात्रं कौव्यमध्यापय अथो एनं गणितमपि । एतं जैनेन्द्रमध्यापय अथो एनं तर्कमपि । एतमर्थिनः संवध्नते अथो एनं मित्राणि च । इदमः खल्वपि अनेन छात्रेण रात्रिरधीता अथ एनेन निपुणमधीता । अनयोश्छात्रयोः शोभनं शीलम् अथो एनयो रूपमपि । इमं छात्रं कान्वयमध्यापय अथो एनं गणितमपि । इदं सरो भ्रमराः सेवन्ते अथ एनद्विहङ्गाश्च । इदमस्त्वैसोः परतः पूर्वोणाशादेशः प्राप्सोऽन्यत्राप्राप्त एनदादेशः ।

द्यावनुप् ॥४।३।१२०॥ द्याविति अनुविति च एतद् द्वितयमधिकृतं वेदितव्यम् । “ज्योतिरुद्गतौ” [१।२।३६] इति निर्देशान्न सामान्येन द्यावनुप् । प्राग्वोरधिकाराद् द्यावित्यधिकारः । अनुवधिकारः प्रागानङः । वक्ष्यति “कायाः स्तोकादेः” [४।३।१२१] स्तोकान्मुक्तः । अल्पान्मुक्तः । “स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं क्ते” [१।३।३४] इति षसः । द्विवचनचयोरभिधानान्न सः । अभिधानेन भवति । गोपुत्रः । वर्षासुजः इति । द्याविति किम् ? निष्कान्तः स्तोकाभिःस्तोकः । “अनङ् द्वन्द्वे” [४।३।१३८] इति द्यावानङादेशः । होतापोतारौ । नेष्टोद्गातारौ । द्याकित्येव । होतारौ । होतृभ्याम् । सुपि माभूत् । “इकः प्रो ङ्याः” [४।३।१७२] इति प्रादेशो द्वौ । ग्रामणिपुत्रः । सेनानिपुत्रः । सुपि माभूत् । ग्रामणीभ्याम् ।

कायाः स्तोकादेः ॥४।३।१२१॥ स्तोकादिभ्यः परस्याः काया अनुव् भवति द्वौ । “स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं क्तेन” [१।३।३४] इत्यत्र स्थितः स्तोकादिर्बह्वते । “स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं क्तेन” इति सः । अपादानलक्षणैर्यं का । काया इति किम् ? स्तोकेन मुक्तः स्तोकमुक्तः । स्तोकादेरिति किम् ? वृकाद्भयं वृकभयम् । कथं ब्राह्मणाच्छंसी ऋत्विग्विशेषः । उच्यते रूढशब्दोऽयं गोशब्दवदस्य व्युत्पत्तिः । ब्राह्मणादध्याहृत्यावयवमर्थं वा शंसतीत्येवंशीलः ब्राह्मणाच्छंसी । अपादाने का । “साधनं कृता” [१।३।२६] इति षसः । “वे कृति बहुलम्” [४।३।१३२] इत्यनुप् ।

भाया ओजस्सहोऽम्भस्तपोऽञ्जसः ॥४।३।१२२॥ ओजस्, सहस्, अम्भस्, तपस्, अञ्जस् इत्येतेभ्यः परस्या भाया अनुव् भवति । अञ्जसा कृतम् । सहसा कृतम् । अम्भसा कृतम् । तपसा कृतम् । “साधनं कृता बहुलम्” [१।३।२६] इति षसः ।

खौ मनसः ॥४।३।१२३॥ खुविषये मनसः परस्या भाया अनुव् भवति । मनसा गुप्ता । मनसा गता । करणे भा । द्याविति किम् ? मनोदत्ता ।

आज्ञायिनि ॥४।३।१२४॥ आज्ञायिनि द्वौ मनसः परस्या भाया अनुव् भवति । मनसा आज्ञानाति-त्येवंशीलो मनसाऽज्ञायी । अत्रापि यत्नोऽयम् । “पुंसाऽनुजो अनुषान्ध इत्यनुव्वक्तव्यः” [वा०] । अनुजातोऽनुजः । पुंसा हेतुना करणेन वा अनुजः पुंसाऽनुजः । “साधनं कृता” [१।३।२६] इति षसः । यदा पुमांसमनुजातस्तदा पुमनुज इति । अनुषा जन्मनाऽन्धो अनुषान्धः । “प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] इति भा । “भा गुणोक्त्याऽर्थेनोः” [१।३।२७] इति सः ।

डड्यात्मनः ॥४३१२५॥ डडन्ते द्यौ आत्मनः परस्या भाया अनुब् भवति । आत्मना पञ्चमः आत्मना षष्ठः । “प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] इति भा । डडन्तेन भान्तस्य सविधेरिदमेव ज्ञापकम् । गम्यमानक्रियापेक्षया करणे वा भा । आत्मना कृतः पञ्चमः आत्मना पञ्चमः कथमयं प्रयोगः । जनार्दनस्वात्मचतुर्थ एव । वसोऽयम् । आत्मा चतुर्थः । व्यपदेशिवद्भावादन्वयपदार्थत्वम् । यथा चारुशरीरः शिलापुत्रक इति ।
डेः खौ पराच्च ॥४३१२६॥ खुविषये पराच्चात्मनश्च परस्य डेरनुब् भवति । प्रतिपदोक्तस्य डेर्ग्रहणम् । परस्मैभाषः । परस्मैपदम् । आत्मनेभाषः । आत्मनेपदम् । तादर्थ्येऽबुक्ता । आत्मार्थं पदमात्मनेपदम् । सविधेरिदमेव ज्ञापकम् । असदर्थार्थं इति विकृतेः प्रकृत्या षस उक्तः ।

ईपोऽद्वलः ॥४३१२७॥ अदन्ताद्वलन्ताच्च सामर्थ्यान्मृदः परस्या ईपोऽनुब् भवति खुविषये । अरण्येतिलकाः । अरण्येमाषकाः । वनेकिंशुकाः । वनेवल्वजकाः । वनेहरिद्रकाः । पूर्वाह्नेस्फोटकाः । कूपेपिशाचकाः । “खौ” [१३१३८] इति षसः । हलन्तात् । त्वचिसारः । दृषदिमाषकः । युधिष्ठिरः । निपातनाद्द्विष्यः । नन्ववादेशेऽन्तरङ्गे कृते हलन्तात् न । “अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ग उन्वाधते” [प०] । अन्यथा नदीकुक्कुटिकादिषु यथादेशे सत्यनुप् प्रसज्येत । अद्वल इति किम् ? नद्यां कुक्कुटिका । भूमिशर्करा । भूमपाशः । “अखौ हृद्द्युभ्यामिबर्थे ईप् तस्याश्चानुब् वक्तव्यः” [प०] । हृदिस्पृक् । दिविस्पृक् । न वक्तव्यः । यो हि हृदयं स्पृशति । “वे कृति बहुलम्” [४३१३२] इत्यनुप् । स चानुप् हृदिति प्रकृत्यन्तरं यत्तस्मान्भवति । “अप्सुमति चालौ वक्तव्यम्” [वा०] । अप्सुमान् “अप्सव्य इत्यादावपि वक्तव्यः” [वा०] । अप्सु भवोऽप्सव्यः । अप्सुयोनः ।

कारे प्रायः ॥४३१२८॥ यूथे गृहे क्षेत्रे धान्याद्यं वस्तु रत्नानिर्देशार्थं यदवश्यं राज्ञे देयं स कारः । तद्वाचिनि द्यौ ईपोऽनुब् भवति खौ प्रायः । खाविति वर्तते । अद्वल इति च । अदन्तात् । स्तूपे शाणः । मुकुटे कार्षापणः । हले द्विपदिका । हले त्रिपदिका । द्वौ द्वौ पादौ देयौ । “वीप्सादृण्डत्यागे बुन्” [४३११०] इति बुन् । “खौ” [१३१३८] इति षसः । हलन्ताद्-दृषदि माषकः । समिधि माषकः । खुविषये पूर्वेष्वैव सिद्धे प्रायोग्रहणार्थमेतत् । तेन कारे क्वचिदनुम्न भवति । यूथे पशुः । यूथपशुः । यूथे वृषः । यूथवृषः । “खौ” [१३१३८] इति षसः । कार इति किम् ? अभ्याहिते पशुः । कारादन्यस्य देयस्य नामैतत् । उप् युंपरि पशुर्देय इत्यर्थः । “ईपोऽद्वलः” [४३११२७] इत्यनेनापि कारग्रहणादिहानुम्न भवति । अद्वल इत्येव जङ्घाकार्षापणः । मषीकार्षापणः । नदीदोहः । कारसंज्ञा एताः ।

हलि ॥४३१२९॥ हलादौ कारे द्यौ ईपोऽनुब् भवति । स्तूपेशाणन् । नियमार्थमिदम् । हलादावेव नाजादौ । अविकटोरणः ।

मध्यान्ताद्गुरौ ॥४३१३०॥ मध्य अन्त इत्येताभ्याम् ईपोऽनुब् भवति गुरौ द्यौ । मध्येगुरुः । अन्ते गुरुः । सविधेरिदमेव ज्ञापकम् । अवंज्ञाऽर्थोऽयं यत्नः ।

अकामेऽमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गात् ॥४३१३१॥ मूर्धमस्तकवर्जितात्स्वाङ्गात्परस्या ईपोऽनुब् भवति-अकामे द्यौ । कण्ठेकालः । उरसिलोमा । वहे गडुः । उदरे मणिः । व्यधिकरणानामपि क्वचिद्वसः । उरसिलोमश इत्यत्र मत्वर्थीये कृते उरसीत्यनेन योगः । अकाम इति किम् ? मुखे कामोऽस्याः मुखकामा स्त्री । अमूर्धमस्तकादिति किम् ? मूर्धशिखः । मस्तकशिखः । उभयप्रतिषेधात्स्वरूपग्रहणम् । तेन पर्यायादनुप् । शिरसिशिखः । स्वाङ्गादिति किम् ? पानशौण्डः । स्वाङ्गादिति कर्तुमशक्यम् । मूर्धमस्तकपर्युदासेन स्वङ्ग एव सात्ययात् । तत्क्रियते “अद्रवं मूर्तिमद्” इत्यादिपरिभाषिकस्वाङ्गसम्प्रत्ययार्थम् । तेनाप्राणिस्थादनुम्न भवति । मुखे पुरुषा अस्याः मुखपुरुषा शाला । अद्वल इत्येव । अङ्गुलित्रयः । जङ्घावलिः । वसाविमौ । अवंज्ञार्थमारम्भः ।

षे कृति बहुलम् ॥४३१३२॥ षे कृदन्ते द्यौ बहुलमीपोऽनुब् भवति । बहुलग्रहणं सर्वविकल्पसंग्र-
हार्थम् । स्तम्भेरमः । कर्णोजपः । “प्रावृड् वर्षाशरत्कालदिवां जेऽनुप्” [वा०] प्रावृषिजः । वर्षासुजः । शरदिजः ।
कालेजः । दिविजः । न भवति कुरुचरः । मद्रचरः । “इन्सिद्धबध्नातिस्थेषु च न भवति” [वा०] स्थण्डिलशायी ।
स्थण्डिलवर्ती । “व्रते” [१२१६८] इति णिन् । साङ्काश्यसिद्धः । काम्पिल्यसिद्धः । चक्रवन्धनम् । चक्रवन्धनम् ।
समस्थः । विषमस्थः । कूटस्थः । पर्वतस्थः । समानाधिकरणे च नेष्यते । परमे कारके । “वर्षक्षरशरवराज्जे द्विधा”
[वा०] वर्षजः । वर्षेजः । क्षरजः । क्षरेजः । शरजः । शरेजः । वरजः । वरेजः । “शयवासवासिष्वकैलवाचिनो द्विधा”
[वा०] खशयः । खेशयः । विलशयः । विलेशयः । वनवासः । वनेवासः । ग्रामवासः । ग्रामेवासः । नववासी ।
नवेवासी । ग्रामवासी । ग्रामेवासी । अकालवाचिन इति किम् ? पूर्वाह्णेशयः । अपराह्णेशयः । “बन्धे द्विधा”
[वा०] हस्तेबन्धः । हस्तबन्धः । स्वाङ्गादिति नित्यं प्राप्तिः । चक्रबन्धः । चक्रवन्धः । बध्नातौ अनुप् प्रतिषेधः प्राप्तः ।
अद्भल इत्येव । भूमिशयः । गुप्तिबन्धः । “कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि” [प०] अवततेनकुलस्थितम् । उदके
विशीर्णम् । “चेपे” [१३१४१] इति षसः । “क्वचिदन्यत्रापि ” । ब्राह्मणाच्छंसी । पूर्वस्यैवायं प्रपञ्चः ।

भकालतनेकालेभ्यो वा ॥४३१३३॥ झसंज्ञके कालशब्दे तनशब्दे च परतः कार्लिवाचिभ्यः परस्या
ईपो वाऽनुब् भवति । भ इति ततमौ । “तादी भः” [४११११७] इति वचनात् । पूर्वाह्णेतारम् । पूर्वाह्णेतरे ।
अस्मिंश्च पूर्वाह्णे अस्मिन्नतिशयेन पूर्वाह्णे इति विगृह्यते । “द्विविभज्ये तरेयसू” [४११११६] इति । अहराश्रयस्य
पूर्वस्य प्रकर्षेतरः । अनुपपत्ते “किमेन्मिङ् भिष्मादामद्रव्ये” [४२१२०] इति एतदन्तात्परौ भ इत्याम् भवति ।
सर्वेषु पूर्वाह्णेषु अतिशयेन पूर्वाह्णे इति विगृह्यते । “तमेष्ठावतिशयाने” [४११११४] इति तमः । पूर्वाह्णेतमाम् ।
पूर्वाह्णेतमे भुङ्क्ते । पूर्वाह्णेकाले “विशेषणं विशेष्येणेति” [१३१५२] षसे कृते । पूर्वाह्णेकाले पूर्वाह्णेकाले गतः ।
पूर्वाह्णे जातो भवो वा पूर्वाह्णेतनः । पूर्वाह्णेतनः । “वा पूर्वापरादह्णात्” [३२११४१] इति तनट् । इदमेव ज्ञापकं सुव-
न्ताद् हृदुत्पत्तेः । कालेभ्य इति किम् ? शुक्लतरे । शुक्लतमे । अद्भल इत्येव । रात्रितरायां गतः । अस्यां च रात्रौ
अस्यामतिशयेन रात्राविति । “त्यग्रहणे चाकायः” [प०] इति कान्तात्परौ भक्तनौ स्वरूपेण गृह्येते न तदन्तविधिना ।
अपि च “हृदयस्य हृल्लेखयाचलासेषु” [४३११६१] इत्यत्राण्ग्रहणेन सिद्धे लेखग्रहणं ज्ञापकं “द्यावित्यधि-
कारे त्यग्रहणं स्वरूपग्रहणमेव” [प०] ।

ताया आक्रोशे ॥४३१३४॥ ताया अनुब् भवति द्यौ आक्रोशे गम्यमाने । चौरस्य कुलम् । दासस्य
कुलम् । वृषलस्य भार्या । “ता” [१३१७०] इति षसः । आक्रोश इति किम् ? मोक्षमार्गः । असत्याविरहे
दासकुलमिति भवति । ताया इति योगविभागः । “तेन वाक्पिदक्पश्यद्भ्यो युकिदण्डहरेष्वनुप्” [वा०] वाचो युक्तिः ।
दिशोदण्डः । पश्यतोहरः । “ता चानादरे” [१४१४६] इति ता । “देवानां प्रियादिष्वनुप्” [वा०] देवानां प्रियः ।
दिवोदासः । आनुयायणः । नडादित्वात्फण् । आनुयायणपुत्रिणा । आमुष्यकुलिका । मनोज्ञादिपाठाद्बुज् । “शुनः
खौ शेषपुच्छलाङ्गुलेषु” [वा०] शुनःशेषः । शुनःपुच्छः । शुनोलाङ्गुलः ।

पुत्रे वा ॥४३१३५॥ पुत्रे द्यौ ताया वाऽनुब् भवति आक्रोशे । दास्याः पुत्रः । दासीपुत्रः । चौर्याः
पुत्रः । चौरीपुत्रः । पूर्वेण नित्यं प्राक्तः ।

ऋतो विद्यायोनिःसंबन्धात् ॥४३१३६॥ ऋकारान्तेभ्यो विद्यासंबन्धेभ्यो योनिसम्बन्धेभ्यश्च
परस्यास्ताया अनुब् भवति । सामथ्याद्विद्यायोनिःसंबन्धि द्यौ । होतुः पुत्रः । होतुरन्तेवासी । पोतुः पुत्रः । पोतु-
रन्तेवासी । योनिसम्बन्धात् । मातुः पुत्रः । मातुरन्तेवासी । पितुः पुत्रः । पितुरन्तेवासी । ऋत इति किम् ?
उपाध्यायपुत्रः । मातुलपुत्रः । उपाध्यायशिष्यः । पुत्रशिष्यः । विद्यायोनिःसम्बन्धादिति किम् ? कर्तृपुत्रः ।
कर्तृशिष्यः । विद्यायोनिःसम्बन्धादिति किम् ? होतृग्रहम् । पितृधनम् ।

वा स्वसृपत्योः ॥४३१२३७॥ ऋकारान्तेभ्यो विद्यायोनिबंधेभ्यः परस्यास्ताया वाऽनुच् भवति स्वसृपत्योः परतः । मातृष्वसा । मातुः स्वसा । मातुः ष्वसा । पितृष्वसा । पितुः स्वसा । पितुः ष्वसा । उपि “मातृपितृभ्यां स्वसुः” [५४१६६] इति पत्वम् । अन्यत्र “वाऽनुपि [५४१६७] इति वा षत्वम् । दुहितुः पतिः । दुहितृपतिः । स्वसुः पतिः । स्वसृपतिः । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पः ।

आनङ् द्वन्द्वे ॥४३१२३८॥ ऋतो विद्यायोनिबंधेऽन्तः कृते वर्तमानम् अर्थात्तान्तं सम्पद्यते । ऋकारान्तानां विद्यायोनिबंधवानां यो द्वन्द्वस्तत्र द्यौ पूर्वस्यानङादेशो भवति । होतपोतारौ । नेष्टोद्गातारौ । प्रशास्ताप्रतिहर्तारौ । एककर्तृकर्मणि विद्याकृतः संबन्धोऽस्ति । योनिबंधे मातापितरौ । मातानान्दारौ । नकारोच्चारणं किम् ? आ इत्युच्यमाने “रन्तोऽणुः” [१११४८] इति रन्तः स्यात् । ऋत इति किम् ? पितृपितामहौ । विद्यायोनिबंधादिति किम् ? कर्तृकारयितारौ । सम्बन्धग्रहणं किम् ? पितृभ्रातरौ । नात्र विद्यातो योनितो वा परस्परसंबन्धोऽस्ति । मण्डूकश्रुत्या पुत्रग्रहणमनुवर्तते । तेन पुत्रेऽपि द्यौ ऋकारान्तस्य आनङ् भवति । पितापुत्रौ । मातापुत्रौ ।

देवताद्वन्द्वे ॥४३१२३९॥ देवतावाचिनां च द्वन्द्वे द्यावानङादेशो भवति । इन्द्रावरुणौ । इन्द्रासोमौ । इन्द्रावृहस्पती । सूर्याचन्द्रमसौ । द्वन्द्व इति वर्तमाने पुनर्द्वन्द्वग्रहणं सहजापनिर्देशार्थम् । तेन ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशालौ इत्येवमादिषु शास्त्रे सहदाननिर्देशाभावान्न भवति । इष्टद्वन्द्वपरिग्रहार्थं वा पुनर्वचनम् । अत्यन्तसहचरिते लोकविद्यते द्वन्द्वशब्दो निपातितः । ततो लोकप्रसिद्धसाहचर्याणामानङ् भवति । “वायोरुभयत्र प्रतिषेधः इष्यते” [वा०] अग्निवायू । वायव्गनी ।

सोमवरुणेऽग्नेरीः ॥४३१२४०॥ सोमवरुण इत्येतयोः परतोऽग्नेरीकारादेशो भवति देवताद्वन्द्वे । अग्नीपोमौ । अग्नीवरुणौ । अन्तस्यालः स्थाने आनङोऽपवाद ईकारः । “स्तुत्सोमौ चाग्नेः” [५४१६५] इति षत्वम् । द्वन्द्वे इत्येव । उपचाग्निस्सोमौ नाण्डकौ ।

ऐपीत् ॥४३१२४१॥ साहचर्यादैव् भाजि द्यौ अग्नेरिकारादेशो भवति देवताद्वन्द्वे । अग्निश्च वरुणश्च देवते अस्या अग्निवारुणौ । अग्निमारुतम् । देवतार्थेऽपि उभयोः पदयोरैपि कृते ईत्वानङोरपवाद ईकारः । “विष्णोः प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा] अग्निश्च विष्णुश्च देवतेऽस्य आग्नीवैष्णवम् । आनङेव भवति । ऐपीति किम् ? आग्नेन्द्रः । “नेन्द्रस्य” [५२१०७] इतिद्यो रैप्रतिषेधः ।

दिवो द्यावा ॥४३१२४२॥ दिवो द्यावा इत्ययमादेशो भवति द्यौ देवताद्वन्द्वे । द्यौश्च भूमिश्च द्यावाभूमी । द्यावानक्ते । द्यावाक्षमै । अनेकास्त्वात्सर्वादेशः ।

दिवसश्च पृथिव्याम् ॥४३१२४३॥ दिवो दिवस इत्ययमादेशो भवति द्यावा च पृथिव्यां द्यौ देवताद्वन्द्वे । दिवस्पृथिव्यौ । द्यावापृथिव्यौ । उच्चारणार्थेनाभारेण निर्देशो रित्त्वानङनार्थः ।

उषासोषसः ॥४३१२४४॥ उषस उषासा इत्ययमादेशो भवति द्यौ देवताद्वन्द्वे । उषश्च नक्तम् च उषासानक्तम् । उषासानक्ते । नक्तं शब्दो मकारान्तो भिर्बन्धकोऽकारान्तश्च नपुंसकलिङ्गोऽस्ति ।

मातरपितरौ वा ॥४३१२४५॥ मातरपितराविति वा निपात्यौ । मातरपितरौ । द्यौ ऋकारस्याभावो निपात्यते । पदे “आनङ् द्वन्द्वे” [४३१२३८] इत्यानङि कृते मातापितरौ ।

स्त्युक्तपुंस्कादनूरेकार्थेऽडट्प्रियादौ स्त्रियां पुं वत् ॥४३१२४६॥ उक्तपुंस्कात्परो यः स्त्रीत्यः तदन्त एकार्थे द्यौ स्त्रियां वर्तमाने डडन्तप्रियादिवर्जिते पुं वद्भवति । स्थानेऽन्तरतम इत्यन्तरतमतः पुंशब्देन तुल्यो भवतीत्यर्थः । दर्शनीया भार्या अस्य दर्शनीयभार्यः । शोभनभार्यः । चारुङ्गः । स्त्री इति किम् ? ग्रामणि कुलं दृष्टिरस्य ग्रामणिदृष्टिः । उक्तपुंस्कादिति किम् ? माला वृन्दारिकः । तथा द्रणीभार्यः कच्छपः । वरदाभार्यौ

हंमः । बडवाभार्योऽश्वः । तथा अङ्गारकाः शकुनयः । कालिकाश्चैपां स्त्रियः । कालिकाभार्या अङ्गारकाः । नहिं द्रुण्यादयः शब्दाः समानायामाकृतौ पुंसि वृत्ताः । पुंवद्भावेऽर्थतः आन्तरतभ्ये कच्छुपादिप्रयोगः प्रसज्येत । अनूरिति किम् ? वामोरुभार्यः । अनूरिति स्त्रीत्यर्थनामाद् अन्योऽपि स्त्रीत्य एव गृह्यते इति स्त्रीग्रहणमनर्थकं तत्कृतमस्त्रीत्यान्तापि स्त्री पुंवद्भवतीति ज्ञापनार्थम् । ऐडिविडभार्यः । पार्थभार्यः । दारदभार्यः । औसिजभार्य इति सिद्धम् । इडिविड पृथु अनयो राष्ट्रसमानशब्दत्वादपत्यार्थेऽञ् । दरद, उसिजा आभ्यां द्व्यञ्मगधेत्यादिनाऽण् । स्त्रियाम् “अतोऽप्राच्यभर्गादेः” [३।१।१५८] इत्यणञोऽण् । इडिविडभार्या अस्येति पुंवद्भावे ऐडिविडभार्य इत्यादि । एकार्थ इति किम् ? कल्याण्या माता कल्याणीमाता । अडट्प्रियादाविति किम् ? कल्याणी पञ्चमा रात्रयः । कल्याणीपञ्चमः । कल्याणीदशमः । “डट्स्त्रीप्रमाद्योरः” [४।२।११६] इत्यः सान्तः । यदि डडन्ता स्त्री तद्गुणसंविज्ञानादिना प्रधानं तदा पुंवद्भावप्रतिषेधः सान्तश्चाकारो वेदितव्यः । इह माभूत् कल्याण-पञ्चमीकः पत्नः । कल्याणीमनोज्ञः । प्रिया । मनोज्ञः । कल्याणी । सुभगा । दुर्भगा । भक्तिः । सचिवा । स्वा । कान्ता । समा । चपला । दुहिता । वामा इति प्रियादिः । दृढं भक्तिरस्य दृढभक्तिः । शोभनभक्तिरित्यादौ न पूर्वपदं स्त्रीलिङ्गमिति । तेन प्रियादौ द्यौ पूर्वस्य टात्राशंका न कर्तव्या । स्त्रियामिति किम् ? कल्याणी प्रधान-मेषां कल्याणीप्रधानाः । उक्तः पुमान् समानायामाकृतौ अभिन्ने प्रवृत्तिनिमित्ते जात्यादिके येन शब्देन स तथोक्तः । अथवा उक्तः पुमान् यस्मिन्नर्थे त्यादिके स तथोक्तः । तद्वाच्यपि शब्द उक्तपुंस्क इति व्युत्पादनं किमर्थम् । द्रोणीभार्यः । कुटीभार्यः । अत्र द्रोणकुटशब्दौ आकृत्यन्तरे पुलिङ्गौ । कथं गर्गभार्यः, प्रसूतभार्यः । प्रजात-भार्यः इति । अत्राप्येकजात्यपेक्षया कथञ्चित्समानाकृतित्वमूह्यम् ।

तसादौ ॥४।३।१४७॥ तसादिषु परतः उक्तपुंस्कादन्ः स्त्रीपुंवद्भवति । आदिशब्दः प्रकारवाची । तस् । त्र । तर । तम । चरट् । जातीय । देश्य । देशीय । कल्प । पाश । रूप । था । थम् । दा । हिं । थ्य । केषु परतः । तस्यास्ततः । तस्यां तत्र । आद्यतर । आद्यतमा । पट्वी भूतपूर्वा पटुचरी । पट्वीप्रकार । पटु-जातीया । ईपदसिद्धा पट्वी पटुदेश्या । पटुदेशीया । वृद्धकल्पा । याप्या वृद्धा वृद्धपाशा । प्रशस्ता वृद्धा वृद्धरूपा । तथा प्रकृत्या तथा । कथा प्रकृत्या कथम् । तस्यां वेलायां तदा । अस्यां वेलायाम् एतर्हि । अजाथे हितम् अजथ्यम् । “अजाविभ्यां थ्यः” [३।४।६] इति थ्यः । दरच्छुब्दात्के पुंवद्भावे च कृते दारदिका । के पुंवद्भावात्परत्वेन प्रादेशः । पटिवका । मृदिका । बह्वल्पार्थाच्छसि बह्वीभ्यो देहि बहुशो देहि । अल्पाभ्यो देहि अल्पशो देहि । “गुणवचनात्त्वतोः” [वा०] पट्व्या भावः पटुत्वम् । पटुता । गुणवचनादिति किम् ? क्षत्रियात्वम् । क्षत्रियाता । कठीत्वम् । कठीता । “भस्य हृत्यडे पुंवद्भावो वक्तव्यः” [वा०] हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम् । ईखस्य स्थानिवद्भावाद्द्विखं न स्यात् । अट इति किम् ? श्यैन्याः अपत्यं श्यैनेयः । रौहिणेयः । कथम् अग्नयी देवता अस्य आग्नेयः ? “अग्निक्लिभ्यां ढण्” [३।२।२८] इति । “ढेऽपि क्वचित्पुंवद्भावो वक्तव्यः” [वा०] “अण्डसोश्च” [वा०] । भवत्या इदं भावत्कम् । भवदीयम् । अथस्यायां पुंवद्भावे “इसुसुक्तः कः” [५।२।५२] इति कादेशः ।

क्यङ् मानिनोः ॥४।३।१४८॥ क्यङ् मानिनि च परत उक्तपुंस्कादन्ः स्त्री पुंवद्भवति । एनीवाचरति एतायते । हरिणीवाचरति हरितायते । मानिनि द्यौ । इमां दर्शनीयां मन्यते दर्शनीयमानी देवदत्तः । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि” [प०] । दर्शनीयां मन्यते देवदत्तां जिनदत्तां दर्शनीयमानिनी । एकार्थं स्त्रीलिङ्गे द्यौ पूर्वैशैव सिद्धः पुंवद्भावः । दर्शनीयामात्मानं मन्यते दर्शनीयमानिनी स्त्री ।

न बुहृत्कोडः ॥४।३।१४९॥ बोहृत्श्रयः ककारस्तदुडः स्त्रिया न पुंवद्भावः । बु—पात्रिकाभार्यः । कारिकाभार्यः । लाक्षिकीतः । लाक्षिकीपाशा । लाक्षिकीयते । लाक्षिकीमानिनी स्त्री । विलोपिकाया धर्म्यं ‘वैले-पिकम् । “अन्महिष्यादेः” [३।३।१६६] इत्यणि कृते “भस्य हृत्यडे” [वा०] इति पुंवद्भावः प्राप्तः । पुंवद्भावे हीत्वनिवृत्तिः स्यात् । सामान्येनायं प्रतिषेधः । बुहृद्ग्रहणं किम् ? मूकभार्यः । जागरूकभार्यः । वराकभार्यः ।

डट्स्वोः ॥४३१२५०॥ डडिति प्रत्याहारेण डडन्ता खुश्च स्त्री न पुं वद्भवति । पञ्चमीभार्यः । दशमीभार्यः । पञ्चमीतमः । पञ्चमीपाशः । पञ्चमीयते । पञ्चमीमानिनी । स्त्री—दत्ताभार्यः । दानक्रिया व्युत्पत्तिद्वारेण संज्ञाशब्देऽप्युक्तपुंस्त्वमस्ति । दत्तो माणवकः इति पुं वद्भावः प्रातः । एवं गुताभार्यः । दत्तातः । गुतातः । दत्तिकामानिनी । दत्तिकायते ।

ञिण्डुदरक्तविकारे ४३१२५१॥ रक्तविकारवर्जितेऽर्थे यो हृत् ञिण्त् तदन्तस्त्री न पुं वद्भवति । जित्-श्रौत्सीभार्यः । णित्-स्रौत्नीभार्यः । माथुरीभार्यः । अर्धखार्यो भवा अर्धखारी । “परिभाष्यस्थानतोऽर्धाद्वा पूर्वस्थ” [५२।३२] नैप् । अर्धखारी भार्या अस्य अर्धखारीभार्यः । वैयाकरण्यी भार्या अस्य वैयाकरण्यीभार्यः । स्रौत्नीतः । स्रौत्नीपाशा । स्रौत्नीयते । स्रौत्नीमानिनी । ञिण्दिति किम् ? तावतीभार्या अस्य तावद्भार्यः । मध्ये भवा मध्यमा भार्या अस्य मध्यमभार्यः । त्रिपृष्ठायनिभार्यः । त्रिपृष्ठस्यापत्यं स्त्री “फिरदोः” [३।१।१४७] इति फिः । “इतो मनुष्यजातेः” [३।१।५५] इति ङी पुं वद्भावः । हृदिति किम् ? पुष्पलावी भार्या अस्य पुष्पलावभार्यः । अरक्तविकार इति किम् ? कषायेण रक्ता काषायी बृहतिकाऽस्य काषायबृहतिकः । लोहस्य विकारो लौही ईषा अस्य लौहिषो रथः ।

अमानिनीत्स्वाङ्गात् ॥४३१२५२॥ स्वाङ्गात्परो य ईत् तदन्ता स्त्री न पुं वद्भवति अमानिनि ङौ । दीर्घकेशीभार्यः । श्लक्ष्णमुखीभार्यः । दीर्घकेशीतः । दीर्घकेशीपाशा । दीर्घकेशीयते । अमानिनीति किम् ? श्लक्ष्णमुखमानिनी । ईदिति किम् ? पृथुजवनभार्यः । अकेशभार्यः । “न क्रोडादिबह्वचः” [३।१।४६] “सहनञ् विद्यमानात्” [३।१।५०] इति च ङीप्रतिषेधः । स्वाङ्गादिति किम् ? पटुभार्यः ।

जातिश्च ॥४३१२५३॥ जातिश्च स्त्री न पुं वद्भवति अमानिनि ङौ । कठीभार्यः । बह्वृचीभार्यः । कठीतः । कठीपाशा । कठीयते । “बृद्धं च चरणैः सह” इति वचनाज्जातिः । अमानिनीत्येव । कठमानी । कठमानिनी । चशब्दः किमर्थः ? “भस्य हृत्यडे” [वा०] इति प्रातस्य पुं वद्भावस्य प्रतिषेधो न भवतीत्यनुक्तसन्तुच्यर्थः । तेन हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम् ।

पुं वद्यजातीयदेशीये ॥४३१२५४॥ उक्तपुंस्कादन्तः स्त्री पुं वद्भवति यसंज्ञके से स्त्रीलिङ्गे ङौ जातीयदेशीय इत्येतयोश्च परतः । यसे आद्यसूत्रेण पुं वद्भावः सिद्धः । जनीयदेशीयदेशे तसादौ पाठात् । तस्मात्प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थं आरम्भः । “न बुह्वक्कोः” [४।३।१४६] इत्युक्तं तत्रापि पुं वद्भवति । पाचकवृन्दारिका । पाचकजातीया । पाचकदेशीया । “डट्स्वोः” [४।३।१५०] इत्युक्तं तत्रापि भवति । पञ्चमवृन्दारिका । पञ्चमजातीया । पञ्चमदेशीया । दत्तवृन्दारिका । दत्तदेशीया । “ञिण्डुदरक्तविकारे” [४।३।१५१] इत्युक्तं तत्रापि भवति श्रौत्सवृन्दारिका । श्रौत्सजातीया । श्रौत्सदेशीया । स्रौत्सवृन्दारिका । स्रौत्सजातीया । “अमानिनीत्स्वाङ्गात्” [४।३।१५२] इत्युक्तं तत्रापि भवति । दीर्घकेशवृन्दारिका । दीर्घकेशजातीया । दीर्घकेशदेशीया । “जातिश्च” [४।३।१५३] इत्युक्तं तत्रापि भवति । कठवृन्दारिका । कठजातीया । कठदेशीया । पुं वद्भाववचनात्सर्वस्य प्रतिषेधस्य निवृत्तिः । उक्तपुंस्कादन्तरित्यनुवर्तते । उक्तपुंस्कादिति किम् ? मालावृन्दारिका । मालाजातीया । मालादेशीया । कालिकाश्च ता वृन्दारिकाश्च कालिकावृन्दारिका । कालिकाजातीया । कालिकादेशीया । अनूरिति किम् ? वामोरुवृन्दारिका । वामोरुजातीया । वामोरुदेशीया । “अडट्प्रियादौ” [४।३।१४६] इत्युक्तम् । तत्राप्यनेन पुं वद्भवति । कल्याणी चासौ पञ्चमी कल्याणपञ्चमी । कल्याणी चासौ प्रिया कल्याणप्रिया । कल्याणमनोशा । अथात्र कथं पुं वद्भावः, मृग्याः क्षीरम् मृगक्षीरम् ; कुक्कुट्या अण्डम् कुक्कुटाण्डम् । काक्याः शावः काकशावः ? अस्त्रीलिङ्गस्य पूर्वपदस्य सामान्येन विवक्षितत्वाद्दोषः । अस्त्रीत्यान्तापि स्त्री पुं वद्भवतीत्युक्तम् । इडिविट् चासौ वृन्दारिका च ऐडिविडवृन्दारिका इत्यादौ पुं वद्भाव आद्यसूत्रेणैव सिद्धः ।

भ्रूपकल्पचेलङ्ब्रुवगोत्रमतहते प्रोऽनेकाचः ॥४३१२५॥ ईदिति वर्तते । भ्रु, रूप, कल्प, चेलट्, ब्रुव, गोत्र, मत, हत इत्येतेषु परतः उक्तपुंस्कात्परो य ईकारः स्त्रीत्यस्तदन्तस्यानेकाचः प्रो भवति । कुमारितरा । कुमारितमा । कुमारिरूपा । कुमारिकल्पा । “तसादौ” इति पुंवद्भावा ईकारादन्यत्र सावकाशोऽनेन प्रादेशेन बाध्यते कुमारिचेली । कुमारिब्रुवा । कुमारिगोत्रा । कुमारिमता । कुमारिहता । चेलट्शब्दः पचादौ पठ्यते । ब्रूयः वो ब्रुव इहैव निपात्यते । चेलङ् ब्रुवगोत्रशब्दाः कुत्सनशब्दाः । “कुत्स्यं कुत्सनैः” [१३१४८] इति सः । मतहताभ्यां विशेषणलक्षणो यसः । अनेकाच इति किम् ? स्त्रीतरा । स्त्रितरा । “वामोः” [४३१५६] इति विकल्पः । उक्तपुंस्कादिति किम् ? आमलकीतरा । बदरीतरा । अनुक्तपुंस्कादपि क्वचित्प्र इष्यते । लक्ष्मीतरा । तन्त्रितरा । ईदिति किम् ? दत्तातरा । गुप्तातरा । स्त्रीत्य इति किम् ? ग्रामणीतरा । सेनानीतरा । वा मोरिति विकल्पे प्राप्ते पुस्तादपवादोऽयम् ।

वा मोः ॥४३१२५६॥ मुसंज्ञकस्य वा प्रो भवति भादिषु परतः । अनेन विशेषेण विकल्पे प्राप्ते पुस्तादनेकाच ईकारस्य नित्यः प्रादेश उक्तः । ततोऽन्यदुदाहरणम् । एकाच् ईकारः ऊकारः सर्वः । स्त्रितरा । स्त्रीतरा । स्त्रितमा । स्त्रीतमा । वामोरुतरा । वामोरुतरा । एवं रूपादिष्वपि नेयम् । उक्तपुंस्कादनुवृत्तिरिति निवृत्तम् । एकार्थ इत्येतदनुवर्तते । तेन स्त्रिया हतः स्त्रीहत इत्यत्र न प्रादेशः । कृतसंज्ञकस्य मोर्न भवतीत्येके । लक्ष्मीतरा । लक्ष्मीतमा ।

उगितश्च ॥ ४३१२५७॥ उगितश्च परस्य मोर्वा प्रादेशो भवति भादिषु परतः । श्रेयसितरा । श्रेयसीतरा । विदुषितरा । विदुषीतरा । चशब्दः पक्षे उक्तः । श्रेयस्तरा । विद्वत्तरा । “भ्रूप” [४३१२५५] आदिना नित्यः प्रादेशः प्राप्तः पूर्वसूत्रादिति व्यवस्थितविभाषाऽपेक्ष्यते । तेनाञ्चतेर्नित्यः प्रादेशः । प्राचितरा ।

अन्महतो जातीये च ॥४३१२५८॥ आकारादेशो भवति महतो जातीये एकार्थे द्यौ च परतः । महाजातीयः । महापुरुषः । महतः अन्महतेऽनेना प्रतिपदोक्ते द्यौ आत्वं सिद्धम् । एकार्थवर्तनं वसेऽपि प्रापणार्थम् । महाप्राणः । महाबाहुः । जातीये चेति किम् ? महतः पुत्रो महत्पुत्रः । आदिति द्विजातो न्वात्सङ्गत्वात् । पुंवद्यजातीयादिसूत्रे पुंवदिति योगविभागात्पुंवद्भावः । इहादिति योगविभागादात्वम् । तेन “महत्या घासकारविशिष्टेषु व्यधिकरण्येऽपि पुंवद्भावात्वे भवतः” [वा०] महत्या घासो महाघासः । महत्याः कारो महाकारः । महत्या विशिष्टो महाविशिष्टः । अमहान् महान् सम्पन्नो महद्भूतश्चन्द्रमा इत्यत्र च्चौ निवृत्ते “च्चिडाजूर्यादिः” [१२११३२] इति तिसंज्ञा । भूतशब्देन “तिकुप्रादयः” [१३१८१] इति षसे कृते गौणत्वान्महदर्थस्यात्वाभावः । पूर्वोक्तयोगविभागात्विह महतीशब्दस्य पुंवद्भावः अमहती महती सम्पन्ना महद्भूता कन्या ।

द्वयष्टनः संख्यायामत्राशीत्योः प्राक्शतात्त्रेख्यः ४३१२५९॥ द्वि अष्टन् इत्येतयोराकारादेशो भवति संख्यायां द्यौ प्राक् शतात् वसमशीतिं च वर्जयित्वा, त्रेश्च त्रयसित्ययमादेशो भवति । द्वादश । द्वौ च विंशतिश्च द्वाविंशतिः । “लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात्” । अथवा द्वयधिकं विंशतिः द्वाविंशतिः । समानाधिकरणाधिक्यत्वेन द्वादश । अष्टादश । अष्टात्रिंशत् । त्रयोदश । त्रयोविंशतिः । त्रयस्त्रिंशत् । द्वयष्टनत्वेरिति किम् ? चतुर्दश । संख्यायामिति किम् ? द्विमूली । अष्टमूली । त्रिमूली । समाहारे षसः । “संख्यादी रश्च” [१३१४७] इति रसंज्ञः । “रात्” [३११२५] इति ङीविधिः । अवाशीत्योरिति किम् ? द्वौ वा त्रयो वा द्विजाः । अष्टदशाः । त्रिदशाः । “संख्याबाहुोऽवहुगणात्” [१२१६६] इति डः सान्तः । द्वयशीतिः । त्रयशीतिः । वसेऽशीतौ च न भवति । प्राक्शतादिति किम् ? द्वयधिकं शतं द्विशतम् । त्रिशतम् । त्रिसहस्रम् ।

वा चत्वारिंशदादौ ॥४३११६०॥ चत्वारिंशदादौ संख्यायां औ अवाशीत्योद्धर्थादीनां यदुक्तं तद्वा भवति । द्वाचत्वारिंशत् । द्विचत्वारिंशत् । द्वापञ्चाशत् । द्विपञ्चाशत् । अप्टाचत्वारिंशत् । अप्टचत्वारिंशत् । अप्टाष्टिः । अष्टपष्टिः । त्रयश्चत्वारिंशत् । त्रिचत्वारिंशत् । अवाशीत्योरित्येव । द्विचत्वारिंशः । द्वयशीतिः । अष्टचत्वारिंशः । अष्टाशीतिः । त्रिचत्वारिंशः । त्र्यशीतिः । प्राक्शतादित्येव । द्विशतम् । “अष्टनः कपाले हविष्यात्वं वक्तव्यम्” [वा०] अष्टाकपालं हविः । अष्टसु कपालेषु संस्कृतं हृदयं प्रसः । “संख्यादी रश्च” [१३१४७] इति एसंज्ञः । “संस्कृतं भव्याः” [३१२११] इत्यण् । तस्य “रस्योवनपत्ये” [३११७४] इत्युप् । हविषीति किम् ? अष्टानां कपालानां समाहारः अष्टकपालं भिन्नोः । न.अ.नि.न.पुं.न.स्त्रि.जा । “गवे च युक्ते अष्टनः आत्वं वक्तव्यम्” [वा०] अष्टागवेन शकटेन वहति । अष्टौ गावो युक्ता अस्मिन्निति । अस्मादेव निपातनात् वसेऽपि टः सान्तः । युक्त इति किम् ? अष्टानां गवां समाहारः अष्टगवम् । नेदं वक्तव्यम् । आन्महत इति आदिति योगविभागादन्यस्यापीति दीत्वेन वा सिद्धेः ।

हृदयस्य ह्रल्लेखयागलासेषु ॥ ४३११६१ ॥ हृदयस्य हृदित्ययमादेशो भवति लेख य अण् लास इत्येतेषु परतः । हृदयं लिखतीति ह्रल्लेखः । हृदयाय हितं हृद्यम् । “प्राण्यङ्गय” [३१४५] इत्यादिना यः । हृदयस्येदं हार्दम् । हृदयस्य भावो वा युवादिषु “हृदयादसे” [३१४१२० ग० सू०] इति पाठादण् । अणि घञि वा ह्रल्लासः । लेख इत्यण्णन्तस्य ग्रहणम् । घञि तु हृदादेशो नेष्यते । हृदयस्य लेखः हृदयलेखः । एवं च लेखग्रहणं ज्ञापकम् “द्व्यधिकारे त्यग्रहणे स्वरूपग्रहणं न तदन्तविधिः” [प०] “खित्यक्तेः” [४३१७६] इत्यत्र खित्यनन्तरः प्रादेशभाग्नास्तीति तदन्तविधिरिष्टः ।

वा ट्यण् रोगशोके ॥४३११६२॥ ट्यण् रोग शोक इत्येतेषु परतो हृदयस्य वा हृदित्ययमादेशो भवति । सौहार्दम् । ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वाट्यण् । “हृत्सिन्धुभगे द्वयोः” [५१२१२४] पदयोरैप् । पक्षे सौहृदय्यम् । हृद्रोगः । हृदयरोगः । हृच्छोकः । हृदयशोकः । ननु हृदयशब्देन समानार्थो हृच्छब्दोऽस्ति तेनोभयं सिद्धम् । न सिद्ध्यति । अन्येष्वण्युत्तरपदेषु हृच्छब्दस्य प्रयोगः प्रसज्येत ।

पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु ॥४३११६३॥ पादस्य पद इत्ययमादेशो भवत्याजि आति ग उपहत् इत्येतेषु परतः । पादाभ्यामजति पादाभ्यामतति । अजातिभ्यां पाद इण् । वाक्सः । केवलेन आजिशब्देन “साधनं कृता” [१३१२६] इति प्रसः । अतएव निपातनादजेर्विभावाभावः । पदाजिः । पदातिः । पादाभ्यां गच्छति पदगः । गमेर्ङः । पादाभ्यानुपहतः पदोपहतः । पदशब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति तेन सिद्धेऽपि पादशब्दस्यास्मिन् विषये प्रयोगो मा भूदित्येवमर्थम् ।

पद्ये ॥४३११६४॥ पादं विध्यन्ति पद्याः शर्कराः । “विध्यत्यकरणेन” [३१३१६४] इति यः । तादर्थ्ये तु “पाद्यार्थ्ये” [४१२३२] इति निपातनमुक्तम् । पादार्थमुदकं पाद्यम् । कथं पादाभ्यां चरति पदिक इति ? “पर्पादौ” [३३१३३] पादः पदिति पाठाद्दटा सिद्धम् । पूर्वसूत्रे पादस्येति संबन्धलक्षणा ता । तेन पादशब्दस्य यो यस्तस्मिन् पदित्ययमादेशो भवति । सामर्थ्यात्पादान्तस्य न भवति । द्वाभ्यां पादाभ्यां क्रीतं द्विपाद्यम् । त्रिपाद्यम् । “पणपादमाषाद्यः” [३१४३१] इति यः ।

हिमकाषिहतौ ॥४३११६५॥ हिम काषिन् हति इत्येतेषु परतः पादस्य पदित्ययमादेशो भवति । पादस्य हिमं पद्धिमम् । पत्कापी । वाक्सः । पादाभ्यां हतिः पद्धतिः । “साधनं कृता” [१३१२६] इति सः । णिनि तदन्तविधिरपि । परमपत्कापी ।

ऋचः शे ॥४३११६६॥ ऋचः पादस्य शे परतः पद्धति । पादं पादं गायत्र्याः शंसति पच्छो गायत्री शंसति । “संख्यैकाद्वीप्सायाम्” [४१२४८] इति शस् । ऋच इति किम् ? पादं पादं कार्षापणमस्य ददाति पादशः कार्षापणं ददाति । “त्यात्यसभवे त्यस्य ग्रहणम्” [प०] इति शस एव ग्रहणादिह न भवति । पादशंसी गायत्र्याः ।

वा निष्कघोषमिश्रशब्दे ॥४१३१६७॥ निष्क घोष मिश्र शब्द इत्येतेषु परतः पादस्य वा पद्भवति । पादस्य निष्कः पन्निष्कः । पादनिष्कः । पद्घोषः । पादघोषः । पन्मिश्रः । पादमिश्रः । “पूर्वावरसदश” [१३१२८] इत्यादिना भासः । पच्छब्दः । पादशब्दः ।

उदकस्योद घोश्च खौ ॥४१३१६८॥ उदकस्य उद इत्ययमादेशो भवति घोश्च तस्योदकस्य खुविषये । उदकस्य मेघ उदमेघो नाम यस्योदमेघिः [पुत्रः] । उदकं वहतीत्युदवाहो नाम यस्योदवाहिः पुत्रः । अपत्येन पिता लक्ष्यते । उदकस्य घोष उदघोषः । लोहितोदा क्षीरोदा नदी । खाविति किम् ? उदकपर्वतः ।

पेषमि ॥४१३१६९॥ पेषमि घौ उदकस्य उद इत्ययमादेशो भवति । उदकेन पिनष्टि उदपेषं पिनष्टि तगरम् । “स्नेहने पिपः” [२१४१२७] इति णम् । कथम् उदवास उदवाहनः उदधिरिति ? संज्ञाशब्दा अमी पूर्वेण सिद्धाः । कथमुदधिरघटः ? उपमानान्दविष्यति ।

वैकहलि पूर्वे ॥४१३१७०॥ एकोऽसहायस्तुल्यजातीयेन यो हल् तदादौ घौ पूर्वे उदकस्य वा उद इत्ययमादेशो भवति । उदकस्य कुम्भः उदकुम्भः । उदककुम्भः । उदवटः । उदकघटः । उदपात्रम् । उदकपात्रम् । एकहलीति किम् ? उदकस्थालम् । पूर्वे इति किम् ? उदकगिरिः । अखावप्राते विभाषेयम् ।

मन्थोदनसक्तुविन्दुवज्रभारहारवीवधगाहे ॥४१३१७१॥ मन्थ ओदन सक्तु विन्दु वज्र भार हार वीवध गाह इत्येतेषु परत उदकस्य वा उद इत्ययमादेशो भवति । अपूर्यार्थोऽयं यत्नः । उदमन्थः । उदकमन्थः । उदकेनौदनः उदौदनः । उदकौदनः । उदकेन सक्तुः उदसक्तुः । उदकसक्तुः । “भक्षयान्नाभ्यां मिश्रणव्यञ्जने” [१३१३०] इति भासः । उदविन्दुः । उदकविन्दुः । उदवज्रः । उदकवज्रः । उदभारः । उदकभारः । उदहारः । उदकहारः । उदवीवधः । उदकवीवधः । उदगाहः । उदकगाहः । मन्थभारहारा अरण्यन्ता घञन्ता वा ।

इकः प्रोऽङ्ग्याः ॥४१३१७२॥ इगन्तस्य घौ वा प्रो भवत्यङ्ग्याः । ग्रामणिपुत्रः । ग्रामणीपुत्रः । यवस्तुपुत्रः । यवस्तुपुत्रः । अलाबु कर्कशु टन्शु फलम् । अत्र पूर्वपूर्वस्य प्रादेशे सति उत्तरेण सविधिः । इक इति किम् ? खट्वापादः । मालापादः । अङ्ग्या इति किम् ? गागीपुत्रः । दासीपुत्रः । वेति व्यवस्थितविभाषाश्रयणादिह न भवति । कारीपगन्धीपुत्रः । कारीपगन्धीपतिः । भिक्षुंश्रेयुवां च न प्रादेशः । काण्डीभूतम् । कुड्डीभूतम् । श्रीकुलम् । भ्रुकुलम् । भ्रुकुंसादीनां तु प्रादेशो भवत्येव । भ्रुकुंसः । क्वचिदन्यदेव । भ्रुकुंसादीनामकारा-शचान्तादेश इष्यते । भ्रुकुंसः । भ्रुकुटिः ।

त्वे ङ्यापो क्वचित्खौ च ॥४१३१७३॥ त्वे परतो ङ्यन्तस्य आबन्तस्य क्वचित्प्रो भवति खौ च घौ । अजत्वम् । अजात्वम् । रोहिणित्वम् । रोहिणीत्वम् । त्वे छान्दसः प्रयोग इति केचित् । खौ—रेवतिमित्रः । रोहिणिमित्रः । भरणिमित्रः । क्वचिन्न भवति । नान्दीकगः । नान्दीघोषः । आबन्तस्य शिलाया वहः शिलवहः । शिलप्रस्थः । शिंशपस्थलम् । न च भवति लोपिकाग्रहम् । लोपिकाग्रहम् । क्वचिद् ग्रहणं बहुलार्थम् ।

हृति चैका ॥४१३१७४॥ हृति परतो घौ च एका इत्येतस्य प्रो भवति । एकस्या आगतम् एकरूप्यम् । एकमयम् । “हेतुमनुष्याद्वा रूप्यः” [३१३१५५] “मयट्” [३१३१५६] इति च रूप्यमयटौ । एकस्या-भाव एकत्वम् । एकता । गुणवचनत्वे “तसादौ” [४१३१४७] स्वतलोर्णवचनस्य इति पुंवद्भावेन सिद्धत्वा-दन्यत्रेदं द्रष्टव्यम् । घौ एकस्या क्षीरम् एकक्षीरम् । एकदुग्धम् । एका प्रिया अस्य एकप्रियः । एकमनोज्ञः ।

मालेषीक्रेष्टकानां भारितूलचित्ते ॥४१३१७५॥ माला, इषीका, इष्टका इत्येतेषां प्रो भवति भारितूल चित् इत्येतेषु परतः । मालभारी । मालभारिणी । इषीकतूलम् । इष्टकचित्तम् । क्वचिदित्यनुवृत्तेर्मांलादिभि-स्तदन्तविधिरपि । उत्पलमालभारिणी । नुञ्जेषीकतूलम् । पक्वेष्यकचित्तम् ।

खित्यभेः ॥४३१७६॥ खिदन्ते षौ अजन्तस्य प्रो भवत्यभेः । कालीमात्मानं मन्यते कालिम्मन्या । रोहिणिम्मन्या । “खरचात्मनः” [२।२।७१] इति खश् । खित्यनन्तरः प्रादेशभाग्नास्तीत्युक्तम् । अभेरिति प्रतिषेधान्च खिदन्ते षौ पूर्वस्य प्रपरोऽपि “मुमचः” [४।३।१७७] इति प्रादेशेन बाध्यते । अभेरिति किम् ? दोषामन्यमहः । दिवामन्या रात्रिः ।

मुमचः ॥४३१७७॥ पूर्वस्य पदस्याजन्तस्य खिदन्ते षौ मुम् भवत्यभेः । प्रियंवदः । वशंवदः । कालिम्मन्या । हरिणिम्मन्या । “विध्वरुषोस्तुदः सखम्” [२।२।३७] इति सखे कृते मुम् । विधुन्तुदः । अरुन्तुदः । “द्विषन्तपेरम्मद” [२।२।३८] इति निपातनाद् द्विषन्तपः । अच इति किम् ? विद्वन्मन्यः ।

अमेकाचोऽम्बत् ॥४३१७८॥ अच इति वर्तते । अजन्तस्य पूर्वपदस्यैकाचोऽम् भवति खिदन्ते षौ अमीवास्मिन् कार्यं भवति । आन्पूर्वैत्रि युवादिप्रयोजनम् । अवर्णान्तस्याभि नास्ति विशेषः । अनवर्णान्तमुदाहरणम् । गाम्मन्यः । स्त्रीम्मन्यः । स्त्रियम्मन्यः । नृशब्दस्य नरम्मन्यः । श्रियम्मन्यः । भ्रुवम्मन्यः । नावमात्मानं मन्यते नावम्मन्यः । प्रादेशमुमोरथमपवादः । एकाच इति किम् ? लेखाक्रं मन्यः । अच इत्येव द्विषम्मन्यः । निपातनाद् वाच्यमपुसन्दरौ । अन्तिगारिः अन्तोऽपि मकारः प्रयोगश्रवणार्थः स्फान्तखेन निर्दिष्टः । अथेह कथम्भवितव्यम्, श्रियमात्मानं कुलं मन्यते इति ? उच्यते—श्रीशब्द आविष्टलिङ्गः स्त्रियामेव वर्तते इति श्रियम्मन्यमिति भवितव्यम् । अन्ये मन्यन्ते स्वलिङ्गान्तरेऽपि वृत्तिर्दृष्टा । यथा प्रष्ठादिशब्दानां पुंयोगात् स्त्रियां वृत्तिः । प्रष्ठी । प्रचरी । गणक्री । एवं श्रीशब्दस्य कुले वर्तमानस्य नपुंसकलिङ्गत्वं “प्रो नपि” [१।१।७] इति प्रादेशः । अम्बदतिदेशात् “नपः स्वमोः” [५।१।२०] इत्युप् । “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तराम्” [५०] इति “सुपो धुमृदोः” [१।४।१४२] इत्यस्यैवोपोऽमागमो बाधको नोत्तरस्य तेन श्रिमन्यमिति भवितव्यम् । एतच्च नातिश्लिष्टम् । वेदः प्रमाणमित्यादौ लिङ्गान्तरं प्रसज्यते ।

सत्यागदास्तोः कारे ॥४३१७९॥ सत्य, अगद, अस्तु इत्येतेषां कारे षौ मुमागमो भवति । सत्यङ्कारः । अगदङ्कारः । अणि घञि वा काररूपम् । अस्तुराब्दो निसंज्ञकोऽभ्युपगमे वर्तते । अस्त्वित्यस्य करणम् अस्तुङ्कारः ।

रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य ॥४३१८०॥ रात्रिशब्दस्य कृति षौ मुमागमो भवति प्रभाचन्द्रस्यांचार्यस्य मतेन । रात्रिञ्चरः । रात्रिचरः । रात्रिमाटः । रात्र्याटः । कृद्ग्रहणसामर्थ्यादयमप्राप्ते विकल्पः । खिति पूर्वनिर्णयेन नित्यं मुमागमः । रात्रिमन्यमहः । रात्रेरनन्तरः कृन्नास्तीति कृदन्तग्रहणम् । ननु रात्रिरिवाचरतीति “आचारे सर्वमृद्भ्यः क्तिप्” [२।१।९ वा०] इति तदन्तात्कृत्ववस्ति । यदि तदर्थं कृद्ग्रहणं स्यात् । रात्रेः क्तिपीति निर्देशं कुर्यात् । किञ्चन्तस्य तु रात्रिशब्दस्य अन्यस्मिन् कृदन्ते मुम्न स्यात् गौणत्वात् ।

नजोऽन् ॥४३१८१॥ नजोऽनित्ययमादेशो भवति षौ । न हिंसा अहिंसा “नञ्” [१।३।६८] सुपा इति षसः । अनेकाच्चात्सर्वादेशोऽन् । स्थानिवद्भावेन पदादेशः पदवद्भवति इति नखम् । एवम् अक्रोधः । अस्त्येयम् । सानुबन्धकनिर्देशः किमर्थः ? वामनपुत्रः पामनपुत्र इत्यत्र माभूत् । द्यावित्येव । न भुङ्क्ते । “नजोऽनुभावे षेपे मिङ्शुपसंस्थानम्” [वा०] । अकरोषि त्वं जाल्म । अपचसि त्वं जाल्म ।

अचि ॥४३१८२॥ अजादौ च षौ नजोऽन् भवति । अनन्तः । अनादिः । अनुपमो जिनः । पुनर्वचन नखनिवृत्त्यर्थम् । “अदोऽनञ्जे” [२।२।६०] इति ज्ञापकाज्जो नो ङमुण् न भवति ।

नभ्राणनपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकनागाः ॥४३१८३॥
नभ्राट् नपात् नवेदा नासत्या नमुचि नकुल नख नपुंसक नक्षत्र नक्र नाक नाग इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । न भ्राजते न वा न भ्राजते किन्तु भ्राजत एवेति नभ्राट् । भ्राजतौ क्व्यन्ते षौ नजः प्रकृतिभावः । द्वयोर्वा नजोः एको

नशब्दो निपात्यते । न पाति न वा न पाति नपात् । नपुंसकलिङ्गे शत्रन्ते पातौ पूर्ववन्निपातनम् । न वेत्ति न वा न वेत्ति नवेदाः । “अस् सर्वधुम्यः” [७० सू०] इति विदेरस् । “अत्वसोऽधोः” [४१११२] इति दीत्वम् । सत्सु सार्वा सत्या न सत्या असत्या । पुनर्नञ्जे नासत्या । नञः प्रकृतिभावः । पुंस्यपीदं निपातनम् । नासत्या नाम केचित् । न मुञ्चति न वा न मुञ्चति मुचेरौणादिके इकि नमुचिः । नास्य कुलमस्ति न वानकुलमस्ति नकुलम् । नास्य खमस्ति न वा न खमस्ति नखः । न स्त्री न पुमान् नपुंसकः । स्त्रीपुंसयोर्नपुंसकभावो नञश्च प्रकृतिभावः । न ज्वरति न ज्ञायते इति वा नक्षत्रम् । क्षरतेः क्षीयतेर्वा क्षद्भावो नञश्च प्रकृतिभावः । न क्रीणाति न क्रामतीति वा नक्रः । क्रीञः क्रमेर्वा डत्यो नञश्च प्रकृतिभावः । अक अग कुटिलयां गतावित्यनयोः पचाद्यच्चि अक्रगौ भवतः । नाकः । नागः । नञः प्रकृतिभावः अथवा नास्मिन् कं दुःखमस्ति नाकः । न गच्छतीत्यगः । एतेषा रूढिशब्दानां यथा कथञ्चिद् व्युत्पत्तिः ।

एकादशः ॥४१३१८४॥ एकादश इति निपात्यते द्यौ । एकेन न विंशतिः एकादशविंशतिः । एकेन न त्रिंशत् । नत्रो विंशतिशब्देन “नञ्” [१३१६८] इति षसः । एकशब्दस्य भान्तस्य न विंशतिशब्देन “साधनं कृता बहुलम्” [१३१२६] इति बहुलवचनाद् भेति योगविभागात्प्लसे कृते एकशब्दस्यादुक् नञश्च प्रकृतिभावो निपात्यते । अदुकः पूर्वान्तरणं “अरो ङो विभाषा ङे” [५१४१२५] इति विकल्पेन डार्थम् । एकादशविंशतिः । एकादशत्रिंशत् ।

नगो वाऽजीवे ॥४१३१८५॥ नग इति वा निपात्यते अजीवेऽर्थे । नगा वृक्षाः । नगाः शाल्यः । नगाः पर्वताः । अगा वृक्षाः । अगाः शाल्यः । अगाः पर्वताः । न गच्छन्तीति सुपि वाचि “गमेडः” [२१२१६] वाक्सः । अजीव इति किम् ? अगो देवदत्तः शीतेन ।

सहस्य सः खाँ ॥४१३१८६॥ सहस्य स इत्ययमादेशो भवति खुविषये । खाविति वर्तते । सहाश्रत्येन वर्तते सारवत्थम् । सपलाशम् । सर्शिशपम् । वननामधेयम् । सरसा दूर्वा । “तेन” [१३१६०] “सहेति तुल्ययोगे” [१३१६१] इति बसः । “वा नीचः” [४३११६०] इति विकल्पे प्राप्ते अयं विधिः । खाविति किम् ? सहयुष्वा । सहकृत्वा । सहयुद्धवान् । “राञ्जि युधि कृजः” [२१२१८२] “सहे” [२१२१८३] इति क्वनिप् ।

ग्रन्थान्तेऽधिके ॥४१३१८७॥ ग्रन्थान्ते अधिके च वर्तमानस्य सहस्य स इत्ययमादेशो भवति । ग्रन्थान्ते हसः । सकलं ज्यौतिषमधीते । समुहूर्तमधीते । कला कलावशेषः मुहूर्तश्च तत्सहचरितो ग्रन्थोऽपि तथोक्तः । कलामन्तं कृत्वा मुहूर्तमन्तं कृत्वा । साकल्यान्तोक्तौ हसः । “हेऽकाले” [४३११८६] इति काले प्रतिषेधादनेन सादेशः । अधिके बसः । सह द्रोणेन वर्तते सद्रोणा खारी । समाषः कार्षापणः । सकाकणीको भाषः । “वा नीचः” [४३११६०] इति विकल्पः प्राप्तः ।

द्वितीयेऽनुपाख्ये ॥४१३१८८॥ द्वितीयेऽनुपाख्यायमाने सहस्य स इत्ययमादेशो भवति । द्वयोः सहयुक्तयोर्यग्भूतो द्वितीयः । स एवाप्रत्यक्षोऽनुपाख्य उक्तः । साग्निः कपोतः । समुसलः त्रीहिकंसः । सपिशाचा वात्या । सराक्षसीका शाला । अग्न्यादयोऽप्रत्यक्षेणानुपलभ्यमानाः कयोः गग्निः, कपोतः, समुसलः, त्रीहिकंसः । अनुपाख्य इति किम् ? सच्छात्रः सहच्छात्र उपाध्यायः । उपाख्यायत इत्युपाख्यः । “युड्व्या बहुलम्” [२१३१६४] इति बहुलवचनात् “आतो गौ” [२१११०६] इति कर्मणि कः ।

हेऽकाले ॥४१३१८९॥ हसंज्ञके सहस्य स इत्ययमादेशो भवत्यकालवाचिनि द्यौ । सचक्रं धेहि । सधुरं प्राज । युगपच्छ्रे । युगपद्धुरौ । “यौगपद्य” [१३१५] इति हसः । “क्रकूपूरब्धुःपथोऽनन्ते” [४३११७०] इति धुरोऽकारः सान्तः । अकाल इति किम् ? सहपूर्वाह्णम् । सहापराह्णम् । यौगपथे साकल्योक्तौ वा हसः ।

वा नीचः ॥४३११६०॥ नीचोऽवयवस्य सहशब्दस्य वा स इत्ययमादेशो भवति द्यौ । सशिष्यः सहशिष्य आचार्यः । सपुत्रः सहपुत्रः पिता । नीच इति किम् ? सहयुद्ध्वा । सहकृत्वा । नात्र समुदायस्य नीचोऽवयवः सह-शब्दः । नीच इति समुदायस्य विशेषणं सहशब्दस्य सर्वत्र विधौ न्यक्त्वात् । इह सहयुद्धप्रियः । प्रियसहयुद्धेनि च सहस्य सः कस्मान्न भवति । यदत्र यु तदपेक्षया न सहशब्दो नीचोऽवयव इति न भवति ।

नाशिष्यगोवत्सहले ॥४३११६१॥ आशिषि सहस्य सादेशो न भवति गोवत्सहलवर्जिते द्यौ । स्वस्ति सहशिष्याय गुरवे । स्वस्ति रात्रे सहपुत्राय । अगोवत्सहल इति किम् ? स्वस्यस्तु सगवे सहगवे । सवत्साय सहवत्साय । सहलाय सहहलाय ।

समानस्य स ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु ॥४३११६२॥ समानस्य स इत्ययमादेशो भवति ज्योतिषू, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन, बन्धु इत्येतेषु परतः । समानं ज्योतिरस्य सज्योतिः । यदि वा समानं च तज्ज्योतिश्च सज्योतिः । “पूर्वापरप्रथम” [१३१५३] इत्यादिना यसः । सजनपदः । सरात्रिः । सनाभिः । सनामः । सगोत्रः । सरूपः । सस्थानः । [सवर्णः । सवयाः ।] सवचनः । सवन्धुः । बसेऽभिधेयवह्निङ्गम् । यसे च परवह्निङ्गम् । समानस्येति योगविभागादन्येष्वपि सादेशः । तेन सधर्मा । सपक्षः । सगन्धः । सदेशः । समानजातीयः । “जातेश्छो बन्धुनि” [४३११८] इति स्वार्थे छुः । समाने तीर्थे भवः सतीर्थ्यः । दिगादित्वाच्च इत्येवमादि सिद्धम् ।

सब्रह्मचारी ॥४३११९३॥ सब्रह्मचारीति निपात्यते चरणे गम्यमाने । समानो ब्रह्मचारी समाने ब्रह्मणि व्रतं चरति वा सब्रह्मचारी । समाने आगमे व्रतचारीत्यर्थः ।

सोदर्ये ॥४३११६४॥ उदर्यशब्दे द्यौ समानस्य वा स इत्ययमादेशो भवति । समानोदरे शयितः सोदर्यः । समानोदर्यः । “समानोदरे शयितः” [३३२०८] इति यः । कथं युधिष्ठिरसोदरो वृकोदर इति । समानस्येति योगविभागात् ।

दृशदृक्दृक्त्वतौ ॥४३११६५॥ दृश दृक् दृक्त्व वतु इत्येतेषु परतः समानस्य स इत्ययमादेशो भवति । समानो दृश्यते सदृशः । बहुलवचनात्कर्मणि टगादिः । अन्यथा वा व्युत्पत्तिमात्रं कार्यम् । समानमात्मानं पश्यति सदृशः । सदृक् । सदृक्षः । “त्यदादौ दृशोऽनालोके टक् च” [२१२५८] इत्यत्र “समानान्ययोश्च” [वा०] इति घचनाट्टकृक्श्च भवति । कसोऽप्यस्मादेव निर्देशात् तत्र स्मर्तव्यः । वतुः समानशब्दात्परो न सम्भवतीति वतुग्रहणमुत्तरार्थम् ।

किमिदमोः कीश् ॥४३११६६॥ किम् इदम् इत्येतयोः की ईश इत्येतावादेशौ भवतः दृशादिषु परतः । क इव दृश्यते कमिव पश्यति वा कीदृशः । कीदृक् । कीदृक्षः । किम्परिमाणमस्य कियान् । “किमः” [३१४१६२] इति वतुर्वकारस्य च घः । अयमिव दृश्यते इममिव पश्यति वा ईदृशः । ईदृक् । ईदृक्षः । इदम्परिमाणमस्य इयान् । “इदमो वो वः” [३१४१६१] इति वतुर्वकारस्य च घः । “आ सर्वनाम्नः” [४३११६७] इत्यात्वत्यापवादोऽयम् ।

आ सर्वनाम्नः ॥४३११६७॥ सर्वनाम्न आकारादेशो भवति दृशदृक्दृक्त्वतुषु परतः । स इव दृश्यते तमिव पश्यति वा तादृशः । तादृक् । तादृक्षः । तत्परिमाणमस्य तावान् । “यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुः” [३१४१६०] इति वतुः । यादृक्षः । यादृशः । यावान् । अन्यादृशः । अन्यादृक् । अन्यादृक्षः । आ इति द्विमात्रोच्चारणम् “पुण्यतोऽपदे” [४३११८४] इति पररूपनिवृत्त्यर्थम् । अकारोच्चारणं तु हस्तिनवृत्त्यर्थं स्यात् । अन्यशब्दे च दोषः प्रसज्येत । त्यदादेरिति सिद्धे सर्वनाम्न इति ग्रहणम् अन्यशब्दसंग्रहार्थमुत्तरार्थं च ।

विष्वग्देवयोश्च टेरद्रथञ्चौ कौ ॥४३१२६८॥ विष्वग् देव इत्येतयोः सर्वनाम्नश्च टेरद्विरादेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतः । विपुवतीति विपुः । विपुमञ्चतीति ऋत्विगादिसूत्रेण द्यौ कृते विष्वक् । विष्वञ्चमञ्चतीति कावागतनिवृत्ते नखम् । वाक्से सुः । “उगिदचाम्” [५१४१४६] इति नुम् । हल्ङ्यादिखे । स्फान्तखे । “विष्वत्स्य कुः” [५१३१७५] इति नकारस्य ङकारः । विष्वद्रथङ् । यद्रथङ् । तद्रथङ् । कद्रथङ् । विष्वग्देवयोश्चेति किम् ? वृक्षमञ्चतीति वृक्षाङ् । अञ्चाविति किम् ? विष्वग्युक् । देवयुक् । काविति किम् ? विष्वगञ्चनम् । देवाञ्चनम् । ननु कावेवाञ्चतिः केवलो धुर्मवति तर्कि क्विग्रहणेन । इदं क्विग्रहणं ज्ञापकम्—“अन्यत्र धुग्रहणे, ध्वादेः समुदायस्य ग्रहणम्” [५०] इति । तेन कृकम्यादिसूत्रे अयस्कृतमयस्कार इत्यादौ मत्वं सिद्धम् । अन्यथेहैव स्यात् । अयस्कृदिति ।

समः समि ॥४३१२६९॥ समः समीत्ययमादेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतः । सम्यङ् । सम्यञ्चौ सम्यञ्चः । इका सिद्धे समिरिति वचनम् “अनित्यमागमशासनम्” [५०] इति ज्ञापयति । तेनं वान्त इत्यादि सिद्धम् ।

तिरसस्तिर्यखे ॥४३१२००॥ तिरस्तिरित्ययमादेशो भवत्यञ्चतौक्यन्ते परतो यत्राञ्चतेरकारस्य खं न भवति । तिर्यङ् । तिर्यञ्चौ । तिर्यञ्चः । तिर्यग्भ्याम् । तिर्यग्भिः । अख इति किम् ? तिरश्चः । तिरश्चा । अच इत्यकारस्य खम् । न विद्यते अञ्चतेर्देशेष्विहितमकारस्य खं यस्मिन् । हलुङो नखं तु सर्वसाधारणं न तस्येह पर्युदासः । न त्वस्य खमिति तस्मिन् तिरिमात्रः “तिरश्च्यपवर्गे” [२१४१४५] इति निर्देशात् । ननु च “तिवाक्कारकाणां कृद्भिः सविधिः” [५०] इति कृद्भित्ते नैवाञ्चतिना वृत्तौ कृतायां सुवन्तत्वाभावात्कथमञ्चतेर्युसंज्ञा । नैप दोषः । अभ्रविलितीत्येवमादौ विषये तिवाक्कारकाणामित्यस्य व्यापारो न सर्वत्र ।

सहस्य सध्रिः ॥४३१२०१॥ सहस्य सध्रिरादेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतः । सध्र्यङ् । सध्र्यञ्चौ । सध्र्यञ्चः । सध्रीचः । सध्रीचा । “अचः” [४१४१२५] इत्यखम् । “चौ” इति दीत्वम् ।

द्वयनगेरीदपः ॥४३१२०२॥ द्विशब्दादनवर्णान्ताच्च गेः परस्य अपशब्दस्य ईकारादेशो भवति । द्विगता आपो यस्मिन्निति द्वीपः । प्राक् “परस्यादेः” ईकारः पश्चात् “ऋक्पूर्ब्धूः” इत्यः सान्तः । “अन्तःशब्दस्य अ(सा)ङ्गिविधिण्वेषु गिसंज्ञोक्ता” [वा०] अन्तर्गता आपोऽस्मिन्नन्तरीपः । समीपम् । वीपम् । इह क्रियायोगाभावाद्गिसंज्ञोपलक्षितानां प्रादीनां ग्रहणम् । अनगेरिति किम् ? प्रापम् । परापम् । समापम् ।

देशेऽनोरः ॥४३१२०३॥ देशाभिधानेऽनोः परस्यापः उकारादेशो भवति । अनुगता आपोऽस्मिन्नित्यनूपो देशः । देश इति किम् ? अन्वीपं वनम् । कथं कूपः सूपः अनूप इति ? पृपोदरादिपाठात् ।

छकारकेऽन्यस्य दुक् ॥४३१२०४॥ छे कारके च परतोऽन्यस्य दुगागमो भवति । अन्यस्येदम् अन्यस्मिन् भवं वा अन्यदीयम् । गहादिपाठाच्छुः । अन्यस्य कारकम् अन्यत्कारकम् । अन्यः कारकः अन्यत्कारकः ।

अताभास्थस्याशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिरागे ॥४३१२०५॥ अतास्थस्याभास्थस्य चान्यस्य दुगागमो भवति आशिष् आशा आस्था आस्थित उत्सुक ऊति राग इत्येतेषु परतः । अन्या आशीः अन्यदाशीः अन्या आशा अन्यदाशा । अन्या आस्था अन्यदास्था । अन्य आस्थितः अन्यदास्थितः । अन्य उत्सुकः अन्यदुत्सुकः । अन्या ऊतिः अन्यदूतिः । अन्यो रागः अन्यद्रागः । “विशेषणं विशेष्येणेति” [१३१५२] यसः । अताभास्थस्येति किम् ? अन्यस्याशा अन्याशा । अन्येनास्थितः अन्यास्थितः ।

वाऽर्थे द्यौ ॥४३१२०६॥ अन्यस्य वा दुग् भवति । अन्योऽर्थः, अन्यस्मै अर्थः अन्यदर्थः । अताभास्थस्येत्येव । अन्यस्यार्थोऽन्यार्थः । अन्येनार्थोऽन्यार्थः ।

कत्कोः षेऽचि ॥४३१२०७॥ कोः कद्भवति पसंज्ञके सेऽजादौ द्यौ । कुत्सितोऽजः । “तिकुप्रादयः” [१३१८१] इति षसः । कदजः । कदक्षः । कदन्नम् । ष इति किम् ? क्वि-भो राजा । अचीति किम् ? कुब्राह्मणः । कुवृषलः । कत्कोरिति दोग्वि-न-गन्त्रि-प्राद्वेऽपि भविष्यति । कुत्सितास्त्रयः कत्रयः । “किमो वा त्रौ-कद्वक्तव्यः” [वा०] के त्रयः कत्रयः ।

भवार्थे आगतस्य कालाद् ठजः “रस्योवनपत्ये” [३११७४] इत्युपि डौ कृते “वा ङिश्योः [४१४१२४] इति वाऽनोऽखम् । द्रयहि । द्रयहनि । द्रयहे । यावत्सु अहत्सु भवो यावदहः । “वतोर्वेद्” [३१४१२०] इत्यत्र वत्तन्तस्य संख्यासंज्ञोक्ता । डौ यावदहि । यावदहनि । यावदहे । विगतमहर्व्यहः । “तिकुप्रादयः” [११३१८१] इति पसः । डौ व्यहि । व्यहनि । व्यहे । सायमहः । सायाहः । विशेषणसविधिः । सायंशब्दस्य भिसंज्ञकस्यात् एव निपातनात्मकारस्य खम् । अकारान्तस्य सम्भवेऽहूनादेशो निपात्यः । सायाहि । सायाहनि । सायाहे । संख्या-विसायादेरिति किम् ? पूर्वाह्णे गतः । पूर्वमहः पूर्वाहः । विशेषणसविधिः । “अतोऽहः” [५१४१९१] इति णत्तम् ।

दूखे पूर्वस्याणो दीः ॥४१३२१६॥ ढकाररेफयोः खं यस्मिन् वर्णं स दूखस्तस्मिन् पूर्वस्याणो दीर्भवति । पसेऽप्यदोपः । ख्याभावरूपत्वेऽपि पौर्वापर्यं बुद्धिकृतम् । यथा वर्णयोः रयौ गपद्येऽपि अच्रीको यणित्येवमादौ । लीढमुपपृष्टं मूढेन । अग्नी रथम् । वायु रथम् । पुना रक्तं वासः । दूख इतीन्दिदेशात् पूर्वस्येति लब्धे पूर्वग्रहणं किम् ? पूर्वमात्रस्य यथा द्यावेव स्यात् । अन्यथा द्यावेव स्यात् । नीरक्तम् । दूरक्तम् । इह न स्याद् अजर्थाः इति । जर्गुधः लडः सिप् एप् । भम्भावः । धकारस्य जर्त्वम् । “सिपि रिवा” [५१३१८१] “दः” [५१३१८२] इति रिः । अण इति किम् ? वृहू वृटः । वृहू वृटः ।

सहिध्रहोऽस्यौः ॥४१३२१७॥ सहिवहोरवर्णस्य ओकारादेशो भवति दूखे । सोढा । सोढुम् । सोढव्यम् । वोढा । वोढुम् । वोढव्यम् । अस्येत्यणग्रहणादैपि कृतेऽपि भवति । उद्वोढाम् । उद्वोढम् । उद्वोढ । उत्पूर्वाद्बहेर्लुङ् । तसस्ताम् । थसस्ताम् । थस्य तः । “भ्रलो भ्रलि” [५१३१४४] इति सेः खम् । दत्वादेरसिद्धत्वाद् “व्रजवद्” [५११७६] इत्यादिना प्रागैप् । अस्येति किम् ? ऊढवान् ।

कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चभिन्नछिन्नछिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य ॥४१३२१८॥ कर्णे वौ लक्षण-वाचिनो दीर्भवति विष्टादीन् वर्जयित्वा । दात्रमिव दात्राकर्णः । शंक्रकर्णः । द्विगुणाकर्णः । द्वयङ्गुलाकर्णः । द्वयोरङ्गुल्योः समाहारो द्वयङ्गुलम् । “वेऽङ्गुलेभिसंख्यादेः” [४१२१८८] इति सान्तः । लक्षणस्येति किम् ? शोभनकर्णः । शोभनत्वं तत्त्वाख्यानं न तु लक्षणम् । अतएव तत्त्वाख्यानान्दिहापि न भवति । लम्बकर्णः । अविद्धकर्णः । अथवा लक्षणशब्देन चिह्नविशेषोऽभिप्रेतः स्वामिविशेषसंबन्धज्ञापनार्थम् । पशूनां दात्राकारादि चिह्नं लक्षणम् । तदभावान्त्वम्बकर्णादिषु न भवति । अविष्टादेरिति किम् ? विष्टकर्णः । अष्टकर्णः । पञ्चकर्णः । भिन्नकर्णः । छिन्नकर्णः । छिद्रकर्णः । स्रुवकर्णः । स्वस्तिककर्णः ।

नहिवृत्तिवृषिव्यधिरचिसहितनिषु कौ ॥४१३२१९॥ नहि वृत्ति वृषि व्यधि रुचि सहि तनि इत्येतेषु किञ्चन्तेषु परतः पूर्वपदस्य दीर्भवति । नहि-उपानत् । परीणत् । वृत्-नीवृत् । उपावृत् । वृषि-प्रावृत् । व्यधि-मर्मवित् । हृदयावित् । श्वावित् । रुचि-अतीरुक् । अभीरुक् । कथं मलरुक् । श्वेतरुक् ? सम्पदादिकिपि न भवतीत्यदोषः । अथवा तिकारकटीत्वमिष्यते । सहि-जलासट् । तुरासट् । तनि-परीतत् । “गमः कौ” [४१४१४१] इत्यत्र “गमादीनां ङ्खमिष्यते” [वा०] । क्वाविति किम् ? उपनहनम् ।

गिरिवने किंशुलुककोटराद्योः खौ ॥४१३२२०॥ गिरि वन इत्येतयोः परतो यथासंख्यं किंशुलुकादीनां कोटरादीनां च दीर्भवति खौ । गिरौ-किंशुलुकागिरिः । अञ्जनागिरिः । नलागिरिः । वने-कोटरावणम् । मिश्रकावणम् । मिश्रकावणम् । किंशु लुककोटराद्योरिति किम् ? कृष्णगिरिः । भद्रसालवनम् । नन्दनवनम् ।

वले ॥४१३२२१॥ वले ये परतः पूर्वस्य दीर्भवति । आसुतीवलम् । दन्तावलः । मत्वर्थे “रजःकृष्या-सुतिपरिपदो बलः” [४११३८] “दन्तशिखात् खौ” [४११३६] इति च वलः ।

मतौ बह्वचः शरादीनां च दीर्भवति अजिरादीन् वर्जित्वा खौ । उदुम्बरावती । मशकावती । वीरणावती । पुष्करावती । उदुम्बरा अस्मिन् देशे सन्ति “तदस्मिन्न-स्ताति देशः खौ” [३।२।५७] इत्यणि प्राप्ते “नद्यां मतुः” [३।२।६५] इति मतुः । शरादीनां शरावती । वशावती । [शर] वंश । धूम । अहि । कपि । मणि । मुनि । शुचि । इति शरादिः । बह्वच्यरादेरिति किम् ? इच्छुवती । मधुवती । “खौ” [५।३।३२] इति मतोर्वत्वम् । अनजिरादेरिति किम् ? अजिरवती । खदिरवती । अलिनधती । चक्रवाकवती । कारण्डवती । खाविति किम् ? वलयवती ।

इको वहेऽपीलोः ॥४।३।२२३॥ इगन्तस्य पीलुवर्जितस्य वहे द्यौ दीर्भवति । खाविति वर्तते । ऋषीवहम् । मुनीवहम् । पचाद्यजन्तेन वहशब्देन ऋसः । इक इति किम् ? पिण्डवहम् । अपीलोरिति किम् ? पीलुवहम् । “अपीलवादेरिति वक्तव्यम्” [वा०] । दासवहम् ।

गेः कासे ॥४।३।२२४॥ इक इति वर्तते । इगन्तस्य गेः कासे द्यौ दीर्भवति । नीकासम् । वीकासम् । अनूकासम् । पचाद्यजन्तस्य कासस्येद् ग्रहणम् । इक इत्येव । प्रकाशते इति प्रकाशः ।

दस्ति ॥४।३।२२५॥ दा इत्येतस्य यस्तकार आदेशस्तदादौ परत इगन्तस्य रोर्दीर्भवति । नीत्तम् । वीत्तम् । परीत्तम् । “गेस्तोऽचः” [५।२।१४६] इत्याकारस्य तकारः । दकारचर्त्वेत्यात एव दीत्ववचनात्सिद्धत्वम् । “गेस्तोऽचः” इत्यत्र द्वितकारको वा निर्देशः इति सर्वादेशः । द इति किम् ? वितोर्णम् । तीति किम् ? निदत्तमिति वेष्यते । इक इत्येव । प्रत्तम् । आत्तम् ।

घञ्यमनुष्ये प्रायः ॥४।३।२२६॥ इक इति निवृत्तम् । घञन्ते द्यौ गेः प्रायो दीर्भवति अमनुष्येऽभिधेये । अपामार्गः । नीमार्गः । नीकलेदः । प्रावारः । “आच्छादने वृजः” [२।३।५०] इति घञ् । नोवारः । “नौ बुधान्ये” [३।३।४४] इति घञ् । प्राकारः कर्मणि । अधिकरणे प्रासादः । अमनुष्य इति किम् ? निपीडन्यस्मिन्निति निषादः । “हलः” [२।३।१०२] इत्यधिकरणे घञ् । “सदोऽप्रतेः” [५।४।४७] इति पत्वम् । प्राय इति किम् ? प्रसदनं प्रसादः । निवेशः । प्रकासः । प्रकरणं प्रकारः । वेशादिभूमयम् । प्रतिवेशः । प्रतीवेशः । प्रतिबोधः । प्रतीबोधः । गेरित्येव । चन्दनसारः ।

खावष्टनः ॥४।३।२२७॥ खुविष्येऽष्टन्नित्येतस्य दीर्भवति द्यौ । अष्टापदः । अष्टावक्रः । अष्टाबन्धनः । अष्टाविटपः । खाविति किम् ? अष्टमहाप्रातिहार्यो जिनः । अष्टगुणः सिद्धः । “अष्टनः कपाले हविषि वक्तव्यम्” [वा०] । अष्टसु कपालेषु संस्कृतमष्टाकपालं हविः । संस्कृतार्थे आगतस्याणः “रस्यो-वनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् । “गवे च युक्ते” [वा०] । अष्टाभिर्गोभिर्युक्तम् अष्टागवं शकटम् । युक्त-शब्दस्याप्रयोगः । यथा भीमसेनशब्दे सेनशब्दस्य ।

चित्तेः कपि ॥४।३।२२८॥ चित्तेर्दीर्भवति कपि परतः । एका चित्तरस्य एकचित्तीकः । द्विचित्तीकः । त्रिचित्तीकः ।

विश्वस्य वसुराटोः ॥४।३।२२९॥ विश्वस्य दीर्भवति वसु राडित्येतयोः परतः । विश्वतो वस्वस्य विश्वावसुः । विश्वस्मिन् राजत इति विश्वाराट् । “सत्सूद्विष” [२।२।५६] आदिसूत्रेण क्विप् । राडिति विकृत-निर्देशो यत्रात्थैतद्द्रुपं तत्र यथा स्यादिह मा भूत् । विश्वराजौ । विश्वराजः ।

नरे खौ ॥४।३।२३०॥ नरे द्यौ विश्वस्य दीर्भवति खुविष्ये विश्वा नरो यस्य विश्वानरः । वसेन यसेन वा व्युत्पत्तिः । खाविति किम् ? विश्वे नरा अस्य विश्वनरो राजा ।

ऋषौ मित्रे ॥४।३।२३१॥ ऋषावभिधेये मित्रे द्यौ विश्वस्य दीर्भवति । विश्वामित्रो नाम ऋषिः । ऋषाविति किम् ? विश्वमित्रः सुजनः ।

अन्यस्यापि ॥४३२३२॥ अन्यस्यापिशब्दस्य द्वावप्यद्यावपि दीर्भवति । कथान्यस्य ? यस्य शिष्टैर्दीर्घं प्रयुक्तम् । “शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्दवराहपुच्छपदेषु दीर्भवति” । श्वादन्तः । श्वादंष्ट्रः । श्वाकर्णः । श्वाकुन्दः । श्वावराहः । श्वापुच्छः । श्वापदम् । श्वावराहमिति द्वन्द्वोऽन्यत्र पसो वसो वा । एकश्च दशचैकादश । केशाकेशि । केशेषु केशेषु च गृहीत्वेदं युद्धं वृत्तम् । “तत्रेदमिति सरूपे” [१३१८६] इति वसः । “ञ इच्” [४२११२८] इति इत्सान्तः । तिष्ठद्वादिषु इजन्तस्य हसंज्ञा । अद्यावपि पूरुषः । सादनम् । नारकः । न भवत्यपि पुरुषः । सादनम् । नरक इति ।

चि ॥४३२३३॥ अण इति इक इति च निवृत्तम् । च् इति अञ्चतिर्नष्टनकाराकारो गृह्यते । तस्मिन् परतः पूर्वपदस्य दीर्भवति । प्राचः पश्य । प्राचा । प्राचे । ढधीचः पश्य । ढधीचा । ढधीचे । मधूचः पश्य । मधूचा । मधूचे । कर्तृचा । कर्तृचे । “अचञ्च” [११११२] इत्यचः स्थाने दीत्वम् । ढधीच इत्यत्र यणादेशमन्तरङ्गमपि बाधित्वा “अचः” [४३१२५] इत्यकारस्य खं भवत्यस्मादेव वचनात् ।

जेः ॥४३२३४॥ जेर्दीर्भवति यौ । जन्तुः । कारीपगन्धीपतिः । कौमुदगन्धीपुत्रः । कौमुदगन्धीपतिः । करीषस्येव गन्धो यस्य करीषगन्धिः । तस्यापत्यं स्त्री । आगतस्थायः “प्योऽञ्चु रूपान्त्ययोः” [३११६३] इति ष्यादेशः । टाप् । “वे प्यस्य पुत्रपत्योर्जिः” [४३१६] इति जिः । जौ कृते अत्राकृते एव जेर्दीर्घे प्राग्वहिकुलनि-यत्र सावकाशः “इकः प्रोऽड्याः” [४३१७२] इत्ययं प्रादेशः प्राप्तः । प्रादेशाम्बावप्ले सावकाशमिदं च दीर्घं प्राप्तम् । परत्वाद्दीर्घं भवति । सङ्कटगतन्यायेन पुनः प्रसङ्गान्न प्रादेशः ।

इत्यभयनन्दिर्विरचितार्या महावृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

[गोः^१ ॥४३११॥ हलः ॥४३१२॥ नाम्यतिसूचतसू ॥४३१३॥ नुवा ॥४३१४॥ नोडः ॥४३१५॥ धेऽकौ ॥४३१६॥ सन्तस्फमहतोः ॥४३१७॥ स्वसूनुनेष्टृत्वष्टृत्तृहोत्पोत्प्रशास्तृत्रपाम् ॥४३१८॥ इन्हनपूषार्यम्णाम् ॥४३१९॥]

शौ ॥४३१२०॥ शौ परत इन् हन् पूषन् अर्यमन् इत्येवमन्तानां दीर्भवति । बहुदण्डिनि । बहुन्तवीणि । बहुपूषाणि । बहुअर्यमाणि । द्वितीयोऽयं नियमः । शावेवेन्नादीनां दीर्भवति नान्यत्र । दण्डिनौ । दण्डिनः । वृत्रहणौ । पूषणौ । अर्यमणौ । तदन्तस्यापि न भवति । परमदण्डिनौ । बहुदण्डिनौ । बहुदण्डिनः ।

सौ ॥४३१२१॥ सौ परत इन्नादीनामुडो दीर्भवति । दम्भी । वाग्मी । तपस्वी । वृत्रहा । पूषा । अर्यमा । पूर्वोणः नियमेनाप्राप्तविध्यर्थमिदम् । अकावित्येव । हे दण्डिन् । हे पूषन् । हे अर्यमन् ।

अत्वसोऽधोः ॥४३१२२॥ साविति वर्तते । अत्वन्तस्य असन्तस्य च किवर्जिते सौ परतः उडः दीर्भवत्यधोः । गोमान् । धनवान् । भुक्तवान् । तत्परिमाणमस्य तावान् । अतोरर्थवतोऽनर्थकस्य च ग्रहणम् । अन्यथा भवद्ग्रहणं कुर्यात् । असा साहचर्याद्वा । अतो रडो दीत्ववचनगणान्धर्द्धीत्वे कृते नुम् । अस्सुपयाः । सुस्रोताः । पित्रेति चेति सुवस्तुडिति स्रोस्तुट् । अधोरिति किम् ? इधुमस्यति इध्वः । दृषदमस्यति दृषदः । यत्रेवमधोरिति किमर्थम् ? अतस् इत्येवं वक्तव्यम् ? न । अन्येषां प्रतिषेधार्थम् । पिण्डग्रः । चर्मणः । ज्ञापनार्थं

१. प्रतिषु [] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिसूचिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्यायीमनुसूत्यात्र निर्दिष्टानि ।

चास्तीदम् । “अनिनस्मिन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च” [प०] इति । अधोरित्यानन्तर्यादसन्तस्यैव प्रतिषेधः । तेनात्र दीन्वम् । गोमन्तमिच्छति गोमन्त्यतेः क्विप् । गोमान् । अकावित्येव । हे गुणवन् । हे सुपयः ।

डस्य क्क्भ्रलोः ङ्ङिति ॥४१४१३॥ डान्तस्य गोहडो दीर्भवति क्कौ भ्रलादौ च ङ्ङिति परतः । प्रशान् । प्रतान् । प्रशान्त्याम् । भ्रलि किम् ? शान्तः । तान्तः । ङ्ङितीति किम् ? शंशान्तः । तंतान्तः । यङ्-पीदम् । डस्येद्वि किम् ? ओदनपक् । पक्तिः । क्क्भ्रलोरिति किम् ? गभ्यते । ङ्ङितीति किम् ? यन्ता । यन्तुः ।

हनिङ्गम्यचां सनि ॥४१४१४॥ हन्तेरिङ्गमेरजन्तानां च दीर्भवति सनि भ्रलादौ परतः । जिवांसति । इङ्गमि-अधिजिगांसते । इङ् इति विशेषणं किम् ? संजिगांसते वत्सो मात्रा । अजन्तानां चिचीपति । सुत्रपति । चिचीर्षति । उङ् इति निवृत्तम् । अचश्चेति हनिङ्गम्योर्योऽच् तस्य स्थाने दीत्वे कृते द्वित्वम् । गोरित्येव । दधि सनोति ।

तनोतेर्षा ॥४१४१५॥ तनोतेः सनि भ्रलादौ वा दीर्भवति । तितांसति । तितंसति । भ्रलीत्येव । तित-निपति । “सनीवन्तर्ध” [५११६७] आदिसूत्रे तनिपतिदरिद्राम् इड्विकल्पः ।

क्रमः क्विन्व ॥४१४१६॥ वेति वर्तते । क्रमो वा दीर्भवति भ्रलादौ क्त्वात्ये परतः । क्रान्त्वा । क्रन्वा । अचश्चेत्यस्य गृह्यमाणेन विशेषणादचः स्थाने दीत्वम् । “डस्य” [४१४१३] इत्यादिना नित्यं प्राप्ते विकल्पः । भ्रलीत्येव । क्रमित्वाऽक्रम्येत्यत्र “प्यादेशोऽन्तरङ्गस्यापि विधेर्बाधकः” [वा०] इति पूर्वं दीत्वस्याप्रवृत्तिः । अनस्वि-धाविति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्पश्चादपि भ्रलादित्वं नास्ति ।

छोः शूङ्ङेच ॥४१४१७॥ वेति निवृत्तम् । छकारवकारयोः स्थाने श् ऊट् इत्येतावादेशौ भवतो ड-संज्ञके परतः कौ ह्रलादौ च ङ्ङिति । प्रश्नः । विश्नः । “वाखाद् गावं बलीयः” [प०] इति छे तुकः परत्वात्नित्यत्वा-द्वा शादेशः । अपि च विच्छेरेप्रतिषेधार्थं नडो डित्करणं ज्ञापकं प्रागेव तुकश्छस्य पशावादेशाविति । “प्रदने चान्तयुगे” [२१२१६७] इति निपातनाजिर्न भवति वकारस्य । स्यो नः । सिवेरौणादिको नः । घेहृ एपः पूर्वमूडा-देशः । “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” [प०] इत्यनित्यमेतत् । तेन यणादेशः । ऊट् एप् । सिवेरौणादिके मकि स्युमः । छस्य कौ वर्मप्राट् । गोविट् । वकारस्य कौ हिरण्यद्युः । अश्रद्युः । अन्नद्युवौ । अश्रद्युवः । छस्य भ्रलादौ पृष्ठः । पृष्ठवान् । पृष्टा । पृष्टिः । वकारस्य द्यूतः । द्यूतवान् । ङ्ङितीत्येव द्युभ्याम् । द्युभिः । अत्र दिवित्यव्युत्पन्नं गृह्यते । ननु ङ्ङितिग्रहणं नानुवत्ये “दिव उत्” [४१३१०८] इति ऊट उदादेशे कृते सिद्धम् । एवं च “ब्रश्च” [५१३१५३] आदिसूत्रे छकारग्रहणं न कर्तव्यं स्यात् । न चावश्यमुत्तरार्थं ङ्ङिद्ग्रहणमनुवर्त्यम् । प्रपञ्चार्थस्तर्हि ब्रश्चादौ छकारः । ब्रश्चादिसूत्रेण यत्र पत्वं नास्ति तत्र श्रवणार्थः शकारः । प्रश्नः । वाङ्छेः क्विपि वान् । वांशौ । वांशः । गोविशौ । गोविशः । गोविशा । शकारसाहचर्यादूरप्यादेशः ङिद्रा ।

ज्वरज्वरस्त्रिव्यविमवां वोङोः ॥४१४१८॥ ज्वर त्वर स्त्रिवि अवि मव इत्येतेषां धूनां वकारोङोः स्थाने ऊडित्ययमादेशो भवति डे कौ भ्रलादौ च परतः । जूः । जुरौ । जुरः । जूर्तिः । त्वरः-तूः । तुरौ । तुरः । तूर्तिः । तेन “न वा ह्यमत्वर” [५१११२८] इत्यादिना अनिट्पद्धे तूर्णः । तूर्णं वान् । अण्डं स्त्रीव्यतीति अण्डसूः । अण्डसवौ । अण्डसुवः । सूत्वा । सूतः । सूतवान् । अवि-ऊः । उवौ । उवः । ऊतिः । मनि वर्तमाने अवेष्टिखं चेति मनाष्टिखे डे परत ऊट् च । ओम् । मव-भूः । मुवौ । मुवः । मूर्तिः । ङ्ङितीति निवृत्तम् । तेन ओतुः । “सितनिगमिमव्यविधाञ्कुसिभ्यस्तुः” [उ० सू०] इति तुः । ज्वरादीनामुङः वकारस्यानन्त्यस्य च ग्रहणम् ।

रः खम् ॥४१४१९॥ रेकात्परयोः छोः खं भवति कौ भ्रलादौ च परतः । हूर्छा-हूः । हुरौ । हुरः । हूर्तिः । हूर्णवान् । मूर्छा-मूः । मुरौ । मुरः । मूर्तिः । “अष्टमूर्च्छिमदाम्” [५१३१५६] इति नत्वप्रतिषेधात् मूर्तः । मूर्तवान् । तुर्वी । तूः । तुरौ । तुरः । तूर्णः । तूर्णवान् । तूर्तिः । धुर्व । धूः । धुरौ । धुरः । धूर्णः । धूर्तिः ।

शूठोरयमपवादः । ङ्ङितीति निवृत्तम् । यडुपि जोहोति । मोमोति । “न खुखेऽगे” [११११३] इति गविपय एप्प्र-
तिपेधो न भवति ।

इटीटः ॥४१४२०॥ इटि परत इट उत्तरस्य खं भवति । इडीटोर्मध्ये सामर्थ्यात्सेः खम् । । अट्टेवीत् ।
अक्रोषीत् । अग्रहीदित्यत्र “ग्रहोऽलिति दीः” [५११८५] इति दीत्वे कृते इटः स्थानिवद्भावात्सेः खम् ।

असिद्धवद्वाभान् ॥४१४२१॥ असिद्धवच्छास्त्रं भवति आ भसंशब्दनात् । अत्र शास्त्रे कर्तव्य
इत्यधिकारो वेदितव्यः । आडभिविधौ द्रष्टव्यः । एधि इत्यत्र नित्यत्वादन एत्वभावयोः कृतयोर्भस्त्रलक्षणं
धित्वमप्राप्तमसिद्धत्वाद्भवति । जहीत्यत्र जादेशे कृते “अतो हेः” [४१४१६] इत्युप् प्राप्नोति अमिद्धत्वान्न भवति ।
गतमित्यत्र ङ्ङिति फलि इत्वे कृते अतः खं प्राप्तमसिद्धत्वान्न भवति । एवं यथायोगमुत्सर्गच्छणसमावेशः ।
आदेशलक्षणप्रतिषेधश्च वेदितव्यः । वत्करणं किम् ? स्वाश्रयमपि यथा स्यात् । देभतुः । देभुः । दभेत्पसं-
ख्याननेन लिटः कित्त्वे कृतेऽनु नखस्य सिद्धत्वात् “हल्मध्ये लिट्यतः” [४१४१०] इत्येत्वं भवति । तथा वुगागमे
उवादेशो सिद्धः । वभूव । वभूवतुः । वभूवुः । युडागमः “एर्गिवाक्चादुडोऽसुधियः” [४१४१०] इति यणादेशे
कर्तव्ये सिद्धः । उपदिदीये । उपदिदीयेते । उपदिदीयिरे । अद्ग्रहणं किम् ? अभिजि रागः । “उडोस्तः”
[५२१४] इत्यैपि कर्तव्ये नकारस्य खं नासिद्धम् । आभादिति किम् ? ररन्धिव । ररन्धिम । हल्मध्ये लिट्यत
इति एत्वे कर्तव्ये नुमशास्त्रं नासिद्धम् ।

श्नान्नखम् ॥४१४२२॥ शनात्परस्य नकारस्य खं भवति । व्यनक्ति । हिनस्ति । सशकागस्य ग्रहणं
किम् ? नन्दिता । नन्दकः । नैतदस्तिमण्डकखुत्वा ङ्ङिद्ग्रहणानुवृत्तेः । ङ्ङितो नात्परस्य खमिष्टम् । इह तर्हि मा भूत् ।
यज्ञानाम् । यत्नानाम् “नामि” [४१४३] इति दीन्वात्परत्वेन नखमिदं स्यात् । “सुपि” [५२१५७] इति तु दीत्वं
सन्निपातपरिभाषया वार्यते । स्थानिवद्भावाद्वा नखं प्राप्नोति । प्रश्नानाम्, विश्नानाम् इत्यत्र लाक्ष्णिकत्वान्न
भवति । शनादिति शनमो नष्टनकारस्य ग्रहणम् । न इति इत्सो नाशे अकारेणोच्चारणार्थेन निर्देशः ।

हलुडः ङ्ङित्यनिदितः ॥४१४२३॥ हल उडो नकारस्य खं भवत्यनिदितो गोः ङ्ङिति परतः । सस्तः ।
स्यस्यने । ध्वस्तः । ध्वस्यने । स्यस्यने । सनीस्यस्यते । भ्रश्नाति । वनीभ्रश्यते । हल इति जातिग्रहणमपि ।
मग्नः । मग्नवान् । हल इति किम् ? नीतम् । नेनीयते । उड इति किम् ? नद्धम् । नानह्यते । ङ्ङिनीति किम् ?
खंसित्वा । मृडादिनियमादकित्त्वम् । अनिदित इति किम् ? शङ्क्यते । मङ्क्यते । तपरकरणं किम् ? समिद्धम् ।
हलुड इति योगावभागः । तेन “लङ्ङिकम्पयोः उपतापशरीरविकारयोर्नखम्” । विलगितः । विकपितः ।
विलङ्ङितः । विकम्पितः इत्यन्यत्र ।

दंशसंजस्वञ्जां शपि ॥४१४२४॥ दंश सञ्ज स्वञ्ज इत्येतेषां शपि परत उडो नकारस्य खं
भवति । दशति । सजति । परिष्वजते ।

रञ्जेः ॥४१४२५॥ रञ्जेश्च शपि परत उडो नकारस्य खं भवति । रजति । रजतः । रजन्ति । योग-
विभाग उत्तरार्थः ।

शौ मृगरमणे ॥४१४२६॥ रञ्जेणो परतो मृगरमणेऽर्थं नकारस्य खं भवति । रजयति मृगान् व्याधः ।
मृगान् रममाणान् दर्शयतीत्यर्थः । “जनीजृक्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च” इति मित्वाडुडः प्रादेशः । मृगरमणे इति
किम् ? रञ्जयति वल्लम् ।

घञि भावकरणे ॥४१४२७॥ भावकरणाभिधायिनि घञि परतो रञ्जेर्नकारस्य खं भवति ।
आश्चर्यो रागः । विचित्रो रागः । करणे रजति तेन रागः । भावकरणे इति किम् ? रजत्यस्मिन्निति रङ्गः ।
करणेऽन्दिः च “हलः” [२३११०२] इति घञ् । विनुणि कथं नखम् । रागी । “दुहानुख” [२३१११] इति

आदि सूत्रे त्यजरजादि निपातनात्सिद्धम् । “दशनहः करणे ऋट्” इति सूत्रे दर्शति विकरणनिर्देशेन निपातनम् । अजादिषु पाठाद् ऋट् इति “रजकरजनरजत्सु नखे यन्नः कर्तव्यः” [वा०] “शिल्पिनि ट्बुः” । युः । औणादिकश्च “अस् सर्वधुस्यः” इत्यस् ।

स्यदावोदैधौअप्रथमहिमश्रथाः ॥४१४२८॥ स्यद, अबोद, एध, ओच्चन्, प्रश्रथ, हिमश्रथ इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । स्यद इति स्यन्देर्घञि नखमैत्रभावश्च निपात्यते जवेऽभिधेये । गोस्यदः । अश्वस्यदः । कुद्योगे तासः । जवादन्त्यत्र तैलस्यन्दो घृतस्यन्दः । अबोद इति उन्देरवपूर्वस्य घञि नखं निपात्यते । एध इन्धेर्घञि नखमेयं च निपात्यते । “न धुखेऽगे” [११११८] इति प्रतिषेधो मा भूत् । ओच्च इति उन्देरौणादिके मनि नखम् । प्रश्रथः हिमश्रथ इति श्रन्थेः प्रपूर्वस्य हिमपूर्वस्य च घञि नखमैत्रभावश्च निपात्यते । “न धुखेऽगे” [११११८] इत्यत्र इकोऽनुवर्तनादेपः प्रतिषेधो न स्यात् ।

नाञ्चैः पूजे ॥४१४२९॥ अञ्चतेः पूजेऽयं नकारस्य खं न भवति । अञ्चितोऽस्य गुरुः । समञ्च्य जिनं गतः । “अञ्चेः पूजाम्” [५१११०१] इति तक्त्वोरिट् । हलुङ् इति नखप्राप्तिः । पूज इति किम् ? उदक्तमुदकं कृत्वात् । अक्त्वा रजुम् । “बोदितः” [५१११०४] इत्यनेनेट्पक्षे मृडादिनियमादकित्त्वम् । अञ्चित्वा । ते “यस्य” [५१११२१] इति प्रतिषेधः । नाञ्चेरित्यनेनैव प्रतिषेधेन नकारः कृतचुत्वो निर्दिष्टः ।

क्त्वि स्कन्दस्यन्दोः ॥४१४३०॥ क्त्वात्ये परतः स्कन्द स्यन्द इत्येतयोर्नकारः खं न भवति । स्कन्त्वा । स्यन्त्वा । स्यन्देः “स्वरति” [५१११२२] इत्यादिनाऽनिट्पक्षे क्त्वात्प्रतिषेधः प्रातम् । इट्पक्षे तु मृडादिनियमादेवाक्त्वे सति नखाभावः सिद्धः । क्त्वीति द्वितकारकनिर्देशः । तकारादौ क्त्वात्ये इति । तेन प्रस्कथ प्रस्यद्येत्यत्र “अनख्विधौ” [१११५६] इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्कारादित्त्वं नास्तीति खं भवत्येव ।

जनशोर्वा ॥४१४३१॥ ज इति वर्णग्रहणम् । जान्तस्य गोर्नशोश्च वा नखं भवति क्त्वात्ये परतः । रक्त्वा । रंक्त्वा । भक्त्वा । भंक्त्वा । नञ्वा । नंञ्वा । नशे “रधादेः” [५१११३३] इति निनापितेऽनिट्पक्षे “मस्जिनशोर्भास्ति” [५११३६] इति नुम् । “हलुङ्” [४१४२३] इति नित्ये नखे प्राप्ते विकल्पः । हल इति जातिग्रहणपक्षे मस्जेरपि नित्यं नखे प्राप्ते भंक्त्वा । अनखपक्षे द्वयोः स्फसंज्ञामाश्रित्य स्फादिसखम् ।

भञ्जेर्जा ॥४१४३२॥ भञ्जेः औ परतो वा नखं भवति । अभाजि । अभञ्जि पापं मुनिना । नखमप्राप्तमनेन पक्षे विधीयते ।

शास इत् ॥४१४३३॥ गोखडः क्लितीति वर्तते । शासेखड इदादेशो भवति क्लिति परतः । किति-शिष्ठा । शिष्टिः । शिष्टः । शिष्टवान् । शिष्यः । “स्तुशासिण्वृहजुषः क्यप्” [२१११६९] इति क्यप् । किति-शिष्टः । शिष्यः । “शास्वसघसाम्” [५१४४०] इति षत्वम् । अजादावङ्घ्ये वेति नियमो भविष्यति । सामर्थ्यादयं हलादौ क्लिति विधिः । हलीति यदि क्रियेत “वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्” [प०] इति कत्रौ न स्यात् । मित्रं शास्तीति मित्रशीः । आर्यं शास्तीति आर्यशीरिति । शासु अनुशिष्टाचित्यस्येह ग्रहणम् । अन्यस्य दीत्वस्य विधेरसम्भवात्तेन आङ्ः शासु इच्छायामित्यस्येत्वं न भवति । आशास्यते । आशास्ते । “लिङ्गशिषि” [२१४१५] इति निर्देशान्यस्यापि क्त्वाचित्त्वम् ।

अङ्गि ॥ ४१४३४॥ अङ्गि परतः शास उङ् इङ्गवति । अन्वशिषत् । अन्वशिषताम् । अन्वशिषन् । नियमार्थोऽयमारम्भः । अजादावङ्घ्येव क्लिति नान्यस्मिन् । शाशासुः । शासति । जन्नादित्वात्संज्ञा । “अत्थात्” [५११४] इत्यदादेशः ।

शा हौ ॥४१४३५॥ शासः शा इत्ययमादेशो भवति हौ परतः । उङ्मपेक्ष्य पूर्वं शास इदित्यवयवयोगलक्षणा ता । सामर्थ्यात् स्थानलक्षणा संपद्यते । अनुशाधि । प्रशाधि । आहाविति यदि सूत्रं क्रियेत

अनेनान्यस्य सम्भवादाकारे कृते पूर्वेण उड इत्वे चानिष्टं रूपं स्यात् । ननुड आत्वे कृते “धि” [५३।४३] इति सखे च सिद्धं शार्धाति उड इति तर्हि निवृत्तम् । अपि च प्रकृतिग्रहणे यङुवन्तस्यापि सचस्य यथा स्यादित्येवमर्थः शादेशः ।

हन्तेर्जः ॥४।४।३६॥ हन्तेर्ज इत्ययमादेशो भवति हौ परतः । जहि मन्युम् । जहि पापम् । तिपा निर्देशाद् यङुवन्तनिवृत्तिः । जंघहीति ।

अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनां ङखं भलि ङ्ङिति ॥४।४।३७॥ अनुदात्तोपदेशानां गूनां वनतेस्तनोत्यादीनां च ङस्य खं भवति झलादौ ङ्ङिति परतः । ङ्ङितीति निर्देशः । ङखम् । यत्वा । यतिः । यतः । यतवान् । ङखे विहतनिमित्तत्वात् “ङस्य” [४।४।३३] इति दीत्वं न भवति । अनुदात्तोपदेशाः यमिरमिनमिगमिहनिमन्यतयः षट् । वतिः । वनतेः स्त्रियां कौ । तनोत्यादीनां तत्वा । ततिः । ततः । ततवान् । सनोतेरात्वं वक्ष्यति । क्षतः । क्षतवान् । ङिति । हतः । हथः । अतत । अतथाः । “तनादिभ्यस्तथासोः” [१।४।१४८] इति सेरुप् । एतेषां ग्रहणं किम् ? शान्तः । तान्तः । ङस्येति किम् ? पक्ववान् । भल्लीत्येव । गम्यते । ङ्ङितीति किम् ? यन्ता । यन्तुम् । उन्तेषां ङस्येति । वनतेस्तिपा निर्देशाद् यङुवन्तस्य निवृत्तिः । वंवांतः ।

शपा तिपाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद्गण्येन च ।

यच्चैकाग्रहणं किञ्चित्पञ्चैतानि न यङ्ङुपि ॥

तनोतेर्गणनिर्देशादेव यङ्ङुवन्तस्य न भवतीति सिद्धे तिपा निर्देशः “द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति” [५०] इति निर्दर्शनार्थस्तेन सकृदुक्त ऐप् क्वचिन्न भवति । ज्योतीष्यधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्यै तपः । पुनः ङ्ङितीति ग्रहणं विस्पष्टार्थम् ।

प्ये ॥४।४।३८॥ प्ये च परतोऽनुदात्तोपदेशादीनां ङखं भवति । प्रहत्य । प्रमत्य । प्रवत्य । प्रतत्य । प्रसत्य । प्रक्षत्य । अम्ललादावपि विध्यर्थमिदम् ।

वा मः ॥४।४।३९॥ ङ्ङान्तोपदेशे ङ्ङि मकारान्तानां वा ङखं भवति प्ये परतः । प्रयत्य । प्रयम्य । प्ररत्य । प्ररम्य । प्रणत्य । प्रणम्य । प्रगत्य । प्रगम्य । पूर्वेण नित्ये खे प्राप्ते विकल्पः ।

न क्तिचि दीश्च ॥४।४।४०॥ क्तिचि परतः अनुदात्तोपदेशादीनां ङखं दीश्च न भवति । यन्तिः । रन्तिः । नन्तिः । वन्तिः । तन्तिः । क्षन्तिः । अनुदात्तोपदेशादीनामित्येव । शान्तिः । दीत्वं भवत्येव ।

गमः क्वौ ॥ ४।४।४१॥ गमः क्वौ परतो ङस्य खं भवति । जनगत् । कलिगत् । मोक्षगतो मुनयः । “वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्” [५०] इति भलाद्यभावादप्राप्तं ङखमनेन विधीयते । पूर्वसूत्राच्चकारोऽनुवर्तते, सोऽज्ञानुक्तसमुच्चयार्थः । तेन गमादीनां क्वौ ङखं द्रष्टव्यम् । संयत् । परीतत् । “वागमिङ्” [१।३।८२] इति षसे कृते “नहिवृत्ति” [४।३।२१६] इत्यादिना परेर्दीत्वम् ।

वन्याः ॥४।४।४२॥ अनुदात्तोपदेशादि निवृत्तम् । ङस्येति वर्तते । ङान्तस्य गोर्वनि परत आत्वं भवति । विजायत इति विजावा । “मन्वन्कनिब्विचः क्वचित्” [२।२।६२] इति वन् । “वशि” [५।१।११४] इतीट्प्रतिषेधः । अन्तेऽलः स्थाने आत्वम् । एवम् अग्रेगावा । दधिक्रावा । दीत्वोच्चारणं किमर्थम् ? ओणु अपनयन इत्यस्माद्भिन्नं अवावा । घुण घूर्ण भ्रमणे । ध्वावा । इवि व्याप्तौ—यावा । “इदिद्धोर्नुम्” [५।१।३७] “वलि व्योः खम्” [४।३।५५] इति वनि परतो नकारस्य खम् । एतच्च वर्णनिमित्तं नागनिमित्तमिति न धाखेऽवात् “ध्युङ्” [५।२।८३] इत्येप् प्रातस्तमन्तरङ्गत्वाद्य एादेशो बाधते ।

जनसनखनाम् ॥४१४४३॥ जन सन खन इत्येतेषां डस्य भ्लादादौ ङिति परत आकारादेशो भवति । जातः । जातवान् । जातिः । सातः । सातवान् । सातिः । खातः । खातवान् । खातिः । सनोतेस्तनादौ पाठस्य “तनादिभ्यस्तथासोः” [१४१४८] इत्यादिकार्यमवकाशः । इह पाठस्य च सनि परत आत्वमवकाशः । भ्लादादौ ङिति ङखादित्वं परत्वात् । ननुभयोः सिद्धत्वे स्पर्धः इह च “असिद्धवदत्राभात्” [४१४२१] इत्युभयमप्यसिद्धं तत्कथं परत्वम् । अत्रोच्यते “भुमास्थागा” [४१४६५] आदिसूत्रे हलीति हल्ग्रहणं ज्ञापकं भवत्यत्र स्पर्धः । तथाहि तस्यैतत्प्रयोजनं हलादादीत्वं यथा स्यात् । अजादौ मा भूत् । गोदः कम्बलदः इति । अस्त्वत्रापीत्वं तस्यासिद्धत्वात् “इटि चात्” [४१४६३] खेन सेत्स्यति नार्थां हल्ग्रहणेन । तदेतत्स्पर्धे सति सार्थकम् । क्रियमाणे हल्ग्रहणे गोद इत्यत्र परत्वादीत्वे “सकृद्गते परनिर्णये विधिर्बाधितो बाधित एव” [५०] इत्यात्वं न स्यादिति मन्यमानो हलीत्याह ।

सनि ॥४१४४४॥ सनि च भ्लादादौ परतो जनादीनां डस्य आकारादेशो भवति । सिसासति । भलित्येव । जिजनिप्रते । सिसनिप्रति । चिखनिप्रति । “सनीवन्तर्ध” [५११६७] इत्यादिनाऽनित्पन्ने सनोतेरेव सन् भ्लादिः सम्भवति । ङिद्ग्रहणमसम्भवादिह न संबध्यते ।

ये च ॥४१४४५॥ ङितीति वर्तते । ङिति यकारे त्ये परतो वा जनादीनामाकारादेशो भवति । जायते । जन्यते । जाजायते । जज्जन्यते । श्ये परत्वाद् “ज्ञाज्नोर्जा” [५१२१७] इति नित्यो जादेशः । सायते । सन्यते । सासायते । संसन्यते । खायते । खन्यते । चाखायते । चंखन्यते । अभ्लादावपि यथा स्यादित्यारम्भः । ङितीत्येव । जन्यम् । “शकिसहश्च” [२११८६] इति चशब्देनान्येभ्योऽपि यः । श्ये च सान्यम् । खान्यम् । य इति त्यनिर्देशो न वर्णनिर्देशः । तेनेह न भवति सन्यात् । खन्यात् । “किदाशिपि” [२११८५] इति कित्वम् ।

तनोतेर्यकि ॥४१४४६॥ तनोतेर्यकि परतो वा आकारादेशो भवति । तायते । तन्यते । यकीति किम् ? तन्तन्यते । अप्राप्ते विकल्पः ।

सनः क्तिचि खं च ॥४१४४७॥ सनः क्तिचि परतः खं भवत्याकारश्च वा । सतिः । सातिः । सन्तिः । “न क्तिचि दीश्च” [४१४४०] इति डखदीत्वयोः प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् ।

अग्रे ॥४१४४८॥ वेति निवृत्तम् । अग्रे इत्ययमधिकारो वेदितव्यः । “लुङ्लङ् लृङ् लृङ्” [४१४७०] इत्यतः प्राक् यदनुक्रमिष्यामः अग्रे इत्येवं तद्वेदितव्यम् । वक्ष्यति “अतः खम्” [४१४५०] चिकीर्षिता । अग्रे इति किम् ? चिकीर्षति । ननु भवतु गोप्यतः खम् । शपोऽकारस्य श्रवणं भविष्यति । एवं तर्हि शपोऽकारस्यैव गे खं माभूत् । ननु “शपोऽदादिभ्यः” [१४११४३] इत्युज्ज्वलनं ज्ञापकम् । शपो गे खं न भवति । नैतदस्ति “नोमता गोः” [१११६४] इति त्याश्रयकार्यप्रतिषेधार्थं ता स्यात् । मृष्ट इति । “हल्यैबुप्युतः” [५१२१७] इत्यैपो विधानार्थं च । यौति । रौति । तत्वलोश्च खं मा भूत् । वृक्षतेति । “हलो यः” [४१४५१] बेभिदिता । बेभिदिदुम् । गे माभूत् । बेभिद्यते । “शोः” [४१४५३] कारणा । हारणा । अग्रे इति किम् ? कारयति । हारयति । “सिष्यसीयुट्तासौ डौ ग्रहाङ्गनदृशां जिवदिट् च” [४१४६१] इति अग्रे सीयुट् । कारिणीष्ट । गे मा भूत् । प्रस्तुवीत । “सोश्च जिश्च” [२११५६] इति यक् प्रतिषिध्यते । इह च क्रियेत हियेत । “ङ्गित्यचः” [५१२१३] इति यक् ऐपि युक् प्रसज्येत । “इटि चात्खम्” [४१४६३] पपतुः । पपुः । ययतुः । ययुः । गे मा भूत् । पान्ति । वान्ति । “भुमास्थागापा” [४१४६५] इत्यादिनेत्वम् । दीयते धीयते । गे मा भूत् । अदाताम् । अधाताम् । “ङिङ् येत्” [४१४६६] देयात् । गे मा भूत् । दद्यात् । दध्यात् । “वाऽस्थः स्फादेः” [४१४६७] ग्लेयात् । ग्लयात् । अग्रे इत्येव । विध्यादिलिङि-स्नायात् ।

अस्जोरसोरम्वा ॥४।४।४६॥ अस्जो रेफसकारयोर्वा रमादेशो भवति । भर्षा । अष्टा । भर्षुम् । अष्टुम् । भर्षव्यम् । अष्टव्यम् । रसोरिति पुनस्ताया उपादानादादेशोऽयं रसोः स्थाने भवति मित्वोच्चारणसामर्थ्यादचोऽन्त्यात्परो भवति । रमभावपक्षे स्फादेः सखम् । ननु रेफस्यैव रमादेशो वक्तव्यः । द्वयोः स्फसंज्ञामाश्रित्य सखेन सिद्धमिति चेदजादौ न सिध्यति । भर्जनम् । अर्जनम् । भर्गः । अर्द्गः । पक्षे “**भ्रूलां जश् भृशि**” [५।४।१२८] इति सकारस्य दत्वम् । रमादेशस्यावकाशोऽङ्किति अष्टा । भर्षा । जेरवकाशो भृज्जति । इहोभयं प्राप्नोति भृष्टा । भृष्टवानिति । कृताकृतप्रसङ्गेन नित्यो जिर्भवति । जौ कृते रमादेशो न भवति । उपदेश इत्यनुवर्तनात् । तेनेहापि न भवति वरीभृज्यते ।

अतः खम् ॥४।४।५०॥ अग्रेऽकारान्तस्य खं भवति । चिकीर्षिता । धिनोति । धिनुतः । कृणोति । कृणुतः । इवि दिवि धिवि प्रीणने । कृवि हिंसाकरणयोश्च । “**इदिद्धोर्नुम्**” [५।१।३७] । “**धिन्विक्कणव्योर च**” [२।१।७५] इति उविकरणः । अकारश्चान्तादेशः । तस्य खे । तपरकरणं किम् ? याता । ऐपोऽवकाशः प्रियमाचष्टे प्रापयति । कारयति । अत्रखस्यावकाशः चिकीर्षिता । इहोभयं प्राप्नोति चिकीर्षक इति । दीत्वस्यावकाशः परिडतायते । स्तूयते । अत्रखस्यावकाशः चिकीर्षिता । इहोभयं प्राप्नोति चिकीर्ष्यते इति । किमत्र तत्वम् ? “**ऐर्दीत्वाभ्यासमतः खं पूर्वनिर्णयेन**” [वा०] “**लिप्स्यसिद्धौ**” [२।३।५] इत्यत्र लिप्स्य इति विग्रहनिर्देशात् ।

हलो यः ॥४।४।५१॥ हलन्ताद्गोरुत्तमस्य यकारस्य खं भवत्यग्रे । बेभिदिता । बेभिदितुम् । बेभिदितव्यम् । पूर्वेणातः खे कृते यल्लविधिं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधादनेन यत्वम् । तृचमपेक्ष्य “**ध्युङ्**” [५।२।८३] एप्प्राप्तोऽतः खस्य स्थानिवद्भावान्न भवति । “**न धुस्वेजो**” [१।१।१८] इत्ययं तु प्रतिषेधो हलचोः खे अल्मात्रस्य खे न प्रवर्तते । लोलुवः । देयः इति । अत्र “**यङोऽचि**” [१।४।१४४] इत्युब्धस्त्वं कृतप्रसङ्गेन नित्यम् । उपि तु कृतेऽतः खं शास्त्रं न प्रवर्तते इत्यनित्यम् । तेन हलचोऽपि कृते स्थानिवद्भावाभावात् “**न धुस्वेजो**” [१।१।१८] इत्यनेन प्रतिषेधः । हल इति किम् ? लोलूयिता । पोपूयिता । गोर्निमित्तत्वेन विशेषणादिह न भवति । ईर्ष्यिता । समिध्यिता । अतः खे कृतेऽपि यकारमात्रस्य त्यस्य गुसंज्ञानिमित्तत्वमस्ति यथा अकरोदित्यत्र तिप इकाराभावेऽपि ।

वा क्यस्य ॥४।४।५२॥ क्यस्य हल उत्तरस्य वा खं भवत्यग्रे । समिधिता । समिध्यिता । हपदिता । हपद्यिता । समिधमिच्छति आत्मनः “**स्वेपः क्यच्**” [२।१।६] समिधमिवाचरति “**गौणादाचारे**” [२।१।८] इति वा क्यच् । समिदिवाचरतीति “**कर्तुः क्यङ् स खं विभाषा**” [२।१।६] इति क्यङ् । तान्येवोदाहरणानि । हलन्तात् क्यखोऽसम्भवः । “**नः क्ये**” [१।२।१०४] इति पूर्वपदत्वाभावः ।

शोः ॥४।४।५३॥ अग्रे शोः खं भवति । अततत्त् । इयादेशः प्रातः । आटिटत् । इयादेशापवादः “**एर्गिवाक् चादुङोऽसुधियः**” [४।४।७८] इति यत्वं प्रातम् । कारणा । हारणा । ऐप् प्रातः । शीप्स्यति सनि दीत्वं प्रातम् । कार्यते । हार्यते “**दीरकृद्गो**” [५।२।१३४] इति दीत्वं प्रातम् । कारको हारकः । ऐप् प्रातः । णिङ् कामनम् । कामकः । काम्यते । इयादिभिः सर्वस्य विषयस्यावष्टब्धत्वात्सामान्यरूपेण तेषामयमपवादः ।

ते सेटि ॥४।४।५४॥ तसंज्ञके सेटि परतो शोः खं भवति । कारितम् । गणितम् । लक्षितम् । संज्ञपितः । ज्ञपेः सनि विकल्पितेऽपि “**यस्य वा**” [५।१।१२१] इत्यनेन प्रतिषेधः । एकाच इत्यपेक्षणात् । कथं तर्हि विज्ञतः प्रभुरिति विकल्पेन “**ञ्जज्ञसाः**” [५।१।१२४] इति निपातनात् । नियमार्थोऽयमारम्भः । त एव सेटि नान्यस्मिन् । कारयिता । हारयिता । ते सेट्ये वेत्यवधारणं न भवति शोः परस्यानिटस्तस्याव्यावर्त्यस्याभावात् । सेटीति वचनात्पूर्वमिडागमः पश्चात्खम् । अन्यथा कृताकृतप्रसङ्गेन नित्ये णिखे कृते “**एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्**” [प०] “**एकाचोऽनुदात्तात्**” [५।१।११५] इतीट्प्रतिषेधः प्रसज्येत ।

अयामन्ताल्वाय्येत्नुषु ॥४१४५५॥ रोऱयादेशो भवति आम् अन्त आलु आय्य इत्नु इत्येतेषु परतः । आम् । कारयांचकार । अन्त । गदयन्तः । मण्डयन्तः । “द्विशिभ्यां ऋः” [३० सू०] । “गदिमदिमण्डिजिनदिभ्यश्च” [३० सू०] इति ऋः । आलुः । स्पृहयालुः । आय्यः । स्पृहयाय्यः । “महिसुद-
क्षिस्पृहिभ्य आय्यः” [३० सू०] इत्याय्यः । इत्नुः । स्तनयित्नुः । गदयित्नुः । “स्तनिहृदियुषिगदिमदि-
भ्यो रोऱित्नुः” [३० सू०] । णिखस्यायमपवादः । नेति सिद्धेऽयादेश उत्तरार्थः ।

प्ये धिपूर्वात् ॥४१४५६॥ प्ये परतो धिपूर्वाद्घर्णात्परस्य रोऱयादेशो भवति । प्रशमय्य । प्रतमय्य । लवणं कृतवान् प्रलवणय्य । प्रस्तनय्य । यङन्ताण्यिणचि प्रवेविदय्य गतः । ननु प्रादेशाट्टिग्नान्त्वखानानामाङ्गा-
स्रत्वादसिद्धत्वे कथं धिपूर्वाद्घर्णात्परस्य रोऱिः । व्याश्रयत्वासिद्धत्वम् । प्रादेशादयो णौ प्ये परतो रोऱयादेश इति वचनाद्वा सिद्धत्वम् । धिपूर्वादिति किम् ? प्रहास्य प्रचिकीर्ष्य गतः ।

वाऽऽपः ॥४१४५७॥ आपः परस्य रोऱे प्ये परतो वाऽयादेशो भवति । प्रापय्य प्राप्य गतः । स्वादिकस्य चौरादिकस्य चापेर्ग्रहणम् । सूत्रमध्याप्य गतः इत्यत्र लाक्षणिकत्वान्न भवति । अपजवस्ते प्रापय्य गतः इत्यत्रैका देशस्यासिद्धत्वाद्भेदो भवति ।

क्षियो दीः ॥४१४५८॥ वेति नाधिकृतम् । क्षियो दीर्भवति प्ये परतः । आक्षीय । तुकि प्राप्ते दीत्वम् ।

तेऽण्ये ॥४१४५९॥ अण्यार्थे विहिते ते परतः क्षियो दीर्भवति । कः पुनर्यार्थो यः पर्युदस्यते । भावकर्मणी “तयोर्भ्यक्तत्वार्यः” [२१४५५] इति वचनात् आक्षीणः । परिक्षीणः । “धिगत्यर्थाच्च” [२१४५८] इति कर्तरि क्तः । दीत्वे कृते क्षीत इति तस्य नत्वम् । इदम् क्षीणं सार्थस्य । क्षीयतेऽस्मिन्निति “अधिकरणे चाद्यर्थाच्च” [२१४५९] इत्यधिकरणे क्तः । “क्तस्याधिकरणे” [११४७०] इति कर्तरि ता । अण्य इति किम् ? आक्षितमस्य । भावे दीत्वाभावान्नत्वं नास्ति । समो क्षियः सकर्मकत्वे कर्मण्यपि ।

वा दैन्याक्रोशे ॥४१४६०॥ अण्यार्थे ते परतो दैन्ये आक्रोशे च गम्ये क्षियो वा दीर्भवति । दैन्ये क्षितोऽयं क्षीणोऽयं वराकः । आक्रोशे क्षितोऽसि क्षीणोऽसि जाल्म । क्षितायुः । क्षीणायुः । कर्तरि क्तः । अण्य इत्येव । क्षितं वराकस्य । क्षितं जाल्मस्य ।

सिस्वसीयुट्तासौ डौ प्रहाङ्भन्द्दशां जिवदिट् च ॥४१४६१॥ सि स्व सीयुट् तासि इत्येतेषु परतो डौवर्थे ग्रहेरजन्तानां हनि दृशि इत्येतयोश्च वा जिवत्कार्यं भवति । यदा जिवद्भावस्तदा इडागमश्च भवति स्विन्दिट्तासौ । अग्राहिषाताम् । अग्रहीषाताम् । “ग्रहोऽल्लिटि दीः” [५११८५] इत्यत्र प्रकृतस्येदो दीत्वम् । ग्राहिष्यते । अग्रहीष्यते । ग्राहिषीष्ट । अग्रहीषीष्ट । ग्राहिता । अग्रहीता । इदो दीत्वाभाव एषू च प्रयोजनम् । अजन्तानाम्—अचायिषाताम् । अचेषाताम् । अग्लायािषाताम् । अग्लासाताम् । अकारिषाताम् । अकृषाताम् । “उः” [१११८६] इति सेः क्त्विम् । चायिष्यते । चेष्यते । ग्लायािष्यते । ग्लास्यते । कारिष्यते । करिष्यते । चायिषीष्ट । चेष्ठीष्ट । ग्लायािषीष्ट । ग्लासीष्ट । कारिषीष्ट । कृष्ठीष्ट । “उः” [१११८६] इति लिङः क्त्वं च । चायिता । चेता । ग्लायिता । ग्लाता । कारिता । कर्ता । अनुदात्तादिडागमः । आतो युक्च प्रयोजनम् । अघानिषाताम् । अहसाताम् । अजिवद्भावे “वेङ्कि” [११४११६] इति वधादेश उदात्तः । अवधिषाताम् । धानिष्यते । हनिष्यते । धानिषीष्ट । वधिषीष्ट । परत्वात् जिवद्भावे कृते “सङ्घट्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [५०] इति वधादेशो न भवति । द्यत्वं च प्रयोजनम् । अर्दशिषाताम् । अर्दन्नाताम् । “सि लिङ्दे” [१११८५] इति क्त्विम् । दर्शिष्यते । द्रक्ष्यते । “भक्त्यकिति सृजदशोऽम्” [४१३१५१] इत्यर्मागमः । दर्शिषीष्ट । दृक्षीष्ट । दर्शिता । द्रष्टा । सिस्वसीयुट्तासाविति किम् ? दातव्यम् । दानम् । डाविति किम् ? लविष्यति । दास्यति । अहाङ्भन्द्दशामिति किम् ? पद्यत ओदिनम् । उपदेश इत्यनुवर्तनात् कारिष्यत इत्यत्र परत्वादेपि कृतेऽपि जिवद्भावः । शमयतेरजन्तस्य जिवद्भावपक्षे

“जिणमोर्दीर्घिताम्” [४।४।८६] इति वा दीर्घे कृते द्वे रूपे शामिष्यते । शमिष्यते । नित्यत्वाद्बलाद्यगस्येदं वाधित्वा त्रिवदिट् । तस्यासिद्धत्वाणिषण्वम् । अन्यत्र शमयिष्यते । औ हृष्टं कार्यं सामान्येनातिदिश्यते । तेन वानिष्यते । आयिष्यते । अध्यापिष्यते इत्यत्र हनिषिण्डां त्रिवद्भावे वधादय आदेशाः लुङि विहिता न भवन्ति ।

दीङोऽचि ङिति युट् ॥४।४।६२॥ दीङोऽजादौ ङिति परतो युडागमो भवति । उपदिदीये । उपदिदीयाते । उपदिदीयिरे । दीङ इति कानिर्देशोऽचीत्यस्योत्तरत्र सावकाशस्य तां कल्पयति । वचनाद्युटः सिद्धत्वात् “पूर्णिवाक्चादुङोऽसुधियः” [४।४।७८] इति यणादेशो न भवति । अतीति किम् ? उपदीयते । ङितीति किम् ? उपादानम् । “गागयोः” [५।२।८१] इत्येप् । “मिन्मीजूदीङां प्ये च” [४।३।४३] इत्यात्वम् । यङुवन्ता-दामा भवितव्यमित्यनुबन्धनिर्देशो विस्पष्टार्थः । पूर्वान्तकरणे उपदिदीयिष्वे इत्यत्र इणन्ताद्गोरुत्तरस्य दत्वं प्रसज्येत ।

इटि चात्वम् ॥४।४।६३॥ इटि अजादौ च ङिति परत आकारान्तस्य गोः खं भवति । पपिथ । जगिलथ । “वोपदेश” [५।१।१०८] इत्यादिनेट् । पपतुः । पपुः । तस्थुः । तस्थुः । गोदः । कम्बलदः । ङिति-प्रपा । संस्था । अचीत्येव । दासीय । ग्लायते । “रत्नञ्जेटः” [२।४।८६] इतीटोऽकारादेशः । अग इत्येष । यान्ति । व्यत्यस्ते । इटीति यद्यविशेषणग्रहणं तदा गेऽप्यातः खेन भवितव्यम् । व्यत्यस्तोति । एतच्च अगाधि-कारेण विरुद्धमिव लक्ष्यते ।

ईद्ये ॥४।४।६४॥ आकारान्तस्य गोरीकारादेशो भवति ये परतः । देयम् । धेयम् । ग्लेयम् । “गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्” [५०] इति अनित्यमेतत् । “देयमृणे” [३।३।२२] इत्येपो निर्देशात् । यद्येप् क्रियते दीत्वोच्चारणं किमर्थम् ? पीतम् । हीनम् । य इति “निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य” [५०] । ग्लायते । म्लायते ।

भुमास्थागापाहाक्सां हलि ॥४।४।६५॥ ङितीति वर्तते । भु मा स्था गा पा हाक् सा इत्येनेषा-मीकारादेशो भवति हलादौ ङिति परतः । भुसंज्ञानाम् । दीयते । देदीयते । धीयते । देधीयते । पीतं कसेन । मा इत्यविशेषेण ग्रहणम् । “गामादाग्रहणेऽप्यविशेषः” [५०] इति । मीयते । स्था-स्थीयते । तेषीयते । गा इत्यविशेषेण ग्रहणम् । गीयते । जेगीयते । अय्यगीष्ट । “लुङ्लुङोर्वा” [१।४।१२२] इति ईङो गादेशः । पा इत्यनुबन्धकरणपित्रतेर्ग्रहणम् । पीयते । पेपीयते । पातेस्तु पायते । पानम् । हाक्-अवहीयते । अवजेहीयते । जिहीतेस्तु हायते । हातम् । सा-अवसीयते । अवसेपीयते । हलीति किम् ? ददतुः । ददुः । ङितीत्येव । दाता ।

लिङ्येत् ॥४।४।६६॥ लिङि परतो भुमादीनामेकारादेशो भवति । देयात् । धेयात् । मेयात् । स्थेयात् । गोयात् । पेयात् । अवहेयात् । अवसेयात् । ङितीत्येव । दासीष्ट ।

वाऽस्थः स्फादेः ॥४।४।६७॥ आकारान्तस्य स्फादेः स्थावर्जितस्य गोरेकारादेशो भवति वा लिङि परतः । ग्लेयात् । ग्लयात् । म्लेयात् । म्लयात् । अस्थ इति किम् ? स्थेयात् । अन्यथोभयप्राप्तौ परत्वादेतेन विकल्पः स्यात् । स्फादेरिति किम् ? यायात् । ङितीत्येव । ग्लासीष्ट । गोरित्वेव । निर्यायात् ।

न प्ये ॥४।४।६८॥ वेति नाधिकृतमुत्तरत्र वाग्रहणात् । प्ये परतो भुमादीनां यदुक्तं तन्न भवति । प्रदाय । प्रधाय । प्रमाय । प्रगाय । प्रस्थाय । प्रपाय । अवहाय । अवसाय । ईत्वप्रतिषेधोऽयम् । वचनात् “अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गः प्यादेशो बाधते” [५०] इति ज्ञापितम् । तेन “दो दङ्गोः” [५।२।१४८] इति दङ्गावः । दधातेर्हि-आदेशः । “हाकः क्त्व” [५।२।१४७] । मास्थास्यतीनामित्वं च न भवति । प्यादेशे कृतेऽनल्लिधाविति स्थानियङ्गात्प्रतिषेधात्प्राप्तिः ।

वेर्मेडः ॥४१४६६॥ मेडः प्ये परतो वा इकारादेशो भवति । अपमित्य । अपमाय । “माडो व्यतीहारे” [२।४।५] इति क्त्वा ।

लुङ्लङ्लुङ्यट् ॥४१४७०॥ लुङि लङि लृङि च परतो गोरडागमो भवति । अकार्षीत् । अकरोत् । अकरिष्यत् । ऐक्षिष्ट । औम्भीत् । ऐक्षत । औम्भत् । ऐक्षिष्यत् । औम्भिष्यत् “अटश्च [२।३।७८] इत्यैप् । आसन् आयन् इत्यत्र लावस्थायामडागमेऽन्तरङ्गत्वादप्यायादेशे च कृतेऽत इत्यनुवृत्तेः “शनसः खम्” [४।४।१०१] यणदेशश्च न भवतः ।

न माङ्योगे ॥४१४७१॥ माङ्योगेऽडागमो न भवति । मा कार्षीत् । मास्म करोत् । मानिरसीत् । मास्म निरस्ताम् । योगग्रहणं किम् ? मा भवान् कार्षीत् । इदमेव ज्ञापकं “माङि लुङ्” [२।३।१५१] इत्यत्र माङ्योगे लुङ् द्रष्टव्यः ।

शुधुभ्रुवां खोरचीयुधौ ॥४१४७२॥ शु धु भ्रू इत्येतेषां गूनामिवर्णोवर्णयोरजादौ परत इयु उव् इत्यादेशौ भवतः । शुनु । प्रान्नुवन्ति । राध्नुवन्ति । चिद्धियुः । लुलुवतुः । लुलुवुः । नियौ । नियः । लुवौ । लुवः । भ्रू । भ्रुवौ । भ्रुवः । निर्दिश्यमानयोरिवर्णोवर्णयोरदेशः । यथा “पादः पद्” [४।४।११६] इति पाच्छब्दस्य पदादेशो न पादन्तस्य । नयति । भवति । नायकः । भावकः इत्यत्र परत्वादेवैषौ । अचीतीभिर्देशाद् व्यवधाने न भवति । विविदतुः । विविदुः । गोरित्येव । स्यर्थम् । भ्रुवर्थम् ।

चस्याऽस्वे ॥४१४७३॥ चस्येवर्णोवर्णयोरस्वेऽचि परत इयुवौ भवतः । इयेप । इयति । पूर्वेण गुणिमित्तेऽचि आदेश उक्त इति न प्राप्नोति । अस्व इति किम् ? ईषतुः । ईषुः । ऊषतुः । ऊषुः । अचीत्येव । इयाज । उवाय ।

स्त्रियाः ॥४१४७४॥ स्त्रियाश्च इयादेशो भवति अचि. परतः । स्त्रिया । स्त्रियः । परमस्त्रियौ । परमस्त्रियः । अलैवानर्थकेन तदन्तविधिः नात्संघातेन । तेन शस्त्रीशब्दस्य न भवति । स्त्रीणामित्यत्र परत्वान्नुट् । पृथक्करणमुत्तरार्थम् ।

वाम्शसोः ॥४१४७५॥ अमशसोः परतः स्त्रिया वा इयादेशो भवति । स्त्रियं पश्य । स्त्रीं पश्य । स्त्रियः पश्य । स्त्रीः पश्य ।

औतः ॥४१४७६॥ आकारादेशो भवति औतोऽमशसोः परतः । वेति न स्वरितं गां गाः पश्य । यां याः पश्य च गोशब्दस्य अमि ऐपः पूर्वनिर्णयेनात्वम् । चित्रगुं पश्येत्यन्तरङ्गत्वात्प्रादेशे सत्यात्वाभावः । शसत् सहचरितस्थामो ग्रहणादिह न भवति । अचिनवम् । असुनवम् ।

यरोत्योः ॥४१४७७॥ यणादेशो भवति एत्योरचि परतः । यन्ति । यन्तु । अधियन्ति । अधियन्तु । “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [प०] इतीयादेशस्य बाधा न्त्वेवैषोः । अयनम् । आयुकः ।

एर्गिवाक्चादुङोऽसुधियः ॥४१४७८॥ गिवाक्चात्परो य उङ् तस्मादुत्तरस्य इवर्णस्य यणादेशो भवत्यचि परतः सुधीशब्दं वर्जयित्वा । गिः-उन्न्यौ । उन्न्यः । परिण्यौ । परिण्यः । वाचः-ग्रामण्यौ । ग्रामण्यः । सेनान्यौ । सेनान्यः । चात्-चिच्यतुः । चिच्युः । निन्यतुः । निन्युः । गिवाक्चादिति किम् ? नियौ । नियः । परमनियौ । परमनियः । उङ् इति किम् ? यवक्रियौ । यवक्रियः । उङ्त्र गिवाक्चात्परो न भवति । ककारेण व्यवधानात् । असुधिय इति किम् ? सुधियौ । सुधियः । “ध्याप्योर्जिश्च” [उ०सू०] इति क्तिप् जित्वं च ।

सुप्योः ॥४१४७९॥ अजादौ सुपि परतो गिवाक्चपूर्वादुङः परस्य उवर्णस्य यणादेशो भवति । सुल्वौ । सुल्वः । सकृल्वौ । सकृल्वः । खलप्वौ । खलप्वः । शतस्वौ । शतस्वः । सुपीति किम् ? लुलुवतुः । एतदर्थं च योगान्तरम् । गिवाक्चादित्येव । भुवौ । भुवः । लुवौ । लुवः । परमलुवः । उङ् इत्येव कटप्रुवौ । कटप्रुवः ।

हन्कारापुनर्वर्षाभ्यो भुवः ॥४१४८०॥ हन् कारा पुनर् वर्षा इत्येतेभ्य उत्तरस्य भुवो यणादेशो भवत्यचि सुपि परतः । हन्भ्यौ । हन्भ्यः । काराभ्यौ । काराभ्यः । पुनर्भ्यौ । पुनर्भ्यः । वर्षाभ्यौ । वर्षाभ्यः । नियमार्थोऽयमारम्भः । एतेभ्यः एव भुवो यण् नान्यस्मात् । प्रतिभुवौ । प्रतिभुवः । स्वयम्भुवौ । स्वयम्भुवः । मित्रसुवौ । मित्रसुवः । “भुवः ख्वन्तरे” [२।२।१५२] इति क्विप् ।

लुङ्लिटोर्युक् ॥४१४८१॥ भुवो वृगागमो भवति लुङ्लिटोरचि परतः । अभूवन् । अभूवम् । “स्थेष्पिब” [१।४।१४६] इत्यादिना सेरुप् । मिपोऽमादेशे “सूभवत्योर्मिङि” [५।२।८६] इत्येपि प्रतिषिद्धे युक् । लिटि-अभूव । वभूविथ । वभूवतुः । वभूवुः । णलि थे च पूर्व्विप्रतिषेधेनैवैवोर्युक्ता बाधा । लुङ्लिटोरिति किम् ? व्यतिभविषीष्ट । ओरित्यनुवर्तते तेन यङुवन्तस्य परत्वादेपि कृते न भवति । अत्रोभवम् ।

हुशुवोर्गे वः ॥४१४८२॥ हु शु इत्येतयोस्कारस्य वकारादेशो भवत्यजादौ गे परतः । जुह्वति । जुह्वतुः । चिन्वन्ति । “ग्रहाङ्कन्देशाम्” [४।४।६१] इत्यतो मण्डूकगत्याऽजग्रहणमनुवर्तते । तेनात्र उत्तरस्य शनोर्वकारादेशः । इह मा भूत्-प्राप्नुवन्ति । राप्नुवन्ति । हुशुवोरिति किम् ? योयुवति । रोसवति । चादित्यनुवर्तनात्प्रसज्येत । ग इति किम् ? जुहुवतुः । जुहुवुः । जुह्वानि चिन्वानीत्यत्र परत्वादेप् ।

गोहेरूढः ॥४१४८३॥ गोह उड ऊकारादेशो भवत्यचि परतः । निगूह्यति । निगूहकः । साधु निगूही । निगूहन्ति । निगूहम् । निगूहो वर्तते । गोहेरित्येपं कृत्वा विकृतनिर्देशः किम् ? यत्रास्यैतद्रूपं तत्र यथा स्यादिह माभूत् । निजुगुहतुः । निजुगुहुः । उड इति किम् ? अन्त्यस्य मा भूत् । प्रकृतिग्रहणे यङुवन्तस्य वञ्जि जोगूह इत्यत्र चस्य च मा भूत् । ओरित्यनुवृत्तेः तद्विकारस्य चस्यापि प्रसज्येत । अचीत्येव । निगोहा । निगोडुम् । ऊ इत्यविभक्तिको निर्देशः । द्विमात्रश्चाद्यन्तदेशः । अन्यथा एप्प्रतिषेधः क्रियेत ।

दोषो रौ ॥४१४८४॥ दोष उडः ऊकारादेशो भवति रौ परतः । दूषयति । दूषयते । दोष इति विकृतग्रहणं किम् ? एपि कृते ऊकारो यथा स्यात् । अन्यथा प्रदूष्य गत इत्यत्र ऊकारस्यासिद्धत्वाणोरयादेशः प्रसज्येत । एपि कृते धिपूर्वत्वं नास्तीत्यप्राप्तिः । णाविति किम् ? दोषणं दोषः ।

वा चित्तविकारे ॥४१४८५॥ चित्तविकारेऽर्थे दोषो रौ परत उडो वा ऊकारादेशो भवति । चित्तं दूषयति । चित्तं दोषयति । प्रज्ञां दूषयति । प्रज्ञां दोषयति । दोषमाचष्टे दोषयतीत्यत्र टिखस्यासिद्धत्वादुडः ओः स्थाने विकारो न भवतीत्यप्राप्तिः । चित्तविकार इति किम् ? एकान्तवादप्रयोगं दूषयति । णावित्येव । चित्तस्य दोषः ।

जिणम्पेर्दीर्मिताम् ॥४१४८६॥ जिणम्परे गौ परतो मितं गूनामुडो वा दीर्भवति । अघटि । अघाटि । घटं घटम् । घाटं घाटम् । अशामि । अशामि । शर्मं शमम् । शर्मं शामम् । घटते कश्चित् । शाम्यति कश्चित् । तमन्यः प्रयुङ्क्ते इति णिच् । उड ऐप् । वक्ष्यमाणेन “प्रः” [४।४।८७] इत्यनेन प्रादेशः । औ णमि चानेनोडो वा दीत्वम् । ननु प्रादेश एव विकल्पः । दीरिति किमर्थम् ? न शक्यमेवम् । शमयतेर्णिचि कृते रौ णिखस्य स्थानिवद्भावात् उडः प्रादेशविकल्पो न स्यात् । दीत्वविधौ तु न स्थानिवद्भाव इति णिपरो णिर्मितोऽनन्तर इति दीत्वविकल्पः सिद्धः । अशामि । अशामि । तथा अत्यर्थं शाम्यतीति यङ् । शंशम्यतेर्णिच् । “अतः खम्” [४।४।५०] । “ह्रो यः” [४।४।५१] इति यखम् । अत्रापि यङोऽकारस्य दीत्वविधिं प्रति न स्थानिवद्भाव इति अशंशामि । नवाऽत्रासिद्धत्वं शक्यम् व्याश्रयत्वात् । रौ हि णियङोः खं जिणम्परे गौ गोर्दीर्त्वमिति ।

प्रः ॥४१४८७॥ णाविति वर्तते । मितं गूनामुडः प्रो भवति गौ परतः । घटयति । व्यथयति । जनयति । “जनिवध्योः” इति ञिकृतोः परत ऐप्प्रतिषेधः उक्तस्ततो ञेरन्यदुदाहरणम् । मितामिति किम् ? कामयति । आमयति । चाममति । “न कन्यमिचमाम्” इति मित्संज्ञाप्रतिषेधः । प्रशमय्य गत इत्यत्र णावुडः प्रादेशः

प्ये परतो खेरयादेश इति व्याश्रयत्वात्प्रादेशस्यासिद्धत्वं न भवति । कथं संक्रामयति । केचिद् वेत्यनुवर्तयन्ति । सा च व्यवस्थितविभाषा ततो न दोषः ।

खच्चि ॥४१४८८॥ खच्परे गौ परतो जोरुडः प्रो भवति । युगन्धरः । वसुन्धरः । “भृतृवृजिधारि-सहितपिदमः खौ” [२।२।४४] इति खच् । “खित्यक्तेः” [४।३।१७६] “सुमचः” [४।३।१७७] इति सुमागमः ।

ह्लादस्ते ॥४१४८९॥ ह्लादस्ते परत उडः प्रो भवति । प्रहूलन्नः । प्रहूलन्नवान् । त इति किम् ? प्रह्लादयति । ह्लाद इति योगविभागान्प्रहलतिः ।

छादेर्घे ॥४१४९०॥ छादेर्घे परत उडः प्रो भवति । प्रच्छदः । उपच्छदः । “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इति पसः । उरश्छदः । तनुच्छदः । कुद्योगे तासः । छद अपवारणे इति चौरादिकः । अस्मात् “पुंखौ घः प्रायेण” [२।३।१००] इति घे कृते णिखस्यासिद्धत्वम् “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावो वा वचनसामर्थ्यान्न भवति । ततः उडः प्रादेशः । घ इति किम् ? प्रच्छादनम् । तनुच्छादनम् ।

नानेकघेः ॥४१४९१॥ अनेको गिर्यस्य तस्य छादेरुडः प्रो न भवति । समुपच्छादः । एकगिरगिश्च छादिः पूर्वेषु प्रादेशं प्रयोजयति ।

मन्त्रेस्किषु ॥४१४९२॥ मन्त्र इस् कि इत्येतेषु परतश्छादेरुडः प्रो भवति । छद्म । छत्रम् । छुदिः समुच्छद् । उपच्छत् । “सर्वधुभ्यो मन्त्रटौ” [उ० सू०] उणादिषु विहितौ । “अर्चिंशुचिजसृपिछादिद्विभ्य इस्” [उ० सू०] इति इस् । “छादेर्घे” [४।४।९०] इत्यतः पृथक्करणमनेकगोरपि प्रादेशार्थम् । समुपच्छत् । मन्त्रेस्किषु । सिवसिधसामि पत्वम् ।

गमहनजनखनघसां किङ्कत्यनङि ॥४१४९३॥ गम हन जन खन घस इत्येतेषां कुडः खं भवति अनङि किति ङिति परतः । अनङीति किम् ? अगमत् । अघसत् । ङङीति किम् ? गमनम् । गमनीयम् । अचीत्येव । गम्यते । हन्यते ।

हुभ्रलभ्यो हेर्धिः ॥४१४९४॥ हु इत्येतेस्मात् झलन्तेभ्यश्चोत्तरस्य हेर्धिरित्ययमादेशो भवति । जुहुधि । झलन्तेभ्यः—छिन्धि । पिन्धि । “शनसः खम्” [४।४।१०१] इत्यखस्य छन्धिः ङिति न स्थानिवत्त्वम् इति अनुस्वारपरस्वत्वे । भ्रलभ्य इति किम् ? लुनीहि । हेरिति किम् ? युवां जुहुतम् । “भुमास्थागापाहा-क्सां हलि” [४।४।६५] इत्यतो मण्डूकगत्या हलग्रहणमनुवर्तते । तेनाह्लादेर्न भवति । रुदिहि । स्वपिहि । अथवा अत्र परत्वादिति कृते “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [प०] । जुहुतात्वं भिन्तात्वमित्यत्रापि परत्वात्तातडादेशः ।

जेरुप् ॥४१४९५॥ जेरुत्तरस्य उब् भवति । अकारि । अलावि । लावस्थायामडागमः । पश्चादुप् । खमिति वर्तते । उब्ग्रहणे सर्वापहारार्थं परस्यादेर्मा भूत् । गोरित्यधिकारात् गोर्निमित्तस्य त्यस्योव्विधानादिह भवति अपाठि ग्रन्थः । अकारितरामित्यत्र तखस्यासिद्धत्वान्न भवति । व्यक्तौ हि पदार्थे प्रतिव्यक्ति लक्षणं भिद्यते इति तदेव शास्त्रं तस्मिन् कथमसिद्धमिति नाशं कनीयम् ।

अतो हेः ॥४१४९६॥ अकान्ताद्गोरुत्तरस्य हेरुम्भवति । पच । कृष । गच्छ । अत इति किम् ? युहि । रुहि । तपरकरणं किम् ? याहि । लुनीहि । ईत्वस्यासिद्धत्वादाकारः । हेरिति वर्तमाने पुनर्हेरिति किम् ? हिरेव यो हिस्तस्योब् यथा स्यात् इह माभूत् । जीवतात्वम् ।

उतस्यादस्फात् ॥४१४९७॥ अस्फात्परो य उकारस्तदन्तात्पादुत्तरस्य हेरुम् भवति । चिनु । सुनु । तनु । कुरु । तन्वादिषु व्यपदेशिवद्भावाद्दुकारान्तत्वम् । उत इति किम् ? लुनीहि । जानीहि । त्यादिति किम् ? शुहि । रुहि । अस्यादिति किम् ? आप्नुहि । तच्छुहि ।

वा म्वोः खम् ॥४१४६८॥ अस्फात्परो य उकारस्तदन्तस्य वा खं भवति मकारवकारादौ परतः । सुन्वः । सुनुवः । सुन्मः । सुनुमः । सुन्वहे । सुनुवहे । सुन्महे । सुनुमहे । तन्वः । तनुवः । तन्मः । तनुमः । उन्निति वर्तमाने खग्रहणमन्तेऽलो नाशार्थम् । उत इत्येव । क्रीणीवः । क्रीणीमः । त्यस्येत्येव । युवः । ख्वः । अस्फादित्येव । आप्नुवः । तद्गुणवः । सुनोम्यादिषु परत्वादेप् ।

कृजो ये च ॥४१४६९॥ कृज उत्तरस्य उतः खं भवति यकारादौ म्वोश्च परतः । कुर्यात् । कुर्याताम् । कुरुः । कुरुवः । कुरुमः । कुरुवहे । कुरुमहे । नित्यत्वात्के कृते “त्यखे त्याश्रयम्” [१११६३] इत्येप् । म्वोरनुकर्षणार्थाच्चकारात् ज्ञायते वेति निवृत्तम् ।

गेऽत उत् ॥४१४१००॥ उच्यन्तस्य करोतेरकारस्य उकारादेशो भवति क्ङिति परतः । कुरुतः । कुर्वन्ति । कुरुथः । कुरुथ । कुर्वः । कुर्मः । उदिति तपरकरणाद्विकरणमपेक्ष्य ध्युङ्मुन भवति । ग इति किम् ? भूतपूर्वेऽपि गे यथा स्यात् । अत इति तपरकरणसुत्तरार्थम् ? क्ङितीत्येव । करोमि । करोपि । करोति । एपि कृते उकारान्तत्वाभावाद्वा न भवति । “अनन्त्यविकारेऽन्यसदेशस्य” [प०] इति अकुरुतामित्यत्राटो न भवति ।

श्नसः खम् ॥४१४१०१॥ श्नमः अस्तेश्च अतः खं भवति गे क्ङिति परतः । भिन्नः । भिन्दन्ति । छिन्नः । छिन्दन्ति । अत्खस्यासिद्धत्वाद्दुडो नकारस्य खं न भवति । अस्तेः स्तः । सन्ति । क्ङितीत्येव । भिनत्ति । अस्ति । श्नस इति श्नमो नटमकारस्य पररूपत्वं ज्ञापकं शकन्ध्वादिषु पररूपं भवति । अत इति तपरकरणास्यानुवृत्तिः किमर्था । आस्ताम् आसन्नित्यत्र लावस्थायामडागमे ऐपि च कृते माम्भूत् । नन्वयोऽसिद्धत्वादाकारखं न प्राप्तम् इदमेव तपरकरणं ज्ञा पकम् अमाच्छास्त्रस्य क्वचित्सिद्धता । तेन देभनुः । देभुरित्यत्र नखस्य सिद्धत्वादेत्वचखे भवतः ।

थश्नोरातः ॥४१४१०२॥ थसंज्ञकस्य शना इत्येतस्य च य आकारस्तस्य खं भवति गे क्ङिति परतः । मिमते । मिमताम् । अमिमत । सञ्जिहते । सञ्जिहताम् । समजिहत । “देऽनतः [५११५] इति भ्रस्यादादेशः । लुनते । लुनताम् । अलुनत । पुनते । पुनताम् । अपुनत । हलीत्वं वक्ष्यते । तस्मादन्च खम् । भुङ्क्षकानां हल्यपि दत्तः । दत्ते । थश्नोरिति किम् ? यन्ति । वान्ति । आत इति किम् ? विभ्रति । इयति । क्ङितीत्येव । जहाति । लुनाति ।

हल्यभोरीः ॥४१४१०३॥ हलादौ क्ङिति परतः थश्नोरात ईकारादेशो भवत्यभोः । सञ्जिहृते । सञ्जिहृषे । सञ्जिहृषे । सञ्जिहृषे । सञ्जिहृषे । मिमीते । मिमीषे । मिमीषे । मिमीषे । मिमीषे । मिमीषे । लुनीतः । लुनीथः । लुनीषे । लुनीषे । लुनीषे । लुनीषे । लुनीषे । अभोरिति किम् ? दत्तः । क्ङितीत्येव । जहाति । लुनाति ।

इदरिद्रः ॥४१४१०४॥ इकारादेशो भवति दरिद्रातेर्हलादौ गे क्ङिति परतः । दरिद्रितः । दरिद्रितः । दरिद्रिवः । दरिद्रिमः । “जक्षित्याद्यः” [४३१५] इति थसंज्ञायाम् पूर्वेण हलादावीत्वं प्राप्तम् । हलीत्येव । दरिद्रति । क्ङितीत्येव । दरिद्राति । “भियो वा” [४१४१०५] इत्यतः सिंहावलोकनेन वेति व्यञ्जित्वादिना संवध्यते ततो दरिद्रातेरगविषये बहुलं खं भवति । दरिद्रातीति दरिद्रः । अदरिद्रात् । खे सत्याकारान्तलक्षणौ “यमरमनमातः सक्च” [५१११३२] इति सगिटौ न ।

भियो वा ॥४१४१०५॥ भो इत्येतस्य वा इकारादेशो भवति हलादौ गे क्ङिति परतः । विभितः । विभीतः । विभीथः । विभीथः । विभिवः । विभीवः । विभिमः । विभीमः । हलीत्येव । विभ्यति । ग इत्येव भोतः । भीयते । क्ङित्येव । विभेति ।

हाकः ॥४१४१०६॥ हाकश्च वा इकारादेशो भवति हलादौ गे क्ङिति परतः । जहितः । जहीतः । जहितः । जहीथः । जहितः । जहीवः । जहितः । जहीमः । जहीमः । पक्षे “हल्यभोरीः” [४१४१०३] इतीत्वम् । थस्ये-

त्यनुवर्तनात् हिल्ले कृते इत्वादिविधिः । अथवा अल्पाश्रयत्वेनान्तरङ्गत्वात्प्रागेव द्वित्वम् । हलीत्येव । जहति । ग इत्येव । हीनः । हीयते । जेहीयते । योगविभाग उत्तरार्थः ।

आ च हौ ॥४१४१०७॥ हाक आकारादेशो भवति इच्च वा हौ परतः । जहाहि । जहिहि । जहीहि ।
यि खम् ॥४१४१०८॥ यकारादौ गे ङिति परतो हाकः खं भवति । जह्यात् । जह्याताम् । जह्युः । ग इत्येव । हीयते । जेहीयते ।

भवसोरेच्च खं हौ ॥४१४१०९॥ भुसंज्ञकानाम् अस्तेश्च हौ परत एकारादेशो भवति चस्य च खम् । देहि । धेहि । एधि । खमिति वर्तमाने पुनः खग्रहणं सर्वस्य चस्य नाशार्थम् । अस्तेश्च खं न सम्भवति । “शनसः खम्” [४१४१०९] इत्यखम् । अनेन सकारस्यैत्वम् । हाविति वर्तमाने पुनर्हाविति किम् ? रूपान्तरापत्तौ माम्भूत् । दत्तात् । धत्तात् । स्तात् ।

अतो हल्मध्येऽनादेशाद्देर्लिटि ॥४१४११०॥ हलोर्मध्ये वर्तमानस्यात एकारादेशो भवति चस्य च खं लिटि ङिति परतः । पेचतुः । पेचुः । शेकतुः । शेकुः । रेणतुः । रेणुः । हल्मध्ये इति किम् ? आटतुः । आटुः । त्रपिग्रहणं नियमार्थं वक्ष्यति । अनेक हल्मध्यगतस्य त्रपेरेव नान्यस्य । ततश्चतुः । पप्रथे । पप्रथाते । पप्रथिरे । लिटीति किम् ? पापच्यते । पापच्यते । अत इति किम् ? दिदिवतुः । दिदिवुः । तपरकरणं किम् ? शशासतुः । शशासुः । ङितोत्येव । अहं पपच । “फलिभजोः” [४१४३३२] इति नियमो वक्ष्यते । एतयोरेव लिट्यादेशाद्योरेच्चखे भवतो नान्यस्य । बभणतुः । बभणुः । चकणतुः । चकणुः । नमिसह्योस्तु लिङुत्पत्तेः प्रागेव नत्वसत्त्वे भवत इति नियमान्न निवृत्तिः । नेमतुः । नेमुः । सेहे । सेहाते । सेहिरे ।

सेटि ॥४१४१११॥ सेटि च लिटि परतो हल्मध्येऽत एत्वं भवति चस्य च खम् । अङ्कित्यापि यथा स्यादित्यारम्भः । पेचिथ । शेकिथ । नेमिथ । “वोपदेशे” [५१११०८] इत्यादिना वेट् । सेटीति किम् ? पपक्थ । लिटीत्येव । पठितः । पठितवान् । अत इत्येव । दिदेविथ ।

फलिभजोः ॥४१४११२॥ फलि भजि इत्येतयोरत एत्वं भवति चस्य च खं लिटि ङिति सेटि च परतः । फेल्लतुः । फेल्लुः । फेल्लिथ । भेजतुः । भेजुः । भेजिथ । भेजे । भेजाते । भेजिरे । नियमार्थोऽयमारम्भः । लिट्यादेशाद्योर्नान्यस्य । चकणतुः । चकणुः । चकणिथ । बभणतुः । बभणुः । बभणिथ । फलिभजोर्विकारलक्षण आदेशः अन्यस्यापि विकारादेशादेर्निवृत्तिः शशिदद्योः प्रतिषेधाच्च । तेन प्रकृतिचरां प्रकृतिचरः प्रकृतिजशां प्रकृतिजशो भवन्तीति । नात्र नियमान्निवृत्तिः । तेनतुः । तेनुः । देमतुः । देमुः ।

तृत्रपोः ॥४१४११३॥ तृ त्रपित्येतयोरत एत्वं भवति चस्य च खं लिटि ङिति सेटि थलि च परतः । तेरतुः । तेरुः । तेरिथ । “ऋच्छतृताम्” [५१२१२३] इत्येप् । त्रेपाते । त्रेपिरे । “अन्थेश्चेति वक्तव्यम्” [वा०] श्रे थतुः । श्रे थुः । उपसंख्यानेन लिटि ङित्वम् । इदमपि नियमार्थं सूत्रम् । एभिर्नृत्तस्यातस्तरतेरेव नान्यस्य । विशशरतुः । विशशरुः । विशशरिथ । लुलविथ । अनेकहल्मध्यगतस्य त्रपेरेव नान्यस्य । ततश्चतुः । ततश्चिथ । ममन्थतुः । ममन्थुः । ममन्थिथ ।

वधे राधेः ॥४१४११४॥ राधेर्वधेऽर्थे हल्मध्येऽवर्णस्यैत्वं भवति चस्य च खं लिटि ङिति सेटि थलि च परतः । परिरेधे । परिरेधाते । परिरेधिरे । कर्मणि दविधिः । परिरेधतुः । परिरेधुः । परिरेधिथ । वध इति किम् ? आरराधतुः । आरराधुः । आरराधिथ ।

वा नृभ्रमृत्तसाम् ॥४१४११५॥ नृ भ्रम् त्रस् इत्येतेषामतो वा एत्वं भवति चस्य च खं लिटि ङिति सेटि च परतः । जेरतुः । जेरुः । जेरिथ । भ्रेमतुः । भ्रेमुः । भ्रेमिथ । त्रेसतुः । त्रेसुः । त्रेसिथ । पद्ने जजरतुः । जजरुः । जजरिथ । बभ्रमतुः । बभ्रमुः । बभ्रमिथ । तत्रसतुः । तत्रसुः । तत्रसिथ । तृग्रहणादन्वस्यैभिर्नृत्तस्य न भवतीति नृपोऽप्राप्ते । भ्रमेरादेशादित्वात् त्रसेरनेकहल्मध्यगतत्वाद्प्राप्ते विकल्पः ।

फणां सतानाम् ॥४१४११६॥ फणादीनां सतानां वा एत्वं भवति चस्य च खं लिटि ङिति सेटि च परतः । फेणुतुः । फेणुः । फेणुथ । पफणुतुः । पफणुः । पफणुथ । रेजुतुः । रेजुः । रेजुथ । रराजुतुः । रराजुः । रराजुथ । भ्रेजे । भ्रेजाते । भ्रेजिरे । बभ्राजे । बभ्राजाते । बभ्राजिरे । भ्रेसे । बभ्रासे । भ्लेसे । बभ्लासे । स्येमतुः । स्येमुः । स्येमिथ । सस्यमुः । सस्यमिथ । स्वेनतुः । स्वेनुः । स्वेनिथ । सस्वनतुः । सस्वनुः । सस्वनिथ । सतानामिति किम् ? दध्वनतुः । दध्वनुः । जज्वलतुः । जज्वलुः । जज्वलिथ ।

न शसद्दवादीनाम् ॥४१४११७॥ शस द्द इत्येतयोर्वादीनां च लिटि ङिति सेटि च परत एत्व-चखे न भवतः । विशशसतुः । विशशसिथ । दददे । दददाते । दददिरे । वादीनाम्-ववणुतुः । ववणुः । ववणिथ । ववले । ववलाते । ववलिरे ।

भस्य ॥४१४११८॥ भस्येत्ययमधिकारो वेदितव्य आ पादपरिसमाप्तेः । वक्ष्यति “पाद्ः पत्” [४१४१११६] इति । द्विपदा । द्विपदे । भस्येति किम् ? द्विपादौ । द्विपादः । धे भसंज्ञा न भवति ।

पाद्ः पद् ॥४१४११९॥ पादन्तस्य गोर्भस्य पदित्ययमादेशो भवति । द्विपदः पश्य । द्विपदा । द्विपदे । द्वौ पादावस्येति वसे “सुसंख्यादेः” [४१२११४०] इति पादस्यातः खम् । “निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति” [प०] इति पाच्छब्दस्य पदादेशः । द्वौ द्वौ पादौ ददाति द्विपदिकां ददाति । “संख्यायाः पाद्शस्तेभ्यो वीप्सादयङ्ख्यागे बुन्” [४१२११०] खं च । वैयाघ्रपद्यः । व्याघ्रस्येव पादौ यस्य “खं पादस्याहस्यादेः” [४१२११३६] इति खम् । गर्गादित्वाद्यञ् । भस्येति किम् ? द्विपाद्भ्याम् । द्विपाद्भिः । पादवतेः क्विवन्तस्य प्रयोगो नास्ति ।

वसोर्जिः ॥४१४१२०॥ वस्वन्तस्य गोर्भस्य जिर्भवति । उपसेदुषः पश्य । उपसेदुपा । उपसेदुपे । “वस्सदिषो वसुर्लिणमम्” [१२१२८] इति वसुः । द्वित्वम् । हल्मध्ये लिट्यत इति एत्वचखे । क्नादिनियमादिट् । जौ कृते निमित्ताभावादिस्तिवृत्तिः । भस्येत्येव । विद्वस्यति । विद्वस्यते । क्यच्चूव्यङोः स्वादित्वाभावान्द्रसंज्ञा नास्ति । “नः क्ये” [१२११०४] इति नियमात्पदसंज्ञाविरहेण रित्वाद्यभावः ।

श्वयुत्रमघोनोऽहृति ॥४१४१२१॥ श्वन् युवन् मघवन् इत्येतेषां जिर्भवति अहृति परतः । शुनः पश्य । शुना । शुने । यूनः पश्य । यूना । यूने । “अन्नन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य” [प०] इति यकारस्य न भवति । मघोनः पश्य । मघोना । मघोने । अहृतीति किम् ? शौवनं मांसम् । यौवनं वर्तते । माघवनम् । शुनो विकारः “प्राणितात्तादेः” [३१३१०५] इत्यण् । “द्वारादेः” [५१२१६] इत्यौट् । यूनो भावः ‘हायनान्त-युवादिभ्योऽण्’ । मघोन इदम् । उत्तरत्र अन इति योगविभागः । अन्नन्तानां श्वादीनां जिर्भवति । तेन युवतीः पश्येत्यत्र “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य” [प०] इति न भवति ।

अनोऽखमम्बस्फात् ॥४१४१२२॥ अन्नन्तस्याखं भवति स चेदन् मकारवकारान्तस्फात्परो न भवति । राक्षः पश्य । राक्षे । “पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” इति चुत्वम् । तक्ष्णः पश्य । तक्ष्णा । तक्षणे । अन्नन्तस्येति वचनात् राजकीय इत्यत्र न भवति । अम्बस्फादिति किम् ? धर्मणोः । धर्मणे । तत्त्वदृश्वनः पश्य । तत्त्वदृश्वना । तत्त्वदृश्वने ।

षादिहन्धृताराज्ञोऽणि ॥४१४१२३॥ पकारादेरनः हन् धृताराजन् इत्येतयोश्चापि परतोऽकारस्य खं भवति । आक्ष्णः । ताक्ष्णः । हन्-भ्रौणध्वः । वार्त्रध्वः । धृताराजन्-धार्तराक्षः । अपत्यार्थेऽण् “अनः” [४१४११५८] इति अखदिखयोः प्रतिषेधे प्राप्ते सूत्रम् । एतेषामिति किम् ? सामनो धौमनः । ताक्ष्ण्यः । “सेनान्त-लक्ष्ण” [३१११४०] इत्यादिना ण्यः ।

वा ङिश्योः ॥४१४१२४॥ अनोऽकारस्य वा खं भवति ङौ शीशब्दे च परतः । राज्नि । राजनि । लोम्नि । लोमनि । साम्नी । सामनी । दाम्नी । दामनी । भस्येत्यधिकारात् “नपः” [५१११६] इत्यनेनादिष्टः शीशब्दो गृह्यते ।

अचः ॥४१४१२५॥ अच इत्यञ्चेर्नष्टनकारो गृह्यते । तदन्तस्य गोरकारस्य खं भवति । प्रतीचः पश्य । प्रतीचा । प्रतीचे । मधूचः पश्य । मधूचा । मधूचे । भस्येत्येव । प्रत्यञ्चमिच्छति प्रत्यञ्चति । क्यच् । स्वादिष्वभावात्पूर्वस्य भसंज्ञा नास्ति । अच इति नष्टनकारग्रहणं किम् ? प्रत्यञ्चः पश्य । प्रत्यञ्चा । प्रत्यञ्चे । “नाञ्चेः पूजे” [४१४१२६] इति नखाभावः ।

ईदुद्दः ॥४१४१२६॥ उदः परस्याच ईकारादेशो भवति भस्य । उदीचः पश्य । उदीचा । उदीचे । उदीच्यः । “द्युप्रागुपागुदक्प्रतीचो यः” [३१२।८०] इति यः । अखापवादोऽयम् ।

आतो धोः ॥४१४१२७॥ आकारान्तस्य धोर्भस्य खं भवति । कीलालपः पश्य । कीलालपा । कीलालपे । शुभंयः पश्य । शुभंया । शुभंये । आत इति किम् ? ग्रामण्या । ग्रामण्ये । धोरिति किम् ? मालाः पश्य । “जूञ्चश्चः क्वः” [५।१।१०३] “थश्चनोरातः” [४।४।१०२] इत्यादयः सौत्रा निर्देशाः । भस्येत्येव । क्षीरपामिच्छति क्षीरपीयति ।

तेर्विंशतेर्दिति ॥४१४१२८॥ भस्य विंशतेर्दिति परतस्तिशब्दस्य खं भवति । विंशत्या क्रीते विंशकः । “विंशतिर्विंशद्भ्यां ड्वुरखौ” [३।४।२१] इति वुः । तिखे कृते “एष्यतोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपत्वम् । विंशतेः पूरणं विंशं शतम् । विंशतिरधिका अस्मिन्निति “तदस्मिन्नधिकमिति शदृशान्ताडुः” [३।४।१६७] “विंशतेश्च” [३।४।१६८] इति डः । आसन्ना विंशतेरिमे आसन्नविंशाः । “संख्येये” [१।३।८७] इत्यादिना वसः । “मंख्यावाङ्गोऽबहुगणान्” [४।२।६९] इति डः सान्तः । डितीति किम् ? विंशत्या ।

टेः ॥४१४१२९॥ टिसञ्चकस्य डिति परतः खं भवति । त्रिंशता क्रीतः त्रिंशकः । त्रिंशं शतम् । आसन्नाश्चतुर्णांमिमे आसन्नचताः । कुमुद्रान् । नड्वान् । वेतस्वान् । कुमुदान्यस्मिन् देशे सन्ति “कुमुद-नडवेतसाडित्” [३।२।६७] इति मटुः । नड्वल्म । नडा अस्मिन् देशे सन्ति “नडशादाडित्” [३।२।६६] इति वलः । डिक्करणसामर्थ्यादभस्यापि टेः खम् । अतएव उपसरे जात उपसरजः । मन्दुरायां जातः मन्दुरजः । “खे ड्यापोः क्वचिखौ च” [४।३।१७३] इति प्रः ।

नोऽपुंसो हृति ॥४१४१३०॥ नकारान्तस्य भस्य हृति परतष्टिखं भवत्यपुंसः । आग्निशर्मिः । दैवशर्मिः । औडुलोमिः । बाह्वादिवादिञ् । न इति किम् ? वैद्युतोऽग्निः । अपुंस इति किम् ? पुंस इदं पौंसम् । “खीपुं सानु-क्त्वात्” [३।१।७२] इति अञ्नुकौ । हृतीति किम् ? शर्मणा । शर्मणे । भस्येव । शर्मण आगतं शर्मरूप्यम् । शर्ममयम् । “हेतुमनुप्याद्वा रूप्यः” [३।३।५५] इति रूप्यमयटौ ।

सब्रह्मचार्यादेः ॥४१४१३१॥ सब्रह्मचारिन्नित्येवमादीनां हृति टेः खं भवति । सब्रह्मचारिणः शिष्यः साब्रह्मचारः । पीठसर्पिणोऽयं पैठसर्पः । कलापिनोऽयं कालापः । अथवा कलापिना प्रोक्तमधीते शौनकादपु वैशम्पायनान्तेवासित्वाणिनि प्राप्ते “कलापिनोऽण्” [३।३।७६] इत्यण् । “तद्वत्स्यधीते” [३।२।५१] इत्यण् । “उप्प्रोक्तात्” [३।२।५४] इत्युप् । “छन्दोब्राह्मणानि चान्नैव” [३।२।५६] इति अन्वयेतृदिप्रयत्ना । कुशुमिनः शिष्यः कौशुमः । तितिलिनः तैतिलः । जजलिनः जाजलः । अन्येषां तैतिलिजाजलिशब्दावाचार्यवचनानुपचाराद्-ग्रन्थोऽपि तयोश्चकः । तमधीते तैतिलः । जाजलः । लाङ्गलिनः शिष्यः लाङ्गलिनमधीते वा लाङ्गलः । शिलालिनोऽयं शैलालः । शिलालिडनोऽयं शैखण्डः । सुकरसन्नोऽयं सौकरसन्नः । सुपर्णः सौपर्णः । इनन्तानां “प्रायोऽनपत्ये-ष्णीनः” [४।३।१५५] इति टिखप्रतिषेधः प्रातः ।

श्वाश्मचर्मणां सङ्कोचविकारकोशेषु ॥४१४१३२॥ श्वन् अश्मन् चर्मन् इत्येतेषां संकोच विकार कोश इत्येष्वर्थेषु हृति टेः खं भवति । शौवः संकोचः । शौवनोऽन्यत्र । कथं शौवं मांसम् । “अनः” [४।४।१५८] इत्यत्र प्रायोग्रहणानुवृत्तेर्विकारे टिखप्रतिषेधो नेष्यते । अश्मनो विकार आश्मः । आश्मनोऽन्यत्र । चार्मः कोशः । चार्मणोऽन्यः ।

टखोरेवाहः ॥४१४१३३॥ अहनित्येतस्य टखोः परतः टः खं भवति । द्वयहः । त्र्यहः । द्वे अहनी समाहृते, त्रयाणामहान्-समाहारः रसे कृते “राजाहःसखिभ्यष्टः” [४१२।६३] इति टः सान्तः । “न समाहारे” [४१२।६१] इति अह्नादेशप्रतिषेधः । द्वे अहनी भूतो भावी वा द्वयहीनः । त्र्यहीणः । हृदये रसः । “समायाः खः” [३।४।८२] इत्यधिकारे “रात्र्यहःसंवत्सरात्” [३।४।८३] इति खः । अह्नां समूहः अहीनः । हृत इति बहुवचननिर्देशात्खः । टखोरेवेति किम् ? अह्ना निवृत्तमाह्निकम् । “तेन निवृत्तः” [३।४।७५] इति प्राग्वतञ् । एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः । अह एव टखोरिति मा भूत् । एवं हि मद्रराज इति न स्यात् । “खेऽध्वनः” [४।४।१६०] इति प्रतिषेधारम्भात् इष्टतोऽवधारणे प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् ।

कद्रुघोरोऽस्वयम्भुवः ॥४१४१३४॥ कद्रुशब्दस्य उवर्णान्तस्य च भस्य हृति परत ओकारादेशो भवति स्वयम्भूशब्दं वर्जयित्वा । कद्रुवा अपत्यं काद्रवेयः । “स्त्रीभ्यो ढण्” [३।१।१०६] इति ढण् । “ढे खम्” [४।४।१३५] इत्यस्यापवादार्थं कद्रुग्रहणम् । उवर्णान्तस्य माण्डव्यः । बाभ्रव्यः । औपगवः । कापट्यः । अस्वयम्भुव इति किम् ? स्वायम्भुवं धाम स्वायम्भुवी प्रक्रिया । “तस्येदम्” [३।३।८८] इत्यण् । ओत्वे प्रतिपिद्धे उवादेशः ।

ढे खम् ॥४१४१३५॥ ढे परत उवर्णान्तस्य खं भवति । कामण्डलेयः । शैतिवाह्येयः । जाम्भेयः । “बाह्वन्तकद्रुकमण्डलुभ्यः खौ” [३।१।६०] इति ऊत्ये कृते । अपत्यार्थे “चतुष्पाद्भ्यो ढञ्” [३।१।२२३] इति ढञ् । जान्वाः जानेय । “द्वयचः” [३।१।११०] इति ढण् । इयुवौ परत्वात् खं बाधते । वात्सप्रेयः । लैखाप्रेयः । वत्सप्रीः चतुष्पाद् । लेखाभ्रूः शुभ्रादिः । ढ इति किम् ? कण्डलवे हिता कण्डलव्या मृत् ।

यस्य ङन्यां च ॥४१४१३६॥ इवर्णान्तस्यावर्णान्तस्य च खं भवति ङीत्ये हृति च परतः । दाक्षी । प्लाक्षी । “इतो मनुष्यजातेः” [३।१।५५] इति ङीः । स्वेको दीत्वे क्रियमाणे असिसखेरागच्छतीत्यत्र दोषः स्यात् । सखीमतिक्रान्तः अतिसखिः । “स्त्रीगोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रादेशे कृते सख्यसख्योरेकादेशः सखिशब्दवद्भवतीति “स्वसखि” [१।२।६७] इति सुसंज्ञाविरहादेम स्यात् । खे तु न दोषः । अवर्णान्तस्य-गौरी । कुमारी । हृति-नाभेयः । नैथेयः । “इतोऽनिजः” [३।१।१११] “द्वयचः” [३।१।११०] इति ढण् । श्रैमतः । अर्धान्तरय-द्वैतदन्तिः । वायुवेगेयः ।

मत्स्योऽङ्यो ङ्याम् ॥४१४१३७॥ मत्स्यशब्दस्य उङ्यो यकारस्य खं भवति ङीत्ये परतः । मत्सी । “गौरादेः” [३।१।२३] इति ङीः । मत्स्यस्यापत्यं स्त्री माली । “द्वयन्मगध” [३।१।५२] आदिसूत्रेणाण् । तदन्तान्ङीः । ङ्यामवर्णखस्यासिद्धत्वादुङ्यो यकारस्य खम् । अणि परतोऽखस्य व्याश्रयत्वासिद्धत्वम् । उङ् इति किम् ? मत्स्यचरी । यग्रहणमुत्तरार्थम् । ङ्यामिति किम् ? मत्स्यस्येदं माल्यम् ।

सूर्यागस्त्ययोश्छे च ॥४१४१३८॥ सूर्य अगस्त्य इत्येतयोश्छे ङ्यां च परत उङ्यो यकारस्य खं भवति । सौरीयः । सौरी । आगस्तीयः । आगस्ती । सूर्यागस्त्यशब्दौ केवलौ ङीं न प्रयोजयत इत्यणन्तौ गृह्येते । सूर्यो देवता अत्य सौर्यः तस्यायं सौरीयः । सूर्यस्येयं सौरी । अगस्त्यस्यापत्यम् ऋषित्वाद्ण् । आगस्त्यः । तस्याय-मागस्तीयः । छे ङ्यां चाऽतः खस्यासिद्धत्वादुङ् यकारः । अण्खस्य व्याश्रयत्वादसिद्धत्वं नास्ति । सूर्याय हितः अगस्त्याय हित इति प्राकठणश्छो नास्त्यनभिधानात् । छे चेति किम् ? सौर्यं तेजः । आगस्त्यं स्थानम् । उङ् इत्येव । सूर्यमयी ।

तिष्यपुष्ययोर्भाणि ॥४१४१३९॥ तिष्य पुष्य इत्येतयोर्भाणि परत उङ्यो यखं भवति । तिष्येण युक्तः कालः तैषः । पौषः । तिष्यपुष्योरिति किम् ? सिध्येन युक्तं सैध्यमहः । भाणीति किम् ? पुष्यो देवताऽस्येति पौष्यः ।

हलो हतो ङ्याम् ॥४१४१४०॥ हल उत्तरस्य हृद्यकारस्य उङ्यः खं भवति ङ्यां परतः । गार्गी । वासी । वाजी । “यजः” [३।१।१६] इति ङीः । यखविधिं प्रति न स्थानिषदिति हलः परत्वं यकारस्य । हल इत्य-

विशेषेण ग्रहणम् । ह्रतोऽन्यस्य वा हलः परस्य ह्रद्यकारस्य खं भवति । तेन “वृकादृण्यम्” [४।२।४] वार्केणी । हल इति किम् ? वायुवेगेयी । ह्रत इति किम् ? भ्रूयाम् । गौरादित्वान्डीः । वैद्यस्य भार्या वैद्या । ड्यामिति किम् ? आवट्या । अत्रटस्यापत्यं स्त्री ।

क्वच्यनाद्ध्युत्यापत्यस्य ॥४।४।१४१॥ क्य च्व इत्येतयोरनाकारादौ च हृति परत आपत्स्यस्य यकारस्य हलः परस्य खं भवति । गार्गीयति । वात्सीयति । गार्गीयते । वात्सायते । च्वि । गार्गीभूतः । वात्सीभूतः । अनाति हृति-गर्गाणां समूहो गार्गकम् । वात्सकम् । “वृद्धोक्षोद्गोरभ्र” [३।२।३४] आदिना वुञ् । गर्गाणां सङ्घोऽङ्को वा गर्गः । वात्सः । अनातीति किम् ? गार्गीयणः । हृतीति किम् ? सामान्येनान्तर्य खं यथा स्यात् । आपत्यस्येति किम् ? साङ्गाशयकः । काम्पिल्यः । सङ्काशेन निर्वृत्तः । कम्पिलेन निर्वृत्तः । “बुञ्छण्” [३।२।६०] आदिना एयः । ततो भवार्थं “बन्धयोडः” [३।२।६६] इति वुञ् । हल इत्येव । वायुवेगेयः ।

तस्यन्तिकस्य कादेः ॥४।४।१४२॥ तसि परतोऽन्तिकस्य ककारादेः खं भवति । अन्तिकात् अन्तितः आगतः । “तमे परतः तादेः कादेशचान्तिकस्य खं वक्तव्यम्” [वा०] । अतिशयेन अन्तिकः “तमेष्टावतिशायने” [४।१।११४] इति तमे कृते । अन्तमः । अन्तितमः । “भिसंज्ञकस्य भमात्रे टिखं च वक्तव्यं सायम्प्रातिकार्यम्” [वा०] । सायम्प्रातर्भवः सायम्प्रातिकः । पौनःपुनिकः । आकस्मिकः । शाश्वतिक इत्यत्र “येषां च द्वेषः शाश्वतिकः” [१।४।८५] इति निपातनात् भवति । शाश्वच्छब्दो लक्षणम् । आरातीयः । शाश्वत इत्यादिषु च न भवति । “कालाट्टञ्” [३।२।१३१] इत्यतः कालादिति योगविभागः । तेन शाश्वच्छब्दादण् ।

विल्वकादेश्छस्य ॥४।४।१४३॥ विल्वकादीनां छस्य खं भवति हृति परतः । नडादिषु विल्वादयः पठ्यन्ते कृतकुगागमाः इह निर्दिष्टाः । विल्वा अस्मिन् देशे सन्ति “उत्करादेश्छः” [३।२।७०] “नडादेः कुक्” [३।२।७१] चागमः । विल्वकीयः । तत्र भवो वैल्वकः । सर्वस्य छस्य खम् । अन्यथा अनर्थकं स्यात् । वेणुकीयः वैत्रकीयः । वैत्रकः । वेतसकीयः । वैतसकः । तुण्कीयः । तार्णकः । इन्दुकीयः । ऐन्दुकः । कपिष्ठलकीयः । कापिष्ठलकः । कपोतकीयः । कापोतकः । “कुञ्जायाः प्रश्च” । क्रुञ्चकीयः । क्रौञ्चकः । कुक् छ एव सम्भवति । छस्येति किमर्थम् ? कुको निवृत्तिर्मा भूत् । अन्यथा “सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोऽप्यपायः” [प०] इति यथा पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य “हृदर्थ” [१।३।४६] इति रसे कृते आगतस्याणो “रस्योऽनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् । “हृदुप्युप्” [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्य निवृत्तौ आनुकोऽपि निवृत्तिः । पञ्चेन्द्रः ।

तुरिष्टेमेयस्सु ॥४।४।१४४॥ तृशब्दस्य खं भवति इष्टेमेयस्सु परतः । करिष्टः । करीयान् । हरिष्टः । हरीयान् । सर्वे कर्तृमन्तोऽयमेषामतिशयेन कर्तृमान् “विन्मतोरुप्” [४।१।१२४] इत्यनेनोप् । “इष्टेयसौ च सर्वस्य तुः खम्” । अन्त्यस्य “टेः” [४।४।१४५] इति सिद्धम् । इन्द्रहृणन्तरार्थम् ।

टेः ॥४।४।१४५॥ टेश्च खं भवति इष्टेमेयस्सु परतः । पटिष्टः । पटिमा । पटीयान् । लघिष्टः । लघिमा । लघीयान् ।

णाचिष्टवन्मृदः ॥४।४।१४६॥ णौ परत इष्टे इव कार्यं भवति मृदः । पटयति । लघयति । कर्तृमन्तमाचष्टे करयति । प्रशस्यमाचष्टे “आदेप्” [४।३।७५] श्रयति । ज्ययति । वाढस्य साधयति । युवानं करोति कनयति । स्रियणः स्रजयति । सर्वत्र “नैकाचः” [४।४।१५४] इति प्रतिषेधः । गुकार्ये निवृत्ते नैप् । एनीमाचष्टे एतयति । “तसादौ” [४।३।१४७] इति पुंवद्भावः । उत्तरत्रापि प्रियमाचष्टे प्रापयति । स्थापयति । गुकार्यपरिभाषाया अनित्यत्वादौऽपुगागमौ । पृथु प्रथयति । स्थूलस्य स्थवयति ।

स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रञ्जुदाणां यण इक एप्च ॥४।४।१४७॥ स्थूल दूर युवन् ह्रस्व क्षिप्रञ्जुद्र इत्येतेषां यणः खं भवति इक एप् च इष्टेमेयस्सु परतः । स्थविष्टः । स्थवीयान् । दविष्टः । दवीयान् । “युवाल्पयोः कन्वा” [४।१।१२३] इत्यनादेशपक्षे-यविष्टः । यवीयान् । “अनन्त्यविकारेऽन्यसदेशस्य” [प०] इति यकारस्य न भवति । हसिष्टः । हसीयान् । हसिमा । क्षेपिष्टः । क्षेपीयान् । क्षेपिमा । क्षेपिष्टः ।

क्षोदीयान् । क्षोदिमा । ह्रस्वादयः पृथ्वादौ पठ्यन्ते । यणः परस्य तु “टेः” [४।४।१४५] इति खम् । इक इति किमर्थम् ? क्षेपिष्ठ इत्यत्र अनन्यस्याप्येव यथा स्यात् । शौ ह्रस्वमाचष्टे ह्रसयति । गुकार्यस्य निवृत्तत्वात् उड एभ्न भवति ।

प्रियस्थिरस्फिरयादेरः ॥४।४।१४८॥ प्रिय स्थिर स्फिर इत्येतेषाम् इकारादेर्वर्णसंघातस्य अकारादेशो भवति इष्टेमेयस्सु परतः । प्रेष्ठः । प्रेयान् । प्रेमा । स्थेष्ठः । स्थेयान् । स्थेमा । स्फेष्ठः । स्फेयान् । स्फेमा । प्रियमाचष्टे प्रापयति । स्थापयति । “देयमृणे” [३।३।२२] इति निर्देशात् गुकार्यपरिभाषाया अनित्यत्वम् । तेन णिचि “ङित्यचः” [५।२।३] इत्यैप् ।

बहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां वंहिगर्वर्षिन्नप्राघवृन्दाः ॥४।४।१४९॥ बहुलगुरु वृद्ध तृप्र दीर्घ वृन्दारक इत्येतेषां वंहि गर् वृर्षि नृप् प्राघ वृन्द इत्येत आदेशा भवन्ति इष्टेमेयस्सु परतः । वंहिष्ठः । वंहियान् । वंहिमा । गरिष्ठः । गरीयान् । गरिमा । उरु-वरिष्ठः । वरीयान् । वरिमा । वृद्धस्य ज्यादेश उक्तः । वचनादयमपि भवति । वर्षिष्ठः । वर्षियान् । त्रपिष्ठः । त्रपीयान् । द्राघिष्ठः । द्राघीयान् । द्राघिमा । वृन्दिष्ठः । वृन्दीयान् । णावर्षि वंहयति । गरयतीत्यादि योज्यम् । स्फिरवृद्धतृप्रवृन्दारकवर्जिताः पृथ्वादौ द्रष्टव्याः । अणुणवचनेभ्योऽपि अणव वचनात् इष्टेयम् ।

बहोर्भवस्मात्वम् ॥४।४।१५०॥ बहोर्भू इत्ययमादेशो भवति अस्माच्च परेषाम् इष्टेमेयसां खं भवति । भूयान् । भूमा । “परस्यादेः” [१।१।५१] खम् । भूभावस्यासिद्धत्वात् उकारस्यौत्वं न भवति । बहोः पृथ्वादित्वादिमन् ।

यिट् चेष्यस्य ॥४।४।१५१॥ इष्टस्य यिडागमो भवति बहोश्च भूरादेशः । भूयिष्ठः । खापवादो यिडागमः । इकार उच्चारणार्थः । भूभावस्यासिद्धत्वादौत्वाभावः ।

ज्यादेयसः ॥४।४।१५२॥ ज्यादेशात्परस्य ईय आकारादेशो भवति । ज्यायान् । ज्यायांसौ । ज्यायांसः । “प्रशस्यस्य श्रः” [४।१।११६] “ज्यः” [४।१।१२०] इति ज्यादेशः । प्रकृते खे परस्यादौ कृते “दीरकृद्गो” [५।२।१३४] इति पूर्वस्य च दीत्वे सिद्धमिति चेत् “गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न” तन्निमित्तम्” [प०] इति दीत्वं न स्यादित्याकारवचनम् ।

ऊरोऽनादेर्घेः ॥४।४।१५३॥ ऋकारस्य रेफादेशो भवत्यनादेर्घिसंज्ञकस्य इष्टेमेयस्सु परतः । प्रथिष्ठः । प्रथीयान् । प्रथिमा । म्रदिष्ठः । म्रदीयान् । म्रदिमा । अकारान्तो रेफादेशः । उरिति किम् ? पटिष्ठः । अनादेरिति किम् ? अतिशयेन ऋतवान् ऋतीयान् “विन्मतोरुप्” [४।१।१२४] इति मतोरुप् । ईयस् । घेरिति किम् ? कृष्णिष्ठः । कृष्णीयान् । कृष्णिमा ।

पृथुमृद्धोः कृशमृशयोर्दृढपरिवृढयोश्चरो भवत्येव ।

सिंहावलोकतोऽग्रे प्रायोऽग्रहणादयं नियमः ॥

तेनेह न भवति । मातरमाचष्टे मातयति । परत्वाद्ध्रिखस्यायमपवादः स्यात् । तथा कृतमाचष्टे कृतयति । **नैकाचः** ४।४।१५४॥ एकाचो भस्य यदुक्तं तन्न भवति । त्वचिष्ठः । त्वचीयान् । सुचिष्ठः । सुचीयान् । “विन्मतोरुप्” [४।१।१२४] इति मतोरुपि कृते “टेः” [४।४।१४५] इति खं प्रातम् । णावर्षि त्वग्वन्तमाचष्टे त्वचयति । सुचयति । एकाच इति किम् ? अतिशयेन वसुमान् वसिष्ठः । वसीयान् । वसयति । नेति योगविभागः । तेन “राजन्यमनुष्ययूनामके यदुक्तं तन्न भवति” राजन्यानां समूहो राजन्यकम् । मनुष्याणां समूहो मानुष्यकम् । “क्यञ्चन्याद्दृत्त्यापत्यस्य” [४।४।१५१] इति यखं प्रातम् । यूनो भावो यौवनिका । मनोज्ञादिपाठाद्बुञ् “नोऽपुंसो हृति” [४।४।१३०] इति टिखं प्रातम् ।

प्रायोऽनपत्येऽणीनः ४।४।१५५॥ अनपत्यार्थेऽणि परत इन्नन्तस्य यदुक्तं तन्न भवति प्रायः । स्रग्विण इदं स्रग्विणम् । तथा सांकोटिनम् । सांराविणम् । सांभार्जिनम् । “जिन्नभिविधौ” [२।३।६६] इति

जिन् । तदन्तात् स्वार्थे “जिनोऽण्” [४।२।२१] इत्यण् । अनपत्य इति किम् ? बाहुवल्िनोऽपत्यं बाहुवल्ः । अस्पीति किम् ? मेधाविने हितं मेधावीयम् । प्रार्योग्रहणात्क्वचित्प्रतिषेधो न भवति । दण्डिनां समूहो दाण्डम् । छात्रम् ।

औक्षम् ४।४।१५६॥ औक्षमिति निपात्यतेऽनपत्ये । उक्ष्ण इदम् औक्षम् । अपत्ये औक्ष्ण इत्येव । “पादिहन्धतराज्ञोऽणि” [४।४।१२३] इत्यखम् । “अनः” [४।४।१५८] इत्यस्यापवादोऽयं योगः ।

गाथिविद्विथिकेशिपण्णिगण्णिस्फादेः ॥४।४।१५७॥ गाथिन् विद्वथिन् केशिन् पणिन् गणिन् । इत्येतेषां स्फादेश्च इनो यदुक्तं तन्न भवति । गाथिनोऽपत्यं गाथिनः । वैदथिनः । कैशिनः । पाणिनः । गण्णिनः । स्फादेः शाङ्खिनः । चाक्रिणः । भाद्रिणः । अपत्यार्थेऽप्यणि प्रतिषेधार्थमिदम् ।

अनः ॥४।४।१५८॥ अनपत्य इति निवृत्तम् । सामान्येनाणि परतोऽनो यदुक्तमखं टिखं च तन्न भवति । कर्मणा इदं कर्मणम् । साम देवता अस्य सामनः । हेम्नो विकारो हैमनः । यज्वनोऽपत्यं यज्वनः । प्राय इत्यनुवृत्तेरिक्केऽपि टिखाभावः । उपचारादथर्वा ग्रन्थोऽपि तमधीते आथर्वणिकः ।

येऽडौ ॥४।४।१५९॥ अडावर्थे यकारादौ हृति परतोऽनो यदुक्तं तन्न भवति । सामनि साधुः सामन्यः । वेमन्यः । कर्मण्यः । राज्ञोऽपत्यं राजन्यः । तद्गणोऽपत्यं तान्दण्यः । “सेनान्तलक्षण” [३।१।१४०] आदिना तद्गणो ययः । अडाविति किम् ? राज्यम् । “गुणोक्तिब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च” [३।४।११४] इति ट्यण् ।

खेऽध्वनः ॥४।४।१६०॥ अध्वनः खे परतो यदुक्तं तन्न भवति । अध्वानमलंगामी अध्वनीनः । “यखावध्वनः” [३।४।१३६] इति खः । खे इति किम् ? प्राख्वं कृत्वा गतः “गेरध्वनः” [४।२।८७] इत्यकारः सान्तः ।

न मादेरपत्येऽवर्मणः ॥४।४।१६१॥ मकारादेरनो वर्मवर्जितस्यापत्यार्थेऽणि परतो यदुक्तं तन्न भवति । सुपान्नोऽपत्यं सौषामः । भाद्रसामः । “नोऽपुंसो हृति” [४।४।१३०] इति टिखं भवत्येव । मादेरिति किम् ? सौत्वनः । अपत्य इति किम् ? चर्मणा परिवृत्तश्चार्मणो रथः । “परिवृत्तो रथः” [३।२।८] इत्यण् । अवर्मण इति किम् ? हैरण्यवर्मणः । हितनाम्नोऽपत्यं हैतनामः । हैतनामनः ।

ब्राह्मोऽजातौ ॥४।४।१६२॥ अपत्य इति वर्तमानं जातेर्विशेषणम् । ब्राह्म इति निपात्यतेऽपत्य-जातेरन्यत्र । ब्राह्मणो (ब्राह्मो) गर्भः । ब्राह्ममन्त्रम् । “तस्येदम्” [३।३।८८] इत्यण् । अजाताविति किम् ? ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः । अपत्यजातिरियम् । अजाताविति प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् । तेन अपत्यजातेरन्यत्र जातावपि निपातनमिष्यते । ब्रह्मण इयं ब्राह्मी औपधिः ।

कर्मः शीले ॥४।४।१६३॥ कर्म इति निपात्यते शीलेऽर्थे । कर्मशीलः कर्मः । “छत्रादेर्णा” [३।३।१८०] इति णः । स तु “नोऽपुंसो हृति” [४।४।१३०] इत्येव णे टिखे सिद्धः । “अनः” [४।४।१५८] इति त्यणि प्रतिषेधः । इदमेव ज्ञापकं “शेऽप्यण् कृतं भवति [५०] इति । तेन चुरा-शीला चोरी । णान्तान्-डी विधिः । शील इति किम् ? वाग्युक्तं कर्म कर्मणम् । “तद्युक्तात्कर्मणोऽण्” [४।२।४२] इत्यण् ।

दण्डिहस्तिनोः फे ॥४।४।१६४॥ दण्डिन् हस्तिन् इत्येतयोः फकारादौ हृति यदुक्तं तन्न भवति । दण्डिनोऽपत्यं दण्डिनायनः । हास्तिनायनः । नडादित्वात्फण् ।

वाशिजिह्वाशिनोः फे ढे ॥४।४।१६५॥ वाशिन् जिह्वाशिन् इत्येतयोः फे ढे च यदुक्तं तन्न भवति । वाशिनोऽपत्यं वाशिनायनः । तिकादित्वात्फण् । जिह्वाशिनोऽपत्यं जैह्वाशिनेयः । “शुभ्रादेः” [३।१।११२] इति ढण् । “नोऽपुंसो हृति” [४।४।१३०] इति टिखं प्राप्तम् ।

भ्रौणहृत्यधैवत्यसारवैदवाकमैत्रेयहिरण्मयानि ॥४।४।१६६॥ भ्रौणहृत्य धैवत्य सारव ऐदवाक मैत्रय हिरण्मय इत्येतानि निपात्यन्ते । भ्रूणहन् धीवन् इत्येतयोश्च्यणि तत्वं निपात्यते । भ्रूणघ्नो भावो

औणहृत्यम् । इदमेव ज्ञापकं “हनस्तोऽजिणलोः” [५।२।३६] इति धोस्त्य एव नान्यत्र हन्तेस्तत्वम् । तेनेह न भवति । वार्त्वन इति । धीब्नो भावो धैवत्यम् । सरयूशब्दस्य अणि परतो यत्वं निपात्यते । सारवं जलम् । इच्वाको-
रपत्यम् ऐच्वाकः । “राष्ट्रशब्दाद्राज्ञोऽञ्” [३।१।१५०] इति अजि उकारस्य खं निपात्यते । “तस्येदम्” [३।३।८८] इति वा भवार्थे “कोङ्” [३।२।११०] इति वाऽणि । मित्रयोरपत्यं मैत्रेयः “गुष्ट्यादेः” [३।१।१२४] इति ढणि कृते “यादेरिय्” [५।२।७] यादो युशब्दस्य खं निपात्यते । यादेरियादेशस्तु विदादित्वाद्भि कृते द्रष्टव्यः । अज-
न्तस्य सङ्घादिविवक्षायां “सङ्घाङ्कलक्षणघोषेऽन्यजिजामण्” [३।३।६५] इति अणि कृते मैत्रेयः सङ्घः । ढणन्तस्य सङ्घादौ “बृद्धचरणान्जित्” [३।३।६४] इति बुनि मैत्रेयकः सङ्घ इति भवति । हिरण्यस्य विकारः । “मयड्वैतयोरभक्त्याच्छादनयोः” [३।३।१०८] इति मयटि कृते यशब्दस्य खम् । हिरण्यमयं जिनेगृह्म् ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां महावृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।

पञ्चमोऽध्यायः

युवोरनाकौ ॥५।१।१॥ यु वु इत्येतयोर्गोनिमित्तभूतयोः अन अक इत्येतावादेशौ भवतः । युवोरित्यु-
त्सृष्टविशेषणयोः सामान्यग्रहणम् । योरनः । वोरकः । नन्दादेत्युः नन्दनो रमणः । “खुवुचौ”
[२।१।१०६] कारको हारकः । एवमाङ्गको वाङ्गकः । अङ्गेषु जातो भवो वेति विगृह्य “बहुत्वेऽदोरपि”
[३।२।१०३] इति वुञ् । योः कृत एव ग्रहणं व्याख्यानात् । तेनेह न भवति । उर्णायुः । शुभंयुः । उणादीनां
बहुलं त्यसंज्ञा तेनेह न भवति भुञ्जुः । “भुजिमृद्भ्यां युक्त्युक्तौ” [७० सू० ३।२१] इति युक् ।

आयनेयीनीयियः फढखछघ्रां त्यादीनाम् ॥५।१।२॥ फ ढ ख छ घ इत्येतेषां त्यादौ वर्तमानानां
निरचाम् आयन् एय् ईन् ईय् इय् इत्येते आदेशा यथासंख्यं भवन्ति । “नडादेः फण्” [३।१।८८] नाडायनः ।
चारायणः । “स्त्रीभ्यो ढण्” [३।३।१०६] वायुवेगेयः । वासवदत्तेयः । “प्रतिजनादेः खञ्” [३।३।२०३] ।
प्रतिजने साधुः प्रतिजनीनः । ऐद्रंयुगीनः । “दोश्छः” [३।२।६०] वासवीयो ध्वजः । वैश्रवणीया शिविका ।
क्षत्रस्या पत्यं क्षत्रियः । त्यग्रहणं किम् ? फक्कति । ढौकते । आदिग्रहणं किम् ? जानुदधनम् । षण्टः । शङ्खः
इत्यादौ “उणादयो बहुलम्” [२।२।१६७] इत्यादेशा न भवन्ति ।

भोऽन्तः ॥५।१।३॥ त्य इत्यनुवर्तते । आदिग्रहणं निवृत्तम् । स्वरितलिङ्गाभावात् । भू इति भूकारस्य
त्यावयवस्य अन्त इत्ययमादेशो भवति । जानन्ति । पश्यन्ति । “जूविशिभ्यां भूः” [७० सू०] जरन्तः । वेऽन्तः ।
त्यस्येति किम् ? उज्जितः ।

अत्थात् ॥५।१।४॥ थसंज्ञकात्परस्य भूस्य अत् इत्ययमादेशो भवति । ददति । ददतु । मिमते । मिमताम् ।
अन्तादेशापवादोऽयम् । न तु भेजुंसः । अददुः । अजजुः ।

देऽन्तः ॥५।१।५॥ दविपये यो भूकारस्तस्यानकारान्ताद्गोस्तरस्य अदित्ययमादेशो भवति । लुनते ।
लुनताम् । अलुनत । पुनते । पुनताम् । अपुनत । द इति किम् ? लुनन्ति । पुनन्ति । अनत इति किम् ?
च्यवन्ते । प्लवन्ते । नित्यत्वात् प्रागेव शप् ।

शीङो रुट् ॥५।१।६॥ शीङो गोर्निमित्तभूतस्य भूस्य रुडागमो भवति । शेरते । शेरताम् । अशेरत ।
रुडयं परादिः क्रियते भूग्रहणेन ग्रहणं यथा स्यात्तेन “शीङो गे” [५।३।१३०] इत्येप् । परत्वेन रुटि कृते आदिग्रहण-
निवृत्तेर्मध्येऽपि त्यावयवस्य भूस्यादादेशः । सानुवन्तग्रहणं किम् ? यङुवन्तस्य मा भूत् । व्यतिशेष्यते ।

वेत्तेः सिद्धसेनस्य ॥५११७॥ वेत्तेर्गोनिमित्तभूतस्य भस्य रुडागमो भवति सिद्धसेनस्याचार्यस्य मतेन । संविद्वते । संविदते । संविदताम् । संविदताम् । समविद्वत । समविदत । “समो गम्प्रच्छि” [१२।२४] इत्यादिना विदेर्दः । तिपा निर्देश उच्चिकरणार्थः । तेन “विद विचारणे” [धा.] इत्यस्य रौधादिकस्य ग्रहणं न भवति । विन्दते ।

भिसोऽह ऐस् ॥५११८॥ अर्थवशाद्धिभक्तिविपरिणामः । अत इत्यकारान्ताद् गोरुत्तरस्य भिस ऐम् भवति । सुरैः । असुरैः । अत्र “बहौ ऋष्येत्” [५।२।१६] इति परस्वादेत्वं कस्मान्न भवति । कृतेऽप्येत्वे भूतपूर्व-गत्या पुनः प्राप्नोतीति नित्यत्वादौत् । एषिति सिद्ध ऐस्ग्रहणं किम् ? अतिजरत्तैः । “तिङ्प्रदाद्यः” [१।३।८] इति से “स्त्रीगोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रादेशे च कृते । “एकदेशविकृतमनन्यवत्” [प०] इति जरशब्दस्या-सङ्गदेशः । “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य” [प०] इति परिभाषेयमनित्या “कष्टाय” [२।१।१२] इति ज्ञापकात् । अत इति किम् ? साधुभिः । तपरकरणं किम् ? विद्याभिः ।

इदमदसोः सकोः ॥५११९॥ इदम् अदस् इत्येतयोः सककारयोरेव भिस ऐम् भवति । इमकैः । “भिसर्वनाम्नोऽर्कं प्राक्तेः को दः” [४।१।१३०] इत्यक् “दः” [५।३।८] इति तस्य मत्वम् । अदसः “दाडु-दोमोऽदसोऽसेः” [५।३।८] इति टात्परस्य वर्णमात्रस्योत्वं दस्य च मत्वम् । सकोरिति किम् ? एभिः । “बहौ ऋष्येत्” [५।२।१६] इत्येत्त्वम् । “हलि खम्” [५।१।१७] इतीदम इदः खम् । अदसस्तु “बहावीरेतः” [५।३।८] इतीत्वम् । इदमदसोरेव सकोरित्येवमवधारणं मा विज्ञायीति ज्ञापनार्थः ।

स्येनान्डस्टाङ्गसेः ॥५११२०॥ अकारान्ताद्गोः परेयां ड्त्वा डसि इत्येतेषां स्य इन आत् इत्येत आदेशा भवन्ति । इन्द्रस्य । चन्द्रस्य । इन्द्रेण । चन्द्रेण । इन्द्रात् । चन्द्रात् । अत इत्येव । कर्त्रा । कर्तुः ।

डेर्यः ॥५११२१॥ अकारान्ताद्गोः इत्येतस्य य इत्ययमादेशो भवति । इन्दाय । चन्द्राय । अत इति किम् ? गवे । नावे ।

सर्वनाम्नः स्मै ॥५११२२॥ अकारान्तात्सर्वनाम्नो गोरुत्तरस्य डे इत्येतस्य स्मै इत्ययमादेशो भवति । सर्वस्मै । तस्मै । अमुष्मै । अत इति किम् ? भवते ।

ङसिङयोः स्मात्स्मिनौ ॥५११२३॥ अकारान्तात्सर्वनाम्नो गोरुत्तरयोर्ङसि ङि इत्येतयोः स्मात् स्मिन् इत्येतावादेशौ भवतः । सर्वस्मात् । सर्वस्मिन् । यस्मात् । यस्मिन् । अत इत्येव । भवतः । भवति ।

जसः शी ॥५११२४॥ अकारान्तात्सर्वनाम्नो गोः परस्य जसः शी इत्ययमादेशो भवति । सर्वे । एते । के । दीत्वग्रहणमुत्तरार्थम् । पयसी । दधिनी ।

त्रौङ् आपः ॥५११२५॥ आबन्ताद्गोः त्रौङ्गः शीत्ययमादेशो भवति । आश्रिति टाप्ड्रापोः सामान्येन ग्रहणम् । त्रौङ्गिति वेपोरौकारस्य पूर्वाचार्याणां संज्ञा । माले लम्बते । माले पश्य । बहुराजे तिष्ठतः । बहुराजे पश्य । “अनश्च वात्” [३।१।१०] इति डाप् । “अधिपरी अनर्थकौ” [१।३।१०] इति निर्देशात् “सोङ्गिति” [५।१।१०] इत्यादिषु स्वशान्नसंज्ञया ङिदाश्रीयते ।

नपः ॥५११२६॥ नपो गोरुत्तरस्य त्रौङ्गः शीत्ययमादेशो भवति । दधिनी तिष्ठतः । दधिनी पश्य । एवं वने । जले । “नेच्यात्” [४।३।१२] इति “सुटि पूर्वस्वम्” [४।३।८] दीर्न भवति ।

जशसोः शिः ॥५११२७॥ नपः परयोर्जस् शस् इत्येतयोः शिरित्ययमादेशो भवति । दधीनि तिष्ठन्ति । दधीनि पश्य । एवं मधूनि । वनानि । धनानि । जसा सहचरितस्य शसो ग्रहणादिह नेष्यते । पात्रशो ददाति ।

अष्टाभ्य औश् ॥५११२८॥ अष्टन्शब्दात्परयोर्जसुशसोरौश् भवति । अष्टौ तिष्ठन्ति । अष्टौ पश्य । अष्टन इति सिद्धे अष्टाभ्य इति कृतात्वस्योच्चारणं किम् ? यत्रैवात्वं तत्रैवौशभावो यथा स्यात् । ननु नित्यमात्वम् । इदमेवं ज्ञापकमात्वविकल्पस्य । अष्ट तिष्ठन्ति । अष्ट पश्य ।

“अनुरक्तः शुचिर्दक्षः श्रुतवान् देशकालविद् ।
वपुष्मान् कान्तिमान् वाग्मी दूतः स्याद्यष्टभिर्गुणैः ॥”

“गौरधिकारे तदन्तस्य च” [प०] इति तदन्तादपि भवति । परमाष्टौ । प्रधाने कार्यसम्प्रत्यया-
द्वसे न भवति । प्रियाष्टान इति । “उबिलः” [५१११६] इति उपि प्राप्ते औशारभ्यते न “सुपो धुमृदोः”
[११४१४२] इति । तेन अष्टौ गुणा यस्य सोऽष्टगुणः । ओशिति सिद्धे औशग्रहणं किम् ? अष्टवाचक्षते
अष्टग्रन्तीति । क्विप्यागतनिवृत्ते अष्टाविति यथा स्यात् ।

उबिलः ॥५१११६॥ इत्संज्ञकादुत्तरयोर्जशसोरुभवति । पट् तिष्ठति । पट् पश्य । एवं पञ्च ।
नव । परमपञ्च । प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययादिह न भवति । प्रियषपः । प्रियपञ्चानः ।

नपः स्वमोः ॥५११२०॥ नषिति नपुंसकलिङ्गं पूर्वाचार्यस्य संज्ञेयम् । तस्मादुत्तरयोः स्वमोरुभवति ।
दधि पश्य । मधु तिष्ठति । मधु पश्य । तत्कुलमित्यत्र त्यदाद्यत्वं बाधित्वा नित्यत्वादुपु ।
नन्वत्वे कृते लक्षणात्तरेणाभावे सत्यनित्य उपु ? नैवम् । “यस्य च लक्षणात्तरेण निमित्तं विहन्यते न
तदनित्यम्” [प०] इति ।

अतोऽम् ॥५११२१॥ अकारान्ताक्षपः परयोः स्वमोरुभवति । धनम् । वनम् । तपरकरणं सुखसुखा-
र्थम् । मादेशे क्रियमाणे सुपीति दीत्वं स्यात् । अतिजरसं कुलं पश्येति च न स्यात् । “सन्निपातलक्षणो विधि-
रनिमित्तं तद्विघातस्य” [प०] इत्यम उम्न भवति ।

इतरादेः पञ्चकस्य तुक् ॥५११२२॥ इतरादेः पञ्चकस्य दुगागमो भवति स्वमोः परतः ।
कतरत्तिष्ठति । कतरत्पश्य । एवं कतमत् । इतरत् । अन्यत् । अन्यतरत् । पञ्चकस्येति किम् ? समम् ।
सिमम् । इतरेण सिद्धे अन्यतरग्रहणं किमर्थम् ? अन्यतमं वनम् । अनित्यमागमानुशासनमित्येकतरस्य न
भवति । एकतरं वनम् ।

युष्मदस्मदो ङसोऽश् ॥५११२३॥ युष्मदस्मदित्येताभ्यामुत्तरस्य ङसोऽश् भवति । तव स्वम् । मम
स्वम् । शित्करणं सर्वादेशार्थम् ।

ङेसुटोरम् ॥५११२४॥ युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङे इत्येतस्य सुटश्च अमित्ययमादेशो भवति । तुभ्यम् ।
मह्यम् । त्वम् । अहम् । युवाम् । आवाम् । यूयम् । वयम् । त्वाम् । माम् । युवाम् । आवाम् । “युवावौ द्वौ”
[५१११५१] । “आवि” [५१११४७] इति दस्यात्वम् । इपि पुनः “इपि” [५१११४६] इत्यात्वम् ।

शसो नः ॥५११२५॥ युष्मदस्मदित्येताभ्यां परस्य शसो नकारादेशो भवति । युष्मान् । अस्मान् पातु
जिनः । “परस्यादेः” [१११५१] इत्यकारस्य नकारः । “स्फान्तस्य खम् [५१३१४१] इति सकारस्य खम् ।
“इपि” [५१११४६] इत्यात्वम् । “नश्च पुंसि” [४३१६१] इति नत्वं न सिध्यत्यलिङ्गत्वाद्युष्मदस्मदोः ।

भ्यसोऽभ्यम् ॥५११२६॥ युष्मदस्मद्भ्यां परस्य भ्यसोऽभ्यमित्ययमादेशो भवति । युष्मभ्यं देयम् ।
अस्मभ्यं देयम् । “खमादेशे” [५१११४६] इति दखम् । “एप्यतोऽपदे” [४३१८४] इति पररूपत्वम् ।

अत्कायाः ॥५११२७॥ युष्मदस्मद्भ्यां परस्य काया भ्यसोऽदित्ययमादेशो भवति । युष्मदधीते ।
अस्मदधीते ।

ङसेः ॥५११२८॥ युष्मदस्मद्भ्याम् परस्य ङसेरदादेशो भवति । “त्वमावेके” [५१११५६] । त्वत् । मत् ।

साम आकम् ॥५११२९॥ युष्मदस्मद्भ्याम् परस्य साम आकमादेशो भवति । युष्माकम् । अस्मा-
कम् । भाविनं सुटं भूतवदुपादाय साम इति निर्देशः कृतः । आकमि कृते सुष्णनिवृत्त्यर्थः । कमि क्रियमाणे

एत्वं स्यात् । अकर्म्यकारोच्चारणसामर्थ्यात्पररूपाभावे स्वेऽको दीत्वेन सिद्धमाकारवचनं किम् ? हलन्तादपि यथा स्यात् । युष्मानाचक्षते युष्मयन्ति । तेषां युष्माकम् ।

- १ तुह्योस्तातङ्ङाशिषि ॥५११३०॥ तु हि इत्येतयोराशिष्यर्थे तातङ्ङादेशो भवति वा । जीवताङ्ङवान् । जीवतु भवान् । जीवतात्वम् । जीव त्वम् । तातङ्ङि ङित्करणमेवैपोर्बुव ईटश्च प्रतिषेधार्थं नत्वन्तादेशार्थं व्याख्यानात् । तेन कुरुतात् । मृष्टात् ब्रूताङ्ङवानिति सिद्धम् । आशिषीति किम् ? किं करोतु भवान् । कुरु त्वम् । जीवतात्वमित्यत्र “अतो हेः” [४१४१६६] इति स्थानिवद्भावाद्बुव प्राप्नोति । नैवं “हुक्त्वो हेधिः” [४१४१६४] इत्यत्राधिकारे अतो हेरिति पुनर्हिग्रहणाद् हिरूपस्यैव हेरुभवति । उक्तं च—

“तातङ्ङि ङित्त्वं संक्रमकृत्स्यादन्त्यविधिश्चेत्तच्च तथा न ।

हेरधिकारे हेरधिकारो नाशविधौ तु ज्ञापकमाह ॥”

प्यस्तिवाक्से त्ववः ॥५११३१॥ त्वा इत्येतस्य प्य इत्ययमादेशो भवति त्विसे वाक्से च । त्विसे-प्रकृत्य । वाक्से-उच्चैःकृत्य । नीचैःकृत्याचष्टे । त्वाक्से इति किम् ? अकृत्वा । परमकृत्वा ।

यमेऽश्बृषयोः क्यच्चि सुक् ॥५११३२॥ यभविपये अश्व वृष इत्येतयोः क्यच्चि परतः सुग्भवति । अश्वस्यति बड्वा । वृषस्यति गौः । यभ इति किम् ? अश्वीयति । वृषीयति देवदत्तः ।

क्षीरलवणयोर्लौल्ये ॥५११३३॥ क्षीरलवणयोर्लौल्ये क्यच्चि परतः सुग् भवति । क्षीरस्यति माणवकः । लवणस्यति उग्रः । लौल्य इति किम् ? क्षीरीयति । लवणीयति वातकी । यमेऽश्ववृषात्क्यच्चि स इति सिद्धे गुरुनिर्देशात् “क्यच्चिदन्यत्रापि सुगसुक्च सर्वमृद्भयो लौल्ये भवति” । दधिस्यति । मधुस्यति । दध्यस्यति । मध्वस्यति इत्यादि सिद्धम् ।

आम्यात्सर्वनाम्नः सुट् ॥५११३४॥ आवर्णान्तात्सर्वनाम्न आमि परतः सुट् भवति । सर्वेषाम् । येषाम् । तेषाम् । केषाम् । सर्वासाम् । यासाम् । तासाम् । कासाम् । आदिति कानिर्देशः । आमीत्यस्योत्तरत्र सावकाशस्य तानिर्देशं प्रकल्पयति । आदिति किम् ? भवताम् । सर्वनाम्न इत्येव । नराणाम् ।

त्रेस्त्रयः ॥५११३५॥ त्रि इत्येतस्य त्रय इत्ययमादेशो भवत्यामि परतः । त्रयाणाम् । परमत्रयाणाम् ।

प्रेल्मवाप्चतुरो नुट् ॥५११३६॥ प्र इल् मु इत्येवंसंज्ञकेभ्य आब्रन्ताच्चतुःशब्दाच्च आमि परतो नुट् भवति । प्र-देवानाम् । कवीनाम् । साधूनाम् । इल्-षण्णाम् । पञ्चानाम् । मु-नदीनाम् । वधूनाम् । आप्-विद्यानाम् । बहुराजानाम् । “गोरधिकारे तस्य तदन्तस्य च” [५०] इति । परम-षण्णाम् । परमपञ्चानाम् । मुख्ये कार्यसंप्रत्ययादिह न भवति । प्रियपपाम् । प्रियपञ्जाम् ।

इदिद्धोर्नुम् ॥५११३७॥ इकारेतो धोर्नुमागमो भवति । नन्दिता । नन्दिनुम् । कुरिडता । कुण्डितुम् । इदिति किम् ? पचति । धोरिति किम् ? अभैत्सीत् । सिरयं त्यः । “विन्विक्कुर्योर च” [२११७५] इति सनुम्कनिर्देशात्पत्तेः प्रागेव नुम् । तेन कुरिडता । हुण्डता । “सरोर्हलः” [२१३५५] इत्यः सिद्धः । “उडुन्दिर” [४०] इति ज्ञापकादिरितो नुम् भवति । मेदनम् ।

शे मुच्चाम् ॥५११३८॥ शे परतो मुच्चादीनां नुम् भवति आगणपरिसमाप्तेः । मुञ्चति । लुम्पति । विन्दति । श इति किम् ? मोक्ता । मोक्तुम् । एकस्य बहु-वानुपगतेर्च्चादीनानिति विज्ञेयम् । शे इति योग-विभागात् “तुम्फादीनां नकारोङां नुम् भवति” । तुम्फति । दम्फति । गुम्फति । उम्भति । शुम्भति । “हलुङः क्लित्यनिदितः” [४१४२३] इति नखम् । पश्चान्नुम् ।

मस्जिनशोर्भौलि ॥५११३९॥ मस्जि नश् इत्येतयोर्नुम्भवति झलादौ परतः । मङ्क्ता । मङ्क्तम् । नंश । नंष्टुम् । मस्जेर्नुमि कृते “हलोऽनन्तराः स्फः” [११३३] इति द्वयोस्त्रयाणां वा स्फसंज्ञा । द्वयोः स्फसंज्ञामा-

श्रित्य स्फादेः सस्य खम् । नुमोऽनुस्वारपरस्वत्वे । ऋणीति किम् ? मज्जनम् । नशिता । मस्जेः “ऋलां जश् ऋशि” [५।१।१२८] इति सकारस्य दत्वम् । दस्य च चुत्वं जकारः । “रधादेः” [५।१।१६३] वेट् ।

रधिजभोरचि ॥५।१।४०॥ रधि जभ इत्येतयोः अजादौ परतो नुम् भवति । रन्धयति । रन्धकः । साधुरन्धी । रन्धं रन्धम् । रन्धो वर्तते । जम्भयति । जम्भकः । साधुजम्भी । जम्भो वर्तते । प्रागेव नुम् । अचीति किम् ? रद्धा । जम्भम् ।

लिटीटि रधेः ॥५।१।४१॥ रधेनुम् भवति इडादौ लिटि परतः । ररन्धिव । ररन्धिम । नुम्विधान-सामर्थ्यत् “हलुङः क्लियनिदितः” [४।१।२२] इति नखं न भवति । नित्यार्थोऽयं योगः । लिट्येव इडादौ नान्यस्मिन् । रधिता । रधितुम् । विपरीतो नियमः कस्मान्न भवति ? इडादावेव लिटीति । इह न स्यात् । रन्धतुः । रन्धुः । नैवं योगविभागादिष्टप्रसिद्धेः । लिटीटीति योगः कर्तव्यः । तदनु रधेरिति । रधेल्लिटीति नुम् भवति । रधेरिति पृथक्करणं किमर्थम् ? लिटीटीत्यत्रेष्टनियमसिद्धिर्यथा स्यात् । लिट्येवेडादौ रधेनुमिति ।

रभोऽशब्दितोः ॥५।१।४२॥ रभो गोनुम् भवति अजादौ न तु शब्दितोः । आरम्भयामि । आरम्भकः । साध्वारम्भी । आरम्भमारम्भम् । आरम्भो वर्तते । अशब्दितोरिति किम् ? आरम्भते । आरम्भे । अचीत्येव । आरम्भम् । अशब्दितोरित्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधः । नञः सापेक्षस्यापि गमकत्वादानुष्णभोज्यादिवत्सविधिः ।

लभेः ॥५।१।४३॥ लभेः शब्दित्ववर्जितेऽजादौ नुम्भवति । आलम्भयति । आलम्भकः । साध्वालम्भी । आलम्भमालम्भम् । आलम्भो वर्तते । अशब्दितोरित्येव । आलम्भते । आलम्भे । अचीत्येव । लम्भम् । पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम् ।

आडो यि ॥५।१।४४॥ आडपूर्वस्य लभेर्यकारादौ त्ये परतो नुम् भवति । आलम्भ्या गौर्ब्राह्मणेन । आड इति किम् ? लम्भम् । यीति किम् ? आलम्भा । आलम्भ्य गत इत्यत्र कृतेऽपि नुमि “हलुङः क्लियनिदितः” [४।१।२३] इति नखम् । सुम्बचनं त्वन्यत्र सावकाशम् ।

उपात्प्रशंसायाम् ॥५।१।४५॥ उपात्परस्य लभेः प्रशंसायामर्थे नुम् भवति यकारादौ । उपलम्भ्या भवता विद्या । उपलम्भ्यानि धनानि । प्रशंसायामिति किम् ? उपलम्भ्यमस्माद् वृषलात् किञ्चित् ।

गेः खघजोः ॥५।१।४६॥ गेरुत्तरस्य लभेनुम् भवति खघजोः परतः । सुप्रलम्भः । दुष्प्रलम्भः । घञि-प्रलम्भः । उपलम्भः । गेरिति किम् ? ईपल्लभो लामः । नियमार्थोऽयं योगः । गेरेव खघजोः । अथ गेः खघजोरेव कस्मान्न भवति ‘शप उपलम्भने’ [धा०] इत्यादिनिर्देशात् ।

न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम् ॥५।१।४७॥ सु दुस् इत्येताभ्यां केवलाभ्यां परस्य लभेनुम् भवति । सुलभो दुर्लभः । कृच्छाकृच्छार्थदन्यत्र घञ् । सुलाभो दुर्लभः । केवलाभ्यामिति किम् ? सुप्रलम्भः । दुष्प्रलम्भः । अतिसुलम्भः । जिग्रहणानुवृत्तेः सुदुर्गोर्ग्रहणम् । अतिसुलभमिति कथम् ? “अतिक्रमे चातिः” [१।१।८] इति अतेर्गिसंज्ञाऽभावात् सुः केवल एव गिः । केवलग्रहणं हि तुल्यजातीयस्य गेर्निवर्तकम् । अक्रियमाणेऽपि केवल-ग्रहणे सुदुसोः सन्निधाने उच्यमानं कार्यं कथमन्याधिकयोरपि । इदमेव ज्ञापकं क्वचित्केवलस्य सन्निधाने उच्यमानमन्याधिकस्यापि भवति । तेन “निविश” [६।२।११] इत्यत्र निविशते अभिनिविशत इति सिद्धम् ।

जिणामोर्वाऽगेः ॥५।१।४८॥ अगिपूर्वस्य लभेर्वा नुम् भवति जिणमोः परतः । अलम्भि । अलाम्भि । लम्भं लम्भम् । लामं लामम् । अगेरिति किम् ? प्रालम्भि । प्रलम्भं प्रलम्भम् ।

उगिदचां धेऽधोः ॥५।१।४९॥ उगितां गूनाम् अञ्चतेश्च धे परतो नुम् भवत्यधोः । गोमान् । धनवान् । निद्वान् । श्रेयान् । भवान् । पचन् । पचन्तौ । पचन्तः । अञ्चतेः प्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः । उगिद-चामिति किम् ? वाक् । वाचौ । वाचः । धे इति किम् ? पचतः पश्य । गोमतः पश्य । अञ्चतिग्रहणं निय-

मार्थम् । उगितकार्यं ध्रुवस्यैव । तेनेह न भवति । उखासत् । पर्णध्वत् । अधोरिति ग्रहणं पर्युदासार्थम् । धोरन्यस्य अधुभूतपूर्वस्य यथा स्यात् । गोमत्यत इति गोमान् । गोमानिवाचरति “कर्तुः क्यङ् सखं विभापा” [२११६] इति क्यङि कृते क्विप्यागतनिवृत्ते अतः के यत्ने च कृते सौ नुम् “अत्वसोऽधोः” [४११२] इति दीत्वम् ।

युजेरसे ॥५११५०॥ युजि इत्येतस्यासे नुम्भवति धे परतः । युङ् । युञ्जौ । युञ्जः । “ऋस्विगृधक्” [२१२५७] इत्यादिना क्विः । “क्वित्यस्य कुः” [५३१७५] । अस इति किम् ? अश्वयुक् । अश्वयुजौ । ‘ससृद्धिष’ [२१२५६] इत्यादिना क्विप् । “वागमिङ्” [११३१८२] इति पसः । अस इत्यनर्थकम् । युजे-रुच्यमानः कथं तदन्तस्य नुम् । इदमेव ज्ञापकम् “धोरधिकारे तदन्तविधिरप्यस्ति” [५०] इति । युजे-रितीकारनिर्देशः किम् ? “युञ् समाधौ” [धा०] इत्यस्य ग्रहणं मा भूत् । युजमिच्छति मोक्षाय ।

नपोऽज्भलः ॥५११५१॥ नपुंसकलिङ्गस्याजन्तस्य ऋञन्तस्य च नुम् भवति धे परतः । वनानि । धनानि । दधीनि । मधूनि । उदश्चिन्ति । सर्पाणि । अञ्जल इति किम् ? विमलदिवि । चत्वारि । बहुगिरि । अहानि । “उगिङ्घां धेऽधोः” [५११४६] इति नुमं बाधित्वा परत्वादानेन नुम् । ददन्ति । जाग्रन्ति । जगन्ति ।

सुपीकोऽचि ॥५११५२॥ अजादौ सुपि परत इगन्तस्य नपो नुम् भवति । तुम्बुरुणे । त्रपुणे । सुपीति किम् ? तुम्बुरुणे विकारः तौम्बुरवं चूर्णम् । “कद्र्वोरोऽस्वयम्बुवः” [४११३४] इत्युकारस्यौत्वम् । इक इति किम् ? वने । जडे । अचीति किम् ? जतुभ्याम् । अङ्ग्रहणमनर्थकम् । हत्यपि नुमि नखे कृते सिध्यति जतुभ्यामिति । तथा अतिराभ्याम् प्रियतिस्रभ्यां कुलाभ्यामित्यपि । रायमतिक्रान्ताभ्यां कुलाभ्याम् । “तिकुप्रादयः” [११३८३] इति षसे कृते । “प्रो नपि” [१११७] इति प्रादेशः । प्रियास्तिस्रो ययोः कुलयोरिति विग्रहे षसः । अत्र परत्वान्नुमं बाधित्वा “रायो हलि” [५११४४] इत्यात्वं तिस्रभावः । “सङ्कृद्गते परनिर्णये बाधित एव” [५८] इति तिस्रशब्दस्य पुनर्नुमं भवति । शुचिशब्दस्यापि नपुंसकलिङ्गविवक्षायामामि परतः पूर्वविप्रतिषेधेन नुटि कृते नुम् । मृदन्तस्य नुमः खम् । “लक्षणाप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्” [५०] इति “इन्हन्पूर्वार्थम्णाम्” [४११६] “शौ” [४११९०] इत्यस्य नियमस्याभावात् “नोङः” [४११५] इति दीत्वे कृते सिद्धं जुञ्जीनाः।। यत्र नखं नास्ति तत्र श्रवणं स्यात् । हे जानो । “नोमता गोः” [१११६४] इति प्रतिषेधात्कथन्नुम् ? इदमेवाङ्ग्रहणं ज्ञापकम् । अनित्यः सप्रतिषेधः । तेन कौ प्रस्यैपि कृते सिद्धं हे त्रपो इति । उत्तरार्थं च ।

भादौ वोक्तपुंस्कं पुंवत् ॥५११५३॥ अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः । इगन्तं नप् उक्तपुंस्कं भादावजादौ परतो वा पुंवद्भवति । शुचिः साधुः । शुचिः साधुवृत्तम् । शुचये । शुचिने वस्त्राय । अग्रणी-दण्डश्चक्रिणः । अग्रणि दण्डरत्नम् । पुंवद्भावपक्षे “प्रो नपि” [१११७] इति प्रादेशाभावः । “एगिवाक्चा-दुङोऽसुधियः” [४११७८] इति यण् च । अग्रण्या । अग्रणिना । अग्रण्ये । अग्रणिने । अग्रण्यः । अग्रणिनः । अग्रण्योः । अग्रणिनोः । अग्रण्याम् । अग्रणीनाम् । पूर्वविप्रतिषेधेन नुट् । अग्रण्याम् । अग्रणिनि इत्यत्र कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् “ङेराम् स्वाग्नीभ्यः” [५२११०] इत्याम् । मृदवे मृदुने वस्त्राय । कर्ता नरः । कर्तृ कुलम् । कर्त्रा कर्तृणा । कत्रे । कर्तृणे । इक इत्येव । जलपाः पुरुषः । जलपं कुलम् । जलपेन । विचीदं रूपम् । अचीत्येव ग्रामणिभ्याम् । प्रादेशो भवत्येव । भादाविति किम् ? अग्रणिनी दण्डचक्ररत्ने । उक्तपुंस्कमिति किम् ? त्रपुणे । नान्युक्तपुंस्कद्वेति सिद्धे नपो विकल्पे पुंवद्ग्रहणस्य ननु प्रकृतस्यापि प्रादेशस्य विकल्पः । उक्तः पुमान् येन तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्तेऽर्थे तदुक्तपुंस्कं शब्दरूपं गृह्यते । तेन भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तस्य पुंसि नपुंसकशब्दस्य विकल्पो न भवति । पीलुने फलाय । पीलुशब्दस्य वृत्ते समुदायः प्रवृत्तिनिमित्तं फले तु तदवयवः ।

सकथ्यस्थिदध्यक्षामनङ् ॥५१।५४॥ सकथि अस्थि दधि अक्षि इत्येतेषां नपामनङादेशो भवति । सकथना । सकथने । अस्थना । अस्थने । दध्ना । दध्ने । अक्षणा । अक्षणे । भादावित्येव । अस्थिनी । अचीत्येव । अस्थिभ्याम् । प्रियसकथना व्याधेन । गोः प्राधान्यात्तदन्तविधिरपि सकथ्यादीनां नपुंसकानाम् । तदन्तस्य नपुंसकस्यानपुंसकस्य च गोरनङादेशो भवति । केवलानां सकथ्यादीनां व्यपदेशिवद्भावाद्गुत्वम् । “व्यपदेशिवद्भावो न मृदा” [प०] इतीयं परिभाषा त्यविषया नेहावतिष्ठते । नप इति किम् ? दधिर्नाम कश्चित् तेन दधिना । लोकप्रसिद्धशब्दानुशासनं हीदमिति लोकसिद्धेनानङा सूत्रनिर्देशः । *सुपीकोऽचीत्येव । नप इति प्रकृतिविशेषमिह गृह्यमाणविशेषणमिति पुलिङ्गः समुदायोऽनङोऽवकाशः प्रियसकथना पुरुषेण । नुमस्तु दधिनी सकथिनी । दध्नेत्यादौ परत्वादनङ् ।

विदेः शतुर्वसुः ॥५१।५५॥ भादावजादौ सुपीति निवृत्तम् । विदेः परस्य शतुर्वसुरादेशो भवति । विद्वान् । विद्वान्सौ । विद्वान्सः । विद्वान्सम् । विद्वान्सौ । विदेरिति कानिर्देशाद्विन्दतेर्निवृत्तिः । वेत्यनुवर्तत इत्येके । विदन् । विदन्तौ ।

न थात् ॥५१।५६॥ नुमनुवर्तते प्रकृतत्वात् । थादुत्तरस्य शतुर्नुम्न भवति । ददत् । ददतौ । ददतः । ददतम् । ददतौ । जाग्रत् । जाग्रतौ । जाग्रतः । जाग्रतम् । जाग्रतौ । “उगिदचां धेऽधोः” [५।१।४६] इत्यस्य प्रतिषेधः ।

वा नपः ॥५१।५७॥ थादुत्तरस्य नपुंसकस्य शतुर्वा नुम् भवति । ददन्ति कुलानि । ददति कुलानि । जाग्रन्ति कुलानि । जाग्रति कुलानि । “नपोऽऽकृत्” [५।१।५९] इति नुम्बिकल्पितः । उगिल्लक्षणस्तु “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [प०] इति ।

शीम्बोरात् ॥५१।५८॥ अवरणात्ताद् गोः परस्य शतुर्वा नुम् भवति शी सु इत्येतयोः परतः । तुदती कुले । तुदन्ती कुले । तुदती स्त्री । तुदन्ती स्त्री । याती कुले । यान्ती कुले । याती वङ्वा । यान्ती वङ्वा । करिष्यती कुले । करिष्यन्ती कुले । करिष्यती स्त्री । करिष्यन्ती स्त्री । आदिति किम् ? अदती स्त्री । धन्ती स्त्री । अवर्ण-मात्राश्रयत्वेनान्तरङ्गत्वात्प्राङ्नुमः पररूपम् “वाणाद् गावं बलीयः” [प०] इत्यपि नास्ति भिन्नकालत्वात् । समकालं हि बलात्रलं चिन्त्यते । भिन्नकालता च पूर्वमेकादेशः पश्चान्नुम् । एकादेशे कृते अवरणात्ताद्गो-स्तरस्य शतुरिति न घटते । “आद्यन्तवदेकस्मिन्” [तद्वत् ४।३।७३] इति तद्वद्भावोऽपि न सम्भवति । “उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः” [प०] इति वचनात् । उभयं ह्यत्राश्रयतेऽवरणान्तो गुः शता च । यद्येकादेशः पूर्वं प्रत्यन्तवद्भवति तदा शता न विद्यते । अथ परं प्रत्यादिवत्तदाऽवरणान्तो गुर्नास्ति । भूतपूर्वगत्याऽवरणान्तस्य गौराश्रयणे अदतीत्यादिष्वपि स्यात् । अत्रापि भूतपूर्वगत्या शप् । एवं तर्हि नूत्रसान्ध्याद्भूतपूर्वगतिराश्रयणीया । अदतीत्यादिषु तु नुम्न भवति आदिति निर्देशात् । अन्यथा शीम्बोरित्येव वाच्येत अवर्णस्यासम्भवात् ।

श्यशपः ॥५१।५९॥ श्य शप् इत्येताभ्यां परस्य शतुर्नुम् भवति शीम्बोः परतः । दीव्यन्ती कुले । दीव्यन्ती स्त्री । पचन्ती कुले । पचन्ती स्त्री । पुनरारम्भो नित्यार्थः ।

सावनडुहः ॥५१।६०॥ वेति निवृत्तम् । अनडुह इत्येतस्य नुम् भवति सौ परतः । अनड्वान् । हे अनड्वान् ।

दिघ औत् ॥५१।६१॥ दिव् इत्येतस्य सौ परत औकारादेशो भवति । द्यौरुह्यते पुण्येन । हे द्यौः । सुखे प्राप्ते परत्वादौकारादेशः । “अनखिधौ” [१।१।५६] इति स्थानिदद्भावात्प्रतिषेधानुनर्न सुखम् । अथेह कस्मान्न भवति अक्षयूरिति । अत्रान्तरङ्गत्वाद्दूट् । अन्तरङ्गता च कौ वकारस्योऽ् क्यन्तस्य सावौकारः । व्युत्पत्तिः “दिवेडिब्” [उ० सू०] इति दिव् ।

पथिमथ्यमुत्तामात् ॥५१।६२॥ पथिन् मथिन् ऋभुद्धिन् इत्येतेपामाकारादेशो भवति सौ परतः । पन्थाः । मन्थाः । ऋभुद्धाः । “अन्तेऽल्लः” [१।१।४६] इति नकारस्यात्वम् । “एधे” [५।१।६३] इतीकारस्यापि । “स्वेऽको दीः” [४।३।८८] ।

एधे ॥५१।६३॥ पथ्यादीनामवयवस्येकारस्याकारादेशो भवति धे परतः । पन्थाः । पन्थानौ । पन्थानः । पन्थानम् । पन्थानौ । एवं मन्थाः । मन्थानौ । ऋभुद्धाः । ऋभुक्षायौ । एरित्यत्र तपरत्वाभावादिह कस्मान्न भवत्यात्वं पथीरिति ? पन्थानमिच्छति । “स्वेपः क्यच्” [२।१।६] । “नः क्ये” [१।२।१०४] इति पदत्वम् । मृरन्तनखम् “दीरकृद्गे” [५।२।१३४] इति दीत्वम् । पथीयतेः क्तिप् । “अतः खम्” [४।४।५०] । “वलि व्योः खम्” [४।३।५५] इति यत्त्वम् । इदानीं धे परत आत्वं प्राप्नोति । “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावाद्कारेण व्यवधानान्न भवति । “न पदान्तद्वित्व” [१।१।५८] इत्यादिना तु यत्रविधिमैव प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । ईविधिं प्रति कस्मान्न स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । ईकारे विधिरीविधिरिति तत्र विग्रहः । धे चायं विधिर्नकारे । “कौ नष्टं न स्थानिवत्” [५०] इति कस्मान्न प्रतिषेधः । तत्रापि “कौ विधिं प्रति नष्टं न स्थानिवत्” [५०] । धे चायं विधिर्न कौ । अवश्यमेवं विज्ञेयम् । अन्यथा कौ निमित्तभूते नष्टं न स्थानिवद्भवतीत्युच्यमाने लौरिति न सिध्यति । लवमाचष्टे णिच् । “अतः खम्” [४।४।५०] लवतेः क्तिप् । णोः खम् । अत्रापि णिखमेव कि्वनिमित्तम् नातः खम् । ततः “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावाद्कारेण व्यवधानादूच्यते स्यात् । “कौ विधिं प्रति नष्टं न स्थानिवत्” [५०] इत्युच्यमाने सर्वस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्लौरिति सिद्धम् ।

थो न्यः ॥५१।६४॥ पथ्यादीनां थकारस्य न्थादेशो भवति धे परतः । उक्तान्येवोदाहरणानि । त्रयाणामप्यनुवृत्तौ सम्भवात्पथिमथोस्थस्य न्थादेशः ।

भस्य टेः खम् ॥५१।६५॥ पथ्यादीनां भसंज्ञकानां टेः खं भवति । पथः पश्य । पथा । पथे । मथः मथा । मथे । ऋभुद्धः पश्य । ऋभुद्धा । ऋभुद्धे । भस्येति किम् ? पथिम्याम् । धे ऋभुद्धर्तमानसपीह न सम्बध्यते ।

पुंसोऽसुङ् ॥५१।६६॥ पुंसोऽसुङ्ङादेशो भवति धे परतः । पुमान् । पुमांसौ । पुमांसः । पुमांसम् । पुमांसौ । ध इत्येव पुंसः पश्य । “पुनातेर्मुकसुकौ प्रश्च” [उ. सू.] इति पुंस् ।

गोरिणित् ॥५१।६७॥ धस्य विभक्तविपरिणामः । गोशब्दात्परं धं णिद्धवति । णित्कार्यं भवतीत्यर्थः । गौः । गच्छतीति “गमेडोस्” [उ. सू.] । गावः । सुगौः । इह कस्मान्न भवति ? हे चित्रगो । हे चित्रगवः । विहितविशेषणाददोषः । गोरेकत्वादिष्वर्थेषु विहितं धं णिद्धवति । चित्रगुशब्दात्वन्यपदार्थादिकत्वादिषु धम् । अतिदेशोऽयं विनापि वतं लभ्यते । यथा गौर्वाहीकः । गौरित्युक्ते गोवदिति गम्यते । एवमिहाप्यणितं त्यं णितमाह । णिद्धदिति गम्यते । गोराविति सिद्धे णिदिति प्रतिपत्तिगौरवं किम् ? क्वचिदन्यत्राप्यतिदेशो यथा स्यात् । तेन घोशब्दस्य द्यौः । द्यावौ । द्यावः ।

वास्मरणात् ॥५१।६८॥ अस्मदो वा णल् णिद्धवति । अहं पपाच । अहं पपाच । अहं चकर । अहं चकार । अस्मदिति त्रिकरय संज्ञा । “मिडञ्चिशोऽस्मद्युष्मदन्याः” [१।२।१५२] इति । अस्मदिति किम् ? स पपाच ।

सख्युरकौ ॥५१।६९॥ वेति नानुवर्तते । अकौ यः सखिशब्दस्तस्मात्परं धं णिद्धवति । सखायौ । सखायः । सखायम् । सखायौ । अकाविति किम् ? हे सखे ।

अनङ् सौ ॥५१।७०॥ सख्युरनङ्ङादेशो भवति अकौ सौ परतः । सखा । अकावित्येव । हे सखे ।

ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसाम् ॥५१।७१॥ ऋकारान्तानाम् उशनम्, पुरुदंशस्, अनेहस् इत्येतेषां चानडादेशो भवति सावको परतः । कर्ना । पिता । माता । उशना । पुरुदंशा । अनेहा । अकाविति किम् ? हे कर्तः । हे मातः । हे पितः । हे उशनः । हे पुरुदंशः । हे अनेहः । “उशनसः कौ त्रैरूप्यमेके वाञ्छन्ति” । नान्तमदन्तं सान्तमिति । कथं नान्तता । अकावित्यनुवर्तते । स च नञीपदर्थं द्रष्टव्यः । तेन क्वचित्कावप्यनङ् । हे उशनन् । तथा “नखं ऋदन्तस्याकौ” [५३।३०] इत्यत्रापि नञीपदर्थं एव । तेन कावपि नखम् । हे उशन । यदा अनङ् न भवति तदा हे उशनः । ऋदिति तपरकरणमसन्देहार्थम् । “गृ निगरणे” [धा०] इत्याद्यनुकरणनिवृत्त्यर्थं च गृरिति मया श्रुतः ।

चतुरनडुहोर्वा ॥५१।७२॥ चतुर् अनडुह् इत्येतयोस्कारस्य वा इत्ययमादेशो भवति धे परतः । अनडुह इत्यत्र “द्वन्द्वच्छुदहयो रार्थे” [४।२।१०८] इत्यः सान्तोऽन्यथाऽन्तर्वृत्तिविभक्तिकृतपदाश्रयो हकारस्य दः स्यात् । चत्वारि । चत्वारः । अनड्वान् । अनड्वाहौ । अनड्वाहः । गोः प्राधान्यात्तदन्तविधिरपि । चतुरडुहन्तस्य गोर्वाऽऽदेशो भवत्यभिसंयन्वात् । केवलयोस्तु व्यपदेशिवद्भावः । प्रियचत्वारि । प्रियचत्वारः । प्रियानड्वान् । प्रियानड्वाहौ । प्रियानड्वाहः । अनडुह् अनड्वाह् इति गौरादावुभयग्रहणात् अनडुही । अनड्वाही । इह क्रोष्टु क्रोष्टुशब्दा एकार्था ऋदुदन्तौ स्तस्तत्र धे स्त्रियां च क्रोष्टुशब्दस्यैव प्रयोगः—क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । क्रोष्टारम् । क्रोष्टारौ । क्रोष्ट्री । भादिष्वजादिभूभयोः । क्रोष्ट्रा । क्रोष्टुना । क्रोष्ट्रे । क्रोष्टवे । क्रोष्टुः । क्रोष्टोः । क्रोष्टोः । क्रोष्टोः । क्रोष्टरि । क्रोष्टौ । कौ शस्यामि हलादौ च क्रोष्टुशब्दस्यैव । हे क्रोष्टो । क्रोष्टून् । क्रोष्टुभ्याम् । क्रोष्टुभिः । क्रोष्टुभ्यः । क्रोष्टूनाम् । क्रोष्टुषु । अभिधानलक्षणाः कृद्धृत्साः । “सितनिगमिसिशच्यविधाञ्कृशिभ्यस्तुः” [उ० सू०] ।

घः कौ ॥५१।७३॥ चतुरनडुहोस्कारस्य व इत्ययमादेशो भवति कौ परतः । हे अतिचत्वः । हे अनड्वन् । वाऽऽदेशापवादोऽयम् ।

ऋन इद्धोः ॥५१।७४॥ ऋकारान्तस्य धोर्गोरिकारादेशो भवति । किरिति । गिरिति । आस्तीर्णः । विस्तीर्णः । विकीर्णते । स्तूत्रः क्ते वृतः “सनीड् वा” [५।१।८६] इति विभाषित इट् । “यस्य वा” [५।१।१२१] इति प्रतिषेधः । धोरिति किम् ? मातृणाम् । पितृणाम् । ननु लाक्षणिकं तदत्र कथं प्राप्तिर्लाक्षणिकस्याप्यत्र ग्रहणमिष्यते । चिकीर्षिता ।

[उङ् ॥५१।७५॥ पुवादुप् ॥५१।७६॥ सावेम्मे ॥५१।७७॥ हलामचः ॥५१।७८॥ ब्रजवदल्त्रोऽतः ॥५१।७९॥ नेटि ॥५१।८०॥ ह्म्यक्षणाश्वसजागृणिश्व्येदिताम् ॥५१।८१॥]

चोर्णुञ् ॥५१।८२॥ उर्णुञ् इडादौ सौ मपरे वा ऐभभवति । प्राप्ते विकल्पोऽयम् । प्रौर्णावीत् । प्रौर्णावीत् । यदा तु “इड्विजः” [१।१।७६] इत्यनुवर्तमाने “वोर्णोः” [१।१।७७] इति डित्वम्, तदा एवैषौः प्रतिषेधः । प्रौर्णुवीत् ।

अतोऽनादेर्धेः ॥५१।८३॥ अनादेरतो वेर्वा ऐभभवति इडादौ सौ मपरे । अकणीत् । अकाणीत् । अरणीत् । अराणीत् । अत इति किम् ? अदेवीत् । असेवीत् । तथा न्यकुटीत् । न्यपुटीत् । ननु चात्र कुटादिस्वाण्डिच्चे सत्येप्रतिषेधो भविष्यति । इलक्षणस्य स प्रतिषेधः धिलक्षणश्चायम् । अनादेरिति किम् ? मा निरशीत् । मा निरटीत् । धेरिति किम् ? अतनीत् । अरक्षीत् । इडादावित्येव । अधानीत् । इह कस्मान्न भवति । अचकाणीदिति चकारेऽकारस्य । यस्य न व्यवधानं तस्याकारस्य विकल्पः । अत्र तु कास्शब्देन

१. प्रतिषु [] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिस्युद्धिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्यायी-मनुसूत्यात्र निर्दिष्टानि ।

व्यवधानम् । नन्वराणीदित्यत्रापि णकारेण व्यवधानमस्ति, नैवं “येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि” [प०] इति वचनप्रामाण्यात् । अत्रान्यत्र हला व्यवधानेऽप्यलसङ्घातेन व्यवधाने न भवति । यद्येवं घेरिति व्यर्थम् । अतस्तीदित्यत्र समुदायेन व्यवधानात् वर्णसङ्घातेन व्यवधानं भवति । न च न भवतीति परिभाषाऽऽश्रयणाददोषः ।

वलाद्यगस्येट् ॥५११८४॥ वलादेरगस्य इडागमो भवति । लविता । लवितम् । लवितव्यम् । वलादेरिति किम् ? लव्यम् । लवनीयम् । अगस्येति किम् ? आस्ते । शेते । ननु “ऋत इद्धोः” [५११७४] इत्यनुवर्तमाने धोः संशब्दनेन विहितस्य वलादेरिद्धवतीत्युच्यमाने “रुदादेर्गे” [५११९३५] इत्यत्र रुदादेरेव गो नान्यस्येति रुदादीनामुदात्त-पाठसामर्थ्येनेव्यवधारणात् स्वयमेवागस्येद्रविष्यतीति व्यर्थमगग्रहणम् । नैवं प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् । जुगुप्सत इत्यादौ धोः संशब्दनेन सन्विहित इतीण न भवति ।

ग्रहोऽल्लिटि दीः ॥५११८५॥ ग्रह उत्तरस्य इयोऽल्लिटि दीर्भवति । वान्त इडनुवर्तमानोऽर्थवशात्तया विपरिणमते । ग्रहीता । ग्रहीतुम् । ग्रहीतव्यम् । अल्लिटीति किम् ? जग्हिम । “लिङ्स्फात्कित्” [१११७६] “ग्रहिज्या” [४२११२] आदिना जिः । यङन्तस्य कस्मादीर्न भवति । जरीग्रहिता । जरीग्रहितुम् । तत्र ग्रहेर्यो विहित इट् तरय दीर्भवतीति विहितविशेषणम् । “प्रकृतिग्रहणे यङुबन्तस्य ग्रहणम्” [प०] कस्मान्न भवति ? “एकाचोऽनुदात्तात्” [५११९१५] इति सिंहावलोकनेनैकाज्ग्रहणं सम्बन्धते । तेन ग्रहेरेकाचः कार्यं यङुबन्तस्य न भवति । ईटि कृते अग्रहीदित्यादौ “ईटीटः” [४११२०] इत्यादिकं दीत्वे कथमिद् कार्यम् ? स्थानियद्भावात् । “अनखिधौ” [१११५६] इति कथं न प्रतिषेधः ? नायमल्विधिरागमविधिरयम् । अप्रकृतस्यैवो ग्रहणाभावात् ग्राहिता ग्राहिष्यते इत्यादौ भिद्विधौ दीर्न ।

[वृतो वा ॥५११८६॥ न लिङि ॥५११८७॥]

सौ मे ॥५११८८॥ मपरे सौ परतः वृत इयो दीर्न भवति । प्रावारिष्याम् । प्रावारिषुः । आस्तिरिष्याम् । आस्तिरिषुः । “मिष्यसूथ” [२११८२] इत्यादिना तसस्ताम् । “वलाद्यगस्येट्” [५११८४] मे इति किम् ? प्रावरिष । प्रावरीष । “लिङ्स्योर्दे” [५११९०] इतीट् ।

सनीड् वा ॥५११८९॥ सनि परत वृत इड् वा भवति । वृवृर्षते । विवरिषते । विवरीषते । प्रावृवृर्षते । प्राविवरिषते । प्राविवरीषते । प्रावृवृर्षति । प्राविवरिषति । प्राविवरीषति । आतिस्तीर्षति । आतिस्तरिषति । आतिस्तरीषति । “सनि ग्रहगुहश्च” [५११९१८] इतीट् प्रतिषेधे प्राप्ते पक्षे इट् । चिकीर्षतीत्यादौ दीत्वे ऋतो लाक्षणिकत्वादिडभावः ।

लिङ्स्योर्दे ॥५११९०॥ वृतः परयोः लिङ्सि इत्येतयोर्दे वा इड् भवति । द इति सेरेव विशेषणम् । लिङो मविषये यासुटि सति अवलादित्वादिडभावः । वृषीष्ट । वरिषीष्ट । प्रावृषीष्ट । प्रावरिषीष्ट । आस्तीर्षीष्ट । आस्तिरिषीष्ट । “न लिङि” [५११८७] इति दीत्वाभावः । अनिट् पक्षे “उः” [१११८६] इति किञ्चम् । सौ । अत्रुत् । अवरिष्ट । अवरीष्ट । प्रावृत् । प्रावरिष्ट । प्रावरीष्ट । आस्तीर्षाताम् । आस्तिरिषाताम् । आस्तीर्षाताम् । इयो “वृतो वा” [५११८६] इति दीत्वम् । अत्रुतेत्यादौ “प्राद्गोः” [५१३४५] इति सेः खम् । द इति किम् ? आस्तिरिष्याम् । आस्तिरिषुः । “सौ मे” [५११८८] इति दीत्वाभावः । वलाद्यगस्येयो विकल्पोऽयम् ।

स्फादतोऽसुटः ॥५११९१॥ स्फादसुटः परो य ऋकारस्तदन्तात् नन्वेति वा इड् भवति । स्मृषीष्ट । स्मरिषीष्ट । धृषीष्ट । ध्वरिषीष्ट । अस्मृषाताम् । अस्मृषीष्ट । “ङौ” [१२१०] दः । स्फादिति किम् ? कृषीष्ट । अकृषत । ऋत इत इति किम् ? च्योषीष्ट । अच्योष्ट । असुट इति किम् ? संस्कृषीष्ट ।

१. प्रतिषु [] कोष्ठकान्तर्गतयोः सूत्रयोर्द्वितीर्णोपलब्धाऽतः जैनेन्द्रपञ्चाध्यायीमनुसृत्य सूत्र द्वयमत्र निर्दिष्टम् ।

समस्कृत । सम्पूर्वस्य कृत्रः “सम्पूर्णपाठकः” [४३१११०] इति सुट् । पूर्वं धुर्गिना युज्यते पश्चात्साधन-
वाचिना त्येनेत्यन्तरङ्गः सुट् । त्रिहिरङ्गत्वे समकृतेत्यत्र कात्पूर्वमट् स्यात् ।

स्वरतिषूङ्धूञ्जसूयुदितः ॥५११।६२॥ स्वरति षूङ् धूञ् सूति इत्येतेभ्यः ऊदित्भ्यश्च वलाद्यगस्य
वा इङ् भवति । “खिङ् स्योर्दे” [५११।६०] इत्येतन्नित्तम् । केत्यनुवर्तते । इष्टतोऽधिकाराणां प्रवृत्तिनिवृत्ती
इति स्वरतेरप्रति विकल्पोऽन्येषां प्राप्ते । स्वता । स्वरिता । स्वर्तुम् । स्वरितुम् । विसोता । विसविता ।
विधोता । विधविता । सोता । सविता । ऊदितः । विगाढा । विगाहिता । निगोढा । निगूहिता । स्वरतेस्तिपा
निर्देशो यद्ब्रुवन्तनिवृत्त्यर्थः । सरीस्वरिता । सूङ्धूञ्जोरनुबन्धनिर्देशः सुवतिषुवत्योर्विकल्पनिवृत्त्यर्थः । सविष्यति ।
धुविष्यति । स्वरतेः स्वविषये “हनुतः स्ये” [५११।१२६] इति परत्वादित् । स्वरिष्यति । किद्विषयेऽपि परत्वात्
“श्रुकः किति” [५११।११७] इति प्रतिषेधः । सृत्वा । धूत्वा । स्वरत्यादीनां प्रतिपदग्रहणं किम् ? ऊदित एव
ते पठितव्याः ? पृथग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम् । अनुबन्धकृतमनित्यं भवति । तेन उपलब्धिः । दंष्ट्रा इत्यत्र
पित्वाद् इट्त्वान्कीर्नं भवति । अनुबन्धनिर्दिष्टं यद्ब्रुवन्तस्य न भवति । जोगूहिता ।

रधादेः ॥५११।६३॥ रध इत्येवमादिभ्यश्च वा इङ् भवति । रद्धा । रधिता । लुंष्टा । नशिता ।
रधादयोऽष्टौ वृत्पर्यन्ताः । प्रकृतस्येदः स्याद्विकल्पः, क्रादिनियमास्ति कथम् ? रधादिषूदात्तानुदात्तपाठाभावात्
“येन नाप्राप्ते तस्य तद्वाधनम्” इत्यस्य न्यायस्यासम्भवात्, अविशेषेण विकल्पः । ररख । ररध्म ।
ररन्धिव । ररन्धिम ।

निष्कुपः ॥५११।६४॥ निष्पूर्वात्कुपः बलाद्यगस्य वा इङ् भवति । निष्कोष्टा । निष्कोष्ठिता ।
“इदुदुङ्कोऽन्यपुम्सुहुमः” [५१।२८] इति रेफस्य सत्वम् । इणः पत्वम् । निस् इति किम् ? कोपिता ।
प्रकोपिता ।

इट् ते ॥५११।६५॥ निष्पूर्वात् कुपः ते परतः इङ् भवति । निष्कुपितः । निष्कुपितवान् । पुन-
रिड्ग्रहणं नित्यार्थमन्यथा विकल्पः स्यात् । आरम्भो हि “यस्य वा” [५१।१२१] इत्यस्य बाधनार्थो न
नित्यार्थः । वेत्युत्तरत्रानुवर्तते एव ।

तीपसहलुभरुपरिषः ॥५११।६६॥ तकारादावगे परतः इष सह लुभ रूप रिष इत्येतेभ्यो वा इङ्
भवति । एष्टा । एपिता । सोढा । सहिता । लोब्धा । लोभिता । रोष्टा । रोपिता । रेष्टा । रेपिता । तकारादा-
विति किम् ? एपिष्यति । इषेर्भौवादिकस्य ग्रहणं सहिसाहचर्यात् । तेनेतरयोर्विकल्पो न भवति । को
विशेषः ते “यस्य वा” [५१।१२१] इति प्रतिषेधो न भवति । इपितः । इपितवान् । लुभ इत्यविशेषण-
ग्रहणम् ।

सनीधन्तर्द्धभ्रस्जदम्भुस्त्रुश्रियूर्णुभरज्ञपिसनाम् ॥५११।६७॥ इवन्तानां धूनाम् ऋध् भ्रस्ज
दम्भु स्त्रु श्रि यु ऊर्णु भर ज्ञपि सन इत्येषां च सनि परतः वा इङ् भवति । दुच्चूषति । दिदेविषति । सूस्यूषति ।
सिसेविषति । अनिट्पक्षे “हलन्तात्” [१।१।८४] इति सनः कित्त्वम् । “द्वोः शूङ्ङे च” [४।३।१७] इत्युट् ।
यथादेशो द्वित्वं च “पणि चाणिसस्तोरेव” [५।४।४१] इति नियमात् सिवेश्चात् परस्य पत्वं न भवति । ईर्त्सति
अर्दिधिपति । ऋधेः सन् । अच इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । “आप्ञ्जपृधामीत्” [५।२।१५७] इति
ऋकारस्य ईत्वम् । रन्तत्वम् । “चस्यात्र खम्” [५।२।१६०] । इटि अर्धिस इति । “न स्फादौ न्द्रोऽयि” [४।३।३]
इति विशब्दस्य द्वित्वम् । “चे चर्त्त्वम्” [५।४।१२६] इति दः । विभर्क्षति । विभ्रक्षति । विभर्क्षिषति । विभ्रज्जि-
षति । “अस्जो रसोरम्वा” [४।४।४६] इति रेफसकारयोः वा परो रम् भवति । धिप्सति । धीप्सति । ङिङ्ङिङ्ङिङ्ङि ।
“दम्भ इच्च” [५।२।१५८] इति अस्य इत्वमी ईत्वम् । “चस्यात्र खम्” । “हलन्तात्” [१।१।८४]
इति कित्वान्नैप् । “एकाचो वशः” [५।३।५४] इति धत्वम् । “खरि” [५।४।१३०] इति चर्त्त्वम् । सूस्वूर्षति ।

नत्स्यति । अनत्स्यन् । निवृत्स्यति । नत्स्यति । अनत्स्यन् । निवृत्स्यति । सीति किम् ? कर्तता । असाविति किम् ? अकर्त्तात् । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

गमेरिण्मे ॥५१११०६॥ गमेरिड् भवति सकादौ मे । इड्ग्रहणं नित्यार्थम् । गमेरिति मम् । “गम्लु सृष्ट् गतौ” [धा०] । “सनि” [१११११६] इति इणो गमादेशस्य “इण्वदिकः” [वा०] इति वक्तव्येन “इक् स्मरणे [धा०] इत्यस्य “इडः” [११११२०] इति “इड् अध्ययने” [धा०] इत्यस्य चाविशेषणं ग्रहणम् । गमिष्यति । अगमिष्यत् । अनादेशस्येदम् । जिगमिष्यति । इणादेशस्यापीदम् । अधिजिगमिष्यति । “इण्वदिकः” [वा०] । गमेरिति किम् ? एष्यति । म इति किम् ? संगंसीष्ट । संगंस्यते । संजिगंसते वत्सो मात्रा । अधिजिगंसते । “हनिङ्गम्यचां सनि” [१११११४] इति दीत्वम् । म इति विपर्ययनिर्देशोऽयम् । मे यो गमिष्यत्सकृत्-स्तस्य सकारादाविड् भवतीति । तेन हेरुपि कृति चेद् सिद्धः । जिगमिष्यत्वम् । जिगमिष्यता । गमेरिति योगविभागो द्रष्टव्यः । तत्र वेति सम्बध्यते । क्वचिदन्यत्रापि वा सकाराविड् भवति । संजिगमिष्यता । संजिगमिता । अधिजिगंसिता व्याकरणस्य ।

न वृतादेः ॥५१११०७॥ वृतादेर्मे इण् न भवति । सकारादाविति निवृत्तम् । वत्स्यति । अवत्स्यत् । वृत् । वत्स्यति । अवत्स्यत् । विवृत्सति । शत्स्यति । अशत्स्यत् । शिशृत्सति । स्यन्त्स्यति । अश्यन्त्स्यत् । सिन्त्स्यति । कल्त्स्यति । अकल्त्स्यत् । चिक्लृत्सति । कल्प्ता । कल्तारौ । कल्तारः । म इत्येव । वर्तिष्यते “स्यसनोवृद्धभ्यः” [११२१८८] “लुटि च क्लृपः” [११२१८६] इति वा मविधिः । वृतादयः पञ्च वृत्पर्यन्ताः । वृत्करणमिहार्थं द्युताद्यर्थं च । द्विगता अपि हेतवो भवन्तीति । इह कथं विवृत्सत्वम् । अत्रापि मे इति निवृत्तत्वात् । वृतादीनां नेड् भवति । तेन हेरुपि कृति च इड्भावः सिद्धः । विवृत्सिता । विवृत्सिता तु विवर्तिष्यत् । विवर्तिष्यत् ।

वोपदेशेऽत्वदक्षुजिदृशस्तासौ नित्यानिटस्थेऽव्यादः ॥५१११०८॥ उपदेशे अकारवद्भ्यः अजन्तेभ्यः सृजि इति इत्येताभ्यां च तासौ नित्यानिट्भ्यः थे वा इड् भवति व्या अद् इत्येतौ वर्जयित्वा । क्रादिनियमादिषु प्राप्ते विकल्पः । अत्वान्-पक्ता । पक्थ । पेचिथ । शक्ता । शशक्थ । शेकिथ । अच्-याता । ययाथ । ययिथ । चेता । चिचेथ । चिचयिथ । होता । जुहोथ । जुह्विथ । खप्या । सखप्य । सखप्यथ । दृश-द्रष्टा । दद्रष्ट । ददृशिथ । उपदेश इति किम् ? कर्त्ता । चकर्षिथ । एतेपामिति किम् ? भेत्ता । विभेदिथ । तासाविति किम् ? गन्ता । जगन्थ । जगमिथ । नित्यानिट एवोच्यमाने अयं गमिर्नित्यानिट भवति । सकारादावित्वात् “गमेरिण्मे” [५१११०६] इति । अतोऽस्य विकल्पो न स्यात् । तथा—जिष्ट्वाति । जग्रहिथ । लूत्वा । लुलविथ । “सनि अहगुहश्च” [५११११८] “श्रुयुक्तः किति” [५११११७] इति सनि किति च नित्यानिटाविमौ न तु तासौ । नित्यग्रहणं किम् ? अड्क्ता । अञ्जिता । आनञ्जिथ । विधोता । विधविता । विदुधविथ । तासौ विभाषितोऽनिट्कार्यं मा भूत् । असति तु नित्यग्रहणे पाक्षिकेणापि हीड्भावे वाऽनिड्भवत्येव । यथा गुहो विभाषितोऽपि अनिट्कार्यं “शक्तोऽनिटोऽदृशः क्सः” [२१११४०] इति क्सः । अशुक्षत् । थ इति किम् ? पेचिम । ययिव । ययिम । अव्याद इति किम् ? व्याता । विव्ययिथ । अत्ता । आदिथ । “तदादेशस्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते” [प०] जत्रसिथ । अत्वदिति तपरकरणं किम् ? राद्धा । रराधिथ ।

ऋतः ॥५१११०९॥ उपदेशे ऋकारान्तात्तासौ नित्यानिटः थे नेड् भवति । कर्त्ता । चकर्थ । हर्ता । जहर्थ । स्मर्ता । सस्मर्थ । धर्ता । दधर्थ । तपरकरणमसन्देहार्थम् । यदि विकल्पः स्यादजन्तत्वात् पूर्वैर्यैव सिद्धः । यदि विधिरिष्टः स्यादव्याद इत्यत्रैव ऋकारस्य पयुंदासः क्रियेत प्रथमयोगकरणमनर्थकम् । तस्मात्पारि-शेष्यात् “न वृतादेः” [५१११०७] इत्यतः प्रकृतः प्रतिषेध एवाभिसम्बध्यते । असुटः इत्यनुवर्तते । सञ्चस्करिथ ।

भक्त्याकृत्यमागमार्थः । व्रता । तर्ता । द्रता । दर्ता । अदि (हृदि)नुदितुदिस्कन्दिच्छिदिभिदिशदिन्दिदिभिदि-
दिस्विद्यति(विद्यति)विन्त्यः पञ्चदश । १५। स्विद्यतीति स्यनिर्देशो विस्विदा स्नेहने इत्यस्य निवृत्त्यर्थः ।
विद्यतिविन्त्योर्विकरणनिर्देशोऽन्यविकरणनिवृत्त्यर्थः । वेदिता शास्त्रस्य । वेदिता वनस्य । केचिन्तु विन्दतिमनिट-
मिच्छन्ति । वेत्ता वनस्य । पचिबन्चिचिचिरिचिसिचिशुचयः पट् । ६। प्रच्छि । १। युजिश्चिजिरिञ्जिमुञ्जि-
भञ्जिसृजिसञ्जित्यजियजिमस्जिनिजिभ्रस्जिस्वञ्जयश्चतुर्दश । १४। एकाच इति किम् ? वेभिदिता । अस्ययमखे
यखे च कृते उदात्तः । न त्वेकाच् । नन्वयमप्युपदेशे एकाच् । नैवं वेभिद्यरूपेणोपदेशात् । यद्येवं
त्रिभित्सतीत्यत्रापि स्यात् । सन्नतन्त्येड्भक्त्येव । त्रिभित्सता । सनि तु परे न भवति । द्वित्वमिति स एवायं
भिदिरेकाजदनुदात्तश्च । यदि वा उपदेशे अयमेकाच् ? अनुदात्तादिति किम् ? लविता । लवितुम् । उपदेश इति
किम् ? पेंचिव । पेंचिम । कथमिदमुदाहरणं युक्तम् । असत्युपदेशाधिकारे एकाचोऽनुदात्तस्य यदि लिटि प्रतिषेधः
सिद्धः स्यात्तदा नियमः स्याच्छ्रुवाद्यौ । न च लिटि प्रतिषेधः प्राप्नोति, द्वित्वे कृतेऽनेकाच्छात् । सति नूपदेशा-
धिकारे उपदेशावस्थायामेकाजिति कृत्वा प्रतिषेधः सिद्धस्ततो नियमः ।

तितुत्रतथसिसुसरकसेऽग्रहादेः ॥५११।११६॥ अत्रस्यापि प्रतिषेधोऽयम् । तितु व त थ सिसु
सर क स इत्येतेषु परतो नेड् भवति ग्रहादीन् वर्जयित्वा । तंतिः । कित्च् । “न क्तिचि दीश्च” [४।४।४०] इति
नखदीत्वयोरभावः । सक्तुः । “मितनिगमिमिमिससच्यविधाज्कुथिभ्यस्तुः” [३० सू०] । पत्रम् ।
“दाम्नीशसयुयुज” [२।२।१६०] इत्यादिना वट् । हस्तः । “हसिमृगृयवमिदमिल्लूधूर्विभ्यस्तुः” [३० सू०]
श्रौणादिकस्यैव तस्य ग्रहणं व्याख्यानात् । क्ते तु हसितमित्येव भवति । काष्ठम् । “हनिकुपिभीरमिकाशिभ्यस्थः”
[३० सू०] । कुक्षिः । “प्रुपिप्लुपिसुषिकृष्यशिभ्यः क्सिः” [३० सू०] । इन्तुः । “इष्यशिभ्यां क्सुः”
[३० सू०] । “कृधुभ्यां क्सरः” । धूसरः । शल्कः । “इषाभीकापाशल्यतिमचिभ्यः कः” [३० सू०] । वत्सः ।
“वृत्तवदिहनिकमिकपिसुचिभ्यः सः” [३० सू०] । अग्रहादेरिति किम् ? नियद्दीतिः । अपस्निहितः । निकुचितः ।

श्र्युकः किति ॥५११।११७॥ श्रि इत्येतस्मादुगन्तेभ्यश्च कितीएन भवति । निपठितिः । “स्त्रियां क्तिः”
[२।३।७५] श्रित्वा । श्रितः । श्रितवान् । युत्वा । युतः । युतवान् । वृत्वा । वृतः । वृतवान् । उपदेश इत्येव ।
तीर्त्वा । तीर्णः । तीर्णवान् । श्र्युक इति किम् ? श्रयित्वा । श्रवेः क्त्वा । अत्र जिरिट् च युगपत्प्राप्तुतः ।
परत्वादिट् । “मृडादि” [१।१।८०] नियमादक्त्त्वम् । कितीति किम् ? श्रयिता । यविता । भूपणुरित्यत्र गिति
स्नौ कथं प्रतिषेधः कितीत्यत्र गकारोऽपि कृतचन्वां निर्दिष्टः । तस्य पूर्वत्रासिद्धत्वमाश्रित्य पूर्वं विसर्जनीयः कृतो
यथा रेख्त्वं स्यात् । एग्रभावोऽपि “क्लिङ्गिति” [१।१।११६] इति गकारप्रश्लेषादेव । ऊर्णुत्रो णुवद्भावः ।
प्रोर्णुत् । प्रोर्णुतवान् । एकाच इत्येव । जागरितः । जागरितवान् ।

सनि ग्रहगुहश्च ॥५११।११८॥ ग्रह गुह इत्येताभ्याम् उगन्तेभ्यश्च सनि नेड् भवति । जिष्वक्षति ।
जुषुक्षति । ररूपति । “सुपग्रहरुदविदः संश्च” [१।१।८२] इति कित्वाजिः । गुहेरुदित्वाद्रिकल्पः प्राप्तः ।
लूयस्सनि “भल्लिकः” [१।१।८३] इति कित्त्वं बाधित्वा परत्वादिट् प्राप्तस्तस्यानेन प्रतिषेधे भ्रलादित्वात् कित्त्वम् ।
श्रीग्रहणं न प्रयोजयति “श्रियुणुभर” [५।१।१६७] विकल्पितेऽन्वात् ततोऽपि “सर्नाड् वा” [५।१।८६]
इति विकल्पः ।

कृसृभृवृस्तुद्रुसृभ्रुवो लिटि ॥५११।११९॥ कृ सृ भृ वृ स्तु द्रु सु श्रु इत्येभ्यो लिटीण् न भवति ।
चकृव । चकृम । ससृव । ससृम । बभृव । बभृम । ववृव । ववृम । ववृवहे । ववृमहे । तुष्टुथ । तुष्टुव ।
तुष्टुम । दुद्रुथ । दुद्रुव । दुद्रुम । सुसृथ । सुसृव । सुसृम । शुश्रुथ । शुश्रुव । शुश्रुम । सिद्धे सत्यरम्भो
नियमार्थः । क्रादय एव लिट्यनितस्ततोऽन्ये सेटः इति । न तु क्रादयो लिट्येवानिट इति विपरीतो नियमः ।
“स्वतन्त्रः कर्ता” [१।२।१२५] इत्यादिनिर्देशात् । कृ सृ भृ इति प्रकृतिनियमोऽनुदात्ता एत एवानियो नान्ये ।

इति निपात्यते स्वरश्चेत् । विरेभितमन्यत् । इत्वमेतो निपातनात् । फाण्डमिनि निपात्यते अनायासे । फणितमन्यत्र । अग्निना ततं यत्कथोष्णं तत्फाण्डम् । अथवा यदपक्वमचूर्णितमग्निघ्नितमुदकादिसंयोगादिभक्तरसम् । वादमिति भवति नष्टं (भृशं) चेत् वाहितमन्यत् । वाह्य प्रयत्ने इत्यस्यानिट्त्वम् । विशस्तधृष्टाविति भवतः विद्यातौ चेत् । विशस्तो वादी धृष्टो वादी प्रगल्भोऽविनीतो वा शमुधृष्टोः “यस्य वा” [५।१।१२१] “आदितः” [५।१।१२२] इति च प्रतिपेधे सिद्धे नियमार्थं वैयात्य एवेति । भावारम्भयोर्धृष्टेर्वैयात्येऽनभिधानम् । नियमादन्यत्रेत् । विशसितः पशुः । धर्षितः शत्रुणा । कष्टमिति भवति कृच्छ्रे गहने च । कृच्छ्रे दुःखं दुःखहेतुश्चोपचारात् । गहनं वनम् । ध्रुपेरविशब्दनेऽनिट्त्वं निपात्यते । ध्रुष्टा रज्जुः । ध्रुष्टौ पादौ । अविशब्दने इति किम् ? अथधुपिनं वाक्यमाह । शब्देनाभिप्रायनिवेदनं विशब्दने तदपि ध्रुपेरर्थः । अनेकार्थत्वाद्भूनाम् । दृढ इति स्थूले बलवति च । दंढिः क्लेऽनिट्त्वं न ह्रस्वं परस्य च ढत्वं निपात्यते । दहेर्वा नखवर्जम् । ननु दहेर्ह्रस्वं ढत्वं च न निपात्यं ढत्वे ढुन्वे च कृते सिध्यति । नैवम् । द्रष्टिमा । द्रष्टयति । परिद्रष्टय गतः इत्यत्र पूर्वत्रासिद्धत्वात् “ऊ रोऽनादेर्वेः” [४।४।१५३] इति रत्वम् “प्ये विपूर्वात्” [४।४।५६] इति शोरयादेशश्च न स्यात् । इह च परिद्रष्टस्यापत्यं पारिद्रष्टी कन्येति “प्योऽक्षु रूपान्ययोः” [३।१।६३] इति प्यः प्रसज्येत । स्थूलत्रञ्चतोरिति किम् ? दंढितम् । दंढितं वा । परिवृद्ध इति निपात्यते ! प्रभुश्चेत् । परिपूर्वस्य वृहेर्वृहेर्वा न ह्रस्वम् । ढत्वे प्रयोजनं पूर्वोक्तम् । परिद्रष्टय गतः इत्यत्र संग्राम युद्धे इति सगेः पाठात् गिरहितस्य गिनुन्वयते । तेन “तिक्रमादयः” [१।३।८१] इति पसे क्त्वात्यस्य प्यादेशः । प्रभाविति किम् ? परिवृद्धितम् । परिवृद्धितम् । अभ्यर्ण इति निपात्ये आविदूर्ये । अभ्यर्णो शेते । अभ्यर्णा शरत् । विदूरं विप्रकृष्टं ततोऽन्यत्सर्वमविदूरं तस्य भाव आविदूर्यम् । “नञ्से चतुर” [३।४।११५] इत्यत्र नञ् स इति योगविभागात्सापेक्षत्वेऽपि ट्यण् । आविदूर्य इति किम् ? अभ्यर्दितश्चौरः शीतेन । वृत्तमित्यध्ययनेऽर्थे निपात्यते । वृतेर्यन्तादिडभावो पोरुप् च क्ते निपात्यते । वृत्तं जैनेन्द्रम् । वृत्तस्तर्को देवदत्तेन । अध्ययन इति किम् ? वर्तितो घटः कुम्भकारेण । यदा वृत्तिकर्मकस्तदाऽस्य ग्यन्तस्य वृत्तस्तर्क इति न भवति । यदा तु “तेन निवृत्तः” [३।२।५८] इति वृत्तकर्मकस्तर्कार्थः स कर्मकस्तदा कर्मणि क्तः “यस्य वा” [५।१।१२१] इति प्रतिपेधाद् वृत्तस्तर्कः । ग्यन्तस्य अध्ययने वर्तित इति भवति ।

सन्निविभ्योर्दे ॥५।१।१२७॥ सम् नि वि इत्येवंपूर्वादर्दरेण भवति ते परतः । समर्णः । न्यर्णः । व्यर्णः । सन्निविभ्य इति किम् ? अर्दितः । प्रार्दितः ।

न वा रुष्यमत्वरसंघुपास्वनः ॥५।१।१२८॥ रुपि अम् त्वर संघुप आस्वन् इत्येतेभ्यः ते न वा इड् भवति । रुष्टः । रुपितः । अम्यन्तः । अम्यमितः । तूर्णः । त्वरितः । संघुष्टः पादः । संघुपितः पादः । संघुष्टं वाक्यम् । संघुपितं वाक्यम् । आस्वान्तो देवदत्तः । आस्वनितो देवदत्तः । आस्वान्तं मनः । आस्वनितं मनः । रुपेः “तीषसहलुभस्वरिपः” [५।१।१६६] इति विकल्पेयो “यस्य वा” [५।१।१२१] इति निप्रिद्धे अम्यमः प्राप्ते त्वर “आदितः” [५।१।१२२] इति प्रतिपिद्धे संघुपास्वनोरविशब्दनमनसोरप्राप्ते सतोऽपि प्राप्तौ नेति प्रतिपिद्धायां सर्वत्र वेति विकल्पः ।

हनृतः स्ये ॥५।१।१२९॥ हन्तेः ऋकारान्तेभ्यश्च स्ये परत इड् भवति । हनिष्यति । अहनिष्यत् । करिष्यति । अकरिष्यत् । स्वरत्यादि विकल्पं बाधित्वाऽनेन परत्वादित् । स्वरिष्यति । न वेति नानुवर्तते ।

सावञ्जे ॥५।१।१३०॥ अञ्जेः सौ परतः इड् भवति । आञ्जीत् । आञ्जिष्टाम् । आञ्जिषुः । नित्यार्थ आरम्भः । साविति किम् ? अञ्जिता ।

स्तुसुधूजो मे ॥५।१।१३१॥ स्तु सु धूज् इत्येतेभ्यः मपरे सौ परतः इड् भवति । अस्तावीत् । असावीत् । अधावीत् । म इति किम् ? अस्तोष्ट । अतोष्ट । अधोष्ट । अधविष्ट । धूजो विकल्पः प्रातः । जकारो धुवर्तनिवृत्त्यर्थः ।

यमरमनमातः सक् च ॥५१११३२॥ यम रम नम इत्येतेषाम् आकारान्तानां च मपरे सौ परतः सगागमो भवति इट् च । अयंसीत् । अयंसिष्टाम् । अयंसिषुः । व्यरंसीत् । व्यरंसिष्टाम् । व्यरंसिषुः । अनंसीत् । अनंसिष्टाम् । अनंसिषुः । असतीटि हलन्तलक्षण ऐप् स्यात् । सति तु “नेटि” [५१११८०] इति प्रति-पिव्यते । आतः—आयासीत् । आयासिष्टाम् । आयासिषुः । म इत्येव । उपायंस्त । उपायंसाताम् । उपायंसत । अरंस्त । अरंसाताम् । अरंसत ।

स्मिपूङ्गरञ्जशः सनि ॥५१११३३॥ स्मिङ् पूङ् अञ्जू अञ्जूङ् इत्येतेभ्यः सनीङ् भवति । सिस्मयिषते । पिपत्रिषते । अरिरिषति । अजिजिषति । अशिशिषते । पूङ्ः सन् । “सनि ग्रहगुहरच” [५११११८] इति प्रतिषिद्धेऽनेनेट् । द्वित्वात्पर एप् “द्वित्वेऽचि” [१११५६] इति स्थानिवद्भावेन द्वित्वम् । “ओः पुयण्ये” [५१२१७८] इति इत्वम् । अञ्ज्वशोरूदित्वादिकल्पः प्रातः अशनेतरदात्तस्य नेह ग्रहणम् ।

किरञ्च पञ्चभ्यः ॥५१११३४॥ किरादिभ्यः पञ्चभ्यः सनीङ् भवति । उच्चिकरिषति । निजिगरिषति । दिदरिषते । दिधरिषते । पिपृच्छिषति । “प्रच्छेः” [४३११२] इति जिः । पञ्चभ्य इति किम् ? सिस्सृक्षति । किरतिगिरत्योः “सनीङ् वा” [५११८६] इति विकल्पः प्रातः । “वतो वा” [५११८६] इति व्यवस्थित-विभाषाश्रयणादस्येदो दीर्णं भवति । किर इति आदिशब्दस्य खे “सूत्रेऽस्मिन् सुविधिरिष्टः” [५१२११४] इति भ्यसः स्थाने ङसिः । चकारः सनोऽनुकर्षणार्थः, अन्यथा निमित्ते सन्देहः स्यात् सेरपि पूर्वं श्रुतत्वात् अनुक्तसमुच्चयार्थं इति केचित् । तेन क्वचिदन्यत्रापीट् । “जुगूहिषन् मत्तगजोऽभ्यधावत्” ।

रुदादेर्गे ॥५१११३५॥ रुदादिभ्यः पञ्चभ्यः वलादौ गो इङ् भवति । रोदिति । रुदितः । स्वपिति । निःश्वसिति । प्राणिति । जक्षिति । “णोऽनितेः” [५१११०४] इति णत्वम् । पञ्चभ्य इत्येव शास्ति । ग इति किम् ? स्वता । स्वप्नुम् । अन्ये तूदात्ताः । वलादावित्येव रुदन्ति । स्वमन्ति । रुदादेरित्येव कानिर्देशो ग इत्यस्येभिर्देशस्योत्तरत्र सावकाशस्य तां प्रकल्पयति ।

ईङः रध्वे ॥५१११३६॥ ईङः सकारादौ ध्वे च गो परतः इङ् भवति । ईङिष्व । ईङिध्वे । ईध्वम् ।

ईशः ॥५१११३७॥ ईश इत्येतस्माच्च इङ् भवति सकारादौ गो ध्वे च । ईशिषे । ईशिष्व । ईशिध्वे । ईशिष्वम् । योगविभागो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ।

लिङोऽनन्त्यसखम् ॥५१११३८॥ लिङोऽनन्त्यस्य सस्य खं भवति गे । कुर्याताम् । कुर्युः । कुर्वीत । “सुट् तथोः” [२१४८७] इति सुट् । सुट्यासुट्सीयुट्सखमनेन । तिपि स्फादौ सखेन सिद्धम् । “कृजो धे च” [४१४६६] इत्युखम् । “उसि” [४३१८३] इति पररूपम् । अनन्त्य इति किम् ? कुर्युः । कुर्याः । कुर्वीथाः । वस्मसोः “ङित्तः सखम्” [२१४८०] तसस्तां थसस्तमिति भवितव्यम् । ग इत्येव । क्रियासुः । कृषीष्ट । “रिङ्यग्लिङ्शे” [५१२१३७] इति यादौ रिङादेशः । “उः” [१११८६] इति लिङो दे कित्त्वम् ।

अतो येय् ॥५१११३९॥ अकारान्ताद् गोस्तरस्य या इत्येतस्य ह्यादेशो भवति गे । पचेत् । दीप्येत् । “वलि व्योः खम्” [४३१५५] पचेयुः इत्यत्र “उसि” [४३१८३] इति पररूपं न । “वाणाद्गगाचं चलीयः” [५०] इति ह्यादेशो भवति । “यब्धतो दीः” [५१२१६] इति दीत्वं सामान्येनोक्तमनवकाशोऽयं विधिर्भावते । अत इति किम् ? चिनुयात् । तपरकरणं किम् ? यायात् । ग इत्येव । चिकीर्ष्यात् । अतः खे पूर्वगत्या स्यात् । या इत्येतत् “सूत्रेऽस्मिन्” [५१२११४] इति ङसः खम् ।

ङिदातः ॥५१११४०॥ अकारादुत्तरस्य ङिदवयवस्यात इत्यियममादेशो भवति । पचेते । पचेथे । सचेताम् । पचेथाम् । ङकार इयस्य सोऽयं ङित् तस्यावयव आत् । “गाङ् कुटादेः” [१११७५] इत्यत्र

आवाभ्याम् । युवयोः । आवयोः । मावधेरित्येव । युवकाम् । आवकाम् । अकसहितस्य न भवति । सेऽपि यदा युष्मदस्मदीं द्वित्वे वर्तते समुदायः एकत्वे बहुत्वे वा तदापि युवावौ भवतः । न चेत् परत्वाद् “यूयवयौ जसि” [५।१।१५२] “त्वाहौ सौ” [५।१।१५३] “तुभ्यमह्यौ ङयि” [५।१।१५४] “तवममौ ङसि” [५।१।१५५] इत्यादेशान्तरेण बाध्येते । अतिक्रान्तं युवाम् अतियुवाम् । अत्यावाम् । अतिक्रान्तान् युवाम् अतियुवान् । अतिक्रान्तेन युवाम् अतियुवया । अत्यावया । अतिक्रान्तैर्युवाम् अतियुवाम् । अत्यावाभिः । अतिक्रान्तेभ्यो युवां देहि वा अतियुवभ्याम् । अत्यावभ्यम् । अतिक्रान्तात् युवां अतियुवत् । अत्यावत् । अतिक्रान्तेभ्यो युवाम् अतियुवत् । अत्यावत् । अतिक्रान्तानां युवाम् अतियुवाकम् । अत्यावाकम् । अतिक्रान्ते युवाम् अतियुवयि । अत्यावयि । अतिक्रान्तेषु युवाम् अतियुवासु । अत्यावासु । यदा समुदायोऽपि द्वित्वे वर्तते तदा सुतरां भवतः । अतिक्रान्तौ युवाम् अतियुवाम् । अत्यावामित्यादि । अपवादविषये न भवतः । अतिक्रान्तो युवाम् अतित्वम् । अत्यहम् । अतिक्रान्ता युवाम् अतियूयम् । अतिवयम् । अतिक्रान्ताय युवाम् अतितुभ्यम् । अतिमह्यम् । अतिक्रान्तस्य युवाम् अतितव । अतिमम । यदा च युष्मदस्मदी एकत्वे बहुत्वे च वर्तते समुदायो द्वित्वे तदापि न भवतः । अतिक्रान्तौ त्वाम् अतित्वाम् । अतिमाम् । अतिक्रान्तौ युष्मान् अतियुष्मान् । अत्यस्मान् । इत्यप्येवम् । अतिक्रान्ताभ्यां त्वाम् अतित्वाम्याम् । अतिमाम्याम् । अतिक्रान्ताभ्यां युष्मान् अतियुष्माम्याम् । अत्यस्माभ्यां कृतम् । अतिक्रान्ताभ्यां युष्मान् अतियुष्माभ्यां देहि । एवम् अतित्वाम्याम् । अतियुष्माभ्यां विभेति । अतित्वयोः । अतियुष्मयोः स्वम् । अतित्वयोः । अतियुष्मयोर्निधेः ।

यूयवयौ जसि ॥५।१।१५२॥ युष्मदस्मदोर्जसि परतो यूय वय इत्येतावादेशौ भवतः । यूयम् । वयम् । गोः प्राधान्यात्तदन्तविधिरप्यत्र । अतिक्रान्तास्त्वां युवां युष्मान् वा अतियूयम् । अतिवयम् । परमयूयम् । परमवयम् ।

त्वाहौ सौ ॥५।१।१५३॥ युष्मदस्मदोर्मावधेः त्व अह इत्येतावादेशौ भवतः । सौ परतः । त्वम् । अहम् । परमत्वम् । परमाहम् । अतिक्रान्तास्त्वां युवां युष्मान् वा अतित्वम् । अत्यहम् ।

तुभ्यमह्यौ ङयि ॥५।१।१५४॥ तुभ्य मह्य इत्येतावादेशौ भवतः । युष्मदस्मदोर्ङयि परतः । तुभ्यम् । मह्यम् । तदन्तविधिना अतिक्रान्ताय त्वां युवां युष्मान् वा अतितुभ्यम् । अतिमह्यम् । परमतुभ्यम् । परममह्यम् ।

तवममौ ङसि ॥५।१।१५५॥ युष्मदस्मदोर्ङसि परतः तव मम इत्येतावादेशौ भवतः । तव स्वम् । मम स्वम् । अतिक्रान्तस्य त्वां युवाम् युष्मान् वा अतितव । अतिमम । परमतव । परममम ।

त्वमावेके ॥५।१।१५६॥ एक इत्ययमन्वर्थसञ्ज्ञानिर्देशस्तेन एकत्वे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोर्मावधेः त्व म इत्येतावादेशौ भवतः । त्वाम् । माम् । त्वत् । मत् । त्वयि । मयि । अत्रापि यदा युष्मदस्मदावेकत्वे वर्तते समुदायो द्वित्वे बहुत्वे वा तदापि त्वमादेशौ भवतः, यदि “यूयवयौ जसि” [५।१।१५२] इत्यादिभिरादेशान्तरैर्न बाध्येते । कथं बाधा ? अतीताश्चत्वारो योगा इहानुवर्तन्ते । ततो बाधा तद्विषयादन्यत्रायं विधिः । अतिक्रान्तौ त्वां तिष्ठतः पश्येति वा अतित्वाम् । अतिमाम् । अतिक्रान्तांस्त्वाम् अतित्वान् । एवम् अतित्वाम्याम् । अतितुभ्यं देहि । अतित्वत् । अतित्वयोः । अतित्वाकम् । अतित्वयोः । अतित्वासु । यदा समुदायोऽप्येकत्वे तदा सुतराम् । अतिक्रान्तं त्वाम् अतित्वाम् ।

त्ययोश्च ॥५।१।१५७॥ त्वमावेक इत्यनुवर्तते । एकार्थविषययोर्युष्मदस्मदोः त्व म इत्येतावादेशौ भवतः त्वे द्वौ च परतः । त्वत्तरो मत्तरः । त्वदीयो मदीयः । त्वत्प्रधानाः । मत्प्रधानाः । त्वद्धितम् । मद्धितम् । त्वच्छिष्यो मच्छिष्यः । विभक्त्यां परतः पूर्वा योगस्तस्या उपि प्रापणार्थं वचनम् । ननु नानापदाश्रयत्वाद्देहिरङ्ग उप् विभक्तीमात्राश्रयत्वादन्तरङ्गस्त्वामादेशः पूर्वं भविष्यतीत्यनर्थकमिदम् । नानर्थकम् । त्वाह तुभ्यमह्य

तव मम विषये प्रापणार्थम् । चकारो मविध्यनुर्कर्णार्थः । ननु तवममाद्यादेशापवादादेव मात्राधित्वं लब्धम् । नैवं शक्यम् । विभक्त्या उपि कृते तवममाद्यादेशाभावात्कृत्स्नयोरुष्मदस्मटोः स्थाने स्यात् । ननु ब्रह्मिण उर्वि-
त्युक्तम् । इदमेव च शब्दोपादानं ज्ञापकम् “अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ग उब् बाधते” [प०] तेन यूयं पुत्रा यस्य स युष्मत्पुत्रः यूयादेशाभावः । गोमान् प्रियो यस्येति गोमत्प्रियः इत्यादौ नुमादीनामभावः सिद्धः ।

त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ॥५१११५८॥ गोर्विभक्त्यां परतः त्रि चतुर् इत्येतयोः स्त्रियां वर्त-
मानयोस्तिचृ चतसृ इत्येतावादेशौ भवतः । तिसृभिः । चतसृभिः । तिसृषु । चतसृषु । स्त्रियामित्येतत् त्रिचतु-
रोरेव श्रुतत्वाद्विशेषणं किमर्थम् ? यदा त्रिचतुरो स्त्रियां वर्तते समुदायः पुंसि नपुंसके वा तदापि तदन्तर्विधिना
तिसृचतसृभावो यथा स्यात् । प्रियतिसा । प्रियतिसौ । प्रियतिसः । प्रियतिसः कुलम् । प्रियतिसृणी । प्रियत-
सृणि । यदा तु त्रिचतुरो पुंसि नपुंसके वा वर्तते समुदायः स्त्रियां तदा न भवति । प्रियाः त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा
यस्याः स प्रियत्रिः । एवं प्रियचत्वाः । स्त्रियामिति किम् ? त्रयश्चत्वारः । त्रीणि । चत्वारि । चकारोऽनुक्त-
समुच्चयार्थोऽनुवर्तते । तेन “कचित्केऽपि खौ” । तिसृका ग्रामः ।

रोऽच्युः ॥५१११५९॥ तिसृ चतसृ इत्येतयोः ऋकारस्य रेफादेशो भवत्यचि परतः । तिसृस्तिष्ठन्ति ।
तिस्रः पश्य । चतस्रस्तिष्ठन्ति । चतस्रः पश्य । प्रियतिसौ भयम् । “ऋतो ङिधे” [५१२१०५] इत्येप् शक्ति
“सुति पूर्वस्वम्” [४१३१८६] दीत्वं ङसिङ्सोः “ऋत उत्ः” [४१३१८८] इति उः प्रसज्येत । ननु “मध्येऽपवादाः
पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [प०] इति ऋतो ङिधे इत्येपः कथं बाधा “स्पद्धे परम्” [१२११६०] इति
परशब्दस्येष्टवाचित्वाद् रेफादेशः इष्टः । डवेप् । प्रियतिसरि । अथ प्रियतिस्र इत्यादौ कप्सन्तः कस्मान्न भवति ।
समुदायविभक्त्यां तिसृभाव इति तयाऽन्तो व्याप्त इति न कप् । अचीति किम् ? तिसृभिः । तिसृणी । नन्वामि
परत्वाद् रेफः प्राप्नोति । नैवम् । “नाम्यतिसृचतसृ” [४१४३३] इति ज्ञापकान्नुटि नुप्रभावौ न स्तः । उरिति
किम् ? “अन्तेऽल्लः” [१११४९] इत्येव सिद्धम् । उरित्यक्रियमाणे “येन नाप्राप्त” न्यायेन तिसृचतसृभाव-
स्यापवादो रेफः स्यात् ।

जराया चाऽसङ् ॥५१११६०॥ जराया अचि परतो वा असङ्गादेशो भवति । जरसौ । जरे । जरसः ।
जरसम् । जरसा । जरया । आमि परत्वान्नुडोऽसङ् । जरसाम् । जराणाम् । नुमः परत्वादसङ् । अतिजरसि
तपांसीति । प्रादेशे “एकदेशविकृतमनन्यवद्” [प०] इति । अतिजरसं कुलं पश्येत्यात्रामं विभक्तीमपेक्षयासङ् ।
अनकारान्तो जातः । स तस्योपो निमित्तं न भवति सन्निपातलक्षणत्वात् । अतिजरं तिष्ठति । अतिजरैरित्यत्र सन्नि-
पातलक्षणान्नान्नैरान्तौ । तेन नाऽसङ् । अनित्यैया परिभाषेति केचित्तेन अतिजरसं तिष्ठति । अति-
जरसैरिति ।

त्यदादेरः ॥५१११६१॥ अचीति निवृत्तम् । त्यदादीनामकारादेशो भवति विभक्त्याम् । स्यः । त्यौ ।
त्ये । सः । तौ । ते । यः । यौ । एषः । एतौ । इमौ । इमे । अमू । अमी । द्वौ । द्वाम्याम् । त्यदादिषु स्त्रीत्व-
विवक्षायां “भाविनि भूतवदुपचारात्” इति स्वादिमपेक्षयात्वे कृते टाप् । तेन स्या सेत्यादिसिद्धम् । अत्वविधिं
प्रति द्विपर्यन्तास्त्यदादयः । “भवतष्ट्यङ्गसौ” [३१२१६१] इति निर्देशात् । तेन भवान् । भवन्तौ । भवन्तः । गृह्य-
माणेन त्यदादिना विभक्ती विशेष्यते । तेनाप्रधानानामत्वं न भवति । अतितदः । प्राधान्ये तु शोभनः सः मुमः ।
अतिसः । परमसः । सञ्ज्ञाशब्दानां तु त्यदादित्वाभावः सर्वनामान्तर्गणत्वात्त्यादादेः ।

किमः कः ॥५१११६२॥ किमित्येतस्य क इत्ययमादेशो भवति विभक्त्यां परतः । कः । कौ । के ।
किमोऽकार एवानुवर्त्यः । पूर्वेषु मकारस्यानेन “अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य” [प०] इतीकारस्यात्वे पररूपत्वे
च कृते सिद्धमिति चेत् ; न, पूर्वेषु सत्यपि नकारस्यान्त्यस्ये इकारस्यात्वं बाधकमेव स्यात् । तद्विधानमिव दधि-
दानस्य । किञ्च कुत्साद्यर्थे साकेऽपि यथा स्यादिति कादेशः । विभक्त्यामित्येव । किं राजा यो न रक्षति ।

कुक्कौ तयोः ॥५१११६३॥ किमः कु क इत्येतावादेशौ भवतस्तकारादाकारे च परतः । कुतः । क । “कुतसोः” इति सूत्रे सित्करणसामर्थ्यात्पदसञ्ज्ञया भसञ्ज्ञाकार्ये उक्ते बाधिते यणदेशेन सिद्धे करूपे साको यथा स्यादित्येवमर्थः कादेशः ।

तोः सः साधनन्त्ये ॥५१११६४॥ त्यदादीनां तवर्गस्यानन्त्ये सकारादेशो भवति सौ परतः । स्यः । सः एपः । अनन्त्य इति किम् ? यः । सः । त्यदाद्यत्वस्येदमादयोऽवकाशाः । सत्वस्यानन्त्यस्तवर्गः । परत्वाद् दस्य सत्त्वं स्यात् । ननु सत्त्वेऽपि यत्ने सिध्यति । नैवम् “अनिनस्मिन्नग्रहणेऽनर्थकस्यापि ग्रहणात्” [प० ४१४१२] इति दीत्वं स्यात् । इह च स पुरुष इति हलि सुखे दोषः स्यात् । सा इत्यत्र “अतः” [३११४] इति टाम्न स्यात् । तस्मादनन्त्य इत्युच्यते । अनेष इत्यत्र नकारस्य कस्मान्न भवति ? “नञोऽन्” [४३३१८१] इति नकारस्य त्यदादिग्रहणोनाग्रहणात् । भवानित्यत्र “स्फान्तस्य खम्” [५३३११] इति तखस्यासिद्धत्वात्तकारस्य प्राप्नोति । यद्येवं परस्वत्वस्याप्यसिद्धत्वात्तकारो नास्ति । ततोऽन् एव स्यात् ।

असौ ॥५१११६५॥ असाविति निपात्यते । अदसः सकारस्यौत्वं सौ सुखम् । अत्रवाधनार्थम् । “तोः” [५१११६४] इति दस्य च सत्वम् । असौ । हे असौ । स्त्रीपुंसयोरीदम् । सावित्येव । अदः कुलम् । अदसः परस्य सौरौत्वमेव निपात्यमिति चेत्, न, कुत्साद्यर्थविवक्षायामकिं त्यदाद्यत्वे टापि कृते “त्यस्थे क्यापीदत्तः” [५११५०] इति इत्वं स्यात् । तेन असकौ स्त्रीति न सिध्येत् । सकारस्य त्त्वौत्वे टाम्नास्तीति न दोषः ।

इदमो मः ॥५१११६६॥ इदमित्येतस्य मकारादेशो भवति विभक्त्यां परतः । साविति निवृत्तम् । उत्तरत्र साविति निर्देशात् । इमौ । इमे । इमे । इमाः । इमे । इमानि ।

दः ॥५१११६७॥

यः सौ ॥५१११६८॥ इदमो दस्य यकारादेशो भवति सौ परतः । उत्तरत्र पुंसीति निर्देशात् स्त्रियामयं विधिः । इयं स्त्री । नपुंसके सुखे नास्ति ।

पुंसीदोऽय् ॥५१११६९॥ इदम इद्रूपस्य अयादेशो भवति सौ परतः पुंस्यभिषेये । अयम् । परमायम् । “पूर्वोत्तरपदयोस्तावत्कार्यं पश्चादेकादेशः” । “नेन्द्रस्य” [५१२२७] इति ज्ञापकात् ।

अनाप्यकः ॥५१११७०॥ इदम इद्रूपस्याककारस्थान इत्ययमादेशो भवति आपि विभक्त्यां परतः । अनेन । परमानेन । अनयोः । अक इति किम् ? इमकेन । इमकयोः । आविति प्रत्याहारः टादिरासुपः पकारेण ।

हलि खम् ॥५१११७१॥ हलादावापि परतः अककारस्येदम इद्रूपस्य खं भवति । आभ्याम् । एभिः । एभ्यः । एषु । अक इत्येव । इमकेभ्यः । “अन्तेऽलः” [१११४६] कस्मान्न भवति । “नानर्थकेऽन्तेऽलो विधिः” [प०] । अथवा अर्थवशाद्विभक्तौपरिणाम इति पूर्वेण सिद्धस्यानोऽन्तेऽल इति नखम् ।

इत्यभयनन्दिर्विरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

मृजैरेप् ॥५१२१॥ गोरित्येतदेवानुवर्तते । मृजेरिक ऐभभवति । मार्षा । मृजेरितीग् निर्देशः “धोः स्वरूपग्रहणात्तत्त्वविज्ञानम्” [प०] भ्रौणहृत्येति तत्स्वनिपातनाज्ज्ञायते । अन्यथा “हनस्तो जिणलोः” [५१२३६] इत्येव तत्त्वं स्यात् । धोर्विहिते त्ये ऐभभवति । न मृदस्ये तेन कंसपरिमृड्भिरिति । ननु “किञ्चि” [११११६] इति प्रतिषेधः सिद्धो नैवम् । क्लिन्नमित्तयोरेवैपोः स प्रतिषेधः ।

किञ्चित्ति वा ॥५१२२॥ मृजेरजादौ किञ्चि वा ऐभभवति । परिमृजन्ति । परिमार्जन्ति । परिममृजन्तुः । परिमार्जन्तुः । किञ्चीति किम् ? परिमार्जनम् । अचीति किम् ? मृष्टः । क्ते तसि वा द्रष्टव्यम् ।

१. प्रतिषु सूत्रस्यास्य वृत्तिस्तद्विता ।

ञिण्यच्चः ॥५१२।३॥ जिति णिति च परतोऽजन्तस्य गोरैर्भवति । प्राकारः । अध्यायः । “अध्या-
यानुवाकयोर्वोप्” [४।१।६४] इति निपातनाद्घञ् । कारको हारकः । नावकः । लावकः । सखायौ । सखायः ।
अनर्थकनिन्दन् । एपिरन्नत्वे अयवोश्च कृतयोः “उङोऽतः” [५।२।४] इत्यैपा सिद्धम् । मैवं शक्यम् । “गुकार्ये
निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्” [५०] इति असि च सव्युरेभ्यो विहितः गौर्जैत्रमित्यत्र चावयादेशाभावादैन्ये सिद्ध्येत् ।
अञ्ज्रहणमनिगर्थं गौरिति । णित्करणं तु गावौ गावः इत्यत्रावादेशे सति “उङोऽतः” [५।२।४] इत्यैपि चरि-
तार्थं स्यात् ।

उङोऽतः ॥५१२।४॥ गोरकारस्य उङः ऐव् भवति ञिणिति परतः । पाकः । पाठः । पाचकः । पावकः ।
पाचयति । उङ इति किम् ? पिपठिपकः । पकाराकारस्य मा भूत् ! अन्त्यस्य पूर्वेण प्राप्नोति । नैवम् । पूर्ववि-
प्रतिषेधेनातः खं भवति । अतः इति किम् ? भेदकः । तपरकरणं नृन्दनुन्वार्थम् ।

हृत्यचामादेः ॥५१२।५॥ अच इत्यनुवर्तते । हृति ञिणिति परतः अचामादेरच ऐव् भवति । आश्व-
ग्रीविः । त्रैपुष्टिः । सौलोचनः । सौतारः । “नदीमानुर्षी” [३।१।१०२] इत्यादिनाम् । अचामिति किम् ? हला
मविवक्षार्थमन्यथा अजादीनामेव स्यात् । अजःतलक्षणस्योङ्लक्षणस्य चैपः परत्वादादेरैपः । त्वाष्ट्रः । जागतः ।
“तस्येदम्” [३।३।८८] इत्यण् । “सकृद्गते परनिर्णये बाधितः एव” [५०] पुनः प्रसङ्गविज्ञानपक्षेऽपि न
दोषः । अनुशतिकादिषु पुष्करसच्छब्दपाठात् पौष्करसादिः । बाह्वादेरिञ् [३।१।८५] । अन्यथा तत्रोभयोः
पदयोरैवर्थपाठोऽनर्थकः स्यात् ।

देविकाशिंशपादीर्घसत्रश्रेयसामाः ॥५१२।६॥ देविकादिभिराद्यचो विशेषणात् केवल्यानां तदादीनां
च ग्रहणम् । देविकायां भवं दाविकमुदकम् । आद्यञ्चिशेषेण विवृते भवा दाविकूलाः शालयः । शिंशपाया
विकारः शांशपं भस्म । शिंशपास्थले भवं शांशपास्थलम् । दीर्घसत्रे भवं दार्घसत्रम् । श्रेयोऽधिकृत्य कृतो ग्रन्थः
श्रेयसि भवो वा श्रायसः स्थाद्वादः । देविकादीनामादेरच इति किम् ? सुदेविकायां भवा सौदेविकाः । पूर्वदेविकायां
भवः पूर्वदाविकः । पूर्वशांशपः । प्राचां प्रामौ । “प्राचां ग्रामाणाम्” [५।२।१६] इति द्यौरैप्रसङ्गे अनेनाकारः ।

केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरिय् ॥५१२।७॥ केकय मित्रयु प्रलय इत्येतेषां यकारादेरियादेशो
भवति हृति ञिणिति परतः । केकयस्थापत्यम् । “राष्ट्रशब्दाद्वाञोऽञ्” [३।१।१५०] । आदेरैपः । कैकेयः ।
मित्रयोर्भावः “वृद्धचरणाद्धलाघात्याकारावेते” [३।४।१२४] इति बुञ् । लौकिकं तत्र वृद्धं गृह्यते । मैत्रेयक-
माश्लाघते । प्रलयादागतं प्रालेयम् ।

पदे खोरैर्यौव् ॥५१२।८॥ पदे परतः अचामादेरचः स्थाने कृतौ यौ यकारवकारौ तयोरैर्यौव्
इत्येतावादेशौ भवतः हृति ञिणिति परतः । व्याकरणां वेत्यधीते वा वैयाकरणः । एवं नैयायिकः “क्रंतूक्थादि-
सूत्रान्तादृण्” [३।२।५२] इति ठण् । शोभना अश्वा अस्येति स्वश्वः । तस्यापत्यं सौवशिवः । आदेरैपः
परत्वादेर्यौवो भवतः । अर्हता प्रोक्तमार्हत्वं तस्वम् । पद इति किम् ? इणः शतरि यत् । यतः ह्यात्रा याताः ।
अस्त्यचामादेरचः स्थाने “यणेत्योः [४।४।७७] इति यकारो न तु पदे परतः । द्योरिति किम् ? आशिवः ।
अचामादेरचः इति किम् ? अभ्यञ्जनेन चरति आभ्यञ्जनिः । दाध्यशिवः । इह कस्मान्न भवति द्वे
अशीती भूतो भावी वा द्वायाशीतिकः ? यत्रैवादेश्च ऐप्प्राप्तिस्तत्रायं विधिः । अत्र च “संखायाः संख्या-
संबत्सरस्य” [५।२।२०] इति द्योः प्राप्तिर्न द्विशब्दस्य । द्योरैपोऽप्ययमपवादः । पूर्वव्यलिन्दे जातः पूर्वत्रैयलिन्दः ।
“प्राचां ग्रामाणाम्” [५।२।१६] इति प्राप्तिः ।

द्वारादेः ॥५१२।९॥ द्वार इत्येवमादीनां च द्योरैर्यौव्येतावादेशा भवतः ञिणिति हृति परतः । द्वारे
नियुक्तः दौवारिकः । नायं पदेऽचः स्थाने वकारः इति पूर्वेणाप्राप्तिः । अत्र द्वारादिभिर्द्योर्विशेषेणात्तदादि-

वर्तमानाच्च नान्यस्य कस्यचिद् भविष्यति । एवं तर्ह्यन्तग्रहणं ज्ञापकमनित्यस्तदन्तविधिः । तेन “स-स्य-विधौ न तदन्तविधिः” [५०] इति न वक्तव्यम् ।

द्योः ॥५१२१५॥ द्योरित्ययमधिकारो वेदितव्यः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः द्योरित्येवं तद् वेदितव्यम् । “हनस्तोऽजिण्लोः [५१२१६] इत्यतः प्राग्वक्ष्यति । “प्रोष्ठपदानां जाते” [५१२१३] प्रोष्ठपदासु जातः प्रोष्ठपादो माणवकः । द्योरैप् । पूर्वपदस्य तेन न भवति । “येन नाप्राप्ते तस्य तद्वाधनम्” [५०] इति न्यायात् । ननु “ईष्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः” [१११६०] इति न्यायेन “अवयवाहतोः” [५१२१६] इत्यादौ कानिर्देशाद् द्योरेव भविष्यति नार्थोऽनेन ? “प्रोष्ठपदानां जाते” इत्यादौ कानिर्देशो नास्ति तदर्थं वचनम् । अन्यथा प्रोष्ठपदादौ नियमो न शक्येत ।

अवयवाहतोः ॥५१२१६॥ अवयववाचिनः शब्दादुत्तरस्य ऋतोद्योरचामादेरच ऐभभवति । पूर्व-
वापिकः । अपरवापिकः । पूर्वासु वर्षासु जातः । हृदर्थविवक्षायां “हृदर्थद्युसमाहारे” [११३४६] इति षसः ।
“कालाट्ठञ्” [३१२१३१] इति ठञ् । ननु कालाट्ठञुक्तः । “स-स्य-विधौ न तदन्तविधिः” [५०] । कथं
कालान्तात् ? नैव दोषः । “ऋतोर्दिद्विधाववयवात्” इति तदन्तविधिः ननु कालाः । एवं पूर्वहैमनः । अपरहैमनः ।
“भसन्ध्या” [३१२१३७] इत्यादिनाम् । “हेमन्तात्तखम्” [३१११३८] इति तखम् । अवयवादिति किम् ?
पूर्वास्वतीतासु वर्षासु जातः पौर्ववर्षः । आपरवर्षः । “प्राग्दोरण्” [३११६८] । पूर्वशब्दोऽत्र कालवाची
नावयववाची । अत एवावयववल्क्षणतदन्तविध्यभावात् “कालाट्ठञ्” [३१२१३१] नेष्यते ।

सुसर्वाद्धाद्राष्टस्य ॥५१२१७॥ सु सर्वं अर्द्धं इत्येवं पूर्वस्य राष्ट्रवाचिनः शब्दस्य द्योरचामादेरच
ऐभ् भवति । सुपाञ्चालकः । सर्वपाञ्चालकः । अर्द्धपाञ्चालकः । शोभनाः पाञ्चालाः । प्रादिलक्षणः षसः । सर्वे
पाञ्चालाः । “पूर्वकाल” [११३४४] इत्यादिना यसः । अर्द्धपाञ्चाला इति । “विशेषणं विशेष्येणेति” [११३५२]
षसः । सुपञ्चालेषु जातः “राष्ट्रावधयोः” [३१२१०२] “बहुत्वेऽदोरपि” [३१२१०३] इति वुञ् । कथं
राष्ट्रादुच्यमानस्तदन्तादुञ् । “सुसर्वाद्धाद्रिकशब्देभ्यो जनपदस्य” इति तदन्तविधिः ननु ह्युदात्तः । एवं
सुमागधकः । सर्वमागधकः । अर्द्धमागधकः ।

दिशोऽमद्राणाम् ॥५१२१८॥ राष्ट्रस्येत्यनुवर्तते । दिक्शब्दादुत्तरस्य राष्ट्रस्य मद्रवर्जितस्य द्योरचा-
मादेरच ऐभ् भवति । पूर्वपाञ्चालकः । अपरपाञ्चालकः । दक्षिणमागधकः । उत्तरमागधकः । पूर्वेषु पाञ्चालेषु
जातः । हृदर्थे षसः । पूर्वोक्तेन तदन्तविधिना वुञ् । अमद्राणामिति किम् ? पौर्वमद्रः । “मद्रेभ्योऽण्”
[३१२१८५] । दिश इति किम् ? पूर्वेष्ववयवभूतेषु पाञ्चालेषु भवः । अणि । पौर्वपाञ्चालः । दिशि यः पूर्वशब्दो
वर्तते स दिक्शब्दोऽभिप्रेतो नावयवे वर्तमानः । अत एव तदन्तविध्यभावाद्बुञ् नास्ति । योगविभाग
उत्तरार्थः ।

प्राचां ग्रामाणाम् ॥५१२१९॥ दिश इत्यनुवर्तते । दिक्शब्दादुत्तरे प्राचां देशे ग्रामाणामचामादेरच
ऐभभवति । राष्ट्रस्येत्यनुवर्तनात् प्राचामित्याचार्यग्रहणं नाशङ्क्यम् । यदि पूर्वोत्तरपदसमुदायो ग्रामनामधेयस्तदा
ग्रामवाचिनो गोरवयवस्य टिकल्लुब्दात् परस्य ऐभभवतीत्यभिसम्बन्धः । इतरत्र तु दिशं उत्तरेपां ग्रामाणामिति ।
पूर्वा चासौ इषुकामशमी च “दिवसङ्ख्यं खौ” [११३४५] इति षसः । पूर्वेषुकामशम्यां जातः । अणि ।
पूर्वेषुकामशमः । अपरैषुकामशमः । “नेन्द्रस्य” [५१२२७] इति प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम् । प्राक्पूर्वोत्तरपदयो-
रैवादिकार्यं पश्चादेकादेश इति । एवं पूर्वा चासौ कृष्णमृत्तिका च पूर्वकार्ष्णमृत्तिकः । असञ्ज्ञापत्वे पूर्वस्यामिषु-
कामशम्यां जातः । “हृदर्थ” [११३४६] इति षसः । “दिगादेरखौ” [३१२१८४] इति षः । शेषं पूर्ववत् ।
“अत्र ग्रामग्रहणे नगरस्यापि ग्रहणम्” [वा०] । यथा लोके अमद्यो ग्रामकुक्कुट इति नागरोऽपि न भक्ष्यते ।
सञ्ज्ञापत्वे पूर्वं च तत्पाटलिपुत्रं च । अन्यत्र पूर्वस्मिन् पाटलिपुत्रे जात इति “रोङ्गीतो प्राचाम्” [३१२१०१]

इति वृज् । पूर्वपाटलिपुत्रकः । अपरपाटलिपुत्रकः । पूर्वकन्याकुब्जायां पूर्वस्यां कन्याकुब्जायां वा जातः अणि षो च कृते पूर्वकान्यकुब्जः । ननु चैकमेव पाटलिपुत्रम् । पाटलिपुत्रान्तरस्य व्यवच्छेद्यस्याभावाद् कथं पूर्वशब्देन विशेष्यते ? पाटलिपुत्रैकदेशे पाटलिपुत्रशब्दो वर्तते इत्यदोषः ।

सङ्ख्यायाः सङ्ख्यासंवत्सरस्य ॥५१२।२०॥ सङ्ख्यायाः परस्य सङ्ख्याशब्दस्य संवत्सरस्य च द्योरचामादेरच ऐबभवति ङिति हृति परतः । दिनावतिकम् । त्रिनावतिकम् । द्वाभ्यां नवतिभ्यां क्रीतम् । हृदर्थे रसः । “आर्हाट्टण्” [३।४।१७] । तस्य “रादुबखौ” [३।४।२६] इत्युप् । द्विनवतिना द्रव्येण क्रीतं पुनष्टण् । अथवा द्वौ च नवतिश्च । “वा चत्वारिंशदादौ” [४।३।१६०] इत्यनात्वम् । “लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य” [प०] इति नैकत्रयैऽपि नपुंसकत्वम् । “द्वन्द्वे द्युवल्लिङ्गम्” [१।४।१०२] द्विनवत्या क्रीतम् । एवं द्वे षष्ठी भूतो भावी वा द्विषाष्टिकः । द्विषष्ट्यादिशब्दो वर्षेषु सङ्ख्ये येषु वर्तमानः कालवाची । तेन कालाधिकारविहितष्टण् । द्वौ संवत्सरौ भूतो भावी वा द्विसांवत्सरिकः । त्रिसांवत्सरिकः । संवत्सरग्रहणं निरर्थकम् । “परिमाणस्याखुशाणे” [५।२।२२] इत्येव सिद्धम् । तत्र अशाण इति प्रतिषेधात् परिच्छेदमात्रं गृह्यते नारोहपरिणाहलक्षणम् । तेन द्विवैतस्तिकम्, त्रिवैतस्तिकमिति सिद्धम् । एवं तर्हि संवत्सरग्रहणं ज्ञापकम् । “परिमाणग्रहणेन कालपरिमाणं गृह्यते” । तेन द्वे समे अधीष्टो द्वैसमिकः । द्योरैम्न भवति तथा द्विवर्षमाणविका । “परिमाणाद्दुपि” [३।१।२६] “रात्” [३।१।२५] इति डीर्न भवति । द्वे वर्षे भूता प्राग्वत्षष्ठजः “वर्षादुप च” [३।४।८५] “प्राणिन्युप्” [३।४।८६] ।

वर्षस्याभाविनि ॥५१२।२१॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । सङ्ख्यायाः परस्य वर्षशब्दस्य अचामोदरच ऐबभवति हृति ङिति परतः यद्यभाविन्यर्थे हृत्तद्वैव स्यात् । द्वे वर्षे भूतं द्विवार्षिकम् । अभाविनीति किम् ? त्रीणि वर्षाणि भावि त्रैवर्षिकं धान्यम् । ननु द्वे वर्षे अशीष्टो भूतो वा कर्म करिष्यति द्विवार्षिको मनुष्य इति भाविता गम्यते कथं न प्रतिषेधः ? नैवम् ; करिष्यतीति प्रयोगे भाविता गम्यते न तु हृदर्थो भावी । ननु मनुष्याभिधाने “प्राणिन्युप्” [३।४।८६] इति ठण् उष् कस्मान्न भवति । भूतविषये सोऽभ्युपगम्यते नाधीष्टादौ । ततो “वर्षादुप च” [३।४।८५] इति विकल्प उच् भवति ।

परिमाणस्याखुशाणे ॥५१२।२२॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । सङ्ख्यायाः परस्य परिमाणस्य समुदायेनाखौ गम्यनानायामशाणे च द्योरचादेरचो ऐच् भवति । अखुशाण इति विषयलक्षणेयमीप् । द्विसौवर्णिकम् । द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतम् । आर्हाट्टणः “कार्षापणसहस्रसुवर्णशतमानाद्वा” [३।४।२७] इति वानुप् । एवं द्विनैष्किकम् । त्रिनैष्किकम् । बहुनैष्किकम् । “द्वित्रिबहोर्निष्कविस्तात्” [३।४।२८] इति वोप् । द्विकोडविकम् । द्वाभ्यां कुडवाभ्यां क्रीतम् । “रादुबखौ” [३।४।२६] इत्युप् । द्विकुडवेन द्रव्येण क्रीतं पुनष्टण् । अखुशाण इति किम् ? पञ्च लोहितानि परिमाणमस्य, पञ्च कलापाः परिमाणमस्य पाञ्चलौहितिकम्, लोहिनीशब्दस्य “वा ठण् छसोः” [ठक् छसोश्च] [वा०] इति पुंवद्भावे रूपम् । पाञ्चकालापिकम् । “परिमाणात्सङ्ख्यायाः सङ्खसूत्राध्ययने” [३।४।५६] इति ठणः “रादुबखौ” [३।४।२६] इति नोप् । द्वैशाणम् । त्रैशाणम् । “द्वित्रिभ्यामण्” [३।४।३४] इत्यण् । “कुलि- जस्यापि प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] । द्विकुलिजे प्रयोजनमस्य द्वैकुलिजिकम् ।

प्रोष्ठपदानां जाते ॥५१२।२३॥ योरिति वर्तते । प्रोष्ठपदानां द्योरचामादेरच ऐच् भवति जातार्थं हृति ङिति परतः । प्रोष्ठपदाभिर्युक्तः कालः । “भाद्युक्तः कालः” [३।२।४] इत्यण् । तस्य “उसभेदे” [३।२।५] इत्युष् । उसि युक्तवल्लिङ्गसङ्ख्यातिदेशः । प्रोष्ठपदासु जातः । अण् । तस्य “भेभ्यो बहुलम्” [३।२।१३] इति बहुलवचनादिहानुप् । प्रोष्ठपादो माणवकः । जात इति किम् ? प्रोष्ठपदासु भवः प्रोष्ठपादो मेघः ।

हृत्स्तिन्धुभगे द्वयोः ॥५१२।२४॥ हृत्स्तिन्धु भग इत्येषु द्युषु द्वयोः पद्योरचामादेरच ऐबभवति । सुहृदयस्येदं सौहार्दम् । “हृदयस्य हृत्लेखयाखलासेषु” [४।३।१६१] इति हृद्भावः । अथवा “सुहृदुहृदौ मित्रा-

मित्रयोः” [४।२।१५०] इत्यनयोर्ग्रहणम् । महासिन्धौ भवः माहासैन्धवः । “कच्छादेः” [३।२।१११] इत्यण् । सिन्धुशब्दस्य तत्र तदन्तविधिरपि ; सौभाग्यम् । दौर्भाग्यम् । सुभगाया अपत्यं दृष्टि “कल्याण्यादीनामिनङ्” [३।१।११५] सौभागिनेयः ।

अनुशक्तिकादेः ॥५।२।२५॥ अनुशक्ति इत्येवमादीनां शब्दानां द्वयोः पदयोरचामादेरच ऐब् भवति । अनुशक्तिकस्येदम् आनुशातिकम् । आनुशातिकः । अनुहोड-आनुहौडिः । अनुसंवरण-आनुसांवरणिः । अगारवेणोरिदम् आगारवैणवम् । असिहत्यायां भवम् आसिहात्यम् । अस्यहत्य इति केपाञ्चित् पाठः । अस्य-हत्यशब्दोऽस्मिन्नस्ति आस्यहात्यम् । “विमुक्तादिभ्योऽण् [४।१।६५] अस्यहेतीति पाठान्तरम् । अस्यहेतिः प्रयोजनमस्य आस्यहेतिकम् । अथ्ययः । आथ्यायिः । वध्योगस्यापत्यं वाध्योगः । “विदादिभ्योऽनृष्यानन्तर्थेऽञ्” [३।१।६३] । पुष्करसद्-पौष्करसादिः । अनुवाहुः-सान्वाहुः । सान्वाहाविः । “बाह्वादेरिञ्” [३।१।६५] । कुरुकत्-कौरुकात्यः । “गगादेर्यञ्” [३।१।६४] । कुरुपञ्चालेषु भवः कौरुपाञ्चालाः । “प्राद्रोरण्” [३।१।६८] । राष्ट्रसमुदायो राष्ट्रग्रहणेन न गृह्यते । तेन “राष्ट्रावध्योः” [३।२।१०२] इति वुञ् नास्ति । उदकशुद्ध-श्रौदक-शौद्धिः । इहलाक-ऐहलौकिकः । पारलौकिकः । प्रयोजनार्थं वुञ् । सर्वलोकः-सर्वस्मिन् लोके विदितः सार्वलौकिकः । “लोकात्” [३।४।४४] “सर्वात्” [३।४।४५] इति ठण् । सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः । “सर्वभूमिपृथिवी-भ्यामण्” [३।४।४१] । सार्वपौरुषम् । तस्येदमर्थे प्रायोगिकम् । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । भवार्थे अध्या-त्मादित्वाट्टण् । परस्त्री-पारस्त्रीयः । ठणि “कल्याण्यादीनामिनङ्” [३।१।११५] । सूत्रनट-सौत्रनाटिः । अभिगममर्हति आभिगामिकः । राजपुरुषात्किञ् । राजपुरुषायणिः ।

देवताद्वन्द्वे ॥५।२।२६॥ देवताद्वन्द्वे च द्वयोः पदयोरचामादेरच ऐब् भवति । आग्निवारुणम् । अग्निश्च वरुणश्च देवते अस्य । ऐञ्चिष्ये “द्विपीत्” [४।३।१४१] इत्यग्नेरित्त्वम् । एवम् आग्निमारुतम् । अभिधानवशादानङ् विषयेऽयं विधिरन्यत्र न भवति । स्कान्दविशाखः । ब्राह्मप्रजापत्यः । तस्येदमर्थे अण् । “द्विति” [३।१।७०] आदिना ण्यश्च ।

नेन्द्रस्य ॥५।२।२७॥ द्योरिति वर्तते । इन्द्रस्य द्यौरैभ्यो भवति । आग्नेन्द्रः । “देवताद्वन्द्वे” [५।२।२६] इति पूर्वपदस्यानङ् । इन्द्रस्य द्योरेकादेशे कृते “यस्य ङ्वां च” [४।४।१३६] इत्यखे च आदेरचो नाशात्कथमैपः प्राप्तिः । इदमेव ज्ञापकम् “पूर्वोत्तरपदयोः कार्यमन्तरङ्गमप्येकादेशं बाधते” । तेन पूर्वेषु काम-शामादयः सिद्धाः भवन्ति । द्योरिति किम् ? ऐन्द्राग्नेः । “अजाद्यत्” [१।३।६६] इत्यत्रेन्द्रस्य वा पूर्वनिपात इष्यते ।

द्यो वरुणस्य ॥५।२।२८॥ द्यन्तात्परस्य वरुणशब्दस्यैव न भवति । ऐन्द्रावरुणः । द्य इति किम् ? आग्निवारुणः । मैत्रावरुणः । ऐञ्चिष्ये “द्विपीत्” [४।३।१४१] इत्यग्नेरित्त्वम् पश्चाद्द्यौरैषु ।

प्राचां नगरे ॥५।२।२९॥ प्राण्यभावान्नेति न सम्बन्ध्यते । द्वयोरिति वर्तते । अर्थवशाद्विभक्तीपरिणामः । प्राचां देशे नगरे द्यौर्योः पदयोरैव भवति । सुहानगरे भवः सौहानागरः । पौण्ड्रनागरः । वैराटनागरः । दोरिति तत्रानुवर्तनाद्रोङ्न्तात् “प्राचाम्” [३।२।१०१] इति वुञ् भवति । प्राचामिति किम् ? मलनगरे भवो मालनगरः ।

जङ्गलधेनुवलजे ॥५।२।३०॥ जङ्गल धेनु वलज इत्येतेषु द्युषु पूर्वपदस्य अचामादेरच ऐब् भवति । पूर्वपदस्येति कथं लभ्यत इति चेत् “वा द्योः” [५।२।३१] इत्युत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात् । कुरुजङ्गले भवः कौरु-जङ्गलः । वैश्वधेनवः । सौवर्णवलजः ।

वा द्योः ॥५१२३१॥ जङ्गल धेनु वलज इत्येतस्य द्योरचामादेरच ऐभभवति वा । कौरु-
जाङ्गलः । कौरुजङ्गलः । वैश्वधैनवः । वैश्वधेनवः । सौवर्णालजः । सौवर्णवलजः । पूर्वेण नित्ये
प्राति विकल्पः ।

परिमाणस्याऽनतोऽर्धाद्वा पूर्वस्य ॥५१२३२॥ अन्नतः स्थाने ऐव् भवति
पूर्वपदस्य तु वा । अर्धद्रोणं पचति आर्द्धद्रौणिकः । अर्द्धद्रौणिकः । आर्धकौडविकः । अर्द्धकौडविकः ।
“पूर्वपदस्य वा” इति वचनाद् द्युविशेषणं वाग्रहणं नेहाभिसम्बध्यते । अन्नत इति किम् ? आर्द्धप्रस्थिकः । अर्द्ध-
प्रस्थिकः । अर्धचमसेन क्रीतम् आर्धचमसिकम् । अर्धचमसिकम् ।

प्रवाहणस्य ढे ढस्य ॥५१२३३॥ प्रवाहणस्य ढे परतः द्योरैव् भवति पूर्वपदस्य तु वा ढान्तस्य
चान्यस्मिन् ढृति ङिति परतः । प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणेयः । “शुभ्रादेः” [३११११२] इति ढण् । ढान्तस्य
प्रावाहणेयस्यापत्यं प्रावाहणेयिः । प्रावाहणेयिः । प्रावाहणेयस्येदम् । “बृद्धचरणञ्जित्” [३१३१६४] इति वुञ् ।
प्रावाहणेयकम् । द्योरैपि सत्यसति च नास्ति विशेषः । पूर्वपदस्य विकल्पार्थः ।

नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलचपलनिपुणानाम् ॥५१२३४॥ द्योरैपूर्वस्य वेति वर्तते । नञः
परेषां शुचि ईश्वर क्षेत्रज्ञ कुशल चपल निपुण इत्येतैपामचामादेरच ऐभभवति पूर्वपदस्य तु वा । न शुचिरशुचिः
अशुचेरिदम् अशौचमाशौचम् । अथवा नास्य शुचिरस्ति अशुचिः । अशुचेर्भावः “व्यादेरिकः” [३१४१२९]
इत्यण् । “नञ्सेऽचतुरसङ्गत” [३१४११५] इत्यत्र व्याख्यातम् । चतुरादिभ्यो नञ्स एव भावकर्मद्विविधिः ।
अन्येभ्यस्तु नञ्सात्पूर्वमिति । न पटोर्भावः अपाटवम् । तेन नञ्सेभावाभिधायी त्यो नोक्तः । अनैश्वर्य-
मानैश्वर्यम् । अक्षौत्रज्ञ्यम् । आक्षौत्रज्ञ्यम् । ब्राह्मणादिषु नञ्सावेतौ । अकुशलस्येदम् अकौशलमाकौशलम् ।
अचपलस्येदम् अचपलमाचपलम् । अनिपुणस्येदम् अनैपुणानैपुणम् । यद्यपि नञ्सात्पूर्वमिति नञ्सात्पूर्व-
ब्राह्मणादिषु युवादिषु च पठ्यन्ते तथापि तत्र तदन्तविधेरभावान्नञ्से बसे वा कृते नञ्सात्पूर्व-
गणत्वाद्द्रष्टव्यौ ।

यथातथयथापुरयोः क्रमेण ॥५१२३५॥ यथातथ यथापुर इत्येतयोः नञ उत्तरयोः क्रमेण द्वयोरैभ-
वति । अयथातथयथापुरयोः । अयथापुर्यमांयथापुर्यम् । ब्राह्मणादिषु नञ्सावेतौ । यथातथा यथापुरा
“सुसुपा” [११३१३] इति सविधिः । अयथातथाभावः अयथापुरा भावः इति विग्रहः । सौत्रत्वानिर्देशस्येति प्रान्तौ
पठितौ । यदि वा “यावद्यथावच्छ्रयसाहश्ये” [१३१६] इति हसे कृते पश्चान्नञ्सः । नन्वेकत्र नञ्सात्पूर्वं त्वविधिः
अन्यत्र नञ्से । तेनोभयं सिद्धमतो व्यर्थमिदम् । न व्यर्थम् । नञ्सात्पूर्वं प्राप्नोतीत्युक्तम् ।

हनस्तोऽञ्जिणलोः ॥५१२३६॥ हृतीति निवृत्तम् । अञ्जिणलोरिति प्रतिषेधात् सामान्येन ङिणीति
वर्तते । हनस्तकारादेशो भवति ङिति परतः अञ्जिणलोः । घातयति । घातकः । “अन्तेऽलः” [१११४६]
इति नकारस्य तत्त्वम् । देशघाती । सर्वघाती । “सुपि शीलेऽजातौ णिन्” [२१२१६६] घातंघातम् । “णम् चा-
भीक्ष्यथे” [२१४८] इति णम् । द्वित्वम् । अञ्जि घातः । सर्वत्र “हो हन्तेऽणिञ्जि” [५१२१५६] इति कुत्वम् ।
अञ्जिणलोरिति किम् ? अघानि । जघान । इह कस्मान् न भवति वृत्रं हतवानिति वृत्रह । तस्येदं वार्त्तध्वनम् ।
“पादिहन्धतराज्ञोऽणि” [४१४१२३] इत्यलम् । “द्योः स्वरूपग्रहणे तत्त्वविज्ञानम्” [प०] इति धोरैव् भवति ।

आतो णल औः ॥५१२३७॥ अञ्जिणलोऽन्तर्गतस्य णल औकारादेशो भवति । पपौ । तस्यौ । पा
इत्येतस्माणंलि परतः युगपत्त्रीणि कार्याणि प्राप्नुवन्ति द्वित्वमेकादेश औत्वं च । तत्रैकादेशादनवकाशत्वेन
परमौत्वम् । द्वित्वादिपि परत्वादौ । इदानीमपि कृते निमित्तनिमित्तिनोर्विभागाभावात् लिटि परतो द्वित्वनुच्य-
मानं न स्यात् । “द्वित्वेऽचि” [१११५६] इति स्थानिवद्भवति । ननु द्वित्वनिमित्ते अञ्जि स्थानिवद्भाव उच्यते

चात्राच्चो निमित्तत्वं भेदाभावात् । एवं तर्हि “द्विन्वेऽन्वि” [१११।५६] इति सूत्रे द्वित्व इति योगविभागादिह स्थानिवद्भावः ।

त्रिकृतोर्युक् ॥५।२।३८॥ आकारान्तस्य गोः जौ कृति ङिति च परतः युगागमो भवति । अदायि । अधायि । दायः । धायः । दायकः । धायकः । त्रिकृतोरिति किम् ? ययौ । बभौ । ववौ । ज्ञा देवता अस्य अणि ङः ।

न सेटस्तासि मोऽवमिकमिचमः ॥५।२।३९॥ मान्तस्य गोः तासि सेटः जौ कृति ङिति च यदुक्तं तन्न भवति । किञ्चोक्तम् ? ङिणीतीत्यनुवर्तनाद् “उडोऽतः” [५।२।४] इत्यैप् । अशमि । अतमि । अदमि । शमकः । दमकः । तमकः । शमः । तमः । दमः । विश्रमः । कथं सूर्यविश्रामभूमिः ? प्रमादप्रयोग एपः । तासि सेट इति किम् ? यामकः । रामकः । म इति किम् ? चारकः । पाठकः । अवमिकमिचम इति किम् ? वामः । कामः । आचामः । त्रिकृतोरिति किम् ? शशाम । तताम । कथमुद्यमः । उपरमः ? “अड उद्यमे” [धा०] “यम उपरमे” [धा०] इति निपातनात् ।

जनिवधयोः ॥५।२।४०॥ जनि वधि इत्येतयोश्च त्रिकृतोर्यदुक्तं तन्न भवति । अजनि । अजनि । जनकः । वधकः । जनः । वधः । वधिरिति प्रकृत्यन्तरं हलन्तमस्ति । तस्येदं ग्रहणम् । न हनादेशस्यादन्तत्वात् । तेन सिद्धम् । “भक्तश्चेन्न विद्येत वधकोऽपि न विद्यते” ।

अर्तिह्वीव्लीरीकन्यूदीदमाय्यातां पुग् णावेप् ॥५।२।४१॥ गोरिति वर्तते । अर्ति ह्वी व्ली री कन्यूदी दमायी इत्येषामाकारान्तानां च गूनां गौ परतः पुग् भवति एप्च । अर्तिरिति तिपा निर्देशः ऋकारान्तनिवृत्त्यर्थः । इयर्ति ऋच्छति वा कश्चित् तं प्रयुङ्क्ते अर्पयति । ह्येपयति । वित्तनातेर्ल्लेपयति । रीयते रिणातेश्च रेपयति । निरनुबन्धपरिभाषा नाश्रीयते । कन्यूदी कनोपयति । “वलि व्योः खम्” [४।३।५५] इति यखम् । “न धु-खेज्जे” [१।१।१८] इत्येप्प्रतिषेधः प्राप्नोति अगनिमित्ते खे स प्रतिषेधः । वर्णनिमित्तं चेदम् । दमायी दमापयति । आकारान्तानाम् । दापयति । धापयति । लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषेह नाश्रीयते । ग्लापयति । अध्यापयति । “इकस्तौ” [१।१।१७] इत्याश्रयणात् आतः एव न भवति । पुकः पूर्वान्तकरणं किम् ? दापयतेर्लुङि अदीदपदित्यत्र “सौ कच्युङः” [५।२।११५] प्रादेशार्थः ।

शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् ॥५।२।४२॥ शा च्छा सा ह्वा व्या वे पा इत्येतेषां सौ परतः युगागमो भवति । निशाययति । अपच्छाययति । अवसाययति । संह्राययति । संवाययति । पाययति । शादीनां कृतात्वानां ग्रहणं लाक्षणिकस्यापि पूर्वेषां पुकमाख्यातुम् । कापयति । जापयति । वेज एकारान्तनिर्देश “ओवै शोषणे” [धा०] इत्यस्य निवृत्त्यर्थः । “पै ओवै शोषणे” [धा०] इत्यस्यापि ग्रहणम् । आकारान्तवर्गात् पृथक् पाठो लाक्षणिकत्यागार्थः इत्यन्ये । पातेर्लुङं वक्ष्यति । युक्ः पूर्वान्तत्वं निशाययतेर्लुङि न्यशीशयदिति प्रादेशार्थम् ।

धो विधूनने जुक् ॥५।२।४३॥ वा इत्येतस्य विधूननेऽर्थे जुग्भवति सौ परतः । पञ्चक्रेणोपवाजयति । “वज्र व्रज गतौ” [धा०] इत्यस्य एयन्तस्य किन्न रूपम् । नैवं वातेयुक् स्यात् । विधूनन इति किम् ? आवापयति केशान् । “ओवै शोषणे” [धा०] इत्यस्येदं रूपम् । “धूञ्प्रीञ्जोर्णौ जुगिष्यते” इति विधूननवचनं ज्ञापकम् ।

पातेर्लुङ् ॥५।२।४४॥ पातेर्लुङ् गागमो भवति गौ परतः । पालयति शीलं गुरुः । तिपा निर्देशोऽनुविवरणनिवृत्त्यर्थः । यद्दुवन्तनिवृत्त्यर्थश्च । ननु पाल रक्षणे इति चौरादिकस्य रूपं भविष्यति । नात्रापि युक्स्यात् ।

लो वा स्नेहद्रवे ॥५१२।४५॥ ला इत्येतस्य णौ परतः वा लुगागमो भवति स्नेहद्रवैऽर्थे । घृतं विलालयति विलापयति । विलाययति । ला इति लिनातेः द्रवीकरणार्थस्य “विभाषा लियोः” [४।३।४४] इति कृतात्वस्य धूनामनेकार्थत्वात्लातेश्च स्नेहद्रवे वृत्तिरित्युभयोर्ग्रहणम् । स्नेहद्रव इति किम् ? अयो विलापयति । जटाभिरालापयते । लीयतेः कृतात्वात् “लियोऽघाष्ठर्थसन्मानने च” [१।२।६६] इति दः ।

लियो नुक् ॥५१२।४६॥ ली इत्येतस्य णौ परतः स्नेहद्रवेऽर्थे वा नुग्भवति । घृतं विलीनयति । घृतं विलापयति । लियोऽनात्वपक्षे स्नेहद्रवार्थस्य ग्रहणम् । स्नेहद्रव इत्येव । अयो विलाययति । णौ ऐऽयादेशौ । अथ “विभाषा लियोः” [४।३।४४] इत्यात्वपक्षे एऽश्चोऽशित्वात्तदन्तःसन्नुक् कस्मान्न भवति ? लिय इत्यत्र ली ई इतीकारप्रश्लेषादीकारान्तस्य नुक् ।

रुहः पः ॥५१२।४७॥ रुहः णौ परतः पकारादेशो भवति वा । आरोपयति । आरोहयति स्वर्गं जिनधर्मः । अथ “युप रूप लुप विमोहने” [धा०] इति रूप्यतेः रोपयति, रुहेः रोहयतीति भविष्यति । न शक्यमेवम्, आरोपयतीति भविष्यति न शक्यमेवम् । आरोपयतीत्यत्र रुहरर्थः प्रतीयते न रूप्यतेः । अनेकार्था धव इति पादप्रसारिकैषां ।

स्फायो वः ॥५१२।४८॥ वेति निवृत्तम् । स्फायी इत्येतस्य वकारादेशो भवति णौ परतः । स्फाययति । स्फाययतः । स्फाययन्ति । “अन्तेऽलः” [१।१।४६] इत्यन्तस्य ।

शदोऽगतौ तः ॥५१२।४९॥ शदेषौ परतः अगतावर्थे तकारादेशो भवति । पुष्पाणि शातयति । फलानि शातयति । अगताविति किम् ? गाः शादयति यष्ट्या । “शद्ल् शातने” [धा०] इति निपातनात् सिद्धमिति चेत् ; निपातनं मवाधकमितरस्य शक्येत । यथा “पूर्वकालैक” [१।३।४४] इत्यत्र पुराणशब्दः पुरातनशब्दस्य ।

त्यस्थे क्वापीदतोऽसुपोऽयत्तदौ ॥५१२।५०॥ त्यस्थे ककारे परतः पूर्वस्य अकास्येकारादेशो भवति असुपो य आप् तस्मिन् यत्तदित्येतौ वर्जयित्वा । कुत्सिता जटा जटिका । मुण्डिका । त्य इति किम् ? शक्नोतीति शका । तका । धोरयं कः । स्थग्रहणं किम् ? कारिका । हारिका । असति स्थग्रहणे त्थे कीऽन्युच्यमाने “येनाल्लविधिः” [१।१।६७] इति ककारादावेवं स्यात् । स्थग्रहणे सर्वत्र सिद्धम् । क्रीति किम् ? नन्दना । रमणा । क्रीतीप्निर्देशः किम् ? “ईप्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः” [१।१।६०] इति परस्य मा भूत् । पटुका । मृदुका । आपीति किम् ? कारको हारकः । अत इति किम् ? गोका । नौका । तपरकरणं किम् ? बहुखट्वाका । बहुमालाका । “वाऽपः” [५।२।१२७] इत्यप्रादेशपक्षे । प्रपक्षे असुवः कपः परोऽयमाप् । असुप इति किम् ? बहवः परिव्राजका अस्यां बहुपरिव्राजका मथुरा । “त्यखे त्याश्रयम्” [१।१।६३] इति सुब्रन्तात्परिव्राजकशब्दादयमाप् । ननु च बसे समुदायादसुब्रन्तादावितीत्वं प्राप्नोति, तदसत्, असुप इति प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् । न चानुसुब्रन्तादयस्त्रानुपरो भवति । पर्युदासे हि दोषः । सुपोऽन्यः असुप् समुदायस्तस्मादावितीत्वं स्यात् । बहूनि चर्माणि अस्यां बहुचर्मिकेत्यत्र असुब्रन्तात्कपः परोऽयमावितीत्वम् । अयत्तदात्रिति किम् ? यका । सका । यकां यकां पश्यति तकां तकां वृणीते । इह कथं प्रतिषेधः, यातीति स्यतीति विचि या सा इति स्थिते के प्रादेशे च कृते यका सका । द्विपकादावेतौ द्रष्टव्यौ । ननु क्रीति वर्णनिर्देशः तस्यापीति परत्वेन विशेषणं नोपपद्यते आकारेण व्यवधानात् । एकादेशे भविष्यति । एकादेशः पूर्वविधौ स्थानिवद्भवतीति व्यवधानमेव । एवं तर्हि वर्णनैकेन व्यवधानेऽपि वचनप्रामाण्याद्भवति । सङ्घातेन पुनर्व्यवधानमिति । रथानां समूहो रथकट्या पुत्रकाम्यान् पुत्रकाम्या इत्यादौ न भवति ।

वाऽतोऽधोर्यकात् ॥५१२।५१॥ अधोर्यो यकारः ककारश्च ताभ्यामुत्तरस्यातः स्थाने यो अकारः तस्याऽसुपः वा इद्भवति । कुत्सिता इभ्या इभ्यका । इभमर्हतीति “दृषडादेः” [३।४।६४] यः । एवं

क्षत्रियका । क्षत्रियिका । अर्थका । अर्थिका । चटकका । चटकिका । मूपिकका । मूपिकिका । आत इति किम् ? साङ्काश्ये भवा साङ्काश्रयका । अधोरिति किम् ? सुनयिका । सुशयिका । सुशोचिका । सुपाकिका । शोभनो नयोऽस्या सुनया । “केऽणः” [५।२।१२५] इति प्रादेशे कृते धोरन्तौ यकारक-कारावमू ताभ्यां परस्य न विकल्पः । यकादिति किम् ? अश्वी । अश्विका । वेति योगविभागः । सा च व्यवस्थितविभाषा । तेन “तारका ज्योतिषि” । तारिकान्या । “आशिपि” जीवतादिति जीवका । नन्दका । जीविका नन्दिकाऽन्यत्र । अनुकम्पिता देवदन्ता । के कृते “अनजादौ वा ह्युखम्” [वा०] उक्तम्—“देवका” देवदत्तिकाऽन्यत्र । “वर्णका तन्तुविकारे” । वर्णिकान्या । “वर्तका शकुनौ प्राचाम्” । वर्तिकाऽन्यत्र । “अष्टका कर्मविशेषे” । अष्टिका तुलान्यत्र । अष्टौ परिमाणमस्या इति । सूतका । सूतिका । पुत्रका । पुत्रिका । वृन्दारका । वृन्दारिका । “क्षिपकादौ न भवत्येव” “क्षिप प्रेरणे” [धा०] । ध्रु स्थैर्यं । क्षिपतीति क्षिपा, के क्षिपका । ध्रुवा, ध्रुवका । यका । सका । इत्येवमादिः क्षिपकादिः दक्षिणात्यिका । इहल्यिका इत्यादावित्वमेव ।

भस्त्रैषाजाज्ञाद्वास्वानां नञ्सेऽपि ॥५।२।५२॥ भस्त्रा एषा अजा ज्ञा द्वा स्वा इत्येतेषां नञ्से असेऽपि आतः स्थाने यो अकारः तस्य वा इद् भवति । भस्त्राशब्दस्य “अनुक्तपुंस्कादाच्च” [५।२।५३] इतीमं विधिं वक्ष्यति । इह नञ्सादन्यत्रापि प्रतिपादयिष्यते । अभस्त्रका । अभस्त्रिका । अविद्यमाना भस्त्रा अस्या इति अभस्त्रा । कुत्सार्थं कः । एषका । एषिका । एतदः सर्वनाम्नोऽकभाविनि सौ “त्यदा-देरः” [५।१।१६१] इत्यत्वम् । प्राक् सुपः टाप् । एपेति विकृतनिर्देशाद्यत्र पत्वं तत्र विकल्पः । एतिकास्ति-ष्ठन्ति इत्यत्र नित्यमित्त्वम् । अजका । अजिका । अनजका । अनजिका । नञ्से कृते कः । जानातीति ज्ञा । जका । जिका । अजिका । द्वके । द्विके । स्वका । स्विका । अस्वका । अस्विका । एषा द्वे नञ्पूर्वे अनुदाहरणे । सुवन्तादापो विहितत्वात् । नञ्सात् पूर्वम्पश्चाद्वा अकि कृते “त्यस्वे त्याश्रयम्” [१।१।६३] इति अन्तर्वर्तिनीं विभक्तौमाश्रित्य सुवन्तादाविति न प्राप्तिरित्यस्य । अनेषका । अद्वके इति भवति । स्वशब्दस्य तु ज्ञातिधनाख्यायां सर्वनामसञ्ज्ञाविरहादग्नास्ति । अकि हि सति तस्य टेः प्राग्भावात्सुवन्तग्रहणेन ग्रहणम् । सुवन्तादाप्स्यान् । ज्ञातिविवक्षायां तु न स्वा अस्वा कुत्सार्थं कः । अस्वका । अस्विका । अपिग्रहणं किम् ? नञ्से अस इत्येवास्तु । अन्यस्मिन्नपि से क्वचिद्भावाथम् । बहवो भस्त्रा अस्या इति के बहुभस्त्रका । बहु-भस्त्रिका । निर्भस्त्रका । निर्भस्त्रिका ।

अनुक्तपुंस्कादाच्च ॥५।२।५३॥ अनुक्तपुंस्काद्विहितस्यातः स्थाने योऽकारस्तस्य आच्च भवति इच्च वा । नञ्से असेऽपीति वर्तते । खट्वाका । खट्विका । खट्वाका । मालका । मालिका । मालका । भस्त्राका । भस्त्रिका । भस्त्रका । खट्वादिशब्दा नित्यं स्त्रियामेव वर्तन्ते इत्यनुक्तपुंस्काः । नञ्सेऽपि । अभ-स्त्राका । अभस्त्रिका । अभस्त्रका । अखट्वाका । अखट्विका । अखट्वाका । परमखट्वाका । परमखट्विका । परमखट्वाका । असेऽपि यदा कपि परतः “वाऽपः” [५।२।१२७] इति प्रादेशस्तदानुक्तपुंस्काद्विहित-स्यातः स्थाने अकार इत्यमेव विधिः । अविद्यमाना खट्वाऽस्या अखट्वाका । अखट्विका । यदा न कप् तदा “स्त्रीगोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रादेशानुक्तपुंस्कत्वम् । अखट्विका । अतिक्रान्ता खट्वाम् अतिखट्विका ।

ठस्येकः ॥५।२।५४॥ गोर्निमित्तभूतस्य ठस्य इक इत्ययमादेशो भवति । ठस्येति त्यस्य ग्रहणम् । अक्षेदांयति आक्षिकः । शालाक्षिकः । “प्राग्याद्वण” [३।३।१२६] दक्षि संस्कृतं दाधिकम् । अपूपानां समूहः आपूपिकम् । “कणोष्ठः” [३० सू०] कण्ठ इत्यादिषु “उणादयो बहुलम्” [२।२।१६७] इति न भवति ।

इसुसुक्तः कः ॥५।२।५५॥ इस् उस् उक् इत्येवमन्तात्कारान्ताच्च गोः परस्य ठस्य क इत्यथ-
मादेशो भवति । सर्पिः परस्यस्य सर्पिष्कः । वार्हिष्कः “कुप्वोस्त्ये” [५।४।२६] इति रेफस्य सः ।
“इणः षः” [५।४।२७] इति पत्वम् । धनुः प्रहरणस्य यजुः पण्यस्य “प्राग्यादृण्” [३।३।१२६]
धानुष्कः । याजुष्कः । उक्-निपाहकर्णा जातः नैपाहकर्णुः । शावरजम्बुकः । “ओर्देशो ठञ्” [३।२।६६] ।
“केऽणः” [५।२।१२५] इति प्रादेशः । मातुरागतं मातृकम् । “ऋतष्टञ्” [३।२।५२] । तान्तात्—
उदशिवत् पण्यमस्य औदशिवकः । भवतोऽयं भावकः । ननु मथितं पण्यमस्य माथितिक इत्यत्र “यस्य
इयां च” [४।४।१३६] इति खे कृते तान्तादिकस्य स्थानिवद्भावेन कादेशः प्राप्नोति । अजादिति
निमित्तस्तकारो नाजादिं हन्ति । “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य” [५०] “अर्धिशुचिद्-
सुपिच्छदिच्छदिभ्य इत्” [३० सू०] इत्येवमादिना प्रतिपदोक्तयोरिसुसोर्ग्रहणादिह न भवति । आशिषा तरति
आशिषिकः । उषा चरति औषिकः । “आङः शासु इच्छायाम्” [४।०] “वस निवासे” [४।०] इत्येताभ्यां
क्विपि “लिङ्गाशिषि” [२।४।१६] इति निपातनादित्वम् । “वसोजिः” [४।४।१२०] “शासिवसिघसाम्”
[५।४।४०] इति प्लवं नञ्सेऽपीत्यतोऽपिशब्दवृत्तेः “दोपोऽपीप्यते” [वा०] । दोभ्यां तरति दौष्कः ।

चजोः कुधिरण्ययोस्तेऽनितः ॥५।२।५६॥ चकरजकारयोः कुत्वं भवति घिति एये च परतः ।
पाकः । त्वागः । रागः । पाक्यम् । योग्यम् । भोग्यम् । न त्वत्र चकारस्य घिति जकारस्य षे - - - - -
प्राप्नोति “तेन रक्तं रागात्” [३।२।१] इति ज्ञापकात् स्वरितलिङ्गाभावाद्वा न भवति । तेऽनितः इति किम् ? कजः ।
खर्जः । गर्जः । समाजः । परिखाज्यम् । याच्यम् । अच्यम् । नन्वजेस्तेऽनित इति कुत्वं प्राप्नोति । नैप
दोपः । तेऽनित इति विद्यमानस्य विशेषणम् । अजेस्तु वीभावेनासच्चादविशेषणं तस्मात् समाज इति भवति ।

शुच्युञ्ज्योर्घञि ॥५।२।५७॥ शुचि उञ्जि इत्येतयोर्घञि परतः कुत्वं भवति । ते सेटाविमौ ।
शोकः । समुद्गः । उञ्जेर्दकारोऽपन्ने कुत्वे कृते “उद्ग” इति । चुना योगे क्वमुक्तं चुत्वाभावे न भवति ।
अथ समुद्गतः । समुद्ग इति । गमेर्द्धन सिद्धम् । एवं तर्हि घञि उद्गोः जकारानन्तानिद्वन्द्वर्थम् ।

न्यङ्क्वादेः ॥५।२।५८॥ पूर्वेषाम्प्राप्ते विधिः । न्यङ्कु इत्येवमादीनां च कुत्वं भवति । “नावञ्चेः”
[३० सू०] इत्युः । मद्गुः । मस्जेः “भृमृशीतृचरितनिमिसिञ्जभ्य उः” [३० सू०] जश्त्वम् । सस्य दः ।
भृगुः । अस्जेः “प्रथिमृदिभ्रस्जां जिः सखं च” [३० सू०] इति कुः । तक्रम् । चक्रम् । “स्फायितञ्चि-
वञ्चि” [३० सू०] आदिसूत्रेण रक् । मेहतीति मेघः । इगुङ्लक्षणः कः गणपाठादेप् । शुनः पचतीति
श्वपाकः । पचादिषु श्वपचशब्दोऽस्ति सोऽपि साधुः । अर्धअवदाघनिदाघाः घञन्ताः सञ्ज्ञाशब्दाः । अविहित-
लक्षणं कुत्वमिह ज्ञेयम् ।

हो हन्तेर्ङिणञि ॥५।२।५९॥ हन्तेर्हकारस्य कुत्वं भवति ङिणिति त्ये नकारे घञि भावकरणे खपरतः ।
घातयति । घातकः । सर्वघाती । देशघाती । घातंघातम् । घातो वर्तते । नकारे—घ्नन्ति । घ्नन्तु । अघ्नन् । ह
इति किम् ? अलोऽन्त्यस्य मा भूत् । हन्तेरिति किम् ? विहारः । ङिणतीति किम् ? हतः । कथं यद्गुङ्गन्तस्य
जङ्घनीति । अत्र “चात्” [५।२।६०] इति कुत्वमिप्यते । धुनिर्देशार्थंस्तिप् । ङिणद्ग्रहणं हन्तेर्विशेषणं जित्परस्य
हन्तेर्यो हकारस्तस्य । नकारो हकारस्य विशेषणम् । नकारे परतोऽनन्तरस्य हकारस्य स चेद्दन्तेरिति औतं चान-
न्तर्यं घ्नन्तीत्यादाविष्टं स्थानिवद्भावादेकेन व्यवधानं नाश्रितम् । वचनप्रामाण्यात् । सङ्घातेन पुनर्व्यवधानम्,
हननमिच्छति हननीयति । तस्य ष्वौ हननीयकः ।

चात् ॥५।२।६०॥ चादुत्तरस्य हन्तेर्हकारस्य कुत्वं भवति । अहं जघन । अणित्पक्षे णलि ।
जङ्घन्ते । जिघांसति । हन्तेर्यश्चः तस्मादत्परस्य कुत्वं च निमित्तत्वे तेनेह न भवति । हननीयितुमिच्छति
जिहननीयिषति ।

हेरकचि ॥५१२।६१॥ हिनोतेहकारस्य चात्परस्य अकचि कुत्वं भवति । प्रजिवाय । प्रजेवीयते । प्रजिधीपति । अकचीति किम् ? प्राजीहयत् । हेर्यन्ताल्लुडि “खिश्चिद्भ्रु” [२।१।४३] इत्यादिना कच् । खिखम् “शौ कच्युडः” [५।२।११५] इति प्रादेशः । शौ कृतं स्थानिवद्भवतीति कचि हिशब्दस्य द्वित्वम् । ननु हेः स्वनिमित्ते त्ये चादुत्तरस्य कुत्वमुक्तम् । एयन्तं च प्रकृत्यन्तरं कथं कचि प्रातिः । अयमेव प्रतिपेधो शापको एयधिकस्यापि भवति । प्रहाययितुमिच्छति प्रजिवाययिपति ।

सन्लिटोर्जेः ॥५१२।६२॥ सनि लिटि च यश्चस्तस्मात्परस्य जेः कुत्वं भवति । जिगीपति । जिगाय । संलिटोरिति किम् ? जेजीयते । जिनातेर्लिटि जित्वे कृते “हल्लः” [४।४।२] इति दीत्वे कृते एकदेशपरिभाषया जिग्रहणेन ग्रहणं नेप्यते लक्षणिकात्वात् । “एर्गिवाक्चादुडोऽसुधियः” [४।४।७८] इति यत्वम् । जिज्युः । जिज्युः ।

वा चेः ॥५१२।६३॥ चिनोतेः सँल्लियोः परतः चात्परस्य वा कुत्वं भवति । धर्मं चिकीपति । धर्मं चिचीषति । चिकाय । चिचाय । संल्लियोरित्येव । चेचीयते । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

न वञ्चेर्गतौ ॥५१२।६४॥ वञ्चेर्गत्यर्थस्य कुत्वं न भवति । वञ्च्यं वञ्चति वाणिजाः । गतौ किम् ? वङ्कथं काष्ठम् । “यस्य वा” [५।१।१२१] इति “तेऽनितः” [५।२।५६] कुत्वं प्रातम् । ननु गतावेव वञ्चिः पठ्यते । सत्यम् । अनेकार्था धव इत्यन्यत्र मा भूत् ।

एय आवश्यके ॥५१२।६५॥ आवश्यकेऽर्थे ष्ये परतः कुत्वं न भवति । अवश्यपाच्यम् । अवश्य-सेच्यम् । “आवश्यकाममर्ययोखिन्” [२।३।१४६] इत्यधिकृत्य “व्याः” [२।३।१४७] इति एयः । मयूरव्यसकादित्वात्सविधिः । “व्यान्ते ह्यवश्यमो नाशः” इति मखम् । आवश्यक इति किम् ? पाक्यम् । सेक्यम् ।

यजित्यजिप्रवचाम् ॥५१२।६६॥ यजि त्यजि प्रवच इत्येतेषां एये परतः कुत्वं न भवति । याच्यम् । त्याच्यम् । प्रवाच्यम् । अनावश्यकार्थमिदम् । प्रवचिग्रहणं शब्दखावपि प्रतिपेधार्थम् । प्रवाच्यो नाम पाठविशेषः । अन्ये तु पुनराहुः—प्रपूर्वस्यैव वचेः अशब्दखोः यथा स्यात् । अत्यगिपूर्वस्य मा भूत् । अधिवाक्यम् ।

वचोऽशब्दखौ ॥५१२।६७॥ वचोऽशब्दखौ एये परतः कुत्वं न भवति । वाच्यमाह । अशब्द-खाविति किम् ? अव्युषितं वाक्यमाह । शब्दस्यैव सञ्ज्ञावाक्यमिति । तदुक्तम्—आख्यातं सविशेषण-मित्यादि वाक्यम् ।

भुजप्रयाजानुयाजौकप्रयोज्यनियोज्यभोज्यानि ॥५१२।६८॥ भुज प्रयाज अनुयाज श्रोक प्रयोज्य नियोज्य भोज्य इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । भुज इति पाणौ । भुज्यतेऽनेनेति भुजः । “हल्लः” [२।३।१०२] इति करणे घञ् । एङ्कुत्वयोरभावो निपात्यते । भोगोऽन्यः । अथ “भुजो कौटिल्ये” [धा०] इत्यस्य इगुङ्लक्षण्ये के रूपम् । न तस्याभ्यवहारार्था प्रतीतिः । रूढिशब्देऽप्यनुगमोऽस्ति । यथा गच्छतीति गौः । प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे । “अकर्तरि” [२।३।१८] इति घञ् । प्रयागः । अनुयागः । इत्येवा-न्यत्र । श्रोक इति भवति । उचः के उच्यतीत्योकः । इगुङ्लक्षण्यः कः । न्युच्यत्यस्मिन्निति न्योकः । “वञ्चर्थे कविधानम्” [वा०] इति कः । एप् कुत्वं च निपात्यते । उचिस्ते सेट् तदर्थम् । के उच इत्यस्य रूपस्य निवृत्त्यर्थं वेदम् । दिवौकस इत्यादिषु “उणादयो बहुलम्” [२।२।१४७] इति कुत्वम् । प्रयोज्यनि-योज्यौ शक्यार्थे । प्रयोक्तुं शक्यः प्रयोज्यः । नियोक्तुं शक्यो नियोज्यः । “शकि लिङ् च” [२।३।१४८] इति एयः । कुत्वाभावोऽनेन । प्रयोग्यो नियोग्य इत्येवान्यत्र । भोज्यमिति भुज पालनाभ्यवहारयोरित्यस्य भक्ष्येऽभिधेये । भोज्य ओदनः । भोज्या अप्रूपाः । ननु भक्षिरयं खरविशदे वर्तते न तु द्रवद्रव्ये तत्कथं

भोज्या यवापूरिति ? भक्षिरभ्यवहार्येऽपि वर्तते न खरविशद एव । अभ्यव-
हरणादन्यत्र न भवति । भोग्या अङ्घ्रिपाः पालनीयाः इत्यर्थः । भोग्यः कम्बलः । इष्टार्थसङ्ग्रहो
निपातनात् । न्युञ्ज इति कथं सिध्यति ? न्युञ्जिताः शेरतेऽस्मिन्निति न्युञ्जो रोगः । “वञ्जर्थे कविधानम्”
[वा०] इति ग्यन्तस्य वाऽचि रूपम् ।

कसस्याचि खम् ॥५१२।६६॥ कसस्याजादौ परतः खं भवति । “अन्तेऽलः” [१११।४६] इत्यन्तस्य ।
अयुञ्जि । अयुञ्जिताम् । अधिञ्जि । अधिञ्जिताम् । लुहिदिही स्वरितेनौ । “इगुञ्जः शब्दोऽनिटोऽदृशः कसः”
[२।१।४०] । अचि किम् ? अयुञ्जत् । अधिञ्जत् । अयुञ्जन्तेत्यत्र कसस्य खे कृते “द्वेऽनतः” [५।१।५]
इत्यन्तादेशस्य स्थानिवद्भावेन भस्यादादेशः प्राप्नोति । “परेऽचः पूर्वत्रिचौ” [१।१।५७] इत्यकारस्य
स्थानिवद्भावान्न भवति । पूर्वस्मादपि विधिः पूर्वविधिरित्युक्तम् । कसस्य कितो ग्रहणं किम् ? इह मा भूत् ।
वसौ । वत्साः “वृत्तवदिह निकमिकषिमुचिमाभ्यः सः” [उ० सू०] ।

वोढुदुहदिहलिहगुहो दे दन्त्ये ॥५१२।७०॥ दुह दिह लिह गुह इत्येतेभ्यः कसस्य वा उब् भवति दे
दन्त्यादौ परतः । अदुग्ध । अदुग्धाः । अयुक्षत । अयुक्षथाः । अयुध्वम् । अयुध्वम् । अदुद्वहि ।
अयुक्षावहि । दिह । अदिग्ध । अधिञ्जत् । अलीढ । अलिक्षत । न्यगूढ । न्ययुञ्जत् । दुहादिभ्य इति किम् ?
न्यत्यरक्षत । द इति किम् ? अयुक्षत् । दन्त्य इति किम् ? अयुक्षामहि । खमिति वर्तमाने उब्ग्रहणं
सर्वापहारार्थम् ।

ओतः श्ये ॥५१२।७१॥ ओकारान्तस्य गोः श्ये परतः खं भवति । निश्यति । अपञ्चयति ।
अवचयति । अवस्यति । वोब्ग्रहणमस्वरितत्वान्नाधिकृतम् । श्य इति शित्करणं किम् ? गव्यम् ।

शमित्यामदो दीः ॥५१२।७२॥ शमादीनामामदो दीर्भवति श्ये परतः । शाम्यति । ताम्यति ।
दाम्यति । शाम्यति । भ्राम्यति । क्षाम्यति । क्लाम्यति । माद्यति । “अचश्च” [१।१।१२] -इत्यचः स्थाने
दीः । आम इति किम् ? अस्यति । श्य इत्येव । भ्रमति । “वा आशम्भाश” [२।१।६६] इत्यादिना वा शप् ।

ष्ठिवुक्लम्वाचमां शिति ॥५१२।७३॥ ष्टिवु क्लमु आचम इत्येतेषां दीर्भवति शिति परतः ।
ष्ठीवति । ष्ठीवेत् । क्लामति । क्लामेत् । आचामति । आचामेत् । क्लमः शितीति दीत्ववचनं शब्दार्थम् ।
चनेराङ्पूर्वस्यैव । केवलस्यान्यपूर्वस्य च मा भूत् । चमति । विचमति ।

क्रमो मे ॥५१२।७४॥ क्रमो मपरे शिति दीर्भवति । क्रामति । क्रामेत् । म इति किम् ? आक्रमते
आदित्यः । “ज्योतिरुद्गतावाङ्” [१।२।३६] इति दः । शितीत्येव । क्रमिष्यति । ननु सर्वत्र गृह्यमाणेन
शमादिना अज्विदोष्यते । तेनादोऽपि दीत्वं स्यात् । अशाम्यत् । “अन्त्याभावेऽन्त्यसदेशस्य कार्यम्”
[५०] इत्यदोषः । इह सङ्क्रामेति हेरुपि कृते “नोमता गोः” [१।१।६४] इति त्याश्रयकार्यप्रतिषेधाद्
दीत्वं न प्राप्नोति । न दोषोऽयम् । उमता वचनेन नष्टे यो गुस्तस्य कार्ये स प्रतिषेधः । तत्रायं क्रमिः
हिवचने गुः । किं तर्हि शिति ।

गमिषुथमां छुः ॥५१२।७५॥ गम् इषु यम् इत्येतेषां छो भवति शिति परतः । गच्छति । इच्छति ।
यच्छति । म इति नाधिकृतम् । संगच्छते । इषेरदितः शब्दिकरणस्य ग्रहणम् । “इष गतौ” [धा०]
इत्यस्य इष्यति । “इष आभीक्ष्ये” [धा०] इष्णातीति ।

**पात्राध्मास्थास्नादाण्द्रष्ट्यर्तिसर्तिसदसां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छुपश्यच्छुधौशीय-
सीदाः ॥५१२।७६॥** पा प्रा ध्मा स्था स्ना दाण् द्रष्टि अर्ति सर्ति शद सद इत्येतेषां पिब जिघ्र धम तिष्ठ मन
यच्छ पश्य ऋच्छ धौ शीय सीद इत्येते आदेशाः शिति यथासङ्ख्यं भवन्ति । पा-पिबति । पिबतः ।

पिबन्ति । अत्र “व्युङ्कः” [५।२।८३] इति एप्प्राप्नोति । अकारान्तोऽयमादेशो अथवा गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तमिति न भवति । घ्रा-जिघ्रति । ध्मा-धमति । स्था-तिष्ठति । म्ना-मनति । दाण् । प्रयच्छति । द्रष्टि इति दृशेस्तिपि “शपोऽदादिभ्यः” [१।४।१४३] इत्यत्र शप इति योगविभागाच्छप उपि कृते “ऋल्यकिति सृजिदृशोऽम्” [४।३।५१] इत्यमा निर्देशः । एवमर्तिसत्योरपि ज्ञेयम् । पश्यति । पश्यतः । पश्यन्ति । अर्ति-ऋच्छति । अनुब्विकरणस्य ग्रहणम् । सर्ति । धावति । सतेर्व्याख्यानात् शौत्र्ये धावादेशो नान्यत्र । संसरति । प्रसरतीत्यादि । शद्-शीयते । शीयते । “सदेगाश्” [१।२।५५] इति दः । सद् । सीदति । द्रष्ट्यादीनां तिपा निर्देशो यदुबन्तनिवृत्त्यर्थः । शतरि शिति प्राप्तिः । दर्शत् । अरियत् । सखत् । अतेश्च रिक् । इतरयो रुक् ।

ज्ञानोर्जा ॥५।२।७७॥ ज्ञा जन इत्येतयोः जा इत्ययमादेशो भवति शिति । जानाति । जायते । जा इति दीत्वोच्चारणं किम् ? “यव्यतो दीः” [५।२।६६] इत्यत्र मिडीत्यनुवर्तनाद् दीत्वं न स्यात् ।

प्वादेः प्रः ॥५।२।७८॥ पू इत्येवमादीनां प्रादेशो भवति शिति परतः । पुनाति । लुनाति । प्वादयो रीलीवृदिति यावत् । ल्वादीनां समाप्त्यर्थं वृत्करणमेतदिति केचित् । आगणान्ताः प्वाद्भ्यः । तदयुक्तम् । उभयगणपरिसमाप्त्यर्थात् वृत्करणस्य न विरुद्ध्यते । किञ्चागणान्तपक्षे व्रीणाति, व्रीणाति जानातीत्यत्र प्रः स्यात् ।

मिदेरेप् ॥५।२।७९॥ मिदेर्गोरेभ्रभवति शिति । मेद्यति । मेद्यतः । मेद्यन्ति । मिदेर्य इक् तस्याय-मेप् । मिदेरिति किम् ? क्लिद्यति । शितीत्येव । मिद्यते ।

जुसि ॥५।२।८०॥ जुसि परतः इगन्तस्य गोरेप् भवति । कामचारेण विशेषणम् । इका सन्निहितेन गुर्विशेष्यते । तेन तदन्तविधिः । अजुहपुः । अविभयुः । अविभरुः । लङ्गे भिः । शप उप् । “यवित्सेः” [२।४।८६] इति जुस् । भृजश्चस्येत्वम् । इगन्तस्येति विशेषणं किम् ? अनेनिजुः । जुसीति जकारग्रहणं किम् ? लुलुबुः । अथ चिनुयुः सुनुयुरित्यत्र उसीति पररूपे कृते “तदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते” [५०] इति श्नोः कस्मान्न भवति । अत्र द्वे डित्वे गाश्रयं यासुडाश्रयं च । तत्र नाप्राप्ते गाश्रये डित्व-निमित्ते प्रतिषेधे एब्रिहितस्तमेव बाधते । यासुडाश्रये डित्वनिमित्ते तु प्रतिषेधे प्राप्ते चाप्राप्ते च । अतस्तं न बाधते ।

गागयोः ॥५।२।८१॥ गे चागे च परतः इगन्तस्य गोरेभ्रभवति । तरति । नयति । करोति । अगे-कर्त्ता । भविता । चेता । स्तोता । गागयोरिति किम् ? अग्नित्वम् । अथ सङ्गीति कर्तव्यम् । सनः सकारादारभ्य आ आङो ङकारात्प्रत्याहारः । यदि सङ्गीत्युच्येत अग्निकाम्यतीत्यत्रापि स्यात् । अथ यङ्गीत्युच्येत । शिशयिषत् इत्यत्र न स्यात् ।

जागुरविभ्रिण्डिति ॥५।२।८२॥ जागृ इत्येतस्य गोरेभ्र भवति अविभ्रिण्डिति परतः । जागर-यति । जागरकः । साधु जागरी । जागरं जागरम् । जागरो वर्तते । किति-जागरितः । जागरितवान् । ऐब्वि-ष्ये प्रतिषेधविषये च प्रापणार्थो जागुरेब्रिहितोऽन्यत्र पूर्वैशैव सिद्धः । नायमेप् सावैपमन्तरङ्गं बाधते । तेन “ह्ययम्यक्षणाश्वस्” [५।१।८१] इत्यादिना जागुरैप्रतिषेधः । जागरयतीत्यादौ “उङ्गेऽतः” [५।२।४] इति पुनरैप् कस्मान्न भवति ? यदि स्याद्वचनमनर्थकं भवेत् । जागरित इत्यत्र सार्थकमिति चेत् ; एवं तर्हि जिण्डितोः प्रति-षेधोऽनर्थकः स्यात् । कृते एपि “उङ्गेऽतः” [५।२।४] ऐपा सिद्धवात् । अविभ्रिण्डितीति किम् ? जागृविः । “जृशूस्तृजागृभ्यो क्ति” [३० सू०] इति विः । अजागरि । जजागार । डिति-जागृतः । जागृथः । अवि-जिण्डितीति पयुं दासोऽयम् । विजिण्डिद्भ्योऽन्यत्रायमेब् विधीयते तेन विजिण्डित्वात् प्रतिषिध्यते । यदि लक्षणान्तरमस्ति भवत्येव । अजागरः । अहं जजागार । प्रसज्यप्रतिषेधे हि दोषः । विजिण्डित्वात् न भव-

तीति ततश्च अजागरित्यत्र “जुसि” [५।२।८०] इत्यस्य अहं जजागर। अणित्पक्षे “गागयोः” [५।२।८१] इत्यस्य च प्रतिषेधः स्यात्। अथवा जागुरित्पक्षेनागतगणनिः प्रतिषिध्यते न “जुसि” [५।२।८०] इत्यादि प्राप्तिः। अथ नञर्थः पर्युदासो नोपपद्यते अभावमात्रस्य वृत्त्यर्थत्वात्। न चोत्तरपदार्थाभावेन विधेर्निमित्तत्वमाश्रयितुं शक्यम्। तदयुक्तम्, यद्यभाव एव वृत्त्या गम्यते कथमब्राह्मणादिवाक्ये क्षत्रियादेरानयनम्। अथापि स्यात्। कथमुत्तरपदं सादृश्ये न विपरीते वर्तते। वृत्तौ वा वर्त्तिपदार्थव्यतिरेकेणागतगणनिः प्रत्ययान्तस्यैव स्वार्थत्वे सत्यवर्षाहमन्त इत्यत्र “स्त्रीगोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रादेशः प्राप्नोति। अनेकमित्यत्र च द्विवहू स्यातामिद्वेदप्रसारम्। यथोत्तरपदं स्वार्थं वर्तते। स्वभावतः तथानञ्चतौ परार्थं न वर्त्तिपदार्थकत्वे वर्त्तिष्यते। यथा च स्वार्थं वर्तमानं नोपसर्जनमेवं परार्थेऽपि सादृश्येन स्वार्थं एवेति कथमुपसर्जनत्वात् प्रादेशप्राप्तिः। अनेकमित्यत्र च एकशब्दः प्रधानभूत उपात्तस्वलिङ्गसंख्य एव परार्थं वर्तते इति द्वित्वबहुत्वयोरभावः। एवं तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधो नञर्थो न युक्तो वृत्त्यभावप्रसङ्गात्। तथाहि क्रियामपेक्षमाणस्य नञः उत्तरपदेन सामर्थ्याभावाद् वृत्तिर्न प्राप्नोति। नैष दोषः, वचनाद् भविष्यति। देवदत्तस्य गौर्नास्तीत्यनभिधानात् भवति। ततो द्वावपि नञर्थौ युक्तौ। यदोत्तरपदं स्वार्थं विपरीते वस्तुनि वर्तते तदा निवृत्तपदार्थकत्वं द्योतयन्न वृत्तिं लभते। यदा तूत्तरपदं स्वार्थं एव वर्तते तदा नञ् क्रियाप्रतिषेधद्वारेण सामर्थ्यमनुभवन् वृत्तिमाप्नोति।

धुडुः ॥५।२।८३॥ धिसञ्ज्ञस्योडः एव भवति गागयोः। द्योतते। वर्षति। छेदनम्। भेदनम्। ननु च भेत्ता छेत्ता इत्यत्र त्यादेर्गौरवयवस्य च हलोरानन्तर्ये “स्फेरुः” [१।२।१००] इति रसञ्ज्ञया धिसञ्ज्ञा बाधिता कथमेव। उच्यते “त्रसिगृधिष्टिषिचिपः क्तुः” [२।२।११६] इति “हलन्तात् [१।१।८५] इति च क्तुसन्तोः क्तिकरणं ज्ञापकम्। त्यादेर्गौरन्तस्य च हलोरानन्तर्ये “धुडुः” एव न व्यावर्तते। धि चासबुड् च घुडिति यसः किम्? भिनत्तीत्यत्र मा भूत्। इको ध्युड एव भवतीति सम्बन्धात् प्रसज्यते।

नेटः ॥५।२।८४॥ इट एव न भवति। अकणिषम्। अरणिषम्। कणिता। रणिता। अमं डादेशे टिखं चाश्रित्य पूर्वस्य गुसञ्ज्ञायां “धुडुः” [५।२।८३] इति एप्रतः।

थस्य गे पित्यच्चि ॥५।२।८५॥ थसञ्ज्ञस्य गोर्यो ध्युड् तस्याजादौ गे पित्येव न भवति। नेनिजानि। अनेनिजम्। वेविचानि। अवेविचम्। वेविषाणि। अवेविषम्। लोटि लडि च चस्य “निजामुच्येप्” [५।२।१७४]। एवं बोबुधीति। बोभुजीति। वेभिदीति। भस्येति किम्? वेदानि। ग इति किम्? निनेज। अचीति किम्? नेनेक्ति। विदप्रहणमुत्तरार्थम्। अपिति गे ङ्ङितीति प्रतिषेधः सिद्धः। ध्युड इत्येव। जुहवानि।

सूभवत्योर्मिडि ॥५।२।८६॥ सू भवति इत्येतयोर्मिडि पिति गे एव न भवति। सुवै। सुवावहै। सुवामहै। अमूवम्। अभूत्। सप्रहणेन सूतिर्गृह्यते। सूयतिसुवत्योर्विकरणेन व्यवधानम्। विकरणस्य डित्त्वादेव प्रतिषेधः सिद्धः। मिडीति किम्? भवति। शबयम्। भवतेस्तिपा निर्देशो यद्ब्रुवन्तनिवृत्त्यर्थः। बोभवीति। सूत्रोपलक्षणं चेदं तिपा निर्देशेन सूत्रेऽपि यद्ब्रुवन्तस्य निवृत्तिः। सोपवीति।

हल्यैबुप्युतः ॥५।२।८७॥ हलादौ पिति गे परतः उपि सति उकारान्तस्य गोर्ये भवति। एपोऽपवा-दोऽयम्। योमि। यौषि। यौति। रौमि। रौषि। रौति। इदमेव ज्ञापकम्—पूर्वे विकरणः पश्चाद् गुकार्यम्। अन्यथा पूर्वमेपि सति उकारान्तता न भवेत्। तरतः। तरन्तीत्यत्र ऋत इत्वं च स्यात्। अथवा नित्यः शप्। हलीति किम्? यवानि। उपीति किम्? जुहोमि। सुनोमि। उत इति किम्? एमि। एषि। एति। तपर-करणं किम्? लोलोति। पितीत्येव। युतः। रतः। हलि पितीन्निर्देशादव्ययङितप्रहणम्। इह मा भूत्। अपि स्तुयाद्राजानम्। थस्य नेत्येतदिहानुवर्त्यमिति केचित्। योयोति। रोरोतीत्यादिसिद्धये।

वोऽर्णोः ॥५।२।८८॥ उर्णोर्तेर्वा एव भवति हलादौ पिति गे। प्रोर्णोमि। प्रोर्णोमि। प्रोर्णोषि। प्रोर्णोषि। प्रोर्णोति। प्रोर्णोति। हलीत्येव। प्रोर्णवानि। पितीत्येव। प्रोर्णुतः। पूर्वेण प्राप्ते विकल्पः।

हल्येषु ॥५१२।८६॥ उणोतेर्हलि पिति गे एम्भवति । प्रौर्णोः । प्रौर्णोत् । पुनर्हल्यग्रहणं केवलार्थम् । हलादौ मा भूत् । वेति नाधिकृतम् ।

तृणह इम् ॥५१२।९०॥ तृणह इत्येतस्य गोरिमागमो भवति हलादौ पिति गे परतः तृहिरागतश्नम्को गृह्यते । श्नमि कृते इमागमो यथा स्यादिति । तृणेक्षि । तृणेदि । हलीत्येव । तृणहानि । पित्तीत्येव । तृणहः । अतृणेडित्यत्र तिस्योः “हल्ङवापः” [५१३।५६] इत्यादिना खे कृते हलाद्यभावादिम्न प्राप्नोति । “त्यखे त्याश्रयम्” [१।१।६३] अपि न सम्भवति । वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयमिति । यथा गवे हितम् गोहितमित्यत्र अचीति वर्णाश्रये नास्त्यवादेशस्त्याश्रयः । नेदं वर्णाश्रयं कार्यम् । किं तर्हि मिङाश्रयम् । मेडि हलादौ परतः । तस्य च त्यखे त्याश्रयमित्यवस्थानादिम् ।

ब्रुव ईट ॥५१२।९१॥ ब्रुव ईडागमो भवति हलि पिति गे । ब्रुव इति कानिर्देशात्परादिरीट् । ब्रवीति । ब्रवीतु । अब्रवीदित्यत्र व्यपदेशिवद्भावेन हलादित्वम् । हलीत्येव । ब्रवाणि । पित्तीत्येव । ब्रूतः । ग इत्येव । उवचिथ । ईटं बाधित्वा परत्वादीट् स्यात् । आत्थ इत्यत्र स्थानिवद्भावात्प्राप्नोति “ब्रुव आहश्च” [२।४।७०] इति आहादेशः । सिपश्च थादेशः । “आहस्थः” [५१३।५२] इति हस्य थात्वम् । चर्त्वम् । नायं दोषः । अलि विधिरयम् । “अनल्विधौ” [१।१।५६] इति प्रतिषेधः ।

यडो वा ॥५१२।९२॥ यडु वन्ताद्वा ईड् भवति हलि पिति गे । अत्रापि यड इति कानिर्देशात् परस्य तथा योगः । लालपीति । वावदीति । शाश्वसीति । चोक्रुशीति । “थस्य गे पित्यन्वि” [५१२।८५] इत्युङः एप्प्रतिषेधः । पत्ने लालति । वावत्ति । शाश्वत्ति । चोक्रोष्टि । यडन्तात्परस्य हलादेः पितो गस्याभावाद्बचनाद्यडु-वन्तस्य ग्रहणम् । इदमेव ज्ञापकं “यडोऽचि” [१।४।१४४] इत्यत्राविशेषेण यड उन् भवति । “चर्करीतम्” इत्यादिषु पठितम् । तस्यादादिकार्यम् । “मम्” [१।२।७५] इति मविधिः । “चर्करीतम्” इति यडु वन्तस्य सञ्ज्ञा ।

हल्यस्सेः ॥५१२।९३॥ हलि परतः अस्तेः स्यन्ताच्च ईड् भवति । अस्तिग्रहणं लङ्गर्थम् । आसीत् । आसीः । स्यन्तात् । अकार्षीः । अलावीत् । अलावीः । पुनर्हल्यग्रहणं केवलार्थम् । इह मा भूत् । अस्ति । वेति नाधिकृतम् । नन्वभूदित्यत्र अस्तेः नन्वभूदित्यत्र नान्प्रानोतिः । अस्तेरिति त्रिसकारको निर्देशः । तेन अस्तेः सकारान्तादीट् ।

रुद्भ्योऽड्वाऽजज्ञेः ॥५१२।९४॥ रुदादिभ्यो जक्षिपर्यन्तेभ्यः अड्वागमो भवति ईट् च हलि पिति गे । आजज्ञेरित्याडभिविधौ द्रष्टव्यः । केवलहल्यग्रहणमनुवर्तते । अरोदत् । अरोदीत् । अस्वपत् । अस्वपीत् । अश्वसत् । अश्वसीत् । प्राणत् । प्राणीत् । अजज्ञत् । अजज्ञीत् । सर्वत्र लङ् । “णोऽनितेः” [५।४।१०४] इति णत्वम् । आजज्ञेरिति किम् ? अजागर्भवान् । एपि रन्तत्वे च कृते “हल्ङवा” [५१३।५६] आदिना खम् । “रुदादेर्णे” [५।१।१३५] इतीटि प्राप्ते तदपवादोऽयम् ।

अदोऽट् ॥५१२।९५॥ अदः अड् भवति हलि पिति गे । आदः । आदत् । केवलहलीति किम् ? अर्ति । पुनरड्ग्रहणमीरिनवृत्त्यर्थम् ।

यज्यतो दीः ॥५१२।९६॥ यजादौ मिडि अकारान्तस्य गोर्दीर्भवति । “सूभवत्योर्मिडि” [५१२।८६] इत्यनुवर्तते । पचामि । पचावः । पच्यामि । पच्यावः । पच्यामः । मिडीति किम् ? धनवान् । केशवः । केशा अस्व सन्ति “केशाद्दो वा” [५।१।३५] इति वः । यजीति किम् ? पचति । अत इति किम् ? चिनुवः । चिनुमः । तपरकरणं किम् ? क्रीणीवः इत्यत्र माभूत् । नन्वीत्वेनात्र भवितव्यम् । नैवम् । क्रीणीथः । क्रीणीतः इत्यत्र सावकाशमीत्वं दीत्वेन बाध्येत । यजीतीभिर्देशादव्यवहितस्य गोरन्तस्य दीत्वम् ।

सुपि ॥५१२।६७॥ अकारान्तस्य गोः यजादौ सुपि दीर्भवति । देवाय । देवाभ्याम् । यजीत्येव । देवस्य । सुपीति सु इत्यतः प्रभृति आ सुपः पकारेण ।

बहौ भल्येत् ॥५१२।६८॥ भलादौ बहौ सुपि परतः अकारान्तस्य गोरेकारादेशो भवति । देवेभ्यः । देवेषु । बहाविति किम् ? देवाभ्याम् । भलीति किम् ? देवानाम् । “नामि” [४।४।३] इति दीत्वम् अग्नीनाम्, वायूनामित्यत्र सावकाशम्, इहासति भल्यग्रहणे परत्वादेत्वं स्यात् । यजीत्यस्य निवृत्त्यर्थं च भल्यग्रहणम् । अन्यथा देवेष्विति न स्यात् । अत इत्येव । अग्निभ्यः । तपरकरणं किम् ? खट्वाभ्यः । सुपीत्येव । पचध्वम् ।

ओसि ॥५१२।६९॥ ओसि च परतः अकारान्तस्य गोरेकारादेशो भवति । देवयोः स्वम् । देवयोर्विधेहि ।

आङि चापः ॥५१२।१००॥ आङि ओसि च परतः आबन्तस्य गोरेकारादेशो भवति । आविति टापुडापोर्ग्रहणम् । विद्यथा । विद्ययोः । बहुराजया । बहुराजयोः । “अनश्च बात्” [३।१।१०] । “बोङ् खे” [३।१।११] इति डाप् । आङिति टारूपस्य ग्रहणं पूर्वाचार्यसञ्ज्ञानिर्देशेन । आप इति पिदग्रहणं किम् ? कीलालपा नरेण । कीलालपोः । विच्यामतनिवृत्ते “आतो धोः” [४।४।१२७] इति खम् । अथातिखट्वेनेत्यत्र “ङीगोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रादेशे कृते स्थानिवद्भावादेत्वं कस्मान्न भवति ? उच्यते “हृङ्ङ्याप” [४।३।५६] इति सूत्रे हृङ्ङ्यापो घ इति योगविभागस्तस्यार्थो ङ्यापोर्यत्कार्यं तद्दीत्वभाजोरेव । ननु दीत्वमपि स्मानिन्द्रान्द्रविध्यति । “ङ्यापोर्दीत्वं न स्थानिवत्” [वा०] इति प्रतिषेधः ।

कौ ॥५१२।१०१॥ कौ च परतः आप एत्वं भवति । हे कन्ये । हे बहुराजे । “केरेङ्” [४।३।५७] इति सोः खम् ।

प्रोऽम्भार्थम्बोः ॥५१२।१०२॥ अम्भार्थवान्चकानां मुसञ्ज्ञस्य च प्रो भवति कौ परतः । अम्भार्थाः मातृशब्दपर्यायाः । हे अम्ब । हे अम्बक । हे अम्बल । हे अत्त । मुसञ्ज्ञकस्य । हे गौरि । हे वामोर । “यङ्गे वा” [५।२।६२] इत्यतः मण्डूक्युत्या बहुलार्थो वाशब्दोऽत्र वर्तते । तेन बहुचोऽम्भार्थस्य प्रो न भवति । हे अम्बाले । हे अम्बिके । हे अम्बाडे । “तलन्तस्य ङिन्योरुभयम्” [वा०] । देवते भक्तिः । देवतायां भक्तिः । हे देवत । हे देवते । छान्दसमेतदिति केचित् । “बसे कौ मातुरदन्तत्वं पुत्रश्लाघायाम्” [वा०] । गार्गी माता अस्थेति श्लाघते । हे गार्गीमात । श्लाघाया अन्यत्र । हे गार्गीमातृक । “जातिश्च” [४।३।१५३] इति न पुं वद्भावः ।

प्रस्यैप् ॥५१२।१०३॥ प्रान्तस्य गोरेव् भवति कौ परतः । हे मुने । हे साधो । “अन्तेऽलः” [१।१।४६] इति न्यायादनन्त्यस्य न भवति । हे युव (बुध) । हे नदि । हे वधु । इत्यत्र प्रादेशवचनसामर्थ्यां देव् न भवति ।

जसि ॥५१२।१०४॥ जसि परतः प्रान्तस्य सोरेव् भवति । मुनयः । साधवः । “अन्तेऽलः” [१।१।४६] इति परिभाषया अनन्तस्येको न भवति बुधा इति ।

ऋतो ङिधे ॥५१२।१०५॥ ऋकारान्तस्य गोः ङौ धसञ्ज्ञके च परतः एव् भवति । मातरि । पितरि । कर्तरि । धे । मातरौ । मातरः । मातरम् । मातरौ । पितरः । तपरकरणमसन्देहार्थम् । कृरिति ऋकारान्तः सम्भवति तन्निवृत्त्यर्थम् ।

सोडिति ॥५१२।१०६॥ स्वन्तस्य गोडिति एव् भवति । मुनये । साधवे । मुनेः । साधोः । सोरिति किम् ? सख्ये । पत्ये । असखीति पर्युदासात् “पतिः से” [१।२।६८] इति नियमाच्च सुसञ्ज्ञा नास्ति । डिति किम् ? मुनिभ्याम् । सुपीत्येव । पट्वी । कुस्तः । डीतसोडितोरपि मा भूत् । ङकारश्चासाविच्च ङित् तस्मिन् ङित्यव्यवहितस्य कार्यम् । तेन वृद्ध्यै धेन्वै । इत्येप् (न) व्यवधाने । आङि औङि च न भवति । मत्या । मती । इति ।

अणु मोः ॥५१२।१०७॥ भ्वन्ताद्गोः परस्य डितोऽडागमो भवति । मोरित्यकृतार्थः कानिर्देशो डित्तीत्यस्य तां प्रकल्पयति । कुमार्यै । वामोर्वै । कुमार्याः । वामोर्वाः । परेण सह “अटश्च” [४।३।७८] इत्यैव वचनात् “एष्यतोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपं न भवति ।

याडापः ॥५१२।१०८॥ आब्रन्तादुत्तरस्य डितो याडागमो भवति । विद्यायै । बहुराजायै । विद्यायाः । “एच्चैप्” [४।३।७६] “स्वेको दीः” [४।३।८८] इति दीत्वं वा । इयावृग्रहणेन दीत्वं न स्थानिवदिति । अतिखट्वाय । पुनर्दीत्वे लान्दणिकत्वम् ।

सर्वनाम्नः स्याद् प्रश्च ॥५१२।१०९॥ आब्रन्तात् सर्वनाम्नः परस्य डितः स्याडागमो भवति प्रश्च भवत्यापः । सर्वस्यै । यस्यै । तस्यै । कस्यै । सर्वस्याः । यस्याः । तस्याः । एच्चैप् स्वेको दीत्वे । आप इत्येव । भवत्यै । भवत्याः ।

डेराम् म्वास्नीम्यः ॥५१२।११०॥ “प्रे खिप्सायाम्” [२।३।४२] इति निर्देशात् डेरिति डिवचनस्य ग्रहणम् । डेरामादेशो भवति भ्वन्तादाब्रन्तान्नी इत्येतस्माच्च परस्य । कुमार्याम् । वामोर्वाम् । विद्यायाम् । बहुराजायाम् । ग्रामण्याम् । सेनान्याम् । “सस्त्व्विष” [२।२।५६] इत्यादिना क्विप् । “अग्रग्रामाभ्यां नियो णत्वम्” [वा०] । “एगिवाक्चादुडोऽसुधियः” [४।४।७८] इति यत्वम् । अथ डेरामः नुट्कस्मान्न भवति । परत्वाद्डादिभिरागमैर्भवितव्यम् । कृतेष्वपि “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [प०] । इयापोर्दीत्वभाजोः कार्यमुक्तम्” (इथाप) “ग्रहणे दीत्वं न स्थानिवत्” इति च । तेन निष्कौशाम्यौ । अतिखट्वे निषेहि ।

इदुद्ग्रयाम् ॥५१२।१११॥ इकारोकाराभ्यां मुसञ्जकाभ्यां परस्य डेराम् भवति । बुद्ग्रयाम् । धेन्वाम् । ननु पूर्वैणैवामुसिद्धोऽपार्थकमिदम् । “औदच्च सोः” [५।२।११२] इत्यौत्वं स्यात् तच्चाविशेषेण वक्ष्यति । मुग्रहणमिहानुवर्तते तेनेदुत्तौ विशेष्येते ।

औदच्च सोः ॥५१२।११२॥ असुसञ्जकाभ्यामिदुद्ग्रयाम् परस्य डेरौकारादेशो भवति सोश्चाकारादेशः । सख्यौ । पत्यौ । सोः सुनौ । साधौ । प्रधानशिष्टमिदुद्ग्रयामौत्वम् । अन्वाचयशिष्टं सोरत्वम् । यथा भिद्वां चर गां चानय । गोनयनम् । शास्त्रेऽपि “कतुः क्यङ् सखं विभाषा” [२।१।६] इति अन्वाचयशिष्टं सखम् । तपरकरणां मुखसुखार्थम् । अत्वे कृते स्त्रियां टापो निवृत्त्यर्थमित्यप्यन्ये । टापि को दोप इति चेत्, औकारस्य डिग्रहणेन ग्रहणादामादेशयाडागमौ स्याताम् । तदसत् । प्रागेव सुबुत्पत्तेः स्त्रीत्येन भाव्यम् अन्यथा मातेत्यत्र नान्तल्लक्षणो डीब्विधिः स्यात् ।

आडो नाऽस्त्रियाम् ॥५१२।११३॥ सोरिति वर्तमानमर्थात् काविभक्त्यन्तं सम्पद्यते । सोरुत्तरस्याडः ना इत्यादेशो भवत्यस्त्रियाम् । सुनिना । साधुना । सोरित्येव । सख्या । पत्या । अस्त्रियामिति किम् ? बुद्ग्रया । धेन्वा । आडो ना पुंसीति कर्तव्यम् । त्रपुणा । जानुनेत्यादि । “सुपीकोऽचि” [५।१।५२] इति नुमैव सिद्धम् । नपुंसके असुना कुलेनेति न सिद्ध्येत् । अन्वाचयशिष्टं न स्यात् । अस्त्रियामित्युच्यमाने नपुंसकेऽपि नाभावो भवति । ततश्च “न सु टाविधौ” [५।३।२६] इति नाभावे मुभावस्य नासिद्धत्वम् ।

सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्टः ॥५१२।११४॥ सूत्रेऽस्मिन् जैनेन्द्रेषु यो विधिः सुपि च विधिरिष्टो भवति । सूत्रायवेषु सूत्रशब्दो द्रष्टव्यः । उदाहरणम्—“स्त्रीगोर्नीचः” [१।१।८] स्त्रीगूनामिति प्राप्तं सुब्विधिरयम् । “मिडैकार्थे वाः” [१।४।५४] । हल्ङ्यादिना सुखं प्राप्तम् । सुपो विधिरयम् । अथ विति हलन्तात् कथं टापु । अयमपि सुपो विधिरिष्टः । आ कपः पकारेण सुपो ग्रहणात् ।

शौ कच्युडः प्रोऽशास्वकख्युदितः ॥५१२।११५॥ शौ परतः कचपरे गोरुडः भवति शासु अक्खि ऋदित् इत्येतान् वर्जयित्वा । अचीकरत् । अजीहरत् । अत्र “शिश्निद्रुसु” [२।१।४३] इत्यादिना कचि कृते द्विर्वचनोऽप्रादेशयोः प्राप्तयोः परत्वाद्गुडः प्रादेशः । तत्र कृते “ओः पुयण्ये” [५।२।१७८] इति

ज्ञापकात् णौ कृतं स्थानिवद्भवति । अथ वा “द्वित्वेऽचि” [१११५६] इति स्थानिवद्भावः । कृद्शब्दयो-
द्वित्वम् । “वौ कच्यनङ्खे सन्वत्” [५२११६०] इति सन्वद्भावेनेत्वम् । “घेर्दीः” [५२११५१] इति दीत्वमेव-
अलीलवत् । अपीपवत् । “ओः पुयण्ये” [५२११७८] इति उकारस्येत्वम् । अथवा ओणु अपनयने
इत्यस्य प्रतिषेधार्थम् । ऋदित्करणं ज्ञापकं द्वित्वात्पूर्वं प्रादेश इति । अन्यथा मा ओणिणदित्यत्र द्वित्वे कृते परेण
रूपेण व्यवधानात् प्रादेशस्याप्राप्तिः । अत एव मा भवानटिटत् अत्र प्रादेशे सति “अचः” [४१३२] इति
द्वित्वम् । णाविति किम् ? कच्युडः प्र इत्युच्यमाने अलीलवदित्यत्र प्रादेशो वाच्यः । वाधित्वा नित्यत्वेन णोः खं च वाधित्वा वकारस्य स्यात् । इह चापीपचदपीपठदिति अनुङ्भूतत्वात् प्रो न स्यात् ।
किम् ? कारयति । हारयति । ननु मितां णौ प्रादेशवचनं ज्ञापकमन्यत्र प्रादेशाभावस्य । यद्येवमचीकरदित्यादावपि
न स्यात् । अथ प्रवचनाद् भवति । कारयतीत्यादावपि स्यात्तद्विशेषहेत्वभावात् । उडः इति किम् ? अचकाङ्क्षत् ।
अनुङ् आकारस्य मा भूत् । अशास्वकवृद्धि इति किम् ? अशाशासत् । परस्य थेरभावान्न सन्वद्भावः ।
अकः खम् अक्वम् अक्वमस्यास्तीति अक्वी तस्य नेति । राजानमत्याख्यत् अत्यरराजत् । “तत्करोति
तदाचष्टे” इति णिच् । यत्र केवलस्याचः खं तत्र “परेऽचः पूर्वविधौ” [१११५७] इति स्थानिवद्भावः ।
हलचोश्चायमादेशः । तदर्थमकिञ्चित्प्रतिषेधः । ननु च अनकारिदं खं कथमनकः खम् । यदत्राकः खं
तदाश्रयः प्रतिषेधः । स्थानिवद्भावास्तु नास्याश्रयः । ताधिवारस्तत्रानुवर्तते । तानिर्दिष्टस्याचः स्थानिवद्भावो
न समुदायरूपेण टिग्नस्य । ऋदिन् । अडुटौकत् । अतुत्रौकत् । इह कथं एयन्ताणिणचि प्रादेशः । वादितवन्तं
प्रयोजितवान् अवीवद्वीणां परिवादकेन । णौ णिणखस्य स्थानिवद्भावादानुङो न स्यात् । णावित्यत्र
जातिग्रहणाददोषः ।

भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडो वा ॥५२१११६॥ भ्राज भास भाष दीप जीव मील पीड
इत्येतेषां कच्यरे णौ उडः वा प्रो भवति । अबभ्राजत् । अविभ्रजत् । अबभासत् । अबीमसत् । अबभाषत् ।
अवीमपत् । अदिदीपत् । अदीदिपत् । अजिजीवत् । अजीजिवत् । अमीमिलत् । अमिमिलत् । अपि-
पीडत् । अपीपिडत् । पूर्वसूत्रेण प्रादेशे प्राते विकल्पः । यदा प्रः तदा पूर्ववत्सन्वद्भावेनेत्वं घेर्दीत्वम् ।
वेति योगविभागात् कणादीनां विकल्पः । अचकाणत् । अचीकणत् । अबभाणत् । अबीमणत् । इत्यादि ।
भ्राजग्रहणं किम् ? यावता फणादिषु भ्राज इत्यनृकारेदस्ति तस्य सिद्धः प्रः । एजृ भेजृ भ्राजृ
दीप्तावस्य ऋदितो नेति सिद्धमुभयम् । एवं तर्हि ज्ञापकार्थम् । अन्यत्र “यजराजभ्राजच्छ्रुतां षः”
[५३१५३] इत्यादौ भ्राजग्रहणेन राजिसहचरितस्य अनृदितो ग्रहणम् । ऋदितो भ्रागिति भवति ।
भास ऋदित्करणमनर्थकम्

खं पिबश्चस्येत् ॥५२१११७॥ पिबतेरुडः णौ कच्यरे खं भवति चस्य च ईकारादेशः ।
अपीप्यत् । अपीप्यताम् । अपीप्यन् । उडः खे कृते “द्वित्वेऽचि” [१११५६] इति स्थानिवद्भावाद्वित्वम् ।
पिब इति शब्दिकरणान्तो विकृतनिर्देशः । पिबतेरेकदेशो यङुदन्तनिवृत्त्यर्थः । अपपायत् । घेरभावात्सन्वद्भावो
न भवति । पातेरुक्चिकरणत्वात् “पै ओवै शोषणे” इत्यस्य च लान्दणिकत्वादेव निवृत्तिः ।

स्थ इत् ॥५२१११८॥ तिष्ठतेः कच्यरे णावुड इकारादेशो भवति । अतिष्ठित् । अतिष्ठित्पताम् ।
अतिष्ठिषन् । “लुङ्लिटोः प्रतिपदोक्तानि” इत्यादि वचनाद्यङुदन्तस्य न भवति । अततास्थपत् । ता स्था
इति स्थिते णिचि पुक् कचि द्वित्वं घेरभावात् सन्वद्भावो नास्ति ।

ओ वा ॥५२१११९॥ जिघ्रतेः कच्यरे णावुड इकारादेशो भवति वा । अजिघ्रिपत् । अजिघ्रिपताम् ।
अजिघ्रिषन् । अजिघ्रपत् । अजिघ्रपताम् । अजिघ्रपन् । चस्य सन्वद्भावेनेत्वम् । अत्रापि यङुदन्तस्य न भवति ।
अजजाघ्रपत् । उभयोर्विकल्पयोर्मध्ये योगा नित्या इति पूर्वं प्रापवादौ नित्यौ ।

उर्ध्वत् ॥५१२१२०॥ कच्यरे णौ ऋवर्णस्य उडः स्थाने ऋकारादेशो भवति वा । अनवकाशत्वादन्त-
रङ्गाणाम् इररामपवादः । अचीकृतत् । अवीवृतत् । अमीमृजत् । पक्षे इर् । अचकीर्तत् । अर् अचवर्तत् ।
आर । अममार्जत् । “उडः” [५११७५] इति ऋकारस्येत्वम् । “व्युडः” [५१२०३] एप् । “मृजेरैप्”
[५१२११] । ऋकारादेशस्य “रन्तोऽणुः” [१११४८] इति रन्तत्वं भवति । “अणुदित्स्वस्या-” [१११७२] इतीमं
ग्राहकायां मुक्त्वा ऋकारस्य पूर्वण राकारेणेति व्याख्यानात् ।

देडो दिगि लिटि ॥५१२१२१॥ देडो दिग्यादेशो भवति लिटि परतः । वेति निवृत्तम् । अवदिग्ये ।
अवदिग्याते । अवदिग्यरे । चस्येत्यनुवर्तते । वचनाद्द्वित्वे कृते चस्य देडश्च यथासङ्ख्यं दिगी आदेशौ भवतः ।
“प्रेगिवाक्चादुडोऽनुधियः” [४१४७८] इति यणादेशः सिद्धोऽन्यथा हीयादेशः स्यात् ।

ऋतः स्फादेरेप् ॥५१२१२२॥ ऋकारान्तस्य गोः स्फादेरेप् भवति लिटि परतः । सस्मरतुः । सस्मरुः ।
दधरतुः । दधरुः । वचनात्प्राग्विद्वत्त्वात्स्फादेरिति विशेषणम् । अन्यथा स्फादित्वासम्भवः । प्रतिषेधविषये लिटीद-
मारभ्यते । सस्मारेत्यादौ ऐच् भवति पूर्वविप्रतिषेधेन । ऋत इति किम् ? चिद्धिपतुः । चिश्चिपुः । तपरकरणा-
मसन्देहार्थम् । ऋकारास्याप्युत्तरसूत्रेण विधानात् । स्फादेरिति किम् ? चक्रतुः । चक्रुः । लिटीत्येव । स्मृतः ।
स्मृतवान् । ननु संचस्करतुः । संचस्करित्यत्र द्विपदाश्रयस्य सुयो बहिरङ्गलक्षणास्यासिद्धत्वात्कथमेप् । नैप दोषः ।
“पूर्वं धुगिना युज्यते पश्चात्साधनवाचिना त्येन” [प०] इत्यस्मिन् दर्शनेऽन्तरङ्गे सुटि कृते पश्चादेप् । अतएव
“स्फादतोऽसुटः” [५११६१] । “स्फाद्यत्पौरस्कुरेप्” [५१२१३८] इति प्रतिषेध उपपन्नो भवति ।

ऋच्छत्यताम् ॥५१२१२३॥ ऋच्छत ऋइत्येतस्य ऋकारान्तानां च लिटि एच् भवति । आनच्छुः ।
आनच्छुः । एप् द्वित्वम् । “आद्यतः” [५१२१७०] इति दीत्वम् । “ततो नुट्” [५१२१७१]
इति नुट् । ऋ । आरतुः । आरुः । “अश्नोतेः” [५१२१७२] इति नियमान्नुण् न भवति । ऋत् । विचकरतु
विचकरुः । निजगरतुः । निजगरुः । वितस्तरतुः । वितस्तरुः । ऋच्छेरन्तरङ्गत्वात् “छे” [४१३६१] इति
तुकि कृते सर्वत्राप्रातः ऋतां तु लिटि किति प्रतिषिद्ध एबिबधीयते । निजगारेत्यादात्रैप् पूर्वनिर्णयेन ।

शृष्ट्रां प्रो वा ॥५१२१२४॥ शृ ट् पृ इत्येषां लिटि वा प्रो भवति । विशश्रुतुः । विशश्रुः । पक्षे
पूर्वणैप् । विशशरतुः । विशशरुः । विदद्रतुः । विदद्रुः । विददरतुः । विददरुः । निपप्रतुः । निपप्रुः । निप-
परतुः । निपपरुः । प्रादेशवचनादित्बोत्वे न भवतः । ये तु आ पाके, द्रा कुत्सायां गतौ, द्रा पूरणे इत्येतेषामने-
कार्थत्वात् पक्षे प्रयोगादनर्थकमिदमिति मन्यन्ते तेषां प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् ।

केऽणः ॥५१२१२५॥ के परतोऽणः प्रो भवति । नदिका । कुमारिका । वामोरुका । कुत्साद्यर्थविव-
क्षायाम् “एवात्कः” [४१११२६] इति कः । “स्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गसङ्घे अनुवर्तन्ते” [प०] इति टाप् । क
इति साचकनिर्देशात्प्रहणम् । वर्णग्रहणे तदादिविधिः स्यात् । ततश्च नदीकल्पः परीवाहः । कुमारी काम्यतीत्यत्रापि
स्यात् । अण इति किम् ? गोका । नौका । पूर्वण राकारेणाण् व्याख्यातः । राका काक इत्यादिषु “उणादयो
बहुलम्” [२१२१६७] इति न भवति । “कृदाधारार्थिकलिभ्यः कः” [उ० सू०] । “इण्भीकापाशङ्गतिमर्चिभ्यः
कः” [उ० सू०] इति कायतेः कः । “न कपि” [५१२११६] इति प्रतिषेधादिहाननुबन्धकपरिभाषा नाश्रीयते ।
तेन निष्वाहकर्षां जात “ओदेशे ङञ्” [३१२१६५] तदादेशे के सानुबन्धकेऽपि प्रादेशः सिद्धो भवति । नैषाह-
कर्षुकः इति ।

न कपि ॥५१२१२६॥ कपि परतोऽणः प्रो न भवति । बहुकुमारीकः । बहुवामोरुकः । “ऋन्मोः”
[४१२१५३] इति कप् सान्तः । खार्या क्रीतं खारीकम् । काकणीकम् । “खारीकाकणीभ्यां कप्” [३१४३०] ।

वाऽऽपः ॥५१२१२७॥ कपि परतः आनन्तस्य वा प्रो भवति । बहुखट्वकः । बहुखट्वाकः । बहुदा-
मकः । बहुदामाकः । “शेषाद्वा” [४१२१५४] इति कप् ।

श्व्यस्पद्मचोऽयुक् पुमुमोऽङि ॥५१२१२८॥ शिव अस्ति पति वचि इत्येपामङि परतः अकार थुक पुम् उम् इत्येते यथासङ्ख्ये भवन्ति । अकार आदेशः थुगादय आगमाः । अश्वत् । “जृशिव” [२११५०] इत्यादिनाङ् । “अन्तेऽञः” [१११४६] स्थाने अकारस्तस्य पररूपम् । आस्थत् । आस्थताम् । आस्थन् । “वक्त्यसुख्यातेरङ्” [२११४५] । “अटश्च” [४१३७८] इत्यैप् । अपतत् । अपतताम् । अपतन् । “द्युत्पुषा” [२११४८] आदिनाऽङ् । अवोचत् । अवोचताम् । अवोचन् । “आदेप्” [४१३७५] ।

दृशुरेप् ॥५१२१२९॥ दृशि इत्येतस्य गोः ऋवर्णान्तानां च अङि परतः एव् भवति । अदर्शत् । अदर्शताम् । अदर्शन् । “वेरितः” [२११४६] इत्युङ् । आरत् । असरत् । “द्युत्पुषा” [२११४८] आदिना अङ् । अजरत् । अजरताम् । अजरन् । “जृशिव” [२११५०] इत्यादिनाङ् । जृषः पित्करणमङ्गर्थम् । “जराया वा” [५११९६०] इति वचनं शापकमुरिति ऋवर्णनिर्देशस्य ।

शीङो गे ॥५१२१३०॥ शीङो गे परतः एव् भवति । शेते । शयाते । शेरते । ङिति गे विधानमिदम् । शयावहै । शयामहै इत्यत्र सिद्धत्वात् । ग इति किम् ? शिश्ये । सानुबन्धकनिर्देशो युङ्बन्तनिवृत्त्यर्थः । शशीतः । शेश्यति ।

यि किङित्ययङ् ॥५१२१३१॥ यकारादौ किङिति त्ये परतः शीङः अयङ्ङादेशो भवति । श्य्यते । शाशय्यते । यङि परत्वेन च द्वित्वात्प्रागयङादेशः । ङकारो “ङित्” [१११५०] इत्यन्तादेशार्थः । अकारः उच्चारणार्थः । शय्या । “समजनिषद्” [२१३८१] इत्यादिना क्यप् । प्रशय्य । क्वान्तम् । यीति किम् ? शिश्ये । किङितीति किम् ? शोयम् ।

गेरूहः प्रः ॥५१२१३२॥ गेः परस्य ऊहतेः प्रो भवति यकारादौ किङिति परतः । अभ्युह्यते । समुह्यते । “अचद्च” [१११९२] इत्युपपस्थानादूहेरचः प्रादेशः । गेरिति किम् ? ऊहते । ऊह इति किम् ? समीह्यते । यीत्येव । समूहितम् । किङित्येव । अभ्यूह्यः श्लोकः । “केऽणः” [५१२१२५] इत्येऽणःङ्ङान्तान्तरान्ते । तेन आ ऊह्यते ओह्यते । समोह्यते इत्यत्र न भवति । प्रोह्यत इत्येकादेशे कृते व्यपवर्गाभावान्न भवति । तद्द्वावेन व्यपवर्ग इति चेत् “उभयत आश्रये न तद्द्वावः” [५०] इति गेः परत्वं नास्ति ।

लियङेतेः ॥५१२१३३॥ एतेर्गेऽन्तरस्य लिङि यकारादौ किङिति प्रो भवति । उदियात् । समियात् । आशिषि लिङ् । यासुट् । “स्फादेः स्कोऽन्ते च” [५१३४६] इति सखम् । “दीरकृद्गे” [५१२१३४] इति दीत्वम् । तस्यानेन प्रः । कृति गे च दीत्वं न सम्भवति । न गे उदाहरणम् । अभियादित्यत्र स्वेको दीत्वे कृते प्रादेशः । गेरित्येव । ईयात् । अण इत्येव । आ ईयात् एयात् । समेयात् । तिपा निर्देशो असन्देहार्थः ।

दीरकृद्गे ॥५१२१३४॥ अकृद्यकारे अण्यकारे च किङिति गोर्दीर्भवति । “अचश्च” [१११९२] इत्युपस्थानादच्चा विशेषणेन तदन्तविधिः । पण्डितायते । चीयते । चेचीयते । स्तूयते । तोस्तूयते । चीयात् । स्तूयात् । आशिषि लिङ् । अकृदिति किम् ? प्रकृत्य । प्रस्तुत्य । परत्वादीत्वे तुग्न स्यात् । अग इति किम् ? चिनुयात् । स्तूयात् ।

च्वौ ॥५१२१३५॥ च्वौ च त्ये परतः गोर्दीर्भवति । शुचीभवति । पट्टुभवति । “कृभ्वस्तियोगेऽतत्तस्वे सम्पत्तरि च्विः” [४१२५५] इति च्विः । अवयवनिवृत्तिः । “त्यख्ये त्याश्रयम्” [१११६३] इत्यजन्तस्य दीत्वम् ।

रीङ्गतः ॥५१२१३६॥ ऋकारान्तस्य गोः च्वौ अकृद्यकारे अण्यकारे च परतः रीङादेशो भवति । मात्रीभवति । पित्रीभवति । मात्रीयति । पित्रीयति । “स्वेपः क्यच्” [२११६] । मात्रीयते । पित्रीयते । “कृत्तुः क्यङ् सखं विभाषा” [२११६] इति क्यङ् । चेक्रीयते । जेह्रीयते । किङितीत्येतदिह निवृत्तम् । तेन पित्र्यम् । पितुरागतम् “पितुर्यश्च” [३१३५३] ये रीङादेशः सन्निपातलक्षणस्यानित्यत्वात् “अस्य ङयां च” [४११३६]

इति खम् । उत्तरसूत्रे रिडिहैव कर्त्तव्यः । तस्य दीत्वेन सिद्धमिति चेत् ; “गुकार्यै निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्” [प०] इति दीत्वं न स्यात् । ऋत इति तपरकरणं किम् ? कीर्यते । अन्यथा कीर्णमित्यादौ सावकाशम् ऋत इत्वं रीडा बाध्येत । उत्तरार्थमकृद्गो यि इत्येतदनुवर्तत इति ज्ञापनार्थं तपरकरणम् । अन्यथा अनन्तरे च्वावेवायं विधिः स्यात् । न च मृदन्त ऋकारो निवर्त्योऽस्तीत्यनर्थकं भवेत् ।

रिड्यग्लिङ्शे ॥५।२।१३७॥ ऋकारान्तस्य गोर्षक् लिङ् श इत्येतेषु परतः रिडादेशो भवति । यीति अकृद् इति चानुवर्तमानं सम्भवाद्व्यभिचाराच्च लिङ् एव विशेषणम् । यकारादावगो द्रष्टव्यम् । यक्-क्रियते । ह्रियते । लिट्-क्रियात् । ह्रियात् । यीत्येव । कृषीष्ट । हृषीष्ट । अग इत्येव । विभ्रयात् । विध्यादिलिङ्यम् । शो-आद्रियते । “शुश्रुवाम्” [४।४।७२] इति यादेशः । ऋत इति तपरकरणं किम् ? किरति । गिरति । रीडिति वर्तमाने रिङ्ग्रहणं पुनर्दीत्वनिवृत्त्यर्थम् ।

स्फाद्यत्योरस्करेप् ॥५।२।१३८॥ स्फादेरर्त्तेश्च ऋतो यकि लिङि यकारादावगो च परतः एन्भवति स्फुशब्दं वर्जयित्वा । श इत्यसम्भवान्नोक्तम् । स्मर्यते । स्मर्यात् । ध्वर्यते । ध्वर्यात् । अर्यते । अर्यात् । यासुटः “स्फादेः स्कोऽन्ते च” [५।३।४६] इति सखम् । यीत्येव । स्मृषीष्ट । अग इत्येव । इय्यात् । विध्यादिलिङ् । शप उप् । द्वित्वम् । “उरः” [५।२।१६६] इत्यत्वम् । “प्रोः” [५।२।१७६] इति चस्येत्वम् । “चस्यास्वे” [४।४।७३] इतीय् । अस्कुरिति किम् ? संस्क्रियते । “पूर्वं धुर्गिना युज्यते पश्चात् साधनवाचिना ल्येन” [प०] इति पूर्वं मुटि सति प्रान्नोति । अतिरिति ऋच्छतीत्योर्ग्रहणम् ।

यङि ॥५।२।१३९॥ यङि च परतः स्फादेरर्त्तेश्च ऋत एन् भवति । सास्मर्यते । दाध्वर्यते । अरार्यते । अर्त्तेश्च एप् । “अचः” [४।३।२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । “हन्तोऽनादेः” [५।२।१६१] इति यखम् । “दीरकृद् गो” [५।२।१३४] इति दीत्वम् । “हन्तेहिंसायां धनीभावो वक्तव्यः” [वा०] । जेघ्नीयते । हिंसायामिति किम् ? गतौ जङ्घन्यते ।

ई घ्राध्मोः ॥५।२।१४०॥ घ्रा ध्मा इत्येतयोर्षङि परतः ईकारादेशो भवति । जेघ्नीयते । देघ्नीयते । नित्यत्वेन परत्वेन च प्राग् द्वित्वादीकारः । ईकारस्य दीत्वं किम् ? गुकार्यत्वात्पुनर्न स्यात् । उत्तरार्थञ्च ।

अस्य च्वौ ॥५।२।१४१॥ अर्णान्तस्य गोः च्वौ परत ईकारादेशो भवति । शुक्लीभवति । मालीभवति । “च्वौ” [५।२।१३५] इति दीत्वस्यायमपवादः ।

क्यचि ॥५।२।१४२॥ क्यचि परतः अर्णान्तस्य गोरीकारादेशो भवति । पटीयति । मालीयति । “दीरकृद्गो” [५।२।१३४] इति दीत्वं प्राप्तम् । पृथक् सूत्रमुत्तरार्थम् ।

लुत्तृङ्गर्धेऽशनायोदन्यधनायाः ॥५।२।१४३॥ लुत् तृङ् गर्ध इत्येतेष्वर्थेषु अशनाय उदन्य धनाय इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । अशनायतीत्यात्वं क्यचि निपात्यते लुच्चेद्गम्यते । अशनीयत्यन्यत्र । उदन्यतीत्यत्र उदकस्योदभावो निपात्यते तृच्चेत् । उदकीयतीत्यन्यत्र । धनायतीत्यात्वं निपात्यते गर्द्धश्चेत् । धनीयतीत्यन्यत्र ।

द्यतिस्यतिमास्थां ति कित्तीत् ॥५।२।१४४॥ द्यति स्यति मा स्था इत्येतेषां तकारादौ किति परत इकारादेशो भवति । निर्दितः । निर्दितवान् । अवसितः । अवसितवान् । मितः । मितवान् । “गामादाग्रह्येष्वविशेषः” [प०] इति मामाङ्मेङ्गं ग्रहणम् । स्थितः । स्थितवान् । आद्यस्य “दो दङ्गोः” [५।२।१४८] इति दङ्गावे “भुमास्था” [४।४।६५] आदिना सूत्रेणान्येषामीवे च प्राप्ते इत्ववचनम् । तीति किम् ? दीयते । स्थीयते । कित्तीति किम् ? अवदाता । अवसाता । द्यतिस्यत्योस्तिपा निर्देशो यद्बुबन्तनिवृत्त्यर्थः । निर्दादत्तः । निर्दादत्तवान् । अवसासीतः । अवसासीतवान् । दङ्गाव ईत्वं च भवति । तपरकरणं सुवार्थम् ।

शाच्छोर्विभाषा ॥५।२।१४५॥ शा छा इत्येतयोर्विभाषया इकारादेशो भवति तकारादौ किति परतः । निशितः । निशितवान् । निशातः । निशातवान् । अपच्छितः । अपच्छितवान् । अवच्छातः । अपच्छातवान् ।

व्यवस्थितविभाषेयम् । तेन श्यतेरित्वं व्रतविषये नित्यमिष्यते । संशितव्रतः साधुः । संशितं यत्नेन सम्यक्सम्पादितं व्रतं यस्य येन वा स एवमुक्तः । संशितः साधुरित्यपि भवति । यः प्रकरणादिना व्रते यत्नवान् गम्यते ।

धाञो हि ॥५।२।१४६॥ धाञः हिरित्ययमादेशो भवति तकारादौ किति परतः । हितः । हितवान् । अनेकाल्वात् सर्वस्य स्थाने “मुमास्था” [४।४।६५] आदिनेत्वे प्राते हिरादेशः । अनुबन्धनिर्देशो यडुबन्तनिवृत्त्यर्थः । देधीतः । देधीतवान् । धेटो लाक्षणिकत्वान्निवृत्तिः ।

हाकः कित्च ॥५।२।१४७॥ हाकः क्त्वात्वे परतः हिरादेशो भवति । हित्वा गतः । हित्वा गच्छति कर्माणि । मोक्षम् । पूर्ववदीत्वे प्राते हिरादेशः । अनुबन्धनिर्देशस्तु हाडो निवृत्त्यर्थः । यडुबन्तनिवृत्त्यर्थश्च । ईत्वमपि यडुबन्तस्य नेष्यते । क्वीति सौत्रो निर्देशः ।

दो दङ्गो ॥५।२।१४८॥ दा इत्येतस्य भुसञ्चकस्य दद् इत्ययमादेशो भवति तकारादौ किति परतः । दत्तः । दत्तवान् । दत्त्वा । दत्तिः । द इति किम् ? धीतः । धीतवान् । धेट इदं रूपम् । धाञो हिरादेश उक्तः । भोरिति किम् ? दातम् बर्हिः । ते आदेशो मुदत्तमित्यत्र “दस्ति” [४।३।२२५] इत्यनेन इगन्तस्य गेदीत्वं स्यात् । दान्तो “दान्तस्य तो नः” [५।३।५६] इति नत्वम् । धान्ते “तथोर्धोऽधः” [५।३।५६] इति ऋषः परस्य धत्वम् । थान्ते नास्ति दोषः । तान्तो वास्तु । “दस्ति” [४।३।२२५] इत्यत्र द्वौ पक्षौ । दा इत्येतस्मिन्तकारादौ तकारान्ते वा दीत्वम् । तत्र तकारादौ नास्ति दोषः । थान्तपक्षे “खरि” [५।४।१३०] इति चत्वम् ।

गेस्तोऽचः ॥५।२।१४९॥ अजन्ताद्गोरुत्तरस्य दा इत्येतस्य भुसञ्चकस्य त इत्ययमादेशो भवति तकारादौ किति परतः । नीत्तम् । वीत्तम् । परीत्तम् । प्रत्तम् । अवत्तम् । “अन्तेऽलः” [१।१।४६] इत्याकारस्य तकारः । अकार उच्चारणः । दकारस्य चत्वम् । गेरिति कानिर्देशात् “परस्यादेः” [१।१।५१] इति चेददोषोऽयम् । “अस्य च्वौ” [५।२।१४९] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या अवर्यास्येति वर्तते । तेनाकारस्य भविष्यति । द्वितकारको वा निर्देशोऽनेकाल्वात् सर्वस्य स्थाने भवति । गेरिति किम् ? दधि दत्तम् । अच इति किम् ? संदत्तम् । द इत्येव । निधीता गौर्वस्तेन । भोरित्येव । अवदात्तं मुखम् । यतेरित्वात्तो भवति परत्वात् । अवत्तः । अवत्तवान् । ननु च—

अवदत्तं विदत्तञ्च प्रदत्तं चादिकर्मणि ।

सुदत्तमनुदत्तञ्च निदत्तमिति चेष्यते ॥

तत्कथं सिद्ध्यति । अत्रादीनां गम्यमानक्रियान्तरविषयत्वेन ददाति प्रत्यगित्वात् सिद्धम् । “यत्क्रिया-युक्तस्तं प्रति गीतिसङ्ज्ञको भवति” इति वचनात् । अवहीनमवगतं वा दत्तमवदत्तमिति क्रियान्तरद्विपदत्वं योज्यम् । अथ वा “शाच्छोर्विभाषा” [५।२।१४५] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या व्यवस्थितविभाषानुवृत्तेः ।

भ्यपः ॥५।२।१५०॥ भकारादौ परतः अप् इत्यस्य गोः तकारादेशो भवति । अद्भिः । अद्भ्यः । भीति किम् ? अप्सु । द्वितकारकनिर्देशपक्षे तु पूर्वस्यापि तकारस्य जश्त्वम् । अनेकाल्वात् सर्वादेश इति चेन्न । अच इति वर्तते । अचः परस्य भवति । गोरिति विशेषणात्त्वे भादौ सम्प्रत्ययः । तेन पदे न भवति । अब्भारः । अब्भक्षः ।

स्यगो सः ५।२।१५१॥ सकारादावगो परतः सकारान्तस्य गोस्त इत्ययमादेशो भवति । वत्स्यति । अवत्स्यत् । विवत्सति । “अन्तेऽलः” [१।१।४६] इति वा । “निर्दिश्यमानस्यादेशा” [५०] इति वा सकारस्य तत्वम् । द्वितकारकपक्षे अच इति काविभक्त्यन्तमनुवर्त्यम् ? सीति किम् ? प्रवासः । अगो इति

किम् ? आस्ते । वस्ते । स इति किम् ? पद्यति । अशिष्यत इत्यत्र इटः सकारं प्रति भक्त त्वेऽपि सीति वचनान्न भवति । द्विसकारको वास्तीति निर्देशः ।

तासस्त्योः खम् ॥५१२।१५२॥ तासेः अस्तेश्च सकारस्य सकारादौ खं भवति । कर्तासि । कर्तासे । अस्तेः-असि । अग इति निवृत्तमसम्भवात् । तासिर्गे विहितः । अस्तेरप्यगो भूभावेन भवितव्यमिति । व्यतिषे इत्यत्र परत्वात्सखमेकदेशविकृतस्यानन्यात् “शनसः खम्” [४।४।१०१] इत्यखम् । त्यमात्रमेव पदम् । पत्वं प्राप्तम् “नाद्यन्ते” [५।४।७६] इति प्रतिपिद्धम् । “गिप्रादुभ्यां यच्यस्तेः” [५।४।६८] इति । तत्र पदस्येति वर्तते । गिपूर्वस्यास्तेः पदस्य यकारात्परस्य इति षत्वम् ।

रि ॥५१२।१५३॥ रेफादौ त्ये परतः तासस्त्योः सखं भवति । कर्तारौ । कर्तारः । अस्ते रेफादिर्नास्ति ।

एति हः ॥५१२।१५४॥ एकारे परतः तासस्त्योः सकारस्य हकारादेशो भवति । कर्ताहे । लविताहे । अस्तेः । व्यतिहे । तपरत्वमसन्देहार्थम् “इटि ह” इति सूत्रे व्यत्यासीति न स्यात् ।

स्सनि मीमाभुरभलभशकपतपदोऽच इस् ॥५१२।१५५॥ सनि सकारादौ परतः मी मा भु रभ लभ शक पत पद इत्येतेषामचः स्थाने इस् भवति । मी इति मीनातिमिनोत्योर्ग्रहणम् । “हनिङ्गस्यचं सनि” [४।४।१४] इति दीत्वे कृते विशेषाभावात् । मिनाति । प्रमित्सति । मा इति “गामादाग्रहणेऽप्यविशेषः” [५०] इति प्रतिपदोक्तपरिभाषा नापेक्षिता । मित्सति । मेङ् । अपमित्सते । माङ्-मित्सते । भु-दित्सति । धित्सति । आरिप्सते । आलिप्सते । शिञ्जति । पित्सति । प्रपित्सते । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशो मा भूदच इस् विधीयते । द्वित्वम् । “चस्यात्र खम्” [५।२।१६०] इति चखम् । “स्यगे सः” [५।२।१५१] इति सकारस्य तत्वम् । रमादिषु “स्फादेः स्कोन्ते च” [५।३।४६] इति इसः सखम् । सकारादाविति किम् ? पिपतिषति । “तनिपतिदरिद्रां वेट्” [वा०] । सनीति किम् ? दास्यति । सीत्येतद्व्यवहितम् । सनीति द्विसकारको निर्देशः ।

राधोः वधे ॥५१२।१५६॥ राधेः वधेऽर्थे वर्तमानस्य अच इस् भवति सनि सकारादौ । प्रतिरित्सति श्वानम् । वध इति किम् ? आरिरात्सति ।

आपृञ्जप्यधामीत् ॥५१२।१५७॥ आपृञ्जपि ऋञ्ज इत्येतेषामच ईकारादेशो भवति सनि सकारादौ । ईप्सति । ज्ञीप्सति । ईर्त्सति । ज्ञपेः पूर्वनिर्णयेन णिक्वे आद्यच ईत्वम् । सकारादावित्येव । जिञ्जपयिषति । अर्दिधिषति । “सनीवन्त” [५।१।६७] इतीट्त्विकल्पः ।

दम्भ इच्च ॥५१२।१५८॥ दम्भेश्च इकारादेशो भवति ईच्च सनि सकारादौ । धिप्सति । धीप्सति । दम्भेरनिट्पक्षे इकारादेशे कृते “हलन्तात्” [१।१।८४] इत्यत्र हल्ग्रहणस्य जातिवचनत्वात् सनः कित्त्वे “हलुङः कित्त्वनिदितः” [४।४।२३] इति नखं भण्भावः । सकारादावित्येव । दिदम्भिषति ।

वा मुचो धेरेप् ॥५१२।१५९॥ मुचेर्धिसञ्ज्ञकस्य वा एप् भवति सनि सकारादौ । मोक्षते वत्सः स्वयमेव । मुमुक्षते वत्सः स्वयमेव । आत्मनो मोक्षतुमिच्छतीति सन् । वत्सो हि मोक्षतुमिष्यमाणो मुक्तक्रियां प्रत्यानुकूल्यं यदा प्रतिपद्यते तदा मुमुक्षत्वात् कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितमिति बाह्यकर्माभावात्सुचिरकर्मकः । इक एप् चस्य खम् । अच इत्येतन्निवृत्तम् । अन्यथा “चस्यात्र खम्” [५।२।१६०] इत्यत्र चस्याचः खं स्यात् । धेरिति किम् ? मुमुक्षति कर्माणि मुनिः ।

चस्यात्र खम् ॥५१२।१६०॥ यदेतदनुक्रान्तं सनि सकारादौ मुचेरेप्पर्यन्तम् एतस्मिन् चस्य खं भवति । तथा चैवोदाहृतम् । यच्चेत ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः आपादपरिसमाप्तेश्चस्येतद्वेदितव्यम् । ननु सनि सकारादावित्यधिकारेणाभिसम्भवात् सिद्धम् अत्रग्रहणं किम् ? सर्वस्य चस्य खं यथा त्यादित्येवार्थम् ।

हलोऽनादेः ॥५१२१६१॥ अनादेर्हलः खं भवति चस्य । हुटौके । तुत्रौके । पपाच । आटतुः । आट । अनादेर्हलः अच उत्तरस्य चखम् ।

शरः खयि ॥५१२१६२॥ शरः खं भवति खयि परतश्चस्य । चुश्च्योतिषति । तिष्ठासति । पिस्पदिपते । शर इति किम् ? पपाच । एकारो पकारेऽकारस्य मा भूत् । खयीति किम् ? सस्नौ । उचि-
च्छिषति । उच्छेरन्तरङ्गत्वात्तुकिं चुत्वे च कृते चुत्वस्यासिद्धत्वात् सतकारस्य लृश द्वित्वे उचिच्छिषतीति
प्रातम् । “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” इति वक्ष्यत्यतो द्वित्वे चुत्वं सिद्धम् ।

प्रः ॥५१२१६३॥ प्रो भवति चस्य । पिपासति । निनीपति । हुटौके । हुटौकिषते । “अचश्च”
[११११२] इत्यचः प्रादेशः ।

कुहोश्चुः ॥५१२१६४॥ चस्य कवर्गहकारयोः चवर्ग आदेशो भवति । चिकीर्षति । चखान ।
जगाम । जिघत्सति । जुहुवे । जहास । जहार । नादवतो महाप्राणस्य हस्य चुत्वे तादृश एव भकारः ।
जश्वं जकारः ।

वा कोर्यञ्छि ॥५१२१६५॥ कोश्चस्य यञि वा चुर्भवति । कोरिति यस्य कस्यचिच्छब्दक्रियस्य ग्रहणे
रूपद्वयं सिद्धयति । उश्चश्चोक्क्यते । उष्ः कोक्यते । यञीति किम् ? चुकुवे ।

उरः ॥५१२१६६॥ ऋवर्णान्तस्य चस्य अकारादेशो भवति । ववृते । ववृधे । चक्रे । जहे । अथ
नर्नर्त्यादौ परन्वाट्टगाडिषु कृतेषु ऋकारान्तत्वाभावाच्चस्यात्वं न प्राप्नोति । नैवं शङ्कथम्, “चविकारे
ष्वपवादा प्र उत्सर्गान्न बाधन्ते” [प०] इति उरत्वे कृते रुगादयः ।

द्युतिस्वाप्योर्जिः ॥५१२१६७॥ द्युति स्त्रापीत्येतयोश्चस्य जिर्भवति । दिद्युते । अदिद्युतत् ।
देद्युत्यते । दिद्योतिषसे । सनि “व्युडोऽवो हलः संश्च” [१११६७] इति विकल्पेन कित्त्वम् । यदा
नास्ति तदा “व्युडः” [५१२१६३] इत्येप् । स्त्रानि-नुःस्त्रापिषति । सुष्वापयिषतः । सुष्वापयिषन्ति ।
स्वापेपर्यन्तस्य ग्रहणं किम् ? हेतुमति प्यन्तस्यैव यथा स्यादिह मा भूत् । स्वापं करोतीति णिच् । स्वापयितु-
मिच्छति । सिष्वापयिषति ।

व्यथो लिटि ॥५१२१६८॥ व्यथः लिटि परतश्चस्य जिर्भवति । विव्यथे । विव्यथाते । विव्यथिरे ।
ननु वकारस्यापि प्राप्नोति । अनादेरित्यनुवर्तनान्न भवति ।

कितीणो दीः ॥५१२१६९॥ लिटि किति परतः इणश्चस्य दीर्भवति । ईयतुः । ईयुः । परत्वात्
“यथोव्योः” [४१४७७] इति यणादेशः । तस्य “द्वित्वेऽचि” [१११५६] इति स्थानिवद्भावादिकारस्य द्वित्वम् ।
द्वित्वे एव स्थानिवद्भावो न तु स्वेऽको दीत्वे । कितीति किम् ? इयाय । इययिथ । ऐत्रेपोः । कृतयोः स्थानि-
वद्भावाद्द्वित्वम् । “चस्यास्वे” [४१४७३] इति यादेशः ।

आद्यतः ॥५१२१७०॥ आदेरतश्चस्य दीर्भवति लिटि परतः । लिटीति वर्तते । कितीति निवृत्तम् ।
आटतुः । आटुः । आटिथ । “एप्यतोऽपदे” [४१३८४] इति पररूपत्वे प्राप्ते चस्य दीत्वम् । आदेरिति किम् ?
दददे । दददाते । चान्तस्य न भवति । अत इति किम् ? इयेष । उवोष । तपरकरणं किम् ? य उपदेश आकार-
स्तस्य प्रादेशे कृते अनेन दीत्वं मा भूत् । “आङ्घ्रि आयामे” [घा०] आच्छ्रुतुः । आच्छ्रुरिति । यद्यनेन दीत्वं
स्यात् “ततो नुट्” [५१२१७१] इति नुट् प्रसज्येत ।

ततो नुट् ॥५१२१७१॥ तस्मात् कृतदीत्वान्नुडागमो भवति । आनङ्ग । आनङ्गतुः । आनङ्गः ।
आनञ्ज ! आनञ्जतुः । आनञ्जुः । नुगिति पूर्वान्तः कर्तव्यः । चस्येति वर्तते । चस्य कृतदीत्वस्य भविष्यति ।
एवं लघुना निर्देशेन सिद्धे परादिवचनं ज्ञापकम् “अस्मिन्प्रकरणे पूर्वान्तः आगमः स्वनिमित्तमन्तरेणषि क्रियते”
तेनाभक्लादावाप्यनुस्वारः । यंयम्यते । रंरम्यते ।

अश्नोतेः ॥५१२१७२॥ अश्नोतेश्च कृतदीत्वान्नुङ् भवति । व्यानशो । व्यानशाते । व्यानशिरे । नियमार्थोऽयमारम्भः । अश्नोतेरेवाकारोडो नुङ् भवति नान्यस्य । आटतुः । आटुः । तुल्यजातीयस्य नियमादिह भवत्येव । आनृचतुः । आनृचुः । अश्नोतेरिति विकरणनिर्देशादश्नातेर्न भवति । आशतुः । आशुः ।

भवतेरः ॥५१२१७३॥ भवतेश्चस्य अकारादेशो भवति लिटि परतः । बभूव । बभूवतुः । बभूवुः । व्यतिव्रभूवे । “लुङ् लिटोर्बुक् [४१४८१] इति वुगागमः । लिटीत्येव । बुभूषति । बोभूयते । तिपा निर्देशो यङुबन्तनिवृत्त्यर्थः । बोभवाञ्चकर । नैतदस्ति “कास्यनेकाक्ष्याख्लिख्याम्” [२११३१] इति आमाव्यवहिते लिटि कथं प्रातिः । “इकस्तिपौ धुनिर्देशे” इत्यस्य सूचनार्थस्तर्हि ।

निजामुच्येप् ॥५१२१७४॥ निजादीनामुचि चस्यैव भवति । बहुत्वनिर्देशाद्यर्थो गम्यते । नेनेक्ति । वेवेक्ति । वेवेष्टि । नेनेक्त इत्यत्र चस्य “क्विति” [११११६] इत्येप्रतिषेधो न भवति । धुरूपेण व्यवहितत्वात् । उचीति किम् ? निनेज । निजादयस्त्रयो वृत्पर्यन्ताः ।

भृजां त्रयाणामिः ॥५१२१७५॥ भृजादीनां त्रयाणामुचि चस्य इकारादेशो भवति । विभर्ति । मिमीते । सञ्जिहीते । “अन्तेऽलः” [१११४६] इति अच इत्वम् । त्रयाणामिति किम् ? जहाति । उचीत्येव । बभार ।

प्रोः ॥५१२१७६॥ पिपति इयति इत्येतयोः उचि चस्येत्वं भवति । पिपति । पिपृयात् । अपिपः । इयति । इयृयात् । ऐपः । अर्त्तेर्लट् शप् । उच् एप् द्वित्वमित्त्वं “चस्यास्वे” [४१४७३] इतीप् । “हृङ् व्यापः [४१३५६] इति तिपः खम् । अडागमः । “अटश्च” [४१३७८] इतीप् । उचीस्यनुवर्तनम् । जुहोत्याद्योः प्रोरिदं ग्रहणम् । अर्तेर्भाषायामपि प्रयोगः ।

सन्यतः ॥५१२१७७॥ सनि सन्तश्चस्येत्त्वं इत्वं भवति । पिपत्ति । पिपासति । सनीति किम् ? पपाच । अत इति किम् ? तुष्टूषति । सनि यश्चस्तस्येत्वम् । पापच्यतेः सन् पिपःपिचिप्रते । तपरकरणं सुखार्थम् ।

ओः पुयण्ज्ये ॥५१२१७८॥ उवर्णान्तस्य पवर्गयण्जकारेषु अवर्णपरेषु सनि परतः इत्वं भवति । पिपावयिषति । विभावयिषति । थण् । यियावयिषति । रिरावयिषति । लिलावयिषति । जु इति सौत्रो धुः । जिजावयिषति । प्वादिभ्यो एथैभ्यः सन् । ओरिति वचनं ज्ञापकम् “द्वित्वे कर्तव्ये सौ कृतं स्थानिवद्भवति” ननु वचनस्येदं प्रयोजनम् । पिपत्रिषते यिषत्रिपतीति । “स्मिङ् पूङ् र्ज्वशः सनि” [५११३३] । “सनीवन्त-र्द्धभ्रस्ज” [५११६७] इत्यादिना वेट् । एत्रवादेशौ । “द्वित्वेऽचि” [१११५७] इति स्थानिवद्भावोद्वित्वमने-नेत्वम् । यद्येतावत् प्रयोजनं स्यात् । पकारयकारग्रहणमेव क्रियेत । पवर्गयण्जग्रहणमनर्थकं स्यात् । पुयण्जोति किम् ? नुनावयिषयिति । अवर्णपर इति किम् ? लुलूषति ।

सुश्रुद्गुप्सुङ्च्युडो वा ॥५१२१७९॥ स्रवत्यादीनां चस्य ओः अवर्णपरं यणि परतः सनि वा इकारादेशो भवति । सिस्त्रावयिषति । सुस्त्रावयिषति । शिश्रावयिषति । शुश्रावयिषति । डिद्रानयिषति । दुद्रावयिषति । पिप्रावयिषति । पुप्रावयिषति । पिप्लावयिषति । पुप्लावयिषति । चिन्ध्यावयिषति । चुच्यावयिषति । अवर्णपर इति वचनात् प्यन्तात्सन् । धचनसामर्थ्यात् सकारादिनैकेन यणो व्यवधानमिहाश्रितम् । अवर्णपर इत्येव । शुश्रूषति । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

यङुपोरेप् ॥५१२१८०॥ यङि यङुपि च परत इगन्तस्य चस्य एप् भवति । नेनीयते । बोभूयते । नेनीयति । बोभवीति । न हि यङुपोऽन्यत्रोपि चः सम्भवन्तीत्युल्लेखेन यङुप्सम्प्रत्ययः । “नोमता गोः” [१११६४] इत्याश्रयकार्यप्रतिषेधाद्यङुपि विधानम् ।

दीरकितः ॥५१२।१८१॥ अकितश्चस्य पुडुपोर्दीर्भवति । पापच्यते । पापचीति । पापठ्यते । पाप-
ठीति । “यङो वा” [५१२।१८२] वचनं ज्ञापकमविशेषेण यङुपः । अकित इति किम् ? यंयम्यते । यंयमीति ।
ननु दीत्वापवादे परत्वान्नुकि कृते अनजन्तत्वात् कथं दीत्वप्राप्तिः । इदमेवाकित इति वचनं ज्ञापयति—“चविका-
रेष्वपवादा नोत्सर्गान् बाधन्ते” [प०] इति । तेन किं सिद्धम् ? मीमांसत इत्यादौ ईत्वं दीत्वेन न बाध्यते । डोटौ-
क्यत इति दीत्वेन प्रादेशस्य न बाधा । अचीकरदित्यत्र “वेदीः” [५१२।१८१] इत्यनेन “सन्व्यतः” [५१२।१७७]
इत्वं न बाध्यते । “अजीगणदिति” “ईच्च गणः” [५१२।१८४] इत्यनेन “ह्रस्वोऽनादेः” [५११।१६१] खस्य
न बाधा ।

नीगञ्चुखंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् ॥५१२।१८२॥ वञ्चु खंसु ध्वंसु भ्रंसु कस पत
पद स्कन्द इत्येतेषां यङुपोश्चस्य नीगागमो भवति । वनीवच्यते । वनीवञ्चीति । सनीस्यते । सनीखंसीति ।
दनीध्वस्यते । दनीध्वंसीति । वनीभ्रश्यते । वनीभ्रंशीति । चनीकस्यते । चनीकसीति । पनीपत्यते ।
पनीपतीति । अपनीपच्यते । आपनीपदीति । चनीस्कद्यते । चनीस्कन्दीति । यङुपि “नोमता गोः” [१।१।६४]
इति प्रतिषेधात् “ह्रस्वः” [१।४।२३] इति नखं न भवति । नीगिति दीत्वोच्चारणसामर्थ्यात् प्रादेशः ।
अकित इति दीत्वप्रतिषेधार्थं पूर्वान्तकरणम् ।

डस्यातो नुक् ॥५१२।१८३॥ डसञ्ज्ञान्तस्य गोरश्चेऽङ्गान्तस्य नुगागमो भवति यङुपोः परतः ।
ब्रंभयते । ब्रंभणीति । तन्तन्यते । तन्तनीति । जङ्गम्यते । जङ्गमीति । नुको “नश्चापदान्तस्य ऋलि”
[५।४।८] इत्यनुस्वारस्य परस्वत्वम् । असत्यपि स्वनिमित्ते भलादौ अनुस्वारो भवतीत्युक्तम् । तेन यंयम्यते ।
रंरम्यते इत्यनुस्वारः । अत्रापि दीत्वप्रतिषेधार्थं पूर्वान्तत्वम् । डस्येति किम् ? पापच्यते । अत इति किम् ?
तेतिम्यते । तपरकरणं किम् ? आकारभूतपूर्वस्य मा भूत् । बाभाम्यते ।

जपजभदहदशभञ्जपशाम् ॥५१२।१८४॥ जप जभ दह दश भञ्ज पश इत्येतेषां चस्य नुगागमो
भवति यङुपोः परतः । जञ्जप्यते । जञ्जपीति । जञ्जभ्यते । जञ्जभीति । दन्दद्यते । दन्दहीति । दंदश्यते ।
दंदशीति । ब्रम्भज्यते । ब्रम्भजीति । पम्पश्यते । पम्पशीति । पश इति सौत्रो धुः । जपादिषु दंशिपर्यन्तेषु
“लुपसदचर” [२।१।२१] इत्यादिना यङ् । अन्यत्र क्रियासमभिहारे । दश इति सूत्रनिर्देशाद्यङुप्यपि नखं
भवतीति केचित् । तदयुक्तम् । विकरणानिर्देशोऽयम् । यथा “पतदशनहः करणे ऋट्” [२।२।१६०] इति ।

चरफलोरुचोडः ॥५१२।१८५॥ चर फल इत्येतयोश्चस्य नुगभवति यङुपोः उडश्च उकारादेशश्चर-
फलोः । चञ्चूर्यते । “हल्यभकुच्छुरः” [५।३।८६] इति दीत्वम् । चञ्चुरीति । पम्फुल्यते । पम्फुलीति ।
उदिति तपरकरणं किम् ? चञ्चूर्ति । पम्फुल्यतीत्यत्र “च्युडः” [५।२।८३] एभिन्वृत्त्यर्थं दीत्वस्यासिद्धत्वादेप्
प्राप्नोति । नन्वेव इव दीत्वस्यापि तपरकरणात् किन्न निवृत्तिः । अत्रोच्यते—यथा “गोऽत उत्” [४।४।१००]
इति तपरकरणे न दीत्वमशक्यं निवर्तयितुम् अभकुच्छुर इति प्रतिषेधारम्भात्तथाऽत्रापि ।

ति ॥५१२।१८६॥ तकारादौ चपरतः चरफलोरुडः उकारादेशो भवति । देवचूर्तिः । “क्विचूत्तौखौ”
[२।३।१५०] इति क्विच् । एवं चरणं चूर्तिः । फलनं फुलितः । प्रफुल्ला लता । यङुपोश्चस्येति चानुवर्त्तमान-
मिह वचनसामर्थ्यात् नाभिसम्बध्यते ।

रीगृत्वतः ॥५१२।१८७॥ ऋत्वतो गोश्चस्य रीगागमो भवति यङ् । वरीवृत्त्यते । नरीनृत्यते । यदि
ऋटुड इति क्रियेत । सरीसृज्यते इति न स्यात् । ऋमत इति तर्हि कर्तव्यम् । चिकीर्षत इत्यत्र तु कृताकृत-
प्रसङ्गित्वाद्दतः ईर्भविष्यति । एवं सिद्धे तपरकरणं लाक्षणिकस्यापि रीगर्धम् । तेन वरीवृत्त्यते । वरीभृज्यते ।
परीपृच्छ्यते ? चेक्रीयते जेह्रीयते इत्यत्र कस्मान्न रीगिति चेत् ; द्वित्वात् । परत्वेन रीडादेशे कृते ऋकारा-
भावात् भवति ।

रुग्रिकौ चोपि ॥५।२।१८८॥ ऋत्वतो गोश्चस्य यङुपि रुग्रिकौ भवतः रीक् च । नर्नर्ति । नरि-
नर्ति । नरीनर्ति ।

ऋतः ॥५।२।१८९॥ ऋकारान्तस्य गोर्यश्चस्तस्य यङुपि रुग्रिकौ भवतः रीक् च । तपरकरणसामर्थ्याद्दत्ता
गुर्विशेष्यते । चर्कति । चरिकति । चरीकति । जर्हति । जरिहति । जरीहति । “अदोऽट्” [५।२।१९५] इत्यत्रोक्तं
चानुक्लृष्टमपि क्वचिदुत्तरत्रानुवर्तते तेन रीक् । तपरकरणं किम् ? कृ गृ । चाकर्त्ति । जागर्ति । ननु च “रुग्रिकौ
चोपि” [५।२।१८७] इत्यनेनैव तृतयं सिद्धम् । तत्रापि “ऋत्वतः” [५।२।१८६] इति तपरकरणमास्ति तेन चाक-
र्त्यादौ न भविष्यतीति चेत् ; तत्र तपरकरणं लाक्षणिकार्थमुक्तमिति किरत्यादेर्निवृत्तिर्न स्यात् ।

घौ कच्यनक्खे सन्वत् ॥५।२।१९०॥ कच्यरे घिसञ्जके वरणे यश्चस्तस्य सनीव कार्यं भवति
अनक्खे । “सन्वतः” [५।२।१७७] इतीत्वमुक्तम् । कच्यपि तथा अचीकरत् । अपीपचत् । “ओः पुयस्ये”
[५।२।१७८] कच्यपि तथा । अपीपठत् । अलीलवत् । अजीजवत् । वा खवत्यादीनां कच्यपि तथा ।
असिखवत् । असुखवत् । अदिद्रवत् । अदुद्रवत् । ननु हला व्यवधानात् कथं कच्यरे पवर्णाः ? वचन-
प्रामाण्यादेकेन व्यवधानमाश्रितम् । घाविति किम् ? अततद्भत् । अवभासत् । कचीति किम् ? अहं
पपच । अनक्ख इति किम् ? स्तनमाख्यत् अतस्तनत् । वनमाख्यत् । अववनत् । “णाविष्टन्मृदः” [४।४।१४६]
इति इष्टद्भावः “तुरिष्टेमेयसु” [४।४।१४४] “टेः” [४।४।१४५] इति टिखम् । इह कस्मान् न भवति ।
अचकमतेति कञ्चिष्ये । “वाङो” [२।१।२७] इति णिङोऽनुत्पत्तिपक्षे कचि कृते । अत्रोच्यते-नैवं ज्ञातव्यम् ।
अकः खम् अक्खम् । अक्खेनेति । किं तर्हि ? अक् खं यस्मिन्निमित्तभूते सोऽयमक्खो न अक्खो अनक्खः
तस्मिन् । पर्युदासवृत्त्या अनक्खनिमित्ते णौ मध्यगते सन्वद्भाव इत्यदोषः । तथा अकः खं यस्मिणिसामान्ये
अन्यस्य । न तु णौ णिखमकः खम् । तेन वादितवन्तं प्रयोजितवान् अवीवदत् । ननु अजजागरदित्यत्र गकार-
ऋकारे घिसञ्जामाश्रित्य प्राप्नोति सन्वद्भावः । वचनप्रामाण्याद् व्यवधानेऽपि सन्वद्भावेन भवितव्यम् । सर्व-
त्रापिपचदित्यादावपि चक्षानान्तर्यं घिना नास्ति । नायं दोषः । वचनप्रामाण्यादिहैकवर्णेन व्यवधानमिष्टं
सङ्घातेन पुनर्व्यवधाने भवति न भवति च । तत्र “त्वर” [५।२।१९२] आदीनामित्वापवादार्थमत्ववचनं ज्ञापकम् ।
हलन्घातेन व्यवधाने भवति । अचिक्कणत् । अविब्रजत् इति । अज्जल्लसङ्घातेन व्यवधाने तु न भवति । अमीमप-
दित्यादौ “स्सनि मीमा” [५।२।१५५] इत्येष विधिः कस्मान्न भवति ? णिजन्तस्य प्रकृत्यन्तरत्वात् ।

घेर्दीः ॥५।२।१९१॥ चस्य घेर्दीर्भवति घौ कच्यरेऽनक्खे । अचीकरत् । अजीहरत् । अब्रूबुधत् ।
घेरिति किम् ? अविब्रजत् । घावित्येव । अत्रापिपत् । “द्वित्वेऽचि” [१।१।५६] णिखस्य स्थानिवद्भावात् “अचः”
[४।३।२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । अत्र कच्यरे घिवर्णो नास्ति । कचीत्येव । अहं पपच । यत्र सन्व-
द्भावो नास्ति तत्र दीत्वमिह मा भूत् । अचकमत । अनक्ख इत्येव । अचकथत् । “आद्यतः” [५।२।१७०]
इत्यतः आदेरिति वर्तते तेनादेशस्य दीर्भवति । न द्वितीयस्यैकाचो यश्चस्तस्येति । प्रौणुर्नवदिति ।

स्मृदृत्वप्रथमदस्तृस्पशोऽत् ॥५।२।१९२॥ स्मृ दृ त्वर प्रथमद तृ स्पश इत्येतेषां चस्य अदा-
देशो भवति कच्यरे घौ परतः । असस्मरत् । अददरत् । अतत्वरत् । अपप्रथत् । अममदत् । अतस्तरत् ।
अपस्पशत् । सन्वद्भावादित्त्वे प्राप्ते वचनम् । अदिति तपरकरणं घेर्दीत्वनिवृत्त्यर्थम् । अददरत् ।

घा वेष्टिचेष्टयोः ॥५।२।१९३॥ वेष्टि चेष्टि इत्येतयोश्चस्य वा अद्भवति कचि परतः । अववेष्टत् ।
अविवेष्टत् । अचचेष्टत् । अचिचेष्टत् । इकारस्यानेनात्वम् ।

ईच्च गणः ॥५।२।१९४॥ गण्यतेश्चस्य ईकारदेशो भवति अच्च कचि परतः । अजीगणत् ।
अजगणत् । अनक्ख इति प्रतिषेधात् सन्वद्भावो नास्ति । तदर्थमिदम् । चकारोऽदनुकर्षणार्थः ।

इत्यभयनन्दिविरचित्तायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

[सर्वस्य द्वे ॥५१३१॥ परो छिः ॥५१३२॥ नित्यवीप्सयोः ॥५१३३॥ परेर्वर्जने ॥५१३४॥ उपर्यध्यधसः सामीप्ये ॥५१३५॥ वाक्यादेर्वीष्यस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु ॥५१३६॥ एको बवत् ॥५१३७॥ आवाधे च ॥५१३८॥]

.....कश्चिदेवं प्रयुङ्क्ते इत्यावाधः । प्रयोक्तव्या । (?)

यवदुत्तरे ॥५१३९॥ उत्तरे द्वित्वे यस्येव कार्यं भवति । वदयति “प्रकारे गुणोक्तेः” [५१३९०] इति । पटुपटुः । पटुपटुवी । कालककालिका । वसातिदेशे “न वुह्स्कोडः” [४३११४६] इति पुंवद्भाव-प्रतिषेधः स्यात् । यस्ते तु “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४३११५४] इति भवति । अधिकारेणाऽप्येतत्सिद्धम् । उत्तरग्रहणं ज्ञापकार्थम् । अयमधिकारः । “एको बवत्” [५१३९७] इत्यादिलक्षणं चाधिकारश्च । तेन एष तवाञ्जलिरेष तवाञ्जलिः । अहो दर्शनीया अहो दर्शनीया । आधिक्येऽपि द्वित्वमुक्तम् । “स्वार्थेऽवधार्य-माणेऽनेकस्मिन् द्वे भवतः” [वा०] अस्मात्सुवर्णादिह भवद्भ्यां माषं माषं देहि । अत्र द्वावेव माषौ दीयेते न सर्वे माषाः । तेन वीप्सा नास्ति । अवधार्यमाण इति किम् ? इह भवद्भ्यां माषमेकं देहि । “पूर्व-प्रथमयोरतिशये द्वे भवतः” [वा०] पूर्वं पूर्वं पुष्यन्ति । प्रथमं प्रथमं पच्यते । वेत्यधिकाराद्यदा न द्वित्वं तदाऽतिशायिकः । पूर्वतरं पुष्यन्ति । प्रथमतरं पच्यन्ते । “समसम्प्रधारणायां किम आक्षेपे द्वे भवतः” [वा०] । उभाविमावाद्यौ कतरः कतरोऽनयोर्विभवः । कतमा कतमाऽनयोराद्यता । कीदृशी कीदृशी अनयोराद्यता । कतरः कतरोऽनयोर्विभवः । “कर्मव्यतिहारे सर्वानाम्नो द्वित्वं सवच्च बहुलम्” [वा०] तत्र वेत्यधिकाराल्लभ्यते । असवत्पक्षे पूर्वपदस्यान्यशब्दस्य सुरेव । सवद्भावे च मिभूतस्यादेरुत्वं परशब्दस्य सुट् । अन्योन्यमिमे ग्रामा भोजयन्ति । अन्योन्यस्य भोजयन्ति । पुत्रादीति गम्यते । एवमितरेतरेषाम् । इतरेतरस्य । परस्परं परस्परस्य भोजयन्ति । “स्त्रीनपुंसकयोर्विभक्त्या वाऽम्भावो द्योस्तु” [वा०] अन्योन्यं नार्यौ भोजयतः । अन्योन्यां वा । अन्योन्यं कुले भोजयतः । अन्योन्यं वा । अन्योन्यं नार्यौ भोजयन्ति । अन्योन्यां वा । अन्योन्यं वा कुलानि भोजयन्ति । अन्योन्यं वा । इत्यादि सिद्धम् ।

प्रकारे गुणोक्तेः ॥५१३९०॥ प्रकारे वर्तमानस्य गुणोक्तेर्द्वे भवतः । प्रकारः सादृश्यमिह गृह्यते । उच्यते इत्युक्तिरभिधेयं वस्तु । गुण उक्तिरभिधेयोऽस्येति गुणोक्तिः, तस्य द्वित्वम् । पटुपटुः । परिणत-परिणतः । पटुपटुवी । परिणतपरिणता । उत्तरसूत्रे वाग्रहणमिह सिंहावलोकनेन सम्बध्यते । तेन जातीयोऽपि भवति । पटुजातीयः । मृदुजातीयः । द्वित्वजातीययोर्विधेयामेदे मृदुमृदुजातीय इत्यनिष्टं स्यात् । प्रकार इति किम् ? शुल्को गुणः । अग्निर्माणवकः । गौर्वाहीकः । सदागुणवचनो यः प्रकारे वर्तते तस्य द्विवम् । अयं तूपमानात्सर्वद्रव्यवचनः ।

प्रियसुखयोर्वाऽकृच्छ्रे ॥५१३९१॥ प्रिय सुख इत्येतयोरकृच्छ्रे, वा द्वे भवतः । प्रियप्रियेण ददाति । प्रियेण ददाति । सुखसुखेनाधीते । सुखेनाधीते जैनेन्द्रम् । अप्रयासेनेत्यर्थः । अकृच्छ्रे, इति किम् ? प्रियः पुत्रः । सुखो रथः । प्रीणातीति प्रियः । सुखयतीति सुखः ।

यथास्वे यथायथम् ॥५१३९२॥ यथायथमिति निपात्यते यथास्वेऽर्थे । सर्वे ज्ञाता यथायथम् । यथा-स्वभावं यथाऽस्मीयं चेत्यर्थः । यथाशब्दस्य द्वित्वमम्भावश्चान्ते निपात्यते । यो य आत्मा यो य आत्मीयो वा यथास्वम् । “यावद्यथा” [१३१६] इति वीप्सायां हसः । झिसंज्ञकं वा यथायथमिति शब्दान्तरमस्मिन्नर्थे साधुत्वेनान्वाख्यातम् ।

१ . प्रतिषु [

] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिस्तुडिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्यायीमनु-

सूत्रान्न निर्दिष्टानि ।

द्वन्द्वं रहस्यादौ ॥५१३१३॥ द्वन्द्वमिति निपात्यते रहस्यादावर्थे । द्वि औ इत्यस्य द्वित्वे सुबुपि पूर्वोत्तरपदयोरिकारस्याम्भावोऽस्त्वं च निपात्यते रहस्यप्रकारेऽर्थे रहस्याभिधाने । द्वन्द्वं मन्त्रयते । द्वन्द्वं मन्त्रयेते । द्वौ द्वौ रहसि मन्त्रयेते इत्यर्थः । मर्यादावचनादयो विषयत्वेनाश्रीयन्ते । मर्यादायाम् आसप्तमनरकादधोऽधो द्वन्द्वं नरकपटलानि हीनानि व्युत्क्रमणं भेदः पृथक्स्थानम् । तत्र द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः । द्विवर्गसम्बन्धेन भिन्ना इत्यर्थः । यज्ञपात्रप्रयोगे, द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति । अभिव्यक्तौ, द्वन्द्वं नारदपर्वतौ । द्वन्द्वं सूर्याचन्द्रमसौ । विधिब्राह्मणौ द्वन्द्वम् । “वा वीप्सायां द्वन्द्वः” वीप्सायां द्वन्द्वं द्वौ द्वौ । वृत्तिविशेषे “चार्थे द्वन्द्वः” [१३१६२] अन्यत्रापि दृश्यते । द्वन्द्वानि सहते । द्वन्द्वं युद्धं कृतम् ! अतएव च रहस्य-मर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिरूपं परिगणनं न कृतम् ।

पदस्य ॥५१३१४॥ पदस्येत्ययमधिकारो वेदितव्य आ शास्त्रपरिसमाप्तेः । वक्ष्यति “नखं मृदन्त-स्याकौ” [५१३३०] इति । राजभ्याम् । राजभिः । तथा “स्फान्तस्य खम्” [५१३१५] इति पतन् । यजन् । अत्रार्थवशात्पदस्येयत्रने ता द्रष्टव्या । पदस्येति किम् ? राज्ञे । राज्ञः । भसंज्ञया नपुंसकलिङ्गा पदसंज्ञा बाध्यते

पदादपादादौ ॥५१३१५॥ पदादिति अपादादाविति च नान्यत्र वेदितव्यं प्रागसिद्धाधि-कारात् । वक्ष्यति “बहोर्वस्नसौ” [५१३१७] इति । ग्रामो वो दीयते । नगरं नो दीयते । पदादिति किम् ? युष्मभ्यं ग्रामो दीयते । अपादादाविति किम् ?

शान्तिनाथो जिनः सोऽस्तु युष्माकमघशान्तये ।

येन संसारताभीतिरस्माकमिह नाशिता ॥

युष्मदस्मदोऽविपतास्यस्य घांनावौ ॥५१३१६॥ युष्मदस्मदोऽविपतास्यस्य घांनावौ वर्तमानयोर्युष्मदस्मदित्येत-योरभूत्तासु स्थितयोर्वाभनो इत्येतावादेशौ भवतः । युष्मदस्मदिति इतरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः । ओसः स्थाने ङ्स्कृतः सौत्रत्वाद्देशस्य । पदस्य सर्वस्येति च वर्तते । यदि वा पदस्येति स्थानलक्षणाऽत्र ता सम्पद्यते, सर्वस्य पदस्य स्थाने आदेशः । एकबहोरदेशान्तरं वक्ष्यति । अतो द्विविषये विधिः । ज्ञानं वां दीयते । शीलं नौ दीयते । ज्ञानं वां रक्षतु । शीलं नौ रक्षतु । ज्ञानं वां स्वम् । शीलं नौ स्वम् । अत्रितास्यस्येति किम् ? दानं युवाभ्यां कृतम् । स्थग्रहणं किम् ? श्रूयमाणविभक्त्यां यथा स्यात् । इह मा भूत् । इति युष्मदुपाध्यायः । पदविधिरयम् । असामर्थ्ये न भवति । आवाभ्यां भाष्यते ज्ञानम् । युवाभ्यां दीयते दानमिति । अथेह सामर्थ्येऽपि कस्मान्न भवति ? ओदनं पच तव भविष्यति मम भविष्यतीति । “समाने वाक्ये युष्मदस्मदादेशविधिरिष्यते” । इह तु ओदनं पचेत्येकं वाक्यं तव भविष्यतीति द्वितीयं वाक्यम् । अवश्यं समानवाक्याधिकार एष्टव्यः । शालीनां ते ओदनं ददातीत्यत्रापि यथा स्यात् । अन्यथा शालीनामित्यस्य ते इत्यनेन सान्ध्याभावात् स्यात् ।

बहोर्वस्नसौ ॥५१३१७॥ बहून्तयोर्युष्मदस्मदोर्वस्नसु इत्येतावादेशौ भवतस्तास्वेव विभक्तीषु । ज्ञानं वो दीयते । शीलं नो दीयते । ज्ञानं वो रक्षतु । शीलं नो रक्षतु । ज्ञानं वः स्वम् । शीलं नः स्वम् ।

एकस्य ते मे ॥५१३१८॥ एकान्तयोर्युष्मदस्मदोस्ते मे इत्येतावादेशौ भवतः । एक इति त्यः । “त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणम्” [प०] । ज्ञानं ते दीयते । शीलं मे दीयते । इषो वक्ष्यति । ज्ञानं ते स्वम् । शीलं मे स्वम् ।

त्वामाविपः ॥५१३१९॥ एकस्येति वर्तते । इवेकान्तयोर्युष्मदस्मदोस्त्वा मा इत्येतावादेशौ भवतः । ज्ञानं त्वा रक्षतु । शीलं मा रक्षतु ।

न चवाहाऽहैवयोगे ॥५१३२०॥ च वा ह अह एव इत्येतैर्योगे युष्मदस्मदोर्वाभवाद्यो न भवन्ति ; ज्ञानं तुभ्यं मह्यं च दीयते । युवाभ्यां आवाभ्यां च दीयते । युष्मभ्यं अस्मभ्यं च दीयते । ज्ञानं त्वां मां च रक्षतु ।

युवां आवां च रक्षतु । युष्मान् अस्मांश्च रक्षतु । ज्ञानं तव च स्वम् । ज्ञानं मम च स्वम् । युवयोः आवयोश्च स्वम् । युष्माकं अस्माकं च स्वम् । ज्ञानं तुभ्यं मह्यं वा दीयते । ज्ञानं तुभ्यं मह्यं ह दीयते । ज्ञानं तुभ्यं मह्यमह दीयते । ज्ञानं तुभ्यं मह्यमेव दीयते । इत्यादि योज्यम् । योग इति किम् ? ज्ञानं च मे स्वम् । नात्र चादिभिर्युष्मदस्मदोयोगः । किन्तर्हि ? ज्ञानस्य ।

दृश्यर्थैश्चिन्तायाम् ॥५१३२१॥ चिन्तायां वर्त्तमानैर्दृश्यर्थैर्धुभिर्योगे युष्मदस्मदोर्वाग्नावादयो न भवन्ति । अत्र साक्षाद्योगे तद्युक्तयोगे च प्रतिषेधः । ज्ञानं तुभ्यं दीयमानं समीच्यागतो जनः । ज्ञानं मह्यं दीयमानं समीच्यागतः । साक्षाद्योगे ग्रामस्त्वां समीच्यागतः । ग्रामो मां समीच्यागतः । ज्ञानं तव स्वं समीच्यागतः । शीलं मम स्वं समीच्यागतः । सन्दृश्य संचिन्त्य निरूप्येति यावत् । दृश्यर्थैरिति किम् ? ग्रामस्त्वा मन्यते । अस्ति चिन्तार्थो मन् धुर्न तु दृश्यर्थः । चिन्तायामिति किम् ? ग्रामस्त्वा पश्यति । अत्र चक्षुर्दर्शने दृशिर्वर्तते । तेन न प्रतिषेधः ।

वाऽनन्वादेशे ॥५१३२२॥ युष्मदस्मदोर्वाग्नावादयो वा भवन्ति अनन्वादेशे । आदेशः कथनम् । अन्वादेशोऽनुकथनम् । नान्वादेशोऽनन्वादेशः । तत्र विकल्पोऽन्वादेशे नित्यो विधिः । ज्ञानं ते दीयते । ज्ञानं तुभ्यं दीयते । ज्ञानं मे दीयते । ज्ञानं मह्यं दीयते । इत्यादि योज्यम् । अनन्वादेश इति किम् ? अथो ज्ञानं ते दीयते । अथो ज्ञानं मे दीयते । पूर्वं किञ्चिदादिश्य इदमादिश्यते इत्यन्वादेशोऽयम् ।

सपूर्वाया वायाः ॥५१३२३॥ विद्यमानपूर्वाद् वान्तात्परयोर्युष्मदस्मदोर्वाग्नावादयो भवन्ति । अनन्वादेशे सामान्येन सिद्धम् । अन्वादेशार्थमिदम् । अथो आचार्येण ज्ञानं ते दीयते । अथो आचार्येण ज्ञानं तुभ्यं दीयते । इत्यादि ।

बोध्यमसद्वत् ॥५१३२४॥ बोध्यान्तं पदमसद्वद् भवति । बोध्यमिति सम्बोधनलक्षणया वाया प्रहणम् । असद्वद्भावे प्रयोजनम् । बोध्यान्तात्परयोर्युष्मदस्मदोरादेशनिवृत्तिः । देवदत्त तुभ्यं दीयते । देवदत्त मह्यं दीयते । इत्यादि नेयम् । इह च देवदत्त ज्ञानं ते । देवदत्त ज्ञानं मे । “सपूर्वाया वायाः” [५१३२३] इत्यन्वादेशो विकल्पो न भवति । वत्करणं स्वश्रुत्यनिवृत्त्यर्थं कार्यं प्रत्यसद् भवति ।

नैकार्थे बोध्ये सामान्यवचनम् ॥५१३२५॥ एकार्थे बोध्यान्ते परतः सामान्यवचनं बोध्यान्तं नासद् भवति किन्तु सद्वदेव भवति एकार्थः विशेषलक्षणो यस्य तदिदमेकार्थं विशेषवचनमित्यर्थः । कथं ज्ञायते ? सामान्यवचनम् इति निर्देशात् । परस्य विशेषवचनत्वमपेक्ष्य सामान्यवचनत्वं भवति । क्षत्रिय श्रेणिक ते धर्मो दीयते । क्षत्रिय श्रेणिक त्वाऽहं नृक्षतु । क्षत्रिय श्रेणिक ते धर्मो वर्धताम् । एकार्थ इति किम् ? क्षत्रिय ब्राह्मण युवाभ्यां धर्मो दीयते । बोध्य इति किम् ? क्षत्रिय धनवान् मे त्वं देहि । पूर्वस्य सत्वे “सपूर्वाया वायाः” [५१३२३] इत्येष विधिः प्रसज्येत । सामान्यवचनमिति किम् ? श्रेणिक क्षत्रिय तुभ्यं धर्मो दीयते ।

वा विशेषवचने वहौ ॥५१३२६॥ विशेषवचने बोध्ये बह्वन्ते परतः सामान्यवचनं वा बोध्यान्तनसद् भवति । देवाः शरण्या वो दीयते । देवाः शरण्या युष्मभ्यं दीयते । “नैकार्थे बोध्ये सामान्यवचनम्” [५१३२५] इत्यस्यायं विकल्पः । सामान्यवचनमित्यनुवृत्तेः परस्य विशेषवचनमनुक्तं सिद्धम् । तत्कृतं स्पष्टार्थमुत्तरार्थं च ।

पूर्वत्रासिद्धम् ॥५१३२७॥ पूर्वत्र इति असिद्धमिति च एतदधिकृतं वेदितव्यम् आ शास्त्रपरिसमाप्तेः । येयं चतुरध्यायी सार्धद्विपादाऽतिक्रान्ता तस्यामयं सार्धद्विपादोऽसिद्धो भवति । इत उत्तरं च उत्तरोत्तरो योगः पूर्वत्र । पूर्वत्रासिद्धो भवति । असिद्धवद्भवति । शास्त्रासिद्धत्वेन तदाश्रयं कार्यं न भवतीत्यर्थः । अस्मा उद्धरति सिद्धा अत्र । असा आदित्यः । “व्योः खम्” [५१३५] इत्यस्य यववशात्तस्याऽसिद्धत्वात् “आदेप्”

[४३।७५] “स्वेऽको दीः [४३।८८] इति च न भवति । अमुष्मै । अमुष्मात् । अमुष्मिन् । उत्वशास्त्रस्यासिद्धत्वात्स्मायादयो भवन्ति ।

शुष्किका यन् सुशर्माणः क्षामिमानौजिदत् सुर्गाः ।

पक्वमाशीःषु गोलिणमान् कुर्वन्ति पिपठीः सुसुत् ॥

शुष्किकेति “शुषि पचेः क्वौ” [५।३।६७] इति क्रादेशः । टाप् । कुत्साद्यर्थे क्वः । पुनष्टाप् । “केऽणः” [५।२।१२५] प्रः । कत्वस्यासिद्धत्वात् “वातोऽधोर्यकात्” [५।२।५१] इति विकल्पो न भवति । “त्यस्थे क्यापी” [५।२।५०] इति नित्यमित्त्वम् । यन्निति स्फान्तखस्यासिद्धत्वान्मृदन्तनखं न भवति । सुशर्माण इति णस्यासिद्धत्वात् नोडः “धेऽकौ” [४।४।६] इति दीत्वम् । क्षौ जै सै क्षये क्तः । “क्षौ मः” [५।३।६८] इति मत्वम् । क्षामोऽस्यास्तीति क्षामी । सोऽस्यास्तीति क्षामिमान् । “ममोङ् भूयो मतोर्वोऽयवादेः” [५।३।३१] इति मनोर्वत्वं न भवति । ऊटमारख्यत् णिचि लुङि कचि च कृते “अचः” [४।३।२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वे कर्तव्ये ढत्वादेरसिद्धत्वात् हतिकारयोर्द्वित्वम् । “हलोऽनादेः” [५।२।१६१] इति तखम् । हकारस्य चुत्वम् । औजिदत् । ननु णौ च यद्विखं तस्य स्थानिवद्भावाद्द्विरुच्यते । अनक्ख इति प्रतिषेधात् सनीवं नास्ति । तत् औजदत् इति भवितव्यमिति केचित् । तदयुक्त्वं । णौ कृतं स्थानिवद् भवति । न च टिखं णौ कृतम् । किन्तर्हीष्टे । ततो “द्वित्वेऽचि” [१।१।५६] इति स्थानिवद्भावात् सणोर्द्वित्वम् । ननु च “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” इति वक्ष्यति । तत्कथमसिद्धत्वं ढत्वादेः । न । “सर्वस्य द्वे” [५।३।१] इत्येतद्द्वित्वं तत्र गृह्यते । तेन गलो गल इति लत्वं सिद्धम् । सुगीरिति विसर्जनीयस्यासिद्धत्वात् “इको दी वोहङः” [५।३।८५] इति दीत्वम् । पक्वमिति वत्वस्यासिद्धत्वात् भलि चोः कुत्वम् । आशीःष्विति “रेश्च सुपि” [५।२।२४] इति सत्वस्यासिद्धत्वात् “इको दी वोहङः” [५।३।८५] इति दीत्वम् । गोलिणमान् इति ढत्वस्यासिद्धत्वात् “भूयः” [५।३।३१] इति बत्वं न भवति । कुर्वन्ति इत्यनुस्वारपरस्वस्यासिद्धत्वात्त्वं नास्ति । पिपठीरिति ढत्वस्यासिद्धत्वाद्द्वित्वम् “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति अतः स्वस्य स्थानिवद्भाव इति चेत् ; न ; पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” इति । सुसुदिति जश्त्वस्यासिद्धत्वात् भूषन्तस्य वशो भूषभावः । वृक्षो हसतीति रेरसिद्धत्वेऽप्युत्वं वचनाद् भवति । अपवादस्य परस्यापि वचनप्रामाण्यान्नासिद्धत्वम् । वृक्ष इति जश्त्वापवादो रित्वम् । दोग्धा इति ढत्वापवादो षत्वम् । काष्ठतडिते स्फान्तखापवादः स्फादिखम् । येऽत्र कानिर्देशास्तानिर्देशा ईम्निर्देशाश्च “रास्सः” [५।३।४२] । “स्फान्तस्य खम्” [५।३।४१] “भूलो भलि” [५।३।४४] इत्यादयस्तेषाम् “ईप्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः” [१।१।६०] “तास्थाने” [१।१।४६] इति च नियमे कर्तव्ये नासिद्धत्वम् । “कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्” [५०] इति पूर्वत्वं नास्ति । इह विस्फोर्यम् अवगोर्यम् इत्येपं बाधित्वा परत्वेन “हल्यभकुर्चुरः” [५।३।८६] इति दीत्वं नास्ति । “पूर्वत्रासिद्धे नास्ति स्पद्धोऽसत्त्वादुत्तरस्य” । विशेषवचन इति वर्तते । विशेषे इदमसिद्धम् । तेन क्वचिदिष्टे विषये सिद्धत्वं भवति । तादेशः षत्वत्येड्विधिषु सिद्धेः । अन्यथा वृक्षणः वृक्षणवान् इति भलीति पत्वं स्यात् । क्षीवेण तरति क्षीविकः । द्वयज्जलक्षणाष्टो न स्यात् । क्षीव इति वलादित्वादिट् स्यात् । छे तुकि पविधिः सिद्धः अगनाश् इ छत्रम् । पटाश् उ छत्रम् । छ इति किम् ? अग्निचीश्त् । चस्य जश्त्वचत्वमेत्वतुकोः सिद्धम् । बभणतुः । बभणुः । आदेशस्यासिद्धत्वादेत्वं प्राप्नोति । उचिच्छिप्रतीति चादेशस्यासिद्धत्वाच्छे तुक् प्राप्नोति । यद्वित्वे परस्वत्वं सिद्धम् । सँयतः । सँवत्सरः । यँल्लोकम् । तँल्लोकम् । यर इति द्वित्वं न स्यात् । “सर्वस्य द्वे” [५।३।१] इति द्वित्वे षत्वादयः सिद्धाः । द्रोग्धा द्रोग्धा । द्रोदा द्रोदा । गरोगरः । गलोगल इत्यादि । षत्वादीनामसिद्धत्वात् प्राग्द्वित्वे पश्चाद्विकल्पे सति रूपवैषम्यं स्यात् । गरोगल इति ।

नखं सुब्विधिक्चु कि ॥५।३।२८॥ सुपः स्थाने विधिं सुपि च विधिं कृति विहितं च तुकं प्रति नखमसिद्धं भवति । विधीयते इति विधिः कार्यम् । ऐस्भावदौत्वादिः । सुपो विधिः सुब्विधिः एको विग्रहः सुवा-

त्वान् । तडित्वान् । उदशिवत्वान् । “मत्वर्थे स्तौ” [१।२।१०८] इति भंज्ञा । ममोड्ङ्य इति किम् ? अग्निमान् । अयवादेरिति किम् ? यवमान् । जर्मिमान् । भूमिमान् । कृमिमान् । मोड् इति । ककुब्जान् । गरुत्वान् । हरित्मान् । भय इति । शिखिमान् । इक्षुमती । द्रुमती । मधुमानाम गिरिः । “स्त्रौ” [५।३।३२] इति प्राप्तेः प्रतियेधः । आकृतिगणोऽयम् । नृमत इदं नामतमिति बहिरङ्ग आकारः । तेन क्त्वाभावः । पदावयवस्य क्त्वम् । ततः शीलवतः शीलवद्भ्य इति च सिद्धम् ।

स्त्रौ ॥५।३।३२॥ खुविपये च मतोर्वो भवति । कपीवती । ऋपीवती । मुनीवती । “नद्यां मनुः” [३।२।६५] इति चातुरर्थिको मनुः । “मतौ बह्वच्छरादेरनजिरादेः” [४।३।२२२] इति दीत्वम् । आसन्दीवानाम ग्रामः । आसन्दीवदहिस्यलम् । आसनपर्याय आसन्दीशब्दोऽस्ति । तदुक्तम्—अदुम्बरी राज्ञ आसन्दी भवति ।

चर्मणवदष्टीवच्चक्रीवत्कक्षीवद् रुमणवत् ॥५।३।३३॥ चर्मणवत् अष्टीवत् चक्रीवत् कक्षीवत् रुमणवत् इत्येते शब्दा निपात्यन्ते खुविपये । चर्मणः परस्य मतोर्नुडागमो निपात्यते मृदन्तनखम् । “अट्कुप्वाङ् व्यवाये” [५।४।८६] इति णत्वम् । चर्मणवती नदी । चर्मवतीत्यन्यत्र । अस्थनोऽष्टीभावो क्त्वं च निपात्यते । अष्टीवानिति कायैकदेशभंज्ञा । अस्थिमानित्यन्यत्र । चक्रस्य ईत्वम् । चक्रीवान् । चक्रवानित्यन्यत्र । कक्ष्याया जिर्निपात्यः । “हलः” [४।४।२] इति दीत्वम् । कक्षीवान् । कक्ष्यावानित्यन्यत्र । लवणस्य रुमणभावो निपात्यते । रुमणवानाम पर्वतः । लवणवानित्यन्यत्र । रुमन् इति शब्दान्तरं वा मतोर्नुडर्थे निपातनम् ।

उदन्वानुदधौ ॥५।३।३४॥ उदन्वानीति निपात्यते । उदकस्य उदन्भावो मतौ निपात्यते । यत्र प्रयोगो दृश्यते । उदन्वानुदधिः । उदन्वानाश्रमः । अयं तु विशेषः । यदा उदकमस्यास्तीति उदकसम्बन्धमात्र-चिवद्वा तदा उदकवान् धृष्टः । यदा तु उदकं धेयमस्मिन्नस्ति तदा उदन्वान् घट इति ।

राजन्वान् सौराज्ये ॥५।३।३५॥ राजन्वानिति निपात्यते सौराज्ये गम्ये । राजाऽस्मिन्नस्ति प्रशंसायामर्थे मनुस्तस्येदन्निपात्यते । राजन्वान्देशः । राजन्वती पृथिवी । सुराज्ञो भावः सौराज्यम् । शोभनेन राज्ञा सम्बन्धस्तदभावे राजवान् इति भवति ।

कृपो रो लोऽकृपादेः ॥५।३।३६॥ कृपेर्धो रेफस्य लकारादेशो भवति कृपादीन् वर्जयित्वा । र इति एपि कृते यः केवलो रेफः वर्णैकदेशा वर्णप्रहणेन गृह्यन्ते इति यश्च ऋकारस्थः तयोरिह सामान्येन ग्रहणम् । कल्ता । कल्पिष्यते । कल्पयति । क्लृप्तः । क्लृप्तवान् । “लुटि च क्लृपः” [१।२।८६] इत्यादि च ज्ञापकम् ऋकारस्थस्यापि रेफस्य लश्रुतिर्भवतीति । अकृपादेरिति किम् ? कृपा । भिदादित्वादङ् । कृपणः । कपूर्वादय औणादिकाः । ये तु प्रतिषेधं नारभन्ते क्रपेः कृतजित्त्वस्य ताः सिद्धादङ्गिति तेषां यत्नगौरवं स्यात् ।

गेरयत्तौ ॥५।३।३७॥ गेर्धो रेफस्तस्यायतिपरस्य लत्वम् । प्लायते । पलायते । ननु चायतिपरत्वं रेफस्य न सम्भवति । “परेश्चः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इत्येकादेशस्य स्थानिवद्भावत्वात् । वचनप्रामाण्यादे-केन व्यवधानमाश्रितम् । एवं च प्लययते इत्यत्राऽप्यदोषः । सङ्घातेन पुनर्व्यवधानमेव प्रत्ययते इति । ननु वचनस्यावकाशो निलयनं दुलयनमिति भविष्यति । न शक्यमेवम् “पूर्वत्रासिद्धम्” [५।३।२७] इति रेफस्या-सिद्धत्वाल्लत्वाभावः । निरयणम् । दुरयणमिति । यदि लत्वं दृश्यते कपिलकादिषु द्रष्टव्यम् ।

ग्री यङ्ङि ॥५।३।३८॥ गिरते रेफस्य लत्वं भवति । निजेगिल्यते । निजेगिल्धेते । निजेगिल्यन्ते । “लुपसद” [२।१।२१] इत्यादिना यङ् । नित्यत्वाच्च । “इको दी वोरुडः” [५।३।८५] इति दीत्वम् । विकरणात्तनिर्देशो गृणातेर्निवृत्त्यर्थः । जेगीर्यते । यङ्ङीति किम् ? निगीर्यते ।

विभाषाऽच्चि ॥५।३।३९॥ गिरते रेफस्य विभाषया लत्वं भवति अजादौ परतः । गिरति । गिलति । निगारणम् । निगलनम् । व्यवस्थितविभाषेयम् । “प्रायश्चङ्गे नित्यं लत्वम्” [वा०] । गलः कण्ठः । “विषे न

भवत्येव" [वा०] । गरः । निगार्थते । निगाल्यते इत्यत्र "परेऽचः पूर्वविधौ" [१११५७] इति षोः स्थानिवद्-
भावादजादित्वम् । ननु "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" [प०] इति प्रतिषेधः प्राप्नोति । "नेयं परिभाषास्फादि-
खलत्वणत्वेषु व्याप्रियते" । अथवा वर्णाश्रयमन्तरङ्गलत्वमगाश्रयं बहिरङ्गं णिखम् । इयमप्राते विभाषा ।
प्राप्त नित्यो विधिः । निजेगिलः । "धोः स्वरूपग्रहणे तस्यविज्ञानम्" [प०] इति मृदस्त्ये न भवति । गिरो
गिर इति । विभाषेति योगविभाषादिष्टे कपिलकादौ विकल्पः । कपिरकः । कपिलकः । तिर्थिरीकम् । तिर्थि-
लीकम् । रोमाणि । लोमानि । "संज्ञाछन्दसोः पूर्वो विधिः" [प०] । "डलयोः समानविषयत्वं स्मर्यते" [प०] ।
व्याडः । व्यालः । वारः । वालः । मूरम् । मूलम् । खुः । लघुः । अरे । अले । असुरः । असुलः । अङ्गुरिः ।
अङ्गुलिः ।

परेर्घाङ्गयोगे ॥१३१४०॥ परे रेफस्य विभाषया लत्वं भवति घशब्दे अङ्गे योगे च परतः । परिघः ।
पलिघः । "घनान्तर्घण" [२३१६६] इत्यादौ परिघशब्दो निपातितः । पर्यङ्कः । पत्यङ्कः । परियोगः ।
पलियोगः ।

स्फान्तस्य खम् ॥१३१४१॥ स्फान्तस्य पदस्य खं भवति । गोमान् । कृतवान् । इह श्रेयान्
भूयान् इति रिन्वस्यासिद्धत्वान्स्फान्तस्य खं भवति । इहापि तर्हि पयः शिर इति रिन्वस्यासिद्धत्वाज्जश्वं प्राप्नोति ।
"येन नाप्राप्ते तस्य बाधनम्" [प०] इति रिन्वं जश्वस्य बाधकमेव । स्फान्तखे पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च
रिन्वमारभ्यते । दध्यत्र । मध्वत्रेति बहिरङ्गस्य ? ? ? ? ? न भवति । स्फ इति किम् ?
वाक् । अन्तर्ग्रहणं किमर्थम् ? आदौ मध्ये च पदावयवस्य स्फस्य खं मा भूत् । "येनालि विधिस्तदन्ताद्योः"
[१११६७] इति सिद्धे स्पष्टार्थं चान्तर्ग्रहणम् । पदस्येति किम् ? गोमन्तौ । गोमन्तः ।

रात्सः ॥१३१४२॥ स्फान्तस्य पदस्य यो रेफस्तस्मादुत्तरस्य सकारस्य खं भवति । "अन्तेऽलः"
[१११४६] इत्यन्तस्य । चिकीः । जिहीः । क्विपि अतः खे च कृते पन्वस्यासिद्धत्वात् सखम् । "पूर्वत्रासिद्धे
च न स्थानिवत्" [प०] इत्यजादेशस्य न स्थानिवद्भावः । एवं मातुः । पितुः । "ऋत उत्" [१३१६८]
इत्युत्वम् । द्वयोरेकत्वम् । रन्तत्वम् । "सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः" [प०] रेफनियमोऽयम् । रादुत्तरस्य सकार-
स्यैव खं नान्यस्य । न्यमाट् । ऊर्क् । लङ् क्विपि च रूपम् । रादेव सकारस्येति कस्मान्न नियमः । व्याख्या-
नात् । उरःप्रभृतिषु पुमानित्यस्य कृतसखस्य निर्देशाद्वा ।

धि ॥१३१४३॥ धकारादौ च परतः सस्य खं भवति । आध्वम् । आशाध्वम् । सकारस्य जश्वेना-
प्येतत्सिध्येत् । श्रुतिकृतविशेषाभावादिति चेत् ? इह दोषः स्यात् । अलविध्वम् । आलविध्वम् । "वेटः"
[५११६९] इति वा धस्य ढत्वम् । यद्यत्र सखं न स्यात् ; तदा सेः प्रत्वे जश्वे च ङकारे धस्य च ढत्वे
ढत्वाभावपक्षेऽपि धकारो न श्रूयेत । चक्राधिपलितं शिरः इत्यत्रापि अविशेषेण सखं भवति । "दादेर्घोः"
[५११७६] इत्यतो धुग्रहणं सिंहावलोकनेन संश्रयते । तेन धोर्विहिते धीत्यभिसम्बन्धादिह न भवति ।
पयो धावति ।

भ्रलो भ्रलि ॥१३१४४॥ भ्रल उत्तरस्य सकारस्य भ्रलि परतः खं भवति । अभित्त । अभित्थाः ।
"सिल्लिङ्हे" [१११८५] इति कित्वादेप्रतिषेधः । अत्रात्तामिति वसतेस्तसस्ताम् । सखस्यसिद्धत्वात् "स्यो
सः" [५२११५९] इति तत्वम् । भ्रल इति किम् ? अमंस्त । भ्रलीति किम् ? अभ्रैत्सम् ।

प्राद्गोः ॥१३१४५॥ प्रान्ताद्गोरुत्तरस्य सकारस्य खं भवति भ्रलि परतः । अकृत । अकृथाः ।
अहृत । अहृथाः । प्रादिति किम् ? अव्योष्ट । अप्लोष्ट । गोरिति किम् ? अलाविष्टम् । अलाविष्टम् ।
अस्ति प्रादितः परः सकारो न तु गोः । भ्रलीति किम् ? अकृषाताम् । अकृषत । "उः" [१११८६] इति

किञ्चादेःप्रतिषेधः । सिंहावलोकनेन धोरिति किम् ? द्विष्टराम् । द्विष्टमाम् । “द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्” [४।२।२५] तदन्तात् अतिशयिते तरतमौ “किमेमिङ् भिक्तात्” [४।२।२०] इत्यादिनाऽम् । “प्राद्धृत्यमिङ्स्ति” [५।४।७३] षत्वम् ।

स्फादेः स्कोऽन्ते च ॥५।३।४६॥ सकारस्य ककारस्य च स्फादेः भ्रलि परतः पदान्ते च खं भवति । भ्रलि पदस्यावयवः पदान्ते च यः स्फस्तदाद्योः स्कोः खं भवतीत्यर्थः । लग्नः । लग्नवान् । साधुलक् । तष्टः । तष्टवान् । काष्ठतट् । आचष्टे मुनिर्धम्मम् । वास्यर्थः । शक्यर्थः । इत्यत्राजादेशस्य स्थानिचङ्मात्रान्न स्फादि-
खम् । “पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” [५०] इतीदं “स्फादिखलत्वणत्वेषु नास्ति” [५०] इत्युक्तम् ।
अथवा बहिरङ्गस्य यणादेशस्यासिद्धत्वान्न स्फादिखम् । काष्ठशक्स्थानेत्यत्र गोरधिकारात् सिंहावलोकनेन
धोरिति वा न भवति । स्फादेरिति किम् ? न्यस्तः । शक्तः । भ्रलीदं द्रष्टव्यम् । स्क् इति किम् ? नर्नर्त्ति ।
अन्ते चेति किम् ? तद्धिता ।

चोः कुः ॥५।३।४७॥ चवर्गस्य कवर्ग आदेशो भवति भ्रलि पदान्ते च । वक्ता । वक्तुम् ।
वक्तव्यम् । वाक् । “क्वपि वत्रि [२।२।१५७ वा०] इत्यादिना क्वपि दीत्वमजित्वं च । पक्ता । पक्तुम् ।
पक्तव्यम् । साधुपक् । ऋञ्चेत्यत्र अनुस्वारस्य परस्वत्वस्य चासिद्धत्वान् अकार एव नास्ति । चकारे भ्रलि
कुत्वं न भवति । “युजिक्ञ्चः” [२।२।५७] इति निपातनान्नखं न भवति । रेफरहितस्य धोः ऋञ्चिसमानार्थस्य
नखं भवत्येव । निकृत्तिरिति ।

हो ढः ॥५।३।४८॥ हकारस्य ढकारादेशो भवति भ्रलि पदान्ते च । सोढा । सोढुम् । सोढव्यम् ।
ढत्वे कृते परस्य “तथोर्धोऽधः” [५।३।५६] इति षत्वम् । ढत्वम् । “ढो ढे खम्” [५।४।१७] “सहिवहोऽस्यौः”
[४।३।२१७] इत्योत्वम् । अन्ते । परिषट् । सट् विचीदं रूपम् । अन्यथा “नहिवृत्तिवृषिव्यधिरुचिसहि-
तनिषु कौ” [४।३।२१६] इति दीत्वं स्यात् । एवं वोढा । वोढुम् । गुणवट् । विचीदं क्विपि जित्वं स्यात् ।
पृथग् योगकरणमुत्तरार्थम् ।

दादेर्धोर्धः ॥५।३।४९॥ दकारादेशोर्धोर्धकारस्य षकारादेशो भवति भ्रलि पदान्ते च । दग्धा । दग्धुम् ।
दग्धव्यम् । कर्मेन्धनम् । दोग्धा । दोग्धुम् । दोग्धव्यम् । गोधुक् । पदान्ते षत्वे कृते “एकाचो वशो”
[५।३।५४] इत्यादिना ऋषन्तस्य वशो भृष्टम् । धोरिति किम् ? दामलिट् । धुपाठे यो दादिः स दादेरित्यनेन
गृह्यते । तेन अधोक् इत्यत्र अडागमेऽपि सति दादित्वं सिद्धम् । इह च दामलिह्यतेः क्विपि षत्वं न भवति ।
दामलिडिति ।

वा द्रु हमुहृष्णुहृष्णिहाम् ॥५।३।५०॥ द्रु ह मुह ष्णु हृष्णिह इत्येतेषां हकारस्य वा षत्वं भवति भ्रलि
पदान्ते च । द्रोग्धा । मित्रध्रुक् । द्रोढा । मित्रध्रुट् । उन्मोग्धा । उन्मुक् । उन्मोढा । उन्मुट् । स्नोग्धा ।
उत्सुक् । स्नोढा । उत्सुट् । स्नेग्धा । चेलस्निक् । स्नेढा । चेलस्निट् । द्रुहेः पूर्वेण प्राप्ते इतरेषामप्राप्ते
विकल्पः ।

नहो धः ॥५।३।५१॥ नहेर्हकारस्य धकारादेशो भवति भ्रलि पदान्ते च । नद्धम् । नद्धव्यम् ।
उपानत् । “नहिवृत्ति” [४।३।२१६] इत्यादिना दीत्वम् । “तथोर्धोऽधः” [५।३।५६] परस्य षत्वं यथा स्यादिति
धकारादेशः कृतः ।

आहस्थः ॥५।३।५२॥ आहो हकारस्य थकारादेशो भवति भ्रलि परतः । धर्ममात्थ । सुखमात्थ ।
“ब्रुव आहश्च” [२।३।७०] इति ब्रुव आहादेशो लडादेशस्य च सिपस्थादेशः । अनेन हस्य थत्वम् ।
“खरि” [५।४।१३०] इति चर्त्वम् । आहस्तकारादेशेनैव सिद्धे थकारस्य “खरि” इति चर्त्वं ज्ञापकम् ।

आहो ब्रूग्रहणेन ग्रहणात् ब्रुव ईष्मा भूत् । झलादिवचनाद् वा न भवति । पदान्तत्वं नास्ति । भलीत्येव ।
आहतुः । आहुः ।

ब्रश्चभ्रस्जसृजमुजयजराजभ्राजछृशां षः ॥५१३।५३॥ ब्रश्च भ्रस्ज सृज मुज यज राज भ्राज
इत्येतेषां चकारशकारयोश्च वो भवति झलि पदान्ते च । ब्रष्टा । मूलवृट् । स्फादिसखम् । “ग्रहज्यावयि”
[४।३।१२] इत्यादिना जित्वम् । भ्रष्टा । धानाभृट् । स्रष्टा । तीर्थसृट् । मार्ष्टा । कर्मपरिमृट् । यष्टा । देवयट् ।
विचीदं रूपम् । राजिभ्राजोः क्तिरेव झलादिः । राष्टिः । भ्राष्टिः । सुराट् । सुभ्राट् । विभ्राट् । प्रष्टा ।
धर्मप्राट् । “क्विति वचिप्रच्छायतस्तु कट्प्रजुग्रीणां दीरजिश्च” [३।२।१५७ वा०] इति क्विति दीत्वाजित्वे ।
“छृवोः शूड् ङे च” [४।४।१७] इत्ययं विधिरुक्तः । लिशि । लेष्टा । धर्मलिट् । विश । वेष्टा । स्वर्गविट् ।

एकाचो वशो भष् भ्रषः स्वधोः ॥५१३।५४॥ धोरेकाचो झषन्तस्य योऽवयवस्तस्य यथासङ्ख्यं
भष्भावो भवति झलि सकारे ध्वशब्दे च परतः पदान्ते च । भोस्त्यते । अभुद्वध्वम् । “सिलिङ्ङे” [१।१।८५]
इति क्तिवम् । धर्मभुत् । धोच्यते । अघुग्धम् । गोधुक् । निघोच्यते । न्यघुद्वध्वम् । मन्त्रघुट् । एकाच
इति किम् ? दामलिङ्ङि क्तिवम् । दामलिङ्ङि क्तिप् । दामलिङ्ङि । असत्येकाज्ग्रहणे भ्रषन्तस्य धोरवयवस्य वशो
भष् अत्रापि स्यात् । वश इति किम् ? क्रोत्स्यति । भ्रषन्तस्येति किम् ? दास्यति । स्वधोरिति किम् ? बोद्धां ।
बोद्धुम् । धकारस्य वकारपरस्य ग्रहणं किम् ? दादद्धि । दध धारणे इत्यस्य यदुपि लोटि “दुभ्रभ्यो हेर्धिः”
[४।४।६४] इति धिभावे रूपम् । अघुद्ध । अघुद्धाः इत्यत्र “भ्रलो भ्रलि” [५।३।४४] इति सखे कृते “त्यखे
त्याश्रयम्” [१।१।६३] इति कस्मान्न भवति । “वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्” [प०] इत्यदोषः ।

धः ॥५१३।५५॥ धो धातोर्भ्रषन्तस्य वशो भष् भवति झलि परतः । धत्से । धत्स्व । धद्वध्वे ।
धद्वध्वम् । धत्तः । धत्थः । “पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” [प०] इति अजादेशस्य न स्थानिवद्भावः । वचन-
सामर्थ्याद्वा श्रुतिकृतमानन्तर्यमस्तीति भ्रषन्तता । धस्यापि जश्त्वमाश्रयात्सिद्धम् । “प्रकृतिग्रहणे यद्बन्तस्यापि
ग्रहणम्” [प०] । धात्तः । धात्थः । भ्रषन्तस्येत्येव । दधाति । दधासि । भलीत्येव । दधे । दधते ।

तथोर्धोऽधः ॥५१३।५६॥ भ्रषन्तादुत्तरयोः तकारथकारयोर्धकारादेशो भवत्यदधातेः । दोग्धा ।
दोग्धुम् । अदुग्ध । अदुग्धाः । बोद्धा । बोद्धुम् । अघुद्ध । अघुद्धाः । अधः इति किम् ? धत्तः । धत्थः ।

भ्रलो जश् ॥५१३।५७॥ झलो जश् भवति पदान्ते वर्तमानस्य । पदमध्ये “भ्रलां जश् भ्रशि”
[५।४।१२८] इति वक्ष्यति । भ्रलीति निवृत्तम् । वागत्र । मधुलिङ्ङत्र । अग्निचिदत्र । झलीत्यस्य निवृत्तिः
किम् ? वस्ता । वेष्टव्यम् ।

षढोः कः सि ॥५१३।५८॥ षकारदकारयोः वकारादेशो भवति सकारादौ परतः । वेक्ष्यति । तोक्ष्यति ।
दस्य । लेक्ष्यति । वक्ष्यति । सीति किम् ? पिनष्टि ।

द्राक्षस्य तो नः पूर्वस्य दोऽपृमूर्च्छिमदाम् ॥५१३।५९॥ दकाररेफाभ्यां परस्य तसञ्ज्ञकस्य तका-
रस्य नकारादेशो भवति पूर्वस्य च दकारस्य पृमूर्च्छिमदो वर्जयित्वा । भिन्नः । भिन्नवान् । छिन्नः । छिन्नवान् ।
आस्तीर्णम् । अवर्णम् । द्रादिति किम् ? शक्तः । शक्तवान् । तसञ्ज्ञकस्येति किम् ? कर्त्ता । हर्त्ता । त इति
किम् ? मुदितम् । चरितम् । द्रादित्यनेन तकारो विशेधते । स चेत्तसञ्ज्ञ इति । तेनेटा व्यवधाने न भवति । पूर्व-
स्येति किम् ? परस्य मा भूत् । भिन्नवद्भ्याम् । भिन्नवद्भिः । “अधिकृत्य कृते ग्रन्थे” [३।३।६१] इत्यादि
निर्देशात् “इह वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन न गृह्यन्ते” । तै न हृतम् कृतमित्यादि सिद्धम् । कृतस्यापत्यं कार्त्तिरिति
बहिरङ्गो रेफः । अपृमूर्च्छिमदामिति किम् ? प्रपूर्त्तः । मूर्त्तः । मत्तः ।

स्फादेरातो धोर्यएवतोऽध्याख्यः ॥५१३।६०॥ स्फादिर्यो धुः आकारान्तः यएवत् तस्मात्परस्य तत-
कारस्य नो भवति ध्या ख्या इत्येतौ वर्जयित्वा । प्रद्राणः । प्रद्राणवान् । ग्लानः । स्तानः । ध्या इत्येतस्य

प्रतिषेधात् ः ः ः ः ः नाश्रिता । स्फादेरिति किम् ? यातः । यातवान् । आत इति किम् ? च्युतः ।
प्लुतः । धोरिति किम् ? निर्यातः । दुर्यातः । यएवत इति किम् ? स्नातः । प्सातः । अध्याख्य इति किम् ?
ध्यातः । ख्यातः ।

लवादेः ॥५१३१६१॥ लू इत्येवमादिभ्य उत्तरस्य ततकारस्य नो भवति । लूनः । लूनवान् । लीनः ।
लीनवान् । लू इत्यतः प्रभृति वृद्धिर्वा वृत्पर्यन्ता लवादयः । तत्र स्तृञित्येवमादिभ्यो नत्वं पूर्वैर्णैव सिद्धम् ।

ऋतश्च क्तेः ॥५१३१६२॥ ऋकारान्तेभ्यो ल्वादिभ्यश्च परस्य क्तेस्तकारस्य नो भवति । ल्वादिभ्यो
अत्ये ऋट्प्रहणं प्रयोजयन्ति । कीर्णिः । गीर्णिः । शीर्णिः । ल्वादिभ्यः । ल्दनिः । लीनिः । गूर्णिः । चूर्णिः ।
चूर्णिः । इति त्रयं चिन्त्यम् ।

ओदितः ॥५१३१६३॥ ओकारेत्श्च धोः परस्य ततकारस्य नो भवति । लग्नः । लग्नवान् । उद्विग्नः ।
उद्विग्नवान् । आपीनः । आपीनवान् “प्यायः पी” [४३१२३] “आळः” [४३१२४] इति पीभावः । आति-
देशिकाः स्वादयः ओदितः । षूड् प्राणिप्रसव इत्यादयो व्रीड् वृणोत्यर्थे इत्येवमन्ता दैवादिकाः । सूतः । सूत-
वान् । दूनः । दीनः । उड्डीनः इत्यादि ।

क्षीणः ॥५१३१६४॥ क्षी इत्येतस्मात् कृतदीत्वात्परस्य ततकारस्य नो भवति । तपरकरणमसन्दे-
हार्थम् । प्रक्षीणः । प्रक्षीणवान् । “तेऽण्ये” [४१४५६] इति दीत्वम् । यदा दीत्वं तदाऽनेन नत्वम् । क्षीणोऽसि
जाल्म । “वा दैन्याक्रोशे” [४१४६०] इति दीत्वम् । दीत्वनिर्देशः किमर्थः ? क्षितोऽसि जाल्म ।

श्याञ्चिदिवोऽस्पर्शानपादानाजये ॥५१३१६५॥ श्या अञ्चि दिव इत्येतेभ्यः परस्य ततकारस्य नो
भवत्यस्पर्शे अनपादाने अजये यथासङ्ख्यम् । शीनं घृतम् । शीनं मेदः । “द्रवघनस्पर्शयोः श्यः” [४३११६]
इति जित्वम् । “हलः” [४१४१२] इति दीत्वम् । अजित्वपक्षे “स्फादेरातो” [५१३१६०] इति नत्वं सिद्धम् ।
अस्पर्श इति किम् ? शीतं वर्तते । शीतो वातः । शीतमुदकमित्यत्र तस्पर्शाभिधानेनैव द्रव्ये वृत्तिः । तेन
नत्वाभावो जित्वं च सिद्धम् । स्पर्शो गुणो गृह्यते । ननु “स्पृश उपतापे” इत्येतस्य स्पर्शो रोगः । तत्र प्रतिशीनः ।
कथं ज्ञायते “द्रवघनस्पर्शयोः” [४३११६] इति जित्वे सिद्धे “प्रतेः” [४३१२०] इति वचनात् । अञ्चु ।
समकनौ शकुनेः पक्षौ । अनपादान इति किम् ? उदक्तमुदकं कूपात् । व्यक्त इत्यञ्जेः प्रयोगः । दिव । आद्यूनः ।
आद्यूनवान् । “ह्योः श्लूण्डे च” [४१४१७] इत्यूट् । अजय इति किम् ? द्यूतं वर्तते । क्रीडायामभ्युत्थानाद्विजि
गीवा गम्यते ।

निर्वाणोऽवाते ॥५१३१६६॥ निर्वाण इति निपात्यते अवातेऽर्थे । यदि ध्वर्थो वाताधारो न भवतीत्यर्थः ।
निःपूर्वाद्वातेः परस्य ततकारस्य नत्वं निपात्यते । निर्वाणो मुनिः । निर्वाणो दीपः । “धिगत्यर्थाञ्च” [२१४१५८]
इति कर्तरि क्तः । अवात इति किम् ? निर्वातो वातः । निर्वातं वातेन । वातोऽत्र निर्वातिक्रियायाः आधारः ।
निर्वाणो दीपो वातेनेत्यत्र दीपाधारो ध्वर्थो वातस्तु करणं तेन नत्वम् ।

शुषिपंचेः कौ ॥५१३१६७॥ शुषि पचि इत्येताभ्यां परस्य ततकारस्य ककारादेशो भवतः ।
शुष्कः । शुष्कवान् । पक्कः । पक्कवान् ।

क्षौ मः ॥५१३१६८॥ क्षौ इत्येतस्मात्परस्य ततकारस्य मकारादेशो भवति । क्षामः । क्षामवान् ।

प्रस्त्यो वा ॥५१३१६९॥ प्रपूर्वात्स्त्यायतेः परस्य ततकारस्य मकारादेशो वा भवति । प्रस्तीमः । प्रतीम-
वान् । प्रस्तीतः । प्रस्तीतवान् । “प्रपूर्वस्य स्यः” [४३११८] इति जिः । “हलः” [४१४१२] इति दीत्वम् ।
यदा मत्वं न भवति तदा “स्फादेरातो धोर्यणवतः” [५१३१६०] इत्यस्यासिद्धत्वात् पूर्वं ज्ञा कृते विहृतनिमित्तत्वा-

ब्रह्मं न भवति । प्रग्रहणं किम् ? नेत्रग्रहणं किम् ? च न भवति । सत्यानः । संस्त्यानः । त्वै स्त्वै इत्यनयोः परस्य ग्रहणं पूर्वस्य सत्त्वाभावात् ।

फुल्लः ॥५१३।७०॥ फुल्ल इति निपात्यते । फुल्लः । फुल्लवान् । त्रिफला विशरण इत्यस्मात्परस्य ततकारस्य लत्वं निपात्यते । “ति” [५।२।१८६] इति उङ् उच्चम् । कथं फलितः । फलान्यस्य सञ्जातानीति द्रष्टव्यम् । अथवा फल निष्पत्तावित्यस्य इडभाव उङ् उत्वं लत्वं च निपात्यते । फुल्ल विकसन इत्यस्य पचाद्यचि रूपमिति चेत्, नैवं फलेस्ते लत्वमन्तरेण प्रयोगः स्यात् ।

समुद्ः ॥५१३।७१॥ सम् उद् इत्येताभ्यां परः फुल्लो निपात्यते । सम्फुल्लः । सम्फुल्लवान् । उत्फुल्लः । उत्फुल्लवान् । “सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः” [५०] । समुद्ग्रथामेव गेः । इह मा भूत् । प्रफुल्ला लता ।

क्षीवकृशोल्लाघाः ॥५१३।७२॥ क्षीव कृशः उल्लाघ इत्येते शब्दाः निपात्यन्ते । क्षीवादिभ्यः के कृते तकारस्य खं निपात्यते । इटि वा कृते इत्शब्दस्य । क्षीवः । कृशः । उल्लाघः । अचि इगुङ्लक्षणे के च कृते रूपं सिद्ध्येत् । किं तु कृते के अनिष्टं स्यात् । लाघेर्गिपूर्वस्य ग्रहणं किम् ? अस्यैव गिपूर्वस्य निपातनमन्यस्य मा भूत् । प्रक्षीवितः । परिकृशितः । उदिति विशेषनिर्देशात् अन्यगिपूर्वस्य न भवति । प्रोल्लघितः । परिकृशः इत्यादिषु निपातितस्य शब्दस्य पश्चात् प्रादिसविधिः । परिगतः कृशः परिकृशः । प्रगतः क्षीवः प्रक्षीवः । नात्र गिसञ्ज्ञा । यत्क्रियायुक्तास्तं प्रति गिसञ्ज्ञा भवन्ति ।

त्राब्राह्मीनुदोन्दविन्तेर्विभाषा ॥५१३।७३॥ त्रा ब्रा ह्री नुद उन्द विन्ति इत्येतेभ्यः परस्य ततकारस्य विभाषया नत्वं भवति । त्रातः । त्राणः । प्रातः । प्राणः । ह्रीतः । ह्रीणः । नुत्तः । नुन्नः । समुत्तः । समुन्नः । विन्तः । विन्नः । ह्री इत्येतस्याप्राप्ते इतरेषां प्राप्ते नत्वं विकल्प्यते । विन्तेरिति शनभिवकरणनिर्देशाद् “विद् विचारणे” [धा०] इत्यस्य ग्रहणम् । तदुक्तम्—

वेत्तेस्तु विदितो ज्ञेयो विद्यतेर्वित्त इष्यते ।

विन्तेर्विन्नश्च वित्तश्च वित्तभोगे तु विन्दते ॥

विभाषेति व्यवस्थितविभाषाविज्ञानम् । तेन—

देवत्रातो गलो ग्राह इतियोगे च सद्भिधिः ।

मिथस्तेन विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः ॥

इति सिद्धम् । देवैस्त्रातः देवत्रातः । सञ्ज्ञायामपि त्रातेति भवति । प्राणयङ्गे गलः । विषे गर एव । नक्रे ग्राहः । “विभाषा ग्रहः” [२।१।११७] इति णः । आदित्यादिषु पचाद्यजेव ग्रहः । इतियोगे च सद्भिधिर्न भवति वर्षतीति धावति । हन्तीति पलायते । “लक्षणहेत्वोः क्रियायाः” [२।२।१०४] इति शतृशानौ न भवतः । “न वा साकाङ्क्षे” [२।२।१६४] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या विभाषाऽनुवर्तते । अनितियोगे नित्यं भवतः । अर्जयन् वसति । अधीयानो वसतीति । ननु चेतिशब्देनैव हेत्वर्थस्य द्योतितत्वात् वर्षतीत्यादौ कथं सद्भिधिः ? इदं तह्युदाहरणम् “विभाषा लृटः सत्” [२।३।१३] इत्यनेन करिष्यामीति ब्रजति क्रियायां तदर्थ्यामिति योगे लृटः सद्भिधिर्न भवति । अवान्तसमानाधिकरणे अनितियोगे च सद्भिधिः । करिष्यन्तं पश्येति । वान्तसमानाधिकरणेऽपि विकल्प इति केचित् । करिष्यन् पुरुषः । करिष्यति पुरुषः । वातायने नित्यम् । गवाक्षः । प्राणयङ्गे गोऽन्तम् । अन्यत्रोभयम् । गोग्रम् । गवाग्रम् । व्रतविषये नित्यमित्वम् । संशितव्रतः । विधिप्रतिषेधयोश्च भयरूपेण विविधमवस्थितया विभाषया सर्वं लभ्यते । आकृतौ पदार्थं सर्वं लक्ष्यराशिमैकवस्तुनीय विधिः प्रतिषेधश्चेति द्वयमुपदिश्यते । व्यक्तौ पदार्थं उभयमत्र भवतीति प्रतिपाद्यते ।

वित्तभित्तदूनगूनपूनसितसितानि ॥५१३।७४॥ वित्त भित्त दून गून पून सित ऋण इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । वित्तमिति “विद् लृत् क्षाभे” इत्यस्य भोगे प्रतीतौ च निपात्यते । भोगे वित्तमस्य । बहुवित्तः ।

भुज्यत इति भोगो धनादिप्रतीतो वित्तोऽयं पुरुषः । विन्नमन्यत् । भित्तमिति निपात्यते शकलं चेत् । भिन्नं खण्डमित्यर्थः । उक्तञ्च—

तत्त्वमभिधायकं चेच्छकलस्यानर्थकः प्रयोगः स्यात् ।
सकलेनाप्यभिहिते न भवति तत्त्वं निगमयामः ॥

भिदि क्रिया शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तम् । प्रवृत्तिनिमित्तं तु शकलत्वजातिः । क्रियाभिधाने भिन्नं शकलमित्यपि भवति । दूनः । गूनः । दुग्धोर्दीप्तं नत्वं च निपात्यते । पूजो विनाशो नत्वम् । पूना यवाः । विनाश इति किम् ? पूता यवाः । पूतं धान्यम् । सित इति सिनोतेर्प्रासकर्मकर्तृकस्य भवति । सितो ग्रासः स्वयमेव । ग्रास इति किम् ? सिता पाशेन शूकरी । कर्मकर्तृकस्येति किम् ? सितो ग्रासो देवदत्तेन । ऋण इति ऋ इत्येतस्मात् उत्तमर्णाधमर्णयोर्नत्वम् । ऋणं ददाति । ऋणं धारयति । ऋतमन्यत् ।

कित्यस्य कुः ॥५१३।७५॥ क्विस्त्यो यस्य तस्य धोः कवर्गोऽन्तादेशः पदान्ते । घृतस्पृक् । “सृशोऽनुदके क्विः” [१।२।५६] इति क्विः । एवं यादृक् । तादृक् । युङ् । नस्य कुत्वम् । त्यग्रहणपरिभाषया “क्वेः कुः” इति सिद्धे क्विस्त्यो यस्येति बसनिर्देशात् असत्यपि क्वौ क्विविधानेनोपलक्षितस्य क्विश्चन्तस्यापि भवति । सहस्रदृगिति । इहापि तर्हि स्यात् । रज्जुसृङ्भ्याम् । रज्जुसृङ्भिः । खगिति निपातनात् क्यन्तोपलक्षणं नास्तीत्यदोषः । “नशेवाँ” [वा०] । जीवनक् । जीवनट् । क्विपि विचि वा । अथवा जीवस्य नाशो जीवनडिति सम्पदादित्वात्क्विप् ।

ससजुषो रिः ॥५१३।७६॥ सकारान्तस्य पदस्य सजुष् इत्येतस्य च रिर्भवति । “अन्तेऽल्लः” [१।१।४६] इत्यन्तस्य । जश्त्वापवादोऽयम् । सर्वज्ञः साधुभिरासेव्यते । सजुः । सह जुषा वर्तते “सहेति तुल्ययोगे” [१।३।११] बसः । “वा नीचः” [४।३।१६०] इति सहस्य सो भवति । यदि वा सह जुषते इति सजुः ।

अहन् ॥५१३।७७॥ अहन्नित्यस्य पदस्य रिर्भवति । अहोभ्याम् । अहोभिः । दीर्घाहा कालः । हे दीर्घाहोऽत्र । अहन्निति विकृतनिर्देशात् रेसिद्धत्वेन नत्वं न भवति । वचनं तु हे दीर्घाहोऽत्रेति सावकाशम् । हन्तेर्लङि अहन्नित्यस्य लाक्षणिकत्वान्न भवति । “अहो रिविधौ रूपरात्रिरथन्तरेषूपसङ्ख्यानम्” [वा०] इति । रोऽसुपीत्यस्य बाधनार्थम् अहोरूपम् । अहोरात्रिः । एकदेशविकृतत्वादिहापि भवति । अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः । अहो रथन्तरम् अहोरथन्तरम् ।

रोऽसुपि ॥५१३।७८॥ अहन्नित्येतस्य रेफादेशो भवत्यसुपि परतः । अहर्गच्छति । अहर्ददाति । असुपीति किम् ? अहोभ्याम् । अहोभिः । ननु अहर्ददातीत्यत्रापि “त्यखे त्याश्रयम्” [१।१।६७] इति सुवस्ति । एवं तर्हि रेफविधानसामर्थ्यात् अहो रविधौ उपि त्यलक्षणं न भवति । यत्र तु खं तत्र त्याश्रयेण रित्त्वम् । दीर्घाहा निदाघः । हे दीर्घाहोऽत्रेति ।

वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ॥५१३।७९॥ वत्त्वन्तस्य पदस्य स्रंसु ध्वंसु अनडुह् इत्येतेषां च दकारादेशो भवति । विद्वत्कुलम् । विद्वद्भ्याम् । विद्वद्भिः । उखाया स्रंसते उखास्रत् । उखास्रद्भ्याम् । उखास्रद्भिः । पर्यध्वत् । पर्यध्वद्भिः । स्वनडुत्कुलम् । अनडुद्भ्याम् । अनडुद्भिः । पदस्येति किम् ? अनडुहा । वस्वादीनामिति किम् ? पयोभ्याम् । अनडुहो दत्वप्राप्तिरितरेषां रित्त्वम् । “ससजुषो रिः” [५।३।७६] इत्यतः सकारान्तस्य वत्त्वन्तस्य । तेन विद्वानिति नकारस्य न भवति । “येन नाप्राप्ते” इति न्यायेन रित्वस्य दत्वं बाधकम् । स्फान्तखे प्राप्ते चाप्राप्ते च दत्वमतो विद्वानित्यत्र स्फान्तखस्य न बाधकम् । अनडुहो वचनसामर्थ्याद् दत्वं न भवति । नुमो दत्वं वचनसामर्थ्यात् न भवति । पदाधिकारादिहापि भवति । विद्वत्काभ्यति । “नः क्ये” [१।२।१०४] इति नियमाद् विद्वत्स्यतीत्यत्र भसञ्ज्ञा ।

तिपि धोः ॥५१३।८०॥ तिपि परतो धोः सकारान्तस्य पदस्य दकारादेशो भवति । अचकाद्भवान् । अन्वशाद्भवान् । लङ् । “हृल्लथापः” [४।३।५६] इति तिपः खम् । तिपीति किम् ? किंवापि चकाः । रिक्त्वा-पवादो योगः ।

सिपि रिर्वा ॥५१३।८१॥ सिपि परतो धोः सकारान्तस्य पदस्य रिर्भवति दकारो वा । अचकास्त्वम् । अचकास्त्वम् । अन्वशास्त्वम् । अन्वशास्त्वम् । दकारस्य विकल्पपक्षे रिक्त्वं सिद्धमेव । रिक्त्वाद्भवान् । “दः” [५।३।८२] इत्यत्र पक्षे रिर्वाया स्यात् । तिपि सिपि च परतो धुरेव सम्भवति । धुग्रहणमन्युत्तरार्थम् ।

दः ॥५१३।८२॥ धोर्दकारान्तस्य पदस्य सिपि परतो रिर्भवति दकारो वा । अभिनत्वम् । अभिनत्वम् । अजर्घास्त्वम् । अजर्घत्वं । गृध इत्येतस्मात् यङुच् । द्वित्वादिर्कार्यम् । लङ् सिप् उङ् एप् “एकाचः” [५।३।५४] इत्यादिना भभावः । हृल्लथापः खम् । जश्त्वं दकारः ।

मो नः ॥५१३।८३॥ धोर्मकारान्तस्य पदस्य नकारादेशो भवति । प्रताम्यतीति प्रतान् । प्रशान् । प्रदान् । नत्वस्यासिद्धत्वान्न मृदन्तनखम् । न इति किम् ? विद् । भिद् । धोरित्येव । इदम् । किम् । अनयोर्मकारो-च्चारणस्यावकाशः इदामतीत्यादौ “नः क्ये” [१।२।१०४] इति पदत्वाभावः । पदस्येत्येव । प्रशामौ । प्रशामः ।

म्बोः ॥५१३।८४॥ धोर्मकारस्य मकारवकारयोश्च परतो नकारादेशो भवति । जङ्गन्वः । जङ्गन्मः । अपदान्तार्थं आरम्भः ।

इको दी वोरुडः ॥५१३।८५॥ रेफवकारान्तस्य धोः पदस्य उडः इको दीर्भवति । गीः । आशीः । आड् पूर्वस्य शासोऽनुदात्तेतो ग्रहणादप्राप्तमित्वम् । “आशिषि” [२।४।१४६] इति निपातनाद्भवति । धुर्वी । धूः । धुर्वः पदान्तस्य वकारस्य ऊठा भवितव्यमिति वग्रहणानुत्तरार्थम् । इक इति किम् ? अत्रिभर्भवान् । मकारे अकारस्य मा भूत् । वोरिति किम् ? भिद् । छिद् । उङ् इति किम् ? अत्रिभर्भवान् । चस्य वेर्मा भूत् । धोरिति किम् ? साधुः । मुनिः । पदस्येत्येव । गिरौ । गिरः ।

हल्पमकुर्छुरः ॥५१३।८६॥ हल्पपरौ यौ रेफवकारौ तदन्तस्य धोरुड इको दीर्भवति भसंज्ञकं कुरछुरौ च वर्जयित्वा । आस्तीर्णम् । अत्रगूर्णम् । दीव्यति । सीव्यति । अभकुर्छुर इति किम् ? भस्य धुरं वहतीति धुर्यः । दिवि भवो दिव्यः । किवन्नन्तस्येदं ग्रहणम् । कुर । कुर्यात् । कृजो विकृतनिर्देशात् चिकीर्षतीत्यत्र दीत्वं भवत्येव । छुर । छुर्यात् । आशिषि लिङ् । धोरित्येव । चतुर इच्छति चतुर्यति । दिवमिच्छति दिव्यति । त्यस्येमौ रेफव-कारौ । इक इत्येव । गव्यति । “यि ल्ये” [४।३।६७] इत्यवादेशः । हल्पराविति विशेषणं किम् ? मुर्मुरीयतीत्यत्र मा भूत् । अपदान्तार्थं वचनम् ।

उडि ॥५१३।८७॥ धोरुडभूतो यौ रेफवकारौ तयोरुड इकः दीर्भवति । कीर्तयति । हूर्छिता । मूर्छिता । तूर्विता । धूर्विता । “अचो रहाद् द्वे” [५।४।१२६] इत्यस्यासिद्धत्वादुङ्भूतत्वम् । प्रतिदीव्ना । प्रतिपूर्वादिवः “कन् युवृषित्ति” [३० सू०] इत्यादिना कन् । “अनोऽखमम्बस्फात्” [४।४।१२२] इत्यखम् । “न पदान्त” [१।१।५८] इत्यादिना स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” [प०] इत्यस्थानित्यत्वाच्च दीत्वम् । अथ वाऽत्र “हलि” [४।३।१२६] इति दीत्वम् । तस्य नेति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति । रेफवकारान्तस्य सस्य [भस्य] स प्रतिषेधः । इह कस्मान्न भवति । री गतिरमणयोः । वी गतिप्रजनकान्त्यशनेषु । रिर्यतुः । [रिर्युः] । विव्यतुः । विव्युः । यणादेशस्य स्थानिवद्भावात् बहिरङ्गलक्षणत्वाद्वा असिद्धत्वमिति न भवति । चतुर्यित्यत्र अतः खस्य बहिरङ्गत्वात् धोरुडभूतो रेफो नास्तीति न दीत्वम् । गुणादीनामव्युत्पन्नत्वात् । जिभिः । किर्यो । गिर्योरित्यादिषु “हलि” दीत्वं न भवति । व्युत्पन्नौ बहुलवचनात् । “जीर्यते किरच वः” [३०] । इति क्रिः । “ऋत इद्धोः” [५।१।७४] इतीत्वम् । रन्तत्वम् । रेफस्य वकारः । (कृगृभ्यां) “कृ गृ पृ कुटिभिदिभ्यश्च” [३०] इति इः । उडोरिति प्राप्ते उडोरिति सौत्रो निर्देशः ।

दादुदौ मोऽदसोऽसेः ॥११३८८॥ अदसः असकारस्य दात्परस्य वर्णमात्रस्य उवर्णादेशो भवति दकारस्य च मकारः । अमुम् । अमू । अमून् । अमुना । अमूभ्याम् । उत्वस्यासिद्धत्वात्पाक् सन्धिकार्यम् । भाव्योपि क्वचित्त्वं गृह्णात्युक्तम् । ततः “स्थानेऽन्तरतमः” [११३४७] इति मात्रिकार्थमात्रिकयोर्मात्रिको द्विमात्रिकस्य द्विमात्रिक उकारो भवति । असेरिति किम् ? अदस्यति । “स्वेपः क्वच्” [२११६] । असेरिति यद्यविद्यमानसकारस्येत्युच्यते । अदः कुलम् । अदोऽत्र इत्यत्रापि स्यात् । एवं तर्हि अः सिर्यस्मिन् सोऽयमसिः । अकारीभूतः सिर्यस्मिन्नित्यर्थः । तस्यासेरत्वम् । तेन त्यदाद्यत्वविषये विधिः । “विष्वग्देवयोश्च देद्रथञ्चौ क्वौ” [३१४१६८] इति अद्रथादेशे कृते दर्शनभेदः । “अन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य” [५०] इति परिभाषा नाश्रिता तेषाम् “अदे सोऽदौ” परतः उत्वं भवति । अमुद्रथङ् । “पृथङ् मत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत्” । चलीकृत्यते । क्लृप्तः । कल्पकः । इत्यत्र लान्तरिकस्य रेफस्य ऋकारस्य च लत्वम् । एवमन्यत्रापि । अमुमुयङ् । परिभाषाश्रयणे तु “केचिदन्त्यसदेशस्य” अदमुयङ् । त्यदाद्यत्र विषय एव मत्वम् । “नेत्येकेऽसेर्हि इश्यते” । अदद्रथङिति चत्वारो भेदाः । दादिति किम् ? अमुया । अमुयोः । स्त्रियां टौसोः परतः त्यदाद्यत्वे टापि “आडि चापः” [५१२१००] इति एत्वे अयादेशे च कृते “अन्तेऽलः” [१११४६] इति यकारस्योत्वं मा भूत् ।

वहावीरेतः ॥११३८९॥ वह्वौ निमित्ते निष्पन्नस्य अदसः दात्परस्यः एतः ईकारादेशो भवति । अमी । अमीभिः । अमीभ्यः । अमीषाम् । अमीषु । अथवा बहावित्यर्थनिर्देशः । बहावर्थे वर्तमानस्य अदसः इति ज्ञेयम् । पारिभाषिके हि अमी इत्यत्र दः अन्त्यस्येति स्यात् ।

वाक्यस्य टेः पः ॥११३९०॥ वाक्यस्य टेः पो भवतीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । वक्ष्यति “दूराद्धृते” [५१३१६२] आगच्छ भो देवदत्ता ३ । वाक्यग्रहणं किम् ? अन्त्यस्य यथा स्यात् । पदाधिकारात् सर्वेषां पदानां मा भूत् । टेरिति किम् ? “अचश्च” [११३१२] इति अनन्तस्याप्यचो यथा स्यात् । अन्यथा अचा वाक्ये विशेष्यमाणे हलन्तस्य न स्यात् । अचो विशेष्यत्वे सर्वेषामचां स्यात् ।

प्रत्यभिवादेऽशूद्रस्यसूयके ॥११३९१॥ शूद्र स्त्री असूयक विषयवर्जिते प्रत्यभिवादे यद्वाक्यं वर्तते तस्य टेः पो भवति । अभिवाद्ये देवदत्तोऽहं भोः ३ । आयुष्मानेधि देवदत्ता ३ । अत्राभिवाद्यमाने गुरुणा प्रयुक्त-माशीःपूर्वकं प्रियहितयुक्तं प्रतिवचनम् इत्यभिवादः । अशूद्रस्यसूयक इति किम् ? अभिवाद्ये तुषजकोऽहम् । भो आयुष्मानेधि तुषजक । शूद्रे पो न विहितः । अभिवाद्ये गार्ग्यहं भो । आयुष्मती भव गार्गी । स्त्रियां पो न भवति । अभिवाद्ये स्थाल्यहं भो । आयुष्मानेधि स्थालिन् । अत्र दण्डिवदसञ्ज्ञाशब्दे पो न भवति । सञ्ज्ञा-शब्दे भवत्येव । यदा तु विहेठयितुकामः सञ्ज्ञामसञ्ज्ञां च तस्य कथयति तदा अन्त्यस्येति ज्ञाते भिद्यस्व वृषल स्थालिन् न त्वं प्रत्यभिवादमर्हसीत्युच्यते । लोकव्यवहारात्प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाद्वा नामान्तस्य गोत्रान्तस्य च पविधिः । इह न भवति देवदत्त कुशल्यसि । देवदत्त आयुष्मानेधि । इन्द्रधर्मन् कुशल्यसि । सर्वः पवि-धिर्वा भवतीति वक्ष्यति । सा च व्यवस्थितविभाषा । तेन “भोराजन्यविशां वा भवति” । अभिवाद्ये देवदत्तोऽहं भोः । आयुष्मानेधि देवदत्त भोः ३ । आयुष्मानेधि देवदत्त भो । राजन्यः । अभिवाद्ये इन्द्रवर्माऽहं भोः । आयु-ष्मानेधि इन्द्रवर्मन् । आयुष्मानेधि इन्द्रवर्मन् । विशः । अभिवाद्ये इन्द्रपालितोऽहं भोः । आयुष्मानेधि इन्द्रपालिता ३ । आयुष्मानेधि इन्द्रपालित । भोशब्दस्याप्राप्ते राजन्यविशोर्गोत्रत्वात्प्राप्ते विकल्पः ।

दूराद्धृते ॥११३९२॥ दूराद्धृते आह्वाने वर्तमानस्य वाक्यस्य टेः पो भवति । आगच्छ भो देवदत्ता ३ । दूराद्धृत इति किम् ? आगच्छ भो जिनदत्त । प्रयत्नविशेषेण आह्वाने यत्र शब्दः श्रूयते तद्दूरमिह नास्ति । दूतग्रहणं सम्बोधनमात्रोपलक्षणम् । तेनेहापि पः सिद्धः । सक्तून् पितृ देवदत्ता ३ इति । सूत्रे दूरादिति “तेभ्य इप् च” [११४१३] इति का ।

हैह्येप्रयोगे हैहयोः ॥५१३।६३॥ है हे इत्येतयोः प्रयोगे हैहयोः पो भवति दूराद्धूते । हैरे जिनदत्त । जिनदत्त हैरे । हैरे जिनदत्त । जिनदत्त हैरे । पुनर्हैहयोर्ग्रहणं किम् ? अन्यस्य मा भूत् । हैहयोरेव यथा स्यात् । प्रथमं हैह्येग्रहणम् अनन्तयोरपि यथा स्यात् । अन्यथा वाक्यस्य टेः प्राप्नोति । सूत्रारम्भस्तु अनृतोऽनन्तस्येत्यादिवाचकः सम्भान्येत । प्रयोगग्रहणादनर्थक्योरपि भवति । आगच्छ भो माणव हैरे देवदत्त इति ।

अनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य रोः ॥५१३।६४॥ ऋकारवर्जितस्य रोरनन्त्यस्यापि अन्त्यस्यापि टेः एकैकस्य पो भवति । हैरेदेवदत्त । हे देवदत्त । अनृत इति किम् ? कृष्णमित्रा । रोरिति किम् ? देवदत्तस्य वकारात्परत्र माभूत् । एकैकग्रहणं पर्यायार्थम् ।

ओमभ्यादाने ॥५१३।६५॥ अभ्यादानं प्रारम्भः । ओमित्येष शब्दः अभ्यादाने पो भवति । ओरे-मृपभं पवित्रम् । ओरेमृपभमृपभगामिनं प्रणमत । अभ्यादान इति किम् ? ओं भो ददाति । अयमोमशब्दः प्रतिश्रवणे वर्तते ।

वा हेः पृष्टप्रत्युक्तौ ॥५१३।६६॥ पृष्टप्रत्युक्तौ हेः पो भवति वा । अकार्पीः कटं देवदत्त ! इति पृष्टः अकार्षं हीरे । अकार्षं हि । अलावीः केदारं देवदत्त ! अलाविषं हीरे । अलाविषं हि । हेरिति किम् ? करोमि ननु । पृष्टप्रत्युक्ताविति किम् ? देवदत्तः कटं करिष्यति । प्रत्युक्ताविति किम् ? देवदत्त कटमकार्षीर्हि । वेति योगविभागः । तेन सर्व एव पविधिः साहसमनिच्छता वा प्रयोक्तव्यः ।

विचार्यं पूर्वम् ॥५१३।६७॥ विचार्यं पूर्वं पविधिमापद्यते । अहिर्नुंरे रज्जुर्नुं । स्थाणुर्नुं रे पुरुषो नु । द्वयोर्वहूनां वा वाक्यानां पूर्वस्य टेः पो भवति ।

प्रतिश्रवणे ॥५१३।६८॥ प्रतिश्रवणे च वाक्यस्य टेः पो भवति । प्रतिश्रवणं श्रवणामिमुख्यं प्रतिज्ञानम् अभ्युपगमश्चाविशेषेण गृह्यते । श्रवणामिमुख्ये देवदत्त भो किमात्थरे इति । प्रतिज्ञाने कृतकः शब्दो भोः । एवं भवितुमर्हतीरे । अभ्युपगमे भोज्यं मे देहि भोः । हन्त ते दास्यामीरे ।

पूजिते ॥५१३।६९॥ पूजिते च वाक्यस्य टेः पो भवति । शोभनः खल्वसि अग्निभूतारे इ । पटा रे उ । कावेपि च कृते “एचोऽदेः” [५१३।१०४] इत्यादिना आकार इदुतौ च । अथवा शोभनः खल्वसि देवदत्ता रे इत्युदाहरणम् ।

चिदित्युपमार्थे ॥५१३।१००॥ चिदित्येतस्मिन्नुपमार्थे प्रयुज्यमाने वाक्यस्य टेः पो भवति । अग्निश्रि-द्भाया रेत् । राजाचिद्ब्रूया रेत् । चिदिति किम् ? राजेव ब्रूयात् । अग्निर्माणवको भायात् । इवशब्दस्य प्रयोगाप्रयोगयोरुपमार्थोऽस्ति । न तु चिच्छब्दः । उपमार्थ इति किम् ? कथञ्चिद्ब्रवीषि । कृच्छेऽत्र चिच्छब्दः । इतिकरणं किम् ? चिच्छब्दस्य मा भूत् । वाक्यस्य टेः यथा स्यात् ।

कोपाऽसूयासम्मतौ औ वा ॥५१३।१०१॥ कोपा असूया सम्मति इत्येतेष्वर्थेषु औ परतः पो भवति वा । कोपे-माणवकारे । माणवक । अविनीतकारे । अविनीतक । इदानीं ज्ञास्यसि जाल्मा रे । अन्यान्तान्-नागद्वन्द्वारे । माणवक । अभिरूपकारे । अभिरूपक । शोभनः खल्वसि माणवक । कुत्सन-मस्यान्तभूतं तत्कार्यत्वात् । शाक्तीकारे । शाक्तीक । याष्टीकारे । याष्टीक रित्ता ते शक्तिः । “वाक्यादेर्बो-ध्यस्य” [५१३।६] इत्यादिना द्वित्वम् । वेति व्यवस्थितविभाषा विज्ञानात् कोपकार्ये भर्त्सने च पर्यायेण पः । चौर । चौरा रे । वृषल । वृषला रे । चौरा रे । चौर । वृषलारे । वृषल । घातयिष्यामि त्वाम् । बन्ध-यिष्यामि त्वाम् । भर्त्सने च मिडः साकाङ्क्षस्याङ्गयुक्तस्य टेः पविधिरद्वित्वं च । अङ्ग कूजा रे अङ्ग व्याहरा रे इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म । मिड इति किम् ? अङ्ग देवदत्त । साकाङ्क्षेत्येति किम् ? अङ्ग पच । नैतत्पर-माकाङ्क्षति । भर्त्सने इत्येव । अङ्ग पठ पुस्तकं तै दास्यामि ।

क्षियाशीः प्रैषेषु मिडाकाङ्क्षम् ॥५१३१०२॥ क्षिया क्षेपः । इष्टादांसनमाशीः । असत्कार-
पूर्विका व्यापारणा प्रैषः । क्षियादिषु मिडन्तमाकाङ्क्षं पविधिं लभते । क्षियायाम्-स्वयं ह रथेन याती ३
उपाध्यायं पदातिं गमयति । स्वयं ह ओदनं भुङ्क्ते ३ उपाध्यायं सकृन् पाययति । भुङ्क्ता इति मिडन्तमा-
काङ्क्षकम् । आकाङ्क्ष्यमपि मिडन्तमाकाङ्क्षग्रहणसामर्थ्यात् । सुवन्ते सिद्धैवाकाङ्क्षा । आशिषि-
पुत्रांश्च लप्सीष्ठाः ३ धनं च । अत्र लप्सीष्ठा इत्यस्य गम्यमानमिडन्तापेक्षस्य पविधिः । तात तर्कं चाध्ये-
षोष्ठाः ३ जैनेन्द्रं च । प्रैषे-त्वं ह पूर्वग्रामं गच्छ ३ देवदत्तो दक्षिणं व्रजतु । आकाङ्क्षमिति किम् ? दीर्घमायु-
रस्तु । प्रैष इत्यत्र “प्रादूहोढोह्ये वैष्येषु” [४१३।७६ वा०] इत्यनेन एडि पररूपापवाद ऐप् ।

अनन्तस्यापि प्रश्नाख्यानयोः ॥५१३१०३॥ प्रश्ने आख्याने च अनन्तस्यापि मिडन्तस्य
अन्यस्यापि यस्य कस्यचित् पदस्य टेः पो भवति । प्रश्ने-आगमः ३ पूर्वात् ग्रामान् अग्निभूता ३ इ । पटा ३
उ । आख्याने-आगमः ३ पूर्वा ३ न् ग्रामा ३ न् भो ३ । अत्र सर्वेषामपि पदानां पदान्ते केचित् पमिच्छन्ति ।

एचोऽदेः पूर्वस्यात्परस्येदुतौ ॥५१३१०४॥ एचः अदिसञ्ज्ञकस्य पप्रसङ्गे पूर्वस्यार्धस्य
आकारः पो भवति परस्य चार्द्धस्य इदुतौ भवतः । “एचोऽदेरदिदुत्परः” इति सिद्धे गुब्स्त्रकरणं किम् ?
इदुतोः पो न भवति । प्रश्नान्तपूजितप्रत्यभिवादिषु पदान्तस्य च एचः पो भवतीति ज्ञापनार्थम् । प्रश्नान्ते
अगमः ३ पूर्वान्ग्रामान् अग्निभूता ३ इ । पटा ३ उ । पूजिते-शोभनः खल्वसि अग्निभूता ३ इ । पटा ३ उ ।
प्रत्यभिवादे-आयुष्मानेधि अग्निभूता ३ इ । पटा ३ उ । परिगणनं किम् ? दस्यो ३ दस्यो घातयिष्यामि त्वाम् ।
आगच्छ भो अग्निभूते ३ । पदान्तस्येति वचनादिह न भवति । भद्रं करोमि गौरिति । पूजिते पः ।
आदिति किम् ? अपाक्ता ३ मोदनं कन्ये ३ । प्रश्ने पविधिः ।

य्वाचि सन्धौ ॥५१३१०५॥ अर्थवशाद्भिभक्तीपरिणामः । इदुतोर्चि परतः यकारवकारादेशौ
भवतः सन्धौ विवक्षिते । आ अध्यायपरिसमाप्तेः सन्धावित्यधिकारः । अग्ना ३ विन्द्रम् । पटा ३ बुदकम् ।
सिद्धः पविधिः सन्धाविति ज्ञापितं पुरस्तात् । तेन “अचीको यण्” [४१३।६५] इति यत्र यणादेशो नास्ति
तदर्थमिदम् । अचीति किम् ? अग्ना ३ इ गतम् । पटा ३ उ गतम् । सन्धाविति किम् ? अग्ना ३ इ इन्द्रम् ।
पटा ३ उ उदकम् ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

पुमः खय्यम्परे सोऽनुस्वारपूर्वः ॥५१४१॥ पुमित्येत्याम्परे खयि परतः सो भवत्यनुस्वारपूर्वः ।
पुमिति पुंसः स्कान्तखे कृतेऽनुकरणम् । खयीति प्रत्याहारसाहचर्यात् अमोऽपि प्रत्याहारग्रहणम् । पुंस्कामा ।
पुंश्चली । पुंस्पुत्रा । पुंस्कोकिलः । पुंसि कामोऽस्याः । पुमांसं चलयतीत्यादि ज्ञेयम् । सकारस्यासिद्धत्वाद्भ्रित्वं
न । खयीति किम् ? पुंदासः । पुंगवः । अम्पर इति किम् ? पुंक्षीरः । अनुस्वार इति विन्दोः सञ्ज्ञा पूर्वैः कृता ।
पुङ्ख इत्यत्र पुंशब्दस्यानर्थकत्वादग्रहणम् ।

नश्छुव्यप्रशान् ॥५१४२॥ नकारान्तस्य पदस्य अम्परे छवि परतः सो भवत्यनुस्वारपूर्वः प्रशान्शब्दं
वर्जयित्वा । भवाँश्छादयति । भवाँश्छादीयति । भवाँश्छाडति । भवाँश्चरति । भवाँश्छीकते । भवाँश्छरति । छवीति
किम् ? भवाँश्छ करोति । अग्रशानिति किम् ? प्रशान् चिनोति । “मो नः” [५१३।८३] इति नत्वस्यासिद्धत्वा-
न्नखाभावः । अम्पर इत्येव । भवान् त्सरुः । त्सरौ कुशलः । “आकषाँदेः कः” [३१३।१७] इति कः ।

भवद्भगवद्भवतो वा रिः काववस्यौ ॥५१४३॥ भवत् भगवत् अघवत् इत्येतेषां कौ परतः वा
रिर्भवति । यदा रिस्तदा अघवत्स्यौकारः रित्वं प्रति भवदादीनां स्थानार्थस्तानिर्देशः सोऽर्थादघवत्पेक्षयाऽव-

यवार्थः सम्पद्यते । अवस्येति निर्देशात् “नानर्थकेऽन्तेऽस्यो विधिः” [प०] इति वा सर्वस्य स्थाने ओकारः । हे भोः । हे भवन् । हे भगोः । हे भगवन् । हे अघोः । हे अघवन् । भवच्छब्दे “भातेर्डवतुः” [उ० सू०] इति डवत्वन्तः । तेन विशेषवाचित्वात्सम्बोधनम् । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्” [प०] इतीयं परिभाषा विभक्तीविषये नेप्यत इति स्त्रियां विधिर्न भवति । हे भवति । हे भगवति । हे अघवति । भो इति क्रि-संज्ञकं शब्दान्तरमस्ति तस्यार्थं प्रयोगः । भो सुन्दरि । भो भो नरेन्द्राः सुखमाश्वम् ।

ओद्पूर्वस्य योऽशि ॥५।४।४॥ रिरिति वर्तमानो विपरिणम्यते । ओद्कारपूर्वस्य पूर्वस्य च रेः यकारादेशो भवति अशि परतः । भोयत्र । भगोयत्र । अघोयत्र । भोयाहि । भगोयाहि । अघोयाहि । अवर्णपूर्वस्य-सर्वज्ञयास्ते । देवायास्ते । नरा गच्छन्ति । अनन्तरसूत्रेण निवर्तितस्य ओकारस्य ग्रहणादिह न भवति । गोरत्र । पटोरत्र । ओद्पूर्वस्येति किम् ? मुनिरत्र । अशीति किम् ? वृक्षस्तत्र । छवीति सत्वस्यासिद्धत्वाद्यत्वं प्रसज्यते । रेरित्येव । पुनरत्र ।

व्योः खं वा ॥५।४।५॥ वकारयकारयोरशि परतः खं भवति वा । पठस्येत्यनेन विशेषणात्पदान्तयोर्व्योः सञ्ज्ञतव्यम् । पठ इह । पठविह । वृक्षा अत्र । वृक्षावत्र । भो अत्र । भोयत्र । सर्वज्ञ आस्ते । सर्वज्ञयास्ते । देवा आस्ते । देवायास्ते । ते आस्ते । तथास्ते ।

हलि ॥५।४।६॥ अशीति वर्तते । व्योः खं भवति अशि हलि परतः । नित्यार्थं आरम्भः । देवा यान्ति । वाता वान्ति । वकारादौ “वलि व्योः खम्” [४।३।५५] इत्यनेन यखं नाशङ्कनीयम् । तस्मिन् यकारस्यासिद्धत्वात् । अशीति हलो विशेषणं किम् ? वृक्षं करोतीत्यत्र मा भूत् । वृक्षं वनतीति वृक्षवन् । वृक्षवनमाचष्टे णिच् । वृक्षवयतेः पुनः क्विप् । “पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” [प०] इति योः स्थानिवद्भावो नास्ति । अशि तु हलि खं भवत्येव । वृक्ष हसति ।

मोऽनुस्वारः ॥५।४।७॥ अशीति निवृत्तम् । मकारान्तस्य पदस्य अनुस्वारो भवति हलि परतः । व्रतं रक्षति । धर्मं शृणोति । अयं षडिकः । स्वर्गं साधयति । पादं हन्ति । हलीत्येव । इदमत्र । पदान्तस्येत्येव । रभ्यते ।

नश्चापदान्तस्य भलि ॥५।४।८॥ नकारस्य मकारस्य चापदान्तस्यानुस्वारो भवति भलि परतः । यशांसि । तितांसति । अनुस्वारस्यासिद्धत्वात् “सन्तस्फमहतोः” [४।४।७] इति दीत्वम् । मकारस्य-रंस्यते । अधिजिगांसते । “सनि” [१।४।११६] “इङ्” [१।४।१२०] इति गमादेशः । अपदान्तस्येति किम् ? हे राजन् भवान् स्थास्यति । भलीति किम् ? राजन्यः । गम्यः ।

सम्राट् ॥५।४।९॥ सम्राडिति निपात्यते क्व्यन्ते राजतौ परतः । समो मकारस्य मकार एव निपात्यते । “सत्सूद्विष” [२।२।५६] आदि सूत्रेण क्विप् । सम्राट् सगरः ।

हि म्परे वा ॥५।४।१०॥ म इति वर्तते । हकारे मकारपरे परतः मकारस्य वानुस्वारो भवति । किं हल्लयति । किं हल्लयति । कथं हल्लयति । कथं हल्लयति । ज्वल हल्ल हल्ल चलन इत्यस्य णिच् “ज्वल-हल्ल हल्लनमामगे वा” [ग० सू०] इति मित्सञ्ज्ञा । हीति किम् ? कथं स्मरसि । म्पर इति किम् ? किं ज्वल-यति ! प्राप्ते विकल्पोऽयेम् । वाग्रहणं बहुलार्थम् । तेन “यवल्लपरे हकारे नकारस्य वा यवला भवन्ति” । किं ह्यः । किं ह्यः । किं ह्यः हल्लयति । किं हल्लयति । किं हल्लयति । किं हल्लादयति । किं हल्लादयति ।

नपरे नः ॥५।४।११॥ नकारपरे हकारे परतः मकारस्य वा नकारादेशो भवति । किन् हुते । किं हुते । कथं हुते । कथं हुते ।

ङ्गोः कुक्कुक्छरि ॥५।४।१२॥ ङकारणकारयोः पदान्ते वर्तमानयोः वा कुक् कुक् इत्येतावागमौ भवतः शरि परतः । प्राङ्क छेते । प्राङ्शेते । पदान्ताङ्गमयः परस्य छ्वार्थं पूर्वान्तकाणम् । प्राङ्छण्डे । प्राङ्-

षण्डे । प्राङ्क्साये । प्राङ्क्साये । कुकः पूर्वान्तत्वात् परस्य “नाङ्गन्ते” [५।४।७६] इति षत्वप्रतिषेधः । टुक—सुपण्ट् शोते । सुपण्ट् शोते । सुपण्ट् षण्डे । सुपण्ट् षण्डे । सुपण्ट् साये । सुपण्ट् साये । टुकः पूर्वान्तत्वे परस्य “पदस्य टोः” [५।४।१२१] इत्यादिनियमात् छुत्वाभावः ।

[इनां घुट् सोश्च ॥५।४।१३॥]

नशिश तुक् ॥५।४।१४॥ नकारस्य पदान्तस्य शकारे परतो वा तुगागमो भवति । अत्रापि छुत्वार्थं पूर्वान्तत्वम् । भवाञ्छेते । भवाञ्छेते । भवाञ्छेते ।

[मयो वोञ्च्युञ्जः ॥५।४।१५॥]

डमो नित्यं डमुट् प्रात् ॥५।४।१६॥ प्रात्परो यो डम् तदन्तात्परस्याचो नित्यं डमुट् भवति । कुङ्डास्ते । सुगण्डह । कुर्वन्नास्ते । प्रादिति किम् ? प्राङ्गास्ते । अचीत्येव । कुङ् शोते । ननु परन्तः सिङ्गना-वित्यत्र कस्मान्न भवति । अत्र हि “त्यखे त्याश्रयम्” [१।१।६३] इत्यवयवविभक्तौमाश्रित्य पदान्तत्वमस्तीति चेत् ; नायं दोषः—त्याश्रयलक्षणेन पदत्वमुत्तरपदे एव भवति नान्यत्र । कथामिति चेत्, “भवद्गणवद्भवतः” [५।४।३] इति निर्देशात् । अन्यथा अव्यक्तकारस्यापि जश्त्वं स्यात् । एवं च पीतपयसौ सुराजानावित्यत्र स्त्विनखे न भवतः ।

ढो ढे खम् ॥५।४।१७॥ ढकारस्य ढकारे परतः खं भवति । ऊढिः । गूढम् । लीढम् । पदान्ते ढकारस्यासम्भवात् वचनात्पदमध्ये विधिः । नन्विह सम्भवति मधुलिङ्घौकत इति । ढत्वस्यासिद्धत्वात् जश्त्वमत्र भविष्यति । ननु मध्येऽपि ढत्वस्यासिद्धत्वात्परो ढकारो नास्ति तत्र यदि वचनाड्ढखम् । पदान्तेऽपि स्यात् । पदमध्ये श्रुतिकृतमानन्तर्यमस्तीति भवति । पदान्ते न श्रुतिकृतं नापि शास्त्रकृतमानन्तर्यम् । जश्त्वस्य सिद्धत्वात् ।

रो रि ॥५।४।१८॥ रेफस्य रेफे परतः खं भवति । नीरक्तम् । दूरक्तम् । अग्नीरथः । इन्दूरथः । पुना रक्तं वासः । “निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य” [प०] इतीयं परिभाषा नेहाश्रीयते “रेश्च सुपि” [५।४।२४] इति ज्ञापकात् । तत्र रेरेव सुपीति नियमो वक्ष्यते । इह यदि निरनुबन्धकस्य रेफस्य ग्रहणं स्यात् इदमेव तत्रानुवर्तते । इति रेः प्राप्त्यभावान्नियमोऽनर्थकः स्यात् । इह पदस्यावयवो यो रेफः तस्य खं भवतीत्याश्रयणादपदान्तरस्यापि रेफस्य खं भवति । अजर्घा इति जर्घ्ध् इत्यस्माद्यडुवन्ताल्लङः सिप् । “हल्ङ्घापः” [४।३।५६] इति सिपः खम् । “घ्युङः” [५।२।८३] एप् । रन्तत्वम् । “ऋलो जश्” [५।३।५७] इति षकारस्य ढत्वम् । “सिपि रिवा” [५।३।८१] “दः” [५।३।८२] इति ढकारस्य रित्वादेशः । अत्र रो रीति पूर्वस्य खं परस्य विसर्जनीयः । एवं स्पर्द्धेयङ्घ्रन्तस्य अपास्पाः । रो रीति निर्देशात् “रादिफः” [उ० सू०] इति विधानमनित्यम् । “ढो ढे खम्” [५।४।१७] इति निर्देशात् “वर्णाकारः” [उ० सू०] अप्यनित्यः ।

विरामे विसर्जनीयः ॥५।४।१९॥ विरामविषये रेफान्तस्य पदस्य विसर्जनीयादेशो भवति । देवः । कविः । साधुः । स्वः । अत्तः । विराम इति किम् ? अग्निरत्र । प्रातरत्र । वायुर्वाति । विरतिः वर्गुत्यानुचनारणं विरामः । विसर्जनीय इति अयोगवाहेषु त्रिन्दुद्वयस्य सञ्ज्ञा ।

शर्परे खरि ॥५।४।२०॥ शर्परे खरि परतः रेफान्तस्य विसर्जनीय आदेशो भवति । पुरुषः स्तरुकः । नरः स्तरति । “ङ्खि” [५।४।२५] सत्वस्यायमपवादः ।

कुप्वोः ॥५।४।२१॥ शर्परे खरीति वर्तते । खरि यौ कुपू तयोः शर्परयोः परतः रेफस्य विसर्जनीय आदेशो भवति । वासः क्षौमम् । अङ्घ्रिः प्लातम् । ननु पूर्वेण सिद्धे किमर्थमिदम् । अस्मिन्ननुच्यमाने स पुरस्तादपवादः सन् ऋक ऋपयोरेव बाधकः स्यात् न ङ्खि सत्वस्य । कुप्वोरित्यनेनारम्भेण ऋक ऋपयोर्बाधा । पूर्वेण ङ्खि सत्वस्येति ।

२८-पौ ॥५१४२२॥ शर्प इति निवृत्तम् । खरीति वर्तते । इष्टत्वात् । खरि यौ कुपू तयोः परतः रेफस्य २ क २ प इत्येतावादेशौ भवतः विसर्जनीयश्च । कः करोति । कः करोति । कः खनति । कः खनति । कः पचति । कः पचति । कः फलति । कः फलति । केवलौ निःशब्दौ इति । यितुमशक्यौ ककारपकारा उच्चारणार्थौ । इह नृकुट्यां भवः नाकुट्याः । नृपतेरपत्यं नार्पत्य इति रेफस्य बहिरङ्गत्वान्नायं विधिः । ननु सति विसर्जनीये अन्तरङ्गेऽस्य प्रतिद्वन्द्वत्वाद्बहिरङ्गत्वम् । विसर्जनीयश्चासिद्धः । कथं तन्मूलपरिर्भागाव्यापारः । नैषः दोषः । ईषत्सिद्धमसिद्धं क्वचित् सिद्धमित्याश्रयणाद्विसर्जनीयः सिद्धः ।

शरि सञ्च ॥५१४२३॥ शरि परतः रेफस्य सकारादेशो भवति विसर्जनीयश्च । कश्शते । कः शोते । कश्चकते । कः चकते । कस्सरति । कः सरति ।

रेश्च सुपि ॥५१४२४॥ सुपि परतः रेश्च सकारादेशो भवति विसर्जनीयश्च । चकारो विसर्जनीयानु-कर्षणार्थः । शरीत्यनुवर्तते । सुपीति ईपो बहोर्ग्रहणम् । पयस्सु । पयःसु । सर्पिणु । सर्पिणु इत्यत्र सत्वपक्षे “नुमृशब्दवाये” [५१४२८] इति परस्य षत्वे कृते पूर्वस्य पदान्तत्वात् “नाद्यन्ते” [५१४३६] प्रतिषेधे सति ष्टुत्वम् । विसर्जनीयपक्षे परस्य षत्वम् अयोगवाहस्य शर्ग्रहणेन ग्रहणात् पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमिदम् । रेरेव सुपि सत्वविसर्जनीयौ नान्यस्य । गीर्षु । धूपु । सुप्येव रेरिति कस्मान्न नियमः । “सस्सेऽद्युस्थस्य” [५१४३३] इति सकारद्वयनिर्देशात् ।

छवि ॥५१४२५॥ रोरीत्यतो रेफमात्रमनुवर्तते । विसर्जनीय इति निवृत्तम् । छवि परतः रेफस्य सकारादेशो भवति । कश्छिनत्ति । कश्छरीयति । कश्छुडति । कश्चरति । कष्ठीकते । कस्तरति । पुनश्चरति ।

कुप्वोस्त्ये ॥५१४२६॥ स इति वर्तते । पदान्तरेफस्य सकारादेशो भवति कवर्गयवर्गादौ त्ये परतः । “पाशकल्पकाम्याः प्रयोजयन्ति” [वा०] । याप्यं पयः । पयस्पाशम् । अयस्पाशम् । “याप्ये पाशः” [४११११०] इति पाशः । ईषदसिद्धं पयः पयस्कल्पम् । अयस्कल्पम् । “आसिद्धौ देशदेशीयकल्पः” [४१११२६] इति कल्पः । महोरस्कः । पयस्कम् । पयस्काम्यति । कुप्वोरिति किम् ? पयोभ्याम् । नन्वत्रापि पवर्गत्वात् प्राप्नोति । खरीत्यनुवर्तनात् भवति । त्य इति किम् ? अयः करोति । पयः पिबति । “उब्ज आर्जवे” इत्यस्योपध्मानीयोऽप्यपक्षे कुत्वविषये “उपध्मानीयस्य सत्त्वं वक्तव्यम्, द्वित्वप्रतिषेधश्च” [वा०] अम्मुद्गाः । समुद्गाः । उब्जिजिपतीति । दकारोऽप्यपक्षे तु कुत्वादन्वयः । असिद्धकारणे “व उद्गोः” [वा०] इति वचनात् वत्वस्यासिद्धत्वात् “न स्फादौ न्द्रोऽयि” [४१३३] इति द्वित्वप्रतिषेधः । उब्जिजिपति । “अत्राक्सिञ्जकस्येति वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । प्रातःकल्पम् । मुहुः काम्यति । “रेरेव काम्ये वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । गीः काम्यति । धूः काम्यति ।

इणः षः ॥५१४२७॥ इण उत्तरस्य सकारस्य षकारादेशो भवति कवर्गपवर्गादौ त्ये परतः । सर्पिष्कल्पम् । सर्पिष्कः । सर्पिष्काम्यति । “कुप्वोस्त्ये” [५१४२६] इत्यनेन निवृत्तस्य सकारस्य षत्वमनेन विधीयते इति लक्षणमिदमधिकारश्च । इत ऊर्ध्वं यत्सत्त्वं विधीयते तस्य इण उत्तरस्य षत्वं भवतीत्येतदधिक्रियते ।

इदुदुडोऽत्यपुंमुहुसः ॥५१४२८॥ त्ये हि पूर्वेण सिद्धमत्यार्थोऽयमारम्भः । इकारोकारोडोः रेफस्य सकारादेशो भवति कुप्वोः परतः त्यपुम्मुहुसो वर्जयित्वा । “निदुर्बहिराविश्चतुःप्राहुषः प्रायः प्रयोजयन्ति” निष्कृतम् । निष्पीतम् । बहिष्कृतम् । बहिष्पीतम् । आविष्कृतम् । आविष्पीतम् । चतुष्कुण्डिका । चतुष्कण्टकः । चतुर्षु कण्टकेषु भवः इत्यण् । इदुदुडो रसे कृते “रस्योबनपत्ये” [३११०४] इत्यण् उप् । प्रादुङ्कितम् । प्रादुष्पीतम् । सर्वत्र “इणः ष” [५१४२७] इत्यनुवर्तनात् षत्वम् । तपरकरणं किम् ? गीः करोति । अत्यपुम्मुहुस इति किम् ? मुनिः करोति तपम् । पटुः पठति । पुंस्कामा । मुहुःकामा । ननु पुंस्कामेत्यत्र रेफाभावात् प्रतिषेधोऽनर्थकः । लक्षणान्तरेण सत्वस्य विधानाच्च षत्वप्रतिषेधोऽप्ययुक्तः । नैष दोषः । उक्तं हि भाष्ये अविशेषण सत्वमुक्त्वा

“इणः षः” [५।४।३७] इति षत्वं विधीयते इति प्रातिरस्ति । इह मातुः करोति । पितुः करोतीति “रात्सः” [५।३।४२] इति सकारस्य खे कृते नायं त्यस्य रेफ इति कस्मान्न पत्वम् । कस्कादिषु भ्रातृपुत्रग्रहणं ज्ञापकमेकादेशनिमित्तकस्य न भवति । नैऋत्यम् । दौर्घ्यम् । बह्वैरेकृतम् इत्यत्र बहिरङ्गत्वादप्यविध्योरसिद्धत्वात्पत्वम् ।

नमःपुरसोस्त्योः ॥५।४।२६॥ त्य इति निवृत्तम् । नमस् पुरस् इत्येतयोस्तिसंज्ञकयोः रेफस्य सकारादेशो भवति कुप्वोः परतः । नमस्कर्ता । नमस्कर्तुम् । नमस्कर्तव्यम् । पुरस्कर्ता । पुरस्कर्तुम् । पुरस्कर्तव्यम् । नमः शब्दस्य “साक्षादादिः” [१।२।१४३] इति तिसंज्ञा वर्तते ।

तिरसो वा ॥५।४।३०॥ तिरसो रेफस्य वा सकारादेशो भवति कुप्वोः परतः । तिरस्कर्ता । तिरस्कृत्य । तिरः कृत्य । “तिरोऽन्तर्द्धौ” [१।२।१४०], “वा कृञि” [१।२।१४१] इति तिसञ्ज्ञा । इह तिरस्तिमञ्जकस्येति विशेषणं विषयद्वारकम् । तेनान्तर्द्धौ विषये “वा कृञि” इति सञ्ज्ञाविरहेऽपि सत्वम् । तिरस्कृत्वा । तिरः कृत्वा । तिसञ्ज्ञकस्येति किम् ? तिरः कृत्वा काण्डं गतः । नात्रान्तर्द्धिः प्रतीयते । अन्तरेण कृत्वा गत इत्यर्थः । षत्वमौदासीन्येन गच्छति ।

सुचः ५।४।३१॥ सुजन्तस्य पदस्य यो रेफस्तस्य वा सकारादेशो भवति कुप्वोः परतः । द्विष्करोति । द्विष्पचति । त्रिष्करोति । त्रिष्पचति । चतुष्करोति । चतुष्पचति । अन्यस्मिन् पक्षे “ऋऋषौ च” [५।४।२२] इत्येष विधिः । द्विष्करोति । द्विष्करोतीत्यादि योज्यम् । द्वौ वारौ करोतीति विग्रह्य “द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्” [५।२।२५] इति सुच् । द्वित्रिभ्यां परस्य अत्यपुम्मुहसः इति प्रतिषेधादप्राप्तं चतुःशब्दस्य तु “इदुदुङ्” [५।४।२८] इति प्राप्तं सत्वं विकल्प्यते । “इणः षः” [५।४।२७] इत्यधिकारात्पत्वम् ।

इसुसोः सामर्थ्ये ॥५।४।३२॥ इस् उस् इत्येतयो रेफस्य सकारादेशो भवति सामर्थ्ये सति कुप्वादिना । सर्पिष्करोति । सर्पिः करोति । सर्पिष्पिबति । सर्पिः पिबति । धनुष्करोति । धनुःकरोति । धनुष्पतति । धनुः पतति । सर्पिर्धनुःप्रभृतयः शब्दा इसुसन्ता व्युत्पाद्यन्ते इति दर्शने त्यस्य नेत्यप्राप्ते अव्युत्पत्तौ “इदुदुङ्” [५।४।२८] इति प्राप्ते विकल्पः । सामर्थ्ये इति किम् ? तिष्ठतु सर्पिः पिबतु पयः । ननु पदाधिकारे समर्थपरिभाषाव्यापारात् सामर्थ्यग्रहणं किम् ? कर्वाणपवर्गादिना धुना व्यपेक्षालक्षण एव सामर्थ्ये यथा स्यादित्येवमर्थम् । इह मा भूत् । सर्पिःकालकम् । यजुः पीतकमिति । सापेक्षमसमर्थमिति नायं पदस्तत्र स्थितः । तेनेहापि गमकत्वात्सत्वम् । देवदत्तस्य सर्पिष्करोति ।

सस्सेऽद्युस्थस्य ॥५।४।३३॥ इसुसो रेफस्याद्युस्थस्य सकारादेशो भवति । सर्पिष्कुण्डिका । सर्पिष्पात्रम् । धनुष्काण्डः । धनुष्पतिः । पुनः सग्रहणं नित्यार्थम् । अद्युस्थस्येति किम् ? परमसर्पिःकुरिन्म । पूर्वेणाप्यत्रैकार्थीभावे विकल्पो न भवति । यदा तु व्यपेक्षा सामर्थ्यम् ; तदा द्युस्थस्यापि पूर्वेण विकल्पः । ननु ससर्पिःकरोति । परमसर्पिः करोति । इदमेवाद्युस्थस्येति प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम् “इसुसोः” [५।४।३२] इत्यत्र “त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेः” [५०] इति नियमाभावादधिकस्यापि ग्रहणम् ।

कृकमिकंसकुम्भकुशाकर्णीपात्रेऽतोऽभेः ॥५।४।३४॥ कृ कमि कंस कुम्भ कुशा कर्णी पात्र इत्येतेषु परतः अकारत उत्तरस्य रेफस्याद्युस्थस्य सकारादेशो भवति । कृकम्योः सर्वान्तान्तयोर्ग्रहणम् । अयस्कारः । यशस्कारः । तपस्कारः । यशस्कामः । अयस्कान्तः । अयस्कंसः । पयस्कंसः । कंस इति कमेरव्युत्पत्तिपक्षे पृथग्रहणम् । अयस्कुम्भः । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि” [५०] अयस्कुम्भी । पयस्कुम्भी । गौरादित्वान्डी । अयस्कुशा । पयस्कुशा । अय इव कर्णावस्थाः “नासिकोदरौष्ठ” [३।१।४८] आदिना डी । अयस्कर्णी । पयस्कर्णी । शुनस्कर्णस्तु “कस्कादौ” [५।४।३६] । अयस्पात्रम् । पयस्पात्रम् । अयस्पात्री । पयस्पात्री ।

कृकम्यादिग्रहणं किम् ? पयःपानम् । अत इति किम् ? गीःकारः । धूःकारः । तपरकरणं किम् ? भाः कामः । भास्कर इति “कस्कादौ” । अभोरिति किम् ? प्रातःकारः । स इत्येव । यशः करोति । अद्युस्थ-स्येत्येव । परमयशःकारः । कमेरणिङन्तस्य सूत्रे निर्देशः किम् ? अयस्कान्तः ।

शिरोऽधसोः पदे ॥५।४।३५॥ शिरस् अधस् इत्येतयो रेफस्य सकारादेशो भवति पदशब्दे परतः । शिरस्पदम् । अधस्पदम् । मयूरव्यंसकादित्वात्सः । से इत्येव । शिरसः पदम् । अद्युस्थस्येव । परमशिरःपदम् ।

कस्कादौ ॥५।४।३६॥ कस्क इत्येवमादिषु रेफस्य सकारादेशो भवति । यथा ते तत्र पठ्यन्ते तथैव तेषां साधुत्वम् । कस्कः । किमः तसन्तस्य वीप्सायां द्वित्वम् । कौतस्कुतः । समुदायस्यामृत्वेऽपि वचनात् तत आगतेऽर्थेऽण् । भातुष्पुत्रः । सेऽपि “ऋतो विद्यायोनिस्म्बन्धात्” [४।२।१३६] इत्यनुप् । “इणः षः” [५।४।२७] इति षत्वम् । शुनस्कर्णः ! असञ्ज्ञायां “ताया आक्रोशे” [४।३।१३४] इत्यनुप् । सञ्ज्ञायां तु ष्वकर्णं इति । सद्यस्कालः । सद्यस्त्रीः । सम्पदादित्वात् क्विप् । तत्र भवः साद्यस्कः । तमस्काण्डम् । अयस्काण्डम् । तप्तकाण्डम् । मेदस्पाण्डः । आऋणिङोऽपन्निङित्वात्सः सत्वमिति द्रष्टव्यम् ।

इण्कोः सः षः ॥५।४।३७॥ इणः कर्वाञ्चोत्तरस्य सकारस्य षत्वं भवतीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । वक्ष्यति “त्यादेशयोः” [५।४।३६] । मुनिषु । देवेषु । गीर्षु । वान्तु । प्राङ्तु । उदङ्तु । सिषेव । सुष्वाप । इणोरिति किम् ? यास्यति । “क्षियाशीःप्रैषेषु” [५।३।१०२] इति निर्देशादिण्परेण णकारेण गृह्यते । स इति स्थानिनिर्देशो रेफस्य स्थानित्वनिवृत्त्यर्थः । पुनः पग्रहणं कुण्वोरित्यस्य निवृत्त्यर्थम् । उत्तरत्र “नाद्यन्ते” [५।४।७६] इति प्रतिषेधात् पदस्येत्येतदनुवर्तमानमिह विशेषणरूपेण सम्बन्ध्यते ।

नुमशर्व्यवायेऽपि ॥५।४।३८॥ नुमव्यवाये शर्व्यवाये अर्वावायेऽपि इण्कोश्चत्तरस्य सकारस्य षकारादेशो भवति । सर्पीपि । धनूषि । अत्र नुमादेशो नुम् । तेनेह न भवति । पुंसु । शर्व्यवाये । सर्पिषु । धनुषु । रेः सत्वे कृते वरस्य पत्वम् ।

[त्यादेशयोः ॥५।४।३६॥ शास्वस्वसाम् ॥५।४।४०॥ षणि चाणिस्तोरेव ॥५।४।४१॥ सखिदिखिदिसहेः ॥५।४।४२॥ प्राक् सितादटापि ॥५।४।४३॥ स्यादेश्चेन चस्य ॥५।४।४४॥ गेः सूजसूसोस्तुस्तुभः ॥५।४।४५॥]

.....म इति षत्वे य.....माश्रीयते । अभितष्ठावित्यत्र चस्य टवर्गः स्यात् । चस्य च गेः परस्य सत्वं भवतीदमपि नियमार्थवचनम् । अभिषिषिच्छति । परिषिषिच्छति । अत्र द्विः प्रयोगो द्वित्वं गोः सिच इत्येव षत्वं सिद्धम् । “सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय ।” स्यादीनामेव वक्ष्यमाणानां चस्य षत्वम् । चेन च व्यवाये-नान्येषां सुनोःयादीनाम् । अभिसुषूपति । अभिसिवासति । स्यादीनां चस्यैवेति न शङ्क्यम्.....ये विधान-मनर्थं स्यात् ।

स्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् ॥५।४।४६॥ गौरिति वर्तते । गेः परेषां स्था से नय सेध सिच् सञ्ज स्वञ्ज इत्येतेषां सकारस्य षत्वं भवति । अभिष्ठास्यति । परिष्ठास्यति । अटा व्यवाये-अभ्यष्ठात् । पर्यष्ठात् । चेन च व्यवाये-अभितष्ठौ । अभिषेणयति । अभ्यषेणयत् । अतिषिषेणयिषति । अत्रादेशसकारा-भावादप्राप्ते विधिः । सेध इति भौवादिकस्य ग्रहणम् । अभिषेधति । निषेधति । अभ्यषेधत् । न्यषेधत् । चस्य च । अभिषिषेध । निषिषेध । अभिषिञ्चति । अभ्यषिञ्चत् । चेन च व्यवाये-अभिषिषिच्छति । अभिषजति ।

१. प्रतिषु [] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिस्तुटिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्र पञ्चाध्यायीमनुसृत्यात्र निर्दिष्टानि ।

अभ्यषजत् । चेन च व्यवाये-अभिषिपड्जति । अभिष्वजते । अभ्यष्वजत् । चेन च व्यवाये । अभिषिष्वङ्-
जते । गेरित्येव । दधि सिञ्चति ।

सदोऽप्रतेः ॥५।४।४७॥ अप्रतेर्गेः परस्य सदेः सकारस्य षत्वं भवति । अभिषीदति । निषीदति ।
अभ्यषीदत् । न्यषीदत् । चस्य । अभिषिषत्सति । अभिषसादेत्यत्र “सदिस्वञ्ज्योः परस्य लिटि” [५।४।८४]
इति धोः षत्वप्रतिषेधः । अप्रतेरिति किम् ? प्रतिसीदति ।

स्तम्भेः ॥५।४।४८॥ गेरिणः परस्य स्तम्भेः सकारस्य षत्वं भवति । अभिष्टम्नाति । प्रतिष्टम्नाति ।
अभ्यःऽभ्नात् । पर्यःऽभ्नात् । चेन च व्यवाये-अभितःऽभ् । प्रतिताऽभ्यते । स्तम्भिः सौत्रो धुः । तस्य
अपोपदेशत्वाद्वाप्राते प्रतिषिद्धे वा पत्वे सूत्रं प्रतिसङ्ग्रहार्थम् । उत्तरार्थं च पृथक्करणम् ।

आलम्बनाविदूरेऽघात् ॥५।४।४९॥ अनिणर्थ आरम्भः । अवाद्गोचरस्य स्तम्भेः सकारस्य षत्वं
भवति आलम्बने अविदूरे चार्थे । अवष्टभ्य आस्ते । अवष्टम्नाति । अवाष्टम्नात् । अवतःऽभ् । अविदूरे-अवष्ट-
व्धे सेने । अवष्टब्धा शरत् । आलम्बनाविदूरे किम् ? अवस्तब्धो वृषभः । विदूरप्रतिषेधाच्चातिदूरमासन्नं च
सङ्गृहीतम् ।

वेश्च स्वनोऽशने ॥५।४।५०॥ वेरवाच्चोत्तरस्य स्वनः सकारस्य षत्वं भवत्यशनेऽर्थे । विष्वणति ।
सशब्दमशनातीत्यर्थः । अवष्वणति । व्यष्वणत् । अवाष्वणत् । चेन च व्यवाये-विष्वण । अवष्वण ।
विष्वण्यते । अशन इति किम् ? विस्वनति । अवस्वनति मृदङ्गः । नात्राभ्यवहारविशेषः ।

परिनिविभ्यः सेवसितसयाम् ॥५।४।५१॥ परि नि वि इत्येतेभ्यः परेषां सेव सित सय इत्येतेषां
सकारस्य षो भवति । सेव इति भौवादिकः सेवार्थो धुर्गृह्यते । परिषेवते । निषेवते । विषेवते । पर्यषेवत ।
न्यषेवत । व्यषेवत । चेन व्यवाये-परिषिषेविषते । परिषितः । निषितः । विषितः । परिषयः । निषयः । विषयः ।
षिञ्ज बन्धन इत्यस्य क्तान्तस्याजन्तस्य च ग्रहणम् । केचित्तु-सह (योगाकरणान्नियमार्थमेव) ग्रहणमिच्छन्ति ।
एतेभ्य एव परस्य षत्वमिति । सेवादीनां स्वरितत्वाभावाद्यथासङ्ख्यं न भवति ।

सिबुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम् ॥५।४।५२॥ परिषिष्यति । निषीष्यति । विषीष्यति । परिषहते । विषहते । निषहते । सुट् परिमेव प्रयो-
जयति । परिष्कर्ता । परिष्करोति । “संपथुपाक्कजः सुट् भूषे” [४।३।११०] इति सुट् । तस्यानादेशत्वाद्वाप्राते
इतरयोर्नाद्यन्त इति प्रतिषिद्धे पत्वे वचनम् । गेः परयोः षत्वसिद्धेः रणुञ्जोर्ग्रन्थान्तरार्थम् । अतो व्यवाये
विकल्पो यथा स्यात् ।

वाऽटा ॥५।४।५३॥ सिवादीनामटा व्यवाये वा षो भवति । परिनिवेरिति वर्तते । पर्यषीष्यत् । न्यषी-
ष्यत् । पर्यषीष्यत् । न्यषीष्यत् । व्यषीष्यत् । पर्यषहत । व्यषीष्यत् । न्यषहत । व्यषहत । पर्यसहत । न्यसहत ।
व्यसहत । पर्यष्यौत् । न्यष्यौत् । व्यष्यौत् । पर्यस्तौत् । न्यस्तौत् । व्यस्तौत् । पर्यष्वजत । न्यष्वजत । व्यष्वजत ।
पर्यस्वजत । न्यस्वजत । व्यस्वजत । सिबुसहसयामप्राप्ते स्तुस्वञ्जेः प्राप्ते विभाषा ।

निव्यभ्यनुपरेः स्यन्दोऽजीवे ॥५।४।५४॥ नि वि अभि अनु परि इत्येतेभ्यः परस्य स्यन्देः सकारस्य
वा षत्वं भवत्यजीवे । परिष्यन्दते । निष्यन्दते । विष्यन्दते । अभिष्यन्दते । अनुष्यन्दते । विष्यन्दते । अभि-
ष्यन्दते । परिष्यन्दते जलम् । अजीव इति किम् ? अनुष्यन्दते मत्स्यः । अजीव इति पर्युदासोऽयम् । जीवा-
जीवसमुदायो जीवादन्वो भवतीति विकल्पः सिद्धः । अनुष्यन्दते मत्स्योदके । अनुष्यन्दते । अप्राप्ते विकल्पः ।

वेः स्कन्दोऽते ॥५।४।५५॥ वेरुत्तरस्य स्कन्देः सकारस्य वा षत्वं भवत्यते परतः । विष्कन्ता । विष्क-
न्तुम् । विस्कन्ता । विस्कन्तुम् । अत इति किम् ? विस्कन्नः । विस्कन्नवान् ।

परेः ॥५१४५६॥ परेरुत्तरस्य स्कन्देः सकारस्य वा पत्वं भवति । परिष्कन्ता । परिस्कन्ता । तसञ्ज्ञ-
कैऽपि यथा स्यादिति योगविभागः । परिष्करणः । परिष्कन्नः ।

परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु ॥५१४५७॥ प्राच्यभरतेषु परिस्कन्द इति निपात्यते । पचाद्यच्चि पूर्वेण पक्षे
प्रातस्य पत्वस्थाभावो निपात्यते । परिस्कन्दो वहति । प्राच्यभरतेष्विति किम् ? परिष्कन्दः । परिस्कदः ।

स्फुरिस्फुल्योर्निनिवेः ॥५१४५८॥ निष् नि वि इत्येतेभ्यः परयोः स्फुरि स्फुलि इत्येतयोः सकारस्य वा
षकारो भवति । शर्व्यवायेऽपि षत्वम् । निःष्फुरति । निःस्फुरति । निष्फुरति । निस्फुरति । विष्फुरति । विस्फुरति ।
निःष्फुलति । निःस्फुलति । निष्फुलति । निस्फुलति । विष्फुलति । विस्फुलति ।

वेः स्कम्भेः षः ॥५१४५९॥ वेरुत्तरस्य स्कम्भातेः सकारस्य षकारो भवति । विष्कम्भाति । विष्कम्भकः ।
पुनः षग्रहणं नित्यार्थम् । स्कम्भिः सौत्रो धुः षोपदेशः ।

इणः षीध्वंलुङ्लितां धो गोर्दः ॥५१४६०॥ इणन्ताद्गोरुत्तरेषां षीध्वंलुङ्लितां धकारस्य ढकारादेशो
भवति । च्योषीढ्वम् । प्लोषीढ्वम् । अच्योढ्वम् । अप्लोढ्वम् । “धि” [५१३१४३] इति सखम् । चकृढ्वे ।
षट्ढ्वे । “कृ” [५१११११] आदिनेट्प्रतिषेधः । इण इति किम् ? कवर्गान्मा भूत् । पक्षीध्वम् । यक्षीध्वम् ।
षीध्वंलुङ्लितामिति किम् ? स्तुध्वे । स्तुध्वम् । लिङ्गीति कर्तव्यं षीध्वमिति किम् ? अधीयोध्वम् । स्तुवीध्वम्
इत्यत्र मा भूत् । ध इति किम् ? चोरीढ्वमिन्त्र परस्यादेर्माभूत् । गोरिति किम् ? परिवेविषीध्वम् । अत्र धोः
षकारस्य ईध्वंशब्दस्य च समुदायः षीध्वंशब्दो न तु गोः परः । अर्धंशब्दो न चानित्या । तेन
“अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन” [५०] इति सिद्धम् ।

वेटः ॥५१४६१॥ इणन्ताद्गोरुत्तरो यः इट् ततः परेषां षीध्वंलुङ्लितां धकारस्य ढकारादेशो वा
भवति । इट् पक्षे परत्वं श्रुतिकृतमाश्रीयते । लविषीढ्वम् । लविषीध्वम् । इट् इणग्रहणेन ग्रहणात् । पूर्वेण नित्ये
प्राप्ते । अलविढ्वम् । अलविध्वम् । सेरिडागमो न लुङ् इति तद्ग्रहणान्नाद् व्यवधानमस्तीत्यप्राप्ते लुलुविढ्वे ।
लुलुविध्वे । अत्र लिट् एवेडागम इति प्राप्ते विकल्पः । इणन्ताद्गोरित्येव । आसिषीध्वम् । उपदिदीयिध्वे इत्यत्र
“दीङोऽचि ङिति युट्” [४१४६२] इति युटि कृते इणन्ताद्गोरानन्तर्यमित्स्समुदायभक्तेन युटा विहतमिति
दत्वं न भवति । तस्मान्न नित्यो विधिः । अस्ति ह्यत्रेणन्ताद्गोरुत्तरो लिट् तत्सम्बन्धी च यकारः । एवं तर्हि वेति
व्यवस्थितविभाषा पूर्वमवलोकते । ततोऽत्रापि विकल्पः ।

सेङ्गुलेः सङ्गः ॥५१४६२॥ अङ्गुलेरुत्तरस्य सङ्गसकारस्य पत्वं भवति से । सङ्ग इत्यत्र “सूत्रेऽस्मिन्
सुब्बिधिरिष्टः” [५१२११४] इति ङसः स्थाने सुः । अङ्गुलिषङ्गो दृढः । अङ्गुलिषङ्गा यवागूः । भावे
कर्मणि च घञ् । इत्येव अङ्गुलेः सङ्गः । अङ्गुलिपदात्परस्य पदस्य पत्वारम्भाद्विभक्त्या व्यवधानेऽपि
प्रसज्यते ।

भीरोः स्थानम् ॥५१४६३॥ भीरोरुत्तरस्य स्थानसकारस्य पत्वं भवति से । भीरुस्थानम् । स इत्येव ।
भीरोः स्थानम् । अधिकारणे युट् । पृथग्योगकरणं स्पष्टार्थम् ।

ज्योतिरायुषः स्तोमः ॥५१४६४॥ ज्योतिष् आयुष् इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्तोमसकारस्य षो भवति ।
ज्योतिःष्टोमः । आयुःष्टोमः । “शरि सरच” [५१४२३] इति विसर्जनीयः सत्वं वा । तस्य घटुत्वम् । ज्योतिः
स्तोमस्य दाहकम् ।

स्तुत्सोमौ चाग्नेः ॥५१४६५॥ अग्नेरुत्तरयोः स्तुत् सोम इत्येतयोः स्तोमस्य यः सकारस्तस्य से षो
भवति । अग्निघटुत् । विववन्तेन वाक्सः । अग्नीषोमौ । “गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययात्” [५०] इह न भवति ।
अग्निगुणसोमगुणौ अग्निषोमौ मनुष्यौ । अत एवाग्नेरीत्वाभावः । अग्निष्टोमः । व्युत्पत्तिपक्षे “नाद्यन्ते”
[५१४७६] इति प्रतिषेधः प्राप्तः ।

मातृपितृभ्यां स्वसुः ॥१५४६६॥ मातृपितृभ्यां परस्य स्वसृसकारस्य षो भवति । मातृष्वसा । पितृष्वसा । अनादेशसकारोऽयम् । स इत्येव । वाक्ये न भवति । मातुः स्वसा । पितुः स्वसा ।

वाऽनुपि ॥१५४६७॥ अनुपि से मातृपितृभ्यामुत्तरस्य स्वसृसकारस्य वा षो भवति । मातुःष्वसा । मातुः स्वसा । पितुःष्वसा । पितुः स्वसा । ताया अनुपु ।

गिप्रादुभ्यां यच्च्यस्तेः ॥१५४६८॥ स इति निवृत्तम् । गेरिणः प्रादुःशब्दाच्चोत्तरस्य अस्तेः सकारस्य यकारादौ अजादौ च पत्वं भवति । अभिप्यात् । निप्यात् । प्रादुःप्यात् । अभिपन्ति । निपन्ति । प्रादुःषन्ति । गिप्रादुभ्यामिति किम् ? दधि स्यात् । मधु स्यात् । यचोति किम् ? अनुस्वः । अनुस्मः । अस्तेरिति किम् ? केवलं सकारं क्रियावाचिनं प्रति गिसञ्ज्ञायां पत्वमत्र स्यात् । अनुसूते इति अनुसूः । अनुस्वः अपत्यम् आनुसेयः । “चतुष्पाद्भ्यो ढञ्” [३।१।१२३] इति ढञ् । “ढेः खम्” [४।४।१३५] इति ऊकारस्य खम् । प्रादुःशब्दस्य तु कृभ्वस्तिष्वेव प्रयोगात् प्रत्युदाहरणं नास्ति ।

निर्दुस्सुवेः सुपिसृतिःसमाः ॥१५४६९॥ निस् दुस् सु वि इत्येतेभ्यो गिभ्य उत्तरेषां सुपिसृति-समानां सकारस्य षो भवति । निष्पुतः । दुष्पुतः । सुपुतः । विष्पुतः । निष्पूतिः । दुष्पूतिः । सुष्पूतिः । विष्पूतिः । निष्पमः । दुष्पमः । सुष्पमः । विष्पमः । “गिप्रकरणे सर्वत्र सुदुभ्यां योगे पत्वं नेप्यते” इति वचनम् । “सुदुसोः प्रतिषेधो नुंविधिनत्वषत्वणत्वेषु” इति वचनात् । सम इति सर्वादिपु पठ्यते । तस्य “सम ष्टम अवैकल्ये” [धा०] इत्यनेन व्युत्पत्तिपक्षेऽपि ग्रहणम् । सृतिरिति सूतेः सूयतेः सुवतेश्च क्यन्तमेव रूपं समशब्द-साहचर्याद्गृह्यते । तेन विसृतमित्यादौ पत्वं न । सुपीति विकृतनिर्देशादिह मा भूत्-विस्व-न इति । विसुष्वापेत्यत्र तर्हि कस्मान्न भवति । “ह्रलोऽनादेः” [५।२।१६१] इति खे कृते पश्चाज्जिरिति सुपिरत्र नास्ति । नैप युक्तः समाधिः । ह्रलोऽनादेः खात्प्राग्जिर्भवतीत्युक्तम् । एकदेशविकृतस्य चानन्यत्वात् सुपिरेवायमिति प्राप्नोति । स्थादीनामेव चस्य नान्येषामित्यपि नास्ति । सुनोत्यादिपु स नियमो निवर्तकः । एवमप्यनर्थकोऽयं सुपिः । द्विःप्रयोगेऽपि द्विल्वे समुदायस्यैवार्थवत्ता न केवलस्य धोर्नापि चस्य । विष्पुपुपुत्विष्पुपुपरित्यत्र “पूर्वत्रा-सिद्धीयमद्विल्वे” [प०] इति सुपिः पत्वभूतो द्विरुच्यते । रोरित्येव । निर्गता सूतिः निःसृतिः ।

विकुशमीपरेः स्थलम् ॥१५४७०॥ वि कु शमी परि इत्येतेभ्यः परस्य स्थलसकारस्य पत्वं भवति । विष्ठलम् । कुष्ठलम् । विकू यदि तिसञ्ज्ञौ तदा स्थलशब्देनाजन्तेन “तिकुमादयः” [१।३।८१] इति सः । अतिसञ्ज्ञा चेत्तासः । शमिष्ठलमिति सञ्ज्ञायां “त्वे ङ्यापोः क्वचित् खौ च” [४।३।१७३] इति परिष्ठलम् ।

अम्बाम्बगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशोकुशङ्कुवङ्गुमञ्जिपुञ्जिपरमेवहिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः ॥१५४७१॥ अम्बा अम्ब गो भूमि सव्य अप द्वि त्रि कु शोकु शङ्कु अङ्गु मञ्जि पुञ्जि परमे बहिर्दिव्यग्निभ्यः इत्येतेभ्यः उत्तरस्य स्थासकारस्य षो भवति । अम्बाष्ठः । सञ्ज्ञायां तु “त्वे ङ्यापोः क्वचित् खौ च” [४।३।१७३] इति प्रादेशे सत्यम्बाष्ठः । अम्बष्ठः । गोष्ठः । गावस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति घञर्थे कविधानम् । भूमिष्ठः । सव्येष्ठः सारथिः । अपष्ठः । द्विष्ठः । त्रिष्ठः । कौ कुत्सितं तिष्ठतीति कुष्ठः । शोकुष्ठः । शङ्कुष्ठः । अङ्गुष्ठः । मञ्जिष्ठः । पुञ्जिष्ठः । परमेष्ठः । बहिष्ठः । दिविष्ठः । अग्निष्ठः । सर्वत्र “सुपि” [२।२।७] “स्थः” [२।२।८] इति कः । स्थ इत्यकारान्तो निर्देशः किम् ? गोस्थानम् । गोस्थितिः । अथ सव्येष्ठा सारथिः । परमेष्ठी विधिः । “परमे क्ति” [उ० सू०] इति इनि च कथं पत्वम् ? सुषामादिष्वेतौ द्रष्टव्यौ । “षे कृति बहुलम्” [४।३।१३२] इतीपोऽनुपु ।

सुषामादिषु च ॥१५४७२॥ सकारस्य षो भवति । स्यतेर्मनि साम । शोभनं सामाऽस्य सुषामा । एवं निःषामा । दुःषामा । सुषेधः । निःषेधः । दुःषेधः । “सुः पूजायां न गिति” [१।४।७] इति सोः निर्दुषोश्च क्रियान्तरविषयत्वादगित्वमिति गिलक्षणं पत्वं नास्ति । गित्वेऽपि सेधतेः “सेधो गतौ” [५।४।७६]

इति प्रतिषेधो मा भूत् । सुपन्धिः । निःपन्धिः । दुःपन्धिः । अयमनादेशसकारः । सुप्टु । दुप्टु । तिप्टते-
रौणादिकः कुः । अत्र “नाद्यन्ते” [५।४।७६] इति प्रतिषेधः प्रातः । गौरिसकथः । “असिसञ्जिभ्यां क्थिः”
[३० सू०] इति क्थिः । गौर्याः सक्थीव सक्थि यस्येति ऋसे “स्वाङ्गाद्वेञ्चि सक्थनः” [४।२।११३]
इति टः सान्तः । अनङ् । “नोऽपुंसो हृत्ति” [४।४।१३०] इति टिखम् “त्वे ङ्यापोः” [४।३।१७३] इत्यादिना
प्रादेशः । प्रतिष्ठाका । प्रतिपूर्वात् स्नातेः “आतो गौ” [२।३।८८] इति कः । टाप् । तदन्तात् स्वार्थे कः ।
पुनष्टाप् “केऽणः” [५।२।१२५] इति । प्रत्ययस्येत्यादिनेत्वम् । नौषेविका । दुन्दुभिसेवनम् । सञ्ज्ञैषा ।
“एति सञ्ज्ञायामगकारात्” [१० सू०] । हरिषेणः । साधुषेणः । एतीति किमर्थः ? हरिसन्धिः ।
सञ्ज्ञायामिति किम् ? पृथ्वी सेनाऽस्य पृथुसेनः । अगकारादिति किम् ? विष्वक्सेनः । इण्कोरिन्त्येवासर्वसेनः ।
“नक्षत्राद्वा एतिसञ्ज्ञायामगकारात्” [६।० सू०] । रोहिण्येणः । रोहिण्येनः । भरणिषेणः । भरणिसेनः ।
अगकारादित्येव । शतभिषक्सेनः । अविहितलक्षणं षत्वमिह द्रष्टव्यम् ।

प्राद्धृत्यमिडस्ति ॥५।४।७३॥ प्रादुत्तरस्य अमिडः सकारस्य पो भवति तकारादौ हृत्ति परतः ।
सर्पिष्टरम् । सर्पिष्टमम् । चतुष्टयम् । सर्पिष्टा । सर्पिष्टम् । सर्पिष्टो विभेति । पदान्तेऽपि षत्वार्थमिडम् । प्रादिति
किम् ? गोस्तरा । धूस्तरा । हृतीति किम् ? सर्पिस्तत्र । अमिड इति किम् ? भिन्दुत्तराम् । छिन्दुत्तराम् ।
तकारादाविति किम् ? सर्पिस्ताद् भवति । पूर्वस्य मा भूत् । परस्य “सात्” [५।४।७७] इत्येव प्रतिषेधः सिद्धः ।

निसस्तपतावनासेवने ॥५।४।७४॥ निसः सकारस्य तपतौ परतः षो भवत्यनासेवनेऽर्थे । मुहुर्मुहुः
क्रियायाः सेवनमासेवनम् । निष्टं सुवर्णम् । निस्तता अरातयः । सकृत्तता इत्यर्थः । अनासेवन इति
किम् ? निस्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः । मुहुर्मुहुस्तपतीत्यर्थः । इदमप्यन्ते विधानार्थम् । मुनिदेशः ।

निष्णातनदीष्णातप्रतिष्णाताभिनिष्ठानकपिष्टलप्रष्टविष्टरविष्टारगविष्टिरयुधिष्टिराः ॥५।४।७५॥
निष्णात नदीष्णात प्रतिष्णात अभिनिष्ठान कपिष्टल प्रष्ट विष्टर विष्टार गविष्टिर युधिष्टिर इत्येते शब्दा
निपात्यन्ते । “निनदीभ्यां स्नातस्य कौशले षत्वम्” । निष्णातः काव्यकरणे । नदीष्णातः । नदीस्नाने
कुशल इत्यर्थः । निस्नातनदीस्नातावन्यत्र । योपि “सुपि” [२।२।७] “स्थः” [२।२।८] इति योगविभागात्के
कृते नदीष्ण इति । तस्य सुषामादिषु षत्वम् । प्रतिष्णातं भवति सूत्रं चेत् । प्रतिस्नातमन्यत् । अभिनिःष्ठानो
भवति वर्णश्चेत् । अभिनिर्भ्यां परस्य स्तन ध्वन इत्यस्य कर्तरि घञि रूपम् । अभिनिःस्तन्यत इति अभिनि-
ष्ठानो विसर्जनीयः । अभिनिःस्तानोऽन्यः । कपिष्टलो भवति गोत्रशब्दश्चेत् । कपिष्टलोऽपत्यं यस्य कपिष्टलिः ।
आद्यः पुमानपत्यसन्ततेः प्रवर्तयिता लोके गोत्रम् । ततोऽन्यः कपिस्थलम् । प्रष्ट इति प्रात् स्थस्य षत्वमग्रे
ग्रामिणि प्रतिष्ठते इति प्रष्टो देवदत्तः । प्रष्टो गौः । प्रस्थ इत्यन्यत्र । अग्रेग्रामिणीत्यत्र “कुमति” [५।४।६७]
इति णत्वम् । “न भाभूपूजकमिगमि” [५।४।११३] इति गोः कृत्स्थस्य प्रतिषेधः । “वेः स्तारस्य वृत्तासनयोः
षत्वम्” । विष्टरो वृत्तः । विष्टरमासनम् । विस्तर इत्यन्यत्र । “वेः स्तारस्य छन्दोनामि षत्वम्” । विष्टारः
पङ्क्तिछन्दः । विष्टारः बृहती छन्दः । “छन्दः खौ” [२।३।३२] इति घञ् । पदस्य विस्तर इत्यन्यत्र ।
“गवियुधिपूर्वस्य स्थिरस्य सञ्ज्ञायां षत्वम्” । गविष्टिरो युधिष्टिरो गोशब्दाद्बहुलन्तादपि निपातनादीपोऽनुप् ।
गविस्थिरो युधिस्थिर इत्यन्यत्र ।

नाद्यन्ते ॥५।४।७६॥ पदस्य आदावन्ते च षत्वं न भवति । दधि सिञ्चति । मधु सिञ्चति । अग्निस्तत्र ।
वायुस्तत्र । “इण्कोः” [५।४।३७] “त्यादेशयोः” [५।४।३६] इति षत्वे प्राप्ते प्रतिषेधः ।

सात् ॥५।४।७७॥ सादित्येतस्य च षत्वं न भवति । अग्निसात् । मधुसात् ।

सिचो यङि ॥५।४।७८॥ सिचो यङि परतः षत्वं न भवति । सेसिच्यते । “त्यादेशयोः”
[५।४।३६] इति प्राप्तिः । अथामिसेसिच्यते परिसिच्यते इत्यत्र गिलक्षणां षत्वं कस्मान्न भवति ? “येन

नाप्राप्तन्यायेन” [प०] “नाद्यन्ते” [५१४७६] इत्यस्यैव प्रतिषेधस्य बाधकं गिलक्षणं न सिचो यडीत्यस्य । अथवा “पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [प०] इति यङि सर्वत्र प्रतिषेधः । यडीति किम् ? परिपिषित्ति ।

सेधो गतौ ॥५१४७६॥ सेधतेर्गत्यर्थस्य पत्वं न भवति । अभिसेधति । प्रतिसेधति गाः । “स्थासेन-यसेध” [५१४७६] इत्यादिना प्राप्तस्य प्रतिषेधः । गताविति किम् ? प्रतिषेधति पापम् । निवारयतीत्यर्थः ।

निस्तब्धप्रतिस्तब्धौ ॥५१४८०॥ निस्तब्ध प्रतिस्तब्ध इतीमौ शब्दौ निपात्येते । निस्तब्धः । प्रतिस्तब्धः । क्ते परतः “स्तम्भेः” [५१४८८] इति प्राप्ते प्रतिषेधः ।

सोढः ॥५१४८१॥ सहेः सोढभूतस्य पत्वं न भवति । परिसोढा । परिसोढुम् । एवं निसोढा । विसोढा । परिनिविभ्यः “सिबुसहसुदस्तुस्वञ्जाम्” [५१४५२] इत्यनेन प्राप्तिः । सोढभूतस्य ग्रहणं किम् ? परिषहते । निषहते । सोढ इति सहेः सोढभूतस्यानुकरणं ङसा निर्दिष्टः ।

स्तम्भुसिबुसहां कचि ॥५१४८२॥ स्तम्भु सिबु सह इत्येतेषां कचि परतः पत्वं न भवति । अभ्यत-स्तम्भत् । पर्यतस्तम्भत् । “स्तम्भेः” [५१४८८] इत्यया चेन च व्यवये गिनिमित्तं प्रतिषिध्यते । सिबुसहोस्तु परिनिविभ्यः परयोः “वाऽऽ” [५१४५३] इति विकल्पः प्राप्तः । पर्यसीषियत् । न्यसीषिवत् । पर्यसीषहत् । न्यसीषहत् । सर्वत्र गियुक्ताणि च क्रियते । गिलक्षणस्य पत्वस्यायं प्रतिषेधो न तु “त्यादेशयोः” [५१३३६] इत्यनेन चादुत्तरस्य व्यवहितत्वात् ।

सुजः स्यसनोः ॥५१४८३॥ सुनोतेः सकारस्य स्य सन् इत्येतयोः परतः पत्वं न भवति । अभिसोष्यते । परिसोष्यते । अभ्यसोष्यत । पर्यसोष्यत । सनि । सुसूषति । नैतद्युक्तम् । “षणि चाणिस्तोरेव” [५१४४१] इति नियमादत्राप्राप्तिः । इदं तर्हि अभिसुसूषति । अत्रापि “स्थादेशेन चस्य” [५१४४४] इति नियमादप्राप्तिः । तत्रोक्तम् । गिनिमित्तं स्थादीनामेव पत्वं नान्यस्येति । क्विपि तह्युदाहरणम् । अभिसुसूः । रिक्वे विसर्जनीये च कृते “षणि” [५१४४१] इति नियमाभावाच्चात्परस्य प्राप्तं पत्वं प्रतिषिध्यते । स्यसनोरिति किम् ? सुषाव ।

सदिस्वञ्ज्योः परस्य लिटि ॥५१४८४॥ सदि स्वञ्जि इत्येतयोर्लिटि परस्य पत्वं न भवति । अभिषसाद । निषसाद । अभिषस्वञ्जे । निषस्वञ्जे । “लिटि स्वञ्जेर्वा न खं भवतीत्युपसंख्यातव्यम्” [वा०] अभिष्वञ्जे । विष्वञ्जे । सदेशेन व्यवये “सदोऽप्रतेः” [५१४४७] इति स्वञ्जेस्तु “स्थासेनय” [५१४४६] इत्यादिना पत्वे प्राप्ते प्रतिषेधः ।

षो नो णः समाने ॥५१४८५॥ पदस्येति वर्तमानं समान इत्यनेन समानधिकरणं जायते । षकाररेफाभ्यामुत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो भवति समाने पदे चेन्निमित्तनिमित्तिनौ भवतः । कुष्णाति । मुष्णाति । आस्तीर्यम् । विस्तीर्यम् । समान इति किम् ? मुनिर्नयति । साधुर्नयति स्वर्गम् । “धिन्विक्कुरव्योर च” [२।१।७५] इत्यत्र णत्वनिर्देशात् ऋकारादपि परस्य णत्वं भवति । तिसृणाम् । मातृणाम् । अत्र व्यवये ष्टुत्वेनापि सिद्धमेतत् ।

अट्कुप्वाड्व्यवायेऽपि ॥५१४८६॥ अट् कु पु आड् इत्येतैर्व्यवाये अव्यवायेऽप्यनेन षकाररेफाभ्यामुत्तरस्य नकारस्य णो भवति । अट् । वर्षेण । वृषेण । गिरिणा । मेघणा । कु । निष्केण । शुष्केण । अर्केण । मूर्खेण । वर्गेण । दीर्घेण । पु । पुष्पेण । सर्पेण । दर्पेण । रेफेण । गर्भेण । दर्भेण । धर्मेण । आड् । पर्याणद्धम् निराणीतम् । अड्ग्रहणेनैव सिद्धे आड् ग्रहणं “पदव्यवायेऽपि” [५१४११६] अस्य बाधनार्थम् । अडाड्विष्वेकेनाकेन च व्यवये णत्वं ज्ञातव्यम् । उभयथा वाक्यपरिसमाप्तेराश्रयणात् । यथा गर्भैः सह न भोक्तव्यमेकेनाकेनेन च सह न भुज्यते । इह कथं णत्वम् बृंहणम् । बृंहणीयम् । “तृह् स्तृह् तृह् हिंसार्थाः” । तृंहणम् । तृंहणीयमिति । अनुस्वारस्यायोगवाहत्वाद्बृंहण्येन ग्रहणमिति णत्वम् । तदुक्तम्—“अयोगवाहो यत्रेष्टस्तत्र तत्र

तदा भवेत्” इति । “रिवि रवि गतौ” इत्यस्य । रिखनम् । रिखनीयम् । झल्परत्वाभावादनुस्वारो नास्तीति एत्वाभावः । तृष्णम् । तृष्णायमित्यत्र परस्वत्वस्यासिद्धत्वादनुस्वारोऽस्तीति एत्वं भवति ।

पूर्वपदात् खावगः ॥५१४।८७॥ खु इति वर्तते । षकाररेफवतः पूर्वपदात् अगकारान्तात् उत्तरस्य नकारस्य यो भवति खुविषये । पुष्पण्दी । श्रीण्दी । श्रीनन्दिशब्दस्य क्षुम्नादिषु णत्वं निपिद्धम् । खरणसः । वाध्रीणसः । खाविति किम् ? शुष्कनासिकः । दीर्घनासिकः । अग इति किम् ? ऋगयनम् । क्षुम्नादिषु नृनमन-तृप्नोतिशब्दयोः प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम् ऋकारस्थापेकादजंशेन व्यवहितत्वात् पदस्य एत्वं भवतीति एत्वप्राप्तिः । नियमार्थोऽयं योगः । पूर्वपदात्खावेव नान्यत्र । अथ पूर्वपदादेव खाविति कस्मान्न नियमो भवति । एवं सति खु-नियमः स्यात् । अखुविषये पूर्वेण एत्वसिद्धेः “वाह्याद्वाहनम्” [५१४।६२] इत्याद्यारम्भोऽनर्थकः स्यात् । अत्र से कृते समुदायाद्या विभक्ती तथा समुदायस्यैकपदत्वे पूर्वेण प्राप्तिरस्तीति नियमो घटते । पूर्वपदत्वं तु स्मर्थमाणाव-यवापेक्षम् । पूर्वपदशब्दश्च सम्बन्धिशब्दः । तेनोत्तरपदस्थस्य नकारस्य एत्वं नियमो निवर्तयति न पूर्वपदस्थस्य नापि त्यस्यस्य । करणप्रियः । खारपायणः । करणं प्रियमस्य । खरपस्यापत्यमिति विग्रहः । अग इत्यनन्तरस्य प्रतिषेधः प्राप्नोतीति चेत् ; तत्र को दोषः ? खौ चाखौ च पूर्वेण एत्वं स्यात् । एवं तर्हि अग इति योगविभागः । तेन विधिनियमयोः प्रतिषेधः ।

वनं पुरगामिश्रकासिद्धकाशारिकाकोटराग्नेभ्यः ॥५१४।८८॥ खाविति वर्तते । पुरगा मिश्रका सिद्धका शारिका कोटरा अग्न इत्येतेभ्यः परं वनं विनम्यते । विनाम इति प्लवणत्वयोः सञ्ज्ञा । पुरगा-वणम् । मिश्रकावणम् । सिद्धकावणम् । शारिकावणम् । कोटरावणम् । तासे कृते पूर्वपदस्य “गिरिवने किंशुलुक-कोटराद्योः खौ” [४३।२२०] इति दीत्वम् । वनस्याग्ने अग्नेवणम् । “राजदन्त” [१३।६६] आदित्वात्पूर्वनिपातः । “ईषोऽद्धलः” [४३।१२७] इत्यनुप् । “सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः” । एतेभ्य एव वनं विनम्यते नान्येभ्यः । मनोहरवनम् । अथ पुरगादिभ्यो वनमेव विनम्यते नान्यदिति कस्मान्न नियमः । एवं सति पुरगादिनियमः स्यात् । वनं त्वनियतं तस्य खौ पूर्वेष्वैव एत्वं सिद्धमित्युत्तरसूत्रे खावपि प्रादिभ्यः परं वनं विनम्यत इत्यपिशब्दोऽनर्थकः स्यात् । ज्ञायते पुरगादिभ्य एव वनं विनम्यते इति नियमः । पुरगादीनां कृतदीत्वानामुच्चारणं किम् ? यत्रैव दीत्वं तत्रैव एत्वं यथा स्यात् । इदमेव ज्ञापकमित्यं श्रौ दीत्वमिति तेन लम्बकर्णः । विद्धकर्णः । अल्लिर्कृ । कमल्लर्कृ इत्येवमादि सिद्धम् ।

प्रान्तर्निःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्थखदिरपीयूक्षाभ्योऽखावपि ॥५१४।८९॥ प्र अन्तर् निस् शर इक्षु प्लक्ष आम्र कार्थं खदिर पीयूक्षा इत्येतेभ्यः परं वनं विनम्यते अखावपि खावपि च । प्रवणम् । भन्त-र्वणम् । निर्बणम् । शरवणम् । इक्षुवणम् । प्लक्षवणम् । कार्थवणम् । खदिरवणम् । पीयूक्षावणम् । प्रगतं वनम्, अन्तर्गतं वनम्, निर्गतं वनमिति विग्रहः । शरवणादिषु तासः । ये ओषधिवनस्पतिशब्दा न भवन्ति तेभ्यः अखौ खौ च पूर्वाभ्यामप्राप्ते विधिः । ओषधिवनस्पतिशब्देभ्यस्तु खावप्राप्ते विधिः । अखौ तूत्तरसूत्रेण विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थं वचनम् । अपिशब्दस्य पूर्वसूत्रे प्रयोजनसुक्तम् ।

विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः ॥५१४।९०॥ ओषधिवनस्पतिशब्देभ्यः परं वनं विभाषा विनम्यते । ओषधिवनस्पतिभ्यः—दूर्वावणम् । दूर्वावनम् । ब्रीहिवणम् । ब्रीहिवनम् । वनस्पतिभ्यः—करीरवणम् । करीरवनम् । आरुकवणम् । आरुकवनम् । व्यवस्थितविभाषाऽऽश्रयणात् द्व्यक्षरव्यक्षरयोर्विकल्पः । तेनेह न भवति । भद्रदारु-वनम् । “ईरिकादिभ्यश्च न भवति” [वा०] । ईरिकावनम् । तिमिरवनम् । समीरवनम् । खौ पुरगादिभ्य एव वनं विनम्यते इत्यखावियं विभाषा । खौ त्वसिद्धत्वान्नियमेन बाध्यते । यदि खावपि प्रयोगोऽस्ति विभाषेति योगविभाषान्नियमवाधा द्रष्टव्या । बहुत्वनिर्देशः पर्यायार्थः । इह वनस्पतिग्रहणे वृक्षाणामपि ग्रहणम् । यतः—

“फली वनस्पतिर्ज्ञेयो वृक्षाः पुष्पफलोपगाः ।”

पुष्पफले अन्यतरच्चोपगच्छन्ति ये ते वृक्षाः । तत्र यो वनस्पतिः स वृक्षो भवत्येव । वृक्षस्तु नावश्यं वनस्पतिरिति वनस्पतिग्रहणं कृतम् । एतेभ्य इति किम् ? शिरीषवनम् । शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः तस्य वनम् । “वरणादेः” [३।२।६२] इत्युप् । उपि कृते “युक्तवदुसि लिङ्गसङ्ख्ये” [१।१।६८] इत्यनेन लिङ्गसङ्ख्ययोरेवातिदेशो न वनस्पतित्वस्येति शल्वाभावः ।

अतोऽहः ॥५।४।६१॥ अकारान्तात्पूर्वपदादुत्तरस्य अहनो नकारस्य शत्वं भवति । पूर्वाहणः । अपराहणः । “पूर्वापरप्रथम” [१।३।५३] आदि सूत्रेण पसः । “राजाहःसखिभ्यष्टः” [४।२।६३] इति टः । “एभ्योऽहोऽहः” [४।२।६०] इत्यहनादेशः । अत इति किम् ? निरहः । दुरहः । निर्गतमहः । दुष्टमहः । तपरकरणं किम् ? परावृत्तमहः पराहनः । अहन इति सूत्रे वृत्तिप्रदितैकदेशो वान्तः । “सूत्रेऽस्मिन् सुविविधिरष्टः” [५।२।११४] इति तास्थाने वानिर्देशाद् व्याख्येयः । अहन इति अकारान्तनिर्देशादीर्घाहना शरदित्यत्र न भवति । दीर्घाण्यहान्यस्यामिति यसे “बोद्धूखे” [३।१।११] इति वा ङीविधिः ।

वाह्याद्वाहनम् ॥५।४।६२॥ कालसामान्ये वोढव्यं वाह्यम् । नाहनादुत्तरस्य वाहनस्य शत्वं भवति । ऊह्यतेऽनेनेति वहनम् । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण् । अतो वा निपातनादुञ्जे दीत्वम् । इच्छुवाहणम् । शरवाहणम् । कर्मणि तासः । वाह्यादिति किम् ? सुरवाहनम् । सुरस्वामिकमित्यर्थः । एवं नरवाहनः । नात्र वाह्यात्परं वाहनम्, किन्तु वाहनात् । वाह्यवाहकसम्बन्धे शत्वं भवत्येव । सुरवाहणम् । नरवाहणम् । खौ पूर्वेण सिद्धं शत्वं नरवाहण इति ।

पानं देशे ॥५।४।६३॥ पाननकारस्य शत्वं भवति देशे गम्ये । सर्वत्र पूर्वपदस्थान्निमित्तादिति वर्तते । कषायपाणाः गान्धारयः । क्षीरपाणाः आन्त्राः । सौवीरपाणाः द्रमिणाः । सुरापाणाः प्राच्याः । अतिशयोऽत्र गम्यते । तात्स्थ्यात्ताच्छब्दमिति मनुष्याभिधाने देशाभिधानम् । पीयते इति पानम् । “युङ्ख्या बहुलम्” [२।३।६४] इति कर्मणि युट् । कषायं पानमेषामिति कर्तरि ता । देश इति किम् ? दाक्षिणम् । क्षीरपाना गोपालकाः ।

षा भावकरणे ॥५।४।६४॥ भावे करणे च यः पानशब्दस्तन्नकारस्य वा शत्वं भवति । भावे-क्षीरपाणम् । क्षीरपानं वर्तते । करणे-पीयतेऽनेनेति पानः । वारिपाणः । वारिपानः कंसः । वेति णेति णि । नद्यादिषु वा शत्वम् । चक्रणदी । चक्रनदी । चक्रणितम्बा । चक्रनितम्बा ।

मृदन्तनुम्विभक्त्याम् ॥५।४।६५॥ मृदन्ते नुमि विभक्त्यां च यो नकारः तस्य पूर्वपदस्थान्निमित्ताद् वा शत्वं भवति । मृदन्ते-माषवापिणौ । माषवापिनौ । ब्रीहिवापिणौ । ब्रीहिवापिनौ । “प्राथोऽभीक्ष्ये” [२।२।६६] इति णिन् । नुमि । माषवापाणि । माषवापानि । “लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव” [प०] इति नुमो मृदन्तग्रहणेनाग्रहणम् । विभक्त्याम्-माषवापेण । माषवापेन । ब्रीहिवापेण । ब्रीहिवापेन । नियमादप्राप्ते विकल्पः । पूर्वपदादिति वर्तते तेन सम्बन्धादुत्तरपदं यन्मृत्सञ्ज्ञं तदन्तस्य विकल्पः । तेनेह न भवति । गर्गाणां भगिनी गर्गभगिनीति । यदा यु गर्गभगशब्दान्मत्वर्थीय इन् तदा शत्वं भवत्येव । गर्गभगिणीति । “पूर्वपदात्त्वावगः” [५।४।८७] इत्यनेनोत्तरपदस्थस्य नकारस्य शत्वं निवर्त्यते । न त्यस्थस्येत्युक्तम् । यथा मातृभोगीण इत्यत्र समुदायस्य समानपदत्वे । पुरुवारिणी इत्यत्र विकल्पस्य बहिरङ्गत्वादसिद्धत्वाच्चादिसूत्रेण नत्वम् । माषवापिणा माषवापिना इत्यत्र पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य विधिरिति । मृदन्तत्वाद्विकल्पः । वेति व्यवस्थितविभाषाऽनुवर्तनादिह न भवति । आचार्ययूना । क्षत्रिययूना । प्रपक्वानि । परिपक्वानि । दीर्घाङ्गी शरदिति ।

एकाच्च्औ णः ॥५।४।६६॥ एकाचि च्चौ पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य मृदन्तनुम्विभक्तीनकारस्य एकारो भवति । ब्रह्महृणौ । वृत्रहृणौ । क्षीरपाणि । सुरापाणि । क्षीरपेण । सुरापेण । “आतः कः”

[२।२।३] इति कः । सुरायां वाचि पिबते: “सुराशीध्वोः पिबः” [२।२।१२] इति टक् । पुनर्याग्रहणं नित्यार्थम् ।

कुमति ॥५।४।६७॥ कवर्गवति च द्यौ मृदन्तनुम्विभक्तीनकारस्य णत्वं भवति । इच्छुयुगिणौ । करयुगिणौ । इच्छुयुगेण । अनेकाञ्चवर्थं वचनम् । काविति सिद्धे कुमतीति मत्वर्थीयः किम् ? अकवर्गादावपि द्यौ प्रापणार्थम् । अन्यथा “धेनालि विधि” न्यायेन कवर्गादावेव स्यात् ।

गेरसेऽपि विकृतेः ॥५।४।६८॥ गेरुत्तरस्य सामर्थ्याद्धोर्विकारस्यासेऽपि णो भवति । असे । प्रणमति । परिणमति । से-प्रणायकः । परिणायकः । विक्रियते इति विकृतिः नकारः । अवयवविकारे समुदायस्य धोर्विकारो यथैकदेशाऽलङ्कारेऽलङ्कृतो देवदत्त इति । ततो विकृतिं प्रति क्रियायोगिस्वात् प्रादीनां गित्वम् । गेरिति किम् ? मुनिर्नयति स्वर्गम् । प्रगता नायका अस्माद्ग्रामात् प्रनायको ग्रामः । अपिग्रहणं किम् ? से पूर्व-पदात् खाविति नियमात् णत्वं न स्यात् । ननु णत्वस्यासिद्धत्वान्न नियमप्राप्तिः । इदमेवापिग्रहणं शापकम् । “न योगे योगोऽसिद्धोऽपि तु प्रकरणे प्रकरणमसिद्धं भवति” । तेन निष्कृतं दुष्कृतमित्यत्र “इणः षः” [५।४।२७] इति ष्वे क्रियमाणे “इडुदुडः” [५।४।२८] इति सत्वं नासिद्धम् । विकृतेरिति किम् ? प्रनृत्यति । प्रनर्तकः । अयमौपदेशिको नकारो न तु “णो नः” [४।३।५४] इत्यनेन विकृतः । “नृत्तिनन्दिनकिनाधनाध-वर्जम्” इति वचनात् ।

नशेः शः ॥५।४।६९॥ नशेः शकारान्तस्य णत्वं भवति । प्रणश्यति । परिणश्यति । प्रणाशकः । परिणाशकः । श इति किम् ? प्रनष्टः । प्रनश्यति । शकारस्यैवेति नियमात् णत्वाभावः । नशेरेव शकारान्तस्येति कस्मान्न नियमः । अन्यस्य शकारान्तस्यासम्भवात् । सम्भवे वा णत्वोपदेशादेव व्यावृत्तिः । णत्वोपदेशो हि “णो नः” [४।३।५४] इति विकृतिद्वारेण णत्वार्थः ।

नेर्गदनदपतपदभुमास्थतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोतिदेग्धिषु ॥५।४।१००॥ गिस्थान्निमित्तात् परस्य गेर्नेर्नकारस्य णत्वं भवत्यसेऽपि गदादिषु परतः । प्रणिगदति । परिणिगदति । सेऽपि । प्रणिगदिता । परिणिगदिता । प्रणिनदति । परिणिनदति । प्रणिनदिता । परिणिनदिता । प्रणिपतति । प्रणिपतिता । प्रणिपद्यते । प्रणिपत्ता । भुसञ्ज्ञे-प्रणिददाति । प्रणिदाता । प्रणिदधाति । प्रणिधाता । मा इति नाऽङ्नेडोर्ग्रहणम् । प्रणिमिमीते । प्रणिमाता । मेडः कृतात्वस्यैव ग्रहणम् । प्रणिमास्यते । प्रणिमाता । “मीञ् हिंसायाम्” । “डुमिञ् प्रक्षेपणे” इत्यनयोः “मिन्मीन्दीडान् प्ये च” [४।३।४३] इति कृतात्वयोः “मा माने” इत्यस्य च न ग्रहणम् । अस्य शेषत्वानोत्तरत्र वेति व्यवस्थितविभाषाऽतः सर्वमिदं लभ्यते । प्रणिष्यति । प्रणिष्राता । प्रणिहन्ति । प्रणिहन्ता । प्रणियाति । प्रणियाता । प्रणियाति । प्रणियाता । प्रणिद्राति । प्रणिद्राता । प्रणिप्साति । प्रणिप्साता । प्रणिवपति । प्रणिवप्ता । प्रणिवहति । प्रणिवोदा । प्रणिशाम्यति । प्रणिशामिता । प्रणिचिनोति । प्रणिचेता । प्रणिदेग्धि । प्रणिदेग्धा । गदादिष्वीमिर्देशादनन्तरस्य कार्यमित्यटा व्यवसाये कथं णत्वम् । प्रणयगदत् । परिणयगददिति । अडागमश्च गोर्विहितो विकरणान्तरश्च गुरशक्यो गदग्रहणेन ग्रहीतुमिति । नैष दोषः । अड्व्यवसाये इति मण्डूकश्लुत्या सम्बध्यते । तिपा निर्देशा षड्वन्तनिवृत्त्यर्थाः ।

घाऽघान्तेऽकखादौ ॥५।४।१०१॥ गेरिति वर्तते । अषकारान्ते अककारखकारादौ द्यौ परतः गिस्थान्निमित्ताद्वा नेषौ भवति । प्रणिपचति । प्रनिपचति । परिणिभिन्नति । परिनिभिन्नति । अषान्तञ् इति किम् ? प्रनिपेष्टा । अन्तग्रहणमुपदेशार्थमिहापि न भवति । प्रनिपेक्षति । प्रच्छेच्छुकारान्तत्वाद् भवति । प्रतिप्रष्टा । अकखादाविति किम् ? प्रनिकरोति । प्रनिस्वादति । अचापि अकखोरिति सिद्धे अऽदिग्रहणमुपदेशार्थम् । प्रनि-चकार । प्रनिचखाद ।

हिम्योर्नुनोः ॥५१४१०२॥ हि मी इत्येतयोर्नो नुनौ तयोर्णत्वं भवति गिस्थान्निमित्तात् । प्रहिणोति । प्रहिणुतः । प्रमीणाति । प्रमीणीतः । एत्रीत्वयोः कृतयोः एकदेशविकृतस्यानन्त्यत्वात्प्रणत्वम् ।

आनि ॥५१४१०३॥ आनीत्येतस्य धोः परस्य णो भवति । आनिं प्रति गित्वाभावादिह गिग्रहणं आदि-मात्रोपलक्षणम् । प्रवपाणि । प्रापयाणि । अर्थवद्ग्रहणपरिभाषयाऽर्थवत् एव नेर्ग्रहणादिह न भवति । प्रवृद्धा वपा येषां तानि प्रवपानि मांसानि । आनीत्यविभक्तीको निर्देशः ।

खोऽनितेः ॥५१४१०४॥ खोः परस्यानितेर्नकारस्य णो भवति । प्राणिति । पर्यणिति । अड्यव्यायेऽपि । पर्यणीत् । पुनर्ग्रहणमपवादविषयेऽपि णत्वार्थम् । हे प्राण् ? इति । कथन्तस्य किः । “अन्तस्य” [५१४११५] इति प्रतिषेधः प्रातः । तिपा निर्देशो यदुबन्तनिवृत्त्यर्थः ।

सचस्योभौ ॥५१४१०५॥ सचस्यानितेरुभौ नकारौ विनभ्येते । गेरिति वर्तते । प्राणिणपति । परा-णिणपति ! पराणिणत् । अत्र द्वित्वे कृते चरूपेण व्यवधानाद्धोर्नकारस्य न प्राप्नोतीत्येवमर्थं सूत्रम् । उभौ-ग्रहणं किमर्थम् ? यावता पूर्वनकारस्य पूर्वसूत्रेण णत्वं सिद्धम् । धोस्त्वारम्भसामर्थ्यान्नकारस्य व्यवधानेऽपि भविष्यति । नापि द्वितीयस्य णत्वमुच्यमानं पूर्वस्यापवादः । सचस्येति वसनिर्देशात् । अन्यथा चादित्येवोच्येत । निय-मार्थं तद्धुःनौग्रहण-गेर्नकारस्योर्णत्वं न तृतीयस्य । प्राणिणिष्यतेः लुङि कचि च कृते पुनः कचि द्वित्वे सति प्राणिणिपत् । ननु च “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” इति वचनात् कृतणत्वस्य द्वित्वे सति उभयोर्णत्वं लभ्यत इति नाथोऽनेनेति उभौग्रहणार्थं तर्हि सूत्रं कर्तव्यम् । न च “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” इतीदं सर्वाविषयम् अन्यथा श्रौजिददित्यत्र टत्वधत्वपुत्वद्वयानामसिद्धत्वाभावात् हृति इत्येतस्य द्वित्वं न स्यात् ।

हन्तेरघः ॥५१४१०६॥ घवर्तिस्य हन्तेर्नकारस्य णो भवति । गेरिति वर्तते । ग्रहण्यते । परिहणनम् । अन्तःशब्दस्य गिसञ्ज्ञोक्ता । अन्तर्हण्यते । अन्तर्हणनम् । उत्तरत्र वेति व्यवस्थितविभाषावलोकनात् देशविषये न भवति । अन्तर्हणनो देशः । अघ इति किम् ? प्रघ्नन्ति । प्राधानि । “घनान्तर्घण” [२।३।६६] आदि सूत्रे अन्तर्घणादीनां निपातनाणत्वम् । अघ इति योगविभागात् । हन्तेरघपूर्वस्यैव णत्वम् । तेनेह न भवति । वृत्तन इति । सञ्ज्ञायां “पूर्वपदात्खावगः” [५।४।८७] इति णत्वं प्रातम् । असञ्ज्ञात्वे “एकाञ् घौ णः” [५।४।६६] इति ।

वा म्वोः ॥५१४१०७॥ मकारवकारयोः परतः हन्तेर्नकारस्य वा णत्वं भवति । प्रहणवः । प्रहन्वः । प्रहरमः । प्रहन्मः । वाग्रहणं पूर्वविधीनां नित्यार्थम् ।

कृत्यचः ॥५१४१०८॥ कृत्यो यो नकारः तस्याच उत्तरस्य णो भवति स चेन्नकारपरो भवति गिस्था-न्निमित्तात् । कृतीति नकारस्य विशेषणं नाचः । कृत्सञ्ज्ञकाच्चाचः परस्य नकारस्य णत्वं भवतीत्यर्थः । प्रया-णम् । प्रवहणम् । प्रयायमाणम् । प्रयाणीयम् । अप्रयाणिर्हन्त ते वृपल । प्रयाशिरः । प्रहीणः । प्रहीणवान् । अन्तःशब्दस्य गिस्त्वे अन्तर्याणम् । अन्तरयणम् । वेति ननुग्रहणपरिभाषयाऽर्थवत् न भवति । अन्तरयणो देश इति । इहापि भवति । निर्विण्णः प्राजाजीदिति । अच इति किम् ? प्रसुग्णः ।

गेर्वा ॥५१४१०९॥ एयन्ताद्यो विहितः कृत्तत्थस्याच उत्तरस्य नकारस्य वा णत्वं भवति । गेरिति वर्तते । प्रयापणम् । प्रयापनम् । ननु प्रयाप्यमाण इत्यत्र यका व्यवहितत्वात् कथं कृतो णत्वम् ? अड्यव्याय इति वर्तते । एयन्नाद्विहितस्य कृतो व्यायेऽपि णत्वं भविष्यति । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

हलश्चेजुङः ॥५१४११०॥ इजुङः सर्वस्य हलन्तत्वात् हलग्रहणमादिविशेषणम् । हजादेरिजुङो धोः परस्य कृति नकारस्य वा णत्वं भवति गेर्निमित्तात् । प्रकोपणम् । प्रकोपनम् । प्रमोहणम् । प्रमोहनम् । “कृत्यचः” [५।४।१०८] इति नित्ये प्राप्ते विकल्पः ।

[संतुम इजादेः ॥५१४१११॥ निंसनिच्चनिन्दो वा ॥५१४११२॥ न भाभूपूकमिगमिप्या-
यीवेपाम् ॥५१४११३॥ पात् पदान्तात् ॥५१४११४॥ अन्तस्य ॥५१४११५॥ पदव्यवायेऽपि
॥५१४११६॥]

लुभ्नादिषु ॥५१४११७॥ लुभ्ना इत्येवमादिषु शब्देषु नकारस्य शकारादेशो न भवति । लुभ ।
लुभ्नाति । नृप । नृप्नोति । इदमेव ज्ञापकम् । नृपिः स्वादावप्यस्ति । एकदेशविहृतस्यानन्तत्वात् लुम्नीतः ।
लुम्नन्ति । नृप्नुतः । नृप्नुवन्ति । विकरणान्तनिर्देशः किम् ? क्षोभणम् । तर्पणम् । नन्दिन् । नन्दन नगर इत्येतेषां
“पूर्वपदात्वावगः” [५१४१८७] इति एत्वं प्राप्तम् । हरिनन्दी । हरिनन्दनः । गिरिनगरम् । नर्त्तन नदन गहन
निवेश निवास अग्नि अनूप एतान्युत्तरपदानि सञ्ज्ञायामेव । परिनर्तनम् । परिनन्दनम् । भेरीनदनः । परिगहनम् ।
शरनिवेशः । शरनिवासः । शराग्निः । दर्मानूपम् । आचार्यभोगीनः । “आचार्यादणत्वं च” [ग० सू०] ।
आचार्यानी । “चतुर्हार्थनी वयसि द्रष्टव्या” [वा०] । “ईरिकादीनि च वनोत्तरपदानि सञ्ज्ञायाम्” [वा०] ।
ईरिका । तिमिर । समीर । कुबेर । हरि । कर्मार । इति ईरिकादिः । आचार्ययूना । क्षत्रिययूना । दीर्घाह्नी
शरदिति । अत्रिन्दुलक्ष्मणो यात्वप्रतिषेधः लुभ्नादिषु द्रष्टव्यः ।

न नृतेर्यङि ॥५१४११८॥ नृतेर्यङि शत्वं न भवति । नरीनृत्यते । नरीनृत्येते । नरीनृत्यन्ते । त्यखे ।
त्याश्रयात् । नर्नर्ति । नरिनर्ति । नरीनर्ति ।

स्तोः श्चुना श्चुः ॥५१४११९॥ सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ भवतः । अत्र
स्थान्यादेशयोर्थथासख्यम्, स्थानिनिमित्तयोस्तु नेष्यते । “शात्” [५१४१२३] इति तवर्गस्य चत्वं प्रतिषेधाज्जायते ।
सकारस्य शकारेण । जिनालयश्शोभते । तस्यैव चवर्गेण । धन्यश्चिनोति पुण्यम् । श्रोत्रश्चू । वृश्चति पापम् ।
मुनिश्छिनन्ति कर्मबन्धम् । तवर्गस्य शकारेण । अग्निचिच्छेते । छत्वमसिद्धमिति शे चुत्वम् । पूर्वेण शकारेण ।
“शात्” [५१४१२३] इति प्रतिषेधं वक्ष्यति । तवर्गस्य चवर्गेण । तत्त्वविच्चिनोति । तत्त्वविच्छादयति । तत्त्वविज्ज-
यति । सरिञ्जयः । भवाञ्जकारीयति । श्राविति सिद्धे श्चुनेति निर्देशः शादिति प्रतिषेधश्च ज्ञापकः । परेण
पूर्वेण च चुना योगे चुत्वमिति । तेन राज्ञः । याच्या । “मस्जिनशोर्भलि” [५१४३६] इति निर्देशात् मज्जति ।
भृञ्जतीत्यत्र चुत्वे कर्तव्ये जश्त्वं नासिद्धम् ।

षुना षुः ॥५१४१२०॥ सकारतवर्गयोः षकारटवर्गाभ्यां योगे षकारटवर्गौ भवतः । अत्रापि “न तोः षि”
[५१४१२२] इति प्रतिषेधात् स्थानिनिमित्तयोर्थथासङ्ख्याभावः । सकारस्य षकारेण । कषण्डे । तस्यैव टवर्गेण ।
अश्वष्टीकते । पुरुषष्टकवयति । तवर्गस्य षकारेण परेण प्रतिषेधं वक्ष्यति । पूर्वेण षेष्टा । षेष्टम् । तवर्गस्य टवर्गेण ।
बृहदृष्टः । अष्ट अष्टते । तकारोपदेशः क्वपि स्फान्तखे च कृते श्रवणार्थः । मरुदृष्टकवयति । अष्टु । अष्टुति ।
श्राविष्टौकते । भवाण्णकारीयति ।

पदस्य टोर्नाम्नवतिनगरी ॥५१४१२१॥ पदस्य टोः परेषां नाम्नवति नगरी इत्येतेषां टुत्वं भवति ।
पण्णाम् । षण्णवतिः । षण्णगर्ग्यः । नियमार्थमिदम् । पदान्तटोः परस्य नाम्नवतिनगरीत्यस्यैव नान्यस्येति ।
तच्वामृतलिट् तरति दुःखम् । पदान्तस्यैव नियमादिहाप्रतिषेधः । ईड् स्तुतौ । ईड्ते । पदस्येति वर्तमाने पुनः
पदस्येति ग्रहणमन्तार्थम् । ननु तथापि नाम्नवतिनगरीषु परतः पूर्वस्य पदान्तत्वसिद्धेः पदस्येति किमर्थम् ?
अतुल्यजातीयस्य सकारस्यापि परस्य प्त्वनिवृत्तिर्यथा स्यात् । मधुलिट् सीदति ।

न तोः षि ॥५१४१२२॥ तवर्गस्य षकारे यदुक्तं तन्न भवति । टुत्वमुक्तम् । तीर्थकृत् षोडशः ।
भवान्ण्डः ।

१. प्रतिषु [

] क्रोष्टकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिः खण्डिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्यायी-

मनुसूत्यात्र निर्दिष्टानि ।

शात् ॥५१४१२३॥ शकारात् परस्य तवर्गस्य यदुक्तं तन्न भवति । किमुक्तम् ? चुत्वम् । प्रश्नः । विश्नः । पदान्तस्य शकारस्याभावात् अपदान्ते प्रतिषेधः ।

ख्शः शो यो वा ॥५१४१२४॥ ख्श इत्येतस्य शकारस्य यकारो भवति वा । आख्याता । आख्याता । पर्याख्यानमिति यत्वस्यासिद्धत्वात् “कृत्यचः” [५१४१०८] इति णत्वं नास्ति । वेति योगविभागः । तेन चुना योगे “व उब्जेः” इति लब्धम् । उब्जिता । उब्जितुम् । उब्जितव्यम् ।

यरो ङो विभाषा डे ॥५१४१२५॥ पुनः पदस्येति सामर्थ्यात् पदान्त इति लभ्यते । यरः पदान्तस्य विभाषया ङादेशो भवति डे परतः । सुवाङ्मनयति । सुवाग् नयति । परमुखः । षड्मुखः । सन्नयनम् । सदनयनम् । ककुम्भण्डलम् । ककुम्भण्डलम् । पदान्तस्येति किम् ? सन्न । स्तम्नाति । वेत्यनुवृत्तौ विभाषाग्रहणं व्यवस्थार्थम् । तेन त्ये नित्यं भवति । वाङ्मयम् । त्वङ्मयम् । परणाम् । वाचो विकारः । “नित्यं दुशरादेः” [३१३१०६] इति मयङ् । त्वचः आगतं “हेतुमनुष्याद्वा रूप्यः” [३१३१५५] । “मयट्” [३१३१५६] इति मयट् ।

अचो रहाद् द्वे ॥५१४१२६॥ अच उत्तरौ यौ रेफहकारौ ताभ्यामुत्तरस्य यरो विभाषया द्वे रूपे भवतः । अर्कः । अर्कः । तर्कः । तर्कः । ब्रह्मन् । ब्रह्मन् । सद्यम् । सद्यम् । अच इति किम् ? ह्युते । विभाषेत्यनुवृत्तेर्न्यत्रस्या । शरोऽचि द्वित्वन्न भवत्येव । आदर्शः । वर्षति । तर्सम् । “रहौ निमित्तभूतौ द्वित्वस्य न च निमित्तिकार्यं निमित्तस्य” । तेनेह न भवति । भद्रहृदः ।

अनचि ॥५१४१२७॥ रहादिति निवृत्तम् । अच इति वर्तते यर इति च । अच उत्तरस्य यरो विभाषया द्वे भवतः अनचि । दध्यत्र । दध्यत्र । मद्यत्र । मद्यत्र । अत्र यकारवकारौ निमित्तम् । अनचीति यदि पर्युदासः हल्ग्रहणं कर्तव्यम् । एवं तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् । अचि नेति । तेन हल्यवसाने च द्वित्वम् । वाक् । वाक् । त्वक् । त्वक् । अच इत्येव । स्नातम् । प्सातम् । व्यवस्थितविभाषाधिकारात् “त्रिप्रभृतिषु न भवति” [वा०] । इन्द्रः । राट् । “यथः परस्य मयोऽचि विकल्पः” [वा०] । उल्का । उल्का । वल्मीकः । वल्मीकः । “शर उत्तरस्य खयः” [वा०] । स्थाली । स्थाली । “खय उत्तरस्य शरोऽपि” [वा०] । आस्तरः । अप्सरः । “पुत्रादिनी त्वमसि पापे इत्याक्रोशे नेष्यते” [वा०] । “द्विमात्रात्परस्यापि” [था०] । पात्रम् । सूत्रम् ।

भ्रलां जश् भ्रशि ॥५१४१२८॥ भ्रलां वर्णानां जशादेशो भवति भ्रशि परतः । लब्धा । दोग्धा । अबुद्धाः । अपदान्तार्थं आरम्भः । भ्रशीति किम् ? दध्मे ।

चे चर्त्त्वम् ॥५१४१२९॥ चे वर्तमानानां भ्रलां चर्त्वं भवति जश्त्वं च । चिखनिषति । चिच्छेद । डिढक्कायिषति । तिष्ठासति । पम्फुल्यते । जिघत्सति । बुभुत्सते । डुढौके । दधौ । प्रकृतिचरां प्रकृतिचरः प्रकृतिजशां प्रकृतिजशो भवन्ति । अभिन्नरूपा इत्यर्थः । चिचीषति । टिटीके । ततार । पपौ । जिजनिषते । बुबुधे । डिडेप । ददौ । सर्वत्र “स्थानेऽन्तरतमः” [१११४७] इति व्यवस्था ।

खरि ॥५१४१३०॥ भ्रलां खरि परतः चर्भवति । भेत्ता । भेत्तुम् । बिभित्सति ।

विरामे वा ॥५१४१३१॥ विरामे वर्तमानानां भ्रलां वा चर्त्वं भवति । वाक् । वाग् । मधुलिट् । मधुलिट् । तत्त्वमुत् । तत्त्वमुद् । ककुप् । ककुप् ।

यय्यनुस्वारस्य परस्वम् ॥५१४१३२॥ ययि परतः अनुस्वारस्य परस्वं भवति । शङ्कितः । अञ्चितः । हिण्डितः । शान्तः । कृष्णतीत्यत्र एवंप्राप्तेरसिद्धत्वादनुस्वारः । परस्वत्वम् । तस्यासिद्धत्वात्पश्चादपि णत्वाभावः । ययीति किम् ? रिरंसते ।

वा पदान्तस्य ॥५१४१३३॥ पदान्तस्यानुस्वारस्य वा परस्वत्वं भवति ययि परतः । शुद्धं करोति । शुद्धकरोति । ययीत्येव । त्वं शेषे ।

तोलिं ॥१५४१३४॥ तवर्गस्य लकारे परतः परस्वत्वं भवति । तडिल्लोला । भवाँल्लोकेशः । नकारस्य नासिकयो लकारः । वेति नाधिकृतम् ।

स्थास्तम्भोः पूर्वस्योदः ॥१५४१३५॥ स्था स्तम्भ इत्येतयोरुदः परयोः पूर्वस्य स्वं भवति । उत्थाता उत्थातुम् । उत्थातव्यम् । उत्ताम्भिता । उत्ताम्भितुम् । उत्ताम्भितव्यम् । उद इति कानिदेशात् परस्यादेः अघोषस्य सकारस्य तकारः । स्थास्तम्भोरिति किम् ? उस्त्विन्नः । पूर्वस्येति किम् ? परस्वनिवृत्त्यर्थम् । उद इति किम् ? संस्थितिः ! उद इति योगविभागः कल्पनीयः । तेन स्कन्देरपि रोगे पूर्वस्वम् । उत्कन्दको नाम रोगः ।

भयो हः ॥१५४१३६॥ भयः पदान्तादुत्तरस्य हकारस्य पूर्वस्वं भवति । सुवाग्घसति । मधुलिङ्हरति । धर्मविद्धितम् । ककुब्भसति । महाप्राणस्योष्मणः स्थाने तादृश एव पूर्वचतुर्थो भवति । “चतुष्टयं समन्तभद्रस्य” [५४१३७०] इति वक्ष्यति तेन विकल्पः । सुवाग् हसति । मधुलिङ् हसति । धर्मविद् हितम् । ककुब् हसति । भय इति किम् । प्राङ् हसति ।

शश्छोऽटि ॥१५४१३७॥ झयः पदान्तादुत्तरस्य शकारस्य अटि परतश्छकारो भवति । वाक्छोभते । धर्मविच्छेते । पक्षे न भवति । वाक् शोभते ! धर्मवित् शेते । कङ्कुशोभते । केचित् शश्छोऽमीति पठन्ति । तेन तच्छ्लोकः । तच्छ्वसनमिति ।

हलो यमां यमि खम् ॥१५४१३८॥ हल उत्तरेषां यमां यमि परतः खं भवति । शय्या इत्यत्र “समज” [२।३।८१] आदिसूत्रेण क्यपि अयङ् च कृते द्वौ यकारौ । क्रमजस्तृतीयः । मध्यमस्यानेन खम् । पक्षे न भवति । शय्या । आदित्य इत्यत्र अपत्यार्थे द्वौ यकारौ । “सास्य देवता” [३।२।१६] इति तृतीयः । क्रमजश्चतुर्थः । मध्यमस्य मध्यमयोर्वा खम् । हल इति किम् ? अन्नम् । यमामिति किम् ? अर्धं मधु । अर्धमर्हति । अर्धार्थं वा । “पाद्यार्धे” [४।२।३२] इति निपातनम् । यमीति किम् ? शाङ्गम् । यथासंख्यविज्ञानादिह न भवति । पित्र्यम् ।

भरो भरि स्वे ॥१५४१३९॥ हल उत्तरस्य भरो भरि स्वे परतः खं भवति । प्रत्तमवत्तमित्यत्र “ने स्तोऽचः” [५।२।१४६] इत्याकारस्य तकारे कृते त्रयस्तकाराः । क्रमजश्चतुर्थः । मध्यमस्य मध्यमयोर्वा खं विकल्पावलोकनात् । मरुत्त इत्यत्र मरुच्छब्दस्य गित्वोपसंख्यानंसामर्थ्यादनजन्तादपि तकारे कृते चत्वा रस्तकाराः । क्रमजः पञ्चमः । मध्यमस्य मध्यमयोर्मध्यमानां वा खम् । भर इति किम् ? शाङ्गम् । भरतीति किम् ? प्राध्नोति । स्वे इति किम् ? तर्प्ता । चेत । उच्चिता । शिण्डि । पिण्डि इत्यत्र चतुर्थेऽपि स्वे तृतीयस्य खं यथा स्यात् ।

चतुष्टयं समन्तभद्रस्य ॥१५४१४०॥ झयो ह इत्यादि चतुष्टयं समन्तभद्राचार्यस्य मतेन भवति नान्येषां मते । तथा चैवोदाहृतम् ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ पञ्चमस्याध्यायस्य चतुर्थः

पादः समाप्तः । समाप्तश्च पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ प्रशस्तिः

जिनमतं जयताञ्जितदुर्मतं सकलसत्त्वहितं सुमतिप्रदम् ।
नयच्चयाङ्कितमिष्टविशिष्टवाग्भवभयात्पवारणवारिदम् ॥१॥

पाणिनिना यद्युक्तं लिपितं कृत्वाष्टकं मोहात् ।
तदिह निरस्तं निखिलं श्रीगुरुभिः पूज्यपादाख्यैः ॥२॥

जगन्नाथनाम्ना द्वितीयाभिधानात्सतां वादिराजार्यमोपाख्यसाधोः ।
जनन्याः सुतेनापि वीराभिधायाः दयादानपूजादिसंशुद्धमूर्तेः ॥३॥

जैनेन्द्रशब्दशास्त्रं स्वोपक्रमतो नरेन्द्रकीर्तिसुगुरोः ।
अन्ते लिखितं पठितं पाठितमपि भारतीभक्त्या ॥४॥

जीवोऽस्यगुरुत्वमेवमुशनाः काव्याह्वयं भास्करो
मित्रत्वं च विचक्षणत्वमगमग्निन्दुः सुधाधामताम् ।
गीर्वाणत्वमनन्ततां सुरगणाः शेषो वृषा जिष्णुतां
जैनेन्द्रं समधीत्य शब्दविलयं श्रीपूज्यपादोदितम् ॥५॥

पूज्यपादापराख्याय नमः श्रीदेवनन्दिने ।
व्यधाथि पञ्चकं येन सूत्रं जैनेन्द्रमूलकम् ॥६॥

महावृत्तिकृते तस्मै नमोऽस्त्वभयनन्दिने ।
यद्वाक्यादभया धीराः शब्दविद्यासु सन्ततम् ॥७॥

स्रष्टा दृष्ट्वा सुसृष्टिं स्तुतिमकृत मुखैश्चाथ जैनेन्द्रशाब्दीं
जिह्वाभूयस्त्वभावादुरगपतिरतोऽध्येति नात्येति पारम् ।
रीढां दुःखावलीढां निजमदवशगाः प्रापुरिन्द्रादयोऽपि
कृत्वेमां देवनन्दी विविधसुरगणैः पूज्यपादाह्वयोऽभूत् ॥८॥

प्रमाणमकलङ्कीयं पूज्यपादीयलक्षणम् ।
धानञ्जयं च सत्काव्यं रत्नत्रयसुदाहतम् ॥९॥

इति प्रशस्तिः सम्पूर्णा शुभम्भवतु

जैनेन्द्रलुपणप्रकारादिक्रमः

अ	अतिक्रमे चातिः	१।४।८	अनवकल्प्यमर्षे	२।३।१२१
अकथितञ्च	अत्रेः	२।२।१२३	अनश्च बात्	३।१।१०
अकर्तारि	अतोऽनादेशेः	५।१।८३	अनाप्यकः	५।१।१७०
अकर्मको धिः	अतोऽप्राच्यभर्गादिः	३।१।१५८	अनाश्वाननुचानौ	२।२।६०
अकामेऽमूर्धमस्तकात्	अतोऽम्	५।१।२१	अनितावनुकरणम्	१।२।१३३
अक्षाद्यैन्दुः	अतो येय्	५।१।२६६	अनीचः	३।१।१७
अगो	अतो इरमः देऽनादेशाः	४।४।११०	अनुकम्पायाम्	४।१।१३२
अग्नौ चेः	अतो हेः	४।४।६६	अनुक्तपुंस्कादाच्च	५।२।५३
अङ्घ्रि	अतोऽङ्घ्रिः	५।४।६१	अनुक्ते	१।४।१
अङ्घ्रिः	अत्कायाः	५।१।२७	अनुग्वलंगामी	३।४।३८
अञ्चः	अत्थात्	५।१।४	अनुदात्तेतोऽपसूददीप-	२।२।१३१
अचश्च	अत्त्वसोऽधोः	४।४।१२	अनुदात्तोपदेशवनति-	४।४।३७
अचि	अदेङ्केप्	१।१।१६	अनुपदेशोऽदः	१।२।१३६
अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्	अदेशकालाङ्गण्	३।३।७१	अनुशक्तिकादेः	५।२।२५
अचीको यण्	अदोऽट्	५।२।६५	अनृतोऽनन्तस्याप्येकै-	५।४।६४
अचो रहाद् द्वे	अदोऽनन्ते	२।२।६०	अनोऽखमम्बस्फात्	४।४।२२२
अजाद्यत्	अद् बाह्वादेरिञ्	३।१।८५	अनोर्धेः	१।२।४५
अजाद्यतष्टाप्	अद्रौ त्रिककुद्	४।२।१४७	अन्तरादेष्टञ्	३।३।३५
अजाविभ्यां थः	अधिकरणे चाद्यर्थाच्च	२।४।५६	अन्तरान्तरेण योगे	१।४।३
अजीवे	अधिकृत्य कृते ग्रन्थे	३।३।६१	अन्तस्य	५।४।११५
अजीवेऽङ्गणः	अधिपरी अनर्थकौ	१।४।१०	अन्तेऽलः	१।१।४९
अञ्चेः पूजायाम्	अधीत्याऽदूराख्यानाम्	१।४।८१	अन्त्यादचष्टिः	१।१।६५
अञ्चेरुप्	अधीष्टे	२।३।१४२	अन्त्येनेतादिः	१।१।७३
अटश्च	अधुना	४।१।८३	अन्ध्रुधसोः	४।३।२५
अटकुप्वाङ्न्यवायेऽपि	अधु मृत्	१।१।५	अन्यथैवकथमित्थं-	२।४।१३
अडव् वोपादेः	अध्यायानुवाकयोर्वोप्	४।१।६४	अन्यपदार्थेऽनेकं बम्	१।३।८६
अण्	अध्यायिन्यदेशकालात्	३।३।१८८	अन्यस्यापि	४।३।२३२
अणि	अध्वर्युक्रतुरनप्	१।४।८०	अन्येभ्योऽपि	२।२।१५७
अणुदित्त्वत्याम्नो	अनः	४।२।११०; ४।४।१५८	अन्वच्यानु लोभ्ये	२।४।४६
अणौ धेः प्राणिकर्तृकात्	अनङ् सौ	५।१।७०	अपथम्	१।४।१०७
अण् कुटिलिकायाः	अनचि	५।४।१२७	अपादानेऽहीयरुहोः	४।२।५०
अण् मोः	अनद्यतने लङ्	२।२।६२	अपे क्लेशतमसोः	२।२।४८
अतः खम्	अनद्यतने लुट्	२।३।१४	अपे च लषः	२।२।१२१
अताभास्यस्याशी-	अनन्तरस्यापि	५।३।१०३	अपो नञ्पान्नप्लुभ्याम्	३।२।१२

अप् चांशिभ्यानुध्यमद्र-	१।४।७७
अप् तदर्थाथर्वलिहित-	१।३।३१
अप्राणिजातेः	१।४।८२
अभिजनः	३।३।६४
अभिजिद्विदभृतोऽणो यञ्	४।२।७
अभिनिविशश्च	१।२।११९
अभिनिष्कामति द्वारम्	३।३।६०
अमानिनीत्स्वाङ्गात्	४।३।१५२
अमावस्या वा	२।१।१०३
अमेकाचोऽम्बत्	४।३।१७८
अमन्तोन्निगन्तव्य-	५।४।७१
अयद्यभिज्ञोक्तौ लृट्	२।२।६३
अयामन्ताल्वाय्येत्युषु	४।४।५५
अर्जुनाद् बुन्	३।३।७३
अर्तिह्वीव्लीरीकन्यूयीक्ष्मा-	५।२।४१
अर्तेः	५।१।११०
अर्थैतावत्त्वे च	१।४।६१
अर्धाच्च	४।२।१०३
अर्शआदेरः	४।१।५०
अर्हः	२।२।१७
अलङ्कृन्निराकृञ्	२।२।११४
अल्पाख्यायाम्	४।२।१३७
अल्पाचतरम्	१।३।१००
अल्पे	४।१।१४१
अवक्रयः	३।३।१७०
अवयवाहतोः	५।२।१६
अवारपारात्यन्तानु-	३।४।१३६
अविच्छेदे	१।३।२६
अव्यक्तानु करणादनेका-	४।२।६१
अश्	४।१।७२
अशाला	१।४।१००
अश्नोतेः	५।२।१७२
अश्वत्थाग्रहायणीभ्यां	३।२।१७
अश्वपत्यादेः	३।१।६६
अश्ववडवौ पूर्ववत्	१।४।१०३
अश्वदेः फञ्	३।१।६६
अषड्ज्ञासितंग्वधिद्यः	४।२।१६
अष्टाभ्य औश्	५।१।१८

असंख्यं द्विः	१।१।७४
असिद्धवदनाभात्	४।४।२१
असौ	५।१।१६५
अस्ताति	४।१।१०४
अस्तिब्रूवोर्भूवची	१।४।१२४
अस्त्यात्	२।३।८४
अस्य च्वौ	५।२।१४१
अस्विदिस्वदिसहेः	५।४।४६
अहः	१।४।१०५
अहस्सवैक देशसंख्यात-	४।२।८६
अहन्	५।३।७७

आ

आकर्पादेः कः	३।३।१७
आकालोऽच् प्रदीपः	१।१।११
आक्रोशे नञ्यनिः	२।३।६३
आक्रोशोऽवन्योर्ग्रहः	२।३।४१
आक्तेः कश्चिन्नाद्युक्ते	२।२।११२
आङः	४।३।२४
आङः स्पद्धं	१।२।२६
आङि चापः	५।२।१००
आङि यमियसिक्रीडि-	२।२।१२५
आङि शीले	२।२।१६
आङो दोऽव्यसने	१।२।१४
आङो नाऽल्लियाम्	५।२।११३
आङो यमहनः	१।२।२३
आङो धि	५।१।४४
आङ्माङोः	४।३।६२
आङ्याञौ	२।३।६०
आ च त्वात्	३।४।१११
आ च हौ	४।४।१०७
आ चार्थवेदसत्यानाम्	२।१।२३
आच्छादने वृजः	२।३।५०
आज्ञायिनि	४।३।१२४
आतः	२।४।६०
आतः कः	२।२।३
आतो गौ	२।१।१०६; २।३।८८
आतो णल औः	५।२।३७

आतो धोः	४।४।१२७
आथर्वणः	३।३।१०१
आदितः	५।१।१२२
आदेप्	४।३।७५
आदेरेकाचो द्वे	४।३।१
आदैगैप्	१।१।५
आद्यतः	५।२।१७०
आधमर्ण्ये चैनः	१।४।७४
आधारोऽधिकरणः	१।२।११६
आनङ् द्वन्द्वे	४।३।१३८
आनि	५।४।१०३
आने मुक्	५।१।१४१
आन्महतो जातीषे च	४।३।१५८
आन्महोः कश्चिन्नाद्युक्ते	५।२।१५७
आपपदम्	३।४।१३३
आवाधे च	५।३।८
आमः	१।४।१४९
आमीयुवोः	१।२।९४
आमेतः	२।४।७६
आम्यात् सर्वनाम्नः सुट्	५।१।३४
आम्बत् तत्कृञः	१।२।५६
आयनेयीनीयियः फट्ग्व-	५।१।२
आयस्थानेभ्यष्टण्	३।३।४९
आयामिना	१।३।१३
आर्हाष्टण्	३।४।१७
आलम्बनाविदूरेऽवात्	५।४।४६
आवध्यात्	३।१।५
आवश्यकधमर्ण्ययोः	२।३।१४६
आवि	५।१।१४७
आशितम्भवः	२।२।४३
आशिषि	२।१।१२३
आशिषि नाथः	१।४।६२
आशिषि लिङ्लोटौ	२।४।४६
आशिषि हनः	२।२।४७
आश्वयुज्या वुज	३।३।२०
आषादाच्च	३।३।८
आ सर्वनाम्नः	४।३।१६७
आसिद्धौ देश्यदेशीय-	४।१।१२६

आहस्थः	५।३।५२
आहि च दूरे	४।१।१०१
इ	
इकः प्रोऽङ्ग्याः	४।३।१७२
इकस्तौ	१।१।१७
इको दी वोरुङ्गः	५।३।८५
इको बहेऽपीलोः	४।३।२२३
इगुङ्गः शूलोऽनियो-	२।१।४०
इग्यणो जिः	१।१।४५
इङ्गः १।४।१२० ; २।३।२०	
इङ्गानं दः	१।२।१५१
इच्छा	२।३।८३
इच्छार्थे लिङ् लोटौ	२।३।१३३
इच्छोद्बोधेऽकच्चिति	२।३।१२६
इज्जः	३।२।८८
इजो बह्वचः प्राच्यमरतेषु	१।४।१३७
इटि चात्त्वम्	४।४।६३
इट् ते	५।१।६५
इड्विजः	१।१।७६
इणः षः	५।४।२७
इणः प्रीध्वंलुङ्लितं-	५।४।६०
इण्को सः षः	५।४।३७
इतोऽनिजः	३।१।१११
इतो मनुष्यजातेः	३।१।५५
इदम इश्	४।१।६६
इदमदसोः सकोः	५।१।६
इदमो मः	५।१।१६६
इदमो वो घः	३।४।१६१
इदमो हः	४।१।७७
इदमो हिं	४।१।८२
इदिद्वोर्नुम्	५।१।३७
इदुदुङ्गोऽत्यपुंमुहुसः	५।४।२८
इदुदुभ्याम्	५।२।१११
इदुगोण्याः	१।१।१०
इदुदरिद्रः	४।४।१०४
इन्	४।१।१६
इनः स्त्रियाम्	४।२।१५२
इन्इन्पूर्धार्यम्णाम्	४।४।६

इपा च प्राप्तापन्ने	१।३।२०
इपि २।४।३८ ; ५।१।१४६	
इप् तच्छ्रुतातीतपतित-	१।३।२१
इवेनेन	१।४।४०
इवे प्रतिकृतौ कः	४।१।१५०
इष्टादेः	४।१।२२
इसुसुक्तः कः	५।२।५२
इसुसोः सामर्थ्ये	५।४।३२
ई	
ई उत्	४।३।१०७
ई घ्राध्मोः	५।२।१४०
ईच्च गणः	५।२।१६४
ईटीटः	४।४।२०
ईडः रध्वे	५।१।१३६
ईतः षुङ् नित्यम्	४।३।४९
ईदासः	४।४।१२६
ईदुदः	४।४।१२३
ईदूदेद् द्विदिः	१।१।२०
ईद्ये	४।४।६४
ईपन्नः	४।१।७६
ईपात्र वाक्	२।१।६६
ईपि चोपपीडरुधकर्षः	२।४।३५
ईपोऽद्वलः	४।३।१२७
ईष्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः	१।१।६०
ईष्णौगडैः	१।३।३५
ईषधिकरणे च	१।४।४४
ईषधिके	१।४।१७
ईष्विशेषणे वे	१।३।१०१
ईष्वभयोर्विभाषा	१।४।१५३
ईयसश्च	४।२।१५६
ईशः	५।१।१३७
ईश्वरः	३।४।४२
ईश्वरेऽधिना	१।४।१८
ईषदर्थे	४।३।२११
उ	
उः	१।१।८६
उगवादेयं	३।४।२
उगितश्च	४।३।१५७

उगिदचां धेऽधोः	५।१।४९
उगिद्वन्नान्डी	३।१।६
उङ्गः	५।१।७५
उङ्गि	५।३।८७
उङ्गोऽतः	५।२।४
उच्चनीचाबुदात्तानुदात्तौ	१।१।१३
उच्चरोऽधेः	१।२।४६
उज्जुहोत्यादिभ्यः	१।४।१४५
उज्ज्	१।१।२५
उग्रादद्गोऽन्यत्राभ्याम्	२।४।६२
उग्रादयो बहुलम्	२।२।१६७
उतस्त्यादस्फात्	४।४।९७
उताप्योः पृष्ठोक्तौ लिङ्	२।३।२८
उत्कारदेशङ्गः	३।२।७०
उत्तरपथेनाहृतं च	३।४।७३
उत्तरपदं द्यु	१।३।१०५
उत्तराच्च	४।१।१०२
उत्सादेरञ्	३।१।७१
उदः	१।२।६१
उद ईहे	१।२।१९
उदकस्योदयोश्च खौ	४।३।१६८
उदन्वानुदधौ	५।३।३४
उदिकूले रुजिवहोः	२।२।३४
उदि ग्रहः	२।३।३४
उदि पुङ्गुयतिश्रिजः	२।३।४५
उन्न्योर्ग्रं	२।३।२७
उपज्ञाते	३।३।८४
उपज्ञोपक्रमं तदायुक्तौ	१।४।६७
उपज्ञवाधित्यके	३।४।१५५
उपदंशो भायाम्	२।४।३३
उपमानात् ४।२।६६; ४।२।३८	
उपर्यर्ध्वधसः सामीप्ये	५।३।५
उपर्युपरिष्ठात्परश्चात्	४।१।६७
उपाजेऽन्वाजे	१।२।१४२
उपाज्जानुनीविकर्णात्	३।३।३६
उपात्	१।२।८१
उपात्प्रतियत्नवैकृव-	४।३।११२
उपात्प्रशंसायाम्	५।१।४५

उपान्त्यालुङ्	१।१।६६
उपा-मन्त्रकरणौ	१।२।२०
उपेन	१।४।१६
उप्चोलादेः	३।१।१५६
उप्ते	३।३।१६
उप्प्रोक्तात्	३।२।५४
उप्फले	३।१।१२१
उप्त्रिलः	५।१।१६
उप्त्रुजुस्	१।१।६२
उभात्वम्	३।४।१६५
उरः	५।२।१६६
उरःप्रभृतिभ्यः कप्	४।२।१५१
उर्त्त	५।२।१२०
उरसोऽण् च	३।३।२००
उरसोऽप्रे	४।२।१५
उषासोषसः	४।३।१४४
उष्ठाद् बुज्	३।३।११६
उसभेदे	३।२।५
उसि	४।३।८३
उसि भे	१।४।५३
उसिलौ च देशे	४।१।३२
उस्मनुष्ये उपमेये	४।१।१५२
ऊ	
ऊधसः	३।१।१३
ऊधसोऽनङ्	४।२।१३२
ऊम् (उँ)	१।१।२६
ऊरुतः	३।१।५६
ऊरुघोरिवे	३।१।५८
ऊ रोऽनादेर्घेः	४।४।१५३
ऊर्णाहंशुभंभ्यश्च युस्	४।१।६२
ऊर्ध्वे शुषिपूरोः	२।४।३१
ऋ	
ऋक्पूरब्धुःपथोऽनङ्	४।२।७०
ऋगयनादेश्चाण्	३।३।४७
ऋचः शे	४।३।१६६
ऋचः सामयजुर्भ्याम्	४।२।८४
ऋच्छत्युताम्	५।२।१२३
ऋणे व्यैः	१।३।३७

ऋतः	५।१।१०६; ५।२।१८६
ऋतः स्फादेरेप्	५।२।१२२
ऋत इद्धोः	५।१।७४
ऋत उत्	४।३।९८
ऋतश्च क्तेः	५।३।६२
ऋतश्चञ्	३।३।५२
ऋतो डिधे	५।२।१०५
ऋतोर्ण्	३।४।९९
ऋतो विद्याथोनि-	४।२।१३६
ऋत्यकः	४।३।१०५
ऋत्विग्दधृक्स्त्रिदगुष्णि-	२।२।५७
ऋदुङोऽक्लृपिचृतेः	२।१।६२
ऋदुशान्त्युस्वंशोऽनेच्-	५।१।७१
ऋन्महिष्यादेश्ण्	३।३।१६९
ऋन्मोः	४।२।१५३
ऋषौ मित्रे	४।३।२३१
ए	
एकः	३।१।७६
एकः किः	१।४।५६
एकगोपूर्वाङ्ग नित्यम्	४।१।४४
एकदिक्	३।३।८१
एकद्विवहवश्चैकशः	१।२।१५५
एकविभक्ति	१।३।९४
एकस्य ते मे	५।३।१८
एकस्य सकृत्	४।२।२६
एकाचोऽनुदात्तात्	५।१।११५
एकाचो वशो भष् झषः	५।३।५४
एकाच्च	४।१।१४९
एकाच् घौ णः	५।४।६६
एकादाकिंश्चासहाये	४।१।११३
एकान्नः	४।३।१८४
एको बवत्	५।३।७
एङि पररूपम्	४।३।८१
एङोऽति पदान्तात्	४।३।६६
एङ् प्राग्देशे	१।१।७०
एचोऽदेः पूर्वस्यात्परस्येप्	३।१।०४
एचोऽयवायावः	४।३।६६
एचोऽशित्याः	४।३।३८

एच्यैप्	४।३।७६
एजेः खशः	२।२।३२
एत ऐ	२।४।७६
एतदः	४।१।७१
एति हः	५।२।१५४
एतेतौ थोः	४।१।७०
एत्येधत्थूत् सु	४।३।७७
एघा	४।१।१०६
एप्यतोऽपदे	४।३।८४
एभ्योऽहोऽहः	४।२।६०
एरुः	२।४।७३
एर्गिवाक्चादुङो-	४।४।७८
एर्धे	५।१।६३
एर्मे	२।४।८१
एवात्कः	४।१।१२६
ऐ	
ऐपीत्	४।३।१४१
ओ	
ओः पुयण्ज्ये	५।२।१७८
ओजः सहोम्भसा वर्तते	३।३।१५०
ओत्	१।१।२३
ओतः श्ये	५।२।७१
ओदपूर्वस्य योऽशि	५।४।४
ओदितः	५।३।६३
ओमभ्यादाने	५।३।१५
ओमाङोः	४।३।८२
ओरावश्यके	२।१।१०२
ओर्देशे ठञ्	३।२।६५
ओषधेरजातौ	४।२।४३
ओसि	५।२।६६
औ	
औक्षम्	४।४।१५६
औङ आपः	५।१।१५
औतः	४।४।७६
औदच्च सोः	५।२।११२
क	
कंशंभ्याम्	४।१।६०
कंसाङ्	३।४।२२

कः खौ	३।३।१११	कर्तुः क्यङ् सखं विभाषा	२।१।६	काण्डारडादीरः	४।१।३७
ककुदस्यावस्थायां खम्	४।२।१४६	कर्तृकरणे भा	१।४।२६	काण्डात् क्षेत्रे	३।१।२८
कचि स्वापेः	४।३।१४	कर्तृकर्मणोः कृति	१।४।६८	का पथ्यन्वयोः	४।३।२१०
कच्छाग्निवक्त्रवर्तद्योः	३।२।१०४	कर्तृकर्मणोर्भूकृञ्	२।३।१०५	का भीभिः	१।३।३२
कच्छादं:	३।२।१११	कर्तृस्थे कर्मण्यमूर्तो	१।२।३२	काभ्यः	२।१।७
कठिनान्तप्रस्तान्स्थानेषु	३।३।१८६	कर्त्राप्यम्	१।२।१२०	कायाः स्तोकादेः	४।३।१२१
कडङ्गरदक्षिणास्थाली-	३।४।६६	कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्न	२।४।३०	कायास्तस्	४।१।७३
कणोमनःश्रद्धावाते	१।२।१३६	कर्मठः	३।४।१५६	कारके	१।२।१०६
कण्डवादेर्यक्	२।१।२५	कर्मणि च	१।३।७६	कारे प्रायः	४।३।१२८
कतरकतामौ समर्थौ	१।३।५८	कर्मणि चाण्	२।३।१०	कार्मः शीले	४।४।१६३
कतिः संख्या	१।१।३३	कर्मणि चेषे	२।४।३२	कार्यार्थोऽप्रयोगीत्	१।२।३
कत्को घेऽचि	४।३।२०७	कर्मणि भृतौ	२।२।२७	कार्वाणसहस्रसुवर्णशत-	३।४।२७
कन्यादेर्दकञ्	३।२।७५	कर्मणि यत्पश्चात्कर्त्रङ्	२।३।६८	कार्वाणस्य वा प्रतिश्च	३।४।२३
कथादेश्चण्	३।३।२०६	कर्मणि हनः	२।२।७४	कालप्रयोजनाद् रोगस्य	४।१।१६
कद्र्बो रोऽस्वयम्भुवः	४।४।१३४	कर्मणीन् विक्रियः	२।२।८०	कालविभागेऽनहोरात्रा-	२।३।११३
कन्थापलदनगरग्राम-	३।२।११८	कर्मणीप्	१।४।२	कालसमयवेलासु तुम्	२।३।१४३
कन्थायाः	३।२।६७	कर्मणोपेयः सम्प्रदानम्	१।२।१११	कालाः	१।३।२५
कन्यायाः कनीन् च	३।१।१०५	कर्मण्यन्याख्यायाम्	२।२।७९	कालाच्च	४।२।३९
क क पौ च	५।४।२२	कर्मण्यण्	२।२।१	कालाढञ्	३।२।३१
कपिज्ञातेर्दञ्	३।४।११७	कर्मण्यधिकरणे	२।३।७४	कालाद्वाच्येः कृञ्	३।३।१८
कपिबोधदाङ्गिरसे	३।१।६६	कर्मण्यशेषे दृशिदिदः	२।४।१५	कालाद्यः	३।४।१००
कमृत्योर्यिण् डीयङ्	२।१।२८	कर्मण्यार्क्रोशे कृञः	२।४।११	कालाध्वन्यविच्छेदे	१।४।४
करणधिकरणयोः	२।३।६६	कर्मण्यत्मानि	२।१।५३	काला मेयैः	१।३।६७
करणे	२।४।२४	कर्मवेधाद्यः	३।४।९४	काले	४।१।६३
करणे यजः	२।२।७३	कर्मव्यतिहारे जः	२।३।७६	कालेऽधिकरणे सुजर्थे	१।४।६७
कर्कलोहिताङ्गीकण्	४।१।१६४	कर्माध्ययने वृत्तम्	३।३।१८१	कालेभ्यः	३।४।७४
कर्कलाटङ्गुणे कः	३।३।४१	कर्मेवाधिशीङ्स्थासः	१।२।११७	कालेभ्यो भववत्	३।२।२९
कर्णेऽकर्तरि	१।४।३३	कलापिनोऽण्	३।३।७६	काश्यादेश्चिञ्जिठौ	३।२।६२
कर्णे लक्षणास्थाविष्टा-	४।३।११८	कलाप्यश्वत्थयववृसाद्	३।३।२३	कास्यगोणीभ्यां तरट्	४।१।१४५
कर्तरि	१।३।७६	कल्याणयादीनामिन्ङ्	३।१।११५	कास्यनेकाच्याल्लितयाम्	२।१।३१
कर्तरि कृञ्	२।४।५२	कव उष्णे	४।३।२१३	किंकिलास्त्यर्थे लृट्	२।३।१२२
कर्तरि कृति	५।१।११३	कष्टाय	२।१।१२	किञ्चु सर्वनाम्नो-	४।१।६८
कर्तरि क्तेन	१।३।७७	कस्कादौ	५।४।३६	किञ्चिदो निर्धारणे	४।१।१४७
कर्तरि चर्षिदेवतयोः	२।२।१६४	कस्येः	३।२।२०	किञ्चिदत्तद्दृष्टुः	२।२।२८
कर्तरि चारम्भे क्तः	२।४।५६	कास्यपारशवौ	३।३।१२५	किञ्चिन्ने लिङ्लृटौ	२।३।१२०
कर्तरि ज्ञे	१।२।८	काऽपादाने	१।४।३७	किञ्चिन्ने लिप्सायाम्	२।३।४
कर्तरि शप्	२।१।६४	काकिनादेः कुक्	३।१।१४५	कितीणो दीः	५।२।१६९
कर्तरि वे	२।२।६७	काऽऽडा मर्यादावचने	१।४।२०	किदन्तः	१।१।५४

किदाशिपि	२।४।८५
किमः	३।४।१६२
किमः कः	५।१।१६२
किमिदंभ्यां थम्	४।१।१६०
किमिदमोः कीडा	४।३।१९६
किमेमिङ्भिक्कादामद्रव्ये	४।२।२०
किमोऽः	४।१।७८
किरतेर्लवे	४।३।११३
किरतेर्हर्पजीविकाकुला-	१।२।३३
किरश्च पञ्चम्यः	५।१।१३४
किसरादेश्ट्	३।३।१७२
कुक्वौ तयोः	५।१।१६३
कुटारश्चावात्	३।४।१५०
कुटीशमीयुगडाभ्यो रः	४।१।१४३
कुराडगोण स्थलभाजनाग	३।१।३७
कुराडपाय्यसंचाय्य	२।१।१०५
कुत्वा डुपः	४।१।१४४
कुत्साऽज्ञातयोः	४।१।१३१
कुत्स्यं कुत्सनैः	१।३।४८
कुत्स्यवन्तिकुरभ्यः	३।१।१५७
कुप्पोः	५।४।२१
कुप्पोस्वये	५।४।२६
कुमति	५।४।१७
कुम्भः	४।२।१०७
कुमारः भ्रमणादिभिः	१।३।६५
कुमारदीर्घयोर्णिन्	२।२।४६
कुमुदन डवेतसाडिडत्	३।२।६७
कुम्भः	४।२।१४१
कुरुयुगन्धरेभ्यो वा	३।२।१०८
कुर्वादेर्यः	३।१।१३६
कुर्वृष्णधकवृष्णोः	३।१।१०३
कुलटाया वा	३।१।११६
कुल्लथकोऽडोऽण्	३।३।१२६
कुलाङ्ककञ् च	३।१।१२७
कुलाळादेर्वुञ्	३।३।८७
कुलिजाञ्च	३।४।५४
कुल्मापादण्	४।१।१५
कुशलः	३।३।१५

कुशलायुक्तेन चासेवायाम्	१।४।४८
कुशाग्राञ्छुः	४।१।१५६
कुशिरञ्जेः श्यो मे वा	२।१।६०
कुसीददशैकादशाड्ढौ	३।३।१५४
कुम्भः	४।३।११६
कुहोश्चुः	५।२।१६४
कुमिकंसकुम्भकुशा	५।४।३४
कुञः करणे ख्युट्	२।२।५५
कुञः श च	२।३।८२
कुञो द्वितीयतृतीयशम्भ-	४।२।६२
कुञो मिथ्यायोगेऽभ्यासे	१।२।६७
कुञो ये च	४।४।६६
कुञो हेतुशीलानुलोभ्ये	२।२।२५
कुञ्तनादेरुः	२।१।७४
कुतलब्धक्रीतसम्भूताः	३।३।१४
कृति	१।३।७१
कृते ग्रन्थे	३।३।८५
कृत्यचः	५।४।१०८
कृदमिड्	२।१।८०
कृद्भृत्साः	१।१।६
कृम्बस्तियोगेऽतत्त्वे-	४।२।५५
कृपो रो ल्ऽकृपादेः	५।३।३६
कृवृषिभृजां यशोभद्रस्य	२।१।९९
कृसृभृवृस्तद्रुस्तु श्रुवो	५।१।११६
कृ धान्ये	२।३।२८
कृकथमित्रयुप्रलयानां	५।२।७
क्रेऽणः	५।२।१२५
क्रेदाराद्यञ्च	३।२।३५
क्रेनौ वि (न्चि) क्	३।४।१५३
क्रेरेडः	४।३।५७
क्रेशाद्वो वा	४।१।३५
क्रेशाश्वाम्यां यञ्छौ वा	३।२।४०
क्रेडोऽण्	३।२।११०
क्रेपासूयासभ्तौ	५।३।१०१
क्रेोऽविधावादेः	४।२।३५
क्रेौ	५।२।१०१
क्रेण्डिन्यागस्त्ययोः	१।४।१४१
क्रेपिञ्जलहास्तिपदादण्	३।३।१००

क्रेण्ड्यासुरिमाण्डकात्	३।१।२२
क्रेौ वेतौ	१।१।२४
क्रेौशल्येभ्यः	३।१।१४२
क्रेौशेयया दृण्	३।३।११५
क्रेडति	१।१।१६
क्रेडत्यचि वा	५।२।२
क्रेकृत्वतु तः	१।१।२८
क्रेस्याधिकरणे	१।४।७०
क्रेदादनत्यन्ते	४।२।१२
क्रेदादल्पे	३।१।४४
क्रेच्चिक्तौ खौ	१।३।१५०
क्रेनाहोरात्रभेदाः	१।३।३६
क्रेवा	१।३।८५
क्रेत्व स्कन्दस्यदोः	४।४।३०
क्रेव्यमानिनोः	४।३।१४८
क्रेव्यचि	५।२।१४२
क्रेव्यचनाद्भृत्यापत्यस्य	४।४।१४१
क्रेव्यपो वा	१।२।८६
क्रेव्यथादिग्वान्नाड्यण्	३।२।५२
क्रेमः	५।१।११२
क्रेमः क्वि	४।४।१६
क्रेमादेर्बुन्	३।२।५३
क्रेमिद्रमो यङः	३।२।१३४
क्रेमो मे	५।२।७४
क्रेम्यः स्वार्थे	४।३।७१
क्रेम्ये	२।२।६१
क्रेम्यामध्ये क्रेपौ	१।४।६
क्रेम्यायोगे गि	१।२।१३०
क्रेम्यासमिहारे लोट् तस्य	२।४।२
क्रेड्जेणौ	४।३।४१
क्रेडाजीविकयोर्नित्यम्	१।३।८०
क्रेडोऽनुपर्याङः	१।२।१५
क्रेतवत्परिमाणात्	३।३।११४
क्रेतात्करणादेः	३।१।४३
क्रेधमण्डार्थात्	२।२।१३३
क्रेड्यादेः	३।१।६५
क्रेयादेः श्ना	२।१।७६
क्रेलिशः	१।१।८१

भिलाशस्तकवोः	५।१।१८	खावन्यपदार्थे	१।३।१८	गाण्डधजगात्खौ	४।१।३६
क्वणो वीणायां च	२।३।६८	खावध्ठनः	४।३।२२७	गाथिविदथिकेशिपणि	४।४।१५७
क्वित्यस्य कुः	५।२।७५	खित्यभेः	४।३।१७६	गावदः	२।३।५३
क्विवप्	२।२।६३	खेऽध्वनः	४।४।१६०	गिप्रादुभ्यां यऽच्यऽस्तेः	५।४।६८
क्षत्राद् घः	३।१।१२५	खेयराजस्यसूर्यमृषोद्य	२।१।६४	गिरिनदीपौरुमास्याग्रहा-४।२।११२	
क्विव्योः	४।३।६८	खेयराजस्यसूर्यमृषोद्य	२।१।६४	गिरिवने किंशुलुककोटरा	४।३।२२०
क्षिप्रवचने लृट्	२।३।१०६	खौ	१।३।३८; २।४।२६;	गिरेश्छः शान्नजीविषु	३।३।६५
क्वियाशीः प्रैपेयु	५।३।१०२		३।३।८६; ३।४।५७;	गुणात्मंख्यादेः	४।२।६३
क्वियो दीः	४।४।५८		४।१।१५१; ५।३।३२	गुरो श्रीदत्तस्यास्त्रियाम्	१।४।३४
क्षीणः	५।३।६४	खौ कन्थोशीनरेयु	१।४।६६	गुणोक्तिब्राह्मणादिभ्यः	३।४।११४
क्षीणकृशोल्लाघाः	५।३।७२	खौ मनसः	४।३।१२३	गुणोक्ते स्तोऽखरुस्फोः	३।१।३०
क्षीणलवणयोल्लैत्ये	५।१।३३	खौ विभाषा वुण्	२।३।६०	गुणोक्त्येपत्	१।३।६६
क्षीरहविषो श्रुतम्	४।३।२२	खौ शरदो वुञ्	३।३।३	गुण्युच्यन्तिष्टुमि-	२।१।२६
क्षीराड्ढण्	३।२।१५	खौ श्रमणाश्क्त्वाभ्याम्	३।२।६	गुप्तिज्किद्भ्यः सन्	२।१।३
क्षुत्तुडगर्भेऽशनायो-	५।२।१४३	ख्यत्यादतः	४।३।६६	गृध्यादेः	३।१।१२४
क्षुद्रजीवाः	१।४।८४	खशः शो यो वा	५।४।१२४	गेः	४।२।११९
क्षुद्राम्यो वा	३।१।१२०	ग		गेः काशो	४।३।२२४
क्षद्वस्तरेट्	५।१।१००	गत्यर्थवदेऽच्छः	१।२।१३८	गेः खद्यजोः	५।१।४६
क्षुब्धस्वान्तध्वान्तलग्न-	५।१।१२६	गत्वरः	२।२।१४७	गेः सुज सुसोत्स्तुमः	५।४।४५
क्षुम्नादिपु	५।४।११७	गद्मद्वचरयमोऽनेः	२।१।८७	गेऽत उत्	४।४।१००
क्षुश्रुवः	२।३।३३	गन्धनावक्षेपसेवाऽन्याय-	१।२।२७	गे यक्	२।१।६३
क्षेपाव्यथातिग्रहेष्यकृत्-	४।२।५१	गन्धस्येरुत्पूतिसुसुरभि-	४।२।१३६	गेरध्वनः	४।२।८७
क्षेपे	१।३।४१	गमः	२।२।४५	गेरयतौ	५।३।३७
क्षेपे क्रिमः	१।३।५९	गमः क्वौ	४।४।४१	गेरसेऽपि विद्वतेः	५।४।६८
क्षेमप्रियमद्रेऽण् च	२।२।४२	गमहनजनखन-	४।४।९३	गेरुहः प्रः	५।२।१३२
क्षेमः	५।३।६८	गमिषुयमां छः	५।२।७५	गे स्तोऽचः	५।२।१४९
क्वस्याचि खम्	५।२।६६	गमेरिण् मे	५।१।१०६	गेहे कः	२।१।११८
ख		गमो वा	१।१।८७	गोः	४।४।१
खं पादस्याहस्यादेः	४।२।१३६	गम्भीराञ्ज्यः	३।३।३३	गोखलरथात्	३।२।४३
खं पिबश्चस्येत्	५।२।११७	गम्यादिर्वत्स्यति	२।३।१	गोत्रावयवात्	३।१।६४
खः	३।१।१२८	गर्गादिर्यञ्	३।१।६४	गोघाया शारः	३।१।११८
खच्चि	४।४।८८	गर्तद्युगहादिभ्यश्छः	३।२।११४	गोपयसोर्यः	३।३।११८
खट्वाऽक्रमे	१।३।२३	गर्हे	२।३।१२५	गोऽपित्	१।१।७८
खमादेशे	५।१।१४६	गवाश्वादीनि च	१।४।८७	गोब्रह्मवर्चसात्	३।४।३६
खरि	५।४।१३०	गष्टक्	२।२।११	गोयवाग्वपदातौ	३।२।११३
खश्चात्मनः	२।२।७१	गाऽगयोः	५।२।८१	गोरद्दु पि	४।२।९४
खारीकाकणीभ्यां कप्	३।४।३०	गाडकुटादेरङ्गिण्डित्	१।१।७५	गोरिन्द्रे ऽवङ्	४।३।१०१
खार्या वा	४।२।१०४	गाड्लिति	१।४।१२१	गोर्णित्	५।१।६७

गोत्रीहेः शकृत्पुरोडाशं	३।३।१३
गोहे रूढः	४।४।८३
गौणादाचारे	२।१।८
गौएयुथकौ	२।१।१२०
गौ भोः क्रिः	२।३।७३
गौरादेः	३।१।२३
गौ रुवः	२।३।२१
गौष्टीनाश्वीनकौपीन-	३।४।१४१
ग्रन्थान्तेऽधिके	४।३।१८७
ग्रहिज्यावग्नियधिवशि	४।३।१२
ग्रहेरः	२।२।१३
ग्रहोऽलिति दीः	५।१।८५
ग्रहोऽवे वर्षप्रतिवन्धे	२।३।४७
ग्रामकौटाभ्यां तक्ष्याः	४।२।६७
ग्रामजनवन्धुसहायेभ्य-	३।२।३७
ग्रामराष्ट्रयोरण्ठञौ	३।२।१२७
ग्रामात्पर्यन्त्रोः	३।३।३७
ग्रामाद्यखञौ	३।२।७४
ग्रामस्तुवः क्विप्	२।२।१५६
ग्रीवाभ्योऽण् च	३।३।३२
ग्रीष्मवसन्ताद्वा	३।३।२१
ग्रीष्मावरसमाद् बुज्	३।३।२४
ग्रो यङि	५।३।३८
ग्रोऽवात्	१।२।४७
ग्लहोऽन्ते	२।३।५७
ग्लाम्भूजिस्थः क्स्नुः	२।२।११५
घ	
घञि भावकरणे	४।४।२७
घञ्यमनुष्ये प्रायः	४।३।२२६
घनान्तर्षणप्रघणप्रघासो	२।३।६९
घस्तुलुङ्घञ्स्नक्कु-	१।४।१११
घेर्दीः	५।२।१६१
घेलौ	४।१।१३५
घोषदादेर्घुन्	४।१।६६
घौ कच्यनक्त्वे सन्वत्	५।२।१६०
घ्यादेरिकः	३।४।१२१
घ्युङः	५।२।८३

घ्रो वा	५।२।११६
ङ	
ङनुदात्ते तो दः	१।२।६
ङमो नित्य ङमुट् प्रात्	५।४।११६
ङसिङ्सोः	४।३।६७
ङसिङ्योः स्मात्स्मिन्	५।१।१३
ङसेः	५।१।२८
ङस्य क्विभक्तोः क्विङिति	४।४।१३
ङस्यातो नुक्	५।२।१८३
ङिङस्योरतः	१।१।४३
ङित्	१।१।५०
ङितः सखम्	२।४।८०
ङिति प्रश्च	१।२।६६
ङिदातः	५।१।१४०
ङीक्षौ	३।१।१२
ङेः खौ पराञ्च	४।३।१२६
ङेराम् म्वाभ्नीभ्यः	५।२।११०
ङेर्यः	५।१।११
ङेसुयोरम्	५।१।२४
ङौ	१।२।७
ङणोः कुक्कुक् शरि	५।४।१२
ङ्याम्मृदः	३।१।१
च	
चक्षः खशाञ्	१।४।१२५
चजोः कुत्रिएययोस्ते-	५।२।५६
चटकाण्योरः	३।१।११७
चतुरनडुहोर्वा	५।१।७२
चतुररन्नेन्किक्त्वेः	४।२।१२२
चतुष्टयं समन्तभद्रस्य	५।४।१४०
चतुष्पाञ्छकुनिष्वाप्	४।३।११५
चतुष्पाद् गर्भियाः	१।३।६१
चतुष्पाद्भ्यो दञ्	३।१।१२३
चरणानामनूक्तौ	१।४।७६
चरणेभ्यो धर्मवत्	३।२।३८
चरति	३।३।१३२
चरफलोर्हचोडः	५।२।१८५
चरेः	२।२।१२२
चरेष्टः	२।२।२१

चर्मणोऽञ्	३।४।१४
चर्मणवदष्टीवच्चक्रीवद्	५।३।३३
चर्मोदस्योः पूरेः	२।४।१७
चल्यद्यथात्	१।२।८४
चरयात्र खम्	५।२।१६०
चस्याऽस्वे	४।४।७३
चस्यैपां लिटि	४।३।१३
चात्	५।२।६०
चादिरसन्वे	१।२।१२८
चायः कीः	४।३।१६
चार्ये द्रन्द्र ;	१।३।६२
चि	४।३।२३३
चितेः कपि	४।३।२२८
चित्रार्थे	२।३।१२६
चिदित्युपमार्थे	५।३।१००
चिन्तिपूजिकथिकुम्भ-	२।३।८७
चिस्फुरोर्णौ	४।३।४६
चे चर्त्वम्	५।४।१२६
चेलेषु वनोपेः	२।४।१९
चोः कुः	५।३।४७
च्विडाजूर्यादिः	१।२।१३२
च्वौ	५।२।१३५
छ	
छः	३।२।२३
छकारकेऽन्यस्य दुक्	४।३।२०४
छगलिनो दिनिया	३।३।८०
छत्रादंर्याः	३।३।१८०
छदिरुपधिवलेर्दञ्	३।१।१२
छन्दः खौ	२।३।३२
छन्दसा निर्मिते	३।३।१९९
छन्दसो यः	३।३।४६
छन्दोगौक्थिकयाञ्चिक-	३।३।६७
छन्दोब्राह्मणानि चात्रैव	३।२।५६
छवि	५।४।२५
छश्चाम्यमित्रात्	३।४।१४०
छश्चायुधात्	३।३।१३७
छादेर्घे	४।४।९०
छाया बहुनाम्	१।४।९८

डटो ग्रहणे कः	४।१।११
डटो वयसि	४।१।५३
डट्ग्वोः	४।३।१५०
डट्यामनः	४।३।२२५
डट्त्रयीप्रमाणयोरः	४।२।११६
डडर्धाट्टः	३।४।४७
डड् गुणतुमार्थ-	१।३।७५
डतरादेः पञ्चकस्य टुक्	५।१।२२
डनाद् धुट् सोश्चः	५।४।१३
डाजर्हस्येतावतः	४।३।८५
डाज्जलोहितात् क्यप्	२।१।११
डिव्तः क्त्रिः	२।३।७०
ढ	
ढणि खम्	३।१।२२२
ढण् च मण्डूकात्	३।१।१०८
ढेः खम्	४।४।१३५
ढो ढे खम्	५।४।१७
ढ्रखे पूर्वस्याणो दीः	४।३।२१६
ढ्रण्	३।१।११६
ण	
णम् चाभीक्ष्ये	२।४।८
णम्यपगुरो वा	४।३।४५
णाविष्टवन्मुदः	४।४।१४६
णिचः	१।२।७२
णिश्चिन्तेः कर्त्तरि कच्	२।१।४३
णोः	२।३।७७; ४।४।५३
णोर्भीस्नेहे तुभये	१।२।६४
णोर्वा	५।४।१०९
णो नः	४।३।५४
णोऽनितेः	५।४।१०४
णौ कच्युङ् प्रोऽशा	५।२।११५
णौ गमज्ञाने	१।४।११८
णौ मृगरमणे	४।४।२६
णौ सन्कचोः	१।४।२२३
णयः	२।१।१०१
ण्य आवश्यके	५।२।६५
ण्यासश्चिन्ध्रिन्धिन्धि-	२।३।८९
ण्योऽतिथेः	४।२।३३

ण्युतुचौ	२।१।१०६
णवोर्व्याः	२।१।८२
त	
तः	३।३।१०२; २।२।८५
तः सेट् पूङ्शीङ्स्विन्	१।६।६२
तद्गः स्वार्थे	२।१।७२
ततः आगतः	३।३।४८
ततो नुट्	५।२।१७१
ततो यूनि	३।१।८०
तत्र	१।३।४०
तत्र जातः	३।३।१
तत्र दीयते भववत्	३।४।८९
तत्र नियुक्तः	३।३।१८६
तत्र भवः	३।३।२८
तत्र विदितः	३।४।४३
तत्र साधुः	३।३।२०२
तत्रेदमिति सरूपे	१।३।८६
तत्रेव	३।४।१०८
तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः	३।२।९
तत्प्रकृतोक्तौ मयट्	४।२।२८
तत्प्रकृतोक्तौ मयट्	३।३।१५१
तथोर्धोऽधः	५।३।५६
तदः	४।१।८५
तदधीनोक्तौ	४।३।५९
तदन्ता धवः	२।१।२६
तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ	३।४।११
तदर्हति	३।४।६०
तदर्हे वत्	३।४।१०६
तदस्मिन्नधिकमिति	३।४।१६७
तदस्मिन्नन्नं प्राये खौ	४।१।१४
तदस्मिन्नस्तीति देशः खौ	३।२।५७
तदस्मिन् युद्धे योद्धृ	३।२।४८
तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभ	३।४।४६
तदस्य पण्यम्	३।३।१७१
तदस्य ब्रह्मचर्यम्	३।६।८७
तदस्य संजातं तारका-	३।४।१५७
तदस्य सोढम्	३।३।२७
तदस्यांशवस्नभृतयः	३।४।५५

तदस्यास्त्वस्मिन्निति मनुः	४।१।२३
तदस्यास्मिन्निति	३।४।१५
तद्वच्छति पथिदूतयोः	३।३।५९
तद्दीयते नियुक्तम्	३।३।१८४
तद्भरति वहत्यावहति	३।४।४६
तद्युक्तात् कर्मणोऽण्	४।२।४२
तद्योजको हेतुः	१।२।१२६
तद्वत्	४।३।७३
तद्वहतिरथ युगप्रासङ्गा-	३।३।१६१
तद्वान्चि धौ वाऽयदि	२।३।१३१
तद्वैच्यधीते	३।२।५१
तनादिभ्यस्तथासोः	१।४।१४८
तनोतेर्यकि	४।४।४६
तनोतेर्वा	४।४।१५
तपःसहस्राभ्यां विनिनौ	४।१।२६
तपस्तपःकर्मकस्य कर्मवत्	२।१।६१
तपोऽनुतापे च	२।१।५६
ततान्ववाद्रहसः	४।२।८४
तमधीष्टो भृतो भृतो भावी	३।४।७६
तमसोऽवसमन्धात्	४।२।८१
तमेष्टावतिशायने	४।१।११४
तयोर्व्यक्तस्वार्थः	२।४।५५
तरति	३।३।१३०
तवकममकावेकार्थे	३।२।१२३
तवममौ डसि	५।१।१५५
तव्यानीयौ	२।१।८३
तस्	३।३।८२
तसादौ	४।३।१४७
तसेः	४।१।७४
तस्मै प्रभवति सन्तापादेः	३।४।६५
तस्मै हितम्	३।४।४
तस्य	३।४।१०६
तस्य दक्षिणायज्ञाख्यात्	३।४।८८
तस्य धर्म्यम्	३।३।१६८
तस्य निवासादूरभवौ	३।२।५६
तस्यन्तिकस्य कादेः	४।४।१४२
तस्य पूरणे डट्	४।१।१
तस्य वापः	३।४।३६

तस्य विकारः	३।३।१०२
तस्य व्याख्यान इति च	३।३।४२
तस्य शतशानाववैकारार्थे	२।२।१०२
तस्य समूहः	३।२।३२
तस्यापत्यम्	३।१।७७
तस्येदम्	३।३।८८
ता	१।३।७०
ता चानादरे	१।४।४६
ताऽतस्यैव्येन	१।४।३९
तादी भूः	४।१।११७
ताया आक्रोशो	४।३।१३४
ताया रूप्यश्च	३।४।१४३
ताया व्याश्रये	४।२।५३
ता शेषे	१।४।५७
तासस्त्योः खम्	५।२।१५२
तासामाप्परास्तद्धलचः	१।२।१५८
तास्थाने	१।१।४६
ता हेतौ	१।४।३५
ति	१।२।१३१; ५।२।१८६
तिक्रितवादिभ्यो द्वन्द्वे	१।४।१४०
तिकादेः फिञ्	३।१।१४१
तिक्रित्येऽदो जग्धिः	१।४।११०
तिकुप्रादयः	१।३।८१
तिक्रान्तान्तरान्तरान्ते	५।१।११६
तिचिरिवरतनुखण्डि-	३।३।७८
तिपि धोः	५।३।८०
तिरश्च्यपवर्गं	२।४।४५
तिरसस्तिर्यखे	४।३।२००
तिरसो वा	५।४।३०
तिरोऽन्तर्द्धौ	१।२।१४०
तिल्यवाद्खौ	३।३।११२
तिष्ठद्वादीनि च	१।३।१४
तिष्यपुनर्वसूनां भद्वन्द्वे	१।१।६६
तिष्यपुष्ययोर्भाणि	४।४।१३९
तीयस्य डिति	१।१।४४
तीषसहलुभरूपरिपः	५।१।९६
तुण्डवतिवलेर्भः	४।१।५६
तुन्दशोकयोः पीरमृजाप-	२।२।१०

तुन्दादेरिलः	४।१।४३
तुभ्यमह्यौ डयि	५।१।१५४
तुमर्थाद् भावे	१।४।२५
तुमीच्छायां धोवोप्	२।१।५
तुमेककर्तृके	२।३।१३४
तुरिष्ठेमेयस्तु	४।४।१४४
तुह्योस्तातङ्ङाशिपि	५।१।३०
तूदीवर्मतीभ्यो दृण्	३।३।६८
तूष्णीमि भुवः	२।४।४८
तृजकाम्यां योगे	१।३।७८
तृज्याश्चाहौ	२।३।१४५
तृणह इम्	५।२।६०
तृणे जातौ	४।३।२०६
तृन्	२।२।११३
तृप्यरवोः क्रियान्तरे	२।४।४२
तृतपोः	४।४।११३
तृन्नोरवे घञ्	२।३।१०१
तृण्ये	४।४।५९
ते द्रयः	४।२।९
तेन	१।३।६०
तेन क्रियातुल्ये	३।४।१०७
तेन क्रीतम्	३।४।३५
तेन दीव्यति खनति	३।३।१२७
तेन निर्धृत्तः	३।२।५८; ३।४।७५
तेन प्रोक्तम्	३।३।७६
तेन यथाकथाचहस्ताभ्यां	३।४।६१
तेन रक्तं रागात्	३।२।१
तेन वित्तश्चुञ्चुचणौ	३।४।१४६
तेभ्य इप् च	१।४।४३
तेभ्यो भवति वा	२।३।१३६
तेरसंख्यादेः	४।१।६
ते विभक्त्यः	४।१।६१
ते विशतीर्डिति	४।४।१२८
ते सेटि	४।४।५४
तोः सः सावनन्त्ये	५।१।१६४
तोर्लि	५।४।१३४
तौ सद्	२।२।१०५
त्यः	२।१।१
त्यखे त्याश्रयम्	१।१।६३

त्यदादि	१।१।६९
त्यदादेरः	५।१।११६
त्यदादौ दृशोऽनलोके टक्चर	२।२।५८
त्यद्योश्च	५।१।१५७
त्यस्थे क्यापीदतोऽमुपो	५।२।५०
त्यादेशयोः	५।४।३६
त्रपुजतुनोः पुक्	३।३।१०६
त्रसिगृधिधृपिक्लिपः क्नुः	२।२।११६
त्राधनाहीनुदोन्दविन्ते-	५।३।७३
त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृ-	५।१।१५८
त्रेः	३।३।१४४
त्रेन् कट्याः	३।२।४४
त्रेस्तु च	४।१।७
त्रेस्त्रयः	५।१।३५
त्वमावेके	५।१।१५६
त्वय्यपादाने	२।४।३७
त्वामाविपः	५।३।१६
त्वहौ सौ	५।१।१५३
त्वे इयापोः क्वचित्त्वौ	४।३।१७३

थ

थः	४।३।४
थचित्सेः	२।४।८६
थस्त्रोरतः	४।४।१०२
थस्य	४।३।३०
थस्य गो पित्यन्त्रि	५।२।८५
थासः से	२।४।६६
थो न्यः	५।१।६४

द

दंशसंजस्वजां शपि	४।४।२४
दः	५।३।८२
दक्षिणादा	४।१।१००
दक्षिणापश्चात्पुरसस्यक्	३।२।७७
दक्षिणोर्मा लुब्धयोगे	४।२।१३७
दक्षिणोत्तराधरादात्	४।१।६८
दक्षिणोत्तराभ्यामतस्	४।१।६४
दण्डादेः	३।४।६४
दण्डिहस्तिनो स्के	४।४।१६४
दध्नष्टक्	३।२।१३

दन्तशिखात्वौ	४।१।३६
दम्भ इच्च	५।२।१५८
दयायासः	२।१।३३
दस्ति	४।२।२२५
दाज्ञः	२।२।५
दाज्धाज्जोर्वा	२।१।११२
दादुर्दोमोऽदसोऽसेः	५।३।८८
दादेर्धोर्धः	५।३।४६
दाधा भ्रपित्	१।१।२७
दाघेट्सिद्दसदो रुः	२।२।१४२
दानीम्	४।१।८४
दान्तशान्तपूर्णादस्त	५।१।१२४
दामन्यादेश्छः	४।२।५
दामहायनात् संख्यादेः	३।१।१४
दाम्नीशसयुजस्तुद-	२।२।१६०
दासगोघ्नौ सम्प्रदाने	२।५।६०
दिक्छब्दाऽन्यारादितरते	१।४।३८
दिक्छब्देभ्यो वाकेभ्योऽ	४।१।६२
दिकसंख्यं खौ	१।३।४५
दिगादेरखौ	३।२।८४
दिगादेर्यः	३।३।२९
दिगादेष्टण् च	३।२।१२६
दित्यदित्यादित्यपतिघोर्षः	३।१।७०
दिवः कर्म	१।२।११५
दिव उत्	४।३।१०८
दिव औत्	५।१।६१
दिवश्च	१।४।६७
दिवसश्च पृथिव्याम्	४।३।१४३
दिवादेः श्यः	२।१।६५
दिवाविभानिशाप्रभाभा-	२।२।२६
दिवो द्यावा	४।३।१४२
दिशोऽन्तराले	१।३।८८
दिशोऽमद्राणाम्	५।२।१८
दीः	१।२।१०१
दीडोऽचि षैडति युट्	४।४।६२
दीपजनबुधपूरितायिप्या-	२।१।५२
दीप्युपोक्तिज्ञाने हवि-	१।२।४३
दीरक्तिः	५।२।१८१

दीरकुद्गो	५।२।१३४
दुन्योरगौ	२।१।११६
दुसो दण्	३।१।१३१
दुहानुरुधदुपद्विपट्टह-	२।२।११८
दुहो वश्च	२।२।६
दूराद्धूते	५।३।६२
दूरान्तिकार्थेस्ता च	१।४।४२
दृत्तिकुत्तिकलसिवस्त्यस्व-	३।३।३१
दृतिनाथयोः पशौ ह्यजः	१।२।३०
दृन्कारापुनर्वर्षाभ्योऽभुवः	४।४।८०
दृशदृश्ववतौ	४।२।१६५
दृशुरेण्	५।३।१२६
दृशो क्वनिञ्	२।१।८१
दृश्यर्थे शिचन्तायाम्	५।३।२१
दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि	४।१।७६
दृडो दिगि लिटि	५।२।१२१
दृडनतः	५।१।५
दृद्यमृगो	३।३।२२
दृद्ये वा च	४।२।६०
दृद्यताद्वन्द्वे	४।३।३९; ५।२।२६
दृद्यन्तात्ताद्वन्द्वे यः	४।२।३१
दृद्यथादिभ्यः	४।१।१५४
दृ वा	२।१।७७
दृवात्तल्	४।२।३४
दृविकर्शिशपादीर्घसत्रश्रय-	५।२।६
दृविक्रुशो गौ	२।२।१२६
दृशोऽनोरः	४।२।२०३
दृहाङ्गात्	३।३।३०
दृकान्यकियत्तदः काले	४।१।८०
दृवयज्ञिशौचिबृक्षिसात्य-	३।१।६६
दृोः क्खोडः	३।२।११७
दृोः प्राचाम्	३।२।६६
दृो दृभोः	५।२।१४८
दृोषो शौ	४।४।८४
दृोष्टण् सौवीरेषु प्रायः	३।१।३६
दृोश्छः	३।२।९०
दृः	१।१।२१
दृः	४।३।३६

दृ तिस्यतिमास्थां ति	५।२।१४४
दृावनुप्	४।२।१२०
दृावापृथिवीसुनाशीर-	३।२।२७
दृावापृथिवीसुनाशीर-	५।२।१६७
दृावापृथिवीसुनाशीर-	२।१।४८
दृावापृथिवीसुनाशीर-	१।२।८७
दृावापृथिवीसुनाशीर-	४।१।३४
दृावापृथिवीसुनाशीर-	३।२।८०
दृावापृथिवीसुनाशीर-	५।२।१५
दृावापृथिवीसुनाशीर-	४।१।३८
दृावापृथिवीसुनाशीर-	४।३।६३
दृावापृथिवीसुनाशीर-	५।२।२८
दृावापृथिवीसुनाशीर-	४।३।१६
दृावापृथिवीसुनाशीर-	४।१।१५८
दृावापृथिवीसुनाशीर-	५।३।५६
दृावापृथिवीसुनाशीर-	३।१।१४६
दृावापृथिवीसुनाशीर-	४।२।११४
दृावापृथिवीसुनाशीर-	१।४।१३३
दृावापृथिवीसुनाशीर-	३।३।११९
दृावापृथिवीसुनाशीर-	३।१।६२
दृावापृथिवीसुनाशीर-	५।३।१३
दृावापृथिवीसुनाशीर-	३।४।२२३
दृावापृथिवीसुनाशीर-	४।२।१०८
दृावापृथिवीसुनाशीर-	३।२।७
दृावापृथिवीसुनाशीर-	३।३।६३
दृावापृथिवीसुनाशीर-	१।४।१०२
दृावापृथिवीसुनाशीर-	१।३।६८
दृावापृथिवीसुनाशीर-	४।१।५१
दृावापृथिवीसुनाशीर-	४।३।७२
दृावापृथिवीसुनाशीर-	५।२।६
दृावापृथिवीसुनाशीर-	४।३।१०८
दृावापृथिवीसुनाशीर-	३।१।१५३
दृावापृथिवीसुनाशीर-	४।२।२५
दृावापृथिवीसुनाशीर-	४।२।७७
दृावापृथिवीसुनाशीर-	३।४।२८
दृावापृथिवीसुनाशीर-	४।२।११५
दृावापृथिवीसुनाशीर-	३।४।१६७

द्वित्रिभ्यामञ्जलेः	४।२।१०५
द्वित्रिभ्यामण् च	३।४।३४
द्वित्रैर्वसुज्	४।१।१०८
द्वित्वेऽचि	१।१।५६
द्विदण्ड्यादिः	४।२।१२६
द्विप्राप्तौ परे	१।४।६९
द्विविभज्ये तरेयसू	४।१।११६
द्विपः	२।४।६२
द्विषोऽरौ	२।२।१०६
द्विस्तावान्निस्तावानुगमम्	४।२।८६
द्वीपादनुसमुद्रे यञ्	३।२।१३०
द्वेस्तीयः	४।१।६
द्वयचः	३।१।११०
द्वयचोऽणः	३।१।१४३
द्वयञ्चः	३।३।४४
द्वयज्यगधकलिङ्गसूरम-	३।१।१५२
द्वयनगोरीदपः	४।३।२०२
द्वयष्टनः संख्यायामवाऽ	४।३।१५६

ध

धः	५।३।५५
धनुषः	४।२।१३३
धन्वयोऽः	३।२।६६
धर्मं चरति	३।३।१६२
धर्मपथ्यर्थन्यायादनुपेते	३।३।१९८
धर्मशीलवर्णान्तात्	४।१।५५
धर्मात् केवलादन्	४।२।१२५
धाञो हिः	५।२।१४६
धात्रपोत्रे	२।२।१६१
धान्यप्ररोहणे खञ्	३।४।१२७
धावृति गोः	४।३।७९
धारीडः शत्रुकृच्छ्रिणि	२।२।१०८
धारेरुत्तमर्गाः	१।२।११२
धि	५।३।४३
धिगत्यर्थञ्च	२।४।५८
धिन्विक्रणभ्योर च	२।४।७५
धुयोगे त्याः	२।४।१
धुरो ढण् च	३।३।१६२

धूमादेः	३।२।१०५
धेः १।२।२१; १।२।३०; १।२।४१	
धेऽकौ	४।४।६
धोर्यङ् क्रियासमभिहारे	२।१।१९
धोस्तस्मिन्नेव	४।३।७०
ध्यपाये ध्रुवमपादानम्	१।२।११०
ध्वर्थवाचः कर्मणि	१।४।२४
ध्वाङ्क्षैः	१।३।४२
ध्वादेः पस्सः	४।३।५३

न

नः क्ये	१।२।१०४
न कपि	५।२।११६
नक्तंरात्रिमहोभ्यो दिवम्	४।२।७६
न क्तिचि दीश्च	४।४।४०
न क्रोडादिवहचः	३।१।४६
नखं मृदन्तस्याकौ	५।३।३०
नखं सुब्विधिं कृत्तुकि	५।३।२८
नखमुखात्कौ	३।१।५१
न खौ	४।२।१५५
न गतिहिंसाथैभ्यः	१।२।६
नगरात्कुत्सादाक्षयोः	३।२।१०६
न गोपवनादेः	१।४।१३८
नगो वाऽजीवे	४।३।१८५
न चवाहहैवयोगे	५।३।२०
न जौ जिः	४।३।३१
न झितलोकखार्थतुनाम्	१।४।७२
नञ्	१।३।६८
नञः	४।२।६७
नञः शु चीश्वरक्षेत्रज्ञ-	५।२।३४
न जे	५।२।११
नञोऽन्	४।३।१८१
नञ् दुस्सोः सक्थिहले-	४।२।१२३
नञ् विसूपत्रिभ्यश्चतुरः	४।२।७५
नञ् से चतुरसंगतलवण	३।४।११५
नडशादाङ्ङित्	३।२।६६
नडादेः कुक्	३।२।७१
नडादेः फण्	३।१।८८

न ते नासिकायाः खौ	३।४।१५१
न थात्	५।१।५६
न थास्मदः	२।४।७१
न दण्डमाणवान्तेवासिपु	३।३।६८
न दधिपयघ्रादीनि	१।४।६०
नदीभिश्च	१।३।१७
नदीमानुप्रीभ्योऽदुभ्य-	३।१।१०२
नद्यादेर्दङ्	३।२।७६
नद्याम्मनुः	३।२।६५
न द्वयचः प्राच्यभरतेपु	३।२।८६
न धुखेऽगो	१।१।१८
नन्दिग्रहपचिभ्यो ल्यु-	२।१।१०७
नपः	५।१।१६
नपः स्वमोः	५।१।२०
न पदान्तद्वित्ववरेयलोप-	१।१।५८
नपरे नः	५।४।११
नपोऽङ्गलः	५।१।५१
नपो वा	४।२।१११
न प्ये	४।४।६८
न प्रतिपदम्	१।३।७३
न विस्ताचितकम्बल्यात्	३।१।२७
न वे	१।१।३७
नब्बाध्य आसम्	१।२।६१
नब्भावे क्तः	२।३।९५
न न्	५।४।११३
नभ्रान्नपान्नवेदानासत्य-	४।३।१८३
नमःपुरसोस्त्योः	५।४।२६
नमः शप्तु	२।१।५८
नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽ	१।४।२६
न माङ्योगे	४।४।७१
न मादेरपत्येऽवर्मणः	४।४।६१
नमिकम्पिस्म्यजस्कमर्हि-	२।२।१४८
न मु टाविधौ	५।३।२९
नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्	२।१।१६
न भ्रेस्तो वा	४।३।८६
न यदनाकाङ्क्षे	२।४।९
न रुधः	२।१।५५
नरे खौ	४।३।२३०

न लङ्लुट् सामीप्याव्यु-	२।३।१११
न लिङि	५।१।८७
न वञ्चेर्गतौ	५।२।६४
न वर्जने	१।४।१२६
न वा रुप्यमत्वरसद्युषा	५।१।१२८
न वा श्वेः	४।३।२७
न वा साकाङ्क्षे	२।२।६४
न विस्तारितकम्बल्यात्	३।१।२७
न वृहत्कोडः	४।३।१४६
न वृतादेः	५।१।१०७
न व्यो लिटि	४।३।३६
न शशददवादीनाम्	४।४।११७
नशेः श	५।४।९९
नश्च पुंसि	४।३।६१
नश्चापदान्तस्य भ्रलि	५।४।८
नश्छव्यप्रशान्	५।४।२
नश्शित्तुक्	५।४।१४
न समाहारे	४।२।६१
न सामेः	४।२।१३
न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम्	५।१।७७
न सेटस्तासि मोऽवमि-	५।२।३६
न स्कादौ न्द्रोऽपि	४।३।३
न स्वतिक्रिमः	४।२।६६
नहिवृत्तिवृषिव्यधिरुचि-	४।३।२१६
नहो धः	५।३।५१
नाञ्चेः पूजे	४।४।२६
नाडीयन्त्र्योः स्वाङ्गे	४।२।१५८
नातोऽम् त्वकायाः	१।४।१५२
नाद्यन्ते	५।४।७६
नाधार्थत्ये च्यर्थे	२।४।४७
नानेकगोः	४।४।६१
नानोः	१।२।५४
नाम्याऽऽदिशिग्रहः	२।४।४३
नाम्यतिष्ठुचतस्र	४।४।३
नावो रात्	४।२।१०२
नाशः खम्	१।१।६१
नाशिः प्रगो न सङ्के	४।३।१६१
नासिकादौ घेट्धमः	२।२।३३

५५

नासिकाया नश्चात्थू-	४।२।११८
नासिकोदरोष्ठजङ्घादन्त-	३।१।४८
नासिक्यो डः	१।१।४
नास्तिकास्तिकदैष्टिकाः	३।३।१७८
निसनिज्ञानिन्दो वा	५।४।११२
निः	१।२।१२७
निकटावसथे वसति	३।३।१९०
निजामुच्येप्	५।२।१७४
नित्यं गतिविशेषे	४।२।१२०
नित्यं दुशरादेः	३।३।१०६
नित्यम्	३।३।१४५
नित्यबोधस्योः	५।३।३
निन्दहिंसकिलिशखाद-	२।२।१२७
निपानमाहावः	२।३।६१
निमित्तं संयोगोत्पादौ	३।४।३७
निमूले कषः	२।४।२२
नियोऽवोदोः	२।३।२५
निरभ्योः पूत्वोः	२।३।२६
निरेकाजनाङ्	१।१।२२
निर्दुःस्सुवेः सुपिसूतिसमाः	५।४।६६
निर्धारणे	१।३।७४
निर्वाणोऽवाते	५।३।६६
निर्वृत्तेऽक्षयूतादेः	३।३।१४२
निवासचितिशरीरोपसमा-	२।३।३६
निविशः	१।२।११
निव्यभ्यनुपरेः स्यन्दोऽ-	५।४।५४
निशाप्रदोषाभ्याम्	३।२।१३४
निषेधेऽलंखत्वोः क्त्वा	२।४।४
निष्काञ्छतसहस्रान्तात्	४।१।४५
निष्कृषः	५।१।६४
निष्णातनदीऽणातप्रतिष्णा	५।४।७५
निष्प्रवाणिः	४।२।१५६
निसः श्रेयसः	४।२।८२
निसस्तपतावनासेवने	५।४।७४
निसंब्युपाद् हः	१।२।२५
निस्तब्धप्रतिस्तब्धौ	५।४।८०
नीग्वञ्चुसंभुसुभ्रंसु-	५।२।१८२
नीतौ च तद्युक्तात्	४।१।१३३

नीलपीनाङ्कौ	३।२।२
नुमशर्व्यवायेऽपि	५।४।३८
नुवा	४।४।४
नृतस्थयोर्दुञ्ज्	३।२।११२
नृतेर्यङि	५।४।११८
नेच्यात्	४।३।६२
नेटः	५।२।८४
नेटि	५।१।८०
नेन्द्रस्य	५।२।२७
नेर्गदनदपतपदभुमा-	५।४।१००
नेर्विडबिरीसौ	३।४।१५२
नेल् स्वखादेः	३।१।८
नैकाचः	४।४।५४
नैकार्थ्ये बोध्ये सामान्य-	५।२।३५
नोङः	४।४।५
नोङस्थफात् क्त्वा	१।१।६५
नोऽपुंसो हृति	४।४।३०
नोमता गोः	१।१।६४
नोऽसे मट्	४।१।२
नौ गदनदपठस्वनः	२।३।६७
नौ णश्च	२।३।५४
नौ द्वयचष्टः	३।३।३१
नौ धर्मविषसीताभ्यस्ता-	३।३।१६७
नौ बुर्धान्ये	२।३।४४
न्यग्रोधस्य केवलस्य	५।२।१०
न्यङ्क्वादेः	५।२।५८
न्यायपरिणायपर्य्यायः	२।३।३६
प	
पक्षात्तिः	३।४।१४५
पक्षिमस्यमृगान् हन्ति	३।३।१५७
पंक्तिविशतित्रिंशच्चत्वा	३।४।५८
पङ्गोः	३।१।५७
पञ्चदशतौ वर्गे वा	३।४।५८
पणः परिमाणे	२।३।५५
पणपादमाषाद्यः	३।४।३१
पण्यावद्यवर्यावह्यायोपस-	२।१।८८
पतिः से	१।२।६८
पतिवल्थन्तर्बन्धौ	३।३।३१

पत्नी	३।१।३३	परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः	२।३।१९	पातेर्लुक्	५।२।४४
पत्यन्तपुरोहितादेर्ष्यः	३।३।१२८	परिमाणात्संख्यायाःसङ्घ-	३।४।५६	पात्राद् घश्च	३।४।६५
पत्रात्	३।३।६१	परिमाणाद्भृदुपि	३।१।२६	पात्रेसमितादयश्च	१।३।४३
पत्रादण्	३।३।९०	परिमुखम्	३।३।१५२	पादः पत्	४।४।११६
पथः कट्	३।४।७१	परिवृतो रथः	३।२।८	पादस्य पदाज्यातिगोप-	४।३।१६३
पथः पन्थः	३।३।६	परिव्यवक्रियः	१।२।१२	पादो वा	३।१।१५
पथिमश्च्युनुश्रान्नाग्	५।१।६२	परिषदो ष्यः	३।३।६५; ३।३।२०५	पाद्यार्थे	४।२।३२
पथो वा	४।२।६८	परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु	५।४।५७	पानं देशे	५।४।६३
पथो बुन्	३।३।१६	परेः	५।४।५६	पापाणके कुस्त्यैः	१।३।४९
पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्र-	३।४।१३२	परेः सुदेवित्तिपरटवद-	२।२।११९	पाथ्यसान्नाय्यनिकाय-	२।१।१०४
पथ्यतिथिवसतिस्वपते-	३।३।२०७	परेऽचः पूर्वविधौ	१।१।५७	पारायणतुरायणचन्द्राय	३।४।६८
पदद्योग्ल्हाति	३।३।१६०	परेर्वाङ्कयोगे	५।३।४०	पारे मध्ये तथा वा	१।३।१५
पदरुजविशस्पृशो घञ्	२।३।१५	परेर्वर्जने	५।३।४	पाशरूपवीणातूलश्लोक-	२।१।२२
पदव्यवायेऽपि	५।४।११६	परेर्वा	४।३।३७	पाशादेर्यः	३।२।४१
पदस्य	५।३।१४	परोक्षे लिट्	२।२।६५	पिच्चास्मदः	२।४।७८
पदस्य टोर्नाम्नवतिनगरी	५।४।१२१	परोऽचो मित्	१।१।५५	पिटे चिः	३।४।१५४
पदादपादादौ	५।३।१५	परोपात्	१।२।३५	पिति कृति तुक्	४।३।५६
पदार्थसम्भाववानुज्ञा	१।४।६	परो म्निः	५।३।२	पितुर्घश्च	३।३।५३
पदास्वैरिवाह्यवक्ष्येषु	२।१।९८	परोद्वरपरंपरपुत्रपौत्र-	३।४।१३५	पितृव्यमातुलमातामह-	३।२।३१
पदे व्योरैयौच्	५।२।८	परौ भुवोऽवज्ञाने	२।३।५१	पिष्टात्	३।३।११०
पद् ये	४।३।१६४	परौ यज्ञे	२।३।४३	पीलाया वा	३।१।१०७
पन्थो ण नित्यम्	३।४।७२	परौ वादिन्निपरटः	२।२।१२८	पुंस्त्रौ घः प्रायेण	२।३।१००
परः	२।१।२	पर्यादेष्टट्	३।३।१३३	पुंयोगात् खोरगोपाल-	३।१।३८
परकालैककर्तृकात्	२।४।७	पर्यपाङ्ग्रहिरञ्चदः कया	१।३।१०	पुंवद्यजातीयदेशीये	४।३।१५४
परम्	१।३।६५	पर्यभिम्याम्	४।१।७५	पुंसि चाङ्गर्चाः	१।४।१०८
परस्परान्थोन्थेतरेतरे	१।२।१०	पर्यातिवचनेऽलमर्थे	२।४।५१	पुंसीदोऽय्	५।१।१६९
परस्यादेः	१।१।५१	पर्यायार्हणोत्वत्तौ बुण्	२।३।६२	पुंसोऽसुङ्	५।१।६६
परानुकुञ्जः	१।२।७६	पर्वतात्	३।२।११६	पुच्छुभाण्डचीवराणिण्ड-	२।१।१७
परावरयोगे	२।४।६	पर्षादेरण्	४।२।६	पुरयसुदिवाभ्यां नप्	१।४।१०६
परावराधमोत्तमादेः	३।२।१२५	पल्ल्यादेः	३।२।८६	पुण्यैकान्याम्	४।२।६२
परिक्रयणम्	१।२।११३	पत्यराजहस्तिभ्यो वर्चसः	४।२।८०	पुत्राच्छ वा	३।४।४०
परिखाया टञ्	३।४।१६	पशुष्वजः समुदोः	२।३।५६	पुत्रान्ताद्वा	३।१।१४६
परिणाऽन्तशलाकासंख्याः	१।३।८	पाककर्णपर्यपुष्पफलमूल	३।१।५४	पुत्रे वा	४।३।१३५
परिनिवन्ध्यः सेवसितसयाम्	५।४।५१	पाकमूले पीलुकर्णा-	३।४।१४४	पुमः खय्यम्परे सोऽनुस्वा-	५।४।१
परिपन्थं तिष्ठति	३।३।१५८	पाम्राध्माषेट्टृशः शः	२।१।११०	पुरायावतोर्लट्	२।३।२
परिभूजिद्विश्चिश्चिश्चि	२।२।१४०	पाम्राध्मास्थाम्नादाण्	५।२।३६	पुरि लुङ् वा	२।२।६८
परिमाणस्याखुद्याये	५।२।२२	पाणिघताडघराजघाः	२।२।५३	पुरुषहस्तिनोऽण् च	३।४।१५९
परिमाणस्थानतोऽर्धाद्वा	५।२।३२	पाण्डोड्यण्	३।१।१५५		

पुरुषाड्दृण्	३।४।६	पौत्रादि वृद्धम्	३।१।७८	प्रयच्छति गहृयम्	३।३।१५३
पुरुषात् प्रमाणे वा	३।१।२९	प्यस्तिवाक्से क्वः	५।१।३१	प्रयोजनम्	३।४।१०२
पुरुषे वा	४।३।२१२	प्यायः पी	४।३।२३	प्रवहः	१।२।७८
पुरोऽप्रतोऽप्रेषु सुः	२।२।२३	प्ये	४।४।३८	प्रवाहणस्य ढे ढस्य	५।२।३३
पुरोडाशाद्बन्	३।३।४५	प्ये चिपूर्वात्	४।४।५६	प्रशंसायां रूपः	४।१।१२५
पुरोऽस्तं भिः	१।२।१३७	प्ये च	४।३।३४	प्रशंसेऽहैः	२।२।१११
पुवः खौ	२।२।१६३	प्रः	४।४।८७; ५।२।१६३	प्रशंसोक्त्या	१।३।६२
पुवाद्दुत्	५।१।७६	प्रकारे गुणोक्तेः	५।३।१०	प्रशस्यस्य श्रः	४।१।११९
पुस्करादेदेशे	४।१।५६	प्रकारे था	४।१।८६	प्रश्ने चान्तर्युगे	२।२।९७
पुष्यसिदध्यौ मे	२।१।६६	प्रकारोक्तौ जातीयः	४।१।१२८	प्रसहनेऽधेः	१।२।२८
पूगाञ्च्योऽग्रामणीपूर्वत्	४।२।१	प्रकृत्याऽचि दिपाः	४।३।१०३	प्रसितोत्सुकाभ्यां भा च	१।४।५२
पूङ्गः	५।१।९६	प्रकृष्टे ठः	३।४।१०१	प्रस्त्यो वा	५।३।६६
पूङ्ग्यजोः शानः	२।२।१०६	प्रकृष्यगर्है मन्यकर्मण्य-	१।४।२७	प्रस्थपुरवहान्तात्	३।२।१००
पूजाकुत्सयोर्भ्यत्ययः	३।१।८४	प्रचये वा	२।४।३	प्रस्थैप्	५।२।१०३
पूजिते	५।३।६६	प्रजने वातेः	४।३।४७	प्रहरणम्	३।३।१७६
पूतकतोरै च	३।१।३६	प्रजने सुः	२।३।५८	प्रहरणमिति क्रीडायां णः	३।२।४६
पूर्णाद् वा	४।२।१४६	प्रजामेधाऽस्	४।२।१२४	प्रहासे मन्यवाचि युष्म-१।२।१५४	
पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराण	१।३।४४	प्रज्ञादेः	४।२।४४	प्राक्खणशङ्खः	३।४।१
पूर्वत्रासिद्धम्	५।३।२७	प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः	४।१।२८	प्राक्तेर्वाऽसमः	२।१।८१
पूर्वपदात्खावगः	५।४।८७	प्रतिकण्ठललामार्थात्	३।३।१६१	प्राक्सितादद्यापि	५।४।४३
पूर्वम्	१।३।६७	प्रतिजनादेः खञ्	३।३।२०३	प्राग्द्रोरण्	३।१।६८
पूर्वश्च	४।३।६	प्रतिज्ञाने समः	१।२।४८	प्राग् धोस्ते	१।२।१४६
पूर्वात्	४।१।२०	प्रतिपदमेति ठश्च	३।३।१६३	प्राग्यादृण्	३।३।१२६
पूर्वादयो नव	१।१।४२	प्रतियत्ने कृञः	१।४।६०	प्राग्वतष्ठञ्	३।४।६१
पूर्वान्यायेतरेतरापरारवो	४।१।८७	प्रतियोगे कायास्तसिः	४।२।४६	प्राचां कटादेः	३।२।११५
पूर्वापरप्रथमचरम-	१।३।५३	प्रतिश्रवणे	५।३।६६	प्राचां ग्रामाणाम्	५।२।१६
पूर्वावरसदृशकलहनिपुण	१।३।२८	प्रतेः	४।३।१०	प्राचां नगरे	५।२।२६
पूर्वावराधराणां पुरव-	४।१।१०३	प्रतेरुरस ईपः	४।२।८५	प्राचामिञोऽतौत्वलिभ्यः	१।४।१३२
पूर्वाह्णापराह्णाऽऽर्द्रामूल-	३।३।५	प्रत्यन्ववात्सामलोमनः	४।२।७१	प्राणितालादेः	३।३।१०५
पूर्वे कर्तरि	२।२।२४	प्रत्यभिवादेऽञ्द्रस्त्र्यस्त्र्यके	५।३।६१	प्राणिनूर्यसेनाङ्गानां द्वन्द्व	१।४।७८
पूर्वोऽमि	४।३।६४	प्रत्यभ्यतिक्षिपः	१।२।७७	प्राणिन्युप्	३।४।८६
पृथग्विनानानामिर्वा	१।४।४१	प्रत्याड्श्रवः	१।२।५५	प्राण्यङ्गरथखलयवमाषवृष-	३।४।५
पृथ्वादेर्वैमन्	३।४।११२	प्रथने वावशब्दे	२।३।३१	प्राण्यङ्गादातो वाऽलः	४।१।२४
पृथोदरादीनि यथोप-द-	४।३।२१४	प्रथमचरमतयात्पार्धकति-	१।१।४१	प्राण्योषधिबृद्धेभ्योऽवय	३।३।१०३
पेषमि	४।३।१६६	प्रपूर्वस्य स्त्यः	४।३।१८	प्रात्	४।३।५८
पैलादेः	१।४।३३१	प्रभवति	३।३।५७	प्रातर्निःशरेत्तुप्लक्षाम्-	५।४।८६
पोटायुवतिस्तोक-	१।३।६०	प्रमाणास्त्योः	२।४।३६	प्रादारम्भे	१।२।३८
पोरदुडोऽत्रिविपरिपि-	२।१।८५	प्रमाणे द्वयसङ्घटन-	३।४।१५८	प्रादिः	१।२।१२६

प्रादुगोः	५।३।४५	फेनादिलश्च	४।१।२६	भक्तिः	३।३।७०
प्रादुधृत्यमिडस्ति	५।४।७३	फेरुञ्ज च	३।१।१३७	भक्त्यानाभ्यां मिश्रणव्य-	१।३।३०
प्राध्वं बन्धे	१।२।१४७			भजो शिवः	२।२।६५
प्रायश्चित्तिचित्तयोः	४।३।११७	ब		भजभासमिदो घुरः	२।२।१४४
प्रायोऽनपत्येऽशीनः	४।४।१५५	बन्धोऽधिकरणे	२।४।२८	भञ्जेर्जौ	४।४।३२
प्रायो (य आ) भीक्षये	२।२।६९	बन्धौ वे	४।३।१०	भर्गात् त्रैगर्तं	३।१।१००
प्रावृष एण्यः	३।२।१३६	बलादेर्मतुर्वा	५।१।५७	भवतष्टणञ्जसौ	३।२।६१
प्रावृषष्टः	३।३।२	बले	४।३।२२१	भवति	१।४।७१
प्रियवशो वदः खच्	२।२।३६	बहावीरेतः	५।३।८६	भवतेरः	५।२।१७३
प्रियस्थिरस्फिरयदंरः	४।४।१४८	बहुत्वेऽदोरपि	३।२।१०३	भवद्भगवदभवतो वा रिः	५।४।३
प्रुसृत्वः साधुकारिणि	२।१।१२२	बहुपूगगणसङ्घस्य	४।१।४	भवद्बद्धा तत्सामीप्ये	२।३।१०७
प्रे	२।२।४	बहुलं खौ	१।४।१२६	भव्यगेयप्रवचनीयो-	२।४।५३
प्रेद्वस्तु श्रवः	२।३।२६	बहुल गुरुवृद्धतुप्रदीर्घं	४।४।१४९	भसन्ध्याद्यृतुभ्योऽवर्षा-	३।२।१३७
प्रेलपसृद्धमथवदवसः	२।२।१२६	दृष्ट्वापिन्नालानौ	४।१।४६	भस्त्रैषाजज्ञाद्वास्वानां	५।२।५२
प्रे लिप्सायाम्	२।३।४२	बहोर्धा वासत्तौ	४।२।२७	भस्य	४।४।११८
प्रेल्वाप्चतुरो नुट्	५।१।३६	बहोर्वस्नसौ	५।३।१७	भस्य टेः खम्	५।१।६५
प्रे वणिजाम्	२।३।४८	बहौ भ्रुत्येत्	५।२।६८	भागाद्यश्च	३।४।४८
प्रे सूजोरिन्	२।२।१३६	बह्वचो नृगोर्वा ठः	४।१।१३४	भा गुणोक्त्याऽर्थेनोनैः	१।३।१७
प्रे षातिसर्गाप्राप्तकाले	२।३।१३६	बह्वजादेष्टः	३।३।१८२	भागे चानुप्रतिपरिणा	१।४।२२
प्रोः	५।२।१७६	बह्वल्पाञ्छस्कारकाद्वा	४।२।४७	भाऽतुलोपमाभ्यां तुल्यार्थैः	१।४।७६
प्रो धि च	१।२।६६	बह्वादेः	३।१।३१	भादाविदमोऽन्वादेशे	४।३।११८
प्रो नपि	१।१।७	बह्वृचो बहुलं टञ्	३।३।४३	भादौ वोक्तपुंस्कं	५।१।५३
प्रोऽम्भार्थम्बोः	५।२।१०२	बाढान्तिकयोः साधनेदौ	४।१।२२२	भाद्युक्तः कालः	३।२।४
प्रोष्टपदानां जाते	५।२।२३	बाह्वन्तकद्रुकमण्डलुभ्यः	३।१।६०	भाया श्रीजस्सहो	४।३।१२२
प्रोष्टैरयनाल्पदः	४।२।१२१	विभेतेर्हेतुभये	४।३।४८	भार्थे	१।४।१४
प्लक्षादिभ्योऽण्	३।३।१२२	विल्वकादेश्छस्य	४।४।१४३	भावकर्म ङि०ः	१।१।३०
प्लादेः प्रः	५।२।७८	बुध्युध्नश्जनेऽप्रद्रुस्रोर्णोः	१।२।८३	भाववाचिनः	२।३।६
		बृहत्तिका	४।२।१४	भावादिमः	३।३।१४३
फ		बोध्यमसद्वत्	५।३।२४	भावे	२।३।१७
फट्	३।१।२०	ब्रह्मणस्त्वः	३।४।१२६	भावेऽगौ	२।२।६२
फणां सप्तानाम्	४।४।११६	ब्रह्मणो राष्ट्रेभ्यः	४।२।१०६	भावे त्वन्तलौ	३।४।११०
फण् फिजोर्वा	३।१।७६	ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्	२।२।७५	भासे	१।१।३८
फलभजोः	४।४।११२	ब्राह्मणमाणववाडवात्	३।२।४२	भिच्चादेः	३।२।३३
फलेग्रह्यात्मभरिकुक्षि-	२।२।३१	ब्राह्मोऽजावौ	४।४।१६२	भिच्चासेनादाये	२।२।२२
फल्गुन्याष्टः	३।३।६	ब्रुव आहश्च	२।४।७०	भिद्योद्ध्यौ नदे	२।१।६५
फाण्टाहृतेर्णः	३।१।१३८	ब्रुव ईट्	५।२।६१	भिन्नलिङ्गो नदीदेशो-	१।४।८३
फाल्गुनीश्रवणाकार्तिकी	३।२।१८			भियः क्रुकलुकौ	२।२।१५३
फिरदोः	३।१।१४७	भ		भियो वा	४।४।१०५
फुल्लः	५।३।७०	भक्ताणः	३।३।२०४		
		भक्ताद्वाऽण्	३।३।१८५		

भिसोऽत ऐस्	५।१।८
भोमादयोऽपादाने	२।४।६१
भीरोः स्थानम्	५।४।६३
भीहीभृद्बुवाभुज्वत्	२।१।३५
भुजप्रयाजानुयाजौकप्रयोज्य-	५।२।६८
भुजोऽदौ	१।२।६३
भुमास्थागापाहाक्सां	४।४।६५
भुवः ख्वन्तरे	२।२।१५२
भुस्थोरिः	१।१।६१
भूतपूर्वं चरट्	३।४।१४२
भूतवच्चाशंसायाम्	२।३।१०८
भूते २।२।७२; २।३।११६	
भूयहत्वे	२।१।९०
भूवादयो धुः	१।२।१
भूषाऽपरिग्रहेऽलमन्तः	१।२।१३५
भृग्वत्रिकुत्सवशिष्टगोत-	१।४।१३६
भृजां त्रयाणामिः	५।२।१७५
भृजोऽखौ	२।१।६३
भृतृवृजिधारिसहि-	२।२।४४
भृशादेश्चौ हलो भुवि	२।१।१०
भेष्यो बहुलम्	३।३।१३
भेषजानन्तावसथेतिहाञ्ज्यः	४।२।३०
	। ३।२।४७
भ्यपः	५।२।१५०
भ्यसोऽभ्यम्	५।२।२६
भ्रस्जोरसोरम्वा	४।४।४६
भ्राजभासभाषदीपजीव-	५।२।११६
भ्रातरि च ज्यायसि	३।१।८२
भ्रातुर्व्यश्च	३।१।३३
भ्रुवो बुक्	३।१।११४
भ्रौणहृत्यधैवत्यसार-	४।४।१६६
भ्वसोरेच्च खं हौ	४।४।१०६

म

म	३।३।७५
मतिबुद्धिपूजार्थाच्च	२।२।१६६
मतौ बहुच्छरादेर-	४।३।२२२
मत्वर्थे स्तौ	१।२।१०८
मत्स्योऽयो ड्याम्	४।४।१३७

मदजनहलात्करण-	३।३।२०१
मद्रेभ्योऽण्	३।२।८५
मधुवभ्रोर्ब्राह्मणकौशिकयोः	३।१।६५
मधूषशुचिमुष्काद्रः	४।१।३३
मध्यान्ताद्गुरौ	४।३।१३०
मध्यान्मः	३।२।१२८
मध्ये पदे निवचने	१।२।१४५
मध्वादेः	३।२।६६
मनः	२।२।७०
मनस्युरनस्यनत्याधाने	१।२।१४४
मनुष्यादिध्वरण्यात्	३।२।१०७
मनो डाप्च	३।१।६
मनोश्चक्षुश्चेतोरहोर-	४।२।५६
मनोरौ च	३।१।४१
मनोर्जातौ षुक् चाऽञौ	३।१।१४८
मन्त्रेष्क्विषु	४।४।६२
मन्थौदनसक्तुत्रिन्दुवज्र-	४।३।१७१
मन्माभ्यां खौ	४।१।५८
मन्वन्कनिब्विचः क्वचित्	२।२।६२
मम्	१।२।७५
ममोङ्ङ्यो मतोर्वोऽ-	५।३।३१
मयट्	३।३।५६
मयड्वैतयोरभक्षाच्छा-	३।३।१०८
मयूरव्यंसकादयश्च	१।३।६६
मयो वोऽच्युजः	५।४।१५
मस्जिनशोर्भलि	५।१।३६
महतोऽञ् खञौ	३।१।१३०
महाराजप्रोष्ठपदाभ्यां टण्	३।२।३०
महाराजात्	३।१।७२
महेन्द्राद् घाणौ च	३।२।२४
माङ्ङि लुङ्	२।३।१५१
माङ्ङो व्यतिहारे	२।४।५
माणवचरकात् खञ्	३।४।१०
मातरपितरौ वा	४।३।१४५
मातुरुत्संख्यासम्भद्रादेः	३।१।१०४
मातृपितृभ्यां स्वसुः	५।४।६६
माथद्युपदव्यनुपदाक्रन्दं	३।३।१५६
मानपश्वङ्गयोः कोपौ	४।१।११२

मानां र्न्दनथायुन्ग-	२।४।६८
माने क्यः	३।३।१२०
मान्वधदानशान्भ्यो दीश्चर	१।१।४
मालेपीकेष्ठकानां भारि-	४।३।१७५
मावधेः	५।१।१५०
मासाद् वयसि खञ्	३।४।७७
मिङ्	४।१।११५
मिङ्खिशोऽस्मद्युष्म-	१।२।१५२
मिङ्कार्थे वा	१।४।५४
मिङ्शिद्गः	२।४।६३
मिङ्मीञ् दीङां प्ये च	४।३।४३
मितनखपरिमाणे ष्चः	२।२।३६
मिदेरेप्	५।२।७६
मिथस्थतसोऽमृतंसाम्	२।४।८२
मिथ्वस्मसिन्वस्थतिप्तस्-	४।६।४
मुक्तापेतापोटपतितापत्र-	१।३।३३
मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवण	२।१।१८
मुद्गादण्	३।३।१४८
मुमचः	४।३।१७७
मुषग्रहिरुदविदः संश्च	१।१।८२
मृगोत्तरपूर्वात्सकध्नः	४।२।१०१
मृजैरेप्	५।२।१
मृडमृदगुधकुथवदवसः	१।१।८०
मृदन्तनुम्विभक्त्याम्	५।४।६५
मृदस्तिकः	४।२।४५
मृदो लुङ्लिङोश्च	१।२।५७
मृषः परेः	१।२।७६
मृषः स्वार्थे	१।१।९३
मेषर्तिभयेषु कृजः	२।२।४१
मेनिः	२।४।७५
मो नः	५।३।८३
मोऽनुस्वारः	५।४।७
म्रौ डाचि नित्यम्	४।३।८७
म्बोः	५।३।८४

य

यः	३।४।७८; ५।१।१४८
यः सौ	५।१।१६८
यखावध्वनः	३।४।१३९

रात्	३।१।२५;	३।४।७६
रात्राहौ पुंसि	१।४।१०४	
रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य	४।३।१८०	
रात्र्यहः संवत्सरात्	३।४।८४	
रात्सः	५।३।४२	
रादुबखौ	३।४।२६	
राद् भूतबलेः	३।४।८३	
राधो वधे	५।२।१५६	
रायो हलि	५।१।१४४	
राष्ट्रवत्तद्वतां सर्व-	३।३।७५	
राष्ट्रशब्दाद् राज्ञोऽञ्	३।१।१५०	
राष्ट्रवध्योः	३।२।१०२	
राष्ट्रवारपाराद्घखौ	३।२।७३	
राष्ट्रे	३।२।४५	
रि	५।२।५३	
रीङ्यग्लिङ्शो	५।२।१३७	
रीग्वत्तः	५।२।१८७	
रीङ्तः	५।२।१३६	
रुग्रिकौ चोपि	५।२।१८८	
रुचलाथार्द्धैर्युच्	२।२।१३०	
रुजर्थश्च भाववाचिनोऽ-	१।४।६२	
रुदादेर्गे	५।१।१३५	
रुद्भ्योऽड्वाजन्तेः	५।२।९४	
रुधितुदादिभ्यां शनम्शौ	२।१।४७	
रुहः पः	५।२।४७	
रूप्यद्योर्यः	३।२।८३	
रूप्यहिम्यगुण्याः	४।१।४६	
रेरद्धशोः	४।३।१००	
रेवत्याष्ठण्	३।१।३४	
रेश्च सुपि	५।४।२४	
रैवतिकादेश्छः	३।३।९६	
रोगापनये	४।२।५४	
रोडौतोः प्राचाम्	३।२।१०१	
रोऽच्युः	५।१।१५६	
रोमन्थतपःशब्दवैरकल-	२।१।१४	
रो रि	५।४।१८	
रोऽसुपि	५।३।७८	
रौति मृगः	३।३।२६	
ल		
लः कर्मणि च भावे	२।४।५४	

लक्षणहेत्वोः	२।२।१०४	
लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती	१।३।११	
लङो वा	२।४।६१	
लट्	२।२।६६	
लभेः	५।१।४३	
लभपतपदस्थाभूवृपहन-	२।२।१३७	
लस्य	२।४।६३	
लान्नारोचनाशकलकर्दमा-	३।२।३	
लात्वाटिककौक्कुटिकौ	३।३।१६७	
लिङ्	२।३।१३५	
लिङः सीयुट्	२।४।८३	
लिङां सोक्तौ	२।३।११०	
लिङाशिपि	२।४।६६	
लिङोऽनन्यसखम्	५।१।१३८	
लिङ् चौर्ध्व-	२।३।७; २।३।१४०	
लिङ् यदि	२।३।१४४	
लिङ्येत्	४।४।६६	
लिङ्येतेः	५।२।१३३	
लिङ्येर्दे	५।१।६०	
लिङ्हेतौ लृङ्क्रियावृत्तो	२।३।११५	
लिट्	२।४।६५	
लिटस्तम्भयोरोशिरे	२।४।६७	
लिटि वा	१।४।११२	
लिटि वेजो यः	४।३।३२	
लिटीटि रधेः	५।१।४१	
लिङस्कात् कित्	१।१।७६	
लिङ्क्चि धोः	४।३।७	
लिङ्यङोः	४।३।२६	
लिङ्वत् कृञि	२।१।३६	
लिप्स्यसिद्धौ	२।३।५	
लिक्यविन्दधारिपारि-	२।१।१११	
लियोऽधाष्ट्यसम्मानने च	१।२।६६	
लियो नुक्	५।२।४६	
लुङ्	२।२।९१	
लुङि	१।४।५१	
लुङ्येत्योर्गाः	१।४।११७	
लुङ्लङ्लुङ्यट्	४।४।७०	
लुङ्लिटोर्ध्वक्	४।४।८१	

लुङ्लुङोर्वा	१।४।१२२	
लुटि च क्लृपः	१।२।८६	
लुटोऽन्यस्य डारौरसः	१।४।१५४	
लुपसदचरजभजभदह-	२।१।२१	
लुधूसूखनर्तिसहचरइञः	२।१।१६२	
लृट्	२।३।११	
लोकत्	३।४।४४	
लोट्	२।३।१३८	
लोटो लङ्वत्	२।४।७२	
लोडर्थलक्षणे	२।३।६	
लोमपामादिभ्यां शनौ	४।१।२७	
लो मम्	१।२।१५०	
लोमनोऽन्तर्वहिभ्याम्	४।२।११७	
लो वा स्नेहद्रवे	१।१।४५	
लोहितादिसकलान्तात्	३।१।२१	
लोहितान्मणौ	४।२।३६	
ल्वादेः	५।३।६१	
व		
वः कौ	५।१।७३	
वक्त्यसुख्यातेरङ्	२।१।४५	
वचने गृधिवञ्चेः	१।२।६५	
वाचिस्वपियजादीनां-	४।३।११	
वचोऽशब्दखौ	५।२।६७	
वञ्चिलुञ्च्युत्तृधि-	१।१।६६	
वतपडात्	३।१।९७	
वतोरिथुक्	४।१।५	
वतोर्वेट्	३।४।२०	
वत्साद्वा	३।३।२२	
वत्सोद्वाश्वर्षमेभ्यस्त-	४।१।१४६	
वदः सुपि क्यप् च	२।१।८६	
वदोऽपात्	१।२।६९	
वधे प्रतैश्च	४।३।११४	
वधे राधेः	४।४।११४	
वनं पुरगामिश्रकासिद्धका	५।४।८८	
वनहिरण्ये कामे	४।१।६७	
वनाऽहशौ रश्च	३।१।७	
वन्याः	४।४।४२	

वयःशक्तिशैले	२।२।१०७	वा क्यस्य	४।४।५२	वा निष्कत्रोपमिश्रशब्देऽ	४।३।१६७
वयसि	२।२।१५	वाक्यस्य टेः पः	५।३।१०	वा नीचः	४।३।१६०
वयसि दन्तस्य दत्	४।२।१४२	वाक्यादेशोऽध्यस्यासूर्या-	५।३।६	वाऽनुदात्तस्यर्हुङः	४।३।५२
वयस्तिवृताः	४।१।६१	वाऽक्षः	२।१।७१	वाऽनुपि	५।४।६७
वयस्तुलाभ्यां सम्मिते	३।३।१६६	वा खौ	४।२।१३४	वाऽन्यस्मिन् सपिण्डे स्थ-	३।१।८३
वयस्यनन्त्ये	३।१।२४	वागमिङ्	१।३।८२	वाऽऽपः	४।४।५७ ; ५।२।१२७
वयोत्रान् प्राणि जान्नु-	३।४।११६	वाऽगे	२।१।२७	वा पदस्य	४।३।६४
वरणादेः	३।२।६२	वाऽगेः	१।२।३९	वा पदान्तस्य	५।२।१४ ; ५।४।१३३
वरुणभवशर्वरुद्रेन्द्र-	३।१।४२	वा गौ	१।४।६६	वा परावराभ्याम्	४।१।६५
वर्गान्तात्	३।३।३६	वाऽग्रेप्रथमपूर्वं	२।४।१०	वा परे	२।३।११४
वर्जनेऽपपरिभ्याम्	१।४।२१	वा प्राथेट्छाशासः	१।४।१४७	वाऽपवदितौ	४।३।१०६
वर्गादृढादेष्ट्यण् च	३।४।११३	वाङ्ङिः	२।३।४६	वा पूर्वापरादहूनात्	३।२।१४०
वर्णाद् बहुलं तोन्नस्तु	३।१।३६	वाङ्ङिः	४।४।२२४	वा बहूनां जातिप्रश्ने	४।१।१४८
वर्णो नार्हद्रूपायोग्यानाम्	१।४।८६	वाङ्ङिः	२।३।३८	वा भादि	१।३।८४
वर्णे नित्ये	४।२।३७	वा चत्वारिंशदादौ	४।३।१६०	वा मावकरणे	५।४।९४
वर्णो बुञ्	३।२।६८	वाचस्तदर्थायाः	४।२।४१	वा भावार्म्भयोः	५।१।१२३
वर्त्यत्यकस्य	१।४।७३	वा चित्तविकारे	४।४।८५	वाऽभ्यवात्	४।३।२१
वर्त्यत्यवरेऽवधे	१।३।११२	वाचेः	५।२।६३	वाभ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमु-	२।१।६६
वर्षप्रमाणे	२।४।१८	वाचो ग्मिन्	४।१।४८	वा मः	४।४।३६
वर्षस्थाभाविनि	५।२।२१	वा जसि	१।१।४०	वाऽमर्त्ये	३।२।२०
वर्षाद्दुप् च	३।४।८५	वा जृभ्रमुत्रसाम्	४।४।११५	वाऽमावास्यायाः	३।३।७
वलाद्यगस्येट्	५।१।८४	वाऽञ्चेरदिक्स्त्रियाम्	४।२।१७	वा मुचो धेरेप्	५।२।१५६
वलि व्योः खम्	४।३।५५	वाऽटा	५।४।५३	वा मोः	४।३।१५६
वशि	५।१।११४	वा ट्यण् रोगशोके	४।३।१६२	वा म्वोः	५।४।१०७
वसुसंमुखंस्वनडुहां दः	५।३।७६	वाऽऽकन्निः	३।४।५२	वा म्वोः खम्	४।४।६८
वसोऽनुपाध्याङः	१।२।११८	वा तरुमृगतृणधान्यन्य-	१।४।८८	वाम्शासोः	४।४।७५
वसोर्जिः	४।४।१२०	वातातीसाराभ्यां कुक्	४।१।५२	वाभ्युत्पितृषसो यः	३।२।२६
वस्तैर्दञ्	४।१।१५५	वाऽतोऽधोर्यकात्	५।२।५१	वा रोगातपयोः	३।२।३३
वस्नक्रयविक्रयाद्	३।३।१३६	वा दिक्सवे	१।१।३६	वाऽर्थे द्यौ	४।३।२०६
वस्नद्रव्याभ्यां ठकौ	३।४।५०	वा दैन्याक्रोशे	४।४।६०	वा लिटि	१।४।१२७
वस्सदिणो वसुलियमम्	२।२।८८	वा द्योः	५।२।३१	वाऽवरस्य	४।१।१०५
वहाभ्रे लिहः	२।२।३५	वा द्रुहमुहृष्णुहृष्णिहाम्	५।३।५०	वा वागम्ये	१।२।७४
वा	१।२।६५ ; १।३।६	वा धेः	१।२।८२	वा विवधवीवधात्	३।३।१४०
वा कथमि लिङ् च	२।३।११६	वा धेट्श्वयोः	२।१।४४	वा विषादे	१।२।४६
वा कदाकथोः	२।३।३	वाऽनघतने हिः	४।१।८६	वा विशेषवचने वहौ	५।३।२६
वा कृञधिः	१।४।१६	वा नपः	५।१।५७	वाऽवृद्धाद्धोः	३।१।१४४
वा कृञि	१।२।१४१	वाऽनन्वादेशे	५।३।२२	वावेष्टिचेष्टयोः	५।२।१६३
वा कोर्यङि	५।२।१६५	वा नाम्नः	१।१।७१	वाशि	५।१।११४

वाशिजिह्वाशिनोः फे	४१४१६५
वाऽशेषात्	२३११७
वा श्यावारोकात्	४२११४४
वाऽषान्तेऽकखादौ	५४११०१
वाष्पोष्मफेनादुद्धमे	२१११३
वा समीपे	१४१६२
वाऽसुपि	४३१८०
वा सुपो बहुः प्राक्तु	४१११२७
वा से	३११३५
वाऽस्थः स्फादेः	४४१६७
वा स्वसृपत्योः	४३१३७
वाऽस्वाङ्गादेः	३११४६
वा स्मरणल्	५११६८
वाऽऽहिताग्न्यादौ	१३११०३
वाहीकग्रामेभ्यः	३११६३
वा हेः पृष्ठप्रत्युक्तौ	५३१६६
वाह्याद् वाहनम्	५४१९२
विशंतिक्त्वः	३४१२९
विशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुरलौ	३४१२१
विंशतेश्च	३४१६८
विंशत्यादेर्वा	४१११०
विकर्णकुपीतकात्का-	३११११३
विकर्णशुङ्गलुगलात्-	३१११०६
विकुशमीपरेः स्थलम्	५४१७०
विचार्यं पूर्वम्	५३१९७
वित्तमित्तदूनगून-	५३१७४
विदांकुर्वन्तु वा	२११३७
विदाभ्योऽनृषानन्त्यै-	३११६३
विदूराञ्च्यः	३३१५८
विदेः शतुर्वसुः	५११५५
विदो लटो वा	२४१६९
विद्भिच्छिदः कुरः	२११४५
विधिनिमन्त्रणामन्त्र-	२३१३७
विध्यत्यकरणेन	३३१६४
विध्वरुषोस्तुदः सखम्	२२१३७
विनञ्भ्यां नाञौ न सह	३४११४७
विनयादेष्टण्	४११४०
विन्द्रिच्छू	२२११५०

विन्नस्मायामेघाल्लजः	४११४७
विन्मतोरुप्	५१११२४
विपराजेः	१२११३
विपूयविनीयजित्या-	२११६७
विप्रसमोऽलौ ड्वुः	२२१२५६
विभक्ती	१२१२५७
विभक्ते का	१४१५०
विभक्त्यामाष्टनः	५१११४३
विभाषा ग्रहः	२११११७
विभाषाऽचि	५३३३६
विभाषाऽन्यत्र	४३१०२
विभाषा लियोः	४३१४४
विभाषा लृटः सत्	२३११३
विभाषेकोऽस्वे प्रश्च	४३१०४
विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः	५४१६०
विमुक्तादिभ्योऽण्	४११६५
विरामे वा	५४१३१
विरामे विसर्जनीयः	५४११६
विरोधि चानाश्रये	१४१८६
विशिपतिपदिस्कन्दो-	२४१४१
विशेषणं विशेष्येणेति	१३१५२
विश्वग्देवयोश्च टेर-	४३११६८
विश्वजनात्मभोगान्तात्	३४१७
विश्वस्य वसुराटोः	४३१२२६
विसमाप्तौ कोऽनञ्	१३१५५
विसारिणो मत्स्ये	४२१२३
वीप्सेत्थम्भूतलक्षणो-	१४१११
वुञ्छण्कठेन्नदण्य-	३२१६०
वुण्णुमौ क्रियायां तदर्थायां	२३१८
वृकाष्टे ण्यण्	४२१४
वृजिमद्राकः	३२११०६
वृत्तिसर्गतायने क्रमः	१२१३४
वृद्धचरणाक्छलाघाऽ-	३४११२४
वृद्धचरणाञ्जित्	३३१९४
वृद्धराजाख्येभ्यो-	३३१७४
वृद्धस्त्रिया क्षेपे णश्च	३११४५
वृद्धस्य	४११२२१
वृद्धादङ्कवत्	३३१५४

वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ङ्फः	३११८७
वृद्धेऽच्यनुप्	३११७३
वृद्धोक्षोष्टोरभ्रराजन्य-	३२१३४
वृन्दारकनागकुञ्जस्तत्	१३१५७
वृषभोपनहो व्यः	३४११३
वृषाकप्यग्निकुसिन-	३११४०
वृतो वा	५११८६
वेः शालशङ्कटौ	३४१४८
वेः स्कन्दोऽते	५४१५५
वेः स्कम्भेः षः	५४१५९
वेः स्वार्थे	१२१३७
वेङ्गि	१४११६
वेजो वयिः	१४११३
वेञ्च प्रश्नारख्याने	२३१६१
वेटः	५४१६१
वेतनादेर्जीविति	३३१३५
वेत्तेः सिद्धसेनस्य	५११७
वेरितः	२११४९
वेर्मेडः	४४१६९
वेवे स्थानान्तात्	४२११६
वेश्च स्वनोऽशने	५४१५०
वैकशालायाष्ठः	४१११६३
वैकहलि पूर्वे	४३१७०
वैकाद्धथमुञ्	४११०७
वैनोऽदूरेऽकायाः	४११६६
वैशाखाषाढषष्टिकैका-	३४११०३
वैषमोह्यस्वसः	३२१८२
वोक्तं न्यक्	१३१६३
वोङ्गे	३११११
वोदये	४३१०४
वोदशिवतः	३२११४
वोदितः	५१११०४
वोदुडो भावारभ्योःशपः	१११६४
वोपकादिभ्यः	१४१३९
वोपदेशोऽत्वदचसृजि-	५११०८
वोपयमे	१११९०
वोबुद्धदिहलिहगुहो दे	५२१७०
वोमोर्णात्	३३११७

वोगुञः	५।१।८२
वोगोः	१।१।७७ ; ५।२।८८
वोर्ध्वात्	४।२।१३१
वो वा किति	४।३।३३
वो विधूनने जुक्	५।२।४३
वोषजागृविदात्	२।१।३४
वोशीनरेषु	३।२।६४
वो कषविचलसकत्थ-	२।२।१२०
व्यः	४।३।३६
व्यक्तवाक्समुक्तौ	१।२।४४
व्यजोऽपञचोः	१।४।१२८
व्यङ्गनैवपसिक्ते	३।३।१४६
व्यतुल्याख्या अजात्या	१।३।६४
व्यथो लिटि	५।२।१६८
व्यधमदजपोऽगौ	२।३।६४
व्यवहृत्पणोः सामर्थ्ये	१।४।६४
व्यस्य वा कर्तरि	१।४।७५
व्याः	२।३।१४७
व्याङ्श्च रमः	१।२।८०
व्याघ्रैरुपमेयोऽतद्योगे	१।३।५१
व्यामिश्रः स्वरितः	१।१।१४
व्युङ्गोऽवो हलः संश्च	१।१।९७
व्युत्तपः	१।२।२२
व्युदः काकुदान्तात्	४।२।१४८
व्युपेशीङोऽन्त्ये	२।३।३७
व्युष्टादेरणा	३।४।६०
व्यो खं वा	५।४।५
व्रजयजः क्यप्	२।३।८०
व्रजवदलोऽतः	५।१।७६
व्रते	२।२।६८
व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजरा	५।३।५३
व्रातस्कादस्त्रियाम्	४।२।२
व्रीहिशालेर्दञ्	३।४।१२८
व्रीह्यादेः	४।१।४२
श	
शकल्यादिभ्यो वृद्धे	३।२।८७
शकृषज्ञाग्लामटरभ-	२।४।५०
शक्ति लिङ् च	२।३।१४८

शक्ति सहश्च	२।१।८६
शक्ति हस्तिकवाटे	२।२।५२
शक्तियष्टेष्टीकरण्	३।३।१७७
शक्तौ	४।३।६६
शरिङ्कादेर्व्यः	३।३।६६
शतमानविंशतिसहस्रवस	३।४।२४
शतादस्वार्थेऽसे ठयौ	३।४।१८
शतादिमासार्धमाससंवत्स-	४।१।८
शताद्वा	३।४।३२
शदेर्गात्	१।२।५६
शदोऽगतौ तः	५।२।४६
शपोऽदादिभ्यः	१।४।१४३
शब्दकर्मणो वेः	१।२।२६
शब्दददुरं करोति	३।३।१५६
शब्दे च	१।२।१२३
शमित्यामदेर्घिणिन्	२।२।११७
शमित्यामदो दीः	५।२।७२
शमि धोः खौ	२।२।१६
शम्याष्ट्लज्	३।३।१०७
शरः खयि	५।२।१६२
शरद्वच्छुनकदर्भाद्	३।१।६१
शरि सश्च	५।४।२३
शर्करादिभ्योऽण्	४।१।१६१
शर्कराया वा	३।२।६३
शर्परे खरि	५।४।२०
शलालुनो वा	३।३।१७३
शश्छोऽटि	५।४।१३७
शसि	५।१।२५
शसो नः	५।१।२५
शस्त्रजीविसङ्गाङ्ग्यऽवाही	४।२।३
शाकलाद्वा	३।३।६६
शाखादेर्व्यः	४।१।१५७
शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक्	५।२।४२
शाच्छोर्विभाषा	५।२।१४५
शाणात्	३।४।३३
शात्	५।४।१२३
शालात्तरकूचवाराच्छुण्यौ	३।३।६६
शालाद् गोखरात्	३।३।११

शास इत्	४।४।३३
शास्त्रस्वसाम्	५।४।४०
शा हौ	४।४।३५
शिखाया बलः	३।२।६८
शिलाया अशान्त्तार्थिनिः	४।२।८
शित्सर्वस्य	१।१।५२
शि धम्	१।१।३१
शिरोऽधसे पदे	५।४।३५
शिलाया ढः	४।१।१५६
शिल्पम्	३।३।१७४
शिल्पिनि ट्बुः	२।१।११९
शिवादिभ्योऽण्	३।१।१०१
शिशुकन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्र-	३।३।६२
शीङो गे	५।३।१३०
शीङोऽधिकरणे	२।२।२०
शीङोरुट्	५।१।६
शीम्वोरात्	५।१।५८
शीर्षच्छेदाद्यश्च	३।४।६३
शीलम्	३।३।१७६
शुक्राद् घः	३।२।२१
शुच्युब्ज्योर्घञि	५।२।५७
शुचिऽमदिभ्योऽण्	३।३।५०
शुद्धाग्रान्तशुभवृषव-	४।२।१४५
शुनोऽतेः	४।२।६८
शुभ्रादेः	३।१।११२
शुषिपत्तेः क्वौ	५।३।६७
शुष्कचूर्णभक्षेषु पिषः	२।४।२०
शूलोखाद्यः	३।२।१२
शृङ्खलकोदरिकसस्यकां-	४।१।१७
शृवन्धोरारुः	२।२।१५२
शृङ्गुप्रां प्रो वा	५।२।१२४
शौ मुचाम्	५।१।३८
शेवलसुपरिविशाल-	४।१।१४०
शेषाद्वा	४।२।१५४
शेषे	२।३।१२ ; ३।२।७२
शेषेऽयदौ लृट्	२।३।१२७
शेषोऽग एव	२।४।९४
शेषौ गुणवचनादेव	४।१।११८

शौ	४।४।१०
शौनकादिभ्यश्छन्दसि	३।३।७७
शनसः खम्	४।४।१०१
शनान्खम्	४।४।२२
शनुधुभ्रुवां व्योरचीयुवौ	४।४।७२
श्यशपः	५।१।५९
श्याऽञ्चिदिवोऽस्पशापा-	५।३।६५
श्याद्व्यधासुखसंखलिह-	२।१।११४
श्याद्व्यधासुखसंखलिह-	३।२।५०
श्राद्धं भुक्तं ठोऽनेन	४।१।१८
श्राद्धे शरदः	३।२।१३२
श्रिणीभुवोऽगौ	२।३।२४
श्रुवः श्रु	२।१।७०
श्रुवोऽनिट्	२।२।८९
श्रुस्मृदृशः सनः	१।२।५२
श्रेण्यादि कृतैः	१।३।५४
श्रुकः किति	५।१।११७
श्लिषः	२।१।४१
श्लिषशीङ्स्थ्यासवसज-	२।४।५७
श्वगणाद्वा	३।३।१३४
श्वयुवमघोनोऽहृति	४।४।१२१
श्वसस्तुट् च	३।२।१३५
श्वसो वसीयसश्च	४।२।८३
श्वदेरावतः	५।२।१३
श्वशमचर्मणां संकोच-	४।४।१३२
श्वीदितस्ते	५।१।१२०
श्व्यस्पद्वचोऽथुक्	५।२।१२८
ष	
षट्कृतिकतिपयचतुरां थुक्	४।१।३
षटोः कः सिः	५।३।५८
षणि चाणियास्तोरेव	५।४।४१
षणमासाण्यश्च	३।४।८०
षत्वेऽसद्वत्	४।३।७४
षम्	१।३।१६
षष्ठाष्टमाद् भौनो षः	४।१।१११
षात् पदान्तात्	५।४।११४
षादिहन्धृतराज्ञोऽणि	४।४।१२३
षिद्विभितादिभ्योऽङ्	२।३।८६

षे कृति बहुलम्	४।३।१३२
षेऽङ्कुलेभिर्संख्यादेः	४।२।८८
षे ष्यस्य पुत्रपत्योजिः	४।३।६
षोऽनञ्यः	१।४।६५
षुना षुः	५।४।१२०
षिन्वसन्वन्वन् शिति	५।२।७३
षणान्तेल्	१।१।३४
ष्योऽङ्कु रूपान्त्ययो वृद्धे	३।१।६३
षू नो षः समाने	५।४।८५
स	
संक्षोः	१।२।६२
संख्यः	२।२।६
संख्यादी रश्च	१।३।४७
संख्यापरिमाणे ङतिश्च	३।४।१६३
संख्याद्द्वोऽङ्कुलान्	४।२।६६
संख्यायाः कोऽतिशतः	३।४।१६
संख्यायाः पादशतेभ्यो	४।२।१०
संख्यायाः संख्यासंवत्स-	५।२।२०
संख्याया अत्रयवे तयट्	३।४।१६४
संख्याया गुणस्य नि-	३।४।१६६
संख्याया ध्वभ्यावृत्तौ कृत्व	४।२।२४
संख्याया विधार्थे धा	४।१।१०६
संख्या वंश्येन	१।३।१६
संख्याविसायादेरहन्	४।३।२१५
संख्ये संख्यया भ्यासन्ना	१।३।८७
संख्यैकाद्वीप्सायाम्	४।२।४८
संज्ञा खुः	१।१।२६
संज्ञो भा	१।४।३८
संवत्सराग्रहायणीभ्यां	३।३।२५
संशयमापन्नः	३।४।६९
संस्तुष्टे	३।३।१४७
संस्कृतं भक्षाः	३।२।११
संस्कृतम्	३।३।१२८
संहारोद्यावानाया-	२।३।१०३
संज्ञा संख्यासंख्यासंख्याः	३।१।५६
सः	१।३।२
स एषां ग्रामणीः	४।१।१२
सकृत्स्तम्बे वत्सब्रीहोरिः	२।२।२९

सकथ्यन्दिद्व्यङ्गामनङ्	५।१।५४
सकलेशे	२।४।४०
सख्यशिशवी	३।१।५२
सख्युरकौ	५।१।६६
साङ्घाङ्कलक्षणघोषे-	३।३।६५
सङ्घेऽनूद्धे	० २।३।४०
सचस्योमौ	५।४।१०५
सत्यागतास्तोः कारे	४।३।१७९
सत्सुद्विषद्रुहयुजविद-	२।२।५६
सदादरानादरयोः	३।२।१३४
सदिस्वञ्ज्योः परस्य लिट्	५।४।८४
सदोऽप्रतेः	५।४।४७
सद्योद्यैषमः परेद्यपिपर-	४।१।८८
सनः क्तिचि खं च	४।४।४७
सनः पूर्ववत्	१।२।५८
स नप्	१।४।९३
सनाशंसभिश्च उः	२।२।१४६
सनि १।४।११६; ४।४।४४	
सहिग्रहगुहश्च	५।१।११८
सनिमीमाधुरमलम-	५।२।१५५
सनीङ् वा	५।१।८६
सनीवन्तर्द्धंस्त्रजदम्भु-	५।१।९७
सनुमः इजादेः	५।४।१११
सन्कचोर्णौ	४।३।२८
सन्तस्फमहतोः	४।४।७
सन्धौ	४।३।६०
सन्निविभ्योऽर्द्धे	५।१।१२७
सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टं	१।३।५६
सन्त्यङोः	४।३।८
सन्त्यतः	५।२।१७७
सन्लिटोर्द्धेः	५।२।६२
सपल्यादौ	३।१।३४
सपूर्वात्	४।१।२१
सपूर्वाया वायाः	५।३।२३
सब्रह्मचारी	४।३।१६३
सब्रह्मचर्यादेः	४।४।१३१
सभाऽराजामनुष्यात्	१।४।६९
समः	२।१।६८

समः समि	४।३।१६६	सरजसोर्वर्ष्ठीवपदष्ठीवा-	४।२।७६	साधुनिपुरोनार्चामीवप्रते	१।४।५१
समजनिषदनिपदमन-	२।३।८१	सरोरिजादेः	२।१।३२	सान्ताः	४।२।६५
समयस्तदस्य प्राप्तम्	३।४।९७	सरोऽनोऽश्यामायसः	४।२।९६	साम आकम्	५।१।२९
समयासपत्रानिष्पत्रा-	४।२।६४	सरोर्हलः	२।३।८५	सामान्येनोपमानम्	१।३।५०
समर्थः पदविधिः	१।३।१	सर्वकूलाभ्रकरीपेतु कषः	२।२।४०	सामि	१।३।२४
समर्थात् प्रथमाद् वा	३।१।६७	सर्वचर्मणः कृतः	३।४।१३०	सायञ्चिरं प्राहूरोप्रगे-	३।२।१३६
समवायात् समवैति	३।३।१६४	सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढण्	३।२।१२८	साल्वावयवप्रत्यग्रथ-	३।१।१५४
समवाये	४।३।१११	सर्वनाम्नः स्मै	५।१।१२२	साल्वेयगान्धारिभ्याम्	३।१।१५१
समां समां विजायते	३।४।१३७	सर्वनाम्नः स्याट् प्रश्च	५।२।१०९	सावञ्जेः	५।१।१३०
समानस्य स ज्योतिर्ज-	४।३।१६२	सर्वनाम्नो भा च	१।४।३६	सावनडुहः	५।१।६०
समानोदरे शयितः	३।३।२०८	सर्वभूमिपृथिवीभ्यामण्	३।४।४१	सावैम्मे	५।१।७७
समापनात्सादेः	३।४।८२	सर्वस्य द्वे	५।३।१	साऽस्मिन् पौर्णमासीति	३।२।१६
समायाः खः	३।४।१०५	सर्वस्य सो वा दि	४।१।८१	साऽस्य देवता	३।२।१९
समिपृचिसृजिवरः	२।२।१२४	सर्वाण्यो वा	३।४।८	सिकताशर्कराभ्याम्	४।१।३१
समि मुद्यौ	२।३।३५	सर्वात्	३।४।४५	सिचो यङि	५।४।७८
समियुद्बुवः	२।३।२२	सर्वादिः सर्वनाम	१।१।३५	सिति	१।२।१०५
समुदः	५।३।७१	सर्वान्नीनानुपदीनायान-	३।४।१३४	सिद्ध शुष्कपक्ववन्धैः	१।३।३६
समुदाङ्ग्यमोऽग्रन्थे	१।२।७०	सर्वैकाम्यां खः	३।३।१६३	सिद्धिरनेकान्तात्	१।१।१
समूले हनश्च	२।४।२३	ससजुषो रिः	५।३।७६	सिद्धौ भा	१।४।५
समूहवच्च बहुषु	४।२।२६	सस्थानक्रियं स्वम्	१।१।२	सिध्मादेः	४।१।२५
समोऽकृजे	१।२।१६	सस्नौ प्रशंसे	४।२।४६	सिध्यतेरशाते	४।३।४२
समो गम्प्रच्छिस्वृच्छि-	१।२।२४	सस्मे लङ् च	२।३।१५२	सिन्ध्वपकरादण्	३।३।४
समो भया	१।२।५०	सस्तेऽद्युस्थस्य	५।४।३३	सिन्ध्वादेरण्	३।३।६७
सम्पदा चाभिविधौ	४।२।५८	सहनञ्विद्यमानाद्	३।१।५०	सिपि रिवा	५।३।८१
सम्पर्युपात्कृञः सुङ्भूषे	४।३।११०	सहस्य सः खौ	४।३।१८६	सिखुंङि	२।१।३८
सम्पादिनि	३।४।६३	सहस्य सञ्चिः	४।३।२०१	सिलिङ् दे	१।१।८५
सम्प्रति	२।२।१०१	सहार्थेन	१।४।३०	सिबुसहसुट् स्तुस्वञ्जाम्	५।४।५२
सम्प्रतेरस्मृतौ	१।२।४२	सहिवहोऽस्यौः	४।३।२१७	सित्सीयुट्तासौ डौ	४।४।६१
सम्प्रत्यः	३।१।१२६	सहे	२।२।८३	सुः पूजायां न गिति	१।४।७
सन्प्रदानेऽप्	१।४।२३	सहेति तुल्ययोगे	१।३।६१	सुकर्मपापमन्त्रपुरये कृञ्	२।२।७६
सम्प्राज्जानुनो ज्ञः	४।२।१३०	सान्नादादिः	१।२।१४३	सुखदुःखयोर्वा कृच्छे	५।३।११
सम्प्रोदश्च कटः	३।४।४६	सात्	५।४।७७	सुखादेः	४।१।५४
सम्बोधने	२।२।१०३	सात्तद्विषयात्	४।१।१६०	सुखादेः स्वभोगे	२।१।१५
सम्बोधने बोध्यम्	१।४।५५	सादेः	३।१।१२६	सुचः	५।४।२१
सम्भवत्यवहरति पचति	३।४।५१	साद्वा कात्स्ये	४।२।५७	सुञः स्यसनोः	५।४।८३
सम्भावनेऽलमि स्थानि	२।३।१३०	साघकतमं करणम्	१।२।११४	सुञो यज्ञसंयोगे	२।२।११०
सम्मानत्नोसञ्जनोपनयन	१।२।३१	साधनं कृता बहुलम्	१।३।२६	सुटि पूर्वस्वम्	४।३।८६
सम्राट्	५।४।९	साधने स्वार्थे	१।२।१५३	सुट् तयोः	२।४।८७

मुडनपः	१।१।३२
मुधातुरकङ् च	३।१।८६
मुपश्च	१।२।१५६
मुपि	२।२।७; ५।२।६७
मुपि शीलेऽजातौ णिन्	२।२।६६
मुपीकोऽचि	५।१।५२
मुपो भेः	१।४।१५०
मुपो धुमृदोः	१।४।१४२
मुप्योः	४।४।७६
मुप् सुपा	१।३।३
सुभगाद्यस्थूलपलित-	२।२।५४
सुम्भिङन्तं पदम्	१।२।१०३
सुयजोर्वनिप्	२।२।८६
सुराशीघ्वोः पिबः	२।२।१२
सुषामादिषु च	५।४।७२
सुसंख्यादेः	४।२।१४०
सुसर्गार्द्धाद्राद्रत्य	५।२।१७
सुहरितवृणसोमाज-	४।२।१२६
सुहृद्दुहृद्दौ मित्रा-	४।२।१५०
सुक्तसाम्नोश्छः	४।१।६३
सूत्राकोडः	३।२।५५
सूत्रेऽस्मिन् सुब्बिधि-	५।२।११४
सुभवत्योर्मिडि	५।२।८६
सूर्पाद्वा	३।४।२५
सूर्यागस्त्ययोश्छे च	४।४।१३८
सृष्यस्यदः क्वरः	२।२।१४३
सृजीण्णशः क्वरप्	२।२।१४६
सृज्ज्वलग्रधशुचलष-	२।२।१३२
सृस्थिरे	२।३।१६
सेऽङ्गुले सङ्गः	५।४।६२
सेटि	४।४।१११
सेधो गतौ	५।४।७९
सेनान्तलक्षणकारिभ्य	३।१।१४०
सेनाया वा	३।३।१६६
सेनासुराच्छ्रयाशाला-	१।४।१०१
सेह्यं पिच्च	२।४।७४
सेवलसुपरिविशाल-	४।१।१४०
सौः प्रातर्दिवाश्वसः	४।२।१२०

सोटः	५।४।८१
सोमवक् णोऽग्नेरीः	४।३।१४०
सोमाट्ठ्यण्	३।२।२५
सोमे सुजः	२।२।७७
सोडिति	५।२।१०६
सोऽस्य निवासः	३।३।६३
सौ	४।४।११
सौ मे	५।१।८८
स्तम्बेरमकर्णोजपौ	२।२।१८
स्तन्मुसिबुसहां कचि	५।४।८२
स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्क-	२।१।७७
स्तम्भेः	५।४।४८
स्तुते भ्रातुः	४।२।१५७
स्तुत् सोमौ चाग्नेः	५।४।६५
स्तुशासिण्वृट्जुषःक्यप्	१।१।१९१
स्तुसुधुञ्जो मे	५।१।१३१
स्तैयसख्ये	३।४।११६
स्तोः श्चु ना श्चुः	५।४।११६
स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं	१।३।३४
स्तोके प्रतिना	१।३।७
स्त्रियाः	४।४।७४
स्त्रियां क्तिः	२।३।७५
स्त्रियां खौ	४।२।१४३
स्त्रियाम्	३।१।३
स्त्रियामुप्	३।१।६८
स्त्री	१।२।६३
स्त्रीगोर्नीचः	१।१।८
स्त्रीधेनुवाग्दारात्पुंसनङ्	४।२।७३
स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात्	३।१।७२
स्त्रीभ्यो ढण्	३।१।१०६
स्त्रोऽयज्ञे	२।३।३०
स्त्र्युक्तपुंस्कादनूरेथार्थे	४।३।१४६
स्थः	२।२।८
स्थः कः	२।२।६४
स्थ इत्	५।२।११८
स्थागापापचो भावे	२।३।७८
स्थारिङलः	३।२।१०
स्थानान्ताडुप्	३।३।१०

स्थानीवादेशोऽनस्त्विधौ	१।१।५६
स्थानेऽन्तरतमः	१।१।४७
स्थादेशेन चस्य	५।४।४४
स्थासेनयसेघसिचसञ्ज-	४।४।४६
स्थास्तम्भोः पूर्वस्योदः	५।४।१३५
स्थूलदूरयुवहस्वद्धिम्-	४।४।१४७
स्थूलादिभ्यः प्रकारोक्तौ	४।२।११
स्थेण्पिबमुभ्यः सेर्मे	१।४।१४६
स्थेशभासपिसकसो वरः	२।२।१५४
स्थोऽवविप्राच्च	१।२।१७
स्नेहने पिषः	२।४।२७
स्नोर्दार्थात्	५।१।१११
स्नोश्च जिश्च	२।१।५६
स्पङ् परम्	१।२।६०
स्पृशमृशकृषतृपटपो वा	२।१।३९
स्पृशोऽनुदके क्विः	२।२।५६
स्पृहिगृहिपतिदयि-	२।२।१४१
स्फाहतोऽसुटः	५।१।६१
स्फादेः स्कोऽन्ते च	५।३।४६
स्फादेरातो घोर्यण्वतोऽ	५।३।६०
स्फाद्यत्वीरस्फुरेप्	५।२।१३८
स्फान्तस्य खम्	५।३।४१
स्फायः स्फीस्ते	४।३।१७
स्फायो वः	५।२।४८
स्फुरिस्फुल्योर्ध्वि	४।३।४०
स्फुरिस्फुल्योर्निर्निवेः	५।४।५८
स्फेदः	१।२।१००
स्मिङः	४।३।५०
स्मिपूङ्क्वशः सनि	५।१।१३३
स्मृहत्वरप्रथमस्तृस्पर्शो-	५।२।१६२
स्मे	२।२।१००
स्मे लोट्	२।३।१४१
स्मदर्थदयेशां कर्मणि	१।४।५६
स्यगे सः	५।२।१५१
स्यतासी लृलुटोः	२।१।३०
स्यदावोदैधौप्रथमि-	४।४।२८
स्यसनोर्वृद्भ्यः	१।२।८८
स्यसौ कृतचृत्च्छ्रद-	५।१।१०५

स्येनान्दष्टाडसेः	५।१।१०	हनो वध लिङि	१।४।११४	हिमकाबिहतौ	४।३।१६५
स्रुश्रुद्रुल्लुङ्ग्युङो वा	५।२।१७६	हन्तेरघः	५।४।१०६	हि म्परे वा	५।४।१०
स्वतन्त्रः कर्ता	१।२।१२५	हन्तेजं:	४।४।३६	हिम्योर्नुनोः	५।४।१०२
स्वनहसोर्वा	२।३।६५	हरत्युत्सङ्गादेः	३।३।१३८	हीने	१।४।१५
स्वपितृघोर्नजिङ्	२।२।१५१	हरिताद्यजः	३।१।८९	हीयमानपापयोगात्	४।२।५२
स्वपिस्यमिव्येजां ऋडि	४।३।१५	हरीतक्यादेः	२।३।१२४	हुञ्जल्भ्यो ह्येर्धिः	४।४।६४
स्वयं क्तेन	१।३।२२	हलः	२।३।१०२; ४।४।२	हुस्नुवोगैः	४।४।८२
स्वरतिषुङ्धूञ्सूत्यूदितः	५।१।६२	हलन्तात्	१।१।८४	हुक्रोर्न वा	१।२।१२४
स्वरतिनाधिकारः	१।२।५	हलश्चेजुङः	५।४।११०	हुजोऽनुत्सेधे	२।२।१४
स्वसखि	१।२।६७	हलसौराङ्गण्	३।३।६२	हुतः	३।१।६१
स्वसुरछः	३।१।१३२	हलामचः	५।१।७८	हुति चैका	४।३।१७४
स्वसुरछणुः	३।१।२२१	हलि	४।३।१२६; ५।४।६	हुत्यचामादेः	५।२।५
स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षृत्	४।४।८	हलि खम्	५।१।१७१	हुत्सिन्धुभगे द्वयोः	५।२।२४
स्वागतादेः	५।२।१२	हलुङः क्तिङ्त्यनिदितः	४।४।२३	हुदयस्य हुल्लेखयाण्	४।३।१६१
स्वाङ्गाद्वेक्षिसकथनः	४।२।११३	इजोऽनन्तराः स्फः	१।१।३	हुदर्थद्युसमाहारे	१।३।४६
स्वाङ्गान्नीचोऽस्तोडः	३।१।४७	हलोऽनादेः	५।२।१६१	हुदुप्युप्	१।१।६
स्वाङ्गोतस्त्ये कृभुवः	२।४।४६	हलो यः	४।४।५१	हुष्टापचितौ	५।१।१२५
स्वाङ्गेऽभुवे	२।४।३९	हलो यमां यमि खम्	५।४।१३८	हुसोऽवे	२।१।१२५
स्वाङ्गेषु प्रसिते	४।१।१३	हलो हुतो ङ्याम्	४।४।१४०	हुऽकाले	४।३।१८६
स्वादावधे	१।२।१०६	हल्ङ्यापो घः सुसिप्य	४।३।५६	हेतावनुना	१।४।१३
स्वाडुमि णम्	२।४।१२	हल्यभकुर्छुरः	५।३।८६	हेतुफलयोर्लिङ्	२।३।१३२
स्वादेः शनुः	२।१।६६	हल्यभोरीः	४।४।१०३	हेतुमति	२।१।२४
स्वाभाविकत्वाभिधान-	१।१।१००	हल्यस्सेः	५।२।६३	हेतुमनुप्यान् वा रूप्यः	३।३।५५
स्वामीश्वराधिपति-	१।४।४७	हल्येतत्तदोरनञ्सेऽकोः	४।३।१०६	हेतौ	१।४।३२
स्वार्थे	२।१।४२	हल्येप्	५।२।८६	हेमन्तात्तखम्	३।२।१३८
स्वार्थे लुभात्	५।१।१०२	हल्यैबुप्युतः	५।२।८७	हेरकचि	५।२।६१
स्वीकृताद्युपाद्यमः	१।२।५१	हविरपूपादेर्वा	३।४।३	हे शरदादेः	४।२।१०६
स्वीषद् वुसिकृच्छाकृ-	२।३।१०३	हशश्वतोर्लङ्	२।२।९६	हेदेप्रयोगे हैहयोः	५।३।६३
स्वेको दीः	४।३।८८	हश्च	१।४।६४	हो ढः	५।३।४८
स्वेपः क्यच्	२।१।६	हस्तादाने चेरस्त्ये	२।३।३८	होत्राभ्यश्छः	३।४।१२५
स्वेषु पुषः	२।४।२६	हस्ते पाणौ स्वीकृतौ	१।२।१४६	हो हन्तोर्णिनि	५।२।५९
स्वोवामौ	२।४।७७	हस्ते वतिर्ग्रहः	२।४।२५	हौ हलः शनः शानः	२।१।७८
स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्िस्	३।१।२	हाकः	४।४।१०६	ह्यन्त्याश्वसजाग्यिश्च्ये-	५।१।८१
ह		हाकः क्तिव	५।२।१४७	ह्रस्वे	४।१।१४२
हः	१।३।४	हात्	१।४।१५१; ३।३।३४	ह्रस्वदस्ते	४।४।८६
हनः सिः	१।१।८८	हायनः	२।१।२२१	ह्वालिप्सिचः	२।१।४६
हनश्च वधः	२।३।६३	हायनान्तयुवादिभ्योऽण्	३।४।१२०	ह्वावामः	२।२।२
हनस्तोऽभिणलोः	५।२।३६	हिंसार्थादेकर्मकात्	२।३।३४	ह्यो जिः	४।३।२९
हनिङ्गम्यचां सनि	४।४।१४	हितमस्मै भक्षाः	३।३।१८३	ह्यो जिश्च न्यभ्युपविषु	२।३।५९
हनृतः स्ये	५।१।२२९				

जैनेन्द्रवार्तिकानामकारादिक्रमः

अ		अनौ कर्मणि वाच्यभिधानम्	२।२।८४
अकाकारयोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्	१।४।७९	अन्तशब्दस्य अ(सा)ङ्किविधिणत्वेषु गिद्ञोक्ता	४।३।२०२
अकृतसन्धीनां शेवलादीनामिति वक्तव्यम्	४।१।१४०	अन्तादिमो वक्तव्यः	३।२।१३६
अकप्रकरणे तूष्णीमः काम् वक्तव्यः	४।१।१३०	अन्नन्तस्य नखं खियां वा वृत्तिः	१।४।६३
अक्षादू हिन्यामैवक्तव्यः	४।३।७५	अन्यत्रापि दृश्यते	१।४।३
अगोरस्त्यस्यत्वोर्बचनम्	२।१।४५	अन्यस्मिन्नपि वाचि दृश्यते कारकान्तरेऽपि च	२।२।८४
अग्नीधः शरणे वाच्ये रण् वक्तव्यो भसञ्ज्ञा च	३।३।८८	अन्यादेष्टण् वक्तव्यः	३।२।१२६
अग्रग्रामाभ्यां नियो णत्वम्	५।२।११०	अन्येभ्योऽपि भवतीति वक्तव्यम्	४।२।१४५
अग्रतस् आद्यादिभ्य उपसंख्यानन्	२।२।२३	अपुरीति वक्तव्यम्	४।१।४२
अग्रपश्चाङ्गिः	३।१।६१	अप्राण्यङ्गादिति वक्तव्यम्	४।१।५१
अङ्गात्रकण्ठेभ्यो वा प्रतिषेधः	३।१।४७	अप्तस्य इत्यादावपि वक्तव्यः	४।३।१२७
अजातेरिति वक्तव्यम्	१।१।९८	अप्सुमति चाखौ वक्तव्यम्	४।३।१२७
अञ्चिधौ भयादीनामुपसंख्यानं नपुंसके क्तादिनि- वृत्त्यर्थम्	२।३।५२	अभयाच्चेति वक्तव्यम्	२।२।४१
अटाट्टाशोकाकोटापोटासोटापुष्टाभ्योऽपीति केचित्	२।१।१४	अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेषूपसंख्यानम्	१।४।३
अर्चिः लोः अर्चन्तःपुनोर्चन्तः कर्तुः कर्तव्ये नन्तःपुनोर्चन्तः	३।१।१३	अभ्यर्हितस्य च	१।३।१००
अर्ण प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसंख्यानम्	३।४।९०; ४।१।१८	अरण्याण्यो वक्तव्यः	३।२।१०७
अर्ण प्रकरणे ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम्	४।१।३०; ४।१।५०	अर्णसः खं च	४।१।३५
अतन्निमित्तादपि समाहारलक्षणाद् राहुब् वक्तव्यः	३।४।२६	अर्थातिदेशाद्विशेषणानामपि तद्वत्ता सिद्धा	१।१।६८
अत्यन्तापह्वे लिङ् वक्तव्यः	२।२।६५	अर्थाद्वाऽसन्निहितै वर्त्तमानादिन्वक्तव्यः	४।१।५६
अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे इपा	१।३।८१	अर्धाच्चेति वक्तव्यम्	३।४।२२
अत्र ग्रामग्रहणे नगरस्यापि ग्रहणम्	५।२।१६	अर्धे चोत्तरपदे केवलस्यार्धस्य पश्चभावो वक्तव्यः	४।१।९७
अत्राभिसञ्ज्ञकस्येति वक्तव्यम्	५।४।२६	अर्धोत्तरपदस्य च दिक्छब्दस्य पश्चभावो वक्तव्यः	४।१।६७
अद्यर्थेषु अदिखाद्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः	१।२।१२२	अर्हतो नुम् च	३।४।११४
अधर्माच्चेति वक्तव्यम्	३।३।१६२	अलाबूतिलोमाभङ्गाभ्यो रजस्युपसंख्यानन्	३।४।१४६
अधिकरणविचाले चेति वक्तव्यम्	४।१।१०६	अल्पाच्च मेघाया इति वक्तव्यम्	४।२।१२४
अधिकरणे प्यखे का वक्तव्या	१।४।३७	अल्पील्वादेरिति वक्तव्यम्	४।३।२२२
अनजादौ द्वितीयादचः परस्य वा खं वक्तव्यम्	४।१।१३६	अवयवयोगे प्रतिषेधो वक्तव्यः	१।४।३८
अनजादौ वा द्युष्मम्	५।२।५१	अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे भया	१।३।८१
अनुब्राह्मणादिन्वक्तव्यः	३।२।५३	अवादिभ्यस्तनेरिति वक्तव्यम्	२।१।११४
अनुवाकादयश्चेति वक्तव्यम्	३।२।५२	अवाधयोः (अवोऽधसोः)सख्च्चेति वक्तव्यम्	३।२।१२८
अनुसूलक्षयोभ्यश्च ठण्	१।१।१६५	अवान्तरदीक्षादिभ्यो ङिन्वक्तव्यः	३।३।८७
		अघ्नः कपाले हविष्यात्वं वक्तव्यम्	४।३।१६०
		अघ्नः कपाले हविषि वक्तव्यम्	४।३।२२७

अष्टाचत्वारिंशतो डबुडिनौ च वक्तव्यौ	३।४।८७
अस्मिन्प्रकरणे तदाहति माशब्दादिभ्य	
उपसंख्यानम्	३।३।१५६
अहो रिविधौ रूपरात्रिरथन्तरेषूपसंख्यानम्	४।२।८६; ५।३।७७;

आ

आख्यातमाख्यातेन सातत्ये	१।३।६६
आख्यातशब्दात्प्रतिषेधो वक्तव्यः	२।१।२४
आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणोभ्यश्च	३।२।५२
आख्यानात् कृतस्तदाचष्ट इति कृदुप्प्रत्यापत्तिः	
प्रकृतिवच्च कारकमिति	२।१।२४
आङ्गिनवृत्तिश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्यादायाम्	२।१।२४
आङ्पूर्वादञ्जेः सर्वायां क्यवक्तव्यः	२।१।६१
आचारे सर्वमृद्भयः विवन्वा भवतीत्येके	२।१।६; ४।३।१८०

आचार्यादणत्वं च	३।१।४२
आदिभ्य उपसंख्यानम्	२।४।४६
आदेशचेति वक्तव्यम्	३।२।१२८
आपदादिपूर्वपदाकालान्ताद् ठञ्जिठौ वक्तव्यौ	३।२।६२
आर्यक्षत्रियाभ्यामुपयोगे वेति वक्तव्यम्	३।१।४२

इ

इज उपसंख्यानमजात्यर्थं कर्त्तव्यम्	३।१।५५; ३।१।६६
इणवदिकः	५।१।१०६
इन्प्रकरणे इलाद्वाङ्पूर्वादिपसंख्यानम्	४।१।५६
इन्सिद्धब्रन्धातिस्थेषु च न भवति	४।३।१३२
इवोपमानपूर्वस्य द्युखं वा	४।२।१६
इषोऽनिच्छायां युञ् वक्तव्यः	२।३।८६
इह तदस्मै दीयते इति वक्तव्यम्	३।४।४६
इह प्रकरणे राजसमानशब्दात् राष्ट्रात् तस्य राजन्य-	
पत्यवदिति वक्तव्यम्	३।१।१५५

ई

ईकण् च	३।१।७०
ईबुपमानपूर्वस्य द्युखं वक्तव्यम्	१।३।८६
ईयसो बसे पुंवद्भाववचनम्	४।२।१५६
ईयसो बसे प्रतिषेधो वक्तव्यः	१।१।८
ईर्ष्यैस्तुतीयस्य द्वे भवत इति वक्तव्यम्	४।३।३

उ

उगन्तादियेल्लयोः खं वक्तव्यम्	४।१।१३६
-------------------------------	---------

उगित्कार्यं वर्षाकार्यं च तदन्तादपि भवतीति	
वक्तव्यम्	१।१।६७
उत्तानादिषु च कर्तृषु	२।२।२०
उत्पातेन ज्ञायमानेऽवक्तव्या	१।४।२६
उदीच्यग्रामात् प्रस्थचोरण् वक्तव्यः	३।२।९०
उपध्मानीयस्य सत्त्वं वक्तव्यं द्वित्वप्रतिषेधश्च	५।४।२६
उपमानात् वक्तव्यम्	३।१।४८
उपवल्गादिभ्य उपसंख्यानम्	३।४।९९
उप् स्थामान्तदजिनान्ताच्च वक्तव्यः	३।३।३५
उभयत आश्रयणे न तद्गद्भावः	४।३।७३
उभसर्वतसोः कार्यो धिगुपर्यादिषु त्रिषु । कृतद्वित्वेष्वि-	
पा योगस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥	१।४।३
उवर्णादिलस्य च खं वक्तव्यम्	४।१।३९
उसाख्यायिकासु बहुलमिति वक्तव्यम्	३।३।६१

ऋ

ऋकारलृकारयोः स्वसञ्ज्ञा वक्तव्या	१।१।२
ऋकारान्तलवादिभ्यः क्तिस्तवद्भवतीति वक्तव्यम्	२।३।७५
ऋणदशप्रवत्सतरकम्बलवसनानामृणो	४।३।७६
ऋतुनक्षत्राणां समानाक्षराणामानुपूर्व्येण	
वक्तव्यम्	१।३।१००
ऋते भासे	४।३।७६

ए

एकधुराशब्दात्खस्योस्वक्तव्यः	३।३।१६३
एकाक्षरपूर्वपदानां घोः खं वक्तव्यमषषः	४।१।३९
एचो द्वितीयत्वे तदादेः खं वक्तव्यम्	४।१।३६
एवे चानियोगे पररूपम्	४।३।८१
एहीडादयोऽन्यपदार्थे	१।३।६६

ऐ

ऐब्दीत्वाभ्यासमतः खं पूर्वनिर्णयेन	४।४।५०
------------------------------------	--------

ओ

ओजोऽप्सरसोर्नित्यं पयसस्तु विभाषया सखम्	२।१।६
ओत्वोष्ठयोर्वा से पररूपमुपसंख्यास्यते	३।१।४८; ४।३।८१
ओदनशब्दाद्वक्तव्यः	३।३।१८२
ओनयत्यादेः कच्प्रतिषेधो वक्तव्यः	२।१।४३

क

कण्वादीनां तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवति	४।३।३
कवरमणिशरविषेभ्यो नित्यमिति वक्तव्यम्	३।१।४८

बहि कर्मणा बहुलमाभीक्ष्ये कर्तारं चाभिदधाति १।३।६६	
जागत्तैरशौ वक्तव्यौ	२।३।८३
जातान्तात्प्रतिषेधो वक्तव्यः	३।१।४५
जिज्ञासावैरूप्याज्वनिशानेषु यथाक्रमं सन्निष्यते	२।१।४
जिह्वाकात्यहरितकात्ययोर्न भवत्येव	१।१।७१
जीवितपरिणाम इति च वक्तव्यम्	३।४।५६
ज्योत्स्नातमिस्त्राभ्यां णिद् भवति पक्षे	४।१।५०

झ

झिसंख्यादेरिति वक्तव्यम्	१।४।१०७
झिसंज्ञकस्य भमात्रे टिङ् च वक्तव्यं सायम्प्राति- काद्यर्थम्	४।४।१४२
भेर्ममात्रे टिङ् च १।४।८५; ४।२।१२०; ५।२।१६	

ञ

जियक्रोः प्रतिषेधे णिश्रन्थिग्रन्थिग्रूजां दविधौ धीनां चोपसंख्यानं कर्तव्यम्	२।१।५६
---	--------

ठ

ठण् लुप्तोश्च	४।३।१४७
ठण् प्रकरणे तदस्मिन्वर्तते इति नवयज्ञादिभ्य उप- संख्यानम्	३।२।३०
ठेनोः समानकालग्रहणं वक्तव्यम्	४।१।१९

ड

डटो वा उवक्तव्यः	४।१।११
डट् स्तोमे वक्तव्यः	३।४।१५८
डुप्रकरणे मितद्रुप्रभृतीनामुपसंख्यानम्	२।२।१५६

ढ

ढेऽपि क्वचिद् पुंवद्भावो वक्तव्यः	४।३।१४७
-----------------------------------	---------

ण

णत्वविधौ गर्नेस उपसंख्यानम्	४।२।११९
णिश्रन्थिग्रन्थिग्रूजां दविधौ धीनाञ्च	२।१।४३

त

तः पर्वमरुद्भ्यां मत्वर्थे	४।१।५६
तच्चरतीति च महानाम्ब्यादिभ्य उपसंख्यानम्	३।४।८७
ततोऽभिगमनमर्हति च वक्तव्यम्	३।४।७०
तदन्ताद्वेति वक्तव्यम्	४।१।५६
तनिर्पातदरिद्रां वेट्	५।२।१५५
तपसो मञ्चेति वक्तव्यम्	२।१।१४

तमे परतः तादेः कादेश्चान्तिकस्य खं वक्तव्यम् ४।१।४२	
तलन्तस्य डिक्योरुभयम्	५।२।१०२
तसादिभूमशब्दस्य उभयादेशो वक्तव्यः	४।१।९१
तसिप्रकरणे आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्	४।२।४६
तस्य हृत्यटे	३।४।२६; ३।१।४
ताभ्यामेव पितरि डामहः	३।२।३१
तीथान्तात्स्वार्थे वा ईकण् वक्तव्यः	३।२।८
तुरभुजयोश्च	२।२।४५
तृप्त्यर्थे ण् णि णन्	१।३।७५
तृप्त्यर्थे योगे उपसंख्यानम्	१।२।३०
तेन वाक्दिकपश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेष्वनुप्	४।३।१३३
त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वमपि वयसीष्यते	३।१।१४
त्रिप्रभृतिषु न भवति	५।४।१२७

द

दाणश्च सा चेदवर्थेऽशिष्टव्यवहारे इति वक्तव्यम्	१।२।५०
दिक्लृब्दमात्रादयमेनो वक्तव्यः	४।१।६६
दिकपूर्वपदस्य चापरस्य पश्चभावो वक्तव्यः	४।१।९७
दिग्घसहपूर्वाच्च अत्यो भवति	२।२।२०
दुःशब्दे वाचि शासियुद्धिदृशिधृषिमृषिभ्यः युञ् भवति	२।३।१०६
दूतवणिग्भ्यां यो वक्तव्यः	३।४।११६
दृष्टे सामनि वृद्धादङ्कवद्वक्तव्यम्	३।२।७३
देवस्य यञ्जौ	३।१।७०
देवानां प्रियादिष्वनुप्	४।३।१३४
देवासुरादिभ्यो वुनः प्रतिषेधो वक्तव्यः	३।३।६३
दुश्रुभयाद्वक्तव्यः	४।१।८७
द्वन्द्वे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः	३।३।६२
द्वित्वे गोजुगः	३।४।१५०
द्विब्रह्मन्ताच्च करणात्प्रतिषेधो वक्तव्यः	३।४।३५
द्विमात्रात्परस्यापि	५।४।१२७
द्विषः शतुर्वा वचनम् १।३।७५ ; १।४।७२; ३।२।१०६	
द्व्यक्षरस्य पूर्वनिपातो वक्तव्यः	१।३।१००

ध

धमुञ्जन्तात् स्वार्थे डो वक्तव्यः	४।१।१०८
धेनोर्नञ्-पूर्वाया नेष्यते	३।२।३६

न

नक्षत्रयोगे ज्ञार्थे	२।१।२४
----------------------	--------

नञोऽनुभावे क्षेपे निःशून्यप्रसङ्गान्	४।३।१८१
ननो पृष्ठप्रतिवचने भूतमात्रे लट् वक्तव्यः	२।२।१००
नभोऽङ्गिरोमनुषां वत्युपसंख्यानम्	१।२।१०७
नशब्दे नुशब्दे च वाचि पृष्ठप्रतिवचने भूते वा लट् वक्तव्यः	२।२।१००
नाभि नभञ्च	३।४।२
निन्दाक्षमारोगापनयेषु यथाक्रमं सन्निव्यते	२।१।३
निमित्तात्मकर्मसंयोगे ईश्वक्तव्या	१।४।४४
निमिमीलियां खाचोरात्वप्रतिषेधो वक्तव्यः	४।३।४३
निरादयः क्रान्ताद्यर्थे कया	१।३।८१; १।४।१०२
निसो गत इति वक्तव्यम्	३।२।८१
निसो देशे	२।२।४६
नुप्रच्छिभ्यां च	१।२।१४
नृनरयोरैश्व	३।१।२३
नेतुर्नक्षत्रे उपसंख्यानम्	४।२।११६
नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम्	३।२।८१

प

पञ्चजनशब्दाहुपसंख्यानम्	३।४।७
पद्यछान्दसा एते शब्दास्तदत्रापि नस् वक्तव्यः	४।२।११८
परिभ्रमन्निभ्रमन्निभ्रमन्निपातनं वक्तव्यम्	२।३।८३
परिपार्श्वान्चेति वक्तव्यम्	३।३।५२
परेर्वा	२।३।८९
परोक्षे लोकविज्ञाते प्रयोक्तुः शक्यदर्शनत्वेन दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः	२।२।६२
पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे अपा	१।३।८१; ४।२।१५
पश्वा रास् वक्तव्यः	३।२।३६
पाणिगृहीत्यादीनां गुर्वनुशातेन ङी वक्तव्यः	३।१।४५
पाणौ समवशब्दे च सृजेयौ वक्तव्यः	२।१।६२
पात्रादिभ्यश्च प्रतिषेधः	१।४।९३
पादाकल्पकाम्याः प्रयोजयन्ति	५।४।२६
पाशाद्विमोचने	२।१।२२
पिच्छादेश्चेति वक्तव्यम्	४।१।२६
पिशाचाच्चेति वक्तव्यम्	४।१।५२
पुंसाऽनुजो जनुषान्ध इत्यनुवक्तव्यः	४।३।१२४
पुच्छान्चेति वक्तव्यम्	३।१।४८
पुच्छाद्दुदसने पर्यसने वा	२।१।१७
पुण्याहवाचनादिभ्य उवक्तव्यः	३।४।१०५
पुत्रादिनी त्वमसि पापे इत्याक्रोशे नेष्यते	५।४।१२७

पुरान्तात्प्रतिषेधो वक्तव्यः	३।३।३५
पुरुषाद् वधविकारसमूहतेनकृतेष्विति वक्तव्यम्	३।४।९
पुष्पमूलेषु बहुलम्	३।३।२४
पूर्वपदस्य च ठाजादौ अनजादौ च खं वक्तव्यम्	४।१।३६
पूर्वप्रथमयोरतिशये द्वे भवतः पूर्वमासफट्ण वक्तव्यः	३।२।३०
पृच्छतौ सुस्नातादिभ्य इएसमर्थेभ्यः	३।३।५६
पृथिव्या आजौ	३।१।७०
पौङ्गीपुत्रादिभ्यश्छो वक्तव्यः	३।२।२३
प्यखे कर्मणि का वक्तव्या	१।४।३७
प्यादेशोऽन्तरङ्गस्यापि विधेर्बाधकः	४।४।१६
प्रकृत्यर्थस्य षट्त्वे षड्गवः	३।४।५०
प्रकृत्याके राजन्यमनुष्ययुवानः	३।४।२३
प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्	२।४।४; ४।३।२४; ४।३।२५
प्रथमाधिकारे द्वितीयस्यापि वृद्धेऽच्यनुवक्तव्यः	३।३।६३
प्रभृतादिभ्यश्च	३।३।५६
प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये मात्रङ्-वक्तव्यः	३।४।५८
प्रमाणशब्दा ये प्रसिद्धास्तेभ्यो द्वयसडादीनां ध्वंसनं-वक्तव्यम्	३।४।५८
प्ररोहणे शाकटशाकिनौ	३।४।५०
प्रश्नाख्यातयोश्च का वक्तव्या	१।४।३७
प्राणिनीति वक्तव्यम्	४।२।७६
प्राण्यङ्गे नित्यं लत्वम्	५।३।३६
प्रादयो गताद्यर्थे च वया	१।३।८१; १।३।८६
प्रादूहोदोढ्ये षैष्येषु	४।३।७५; ५।३।१०२
प्रावृड् वर्षाशरत्कालदिवां जेऽनुप्	४।३।३२

फ

फलवर्हाभ्यामिनः	४।१।५६
फिजप्यत्र भवतीति वक्तव्यम्	३।१।३८

ब

बन्धे द्विधा	४।३।३२
बलादूलः	४।१।५६
बसे कौ मातुरदन्तत्वं पुत्रश्लाघायाम्	५।२।१०२
बहिषष्टिखं यञ्च	३।१।७०

बहुष्वनियमः	१।३।१००
बाह्व्युर्दिभ्यश्चेति वक्तव्यम्	३।२।७८
त्रिव्ववनादिभ्यो नित्यमुस् न भवतीति वक्तव्यम्	३।२।४५
ब्रह्मचर्यमित्यस्मिन्नर्थे महानाम्न्यादिभ्य उप- संख्यानम्	३।४।८७
ब्रह्मणि वदेरिण् वक्तव्यः	२।२।६६
ब्रह्मवर्चसादिभ्योऽपि वक्तव्यम्	४।२।८०

भ

भक्तिरहिंसार्थः कर्मसंज्ञो न भवतीति वक्तव्यम्	१।३।१२२
भगो दारेः खञ् वक्तव्यः	२।२।४०
भस्य ह्य्यटे	३।१।२१; ३।१।६४; ४।१।१६१;
	४।३।१४७; ४।३।१५३; ५।२।१०
भाण्डात्सञ्चयने परिचयने वा	२।१।१७
भ्रातृश्च न्यायसः	१।३।१००
भ्रातृपुत्रौ स्वसदुहितृभ्यां शिष्यत इति न वक्तव्यम्	१।१।१००

म

मणिप्रभृतिभ्य इति वक्तव्यम्	४।१।३५
मणौवादिषु नेष्यते	१।१।२०
मधुकमरिचयोः स्थलपूर्वादर्ण् वक्तव्यः	३।४।७३
मध्यादीयो वक्तव्यः	३।३।३५
मध्ये मध्यन्दिनश्चास्मादुप् स्थाम्नो ह्यजि- नात्तथा	३।३।३५
मरुच्छब्दस्योपसंख्यानम्	१।२।१३०
महत्या घासकारविशिष्टेषु व्यधिकरणत्वेऽपि पुंवद्भावा- त्वे भवतः	४।३।१५८
महाजनाद्वृष्वक्तव्यः	३।४।७
महिषाच्चेति वक्तव्यम्	३।२।६७
नःसाद्-न्-ति-नान्तपूर्वमन्टो वक्तव्यः	४।२।११७
सुखपाश्वतसोरीयः कुम्जनस्य परस्य च । ईयः कार्योऽथ मध्यस्य मण्मीयौ च हृतौ मतौ ॥	३।३।३५
मूलविभुजादिभ्यः	३।४।८८
मूलान्ताच्च टाप्	३।१।४
मूल्यादिति च वक्तव्यम्	३।४।३५
मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य भवतीशब्दस्य ग्रहणे- ठण्छसोः	३।२।६१
मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्	४।२।१५६

य

यजादीनामेकत्वद्वित्वयोर्वा तासे इति वक्तव्यम्	१।४।१३५
यणः परस्य मयोऽच्च विकल्पः	५।४।१२७
याश्चाध्वकालरिः ष्टेदस्ततः का वक्तव्या	१।४।३७
यथेष्टं सुब्धुषु वक्तव्यम्	४।३।३
यमाच्चेति वक्तव्यम्	३।१।७०
यवनाल्लिप्याम्	३।१।४२
यवाद्दोषे	३।१।४२
यस्य प्रकरणे वातपित्तश्लेष्मसन्निपातेभ्यः शमनकोप- नयोरुपसंख्यानम्	३।४।३६
येषां च पाकनिमित्तः शोषः तेभ्यश्च उस् फले	३।३।२२४

र

रजकरजनरजस्तु नखे यत्नः कर्त्तव्यः	४।४।२७
रणिवशिभ्यामवक्तव्यः	२।३।५२
रथसीताहलेभ्यो यविधौ तदन्तविधिरुपसंख्यातः	३।३।८६
रथसीताहलेभ्यो यविधौ तदन्तविधिरपीभ्यते	३।३।१९७
रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्	४।१।३३
रविधिर्नगपाञ्जुभ्याम्	४।१।३३
रसादिभ्यो मतुर्वक्तव्यः	४।१।२३
राच्च ध्वसनं वक्तव्यम्	३।४।१५८
राजन्यादिभ्यो वा वुञ् उस्वक्तव्यः	३।२।४५
राजाचार्याभ्यां भोगान्ताभ्यां नित्यमिति वक्तव्यम्	३।४।८
राष्ट्राभिधाने बहुत्वे उस्वक्तव्यः	३।३।४५
रूपाद्दर्शने	२।१।२२
रेरेव काम्ये वक्तव्यम्	५।४।३६

ल

लिटि स्वञ्जेर्वा न खं भवतीत्युपसंख्यानम्	५।४।८४
लोम्नश्चापत्येषु बहुषु	३।१।७०
लोहितशब्दात्स्त्रीत्यस्य परत्वादानेन केन बाधनं वक्तव्यम्	४।२।३६

व

व उद्गोः	५।४।२६
वटकेभ्य इन्वक्तव्यः	४।१।१४
वर्णानामानुपूर्व्येण	१।३।१००
वर्षत्तरशरबराञ्जे द्विधा	४।३।१३२
वलप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यते इति वक्तव्यम्	४।१।३८
वशोर्यङि प्रतिषेधो वक्तव्यः	४।३।१५
वल्गात् समाच्छादाने	२।१।१८

वा गोमयेष्विति वक्तव्यम्	३।२।१०७	व्यासवरुडनिषादचण्डालबिम्बादीनामिति	
वा ठण् छसोः [ठक्छसोश्च]	५।२।२२	वक्तव्यम्	३।१।८६
वाततिलसार्धेषु अजतुदजहातिभ्यः खश्वक्तव्यः	२।२।३२	प्रताद्भोजने तन्निवृत्तौ च	२।१।१८
वा तदन्तबालललाटानामूङ् च	४।१।२५		
वातात्समूहे तन्न सहते इति च	४।१।५६	श	
वा प्रियस्य	१।३।१०१	शंसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्	१।१।६१
वाबन्त इति वक्तव्यम्	१।४।९३	शकटादण् वक्तव्यः	३।३।१६१
वामदेवाद्यो वक्तव्यः	३।२।७२	शकन्धादिषु पररूपम्	४।३।८१
वायोरुभयत्र प्रतिषेधः इष्यते	४।३।३६	शतरुद्राद्घश्च	३।२।२३
वारिजङ्गलस्थलकान्ताराजशङ्कपूर्वपदादिति		शतषष्टिभ्यां पथष्टिकः	३।२।५२
वक्तव्यम्	३।४।७३	शन्शतोर्डिनिर्वक्तव्यः	३।४।५७
वा लिप्सायामिति वक्तव्यम्	१।२।२०	शप उपलम्भन इति च वक्तव्यम्	१।२।१५
वा समर्थायाः संख्याया गुणस्य निमेये		शयवासवासिष्वकालवाचिनो द्विधा	४।३।३३
वर्त्तमानयोः	३।४।१६९	शर उत्तरस्य खयः	५।४।२७
विकारे स्नेहे तैलः	३।४।१५०	शसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्	४।१।१६
विद्यामाननक्षत्र (विद्या च नाङ्गचेत्र)		शिद्धेर्जिज्ञासायां दो वक्तव्यः	१।२।१५
धर्मत्रिपूर्वा	३।२।५२	शीतोष्णतृतेभ्यस्तन्न सहत इत्यालुर्वक्तव्यः	४।१।५६
विद्यालक्षणकल्पसूत्रान्तादकल्पादेः	३।२।५२	शीर्षान्नजः	४।१।४२
विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्	४।१।३६	शीलादिप्रकरणे धाञ् कुसुजनिनिदिभ्य इर्लिट्	
विपरीताच्चेति वक्तव्यम्	३।४।३६	वक्तव्यः	२।२।५५
विनाजन्दिनुर्गिन्दन	३।३।११६	शीलिक्वामिन्दन्तरीदिह्मिभ्यो णो वक्तव्यः	२।२।१
विरोधेऽण् वक्तव्यः	३।४।११४	शीले को मखं च	४।१।३०
विंशतेश्चेति वक्तव्यम्	३।४।१५८	शुनः खौ शोफपुच्छलाङ्गलेषु	४।३।३४
विशसितुरितः खञ्च	३।३।६६	शुभिरुचिभ्यां प्रतिषेधो वक्तव्यः	२।१।१९
विशिष्टैर्नादिरिद्वित्रगोरेणालपूर्ववदःतुन-		शुद्रच्च्नामहन्पूर्वन् जातिश्चेत्	३।१।१४
संख्यानम्	३।४।१०४	शृङ्गवृंदाभ्यामारको वक्तव्यः	४।१।५६
विषेन भवत्येव	५।३।३६	शृण्णातेर्वायुवर्षयोर्घञ् वक्तव्यः	२।३।२०
विष्णोः प्रतिषेधो वक्तव्यः	४।३।१४१	शेषे विभाषा	१।४।६९
विस्तारे पटः	३।४।१५०	श्रद्धादिभ्योऽण् वक्तव्यः	३।४।१०५
विहायसो विहं च	२।२।४६	श्रन्थेश्चेति वक्तव्यम्	४।४।११३
विहायसो विहादेशः खच्च वा डिद्वक्तव्यः	२।२।४५	श्रविष्ठाषादाभ्यां छुजिति वक्तव्यम्	३।३।८
वीप्सायां वा हसो वक्तव्यः	१।३।५	श्रुयजौषिस्तुभ्यः स्त्रियां करणे युड्वाधनार्थं	
वीरात्तेजसि यः	३।४।११४	क्तिर्वक्तव्यः	२।३।७९
वृद्धवदिति वक्तव्यम्	४।२।७	ष	
वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्	३।२।३४	ष्ठीवतिष्वक्कतिष्ठथायतीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः	४।३।५३
वृद्धाद्बृद्धवदिति वक्तव्यम्	४।२।७		
(वृ) द्वेषिण्य वृधुषिभावो वक्तव्यः	३।३।१५३	स	
वेः ख्वादेशो वक्तव्यः	४।२।११६	संबोद्धः संबहितुंभावश्च स्वे वक्तव्यः	३।३।८८
		संस्कृते शूल्यः	३।४।१५०

स एव डामहो मातरि वाच्यायां टिच्च	३।२।३१	सुदुरोरधिकरणे डो वक्तव्यः	२।२।४६
सकर्मकादिति वक्तव्यम्	१।२।५४	सु [शु] नोजिर्वाचदीत्वम्	३।४।२
सग्योश्च क्रुधिद्रुह्योः	१।२।११२	सुब्धुनाञ्च तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवति	४।३।३
सङ्ख्याया अल्पीयसो वाचिकायाः	३।२।५५	सुसर्वाद्धदिकल्लुब्देभ्यो जनपदस्य सूत्रान्ताद-	
सञ्ज्ञायामण् वक्तव्यः	३।४।८७	कल्पादेरिष्यते	३।२।५२
सत्प्राक्कारणप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पाट्टाप्	३।१।४	तेन ज्ञानलक्ष्मणी त्रिदशसुगन्तुः धान्यनक्षिणः	
समसप्रधारणायां किम आक्षेपे द्वे भवतः	५।३।६	प्रकृत्यर्थबहुत्वे एकवद्भावः	१।४।८८
समानाच्च तदादेश्च अध्यात्मादिषु चेष्यते ।		सेनाङ्गेषु बहुत्वे	१।४।७८
ऊर्ध्वाद्दमाच्च देहाच्च लोकोत्तरपदादपि ॥	३।३।३५	सौवीरेषु भिमतशब्दाणाम्फिजौ वक्तव्यौ	३।१।१३८
समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्	२।२।५८; ४।३।१९५	स्तोमे डो वक्तव्यः	३।४।५६
समिधामाधाने टेन्यण् वक्तव्यः	३।३।८८	स्त्रियामपत्ये उव्वक्तव्यः	३।१।११७
समूहे कटः	३।४।१५०	स्त्रीनपुंसकयोर्विभक्त्या वाऽम्भावो द्योऽस्तु	५।३।९
सम्पदादिभ्यः क्विबपि वक्तव्यः	२।३।७५	स्वर्गादिभ्यो यो वक्तव्यः	३।४।१०५
सम्पूर्वाद्धेति वक्तव्यम्	२।१।९३	स्वाङ्गकर्मकादिति वक्तव्यम्	१।२।१४; १।२।२२
सम्भ्रान्जिनशरणपिण्डेभ्यः फलाट्टाप्	३।१।४	स्वादीरेणोः	४।३।७६
सम्भ्योऽम्भसोः सखं च	३।१।८५	स्वार्थेऽवधार्यमाणेऽनेकस्मिन् द्वे भवतः	५।३।९
सर्वजनाट्ठण् खश्च वक्तव्यः	३।४।७	स्वार्थे द्वयसन्मात्रौ बहुलं वक्तव्यौ	३।४।१५८
सर्वत्र गोरजादिप्रसंगे यः	३।१।७०		
सर्वनामसंख्ययोः पूर्वनिपातो वक्तव्यः	१।३।१०१	ह	
सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुं वद्भावः	१।१।३६	हनो वा वध इति च वक्तव्यम्	२।१।८६
सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पूर्वपदस्य पुं वद्भावः	१।३।८८	हन्तीत्यपि वक्तव्यम्	३।३।१५८
सर्वमद्यर्थकार्यमर्देर्न भवतीति वक्तव्यमधिकरणे		हन्तेर्हिंसायां धनीभावो वक्तव्यः	५।२।१३९
तविधं मुक्त्वा	१।२।१२२	हरतेर्गतिताच्छील्ये	१।२।१५
सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे	३।४।११४	हलसीराट्ठण् वक्तव्यः	३।३।१६१
सर्वसादेरसान्चोप्	३।२।५२	हलिकल्योरकारान्तता णिच्चा योगे निपात्यते	२।१।१८
सर्वादेश्चेति वक्तव्यम्	४।१।५६	हायनाद्वयसि स्मृतः	३।१।१४
सवच्च बहुलम्	१।२।१०	हितशब्दयोगे उपसंख्यानम्	१।४।२६
सहायाद्धेति वक्तव्यम्	३।४।१२२	हिमाञ्चैल्लुः	४।१।५६
सहितसहाम्याञ्चेति वक्तव्यम्	३।१।५६	हिमारण्ययोर्महत्त्वे	३।१।४२
सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्चेति वक्तव्यम्	२।१।१४	हृदयाञ्चालुर्वा वक्तव्यः	४।१।५६
		हृदयहोरप्रतिषेधो वक्तव्यः	१।२।६
		होत्रायाः स्वार्थे को [छो] वक्तव्यः	३।४।१२५

जैनेन्द्रपरिभाषणामकारादिक्रमः

अ	
अखौ हृद्द्युभ्यामिन्नर्थे ईप् तस्याश्चानुवक्तव्यः	४।३।१२७
अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य	४।३।३१; ४।४।१००
४।४।१२१; ४।४।१४७; ५।१।१६२; ५।३।८८	
अनित्यमागमशासनम्	४।३।१६९
अनिनस्मिन्ग्रहणेष्वर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिः	
३।१।६; ४।४।१२; ५।१।१६४; ५।४।६०	
अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ग उन्वाधते	४।३।१२७;
५।१।१५७	
अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गः प्यादेशो बाधते	
४।४।६८	
अन्याभावेऽन्त्यसदेशस्य कार्यम्	५।२।७४
अन्यत्र धुग्रहणे ध्वादेः समुदायस्य ग्रहणम्	४।३।१९८
असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे	१।१।५८; ४।३।५५; ४।३।३५;
४।४।१७; ५।३।२८; ५।३।८७	
उ	
उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः	५।१।५८; ५।२।१३२
ए	
एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्	४।४।५४; ५।१।८; ५।१।१६०;
एकपदाश्रयत्वेनान्तरङ्गानपि जग्यादिविधीन् बहिरंगः	
प्यादेशो बाधते	१।४।११०
एकानुबन्धग्रहणे न द्वयनुबन्धकस्य	२।१।६
क	
कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषन्	१।१।४५; १।२।६०; ५।३।२७
कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्	१।१।६; १।२।२२;
१।२।२६; १।३।४१; २।३।७६; ३।१।१८	
कञौ नष्टं न स्थानिवत्	५।१।६३
ग्रामादाग्रहणेष्वविशेषः	१।४।१४६; ४।३।६२; ४।४।६५;
५।२।१४४; ५।२।१५५	

ग	
गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्	४।४।६४; ४।४।१५२;
५।२।३; ५।२।१३६	
गोरधिकारे तदन्तस्य च	५।१।१८; ५।१।३६
गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययात्	५।४।६५
च	
चविकारेष्वपवादा प्र उत्सर्गान्न, बाधन्ते	५।२।१६६;
५।२।१८१	
ङ	
ङलयोः समानविषयत्वं स्मर्यते	५।३।३९
ण	
णोऽप्यण् कृतं भवति	४।४।१६३
त	
तदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते	५।२।८०
तदादेशास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते	५।१।१०८
तन्मध्यपतितास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते	४।३।१०९
तिवाक्कारकणां प्राक्सुबुत्पत्तेः कृद्भिः	
सविधिः	१।३।८२; ३।१।४३; ४।३।१६६
त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेः	१।१।८; ५।३।१८;
त्यग्रहणे चाकायः	४।३।१३३
त्यात्यसंभवे त्यस्य ग्रहणम्	४।३।१६६
द	
द्यावित्यधिकारे त्यग्रहणं स्वरूपग्रहणमेव	४।३।१३३
द्यवधिकारे त्यग्रहणं स्वरूपग्रहणं न	
तदन्तविधिः	४।३।१६१
द्विवर्द्धं सुवर्द्धं भवति	४।४।३७
ध	
धोरधिकारे तदन्तविधिरप्यस्ति	५।१।५०
धोः स्वरूपग्रहणात्तत्प्रविज्ञानम्	५।२।१; ५।२।३६;
५।३।२६	
न	
नञिव्युक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः	१।३।६८

नानर्थकेऽन्तेऽलोऽन्त्यविधिः	४।३।८५; ५।१।१७१;	येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि	५।१।८३
	५।४।३		
नानुबन्धकृतं हलन्तत्वम्	२।४।५	ल	
नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः	१।१।१३	लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रपिपदोक्तस्यैव	५।१।५२; ५।४।९५
निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य	४।३।१०८; ४।४।६४	लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वालिङ्गस्य	५।२।२०
	५।४।१८	व	
निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति	४।४।११६; ५।२।१५१	वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्	४।३।९९; ४।४।३३;
			४।४।४१; ५।३।५४
प		वार्णाद्गावं बलीयः	१।१।७८; १।४।११३; ४।३।३३;
पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्	२।१।४१		४।४।१७; ५।१।१३६
पूर्वं धुर्गिना युज्यते पश्चात्साधनवाचिना त्येन		व्यपदेशिवद्भावो न मृदा	५।१।५४
	५।२।१२२; ५।२।१३८	स	
पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे	५।४।६६	सकृद्गते परनिर्णये विधिर्बाधितो बाधित एव	
पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्	५।३।३६; ५।३।४६;	१।२।९०; ४।४।४३; ४।४।६४; ४।४।९४; ५।१।५५;	
	५।३।५५; ५।४।६		५।१।५७; ५।२।५; ५।२।११०
प्रकल्प्यापवादविषयं तत् उत्सर्गोऽभिनिविशते	१।४।१२३	सञ्ज्ञालुन्दसोः पूर्वो विधिः	५।३।३९
प्रकृतिग्रहणे यदुबन्तस्य ग्रहणम्	५।१।८५; ५।३।५५	सञ्ज्ञाविधौ त्यग्रत्वात्तन्निर्णयिते	१।१।६;
प्रकृतिवदनुकरणं भवति	२।४।४६		१।१।२०; २।१।२६
म		स-त्यविधौ न तदन्तविधिः	१।१।६७; ५।२।१६
मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन्बाधन्ते नोत्तरान्	१।१।५३;	सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य	१।१।६४;
	२।१।१११; २।३।७६; ४।३।१७८; ४।४।७७;		२।१।३२; ५।१।८; ५।१।२१; ५।२।५५; ५।३।२८
	५।१।१५६	सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यभावः	१।१।६;
मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्	१।३।६३;		३।१।७; ४।४।१४३
४।२।६३; ४।३।१४८; ४।४।१२१; ५।४।३; ५।४।३४		सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः	१।१।६; ५।३।२८;
य			५।३।४२; ५।३।७१
यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न		स्फादिखलत्वणत्वेषु नास्ति	५।३।४६
तदन्तित्यम्	५।१।२०	स्वार्थिका प्रकृतिलिङ्गसङ्ख्ये अनुवर्तन्ते	५।२।१२५
येन नाप्राप्ते तस्य तद्बाधनम्	५।२।१५; ५।३।४१		

जैनेन्द्र-गणपाठसूची

अ	
अक्षयूतादिः	३।३।१४८
अङ् गुल्यादिः	४।१।१६२
अजादिः	३।१।४
अपूपादिः	३।४।३
अरीहणादिः	३।२।६०
अर्धर्चादिः	१।४।१०८
अर्शादिः	४।१।५०
अश्मादिः	३।२।६०
अश्वपत्यादिः	३।१।६६
अश्वदिः	३।१।९६
आ	
आहिताभ्यादिः	१।३।१०३
इ	
इन्द्रजननादिः	३।३।६२
इष्टादिः	४।१।२२
उ	
उगवादिः	३।४।२
उणादिः	२।२।१६७
उत्करादिः	३।२।७०
उत्सङ्गादिः	३।३।१३८
उत्सादिः	३।१।७१
उद्गात्रादिः	३।४।११६
उपकादिः	१।४।१३९
उरः प्रभृति	४।२।१५१
ऊ	
ऊर्थादिः	१।२।१३२
ऋ	
ऋश्यादिः	३।२।६०
क	
कच्छादिः	३।२।१११
कडारादिः	१।३।१०४
कल्यादिः	३।२।७५
कथादिः	३।३।२०६

कर्णादिः	३।२।६०
कल्याण्यादिः	३।१।११५
कस्कादिः	५।४।३६
काशादिः	३।२।६०
काश्यादिः	३।२।६२
किसरादिः	३।३।१७२
कुञ्जादिः	३।१।८७
कुमुदादिः	३।२।६०
कुम्भपद्यादिः	३।२।८७
कुर्वादिः	३।१।१३९
कुलालादिः	३।३।८७
कृष्णश्यादिः	३।२।६०
कौशल्यादिः	३।१।१४२
क्रोडादिः	३।१।४६
क्रौड्यादिः	३।१।६५
कुम्भनादिः	५।४।११७
ग	
गर्गादिः	३।१।६३
गवाश्यादिः	१।४।८७
गहादिः	३।२।११४
गृष्ट्यादिः	३।१।१२४
गोपवनादिः	१।४।१३९
गोपालकादिः	३।१।३८
गौरादिः	३।१।२३
घ	
घोषदादिः	४।१।६६
च	
चादिः	१।२।१२८
छ	
छेदादिः	३।४।६२
त	
तारकादिः	३।४।१५७
तालादिः	३।३।१०५
ति रुक्तिवादिः	१।४।१४०

तिकादिः	३।१।१४१
तुन्दादिः	४।१।४३
तृणादिः	३।२।६०
तौल्वल्यादिः	१।४।१३२
त्यदादिः	१।१।६९; ५।१।१६१
द	
दण्डादिः	३।४।६४
दधिपयत्रादिः	१।४।६०
दामन्यादिः	३।३।२६
दृढादिः	३।४।११३
देवपथादिः	४।१।१५४
द्वारादिः	५।२।९
द्विदण्ड्यादिः	४।२।१२६
ध	
धूमादिः	३।२।१०५
न	
नडादिः	३।१।८८; ३।२।७१
नद्यादिः	३।२।७६
प	
पक्षादिः	३।२।६०
पर्पादिः	३।३।३३३
पश्वादिः	४।२।६
पलव्यादिः	३।२।८६
पात्रेसमितादिः	१।३।४३
पामादिः	४।१।२७
पारस्करादिः	४।३।११६
पाशादिः	३।२।४१
पुरोहितादिः	३।४।११८
पुष्करादिः	४।१।५६
पूर्वादिः	१।१।४२
पृथ्वादिः	३।४।११२
पैलादिः	१।४।१३१
प्रज्ञादिः	४।२।४४
प्रादिः	१।३।८१

प्रेक्षादिः	३।२।६०	रेवत्यादिः	३।१।१३४	शुभ्रादिः	३।१।११२
प्लक्षादिः	३।३।१२२	रैवतिकादिः	३।३।९९	शौण्डादिः	१।३।३५
	व		ल	शौनकादिः	३।३।७७
बह्नादिः	३।१।३१	लोमादिः	४।१।२७	श्वादिः	५।२।१३
बाह्नादिः	३।१।८५	लोहितादिः	३।१।२१	श्रेण्यादिः	१।३।५४
ब्राह्मणादिः	३।४।११४				स
बीह्यादिः	४।१।४२				
	भ		घ	सख्यादिः	३।२।६०
भर्गादिः	३।१।१५८	वरणादिः	३।२।६२	सङ्गाशादिः	३।२।६०
भस्त्रादिः	३।३।१३६	वराहादिः	३।२।६०	सन्तापादिः	३।४।६५
भिन्नादिः	३।२।३३	वलादिः	३।२।६९; ४।१।५७	सपत्न्यादिः	३।१।३४
भीमादिः	३।४।६१	वाकिनादिः	३।१।१४५	सब्रह्मचार्यादिः	४।४।१३१
	म	विदादिः	३।१।६३	सर्वादिः	१।१।३५
मनोज्ञादिः	३।४।१२३	विनयादिः	४।२।४०	साक्षादादिः	१।२।१४३
मयूरव्यंसकादिः	१।३।६६	विमुक्तादिः	४।१।६५	सिध्मादिः	४।१।२५
महिष्यादिः	३।३।१६९	वेतनादिः	३।३।१६५	सिन्ध्वादिः	३।३।६७
	य	व्याघ्रादिः	१।३।५१	सुखादिः	४।१।५४
यवादिः	५।३।३१			सुतङ्गमादिः	३।२।६०
यस्कादिः	१।४।१३४	शकलादिः	३।२।८७	सुषामादिः	५।४।७२
याजकादिः	१।३।७२	शण्डिकादिः	३।३।६६	स्थूलादिः	४।२।११
यावादिः	४।२।३५	शरदादिः	४।२।१०६	स्वस्त्रादिः	३।१।८
युवादिः	३।४।१२०	शरादिः	३।३।१०६	स्वागतादिः	५।२।१२
	र	शर्करादिः	४।१।१६१		ह
राजदन्तादिः	१।३।९६	शाखादिः	४।१।१५७	हरितादिः	३।१।८६
राजन्यादिः	३।२।४६	शिवादिः	३।१।१०१	हरीतक्यादिः	३।३।१२४
		शुण्डिकादिः	३।३।५०	हस्त्यादिः	४।२।१३६

जैनेन्द्र-संज्ञासूची

अ	क	त
जैनेन्द्रसंज्ञा	जैनेन्द्रसंज्ञा	जैनेन्द्रसंज्ञा
अधिकरणः	पाणिनिसंज्ञा	पाणिनिसंज्ञा
[११२।११६]	करणम् [११२।११४]	तः [११२।२८]
अनुदात्तः	कर्त्ता [११२।१२४]	निष्ठा
[११२।११३]	कर्म [११२।१२०]	ता [११२।१५८]
अन्यः [११२।१५२]	का [११२।१५८]	ति [११२।१३२]
अप् [११२।१५८]	किः [११४।५६]	त्यः [११२।११]
अपादानम्	खम् [११२।६१]	थः [४।३।३]
[११२।११०]	खुः [११२।२६]	थ
अस्मद् [११२।१५२]	ग	द
इ	गि [११२।१३०]	दः [११२।१५१]
इत् [११२।३]	गुः [११२।१०२]	दिः [११२।२०]
इप् [११२।१५८]	घ	दोः [११२।११]
इल् [११२।३४]	घि [११२।९९]	दुः [११२।६८]
ई	ङ	धु [११२।१०५]
ईप् [११२।१५८]	ङः [११२।४]	द्विः [४।२।६]
उ	ङिः [११२।३०]	द्वन्द्वः [११२।६२]
उङ् [११२।६६]	च	द्विः [११२।१५५]
उञ् [११२।६२]	चः [४।३।६]	ध
उदात्तः [११२।१३]	ज	धम् [११२।३१]
उप् [११२।६२]	जिः [११२।४५]	धिः [११२।२]
उस् [११२।६२]	झ	धुः [११२।१]
ए	झिः [११२।७४]	न
एकः [११२।१५५]	ट	नप् [नपुंसकलिङ्गस्य संज्ञा प्राचाम्]
एप् [११२।१६]	टिः [११२।६५]	निः [११२।२२]
ऐ	टिः [११२।६५]	न्यक् [११२।६२]
ऐप् [११२।१५]	टिः [११२।६५]	न
		नप् [नपुंसकलिङ्गस्य संज्ञा प्राचाम्]
		निः [११२।२२]
		न्यक् [११२।६२]
		प
		पः [११२।११]
		पदम् [११२।१०३]
		प्रः [११२।११]
		प्लुतः
		पदम्
		ह्रस्वः

जैनेन्द्र और पाणिनि-व्याकरणकी तुलनात्मक सूत्र-सूची

जैनेन्द्र-सूत्र- संख्या	पाणिनि-सूत्र- संख्या	जैनेन्द्र-सूत्र- संख्या	पाणिनि-सूत्र- संख्या	जैनेन्द्र-सूत्र- संख्या	पाणिनि-सूत्र- संख्या
११११	×	१११३३	१११२३	१११६५	१११६४
१११२	१११९	१११३४	१११२४	१११६६	१११६५
१११३	१११७	१११३५	१११२७	१११६७	{ १११५२
१११४	१११८	१११३६	१११२८		{ १११७२
१११५	१११४५	१११३७	१११२९	१११६८	१११७३
१११६	१११४६	१११३८	१११३०	१११६९	१११७४
१११७	१११४७	१११३९	१११३१	१११७०	१११७५
१११८	१११४८	१११४०	१११३२	१११७१	×
१११९	१११४९	१११४१	१११३३	१११७२	{ १११६९
११११०	१११५०	१११४२	१११३४-३६	१११७३	{ १११७०
१११११	१११२७	१११४३	७११६	१११७४	१११७१
११११२	१११२८	१११४४	×	१११७५	१११७३
११११३	१११२९, ३०	१११४५	१११४५	१११७६	१११७१
११११४	१११३१	१११४६	१११४६	१११७७	१११७३
११११५	११११	१११४७	१११५०	१११७८	१११७४
११११६	१११२	१११४८	१११५१	१११७९	१११७५
११११७	१११३	१११४९	१११५२	१११८०	} १११७
११११८	१११४	१११५०	१११५३	१११८१	
११११९	१११५	१११५१	१११५४	१११८२	१११८
१११२०	१११११	१११५२	१११५५	१११८३	१११९
१११२१	११११२	} १११५३	} १११५६	१११८४	११११०
१११२२	११११४			१११८५	१११११
१११२३	११११५	१११५५	१११४७	१११८६	११११२
१११२४	११११६	१११५६	१११५६	१११८७	११११३
१११२५	११११७	१११५७	१११५७	१११८८	११११४
१११२६	११११८	१११५८	१११५८	१११८९	११११५
१११२७	१११२०	१११५९	१११५९	१११९०	११११६
१११२८	१११२६	१११६०	१११६६, ६७	१११९१	११११७
१११२९	×	१११६१	१११६०	१११९२	११११८, १९
१११३०	×	१११६२	१११६१	१११९३	११२२०
१११३१	१११४२	१११६३	१११६२	१११९४	११२२१
१११३२	१११४३	१११६४	१११६३	१११९५	११२२२, २३

१११९६	११२२४, २६
१११९७	११२२५
१११९८	११२५१
१११९९	११२६३
१११९००	×

अध्याय १ पाद २

११२१	११३१
११२२	×
११२३	११३२
११२४	११३१०
११२५	११३११
११२६	११३१२
११२७	११३१३
११२८	११३१४
११२९	११३१५
११३०	११३१६
११३१	११३१७
११३२	११३१८
११३३	११३१९
११३४	११३२०
११३५	११३२१
११३६ } ११३७ }	११३२२
११३८	११३२३
११३९	११३२४
११४०	११३२५
११४१	११३२६
११४२	११३२७
११४३	११३२८
११४४	११३२९
११४५	११३३०
११४६	११३३१
११४७	११३३२
११४८	११३३३
११४९	११३३४
११५०	११३३५
११५१	११३३६
११५२	११३३७
११५३	११३३८
११५४	११३३९
११५५	११३४०
११५६	११३४१
११५७	११३४२
११५८	११३४३
११५९	११३४४
११६०	११३४५
११६१	११३४६
११६२	११३४७
११६३	११३४८
११६४	११३४९
११६५	११३५०
११६६	११३५१
११६७	११३५२
११६८	११३५३
११६९	११३५४
११७०	११३५५
११७१	११३५६
११७२	११३५७
११७३	११३५८
११७४	११३५९
११७५	११३६०
११७६	११३६१
११७७	११३६२
११७८	११३६३
११७९	११३६४
११८०	×
११८१	११३६५
११८२	११३६६
११८३	११३६७
११८४	११३६८
११८५	११३६९
११८६	११३७०
११८७	११३७१
११८८	११३७२
११८९	११३७३
११९०	११३७४

११२३३	×
११२३४	११३३८
११२३५	११३३९
११२३६	११३४०
११२३७	११३४१
११२३८	११३४२
११२३९	११३४३
११२४०	११३४४
११२४१	११३४५
११२४२	११३४६
११२४३	११३४७
११२४४	११३४८
११२४५	११३४९
११२४६	११३५०
११२४७	११३५१
११२४८	११३५२
११२४९	११३५३
११२५०	११३५४
११२५१	११३५५
११२५२	११३५६
११२५३ } ११२५४ }	११३५७
११२५५	११३५८
११२५६	११३५९
११२५७	११३६०
११२५८	११३६१
११२५९	११३६२
११२६०	११३६३
११२६१	११३६४
११२६२	×
११२६३	११३६५
११२६४	११३६६
११२६५	११३६७
११२६६	११३६८
११२६७	११३६९
११२६८	११३७०
११२६९	११३७१
११२७०	११३७२
११२७१	११३७३
११२७२	११३७४

११२७१	११२७६
११२७२	११३७४
११२७३	११३८९
११२७४	११३७७
११२७५	११३७८
११२७६	११३७९
११२७७	११३८०
११२७८	११३८१
११२७९	११३८२
११२८०	११३८३
११२८१	११३८४
११२८२	११३८५
११२८३	११३८६
११२८४	११३८७
११२८५	११३८८
११२८६	११३९०
११२८७	११३९१
११२८८	११३९२
११२८९	११४९३
११२९०	११४९४
११२९१	×
११२९२	११४९५
११२९३	११४९६
११२९४ } ११२९५ }	११४९७
११२९६	११४९८
११२९७	११४९९
११२९८	११५००
११२९९	११५०१
११३००	११५०२
११३०१	११५०३
११३०२	११५०४
११३०३	११५०५
११३०४	११५०६
११३०५	११५०७
११३०६	११५०८
११३०७	११५०९
११३०८	११५१०
११३०९	११५११
११३१०	११५१२
११३११	११५१३
११३१२	११५१४
११३१३	११५१५
११३१४	११५१६
११३१५	११५१७
११३१६	११५१८
११३१७	११५१९

१।२।१०६	१।४।२३	१।२।१४७	१।४।७८	१।३।२५	२।१।२८
१।२।११०	१।४।२४	१।२।१४८	१।४।७९	१।३।२६	२।१।२९
१।२।१११	१।२।३२	१।२।१४९	१।४।८०	१।३।२७	२।१।३०
१।२।११२	१।४।३५	१।२।१५०	१।४।८१	१।३।२८	२।१।३१
१।२।११३	१।४।४४	१।२।१५१	१।४।१००	१।३।२९	२।१।३२
१।२।११४	१।४।४२	१।२।१५२	१।४।१०१	१।३।३०	२।१।३४, ३५
१।२।११५	१।४।४३	१।२।१५३	१।४।१०५, १०७, १०८	१।३।३१	२।१।३६
१।२।११६	१।४।४५	१।२।१५४	१।४।१०६	१।३।३२	२।१।३७
१।२।११७	१।४।४६	१।२।१५५	१।४।१०७	१।३।३३	२।१।३८
१।२।११८	१।४।४८	१।२।१५६	१।४।१०८	१।३।३४	२।१।३९
१।२।११९	१।४।४७	१।२।१५७	१।४।१०९	१।३।३५	२।१।४०
१।२।१२०	१।४।४९	१।२।१५८	×	१।३।३६	२।१।४१
१।२।१२१	१।४।५१	१।२।१५८	×	१।३।३७	२।१।४३
१।२।१२२ } १।२।१२३ }	१।४।५२	अध्याय १ पाद ३		१।३।३८	२।१।४४
१।२।१२४	१।४।५३	१।३।१	२।१।१	१।३।३९	२।१।४५
१।२।१२५	१।४।५४	१।३।२	२।१।३	१।३।४०	२।१।४६
१।२।१२६	१।४।५५	१।३।३	२।१।४	१।३।४१	२।१।४७
१।२।१२७	१।४।५६	१।३।४	२।१।५	१।३।४२	२।१।४२
१।२।१२८	१।४।५७	१।३।५	२।१।६	१।३।४३	२।१।४८
१।२।१२९	१।४।५८	१।३।६	२।१।७, ८	१।३।४४	२।१।४९
१।२।१३०	१।४।५९	१।३।७	२।१।९	१।३।४५	२।१।५०
१।२।१३१	१।४।६०	१।३।७	२।१।९	१।३।४६	२।१।५१
१।२।१३२	१।४।६१	१।३।८	२।१।१०	१।३।४७	२।१।५२
१।२।१३३	१।४।६२	१।३।९	२।१।११	१।३।४८	२।१।५३
१।२।१३४	१।४।६३	१।३।१०	२।१।१२	१।३।४९	२।१।५४
१।२।१३५	१।४।६४, ६५	१।३।११	२।१।१४	१।३।५०	२।१।५५
१।२।१३६	१।४।६६	१।३।१२	२।१।१५	१।३।५१	२।१।५६
१।२।१३७	१।४।६७, ६८	१।३।१३	२।१।१६	१।३।५२	२।१।५७
१।२।१३८	१।४।६९	१।३।१४	२।१।१७	१।३।५३	२।१।५८
१।२।१३९	१।४।७०	१।३।१५	२।१।१८	१।३।५४	२।१।५९
१।२।१४०	१।४।७१	१।३।१६	२।१।१९	१।३।५५	२।१।६०
१।२।१४१	१।४।७२	१।३।१७	२।१।२०	१।३।५६	२।१।६१
१।२।१४२	१।४।७३	१।३।१७	२।१।२०	१।३।५७	२।१।६२
१।२।१४३	१।४।७४	१।३।१८	२।१।२१	१।३।५८	२।१।६३
१।२।१४४	१।४।७५	१।३।१९	२।१।२२	१।३।५९	२।१।६४
१।२।१४५	१।४।७६	१।३।२० } १।३।२१ }	२।१।२४	१।३।६०	२।१।६५
१।२।१४६	१।४।७७	१।३।२२	२।१।२५	१।३।६१	२।१।७१
		१।३।२३	२।१।२६	१।३।६२	२।१।६६
		१।३।२४	२।१।२७		

१३३६३	२१३६७	१३३१०१	२१३३५	१३४३३	२३३२४
१३३६४	२१३६८	१३३१०२	२१३३६	१३४३४	२३३२५
१३३६५	२१३७०	१३३१०३	२१३३७	१३४३५	२३३२६
१३३६६	२१३७२	१३३१०४	२३३३८	१३४३६	२३३२७
१३३६७	२१३५	१३३१०५	×	१३४३७	२३३२८
१३३६८	२१३६	अध्याय १ पाद ४		१३४३८	२३३२९
१३३६९	२१३७	१३४१	२३३१	१३४३९	२३३३०
१३३७०	२१३८	१३४२	२३३२	१३४४०	२३३३१
१३३७१	×	१३४३	२३३४	१३४४१	२३३३२
१३३७२	२१३९	१३४४	२३३५	१३४४२	२३३३४
१३३७३	×	१३४५	२३३६	१३४४३	२३३३५
१३३७४	२१३१०	१३४६	२३३७	१३४४४	२३३३६
१३३७५	२१३११	१३४७	१३४६४	१३४४५	२३३३७
१३३७६	२१३१४	१३४८	१३४९५	१३४४६	२३३३८
१३३७७	२१३१५	१३४९	१३४६६	१३४४७	२३३३९
१३३७८		१३४१०	१३४६३	१३४४८	२३३४०
१३३७९	२१३१६	१३४११	×	१३४४९	२३३४१
१३३८०	२१३१७	१३४१२	×	१३४५०	२३३४२
१३३८१	२१३१८	१३४१३	×	१३४५१	२३३४३
१३३८२	२१३१९	१३४१४	×	१३४५२	२३३४४
१३३८३	२१३२०	१३४१५	×	१३४५३	२३३४५
१३३८४	२१३२१	१३४१६	×	१३४५४	२३३४६
१३३८५	२१३२२	१३४१७	×	१३४५५	२३३४८
१३३८६	२१३२४	१३४१८	२३३९	१३४५६	२३३४९
१३३८७	२१३२५	१३४१९		२३३१०	१३४५७
१३३८८	२१३२६	१३४२०	२३३११	१३४५८	२३३५१
१३३८९	२१३२७	१३४२१		१३४५९	२३३५२
१३३९०	२१३२८	१३४२२	२३३१२	१३४६०	२३३५३
१३३९१		१३४२३	२३३१३	१३४६१	२३३५४
१३३९२	२१३२९	१३४२४	२३३१४	१३४६२	२३३५५
१३३९३	१३४३३	१३४२५	२३३१५	१३४६३	२३३५६
१३३९४	१३४४४	१३४२६	२३३१६	१३४६४	२३३५७
१३३९५	×	१३४२७	२३३१७	१३४६५	२३३५८
२३३९६	२१३३१	१३४२८	२३३२२	१३४६६	२३३५९
१३३९७	२१३३०	१३४२९	२३३२८	१३४६७	२३३६४
१३३९८	२१३३२	१३४३०	२३३१९	१३४६८	२३३६५
१३३९९	२१३३३	१३४३१	२३३२०, २१	१३४६९	२३३६६
१३४००	२१३३४	१३४३२	२३३२३	१३४७०	२३३६७, ६८
				१३४७१	

१४७२	रा३६६	१४११०	रा४३६	१४१४७	रा४७८
१४७३ } १४७४ }	रा३७०	१४१११	{ रा४३७ रा४३८	१४१४८	रा४७९
१४७५	रा३७१	१४११२	रा४४०	१४१४९	रा४८१
१४७६	रा३७२	१४११३	रा४४१	१४१५० } १४१५१ }	रा४८२
१४७७	रा३७३	१४११४	रा४४२	१४१५२	रा४८३
१४७८	रा४१२	१४११५	रा४४३	१४१५३	रा४८४
१४७९	रा४३	१४११६	रा४४४	१४१५४	रा४८५
१४८०	रा४४	१४११७	रा४४५	अध्याय २ पाद १	
१४८१	रा४५	१४११८	रा४४६	रा१११	रा१११
१४८२	रा४६	१४११९	रा४४७	रा११२	रा११२
१४८३	रा४७	१४१२०	रा४४८	रा११३	रा११५
१४८४	रा४८	१४१२१	रा४४९	रा११४	रा११६
१४८५	रा४९	१४१२२	रा४५०	रा११५	रा११७
१४८६	रा४१०	१४१२३	रा४५१	रा११६	रा११८
१४८७	रा४११	१४१२४	रा४५२, पू३	रा११७	रा११९
१४८८	रा४१२	१४१२५	रा४५४	रा११८	रा११०
१४८९	रा४१३	१४१२६	X	रा११९	रा१११
१४९०	रा४१४	१४१२७	रा४५५	रा११०	रा११२
१४९१	रा४१५	१४१२८	रा४५६	रा१११	रा११३
१४९२	रा४१६	१४१२९	रा४५७	रा११२	रा११४
१४९३	रा४१७	१४१३०	रा४५८	रा११३	रा११६
१४९४	रा४१८	१४१३१	रा४५९	रा११४	{ रा११५ रा११७
१४९५	रा४१९	१४१३२	रा४६०, ६१	रा११५	रा११८
१४९६	रा४२०	१४१३३	रा४६२	रा११६	रा११९
१४९७	रा४२१	१४१३४	रा४६३	रा११७	रा१२०
१४९८	रा४२२	१४१३५	रा४६४	रा११८	रा१२१
१४९९	रा४२३	१४१३६	रा४६५	रा११९	रा१२२
१४१००	रा४२४	१४१३७	रा४६६	रा१२०	रा१२३
१४१०१	रा४२५	१४१३८	रा४६७	रा१२१	रा१२४
१४१०२	रा४२६	१४१३९	रा४६९	रा१२२	{ रा१२५ रा१२३ }
१४१०३	रा४२७	१४१४०	रा४६८	रा१२४	रा१२६
१४१०४ } १४१०५ }	रा४२९	१४१४१	रा४७०	रा१२५	रा१२७
१४१०६	X	१४१४२	रा४७१	रा१२६	रा१२८
१४१०७	रा४३०	१४१४३	रा४७२	रा१२७	रा१३१
१४१०८	रा४३१	१४१४४	रा४७४	रा१२८	{ रा१२९, रा१३० }
१४१०९	रा४३५	१४१४५	रा४७५		
		१४१४६	रा४७७		

रा०१३	रा०१	रा०४६	रा०५१	रा०८७	रा०१०४
	[वा०]	रा०५० }	रा०५२, ५३	रा०८८ }	{ रा०१०७,
रा०१४	रा०१	रा०५१ }		रा०८९ }	{ १०८
रा०१५	रा०१०	रा०५२	रा०५४	रा०९०	रा०१०९
रा०१६	रा०११	रा०५३	रा०५५	रा०९१	रा०११०
रा०१७	रा०१२	रा०५४ }	{ रा०५६	रा०९२	रा०१११
रा०१८	रा०१३	रा०५५ }	{ रा०५७	रा०९३	रा०११२,
रा०१९	रा०१४	रा०५६	रा०५८		११३
रा०२०	रा०१५	रा०५७	रा०५९	रा०९४	रा०११४
रा०२१	रा०१६	रा०५८	रा०६०	रा०९५	रा०११५
रा०२२	रा०१७	रा०५९	रा०६१	रा०९६	रा०११६
रा०२३	रा०१८	रा०६०	रा०६२	रा०९७	रा०११७
रा०२४	रा०१९	रा०६१	रा०६३	रा०९८	रा०११८
रा०२५	रा०२०	रा०६२	रा०६४	रा०९९ }	{ रा०११९
रा०२६	रा०२१	रा०६३	रा०६५	रा०१०० }	{ रा०१२०
रा०२७	रा०२२	रा०६४	रा०६६	रा०१०१	रा०१२१
रा०२८	×	रा०६५	रा०६७	रा०१०२	रा०१२२
रा०२९	रा०२४	रा०६६	रा०६८	रा०१०३	रा०१२५
रा०३०	रा०२५	रा०६७	रा०६९	रा०१०४	रा०१२६
रा०३१	रा०२६	रा०६८	रा०७०	रा०१०५	रा०१२७
रा०३२	रा०२८	रा०६९	रा०७१	रा०१०६	रा०१२८
रा०३३	{ रा०२९	रा०७०	रा०७२	रा०१०७	रा०१२९
	{ रा०३०	रा०७१	रा०७३	रा०१०८	रा०१३०
रा०३४	रा०३१	रा०७२	रा०७४	रा०१०९	रा०१३१
रा०३५	रा०३२	रा०७३	रा०७५	रा०११०	रा०१३२
रा०३६	रा०३३, ३४	रा०७४	रा०७६	रा०१११	रा०१३३
रा०३७	रा०३५	रा०७५	रा०७७	रा०११२	रा०१३४
रा०३८	रा०३६, ३७	रा०७६	रा०७९	रा०११३	रा०१३५
रा०३९	रा०३८	रा०७७	रा०८०	रा०११४	रा०१३६
रा०४०	रा०४२	रा०७८	रा०८१	रा०११५	रा०१३८,
रा०४१	रा०४३	रा०७९	रा०८२		१३९
रा०४२	रा०४४	रा०८०	रा०८३	रा०११६	रा०१४०
रा०४३	रा०४५	रा०८१	रा०८४	रा०११७	रा०१४१
रा०४४	रा०४६	रा०८२	रा०८५	रा०११८ }	{ रा०१४२
रा०४५	रा०४७	रा०८३	रा०८६	रा०११९ }	{ रा०१४३
रा०४६	रा०४८	रा०८४	रा०८७	रा०१२०	रा०१४४
रा०४७	रा०४९	रा०८५	रा०१०२	रा०१२१	रा०१४५
रा०४८	रा०५०	रा०८६	रा०१०३	रा०१२२	रा०१४६

रा३३६८	रा३३६५	रा३३१०२	रा३३१२१	रा३३१४०	रा३३१६४
रा३३६९	रा३३६८, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७	रा३३१०३	रा३३१२२	रा३३१४१	रा३३१६५
रा३३७०	रा३३६८	रा३३१०४	रा३३१२६	रा३३१४२	रा३३१६६
रा३३७१	रा३३६९	रा३३१०५	रा३३१२७	रा३३१४३	रा३३१६७
रा३३७२	रा३३६०, ६१	रा३३१०६	रा३३१२८	रा३३१४४	रा३३१६८
रा३३७३	रा३३६२	रा३३१०७	रा३३१३१	रा३३१४५	रा३३१६९
रा३३७४	रा३३६३	रा३३१०८	रा३३१३२	रा३३१४६	रा३३१७०
रा३३७५	रा३३६४	रा३३१०९	रा३३१३३	रा३३१४७	रा३३१७१
रा३३७६	} रा३३४२	रा३३११०	रा३३१३४	रा३३१४८	रा३३१७२
रा३३७७		रा३३१११	रा३३१३५	रा३३१४९	रा३३१७३
रा३३७८	रा३३९७	रा३३११२	रा३३१३६	रा३३१५०	रा३३१७४
रा३३७९	रा३३९५	रा३३११३	रा३३१३७	रा३३१५१	रा३३१७५
रा३३८०	रा३३९८	रा३३११४	रा३३१३८	रा३३१५२	रा३३१७६
रा३३८१	रा३३९९	रा३३११५	रा३३१३९	रा३३१५३	रा३३१७७
रा३३८२	रा३३१००	रा३३११६	रा३३१४०	रा३३१५४	रा३३१७८
रा३३८३	रा३३१०१	रा३३११७	रा३३१४१	रा३३१५५	रा३३१७९
रा३३८४	रा३३१०२	रा३३११८	रा३३१४२	रा३३१५६	रा३३१८०
रा३३८५	रा३३१०३	रा३३११९	रा३३१४३	रा३३१५७	रा३३१८१
रा३३८६	रा३३१०४	रा३३१२०	रा३३१४४	रा३३१५८	रा३३१८२
रा३३८७	रा३३१०५	रा३३१२१	रा३३१४५	रा३३१५९	रा३३१८३
रा३३८८	रा३३१०६	रा३३१२२	रा३३१४६	रा३३१६०	रा३३१८४
रा३३८९	रा३३१०७	रा३३१२३	रा३३१४७	रा३३१६१	रा३३१८५
रा३३९०	रा३३१०८	रा३३१२४	रा३३१४८	रा३३१६२	रा३३१८६
रा३३९१	रा३३१०९	रा३३१२५	रा३३१४९	रा३३१६३	रा३३१८७
रा३३९२	रा३३११०	रा३३१२६	रा३३१५०	रा३३१६४	रा३३१८८
रा३३९३	रा३३१११	रा३३१२७	रा३३१५१	रा३३१६५	रा३३१८९
रा३३९४	रा३३११२	रा३३१२८	रा३३१५२	रा३३१६६	रा३३१९०
रा३३९५	रा३३११३	रा३३१२९	रा३३१५३	रा३३१६७	रा३३१९१
रा३३९६	×	रा३३१३०	रा३३१५४	रा३३१६८	रा३३१९२
रा३३९७	रा३३११५	रा३३१३१	रा३३१५५	रा३३१६९	रा३३१९३
रा३३९८	रा३३११६	रा३३१३२	रा३३१५६	रा३३१७०	रा३३१९४
रा३३९९	रा३३११७	रा३३१३३	रा३३१५७	रा३३१७१	रा३३१९५
रा३३१००	रा३३११८	रा३३१३४	रा३३१५८	रा३३१७२	रा३३१९६
रा३३१०१	रा३३११९	रा३३१३५	रा३३१५९	रा३३१७३	रा३३१९७
		रा३३१३६	रा३३१६०	रा३३१७४	रा३३१९८
		रा३३१३७	रा३३१६१	रा३३१७५	रा३३१९९
		रा३३१३८	रा३३१६२	रा३३१७६	रा३३२००
		रा३३१३९	रा३३१६३	रा३३१७७	रा३३२०१

अध्याय २ पाद ४

३११४१	४११३८	३११७६	४११६३	३११११६	४१११२७
३११४२	४११४६	३११८०	४११६४	३११११७	४१११२८
३११४३	४११५०	३११८१	४११६३	३११११८	४१११३०
३११४४	४११५१	३११८२	४११६४	३११११९	४१११२९
३११४५	४११५२	३११८३	४११६५	३१११२०	४१११३१
३११४६	४११५३	३११८४	४११६६, १६७	३१११२१	४१११३२, १३४
३११४७	४११५४				
३११४८	४११५५	३११८५	४११६५, ९६	३१११२२	४१११३३
३११४९	४११५६	३११८६	४११९७	३१११२३	४१११३५
३११५०	४११५७	३११८७	४११६८	३१११२४	४१११३६
३११५१	४११५८	३११८८	४११९९	३१११२५	४१११३८
३११५२	४११६२	३११८९	४१११००	३१११२६	४१११३७
३११५३	४११६३	३११९०	४१११०१	३१११२७	४१११४०
३११५४	४११६४	३११९१	४१११०२	३१११२८	} ४१११३९
३११५५	४११६५	३११९२	४१११०३	३१११२९	
३११५६	४११६६	३११९३	४१११०४	३१११३०	४१११४१
३११५७	४११६८	३११९४	४१११०५	३१११३१	४१११४२
३११५८	४११६९	३११९५	४१११०६	३१११३२	४१११४३
३११५९	४११७०	३११९६	४१११०७	३१११३३	४१११४४
३११६०	४११६७, ७१	३११९७	४१११०८	३१११३४	४१११४६
३११६१	४११७६	३११९८	४१११०९	३१११३५	४१११४७
३११६२	४११७७	३११९९	४११११०	३१११३६	४१११४८
३११६३	४११७८	३११२००	४१११११	३१११३७	४१११४९
३११६४	४११७९	३११२०१	४११११२	३१११३८	४१११५०
३११६५	४११८०	३११२०२	४११११३	३१११३९	४१११५१
३११६६	४११८१	३११२०३	४११११४	३१११४०	४१११५२, १५३
३११६७	४११८२	३११२०४	४११११५		
३११६८	४११८३	३११२०५	४११११६	३१११४१	४१११५४
३११६९	४११८४	३११२०६	४११११७	३१११४२	४१११५५
३११७०	४११८५	३११२०७	४११११८	३१११४३	४१११५६
३११७१	४११८६	३११२०८	४११११९	३१११४४	४१११५७
३११७२	४११८७	३११२०९	४१११२०	३१११४५	४१११५८
३११७३	४११८९	३११२१०	४१११२१	३१११४६	४१११५९
३११७४	४११८८	३११२११	४१११२२	३१११४७	४१११६०
३११७५	४११९०	३११२१२	४१११२३	३१११४८	४१११६१
३११७६	४११९१	३११२१३	४१११२४	३१११४९	४१११७४
३११७७	४११९२	३११२१४	४१११२५	३१११५०	४१११६८
३११७८	४११९३	३११२१५	४१११२६	३१११५१	४१११६९

		अध्याय ३ पाद ३			
शारा१०५	४ारा१२७	शारा१	४ारा२५	शारा३९	४ारा६३
शारा१०६	४ारा१२८	शारा२	४ारा२६	शारा४०	४ारा६४
शारा१०७	४ारा१२९	शारा३	४ारा२७	शारा४१	४ारा६५
शारा१०८	४ारा१३०	शारा४	४ारा२८	शारा४२	४ारा६६
शारा१०९	४ारा१३१	शारा५		शारा४३	४ारा६७
शारा११०	४ारा१३२	शारा६	४ारा२९	शारा४४	४ारा७२
शारा१११	४ारा१३३	शारा७	४ारा३०	शारा४५	४ारा७०
शारा११२	४ारा१३४	शारा८	४ारा३४	शारा४६	४ारा७१
शारा११३	४ारा१३५, १३६	शारा९		शारा४७	४ारा७३
शारा११४	४ारा१३७, १३८	शारा१०	४ारा३५	शारा४८	४ारा७४
शारा११५	४ारा१३९	शारा११		शारा४९	४ारा७५
शारा११६	४ारा१४०	शारा१२	४ारा३६	शारा५०	४ारा७६
शारा११७	४ारा१४१	शारा१३	४ारा३७	शारा५१	४ारा७७
शारा११८	४ारा१४२	शारा१४	४ारा३८	शारा५२	४ारा७८
शारा११९	४ारा१४३	शारा१५		शारा५३	४ारा७९
शारा१२०	४ारा१४४	शारा१६	४ारा३९	शारा५४	४ारा८०
शारा१२१	४ारा१	शारा१७	×	शारा५५	४ारा८१
शारा१२२	४ारा२	शारा१८	४ारा४३	शारा५६	४ारा८२
शारा१२३	४ारा३	शारा१९	४ारा४४	शारा५७	४ारा८३
शारा१२४	४ारा४	शारा२०	४ारा४५	शारा५८	४ारा८४
शारा१२५	४ारा५	शारा२१	४ारा४६	शारा५९	४ारा८५
शारा१२६	४ारा६	शारा२२	४ारा४७	शारा६०	४ारा८६
शारा१२७	४ारा७	शारा२३	४ारा४८	शारा६१	४ारा८७
शारा१२८	४ारा८	शारा२४	४ारा४९	शारा६२	४ारा८८
शारा१२९	४ारा९	शारा२५	४ारा५०	शारा६३	४ारा८९
शारा१३०	४ारा१०	शारा२६	४ारा५१	शारा६४	४ारा९०
शारा१३१	४ारा११	शारा२७	४ारा५२	शारा६५	४ारा९१
शारा१३२	४ारा१२	शारा२८	४ारा५३	शारा६६	४ारा९२
शारा१३३	४ारा१३	शारा२९	४ारा५४	शारा६७	४ारा९३
शारा१३४	४ारा१४	शारा३०	४ारा५५	शारा६८	४ारा९४
शारा१३५	४ारा१५	शारा३१	४ारा५६	शारा६९	
शारा१३६	४ारा१६	शारा३२	४ारा५७	शारा७०	४ारा९५
शारा१३७	४ारा१७	शारा३३	४ारा५८	शारा७१	४ारा९६
शारा१३८	४ारा१८	शारा३४	४ारा५९	शारा७२	४ारा९७
शारा१३९	४ारा१९	शारा३५	४ारा६०	शारा७३	४ारा९८
शारा१४०	४ारा२०	शारा३६	×	शारा७४	४ारा९९
		शारा३७	४ारा६१	शारा७५	४ारा१००
		शारा३८	४ारा६२	शारा७६	४ारा१०१

श३३७७	४३३१०६	श३३११४	४३३१५६	श३३१५२	४३३२९
श३३७८	४३३१०२	श३३११५	४३३१५६	श३३१५३	४३३३०
श३३७९	४३३१०८	श३३११६	४३३१५७	श३३१५४	४३३३१
श३३८०	४३३१०९	श३३११७	४३३१५८	श३३१५५	४३३३२, ३३
श३३८१	४३३११२	श३३११८	४३३१६०	श३३१५६	४३३३४
श३३८२	४३३११३	श३३११९	४३३१६१	श३३१५७	४३३३५
श३३८३	४३३११४	श३३१२०	४३३१६२	श३३१५८	४३३३६
श३३८४	४३३११५	श३३१२१	४३३१६३	श३३१५९	४३३३७, ३८
श३३८५	४३३११६	श३३१२२	४३३१६४	श३३१६०	४३३३९
श३३८६	४३३११७	श३३१२३	४३३१६५	श३३१६१	४३३४०
श३३८७	४३३११८	श३३१२४	४३३१६७	श३३१६२	४३३४१
श३३८८	४३३१२०	श३३१२५	४३३१६८	श३३१६३	४३३४२
श३३८९	४३३१२१	श३३१२६	४३३१	श३३१६४	४३३४३
श३३९०	४३३१२२	श३३१२७	४३३२	श३३१६५	४३३४४
श३३९१	४३३१२३	श३३१२८	४३३३	श३३१६६	४३३४५
श३३९२	४३३१२४	श३३१२९	४३३४	श३३१६७	४३३४६
श३३९३	४३३१२५	श३३१३०	४३३५	श३३१६८	४३३४७
श३३९४	४३३१२६	श३३१३१	४३३७	श३३१६९	४३३४८, ४९
श३३९५	४३३१२७	श३३१३२	४३३८	श३३१७०	४३३५०
श३३९६	४३३१२८	श३३१३३	४३३९	श३३१७१	४३३५१
श३३९७	४३३१२९	श३३१३४	४३३११	श३३१७२	४३३५३
श३३९८	४३३१३०	श३३१३५	४३३१२	श३३१७३	४३३५४
श३३९९	४३३१३१	श३३१३६	४३३१३	श३३१७४	४३३५५
श३३१००	४३३१३२	श३३१३७	४३३१४	श३३१७५	४३३५६
श३३१०१	४३३१३३	श३३१३८	४३३१५	श३३१७६	४३३५७
श३३१०२	४३३१३४	श३३१३९	४३३१६	श३३१७७	४३३५९
श३३१०३	४३३१३५	श३३१४०	४३३१७	श३३१७८	४३३६०
श३३१०४	४३३१३५	श३३१४१	४३३१८	श३३१७९	४३३६१
श३३१०५	४३३१३५	श३३१४२	४३३१९	श३३१८०	४३३६२
श३३१०६	४३३१३८	श३३१४३	४३३२० वा०	श३३१८१	४३३६३
श३३१०७	४३३१४२	श३३१४४	४३३२०	श३३१८२	४३३६४
श३३१०८	४३३१४३	श३३१४५		श३३१८३	४३३६५
श३३१०९	४३३१४४	श३३१४६	४३३२१	श३३१८४	४३३६६
श३३११०	४३३१४६	श३३१४७	४३३२२	श३३१८५	४३३६८
श३३१११	४३३१४७	श३३१४८	४३३२५	श३३१८६	४३३६९
श३३११२	४३३१४८	श३३१४९	४३३२६	श३३१८७	४३३७०
श३३११३	४३३१४५, १४८	श३३१५०	४३३२७	श३३१८८	४३३७१
		श३३१५१	४३३२८	श३३१८९	४३३७२

४११३१	प्रा११०४	४११६८	प्रा३१२	४१११०७	प्रा३१४४
४११३२	प्रा११०५	४११६९	प्रा३१३	४१११०८	प्रा३१४५
४११३३	प्रा११०७	४११७०	प्रा३१४	४१११०९	प्रा३१४६
४११३४	प्रा११०८	४११७१ } ४११७२ }	प्रा३१५	४११११०	प्रा३१४७
४११३५	प्रा११०९	४११७३	प्रा३१७	४१११११	प्रा३१५०
४११३६	प्रा१११०	४११७४	प्रा३१८	४११११२	प्रा३१५१
४११३७	प्रा११११	४११७५	प्रा३१९	४११११३	प्रा३१५२
४११३८	प्रा१११२	४११७६	प्रा३१९	४११११४	प्रा३१५५
४११३९	प्रा१११३	४११७७	प्रा३१९	४११११५	प्रा३१५६
४११४०	प्रा१११४	४११७८	प्रा३१९	४११११६	प्रा३१५७
४११४१	प्रा१११५	४११७९	प्रा३१९	४११११७	X
४११४२	प्रा१११६	४११८०	प्रा३१९	४११११८	प्रा३१५८
४११४३	प्रा१११७	४११८१	प्रा३१९	४११११९	प्रा३१६०
४११४४	प्रा१११८	४११८२	प्रा३१९	४१११२०	प्रा३१६१
४११४५	प्रा१११९	४११८३	प्रा३१९	४१११२१	प्रा३१६२
४११४६	प्रा११२०	४११८४	प्रा३१९	४१११२२	प्रा३१६३
४११४७	प्रा११२१	४११८५	प्रा३१९	४१११२३	प्रा३१६४
४११४८	प्रा११२२	४११८६	प्रा३१९	४१११२४	प्रा३१६५
४११४९	प्रा११२३	४११८७ } ४११८८ }	प्रा३१९	४१११२५	प्रा३१६६
४११५०	प्रा११२४	४११८९	प्रा३१९	४१११२६	प्रा३१६७
४११५१	प्रा११२५	४११९०	प्रा३१९	४१११२७	प्रा३१६८
४११५२	प्रा११२६	४११९१	प्रा३१९	४१११२८	प्रा३१६९
४११५३	प्रा११२७	४११९२ } ४११९३ }	प्रा३१९	४१११२९	प्रा३१७०
४११५४	प्रा११२८	४११९४	प्रा३१९	४१११३०	प्रा३१७१, ७२
४११५५	प्रा११२९	४११९५	प्रा३१९	४१११३१	प्रा३१७३, ७४
४११५६	प्रा११३०	४११९६	प्रा३१९	४१११३२	प्रा३१७६
४११५७	प्रा११३१	४११९७	प्रा३१९	४१११३३	प्रा३१७७
४११५८	प्रा११३२	४११९८	प्रा३१९	४१११३४	प्रा३१७८
४११५९	प्रा११३३	४११९९	प्रा३१९	४१११३५	प्रा३१७९
४११६० } ४११६१ }	प्रा११३४	४१२००	प्रा३१९	४१११३६	प्रा३१८०
४११६२	प्रा११३५, १२३	४१२०१	प्रा३१९	४१११३७	प्रा३१८१
४११६३	प्रा११३६	४१२०२	प्रा३१९	४१११३८	प्रा३१८२
४११६४	प्रा११३७	४१२०३	प्रा३१९	४१११३९	प्रा३१८३
४११६५	प्रा११३८	४१२०४	प्रा३१९	४१११४०	प्रा३१८४
४११६६	प्रा११३९	४१२०५	प्रा३१९	४१११४१	प्रा३१८५
४११६७	प्रा११४०	४१२०६	प्रा३१९	४१११४२	प्रा३१८६
				४१११४३	प्रा३१८७
				४१११४४	प्रा३१८९

४१११४५	प्रा३१६०	४१११८	प्रा४१६	४११५६	प्रा४१५१
४१११४६	प्रा३१६१	४१११९	प्रा४१७	४११५७	प्रा४१५२
४१११४७	प्रा३१६२	४११२०	प्रा४१११	४११५८	प्रा४१५३
४१११४८	प्रा३१६३	४११२१	प्रा४११५	४११५९	प्रा४१५४
४१११४९	प्रा३१६४	४११२२	प्रा४११४	४११६०	प्रा४१५५
४१११५०	प्रा३१६६	४११२३	प्रा४११६	४११६१	प्रा४१५७
४१११५१	प्रा३१६७	४११२४	प्रा४११७	४११६२	प्रा४१५८
४१११५२	प्रा३१६८	४११२५	प्रा४११८	४११६३	प्रा४१५९
४१११५३	प्रा३१६९	४११२६	प्रा४११९	४११६४	प्रा४१६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६६, ६७,
४१११५४	प्रा३१७०	४११२७	प्रा४१२०		
४१११५५	प्रा३१७१	४११२८	प्रा४१२१		
४१११५६	प्रा३१७२	४११२९	प्रा४१२२	४११६५	प्रा४१६८
४१११५७	प्रा३१७३	४११३०	प्रा४१२३	४११६६	प्रा४१६९, ७०
४१११५८	प्रा३१७४	४११३१	प्रा४१२४	४११६७	प्रा४१७१
४१११५९	प्रा३१७५	४११३२	प्रा४१२५	४११६८	प्रा४१७२
४१११६०	प्रा३१७६	४११३३	प्रा४१२६	४११६९	प्रा४१७३
४१११६१	प्रा३१७७	४११३४	प्रा४१२७	४११७०	प्रा४१७४
४१११६२	प्रा३१७८	४११३५	प्रा४१२८, २९	४११७१	प्रा४१७५
४१११६३	प्रा३१७९	४११३६	प्रा४१३०	४११७२	प्रा४१७६
४१११६४	प्रा३१८०	४११३७	प्रा४१३१	४११७३	
		४११३८	प्रा४१३२	४११७४	
		४११३९	प्रा४१३३	४११७५	प्रा४१७७
		४११४०	प्रा४१३४	४११७६	
		४११४१	प्रा४१३५	४११७७	
		४११४२	प्रा४१३६	४११७८	
		४११४३	प्रा४१३७	४११७९	
		४११४४	प्रा४१३८	४११८०	प्रा४१७८
		४११४५	प्रा४१३९	४११८१	प्रा४१७९
४११७ } ४११८ }	प्रा३१११८	४११४६	प्रा४१४०	४११८२ } ४११८३ }	प्रा४१८०
४११९	प्रा३१११९	४११४७	प्रा४१४२	४११८४	प्रा४१८१
४१११०	प्रा४११, २	४११४८	प्रा४१४३	४११८५	प्रा४१८२
४११११	प्रा४१३	४११४९	प्रा४१४४	४११८६	४११८३, ८४
४१११२	प्रा४१४	४११५०	प्रा४१४५	४११८७	प्रा४१८५
४१११३	प्रा४१५	४११५१	प्रा४१४६	४११८८	प्रा४१८६
४१११४	प्रा४१६	४११५२	प्रा४१४७	४११८९	प्रा४१८७
४१११५ } ४१११६ }	प्रा४१७	४११५३	प्रा४१४८	४११९०	प्रा४१८८
४१११७	प्रा४१८	४११५४	प्रा४१४९	४११९१	प्रा४१८९
		४११५५	प्रा४१५०	४११९२	प्रा४१९०

४रा१६३	प्रा४१६१	४रा१३०	प्रा४१२६	४रा३	दा११९
४रा१६४	प्रा४१६२	४रा१३१	प्रा४१३०	४रा६	दा११३
४रा१६५	प्रा४१६३	४रा१३२	प्रा४१३१	४रा१०	दा११४
४रा१६६	प्रा४१६४	४रा१३३	प्रा४१३२	४रा११	दा११५
४रा१६७	प्रा४१६५	४रा१३४	प्रा४१३३	४रा१२	दा११६
४रा१६८	प्रा४१६६	४रा१३५	प्रा४१३४	४रा१३	दा११७
४रा१९६ } ४रा१९०० }	प्रा४१६७	प्रा११३६	प्रा४१३५	४रा१४	दा११८
४रा१९१	प्रा४१६८	४रा१३७	प्रा४१३६	४रा१५	दा११९
४रा१९२	प्रा४१६९	४रा१३८	प्रा४१३७	४रा१६	दा१२१
४रा१९३	प्रा४१९०	४रा१३९	प्रा४१३८	४रा१७	दा१२२
४रा१९४	प्रा४१९१	४रा१४०	प्रा४१४०	४रा१८	दा१२३
४रा१९५	प्रा४१९२	४रा१४१	प्रा४१३९	४रा१९	दा१२४
४रा१९६	प्रा४१९४	४रा१४२	प्रा४१४१	४रा२०	दा१२५
४रा१९७	प्रा४१९५	४रा१४३	प्रा४१४३	४रा२१	दा१२६
४रा१९८	प्रा४१९६	४रा१४४	प्रा४१४४	४रा२२	दा१२७
४रा१९९	प्रा४१९७	४रा१४५	प्रा४१४५	४रा२३ } ४रा२४ } ४रा२५ }	दा१२८
४रा१९९ } ४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९७	४रा१४६	प्रा४१४६	४रा२६	दा१२९
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९८	४रा१४७	प्रा४१४७	४रा२७	दा१३०
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९०, १९१, १९२	४रा१४८	प्रा४१४८	४रा२८	दा१३१
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९०	४रा१४९	प्रा४१४९	४रा२९	दा१३२
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९३	४रा१५०	प्रा४१५०	४रा३०	दा१३३
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९४	४रा१५१	प्रा४१५१	४रा३१	दा१३४
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९५	४रा१५२	प्रा४१५२	४रा३२	दा१३५
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९६	४रा१५३	प्रा४१५३	४रा३३	दा१३६
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९६	४रा१५४	प्रा४१५४	४रा३४	दा१३७
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९७	४रा१५५	प्रा४१५५	४रा३५	दा१३८
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९७	४रा१५६	प्रा४१५६	४रा३६	दा१३९
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९८	४रा१५७	प्रा४१५७	४रा३७	दा१४१
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९९	४रा१५८	प्रा४१५८	४रा३८	दा१४२
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९९	४रा१५९	प्रा४१५९	४रा३९	दा१४३
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९०	४रा१६०	प्रा४१६०	४रा४०	दा१४४
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९३	अध्याय ४ पाठ ३		४रा४१	दा१४५
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९४	४रा३१	दा१११	४रा४२	दा१४६
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९४	४रा३२	दा११२	४रा४३	दा१४७
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९४	४रा३३	दा११३	४रा४४	दा१४८
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९५	४रा३४	दा११५	४रा४५	दा१४९
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९६	४रा३५	दा११६	४रा४६	दा१५०
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९७	४रा३६	दा११४	४रा४७	दा१५१
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९८	४रा३७	दा११८	४रा४८	दा१५२
४रा१९९ } ४रा१९९ }	प्रा४१९८			४रा४९	दा१५३

४३।४६	दा१।५४	४३।८४	दा१।९७	४३।११७	१५६, १५७
४३।४७	दा१।५५	४३।८५	दा१।९८	X	
४३।४८	दा१।५६	४३।८६	दा१।९९	४३।११८	२।४।३२
४३।४९	७।३।४०	४३।८७	दा१।१००	४३।११९	२।४।३४
४३।५०	दा१।५७	४३।८८	दा१।१०१	४३।१२०	दा३।१
४३।५१	दा१।५८	४३।८९	} दा१।१०२	४३।१२१	दा३।२
४३।५२	दा१।५९	४३।९०		४३।१२२	दा३।३
४३।५३	दा१।६४	४३।९१	दा१।१०३	४३।१२३	दा३।४
४३।५४	दा१।६५	४३।९२	दा१।१०४	४३।१२४	दा३।५
४३।५५	दा१।६६	४३।९३	दा१।१०५	४३।१२५	दा३।६
४३।५६	दा१।६८	४३।९४	दा१।१०७	४३।१२६	दा३।७, ८
४३।५७	} दा१।६९	४३।९५	दा१।१०८	४३।१२७	दा३।९
४३।५८		४३।९६	दा१।१०९	४३।१२८	} दा३।१०
४३।५९	दा१।७१	४३।९७	दा१।११०	४३।१२९	
४३।६०	दा१।७२	४३।९८	दा१।१११	४३।१३०	दा३।१२
४३।६१	दा१।७३	४३।९९	दा१।११२	४३।१३१	दा३।१२
४३।६२	दा१।७४	४३।१००	दा१।११३, ११४	४३।१३२	दा३।१४
४३।६३	दा१।७५	४३।१०१	दा१।१२४	४३।१३३	दा३।१७
४३।६४	दा१।७६	४३।१०२	दा१।१२३	४३।१३४	दा३।२१
४३।६५	दा१।७७	४३।१०३	दा१।१२५	४३।१३५	दा३।२२
४३।६६	दा१।७८	४३।१०४	दा१।१२७	४३।१३६	दा३।२३
४३।६७	दा१।७९	४३।१०५	दा१।१२८	४३।१३७	दा३।२४
४३।६८	} दा१।८१	४३।१०६	दा१।१२९	४३।१३८	दा३।२५
४३।६९		४३।१०७	दा१।१३०	४३।१३९	दा३।२६
४३।७०	दा१।८०	४३।१०८	दा१।१३१	४३।१४०	दा३।२७
४३।७१	दा१।८२	४३।१०९	दा१।१३२	४३।१४१	दा३।२८
४३।७२	दा१।८४	४३।११०	दा१।१३७	४३।१४२	दा३।२९
४३।७३	दा१।८५	३।३।१११	दा१।१३८	४३।१४३	दा३।३०
४३।७४	दा१।८६	४३।११२	दा१।१३९	४३।१४४	दा३।३१
४३।७५	दा१।८७	४३।११३	दा१।१४०	४३।१४५	दा३।३२
४३।७६	दा१।८८	४३।११४	दा१।१४१	४३।१४६	दा३।३४
४३।७७	दा१।८९	४३।११५	दा१।१४२	४३।१४७	दा३।३५
४३।७८	दा१।९०	४३।११६	दा१।१४३,	४३।१४८	दा३।३६
४३।७९	दा१।९१		१४४, १४५,	४३।१४९	दा३।३७
४३।८०	दा१।९२		१४६, १४७,	४३।१५०	दा३।३८
४३।८१	दा१।९४		१४८, १४९,	४३।१५१	दा३।३९
४३।८२	दा१।९५		१५०, १५२,	४३।१५२	दा३।४०
४३।८३	दा१।९६		१५३, १५४,	४३।१५३	दा३।४१

४४३२ ६४३३
 ४४३३ } ६४३४
 ४४३४ }
 ४४३५ ६४३५
 ४४३६ ६४३६
 ४४३७ ६४३७
 ४४३८ } ६४३८
 ४४३९ }
 ४४४० ६४३९
 ४४४१ ६४४०
 ४४४२ ६४४१
 ४४४३ } ६४४२
 ४४४४ }
 ४४४५ ६४४३
 ४४४६ ६४४४
 ४४४७ ६४४५
 ४४४८ ६४४६
 ४४४९ ६४४७
 ४४५० ६४४८
 ४४५१ ६४४९
 ४४५२ ६४५०
 ४४५३ ६४५१
 ४४५४ ६४५२
 ४४५५ ६४५३
 ४४५६ ६४५४
 ४४५७ ६४५५
 ४४५८ ६४५६
 ४४५९ ६४५७
 ४४६० ६४६०
 ४४६१ ६४६१
 ४४६२ ६४६२
 ४४६३ ६४६४
 ४४६४ ६४६५
 ४४६५ ६४६६
 ४४६६ ६४६७
 ४४६७ ६४६८
 ४४६८ ६४६९
 ४४६९ ६४७०

४४७० ६४७१
 ४४७१ ६४७४
 ४४७२ ६४७७
 ४४७३ ६४७८
 ४४७४ ६४७९
 ४४७५ ६४८०
 ४४७६ ×
 ४४७७ ६४८१
 ४४७८ ६४८२
 ४४७९ ६४८३
 ४४८० ६४८४
 ४४८१ ६४८८
 ४४८२ ६४८७
 ४४८३ ६४८९
 ४४८४ ६४९०
 ४४८५ ६४९१
 ४४८६ ६४९२, ९३
 ४४८७ } ६४९४
 ४४८८ }
 ४४८९ ६४९५
 ४४९० } ६४९६
 ४४९१ }
 ४४९२ ६४९७
 ४४९३ ६४९८
 ४४९४ ६४१०१
 ४४९५ ६४१०४
 ४४९६ ६४१०५
 ४४९७ ६४१०६
 ४४९८ ६४१०७
 ४४९९ ६४१०८,
 १०९
 ४४१०० ६४११०
 ४४१०१ ६४१११
 ४४१०२ ६४११२
 ४४१०३ ६४११३
 ४४१०४ ६४११४
 ४४१०५ ६४११५
 ४४१०६ ६४११६

४४१०७ ६४११७
 ४४१०८ ६४११८
 ४४१०९ ६४११९
 ४४११० ६४१२०
 ४४१११ ६४१२१
 ४४११२ } ६४१२२
 ४४११३ }
 ४४११४ ६४१२३
 ४४११५ ६४१२४
 ४४११६ ६४१२५
 ४४११७ ६४१२६
 ४४११८ ६४१२९
 ४४११९ ६४१३०
 ४४१२० ६४१३१
 ४४१२१ ६४१३३
 ४४१२२ ६४१३४,
 १३७
 ४४१२३ ६४१३५
 ४४१२४ ६४१३६
 ४४१२५ ६४१३८
 ४४१२६ ६४१३९
 ४४१२७ ६४१४०
 ४४१२८ ६४१४२
 ४४१२९ ६४१४३
 ४४१३० ६४१४४
 ४४१३१ ६४१४४ वा०
 ४४१३२ ६४१४४ वा०
 ४४१३३ ६४१४५
 ४४१३४ } ६४१४७
 ४४१३५ }
 ४४१३६ ६४१४८
 ४४१३७ } ६४१४९
 ४४१३८ }
 ४४१३९ }
 ४४१४० ६४१५०
 ४४१४१ ६४१५१,
 १५२
 ४४१४२ ६४१४९ वा०
 ४४१४३ ६४१५३

प्रा०२६	७३२४	प्रा०६७	७३६७	प्रा०१०४	७३१०६
प्रा०३० } प्रा०३१ }	७३२५	प्रा०६८	७३६९, ६२ ६४, ६८	प्रा०१०५	७३११०
प्रा०३२	७३२६, २७	प्रा०६९	७३७२	प्रा०१०६	७३१११
प्रा०३३	७३२८, २९	प्रा०७०	७३७३	प्रा०१०७	७३११२
प्रा०३४	७३३०	प्रा०७१	७३७९	प्रा०१०८	७३११३
प्रा०३५	७३३१	प्रा०७२	७३७४	प्रा०१०९	७३११४
प्रा०३६	७३३२	प्रा०७३	७३७५	प्रा०११०	७३११६
प्रा०३७	७३३४	प्रा०७४	७३७६	प्रा०१११	७३११७
प्रा०३८	७३३३	प्रा०७५	७३७७	प्रा०११२	७३११८, ११९
प्रा०३९	७३३४	प्रा०७६	७३७८	प्रा०११३	७३१२०
प्रा०४०	७३३५	प्रा०७७	७३७९	प्रा०११४	×
प्रा०४१	७३३६	प्रा०७८	७३८०	प्रा०११५	७४१
प्रा०४२	७३३७	प्रा०७९	७३८२	प्रा०११६	७४३
प्रा०४३	७३३८	प्रा०८०	७३८३	प्रा०११७	७४४
प्रा०४४	७३३८ वा०	प्रा०८१	७३८४	प्रा०११८	७४५
प्रा०४५ } प्रा०४६ }	७३३९	प्रा०८२	७३८५	प्रा०११९	७४६
प्रा०४७	७३४३	प्रा०८३	७३८६	प्रा०१२०	७४७
प्रा०४८	७३४१	प्रा०८४	×	प्रा०१२१	७४९
प्रा०४९	७३४२	प्रा०८५	७३८७	प्रा०१२२	७४१०
प्रा०५०	७३४३	प्रा०८६	७३८८	प्रा०१२३	७४११
प्रा०५१	७३४६	प्रा०८७	७३८९	प्रा०१२४	७४१२
प्रा०५२	७३४७	प्रा०८८	७३९०	प्रा०१२५	७४१३
प्रा०५३	७३४८, ४९	प्रा०८९	७३९१	प्रा०१२६	७४१४
प्रा०५४	७३५०	प्रा०९०	७३९२	प्रा०१२७	७४१५
प्रा०५५	७३५१	प्रा०९१	७३९३	प्रा०१२८	७४१७, १८, १९, २०
प्रा०५६	७३५२	प्रा०९२	७३९६	प्रा०१२९	७४१६
प्रा०५७	×	प्रा०९३	७३९८, ९९	प्रा०१३०	७४२१
प्रा०५८	७३५३	प्रा०९४	७३९०	प्रा०१३१	७४२२
प्रा०५९	७३५४	प्रा०९५	७३९०१	प्रा०१३२	७४२३
प्रा०६०	७३५५	प्रा०९६	७३९०२	प्रा०१३३	७४२४
प्रा०६१	७३५६	प्रा०९७	७३९०३	प्रा०१३४	७४२५
प्रा०६२	७३५७	प्रा०९८	७३९०४	प्रा०१३५	७४२६
प्रा०६३	७३५८	प्रा०९९	७३९०५	प्रा०१३६	७४२७
प्रा०६४	७३६३	प्रा०१००	७३९०६	प्रा०१३७	७४२८
प्रा०६५	७३६५	प्रा०१०१	७३९०७	प्रा०१३८	७४२९
प्रा०६६	७३६६	प्रा०१०२	७३९०८	प्रा०१३९	७४३०

ପ୍ରା. ୧୪୦ ଡା. ୩୧
 ପ୍ରା. ୧୪୧ ଡା. ୩୨
 ପ୍ରା. ୧୪୨ ଡା. ୩୩
 ପ୍ରା. ୧୪୩ ଡା. ୩୪
 ପ୍ରା. ୧୪୪ ଡା. ୪୦
 ପ୍ରା. ୧୪୫ ଡା. ୪୧
 ପ୍ରା. ୧୪୬ ଡା. ୪୨
 ପ୍ରା. ୧୪୭ ଡା. ୪୩
 ପ୍ରା. ୧୪୮ ଡା. ୪୬
 ପ୍ରା. ୧୪୯ ଡା. ୪୭
 ପ୍ରା. ୧୫୦ ଡା. ୪୮
 ପ୍ରା. ୧୫୧ ଡା. ୪୯
 ପ୍ରା. ୧୫୨ ଡା. ୫୦
 ପ୍ରା. ୧୫୩ ଡା. ୫୧
 ପ୍ରା. ୧୫୪ ଡା. ୫୨
 ପ୍ରା. ୧୫୫ ଡା. ୫୪
 ପ୍ରା. ୧୫୬ ଡା. ୫୪ ବା
 ପ୍ରା. ୧୫୭ ଡା. ୫୫
 ପ୍ରା. ୧୫୮ ଡା. ୫୬
 ପ୍ରା. ୧୫୯ ଡା. ୫୭
 ପ୍ରା. ୧୬୦ ଡା. ୫୮
 ପ୍ରା. ୧୬୧ ଡା. ୬୦
 ପ୍ରା. ୧୬୨ ଡା. ୬୧
 ପ୍ରା. ୧୬୩ ଡା. ୬୨
 ପ୍ରା. ୧୬୪ ଡା. ୬୩
 ପ୍ରା. ୧୬୫ ଡା. ୬୬
 ପ୍ରା. ୧୬୬ ଡା. ୬୭
 ପ୍ରା. ୧୬୭ ଡା. ୬୮
 ପ୍ରା. ୧୬୮ ଡା. ୬୯
 ପ୍ରା. ୧୬୯ ଡା. ୭୦
 ପ୍ରା. ୧୭୦ ଡା. ୭୧
 ପ୍ରା. ୧୭୧ ଡା. ୭୨
 ପ୍ରା. ୧୭୨ ଡା. ୭୩
 ପ୍ରା. ୧୭୩ ଡା. ୭୫
 ପ୍ରା. ୧୭୪ ଡା. ୭୬
 ପ୍ରା. ୧୭୫ ଡା. ୭୭
 ପ୍ରା. ୧୭୬ ଡା. ୭୯

ପ୍ରା. ୧୭୮ ଡା. ୮୦
 ପ୍ରା. ୧୭୯ ଡା. ୮୧
 ପ୍ରା. ୧୮୦ ଡା. ୮୨
 ପ୍ରା. ୧୮୧ ଡା. ୮୩
 ପ୍ରା. ୧୮୨ ଡା. ୮୪
 ପ୍ରା. ୧୮୩ ଡା. ୮୫
 ପ୍ରା. ୧୮୪ ଡା. ୮୬
 ପ୍ରା. ୧୮୫ ଡା. ୮୬, ୮୮
 ପ୍ରା. ୧୮୬ ଡା. ୮୬
 ପ୍ରା. ୧୮୭ ଡା. ୯୦
 ପ୍ରା. ୧୮୮ ଡା. ୯୧
 ପ୍ରା. ୧୮୯ ଡା. ୯୨
 ପ୍ରା. ୧୯୦ ଡା. ୯୩
 ପ୍ରା. ୧୯୧ ଡା. ୯୪
 ପ୍ରା. ୧୯୨ ଡା. ୯୫
 ପ୍ରା. ୧୯୩ ଡା. ୯୬
 ପ୍ରା. ୧୯୪ ଡା. ୯୭

ଅଧ୍ୟାୟ ୫ ପାଠ ୩

ପ୍ରା. ୩୧ ଦା. ୩୧
 ପ୍ରା. ୩୨ ଦା. ୩୨
 ପ୍ରା. ୩୩ ଦା. ୩୪
 ପ୍ରା. ୩୪ ଦା. ୩୫
 ପ୍ରା. ୩୫ ଦା. ୩୬
 ପ୍ରା. ୩୬ ଦା. ୩୮
 ପ୍ରା. ୩୭ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୩୮ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୩୯ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୪୦ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୪୧ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୪୨ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୪୩ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୪୪ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୪୫ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୪୬ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୪୭ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୪୮ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୪୯ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୦ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୧ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୨ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୩ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୪ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୫ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୬ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୭ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୮ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୯ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୬୦ ଦା. ୩୯

ପ୍ରା. ୩୧ ଦା. ୩୫
 ପ୍ରା. ୩୨ X
 ପ୍ରା. ୩୩ ଦା. ୩୬
 ପ୍ରା. ୩୪ ଦା. ୩୭
 ପ୍ରା. ୩୫ ଦା. ୩୭
 ପ୍ରା. ୩୬ ଦା. ୩୭
 ପ୍ରା. ୩୭ ଦା. ୩୭
 ପ୍ରା. ୩୮ ଦା. ୩୭
 ପ୍ରା. ୩୯ ଦା. ୩୭
 ପ୍ରା. ୪୦ ଦା. ୩୭, ୮
 ପ୍ରା. ୪୧ ଦା. ୩୮, ୧୦
 ପ୍ରା. ୪୨ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୪୩ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୪୪ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୪୫ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୪୬ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୪୭ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୪୮ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୪୯ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୦ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୧ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୨ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୩ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୪ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୫ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୬ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୭ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୮ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୫୯ ଦା. ୩୯
 ପ୍ରା. ୬୦ ଦା. ୩୯

प्रा३५६	दारा४२	प्रा३९५	दारा८७	प्रा४२७	दारा३६
प्रा३६०	दारा४३	प्रा३९६	दारा९३	प्रा४२८	दारा४१
प्रा३६१	दारा४४	प्रा३९७	दारा९८	प्रा४२९	दारा४०
प्रा३६२	दारा४४ वा०	प्रा३९८	दारा९९	प्रा४३०	दारा४२
प्रा३६३	दारा४५	प्रा३९९	दारा१००	प्रा४३१	दारा४३
प्रा३६४	दारा४६	प्रा३१००	दारा१०१	प्रा४३२	दारा४४
प्रा३६५	दारा४७	प्रा३१०१	दारा१०३	प्रा४३३	दारा४५
	४८, ४९	प्रा३१०२	दारा१०४	प्रा४३४	दारा४६
प्रा३६६	दारा५०	प्रा३१०३	दारा१०५	प्रा४३५	दारा४७
प्रा३६७	दारा५१, पूर	प्रा३१०४	दारा१०७	प्रा४३६	दारा४८
प्रा३६८	दारा५३	प्रा३१०५	दारा१०८	प्रा४३७	दारा५७
प्रा३६९	दारा५४	अध्याय ५ पाद ४		प्रा४३८	दारा५८
प्रा३७०	दारा५५	प्रा४१	दारा४, ६	प्रा४३९	दारा५९
प्रा३७१		प्रा४२	दारा७	प्रा४४०	दारा६०
प्रा३७२		प्रा४३	X	प्रा४४१	दारा६१
प्रा३७३	दारा५६	प्रा४४	दारा१७	प्रा४४२	दारा६२
प्रा३७४	दारा५७, पूर, पूर, ६०	प्रा४५	दारा२०	प्रा४४३	दारा६३
		प्रा४६	दारा२२	प्रा४४४	दारा६४
प्रा३७५	दारा६२	प्रा४७	दारा२३	प्रा४४५	दारा६५
प्रा३७६	दारा६६	प्रा४८	दारा२४	प्रा४४६	
प्रा३७७	दारा६८	प्रा४९	दारा२५	प्रा४४७	दारा६६
प्रा३७८	दारा६९	प्रा४१०	दारा२६	प्रा४४८	दारा६७
प्रा३७९	दारा७२	प्रा४११	दारा२७	प्रा४४९	दारा६८
प्रा३८०	दारा७३	प्रा४१२	दारा२८	प्रा४५०	दारा६९
प्रा३८१	दारा७४	प्रा४१३	दारा२९	प्रा४५१	दारा७०
प्रा३८२	दारा७५	प्रा४१४	दारा३०, ३१	प्रा४५२	
प्रा३८३	दारा६४	प्रा४१५	दारा३३	प्रा४५३	दारा७१
प्रा३८४	दारा६५	प्रा४१६	दारा३२	प्रा४५४	प्रा४७२
प्रा३८५	दारा७६	प्रा४१७	दारा३३	प्रा४५५	दारा७३
प्रा३८६	दारा७७, ७९	प्रा४१८	दारा३४	प्रा४५६	दारा७४
प्रा३८७	दारा७८	प्रा४१९	दारा३५	प्रा४५७	दारा७५
प्रा३८८	दारा८०	प्रा४२०	दारा३५	प्रा४५८	दारा७६
प्रा३८९	दारा८१	प्रा४२१	दारा३७	प्रा४५९	दारा७७
प्रा३९०	दारा८२	प्रा४२२		प्रा४६०	दारा७८
प्रा३९१	दारा८३	प्रा४२३	दारा३६	प्रा४६१	दारा७९
प्रा३९२	दारा८४	प्रा४२४	दारा३६	प्रा४६२	दारा८०
प्रा३९३	दारा८५	प्रा४२५	X	प्रा४६३	दारा८१
प्रा३९४	दारा८६	प्रा४२६	दारा३८	प्रा४६४	दारा८३

ऋजिङ्	भर्जने
भृजीङ्	
एजङ्	दीप्तौ
भ्रंजङ्	
भ्राजै	
वर्चै	
अत्रै	
घट्टै	हिंसातिक्रमयोः
स्फुटै	चलने
चेष्टै	विकसने
गोष्टै	संघाते
लोष्टै	
हुडिङ्	
पिडिङ्	
शडिङ्	
हिडिङ्	रुजायां च
कुडिङ्	गत्यनादरयोः
वडिङ्	दाहे
मडिङ्	
वेष्टै	वेष्टने
भडिङ्	परिभाषायाम्
मडिङ्	शुद्धौ
तुडिङ्	तोडने
भुडिङ्	मृतौ
चडिङ्	कोपे
तडिङ्	ताडने
कडिङ्	मदे
खडिङ्	मंथे
हेडङ्	अनादरे
वाडङ्	आप्लाव्ये
द्राडङ्	विशरणे
धाडङ्	
श्लाडङ्	श्लाघायाम्
पडिङ्	गतौ
अठिङ्	
वठिङ्	एकचर्यायाम्

मठिङ्	शोके
कठिङ्	
मुठिङ्	पलायने (पालने)
एठै	विघ्नाघायाम्
हेठै	
गुपौङ्	गुप्तौ
तिपृङ्	स्तुतौ
प्रेपृङ्	
तेपृङ्	कम्पे च
ग्लेपृङ्	दैत्ये
डुपेपृङ्	चलने
केपृङ्	
खेपृङ्	
गेपृङ्	
ग्लेपृङ्	
कपिङ्	गतौ
मेपृङ्	
रेपृङ्	लज्जायाम्
त्रपूपै	
रेभृङ्	शब्दे
रभिङ्	
अभिङ्	
अविङ्	श्रवस्त्रसे
लविङ्	
कवृङ्	वर्णे
क्लीवृङ्	अघाष्ट्ये च
क्षीवृङ्	मदे
शीवृङ्	कथने
चीभृङ्	
शल्भै	भोजने
वल्भै	
गल्भै	घाष्ट्ये
जभिङ्	गात्रविनामे
जृभिङ्	
ष्टभिङ्	स्तंभे
स्कभिङ्	
ष्टभुङ्	

मानै	पूजायाम्
पनै	स्तुतौ
पर्यै	व्यवहारे च
तुर्यै	भ्रमणे
धूर्यै	
धिषिङ्	ग्रहणे
धुषिङ्	
धृषिङ्	क्रोधे
भामै	
क्षमूपै	सहने
कमुङ्	कान्तौ
अयै	गतौ
वयै	
व्ययै	
मयै	
पयै	
नयै	रत्नायां च
रयै	
पवै	गतिदानदहन- हिंसासु च
रेवृङ्	
तयै	तन्तुसन्ताने
दयै	दुर्गन्धविशरणयोः
उयीङ्	विधूनने
पूयीङ्	वृद्धौ
दमायीङ्	
स्फायीङ्	सन्तानपालनयोः
श्रोप्यायीङ्	
तापृङ्	सन्तानपालनयोः
कनूयीङ्	
कलै	संवृतौ
कल्लै	
वल्लै	कंपे
बल्लै	
गल्लै	धारण्ये
मल्लै	
मल्लै	

भलै	} दानहिंसापारभाषणेषु	कासुड्	शब्दकुत्सायाम्	गुड्	अव्यक्ते शब्दे
भल्लै		खासुड्	शब्दे	गाड्	} गतौ
कल्लै	} संख्याशब्दयोः	भासै	} दीतौ	च्युड्	
तेवृड्		रासुड्		काश्रुड्	
देवृड्	} देवने	णसै	कौटिल्ये	प्रुड्	
देवृड्		भ्यसै	भये	प्लुड्	
पेवृड्	} सेवने	आडःरासुड्	इच्छायाम्	रुड्	रोपे च
शेवृड्		श्रसुड्	प्रमादे	धृड्	अविध्वंसने
केवृड्		प्रसुड्	} अदने	मिड्	प्रतिदाने
खेवृड्		ग्रासुड्		दडे	रक्षणे
गेवृड्		} सेवने	ईहै	चेष्टायाम्	त्रैड्
ग्लेवृड्	वहिड्		} वृद्धौ	पूड्	पचमे
पेवृड्	} सेवने	महिड्		ज्यैड्	वृद्धौ
प्लेवृड्		दन्नै	शौच्य च	मूड्	बन्धने
मेवृड्	} सेवने	गहँ	} कुत्सायाम्	डीड्	विहायसा गतौ
म्लेवृड्		गल्है		चुतै	} दीतौ
धुक्षै	} संदीपनजीवनक्लेशेषु	बहँ	} प्राधान्ये	लुटै	
धिन्नै		वृत्तौ		वल्है	शुभै
वृक्षै	विद्योपादाने	वहँ	} परिभाषणाच्छाद- नहिंसासु	रुचै	अभिप्रीतौ च
शिक्षै	याच्यायाम्	वल्है		रिवताड्	वर्णे
भिक्षै	मौढ्योपनयननिय-	वेहृड्	} प्रयत्ने	जिमिड्	स्नेहे
दीक्षै	मत्रतादेशेज्यासु	जेहृड्		जिष्विदाड्	मोक्षे च
ईक्षै	दृष्टौ	वाहृड्		घुटै	परिवृत्तौ च
ईषै	गतिहिंसयोश्च	एषृड्		रुटै	} पतिघाते
कनेशै	} व्यक्तायां वाचि	वेपृड्		लुटै	
भाषै		स्नेहे	द्राहृड्	लुभै	संक्षोभे
वषै	अन्विच्छायाम्	ऊहै	णभै	हिंसायाम्	
गेषृड्	} गतौ	गाहृड्	निक्षेपे	संसुड्	} अवससे
जेषृड्		वितर्के	ग्लहृड्	भ्रंसुड्	
गेषृड्		विशोडने	घषिड्	ध्वंसुड्	गतौ च
एषृड्		ग्रहणे	स्मिड्	संसुड्	विश्रवासे
हेषृड्		क्षतौ	घुड्	वृत्तुड्	वृत्तौ
अहिड्	ईषद्धसने	कुड्	वृधुड्	वृद्धौ	
सिहै	} अव्यक्ते शब्दे	डुड्	श्रुधुड्	शब्दकुत्सायाम्	
रेषृड्		शब्दे	डुड्	स्यंदूड्	सखे
		तुड्	नपूड्	सामर्थ्ये	
				वृत्	

घटैष्	चेष्टाशाम्	मथ	}	हिंसायाम्	फल	}	गमने
व्यथैष्	चलभीत्योः	कनथ			शल		
प्रथैष्	प्रख्यातौ	क्रथ			हुल		
प्रसैष्	विस्तारे	क्लथ			पेत्लु		
मुदैष्	मदे	चण	}	चलने	पथे	}	हिंसासंवरणयोश्च निष्पचने
खदैष्	खनने	हल			हुल		
जित्वराषै	संभ्रमे	हल	}	दीतौ	कथे	}	उद्गरणे
क्रदैष्	} वैक्लव्ये	ज्वल			दुवमु		
क्लदैष्		स्मृ	आध्याने	क्षर	संचलने		
क्रदिङ्		द	भये	प्रहै	मर्षणे		
क्षजिङ्	गतिदानयोः	नृ	नये	रमुङ्	क्रीडायाम्		
दक्षै	गतिहिंसायाम्	श्रा	पाके	शद्लृ	शातने		
कृपै	कृपायाम्	चलि	कम्पने	षद्लृ	गतिविशरणयोश्च		
	ङैदितोऽमी	छदिर्	ऊर्जने	क्रुशौ	रोदनाह्वानयोः		
ज्वर	रोगे	लडि	जिह्वोन्मथने	कुच	संवर्चनकौटिल्य-		
गड	सेचने	मदी	हर्षगपलेनयोः	रुहौ	प्रतिस्तंभविलोखनेषु		
हेड	वेष्टने	स्वनिर्	अवतंसने	कसृ	जनने		
वट	} परिभाषणे	ध्वन	शब्दे	भू	गमने		
भट		नृत्तौ	फल	गतौ	बुधञ्	भुवि	
नट	लोटने		वृत् घटादिः		बोधने		
ष्टक	तृप्तौ च	स्यमु	}	} शब्दे	वृत् ज्वलादिः		
चक	हसने	स्वन				अत	सातत्यगमने
कखे	शंकने	राजृङ्	}	} दीतौ	चित्ती	संज्ञाने	
रगे	संजने	डुभ्राशृङ्				कितौ	निवासे
लगे	संजने	डुभ्लाशृङ्				कृत	गतिघृणास्पद्धेषु
हगे	} संवरणे	भ्राजै		ज्युतिर्	विभासे		
हगे		ज्वल	वृत् पुणादिः	च्युतिर्	}	क्षरणे	
षगे		चल	दीतौ	श्च्युतिर्			
ष्टगे		जल	कम्पने	सुतिर्			
अक	} कुटिलायां गतौ	जल	धान्ये	कुथि	}	हिंसासंक्लेशयोः	
अग		टल		पुथि			
कण	} गतौ	ट्वल	} वैक्लव्ये	लुथि	}	शास्त्रमार्ङ्गित्ययोः गतौ भक्षणे	
रण		ष्टल		स्थाने			मथि
चण		हल	विच्छेखने	मंथ			
वण	} दाने	वल	प्राणधान्यावरोधयोः	षिधू	}	शास्त्रमार्ङ्गित्ययोः गतौ भक्षणे	
अण		पुल	महस्वे	षिधु			
		कुल	संस्त्यानसंतानयोः	खादू			

श्रुचु	स्तैयकरणे	रट	परिभाषणे	कठ	कृच्छ्रजीवे	
रलुचु		रठ		हठ	स्तुतिशठत्वयोः	
कुञ्चु		लट		उठ	उपघाते	
खुञ्चु		शट		रुजाविशरणगत्यवसादनेषु	पिठि	हिसासंकलेशयोः
अर्च	पूजायाम् अव्यक्तायां वाचि	वट	वेष्टने	शठ	कैतवे	
म्लेच्छ		खिट	उत्रासने	शुठ	गतिप्रतिघाते	
लछ	लछणे	षिट	अनादरे	श्रुठ		
लाछि		शिठ			लुठि	आलस्ये
वाछि		रौढ			शुठि	शोषणे
ह्रीच्छ	लजायाम् आयामे च	जट	संघाते	विड	आक्रोशे	
हुर्वा		भट			अड	उद्यमे
मुच्छा	मीहसमुच्छाययोः विस्तृतौ प्रमोदे उच्छने	पिट	शब्दे च	लड	विलासे	
सूच्छा		भट	भृतौ	कड	मदे	
युच्छ		तट	उच्छ्राये	कडु	कार्कश्ये	
उछि		नट	वृत्तौ	चुडु	भावकरणे	
गुज	अव्यक्ते शब्दे	खट	कांक्षायाम्	अडु	अभियोगे	
गुजि		हट	दीप्तौ	मडि	भूषायाम्	
कूज		षट	अवयवे	शुडि	प्रमर्दने	
अजं		लुट	विलोडने	चुडि	अल्पीभावे	
सर्जं	सर्जने	चिट	परप्रेष्ये	मुडि	खण्डने	
कर्जं		स्फुटिर्	विशरणे	वडि	विभाजने	
खर्जं	व्यथने	हेट	वित्राधायाम्	रटि	स्तेये	
अज	मार्जने च	कुटि	वैकल्ये	लुटि		
तेज	गतिक्षेपणयोः	अट	गतौ	गडि	मुखैकदेशे	
खज	पालने	पट		क्रीडु	विहारे	
खजि	मंथने	इट		तूडु	तोडने	
एजु	गतिवैकल्ये	किट		गुपू	रक्षणे	
दुओस्फूर्जा	कंपने	किटी	धूप	तपःसंतापे		
षञ्जौ	वज्रनिघोषे	रठि	जल्प	व्यक्तायां वाचि		
शौटु	संगे	लुठि				
यौटु	गर्वे	अठ	रप			
मेडु	उन्मादे	हुडु	लप			
मेडु		पठ	जप	मानसे च		
लोडु		वठ	चप	सांत्वने		
कटे	वर्षावरणयोः	मठ	षच	समवाये		
		भट	चुप	मन्दायां गतौ		

चर	भक्षणे	वक्ष	रोपे	मृषु	सहने च
क्षिबु }	निरसने	तक्ष	त्वचने	पुष	पुष्टौ च
ष्ठिबु }	प्राणधारणे	सूर्क्ष	अनादरे	तुषु }	
जीव		काक्षि }		श्रिषु }	दाहे
पीव }		वाक्षि }	कांक्षायाम्	श्रिषु }	
मीव }	स्थौल्ये	माक्षि }		प्रुषु }	
णीव }		द्राक्षि }	घोरवासिते च	प्लुषु }	
तीव }		ध्वाक्षि }		शृषु	संघर्षे
तुर्वी }		चृष	पाने	हृषु	अलीके
थुर्वी }		तृष	तुष्टौ	कृषौ	विलिखितौ
धुर्वी }		लृष }	स्तेये	लस	श्लेषक्रीडनयोः
जुर्वी }	हिंसने	मृष }		जर्ज }	
भर्वी }	"	शृष	प्रसवे	चर्च }	परिभाषणहिंसातर्जनेषु
शर्व }		भृष	अलंकारे	झर्झ }	
अर्व }		ऊष	रुजायाम्	हसे	हसने
गुर्वी }	उद्यमने	ईष	उञ्छे	तुस }	
हिवि }		कष		हस }	
दिवि }	प्रीणने	शिष		हस }	शब्दे
धिवि }		धष		रस }	
कृवि	हिंसाविकरणयोः	भृष		पुषिर }	
अव	गतिप्रीतितृष्टिदीतिवृ - द्धिर्कांत्यवस्यवगमन - प्रवेशश्रवणस्वाभ्यर्थ - नहिंसादनभावरक्षणेषु	वष }		मिश }	रोषकृते च
	संघाते	मष }	हिंसायाम्	मश }	
	व्याप्तौ च	रुष }		णिस }	समाधौ
मक्ष		रिष }		शश	प्लुतिगतौ
अक्ष }		जृष }		दृशिरौ	प्रेक्षणे
तक्ष }	तन्करणे	शष }		दंशौ	दशने
त्वक्ष }		शसु }		शंसु	स्तुतौ
रक्ष }	पालने	यृष }	संघाते च	दहौ	भस्मीकरणे
णिक्ष }	सुम्बने	भृषु }		मिहौ	सेचने
तृक्ष }		भष }	भर्त्सने	चह	परिकल्कने
स्तृक्ष }		जिषु }		रह	त्यागे
णक्ष }		विषु }		दह }	
शव }	गतौ	मिषु }	सेचने	दहि }	वृद्धौ
रहि }		पृषु }		वृह }	
पिसु }		बृषु }		पृष }	
पेसु }		उक्ष }		वृहि }	शब्दे च

लुहिर्	}	अर्दने
उहिर्		
अहं	}	पूजने
खु		प्रसवैश्वर्ययोः
शु	}	गतौ
हु		
प्रु		
शु		
धु		
जि	}	स्थैर्ये च
जि		अभिभावे
पा	}	पाने
धेट्		
घ्रा	}	गंधोपादाने
ध्मा		शब्दाग्निसंयोगयोः
ष्ठा		गतिनिवृत्तौ
म्मा		अभ्यासे
दाणु		दाने
दैप		शोधने
ग्लै		हर्षक्षये
स्त्रै		गात्रविनामे
धै		न्यक्करणे
प्रै		स्वप्ने
ध्रै	}	तृप्तौ
कै		
गौ	}	शब्दे
रै		
ष्ट्यै		
स्त्यै		
खौ	}	संघाते
खौ		खदेन
दौ	}	ज्ञये
दौ		
वै		
ध्रै	}	पाके
ख्रै		
पै	}	शोषणे
श्रौवै		

ह्यै	वेष्टने	
ध्यै	}	चितायाम्
स्मृ		
डुवृ	वरणे	
धृ	}	कौटिल्ये
हृ		
स्वृ	शब्दोपतापयोः	
सृ	गतौ	
ऋ	प्रापणे च	
गृ	}	सेचने
धृ		
तू	ह्रस्वतरणयोः	
ट्	गतिवृद्धयोः	
वसौ	निवासे	
वद	व्यक्तायां वाचि	
यजौञ्	एते मर्वतः	
दुवपौञ्	दानदेवपूजा-	
वहौञ्	संगतकरणेषु	
वेञ्	वीजसंताने	
व्येञ्	प्रापणे	
भजौञ्	ततुमताने	
रंजौञ्	पाके	
दुयाचृञ्	सेवायाम्	
चतेञ्	रागे	
चदेञ्	}	याचने
रेहञ्		
पोथृञ्	परिभाषणे	
मिधृञ्	पर्याप्तौ	
मेधृञ्	मेधाहिंसायाम्	
गिहृञ्	संगमे च	
रोहृञ्	}	उन्दे
बुधुञ्		
बुंदिहृञ्	बोधने	
चायृञ्	निशामने	
वेणृञ्	पूजायां च	
	गतिचिन्ताज्ञाननि	
	शामनवादित्रग्रहणेषु	

खनुञ्	अवदारणे	
दानञ्	खंडने	
शानञ्	तेजने	
शपौञ्	आक्रोशे	
भेषृञ्	दीप्तौ	
अव	पूर्वोपादाननि-	
	रसमेयोश्च	
छषञ्	हिंसायाम्	
चषञ्	}	भुक्तौ
चुषञ्		
घासृञ्	}	दाने
दासृञ्		
माहृञ्	माने	
गुहृञ्	संवरणे	
भृषञ्	}	आदाने च
जीषञ्		
श्रिञ्	सेवायाम्	
हृञ्	हरणे	
भृञ्	भरणे	
धृञ्	धारणे	
डुकृञ्	करणे	
णीञ्	प्रापणे	
	एते मर्वतः	
	इति ६४६ भूवादयो न्याय्य-	
	विकरणाः धवः ।	
हु	दानादनयोः	
जिभी	भये	
ही	लजायाम्	
पृ	पालनपूरणे	
ऋ	गतौ	
ओहाक्	त्यागे	
ओहाङ्	गतौ	
माङ्	माने	
डुभृञ्	धारणपोषणयोः	
डुदाञ्	दाने	
डुधाञ्	धारणे च	
णिजिञ्च्यौ	शौचपोषणयोः	

विजिञ्च्यो	पृथक्भावे
विविञ्च्यो	व्याप्तौ
इति १४ ह्लादयः उज्विकरणा धवः ।	
अदो	भक्षणे
विद्	ज्ञाने
हनौ	हिंसागत्योः
अस	भुवि
मृजू	शुद्धौ
वचो	परिभाषणे
रुदिर्	अश्रुविमोचने
जिष्ण्वपो	शये
अन	} प्राणने
श्वस	
जन्	भक्षंहसनयोः
जाय	वृत्
दरिद्रा	निन्दाक्षये
चकास	दुर्गतौ
शासु	दीप्तौ
	अनुशिष्टौ
	वृत्
सस्ति	} स्वप्ने
षस	
वश	क्रान्तौ
धु	अभिगमने
सु	ऐश्वर्यप्रमवयोः
वु	वृत्तिहिंसापूरणेपु
कु	} शब्दे
रु	
डुडु	
क्षु	तेजने
सु	क्षरणे
सु	स्तुतौ
यु	मिश्रणे
इणु	गतौ
इक्	स्मरणे
वी	गतिप्रजनकात्यशनेषु
या	प्रापणे

वा	गतिगंधनयोः
भा	दीप्तौ
ष्णा	शौचे
श्रा	पाके
द्रा	कुत्सायां गतौ
प्सा	भक्षणे
पा	रक्षणे
रा	दाने
ला	आदाने
दाप्	लवने
ख्या	प्रकथने
प्रा	पूरणे
मा	माने

चर्करीतं च

चक्षौङ्	व्यक्तायां वाचि
ईरे	गतौ
ईडे	स्तुतौ
ईशौ	ऐश्वर्ये
आसै	उपवेशने
वसै	आच्छादने
आडः-शासुङ्	इच्छायाम्
कासिङ्	गतिसंतानयोः
णिसिङ्	चुंबने
णिजिङ्	शुद्धौ
शिजिङ्	अव्यक्ते शब्दे
पिजिङ्	} संपर्चने
पुजिङ्	
पुचौङ्	
ऊपूङ्	प्राणिगर्भविमोचने
शीङ्	स्वप्ने
इङ्	अध्ययने
हुङ्	अपनयने
द्विबौञ्	अप्रीतौ
दुहौञ्	क्षरणे
दिहौञ्	लेपे
लिहौञ्	आस्वादाने
ऊणुञ्	आच्छादने

ष्टुञ्	स्तुतौ
ब्रुञौ	व्यक्तायां वाचि
	इत्यदादयः ७० उज्विकरणाः
	धवः
दिवु	क्रीडाजयेच्छापणि-
	द्युतिगतिषु
षिवु	तंतुसंताने
गुध	परिवेष्टने
क्षिप	प्रेरणो
पुध	विकसने
तिम	} आर्द्रभावे
ष्टिम	
ष्टीम	
श्रीड	लजायाम्
हष	गत्याम्
शुह	शकने
राधौ	वृद्धावेव
व्यधौ	ताडने
पुधौ	पुष्टौ
शुधौ	शोषणे
तुधौ	तोषणे
दुधौ	वितत्ये
श्लिधौ	आलिङ्गने
शकौ	मर्षणे
ष्विदा	गात्रप्रक्षरणे
ऋध्वै	कोपे
लुध्वै	बुभुक्षणे
शुध्वै	शोधने
विधु	संराध्ये
रधू	हिंसने च
णशू	अदर्शने
तृपू	प्रीणने
दृपू	मोहने च
दृह	जिघांसायाम्
मुह	वैचिंत्ये
ष्णुह	उद्गिरणे
ष्णिह	प्रीतौ

असु	क्षेपणे
यसु	प्रयत्ने
जसु	मोक्षणे
तसु	स्तंभे
दसु	
पृष	दाहे
प्लुष	
व्युष	विभागे
बिस	प्रेरणे
कुस	श्लेषणे
वुस	उत्सर्गे
मुस	खंडने
मसी	परिमाणे
लुठ	विलोडने
उच	समवाये
भ्रशु	अधःपतने
भ्रंशु	
वृश	वरणे
कृश	तनूकरणे
जितृष	पिपासायाम्
हृष	तुष्टौ
रुष	रोपे
डिप	क्षेपे
कुप	क्रोधे
गुप	व्याकुले च
युप	विमोहने
रुप	
लुप	
लुभ	गार्ध्वे
लुभ	संचलने
णभ	हिंसने
तुभ	
क्लिदू	आर्द्रभावे
जिमिदा	स्नेहे
जिद्धिदा	मोक्षे च
ऋधु	वर्धने
गृधु	अभिकांक्षायाम्

शसु	उपशमने
दसु	
तसु	कांक्षायाम्
श्रसु	क्लेशने
भ्रसु	चलने
क्षसु	सहने
क्लसु	ग्लाने
मदी	हर्षे
	वृत्
जृषु	वयोहानौ
भृषु	
शा	तनूकरणे
छो	छेदे
दो	
षो	अंतकर्माणि
एते मवंतः	
शनीङ्	प्रादुर्भावे
काशौ	दीप्तौ
दीपीङ्	
पूरीङ्	आप्यायने
तरीङ्	हिंसागतित्वरणयोः
थूरीङ्	हिंसावयोहान्योः
जूरीङ्	
धूरीङ्	गतिहिंसयोः
गूरीङ्	
शूरीङ्	हिंसास्तंभयोः
चूरीङ्	दाहे
तपै	ऐश्वर्ये वा
वृतुङ्	वरणे
क्लिशौ	उपतापे
वाशौ	शब्दे
पादोङ्	गतौ
विदोङ्	सत्तायाम्
खिदोङ्	दैन्ये
युधौङ्	संप्रहारे
बुधौङ्	शाने
मनौङ्	

अनै	प्राणने
अनो रुधौङ्	कामे
युजौङ्	समाधौ
सुजौङ्	विसर्गे
लिशौङ्	अल्पे च
उषूङ्	प्राणिप्रसवे
दूङ्	परितापे
दीङ्	क्षये
डीङ्	गतौ
धीङ्	अनादरे
मीङ्	हिंसायाम्
रीङ्	श्रवणे
लीङ्	श्लेष्मणे
ब्रीङ्	वृणोत्यर्थे
पीङ्	पाने
ईङ्	गतौ
प्रीङ्	प्रीतौ
माङ्	माने
एते डैदितः	
मृषौङ्	तिस्रस्त्रायाम्
शुचिरीङ्	पूतिभावे
णहौङ्	बंधने
रञ्जौङ्	रागे
शपौङ्	आक्रोशे
एते जितः	
इति १२८ दिवादयः इयविकरणाः	
धवः	
पुङ्	अभिषवे
षिङ्	बंधने
श्रिङ्	निशाने
डुमिङ्	प्रक्षेपणे
चिङ्	चयने
स्तुङ्	आच्छादने
कृङ्	हिंसायाम्
वृङ्	वरणे
धुङ्	कंपने
धूङ्	
एते जितः	

डुडु	उपतापे
श्रु	श्रवणे
हि	गतिवृद्धयोः
पृ	प्रीतौ
स्पृ	चलने च
आप्लृ	व्याप्तौ
शक्लृ	शक्तौ
राधै	संसिद्धौ
साधै	
तिक	हिंसायाम्
तिग	
पघ	
जिधृषा	ग्रन्थलभ्ये
दंभु	दंभे
ऋधु	वर्द्धने

एते मचंतः

अशूङ्	व्याप्तौ
ष्टिषङ्	आस्कंदने

डितावेतौ

इति २७ श्नुविकरणाः धवः ।

तुदौञ्	व्यथने
दिशौञ्	अतिसर्जने
भ्रस्त्रौञ्	पाके
क्षिवौञ्	प्रेरणे

एते जितः

कृती	छेदने
खिदौ	परितापे
पिश	अवयवे

वृत्

रि	गतौ
पि	
धि	धारणे
क्षि	निवासगत्योः
षू	प्रेरणे
मृ	प्राणत्यागे
कृ	विक्षेपणे

गृ	निगरणे
एते मचंतः	
दृङ्	अनादरे
धृङ्	स्थाने
प्रच्छो	डितावेतौ
	ज्ञोषने

वृत्

सृजौ	विसर्गे
टौमस्जौ	शुद्धौ
ऊरुजौ	भगे
ऊभुजौ	कौटिल्ये
रुशौ	हिंसने
रिशौ	
लुपौ	स्पर्शे
सृशौ	
लिशौ	गतौ
विच्छौ	

मृशौ	आमर्शे
विशौ	प्रवेशे
गुदो	क्षोदे
पद्लृ	अवसातने
ओब्रश्चृ	छेदने
उच्छौ	विवासे
ऋच्छ	संज्ञितव्यवहारेः
	भावयोः
मिच्छ	उत्कलेशे

चर्च	परिभाषणे
जर्ज	
झर्झ	संवरणे
त्वच	
ऋच	स्तुतौ
उब्ज	आर्जवे
उब्ज्	उपसर्गे
लुभ	विमोहने
रिफ	कथनयुद्धनिदाहि-
	सादानेषु

ऋफ	हिंसायाम्
ऋम्फ	

वृफ	वृत्तौ
वृम्फ	
दृफ	उत्कलेशे
दृम्फ	
गुफ	ग्रंथने
गुम्फ	
तुभ	पूरणे
तुम्भ	
शुभ	शोभाथे
शुम्भ	
दृभौ	ग्रंथे
चूनी	हिंसायां च
भापी	गतौ
जुन	
शुन	विधाने
विध	
पृड	सुखने
मृड	
पृण	प्रीणने
मृण	हिंसायाम्
तुण	कौटिल्ये
पुण	कर्मणि शुभे
सृण	प्रतिज्ञाने
कुण	शब्दोपकरणयोः
द्रुण	हिंसागतिकौटिल्येषु
धुण	भ्रमणे
धूर्ण	
पुर	दीप्तैश्वर्ययोः
कुर	शब्दे
लुर	विलेखने
खुर	छेदने च
सुर	संवेष्टने
धुर	भीमार्थशब्दयोः
पुर	उद्यमने
वृहू	उद्यमने
वृहू	हिंसार्थाः
वृन्हू	
स्तृहू	

इधु	इच्छायाम्
मिष	स्पर्धायाम्
किल	शैत्यक्रीडनयोः
तिल	स्नेहने
चल	विलसने
षिल	संवरणे
इल	स्वप्नक्षेपणयोः
विल	भेदने
निल	गहने
हिल	भावकरणे
सिल	
शिल	उञ्छे
उच्छि	
लिख	अक्षरविन्यासे
कुट	कौटिल्ये
पुट	संश्लेषणे
कुच	संकोचने
व्यच	व्याजीकरणे
गुज	शब्दे
गुड	रक्षणे
लिप	क्षेपणे
छुर	
चुट	
छुट	
त्रुट	
स्फुट	विक्रसने
मुट	आक्षेपप्रमर्दनयोः
तुट	कलहकर्मणि
जुड	बंधे
कड	मदे
लुट	संश्लेषणे
स्तड	घसने
कुड	बाल्ये च
धुट	प्रतिघाते
तुड	ताडने
थुड	
स्थुड	संवरणे

स्फर	}	स्फुरणे
स्फुर		स्फुरणे
ब्रुड	}	उत्सर्गे
वृड		उत्सर्गे
मृड		संघाते
हुड		संघाते
टुड		निमज्जने
स्फल		चलने
स्तुल		संचये च
णू		स्तवने
धू		विधूनने
गु		पुरीषोत्सर्गे
धु		गतिस्थैर्ययोः

एते मवंतः

कुड्	}	शब्दे
कूड्		शब्दे
गुरीड्		उद्यमने
पृड्		वृत्
जुषीड्		व्यायामे
विजीडो		प्रीतिसेवनयोः
लजीडो	}	भयचलनयोः
लसुजीडो		ब्रीडे
ष्वजौड्		संगे
रभौड्		राभस्ये
उप्लतौड्		प्रीतौ

ङितः

इति १४६ तुदादयः शविकरणाः
धवः

रुधिर्जो	आवरणे
भिदिर्जो	विदारणे
छिदिर्जो	द्वैधीकरणे
रिचिर्जो	विरचने
विचिर्जो	पृथग्भावे
लुदिर्जो	संप्रेक्षणे
युजिर्जो	योगे

छुदिर्जं	दीप्तिदेवनयोः
तुदिर्जुं	हिंसानादरयोः

एते ङितः

जिइन्धीड्	दीप्तौ
खिदौड्	दैन्ये
विदौड्	विचारे

ङितः

कृती	वेष्टने	
शिष्टु	विशेषणे	
पिष्टु	संचूर्णने	
उमंजो	आमर्दने	
भुजो	रक्षाशनयोः	
तृह	}	हिंसने
हिसि		हिंसने

उन्दी	कलेदने
अंजू	गतिव्यक्तिमन्त्रणेषु
तंचू	संकोचने
ऊविजी	भये
वृजी	वर्जने
पृची	संपर्चने

एते मवंतः

इति २५ रुधादयः शविकरणाः
धवः

तनुञ्	विस्तारे	
षणुञ्	दाने	
क्षणुञ्	}	हिंसायाम्
क्षिणुञ्		हिंसायाम्
ऋणुञ्	गतौ	
तृणुञ्	अदने	
ष्टणुञ्	दीप्तौ	

ङितः

वनुड्	याचने
मनुड्	बोधने

ङितः

इति ६ तनादय उषिकरणाः
धवः

डुक्रीञ्	द्रव्यविनिमये
प्रीञ्	तृप्तिदीप्तयोः
श्रीञ्	पाके
मीञ्	हिंसायाम्
षिञ्	बंधने
स्कुञ्	आप्रवणो
क्नुञ्	शब्दे
टञ्	गतौ
गृहञ्	उपादाने
पूञ्	पवने
स्तुञ्	आच्छादने
कृञ्	हिंसायाम्
वृञ्	वरणो
	जितः
शृञ्	हिंसायाम्
कृञ्	
मृञ्	पालनपूरणयोः
पृञ्	
वृञ्	वरणो
भृञ्	भर्त्सने
दृञ्	भये
नृञ्	नये
जूञ्	वयोहानौ
जूञ्	गतौ
जूञ्	
दृञ्	शब्दे
	एते मवन्तः
धूञ्	कंपने
प्रीञ्	तर्पणे
	जितौ
ज्या	हानौ
व्ही	वरणो
प्ली	गतौ
री	रेषणे
ली	श्लेषणे
	वृत्
व्री	वरणो
भ्री	भये

क्षीषु	हिंसायाम्
ज्ञा	अवबोधने
बंधो	बंधने
श्रंथ	प्रतिहर्षविमोचनयोः
मंथ	विलोडने
ग्रंथ	संदर्भे
कुंथ	संकलेशे
मृद	क्षोदे
मृड	सुखने
गुध	रोषे
कुष	निष्कर्षे
लुभ	संचलने
णभ	हिंसायाम्
तुभ	
किलशू	विबंधने
अश	भोजने
भस	उच्छे
हृषू	आभीक्ष्ये
विष	विप्रयोगे
पुष	स्नेहनसेचनसेवनपूरणेषु
प्लुष	
मुष	स्तेये
पुष	पुष्टौ
खच	भूतप्रादुर्भावे
	एते मवन्तः
वृड्	संभक्तौ
	डित्
इति ५९	क्रयादथः श्नाविकरणाः
	धवः
चुर	स्तेये
लुंठ	
चित्ति	स्मरणे
यत्रि	चूर्णसंकोचने
स्फुट	परिहासे
कुद्रि	अनृतभाषणे
लड	उपसेवायाम्
मिदि	स्नेहने
तिल	
सिंह	

ओलडि	उन्नेपे
डुल	
जल	अपवारणे
पीड	गहने
नट	अवस्थंदने
श्रथ	प्रीतिहर्षे
वध	संयमने
पृ	पूरणे
वर्द्ध	छेदने च
ऊर्ज	बलप्राणनयोः
हल	प्रेरणे
जुड	
चूर्ण	
पृथ	प्रक्षेपे
संब	संबंधे
भक्ष	भदने
चुटि	छेदने
चुट	
छुट	
कुट्ट	कुत्सने च
चुट्ट	अल्पीभावे
अट्ट	अनादरे
पुट्ट	
श्वठ	गतिसंस्कारयोः
श्वठि	
तुजि	हिंसाबलिदान- निकेतनेषु
पिजि	
पिश	सामप्रयोगे
सांत्व	
श्वल्क	भाषणे
वल्क	
श्लिष	श्लेषणे
पथि	गतौ
पिच्च	कुड्दने
छुद	संवरणे
श्रण	दाने
तड	आघाते

पदै	गतौ	स्यम्यै	वितर्कणे	अथ	}	हिंसायाम्
ग्रहै	ग्रहणे	गूरै	उद्यमने	ऋथ		
मुगौ	अन्वेषणे	कुस्मै	कुस्मृतौ	हिसि		
कुहै	विस्मापने	समै	}	अथ		बंधने च
शूरै	}	लद्धौ		आलोचने	चीक	}
वोरै		विक्रांतौ	कुस्यै	अवक्षेपे	शीक	
स्थूळ	परिवृंहणे	कुट्टै	प्रतापने	आडः सद		गतौ
अर्थ	वृत्	भलै	आभंडने	जुष		परितर्पणे
सत्रै	उपयाञ्ज्यायाम्	वचै	प्रलंभने	अंथ	}	संदर्भे
गर्वै	संदानक्रियायाम्	वृषै	शक्तिबंधने	ग्रंथ		
संग्रामै	माने	मदै	तृप्तियोगे	आस्रु		लंभने
चित्तै	युद्धे	मदै	परिकूजे	तनु		अद्धोपहिंसायाम्
छुदै	संविक्तौ	विषै	ख्याननिवासेषु	गेः (गिपूर्वस्तनुः) दैर्घ्ये		
दंशौ	संवरणे	मनै	स्तभे	वच		दंदेशवचने
दशौ	दशने	युङ्	जुगुप्सायाम्	मान		पूजायाम्
डंभै	दशने च	गृङ्	विज्ञापने	गर्ह		विनिन्दने
डिभै	}	लक्षज्	डैदितः	मार्ग		अन्वेषणे
तजै		संघाते	युजौ	दर्शनांकनयः	कठि	
मंत्रै	कुटुम्बधारणे	पिच	अित्	मृजू		शौचालंकारयोः
स्पशौ	गुप्तभाषणे	षह	संयमने	धृष		प्रसहने
भर्त्सै	ग्रहणश्लेषणयोः	ईर	मर्षणे	मृषै		पते मवंतः
तज्जै	संतर्जने	ली	क्षेपणे	तपै		तितिक्षायाम्
वस्तै	}	वृजी	द्रवीकरणे	वदै		दाहे
अर्थै		अर्दने	जू	वर्जने	अचै	
किष्कै	अर्दने	रिच	वशोहानौ	अद्		पूजायाम्
निष्कै	अर्दने	शिष	वियोजनसंपर्चनयोः	शुंदै		हिंसायाम्
चलै	अर्दने	विपूर्वो (वि-शिष)	वियोजनसंपर्चनयोः			शोधने
कूर्यै	अर्दने	तृप	असर्वोपयोगे	वृज्		पेदितः
तूर्यै	अर्दने	छृद्	विशयशये	धूज्		वरणे
भूर्यै	अर्दने	छृद्	प्रीणने	प्रीज्		कंपने
शट्टै	अर्दने	छृद्	संदीपने			तर्पणे
यल्लै	अर्दने	हमी	अपवारणे			अितः
	अर्दने	मी	भये			इति ३५१ चुरादयो धवः
	अर्दने		गतौ			समासाः ।

पाठप्रयोजनमनिष्विमनिड्विकल्पे द्वेच्छप्रभृत्तिरव्योनिडवागनेश्च ।

दोनत्वमिड्विकल्पता च यथाक्रमेण धूनां सुधीभिरधिगम्यमितां स्वराणाम् (?) ॥

पादात्मजानमन्मानवपतिमकुटानर्घ्यमाणिक्यतारानीकासंसेदिताद्यद्युतिललितनखानीकशीतांशुबिम्बः ।

दुर्वारानङ्गबाणाम्बुरुहहिमकरोद्ध्वस्तमिथ्यान्धकारः शब्दब्रह्मा स जीयाद् गुणनिधिगुणनन्दिमतीशस्सुसौख्यः ॥

भारतीय ज्ञानपीठ के सांस्कृतिक प्रकाशन

[प्राकृत, संस्कृत ग्रन्थ]

१. महाबन्ध [महाधवल सिद्धान्त शास्त्र] [भाग १-५] हिन्दी अनुवाद सहित	५६)
२. करलकखण [सामुद्रिक शास्त्र]-हस्तरेखा विज्ञानका नवीन ग्रन्थ	॥॥)
३. मदनपराजय—भाषानुवाद तथा ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना	८)
४. कन्नडप्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थसूची—	१३)
५. न्यायविनिश्चय विवरण [भाग १-२]	३०)
६. तत्त्वार्थवृत्ति—श्रुतसागर स्वरिचित टीका । हिन्दी सार सहित	१६)
७. आदिपुराण भाग [१]-भगवान् ऋषभदेवका पुण्य चरित्र	१०)
८. आदिपुराण भाग [२]-भगवान् ऋषभदेवका पुण्य चरित्र	१०)
९. उत्तर पुराण [२३ तीर्थंकरों का पुण्य चरित्र]	१०)
१०. नाममाला सभाष्य—	३॥)
११. केवलज्ञानप्रश्नचूडमणि—ज्योतिष ग्रंथ	४)
१२. सभाष्यरत्नमंजूषा—छन्दशास्त्र	२)
१३. वसुनन्दि-श्रावकाचार	५)
१४. जिनसहस्रनाम	४)
१५. समयसार—[अंग्रेजी]	८)
१६. कुरलकाव्य—तामिल भाषाटीका पञ्चमवेद [तामिल लिपि]	५)
१७. तत्त्वार्थराजवार्तिक [भाग १-२]	२४)

[हिन्दी जैन ग्रन्थ]

१८. पुराणसार-संग्रह [भाग १-२]	४)
१९. व्रततिथिनिर्णय	३)
२०. मुक्तिदूत [उपन्यास]—श्रृञ्जना पवनञ्जयकी पुण्यगाथा	५)
२१. भारतीय विचार धारा—	२)
२२. वर्द्धमान [महाकाव्य]	६)
२३. जैन-जागरणके अग्रदूत	६)
२४. आधुनिक जैन कवि	३॥॥)
२५. जैनशासन—जैनधर्मका परिचय तथा विवेचन करानेवाली सुन्दर रचना	३)
२६. कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न—	२)
२७. हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास	२॥॥)
२८. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन [भाग १-२]	५)
२९. धर्मशर्माभ्युदय	३)
३०. खण्डहरोका वैभव	६)
३१. खोजकी पगडंडियाँ	४)
३२. अध्यात्म-पदावली	४॥)
३३. चौलुक्य कुमारपाल	४)

भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस-५